हिन्दी वाम कविता का सौन्दर्यशास्त्र

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

पी-एच. डी. उपाधि के लिए

प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

1984

प्रस्तुतकर्ता

नन्दकिशोर शर्मा एम. ए.

वेणु गोपाल

निर्देशक

डा. विजेन्द्रनारायण सिंह

एम. ए., डी. लिट.

रीडर, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय,

हैदराबाद

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

डा. चन्द्रभान रावत

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट.

हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय,

हैदराबाद

r. Bijendra Narain Sinha
READER IN HINDI
UNIVERSITY OF HYDERABAD
GOLDEN THRESHOLD"
Nampally Station Road
Hyderabad - 500001. A. P.

12 A, CENTRAL UNIVERSITY CAMPUS
GACHI BOWLI
HYDERABAD 500134 A P.

Date 27.2.1984

प्रमाण-पत्र

मैं यह प्रमाणित करता हूं कि श्री नंदकिशोर शर्मा ने " हिन्दी वाम कविता का सौंदर्य शास्त्र ", नामक यह शोध-प्रबंध मेरे निर्देशन में प्रस्तुत किया गया है । यह प्रबंध उनका मौलिक कार्य है । जहां तक मैं जानता हूं, किसी और विश्वविद्यालय में इस तरह का कोई दूसरा कार्य नहीं हुआ है । मैं यह भी प्रमाणित करता हूं कि श्री नंदकिशोर शर्मा अपने शोध और वृत्ति से भी शोध-उपाधि के सर्वथा योग्य पात्र है ।

विजेन्द्रनारायण सिंह

(विजेन्द्रनारायण सिंह)

विषय-सूची

	पृ
भूमिका	1 - 10
खण्ड : एक	
1 - वाम - विमर्श	11 - 71
1.1 - वाम मीमांसा : भारतीय संदर्भ	16
1.2 - वाम मीमांसा : पश्चिमी संदर्भ	22
1.3 - वाम मीमांसा : प्रस्तुत संदर्भ	24
1.4 - प्रैक्सीस और आचार	28
1.5 - बाधा और निवारण	30
1.6 - वाम का स्वरूप	33
1.61 - प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध	34
1.62 - प्रतिरोध : जीवन-समर्थक सृजनात्मक व द्वंद्वात्मक	38
1.63 - प्रतिरोध : ऐतिहासिक	41
1.64 - प्रतिरोध : देह-केन्द्रित	47
1.65 - प्रतिरोध : आदर्श - यूटोपिया के लिए	54
1.7 - वाम कविता	63
1.8 - वाम बनाम प्रगतिशील बनाम जनवादी	68
2 - वाम सौंदर्यशास्त्र और उसकी रचना - प्रक्रिया	72 - 234
2.1 - सौंदर्य-चर्चा : भीतर से या बाहर से	77
2.2 - मैं बोध तथा अहं-बोध	80
2.3 - संवेद-बोध के संदर्भ	83
2.4 - सौंदर्य-बोध : एक सामाजिक सांस्कृतिक प्रशिक्षण	87
2.5 - रमेशकुंतल मेघ का साक्ष्य और तत्संबंधी विमर्श	88
2.6 - इंद्रियाँ और इंद्रिय-बोध	94
2.7 - देह की राजनीति और सौंदर्यशास्त्र	100
2.8 - पुनः इंद्रिय-बोध : विकास-संदर्भ	106

2.9 – आवश्यकता और बोध : शासन प्रसंग 110
2.10 – आवश्यकता और बाज़ार 120
2.11 – किच (Kitsch) : सौंदर्य चेतना की विद्रूपिका (Parody) 126
2.12 – मुक्तिबोध और सौंदर्यानुभव 156
2.13 – वाम सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता 161
2.14 – वस्तु-जगत बनाम मानव = यथार्थ : एक टिप्पणी 178
2.15 – मानवीय श्रम, उपयोगिता, अलगाव, चेतना और रूपांतरण के सौंदर्य-परक संश्लिष्ट संदर्भ 184
2.16 – वाम-सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप और उसकी रचना-प्रक्रिया 215

खण्ड : दो

3 – हिंदी वाम-कविता की पृष्ठभूमि 235–357
3.1 – पृष्ठभूमि परक विवेचन के प्रस्थान-बिंदु 238
3.2 – भारतीय चेतना के वाम-रूपांतरण की भूमिका 252
3.21 – वर्ग बनाम वर्ण 252
3.22 – परिवार और उसकी राजनीति 266
3.23 – एक प्रस्थान बिंदु : बचपन 282
3.24 – भारतीय वाम चेतना : स्वरूप और रूपांतरण 297
3.3 – प्रारंभिक वाम-चेतना के काव्य-परक संदर्भ 330
4 – हिंदी वाम-कविता का सौंदर्य शास्त्र : प्रथम उत्कर्ष [1936–1950] 358–553
4.1 – कविता का सिंह-द्वार 369
4.2 – सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध 389
4.3 – सौंदर्य बोधात्मक के कविता-परक संदर्भ 400
4.4 – सौंदर्य बोधात्मक देह 500
4.5 – सौंदर्यबोधात्मक काल और यूटोपिया 532
4.6 – निष्कर्ष 552

5.1 – हिंदी वाम-कविता का सौंदर्यशास्त्र : द्वितीय उत्कर्ष

[1950–1967] 554–705

5.11 – शीतयुद्ध बनाम कविता : एक सौंदर्य – बोधात्मक द्वंद्व 560

5.12 – सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध के शीतयुद्ध-गत संदर्भ 585

5.13 – शीतयुद्ध बनाम सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध : कविता-गत संदर्भ 606

5.2 – द्वितीय उत्कर्ष में "देह" और "काल-गत" काव्य-संदर्भ 766–855

5.21 – देह की राजनीति बनाम सौंदर्य बोधात्मक देह 767

5.22 – मुक्ति, मृत्यु और मरासत्काल बनाम सौंदर्य बोधात्मक काल 834

6 – उपसंहार 856–873

7 – संदर्भ-ग्रंथ सूची 874–889

ভূমিকা

00 भूमिका :

किसी भी तथ्य के प्रति प्रश्न करना उसे निरस्त करना नहीं होता । बिना समझे निरस्त करना एक सरल कारनामा है । बिना समझे स्वीकार करना भी ।

प्रश्न करना एक द्वंद्वात्मक कार्रवाई होती है । जो है, उसके प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध की शुरुआत । यही जीवन की शुरुवात है ।

चिंतन को, प्रकृति के नजदीक से जोड़नेवाले मार्क्स ने मनुष्य के भविष्य को सौंदर्यबोधात्मक दृष्टि से देखा है । उसके अनुसार भावी मनुष्य "सौंदर्यबोधात्मक प्राणी" होगा ।

यदि मनुष्य सौंदर्य के नियमों के अनुसार ही रचना करता और आज "प्रकृति" या "संसार" उसी की रचना है तो तय है कि जो भी है, वह "सौंदर्यबोधात्मक प्रकृति या संसार है" उसके बीच में मनुष्य है, जो प्रति-पल रचा जा रहा है । परिवेश से क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ । परिवेश को बदलता ; या बनाता ; हुआ और स्वयं को भी ।

तो मनुष्य की श्रम-सापेक्ष यात्रा का स्वरूप यही होगा --
"सौंदर्य बोधात्मक संसार में सौंदर्य-बोधात्मक मानव-सत्ता ।"
(Aesthetic being in The Aesthetic World)

इस तरह आज के संकट का स्वरूप मूलत: और पूर्णत: सौंदर्यबोधात्मक है । चाहे तीसरे महायुद्ध की आशंका हो या बढ़ता हुआ पूंजीवाद या फिर प्रति-सौंदर्य बोधात्मक संयंत्र-मानव में रूपांतरित हुआ मानव -- निश्चित है कि मनुष्य को सौंदर्य-नियमों के अनुसार आचरण न करने देने पर ही ये संकट मूर्तिमान हो सकेंगे ।

इस अर्थ में "सौंदर्य" - चर्चा अस्तित्व संघर्ष का एक महत्वपूर्ण और प्राथमिक मोरचा है । मनुष्य अपने श्रम से जुड़े और इस प्रकार अपने से - यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है । अपने से जुड़कर ही वह अपनी इंद्रियों का सौंदर्यबोधात्मक विकास कर सकेगा ।

सौंदर्य-चर्चा को एक विशिष्ट कोटि के मानव-श्रम-कला से जुड़कर ही संभव होना है । साहित्य नामक कला "भाषा" में होती है और "भाषा" मनुष्य की प्रत्यक्ष वास्तविकता है। अस्तित्व संघर्ष के फलस्वरूप बदलते हुए परिवेश और मानव से सीधे सरोकार रखने के कारण भाषा भी बदलती है । कविता को तो मानवता की मातृभाषा कहा गया है ।

इस कविता रूपी मानव-श्रम को आधार बनाकर ही प्रस्तुत शोध प्रबंध संभव हुआ है । ठोस भारतीय परिप्रेक्ष्य के साक्ष्य से इस श्रम की भूमिका का बेजोड़पन सिद्ध होता है । सन् 1947 के सत्ता-हस्तांतरण से पूर्व और पश्चात् हिंदी काव्य-परिदृश्य में राजनीतिक वर्तमान

के प्रति बढ़ती हुई संवेदनशीलता, जो कवियों की अपनी-अपनी विशिष्ट जीवनियों के कारण विविध रूप ग्रहण करती रही है, -- इस प्रबंध की चिंतना का प्रमुख उपजीव्य है ।

प्रबंध को दो खण्डों में विभक्त किया है । स्थूल रूप से उन्हें सिद्धांत-पक्ष और व्यावहारिक पक्ष में बाँटा जा सकता है ।

प्रथम खण्ड में दो अध्याय हैं । §1§ वाम-विमर्श और §2§ वाम सौंदर्यशास्त्र और उसकी रचना प्रक्रिया ।

"वाम-विमर्श" के अंतर्गत "वाम" को परिभाषित किया गया है । यह प्रस्तावना की गयी है कि यह अंग्रेजी शब्द "लेफ्ट" की तुलना में अधिक सार्थक है । इसकी सांस्कृतिक जड़ें बहुत मजबूत हैं और गहराई तक धंसी हुई है । "लेफ्ट" के साथ ऐसा नहीं है । ई फ्रांसीसी राज्य-क्रांति से उसका "राजनीतिक प्रतिपक्ष" धर्मी अर्थादेश हुआ । धीरे-धीरे वह एक अर्थहीन अमूर्तता में ढल गया । "न्यू लेफ्ट" और "ओल्ड लेफ्ट" के विवाद ने उसकी दयनीयता को और अधिक उजागर कर दिया । "वाम" शब्द को भारतीय तंत्र-साधना से जोड़कर भी देखा गया और "दक्ष" को दक्षिण के प्रति एक-अनुकूलनात्मक कार्रवाई माना गया । दक्षिण को "सत्ता" से संयोजित किया गया । प्रत्येक दृष्टि से "वाम" शब्द को "प्रैक्सीस" शब्द का सहधर्मी मानते हुए उसे ही अपनाने की सिफारिश की गयी । उसको परिभाषित करने के लिए पाँच सूत्रों की सहायता ली गयी । §1§ वाम प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध है । §2§ यह प्रतिरोध जीवन-समर्थक है और इसलिए सृजनात्मक व रचनात्मक है । §3§ यह प्रतिरोध ऐतिहासिक है और इसलिए इतिहास बोध, काल-बोध तथा विश्वबोध से संपन्न है ।

§4§ यह देह को पूरी तरह से स्वीकार करते हुए उस ही अपना केन्द्र और आधार मानता है । §5§ इसका लक्ष्य सम्पूर्ण का यूटोपिया है । इन सूत्रों के विस्तृत विमर्श के पश्चात् वाम की परिभाषायों दी गयी -- "वाम, प्रदत्त के प्रति ऐसा जीवन-समर्थक तथा ऐतिहासिक प्रतिरोध, है, जो देह को समूचे अस्तित्व का केन्द्र और आधार मानते हुए संपूर्ण की यूटोपियात्मक छवि को अपना लक्ष्य तय करता है ।"

इसके पश्चात् वाम कविता को वाम-दृष्टि की काव्यात्मक अभिव्यक्ति कहते हुए उसे "प्रगतिशील" और "जनवादी" से अधिक सार्थक माना गया ।

दूसरे अध्याय "वाम सौंदर्यशास्त्र और उसकी रचना-प्रक्रिया" में आरंभ में ही इस तथ्य पर बल दिया गया कि अद्यतन सौंदर्यशास्त्रीय विमर्शों की विडम्बना यह रही कि वे "बाहर" से ही "सौंदर्य" पर विचार करते रहे जबकि सौंदर्यशास्त्र को "सौंदर्यानुभूति" के भीतर से ही उगना और बढ़ना चाहिए ।

"मनुष्य" की सामंजीकरण यात्रा "मैं-बोध" से शुरु होती है अतएव "मैं" बोध से लेकर "सौंदर्य-बोध" तक की यात्रा को समझने के लिए "मैं-बोध" और "इंद्रिय-बोध" पर विस्तार से विमर्श किया गया । "सौंदर्य-बोध मूलतः इंद्रिय-बोध है और संबंध-बोध है ।" "बोध पर आये हुए संकट को समझने के लिए "बाजार" और "शासन" की भी विस्तार से चर्चा की गयी । "व्यवसायीकरण" -- के संदर्भ में किच् का उल्लेख आवश्यक होता है । अडोर्नो ने इसे "विरेचन की विद्रूपिका" कहा है । विस्तार से किच्-प्रभाव, किच्-मानव आदि की बात कही गीय । "सौंदर्यप्रभाव §अनुभवादि§ की विशिष्टता है ।" -- रमेश कुंतल मेघ

की इस परिभाषा का प्रस्तुत शोध-प्रबंध में केन्द्रीय महत्व है। सुखद रूप से विस्मयकारी तथ्य है कि मुक्तिबोध का ~~सौंदर्यरूप से विस्मयकारी~~ सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन मेधी के चिंतन की परक भूमिका निभाता है। "व्यवसायीकरण" से सृजन-सार पर जूझते हुए मुक्तिबोध का समूचा लेखन सहज ही "उनके अस्तित्व संघर्ष का सौंदर्यशास्त्रीय प्रकटन" कहा जा सकता है। वाम सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" को मुक्तिबोध जैसे कवियों के सौंदर्यानुभवों की सापेक्षता में ही समझा जा सकता है। वह पुराने के स्थान पर आनेवाला कोई नया सौंदर्यशास्त्र न होकर नितांत नयी चिंताओं और प्रसन्नताओंवाला एक अपूर्वाशित सौंदर्यशास्त्र होगा। इसके प्रश्न और उत्तर तथा समूची प्रक्रिया ही पारम्परिक सौंदर्यशास्त्र से इतनी जुदा होगी कि इसे प्रति सौंदर्यशास्त्र ही कहा जा सकता है। सौंदर्य, सृजन, श्रम, आचरण और जीवन को एकीकृत करते हुए "एक" द्वंद्वात्मक प्रक्रिया" पर यह विचार करता है।

दूसरे खण्ड में तीन अध्याय है। (3) हिंदी वाम कविता की पृष्ठभूमि (4) हिंदी वाम-लेखन का सौंदर्यशास्त्र : प्रथम उत्कर्ष (1936-1950) (5) हिंदी वाम कविता का सौंदर्यशास्त्र : द्वितीय उत्कर्ष (1950-1967)। इस पाँचवे अध्याय को दो भागों में विभक्त किया गया है।

तिसरे अध्याय में "वाम आंदोलन" का प्रस्थान-वर्ष सन् 1936 माना गया है। पृष्ठभूमि में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य को लिया गया है। विशेषत: भारतेन्दु में हम राजनीतिक चेतना में सृजनात्मक हस्तक्षेप की प्रवृत्ति को देख पाते हैं। प्रदत्त के प्रति "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध" की दृष्टि से सन् 1850 के बाद का साहित्य स्पष्ट ही पृथक चरित्र प्रस्तुत करता है। लोक-साहित्य

की ओर उन्मुखता प्राप्त होती है अतएव देह का वृथा अस्वीकार भी नहीं मिलता । यूतोपियात्मकता तो पूरी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य पर हावी थी । देश के लिए बलि देनेवाले शहीद निश्चितही यूतोपियात्मक चेतना से लैस थे ।

इसके साथ ही पृष्ठभूमि में सक्रिय "चेतना" के वाद-रूपांतरण की विस्तृत चर्चा भी की गयी । वर्ण-वर्ग, परिवार, बचपन आदि का चेतना के संदर्भ में विश्लेषण किया गया क्योंकि "सामाजिक स्थिति ही चेतना को निर्धारित करती है" (मार्क्स) । चेतना भी मनुष्य की ही तरह एक "प्रक्रिया" है ।

तीसरे अध्याय से यह भी पता चलता है कि "निराला" अपने सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध में अप्रतिम सिद्ध होते हैं । अपनी विशिष्ट जीवनी के साथ ये "प्रकृति" के साथ ऐसा सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध करने में सफल हो सके हैं कि हिंदी में ऐसा उदाहरण दूसरा नहीं मिल पाता ।

चौथे अध्याय में सन् 1936 से सन् 1950 तक का काव्य लिया गया है । सबसे पहले तो सन् 1936 को प्रस्थान-वर्ष मानने के पीछे महत्वपूर्ण कारण "संगठन-चेतना" का सौंदर्यबोधात्मक क्षेत्र में प्रवेश करना कहा गया । राजनीतिक सौंदर्य-बोध अथवा सौंदर्यबोधात्मक राजनीति की संभावना प्रकट हो रही थी । इसी प्रसंग में टेरी ईगलटन के सहारे से साहित्य-सिद्धांत के प्रमुख घटकों का विवरण प्रस्तुत किया गया ।

साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र के व्यावहारिक क्षेत्र में कदम रखते हुए तीन नवकीले प्रतिमान प्रस्तुत किये गये । §1§ सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध §2§ सौंदर्यबोधात्मक देह और §3§ सौंदर्यबोधात्मक काल ।

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की दृष्टि से निराला और पंत की तुलना की गयी है और पाया गया है कि ये दोनों कवि अपने-अपने प्रदत्त के प्रति सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध में उल्लेखनीय उदाहरण बन सके हैं । पंत का शून्य व्यक्तित्व (Zero - Personality) और निराला का नियम=चेतना से विरहित बोहेमियन व्यक्तित्व, उनके अपने काव्य-संसार का क्रमशः विपन्न और संपन्न बनाता रहा ।

निराला के बाद शमशेर, केदार, त्रिलोचन, नागार्जुन और मुक्तिबोध को उनका उत्तराधिकारी माना गया । यह एक सौंदर्यबोधात्मक कथन (Aesthetic Statement) है न कि वैध (legal) घोषणा । शमशेर निराला से सौंदर्य-चेतना लेते हैं, केदार कलाकारिता, त्रिलोचन कला-दृष्टि और नागार्जुन व्यंग्य । निराला के आत्म-संघर्ष का दाय मुक्तिबोध को मिलता है ।

सौंदर्यबोधात्मक देह की दृष्टि से भी निराला ही सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं । उनके बाद शमशेर, त्रिलोचन और नागार्जुन के नाम आते हैं । मुक्तिबोध इस दृष्टि से विमर्श के विषय नहीं बन पाते जबकि केदार में किसी सीमा तक सामंतवादी अवशेष मिलते हैं । सौंदर्यबोधात्मक काल की दृष्टि से भी इन कवियों के काव्य को जाँचा परखा गया है ।

पाँचवे अध्याय में शीत-युद्ध के परिप्रेक्ष्य पर विस्तार से विचार किया गया है । उपर्युक्त पाँचों कवियों के अतिरिक्त श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर आदि कवियों की रचनाओं को भी चर्चा का विषय बनाया गया है ।

इसी अध्याय के दूसरे भाग में "देह की राजनीति बनाम सौंदर्यबोधात्मक देह" तथा "पूंजी, नृशंस और परास्तकाल बनाम सौंदर्यबोधात्मक काल" नामक उप अध्यायों के अंतर्गत "अकविता" आदि नकारात्मक काव्य-उदाहरणों को विवेचित किया गया है । अंत में निष्कर्ष निकाला गया -- " जब वर्तमान को भविष्योन्मुखता में देखा जाता है तो उसकी वह सारी भयावहता, जो व्यक्ति को पूंजी, नृशंस और परास्त आचरण अपनाने को विवश करती है, अपने आप ही नष्ट प्राय हो जाती है ।"

"उपसंहार" में मानवीकरण के श्रम, संघर्ष और सौंदर्य से समीकृत करते हुए भावी के संकेत दिये गये है । "काम" को मानव-आचरण की द्वंद्वात्मकता में ही पहचानना होगा । मानव-बोध की जिजीविषाधर्मा सौंदर्यबोधात्मकता को ही प्रतिमान बनाना होगा । मानव के जीवन-संघर्ष में सहयोगी सौंदर्य-शास्त्र का सृजनात्मक रूप तभी संभव हो पायेगा ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में विषय-चयन से लेकर प्रस्तुत रूप में लिखे जाने तक की समूची यात्रा डॉ० विजेन्द्रनारायण सिंह के निर्देशन में संपन्न हुई है । उस शोध की पंक्ति-पंक्ति को उन्होंने पढ़ा है, उस पर विमर्श किया है और उचित सलाह देकर उलझनों को सुलझाया है । इसे लिखवाने के लिए उन्होंने कठोर से कठोर रूप भी धारण किया किंतु "वज्र से भी कठोर दिखकर" मुझ जैसे शोधार्थी से यह प्रबंध लिखवा लेने वाला

व्यक्ति वस्तुतः "कुसुम से भी कोमल है" -- यह मैं जानता हूं। यह निरी औपचारिकता नहीं बल्कि सत्य है कि प्रस्तुत शोध प्रबंध के लिखे जाने का श्रेय मुझसे अधिक उन्हीं को जाता है।

विभाग अध्यक्ष डा० चन्द्रभान रावत का स्नेह इस शोध को हमेशा मिला। उनका आशीर्वाद मेरे साथ हमेशा रहा है और विश्वास है कि रहेगा भी।

विभाग के अन्य गुरुजनों का स्नेह भी यथावसर प्राप्त होता रहा। सामग्री के लिए शरीफ साहब, अशोक शारदा, रोहिताश्व, शशि मुदिराज, खान साहब, तेजरोजेन्द्र सिंह आदि मित्रों का आभारी हूं।

आदेश, नरेश, विनय, सूर्यप्रकाश, मीना अहूजा, कृष्णा, दीपू त्रिपाठी, सीता श्रीवास्तव, आदि मित्र टंकित प्रतिलियों को व्यवस्था और त्रुटि-सुधार करने में श्रम न करते तो संभवतः यह प्रबंध प्रस्तुत ही न हो पाता क्यों कि अवधि बढ़ जाती। भाई श्रुतिकांत यदि टंकण और प्रस्तुतिकरण का बीड़ा न उठाते तो क्या होता ? न सोचना ही ठीक है। ये सब इतने अपने हैं कि आभार प्रदर्शन की औपचारिकता अखरेगी।

और अंत में वे अपने, जिन्होंने इस शोध के दौरान प्रत्येक स्तर पर सहा है, भोगा है और फिर भी हर मोरचे पर साथ रहे हैं, वे सचमुच ही इसे देखकर प्रसन्न होंगे -- मुझसे कहीं ज्यादा !

-- नंदकिशोर शर्मा

o
o
o
o
o
o
o
o
o
o

खण्ड : एक

o
o
o
o
o

वाम - पिनर्ई
==========

प्रत्येक सोच मानवीय होता है । फिर भी यह अतिरिक्त रूप से माना जाता रहा है कि वह (सोच) अपनी प्रेरणा, लक्ष्य या आरंभ-बिंदु (Starting Point) के लिए मनुष्य पर ही निर्भर होता है । लेकिन कौन-सा मनुष्य ? क्या "मनुष्य" पद पर अतिरिक्त बलाघात आवश्यक है ?[1] क्या पारम्परिक आदर्शवाद का ही यह लक्षण नहीं है कि "मनुष्य" को इस सीमा तक विशिष्टता प्रदान की जाय कि वह "पद"

---

1. "मनुष्य" पद का प्राय: दुरुपयोग होता रहा है । इस कारण भ्रमक चिंतन की विभिन्न धाराओं में इसे वस्तुकृत (Refied) अथवा जड़ीभूत प्रत्यय के रूप में देखा गया है । वस्तुत: यह अपने दार्शनिक अर्थ में सर्वोच्च मूल्य का संकेतक है । जो "है"से जो "होना चाहिए" की ओर प्रगतिशील प्रक्रिया में ही मनुष्यत्व निहित है । जो "होना चाहिए" एक आदर्शोन्मुख कामना है । प्रकारांतर से इसे "सम्पूर्ण" (यद्यपि यह एक आदर्श = UTOPIA ही माना जायेगा) होने की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है । निरंतर परिवर्तनशील विश्व=यथार्थ से समंजन के प्रयास में उससे द्वंद्व करते हुए मनुष्य को एक निरपेक्ष और सनातन पदत्व प्रदान करना ही सारे भटकावों की वज़ह होता है । युवा मार्क्स (Marx) ने लिखा था — 'To be radical is to grasp the root of the matter; but for man however, the root is man himself". Quoted in - Marxism and Art - Ed. Maynord Solomon : Page - 53.
मार्क्स के इस कथन को लेकर भी पर्याप्त टीका-टिप्पणी हुई है । आर्थिक नियति वादियों जैसे काउटस्कीवादी, (Kautskyist) जदानोव वादी (Zhodanovist) अथवा लुकाँच (Lukacs) जैसे बुद्धिवादी-मार्क्सवादी ने "मनुष्य"

अमूर्तता की मिसाल बन जाय ? क्या ऐसा करना उसी छल का शिकार हो जाना नहीं है, जिसकी वज़ह से अधिकांश मानवीय ज्ञान अपनी सदाशयता के बावजूद विफल होता रहा है ।[2] हम मनुष्य को उसकी ठोस सामाजिक - ऐतिहासिक स्थितियों से काटकर देखने के पक्ष में कतई नहीं है । प्रस्तुत शोध के प्रसंग में यह और भी आवश्यक है कि मनुष्य, उसका बोध (सौंदर्यात्मक तथा अन्यान्य) उसकी सृजनात्मकता और उसकी विश्व-दृष्टि - समाज-सापेक्ष होकर ही विचार-विमर्श के केन्द्र बनें । स्पष्ट ही हम ऐसी कोई प्रस्तावना नहीं कर रहे हैं कि मनुष्य के सारे ऐतिहासिक अथवा अस्तित्व-संघर्ष और परिणाम स्वरूप प्राप्त गौरव की अवमान न की जाय, किंतु उसे ऐश्वर्यीकृत (Glorified) करनेवाले सुभाषितों को हम सहज काव्यात्मक उद्‌गार-मात्र मानेंगे, चिंतन-जनित वक्तव्य नहीं और न उन्हें प्रस्तुत शोध के प्रसंग में केन्द्रीय स्थान ही देंगे ।[3]

को उसके दैहिक अस्तित्व से ही वंचित कर दिया । मनुष्य को निम्न-श्रेणी और उच्च-श्रेणी में बाँटकर देखने के पीछे निश्चित ही मार्क्सवाद नहीं, बल्कि ईसाई कट्टरता के संस्कार ही काम कर रहे थे । "एरिक फ्रॉम" (Erich Fromm) ने उपर्युक्त उद्धरण के प्रसंग में सही कहा है कि "मनुष्य, यहाँ एक वस्तु नहीं बल्कि प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए । (Celebration of Awareness - Ivan D. Illich, Preface) प्रौढ़ मार्क्स ने "मनुष्य" पद की अमूर्तता को पहचान लिया था और उपर्युक्त कथन (तथा ऐसे ही अन्य) के लगभग छत्तीस वर्षों में उसने लिखा 'My analytical method does not start from man but from the economically given social period '. Quotation in 'for Marx' -Louis Althusser P-219)

2. समस्त मानवीय ज्ञान में दो मौलिक दुर्बलताएँ प्रारंभ से ही रही है : वह जिस क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसे एक सीमा तक अमूर्त बनाता जाता है और दूसरे वह यथार्थ को धारणाओं में बदलता जाता है -- आधुनिक हिन्दी उपन्यासों

साथ ही व्यवहार वादियों के शोध-प्रयासों और विपुल-सामग्री संचयन के प्रति पूरा आदर रखते हुए भी हम उनके निष्कर्षों का अनुसरण नहीं करेंगे और मनुष्य को निरे "पशु" में घटाकर देखने की प्रवृत्ति का प्रतिवाद करेंगे । यही व्यवहार हम मनुष्य के सारे इतिहास को मात्र सौ या दो सौ वर्षों तक सीमित कर देने वाले "भविष्य के समाज शास्त्र" (Sociology of Future) के साथ भी करना चाहेंगे ।[4]

प्रस्तुत शोध के साम्प्रतिक प्रसंग में उपपतिधर्मी कथन के रूप में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक ज्ञ है कि आज का मनुष्य अपने अद्यतन अस्तित्व संघर्ष की ही देन है । दूसरे शब्दों में उसका "आज का मनुष्य" हो पाना इतिहास की सापेक्षता में ही संभव हो सका है । मानवीय संघर्ष का यह इतिहास न तो एकांतिक रहा है और न अमूर्त: बल्कि ठोस और परिवर्तनशील सामाजिक स्थितियों से अपने द्वंद्वात्मक सम्बन्धों के प्रतिफलन में ही मानव अपनी इस ऐतिहासिकता का अधिकारी बन सका है । अपनी सम्पूर्णता में "मनुष्य" जो कुछ भी आज है, ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है । संभवत: बात और भी स्पष्ट हो सकेगी, अगर हम कहें कि मनुष्य अपने जैविक अस्तित्व [=शरीर] और उसेकउत्पादन [=चेतना, कल्पना, भावना आदि] के साथ अपने आप में एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है ।[5]

में प्रेम की परिकल्पना विजय मोहन सिंह, 1972 पृ- 33.

3. मनुष्य को केन्द्र में रखकर रचे गये सुभाषितों के ऐतिहासिक महत्व से इंकार नहीं किया जा सकता । महाभारतकार का "न हि मानुषात श्रेष्ठतरं हि किंचित" हो अथवा चण्डीदास का "शबारे ऊपरे मानुष सत्तो । ताहार ऊपरे नाई ।" या फिर प्रोटेगोरस का प्रसिद्ध कथन " Man is the measure of all Things "निस्संदेह इनका ज्ञानमीमांसात्मक महत्व है । तत्कालीन संदेहवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप ही ये कहे गये होंगे । मगर वर्तमान में इनका औचित्य ?

इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की बुनियाद में भौतिकवादी द्वंद्वात्मकता है। कोई भी अमूर्त या लोकातीततत्व इस द्वंद्व में न तो विषय है और न विषयी।[6] आदर्शवादी-द्वंद्वात्मकता और भौतिकवादी-द्वंद्वात्मकता में स्पष्ट और निश्चित अंतर करके ही हम "द्वंद्वात्मकता" संबंधी कोई विमर्श कर सकते हैं।

---

4. यहाँ प्रसिद्ध व्यवहारवादी वैज्ञानिक कोनार्ड लोरेंज़ (Konard Lopenz) या उनके अनुयायियों द्वारा किये गये कार्यों की ओर संकेत है। साथ ही भविष्य के समाजशास्त्र में एल्विन टेफ्लर (Alvin Toffler) तथा सम्प्रेषण विशेषज्ञ मेक्लूहान के मंतव्यों को ध्यान में रखा गया है। प्रसंगवश विवादस्पद संरचनावादी संस्कृतिशास्त्री माइकेल फोकाल्ट (Michel Foucault) का एक प्रसिद्ध कथन उद्धृत किया जा रहा है -- 'He(man is a quite recent creature which The demirge of Knowledge fabricated with its own hands less than two hundred years ago'. The Orders of things -P

5. मार्क्स ने लिखा है :- 'The forming of the five senses is a labour of the entire history of the world down to the present.' Economic and philosphic manuscripts of 1844 Moscow - 1977 P.103.

ब्रेख्त (Brecht) के इस कथन से तुलना उपयोगी होगी 'Man, too, that is to say the flesh and blood man, can be understood only in the light of the processes in which he is involved and through which he exists.' Quoted in Marxist Esthetics by Henri Arvon P-7)

वाम-मीमांसा : भारतीय संदर्भ

वाम एक तत्सम शब्द है और प्रस्तुत शोध के प्रसंग में एक विशेषण । शब्दकोश में इसके कई अर्थ मिलते हैं, जिनमें एक ओर कुच मनोहर आदि हैं तो दूसरी ओर उल्टा या विरोधी और तीसरी ओर शिव तथा कामदेव का एक नाम भी ।[7] यहाँ अर्थ-विज्ञान (Semantics) से सम्बन्धित एक प्रश्न प्रासंगिक होगा कि क्यों कालांतर में "वाम" शब्द का एक ही अर्थ बचा रह गया और वह भी अपादिश द्वारा एक अन्य अनर्थकारी अर्थ से मिलकर सदा के लिए इस शब्द को एकायामी बना गया ।[8] इस अर्थ वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दुर्घटना की सही मीमांसा तो संभवत: बिना नृतत्वशास्त्र के बीहड़ में प्रवेश किये नहीं हो सकती, किंतु प्रस्तुत शोध के लिए इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि "दक्षिण" (शरीर के दक्षिणी भाग) को प्राक्-वैदिक काल से ही पूज्य (mana) माना गया । निश्चित ही इस मानने के पीछे एक टोटेम-दृष्टि सक्रिय रही । इसलिए यह अनुमान

उपर्युक्त दोनों कथनों में मनुष्य को एक सतत-गतिशील-प्रक्रिया से एकीकृत किया गया है ।

6. लुई अल्थूसर (Louis Althusser) ने आदर्शवादी द्वंद्वात्मकता का एक रोचक उदाहरण हीगेल (Hegel) के प्रसंग में दिया है । रूप और कथ्य (Form and Content) की द्वंद्वात्मकता में प्राप्त होने वाले छद्म को उजागर करने के लिए "----More precisely, between content and its conceptional expression, the 'Materialist content' comes into contradiction with its 'idealist form' and the idealist form itself tends to be reduced to a mere matter of Terminology (it had to dissolve in the end, it was nothing but words' (For Marx P-61) तुलना कीजिए, मुक्तिबोध

सर्वथा तर्क संगत होगा कि "दक्षिण" से विपरीत होने के कारण ही वाम को अपूजनीय अथवा प्रति-पूज्य (Taboo) मान लिया गया । अनार्य संस्कृति में आराध्य माने जाने वाले शिव या देह-अनुरक्ति के देवता कामदेव का नाम " "वाम" रखना या मात्र देह में घटा दी गयी स्त्री का नाम "वामा" रखना आदि [illegible] कारवाइयाँ इसी "दक्षिण" [जो "शुभ", "पवित्र" आदि का संकेतक शब्द बन गया था] विरोधिनी अर्थ-ध्वनियों के व्यापक प्रभाव की ही देन हैं । वाम का प्रमुख अर्थ उल्टा या विरोधी ही रहा और कालांतर में वह उसी एक अर्थ का वाहक बन गया ।

इस प्रसंग में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम मार्क्स का यह बहुधा उद्धृत प्रसिद्ध कथन याद करें कि --"प्रत्येक युग में शासक वर्ग के विचार ही

ने कहा है ---"तत्व तो होता है अत्यंत आधुनिक, किंतु उसकी रूप योजना होती है बहुत पुरानी । कला तो यह जाता है कि तत्व अपना स्वयं का रूप विकसित करता है [इस लेख के लगभग बीस वर्षों के बाद हर्बर्ट मारक्यूज़ ने इसी विचार को यों लिखा - The truth of art lies neither in form as such, nor in content as such, but rather in content which becomes form, i.e. in the aesthetic form.

78-79
Tebs 3,Winter -/ में एक संवाद के दौरान उद्धृत पृ- 143] किंतु उसे अपना रूप विकसित करने की स्वतंत्रता दी जाय तब न ।" [मुक्तिबोध रचनावली, पाँच, पृष्ठ-212 ।

7. "वाम" के ये अर्थ प्राप्त होते हैं --"बाँया, वाम भाग स्थित, उल्टा, कुटिल स्वभाव का, दुष्ट, नीच, मनोज्ञ, मनोहर, कठोर, निर्दय, इच्छुक, कामदेव, शिव, वरुण, शुचाक का एक पुत्र, कृष्ण का एक पुत्र, वामाचार, चंद्रमा के रथ का एक अश्व, बुध, बधुआ, बाँया पार्श्व, बाँया हाथ, प्राणी, सर्प वमन, निषिद्ध कर्म, दुर्भाग्य, संकट, धन । [संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ-1039]

शासक विचार होते हैं ।[9] चूंकि इस कथन के इस्तेमाल से प्राय: भ्रामक और सरलीकृत नतीजे निकालने की एक परम्परा रही है, अतएव आवश्यक होगा कि हम अंतानियो ग्राम्शी (Antonio Gramsci) के "प्रभुता" (Hegemony) सिद्धान्त को सामने रखें । अरुण शोरी ने इस बारे में सही संकेत किया है कि भारत में "प्रभुता" स्थापन की सारी प्रणाली विशिष्ट रही है । ऊपरी तौर पर मात्र राजनीतिक अथवा सामाजिक शासन-तंत्र द्वारा "प्रभुता" लादने के बजाय समाज की सम्पूर्ण विचार-प्रणाली में "प्रभुता" का प्रवेश इस तरह करा देना कि बाद में प्रत्येक व्यक्ति की विश्व दृष्टि उसी के प्रभाव में निर्मित हो और कालांतर में वही "प्रभुता" इस सीमा तक आंतरिकीकृत INTERNALIZED हो जाय कि व्यक्ति को पता भी न चले कि कब उस "प्रभुता" के आधीन रहना उसका सहज स्वभाव बन गया ।[10]

---

8. "कामस्य वामा गति:" गीत गोविंद 12-2। संभवत: इसी उल्टी गति के कारण ही कामदेव को वाम कहागया । इसी तर्क संगत अनुमान का विस्तार करें तो सहज ही "वाम" शब्द के अन्य सकारात्मक प्रतीत होने वाले अर्थों का भी कुछ न्यूनाधिक रूप से नकारात्मक अर्थों में खोजा जा सकता है ।

9. मार्क्स का पूरा कथन इस प्रकार है --" The ideas of the ruling class are in every epich the ruling ideas; that is, the class which is the ruling material force of society is at the same time its ruling intellectual force' - The German ideology - P.601.

किंतु मार्क्स यह भी अच्छी तरह जानते थे कि शासक वर्ग के विरोध में पनपने वाले विचार ही ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को संभव बनाते हैं ।

10. Hinduism : Essence and consequence - Arun Shourie 1979 P-1.

यदि अब तक का यह विवेचन सही है तो मध्य युग में तंत्र-द्वारा दक्षिण-विरोध की घटना और भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठती है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि तांत्रिक विचार धाराएँ भारतीय भौतिक वादी परम्पराओं को ही आगे बढ़ाती हैं। इसे आकस्मिक नहीं समझा जाना चाहिए कि "दक्षिण" को तंत्राचार में पशुभाव के अंतर्गत रखा गया।"[11] निश्चित ही ऐसा इसलिए किया गया कि आतंरिकीकृत प्रभुता का स्वरूप होने के कारण "दक्षिण" गहरे अर्थों में सत्ता या व्यवस्था का प्रतीक बन गया था। वस्तुतः तंत्र ने अनुकूलन को तोड़ने की एक जोरदार कोशिश की थी। परिणाम स्वरूप हुए वैचारिक तथा इतर संघर्ष में अगर "दक्षिण" ही आखिरकार विजयी रहा तो इसलिए कि सत्ता [संघर्ष हो या विचार प्रणालियाँ] अपने को बचाये रखने के लिए बेईमानी [Foul Play] करती है और यहाँ उस सर्वस्वीकृत नियम तक भी उपेक्षा की गयी कि किसी विचार का खण्डन करने के लिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का सरलीकरण या उसे अपने ही आशय के अर्थों में घटाकर या ढालकर नहीं देखा जाना चाहिए।

---

11. "तांत्रिक मत की यह विशेष विशेषता है कि वह साधकों की योग्यता के अनुरूप उपासना का विधान बतलाता है। तीन भाव तथा सात आचार। भाव मानसिक अवस्था है और आचार है बाह्याचरण। पशुभाव, वीर भाव, दिव्य भाव। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार तथा कौलाचार। जिनमें अविद्या के आवरण के कारण अद्वैत ज्ञान का उदय नहीं - वे पशु-भाव से ग्रस्त। वेदन वैष्णव, शैव्य, दक्षिण - ये पशु भाव। वाम तथा सिद्धांत - ये वीर भाव। कौल - दिव्य भाव।" "बौद्ध दर्शन, पं० श्री बलदेव उपाध्याय पृ- इस उद्धरण में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो पशुभाव के अंतर्गत रखे जाने वाले सभी आचार -- वेद, वैष्णव, शैव्य और दक्षिण - सीधे-सीधे सत्ता से जुड़े सम्प्रदाय या

तांत्रिक विचारकों ने जब पशु-भाव के अंतर्गत समस्त "दक्षिण" [=सत्ता] विचारधाराओं को लिया [जान-बूझकर या सहज प्रकृति वश - यह प्रश्न अप्रासंगिक होगा ।] तो उनके लिए आवश्यक था कि वे अपनी साधना पद्धति में उन संज्ञाओं तथा क्रियाओं को लें, जो "दक्षिण" आचार-संहिता में घृणित और वर्ज्य मानी जाती हो । न केवल लें, अपितु घृणित और वर्ज्य" के विरोध में उन्हें इस प्रकार ऐश्वर्योकृत करें कि वे काम्य और श्रेष्ठ प्रतीत होने लगे । अनुकूलन-सम्बन्धी आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिंतन ~~[illegible]~~ ने भी अव-अनुकूलन (De-Conditioning) की प्रक्रियां में ऐसे ऐश्वर्यी करण (Glorification) को आवश्यक बतलाया है ।[12] तंत्र-साधना में भी "पशु" भाव से "दिव्य" भाव तक पहुँचने के लिए पंच "म" कार की आवश्यक बतलाया गया है ।[13] यदि मूल्य

पूजनीय प्रतीक थे । कहा तो यह भी जा सकता है कि प्रथम तीन आचार [वेद, वैष्णव, शैव्य] अपने आप में दक्षिणाचार ही थे किंतु उनमें "दक्षिण" जोड़कर बात को और स्पष्ट किया गया है । साथ ही पशु और दिव्य के मध्य में "वीर" को रखकर स्पष्ट ही एक विकासमान प्रक्रिया को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है । पशु और दिव्य के मध्य में अनिवार्य पड़ाव "मनुष्य" ही है । अतएव वीर का अर्थ दिव्यत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नरत मनुष्य होगा ।

उपर्युक्त संकेतों से यह अनुमानित निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कालांतर में अरविंद दर्शन की "दिव्य की ओर यात्रा" के बीच तंत्र में ढूंढे जा सकते हैं । [क्या नीत्शे और डार्विन के सिद्धांत भी ?]

देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "लोकायत" में वामाचार का अर्थ स्त्री और यौन-आचारों से जोड़ा है । उन्हें कृष्ण की कर्म-काण्डी परम्परा से इस तथ्य को जोड़ना था । इस की चेष्टा के कारण

परक शब्दावली का सहारा लें तो कह सकते हैं कि मैथुन, मांस, मद्य आदि को साधनात्मक मूल्यत्व का पद दिया गया और "दिव्य" भाव तो सर्वोच्च या साध्य-मूल्य था ही ।[14] निश्चित ही उन घृणित और वर्ज्य मानी जानेवाली संज्ञाओं और क्रियाओं को विशेष साधनापरक अर्थों से युक्त करके गृह्य और पारिभाषिक शब्दावली बनाया गया । बाद का इतिहास सुधी जनों को सर्वविदित ही है कि तांत्रिक योग-साधना में पंच "म" कार को किन अर्थों से युक्त किया गया है ; इसकी चिंता किये बिना ही उसके विरोध में संभवत: अस्तित्व-संघर्ष में बचे रहने के लिए ही घृणा-जुगुप्सा जैसे आवेगों को प्रयुक्त किया गया । परिणाम स्वरूप "वाम" शब्द का जो अर्थापकर्ष हुआ, वही आज सर्वाधिक प्रचलन में है तथा वाम-मार्ग या वाम-पंथ के प्रति भारतीय-मानस के सहज तिरस्कार या बहिष्कार में देखा जा सकता है ।

ही उन्हें इस सरलीकरण का सहारा लेना पड़ा । यह सही है कि तंत्र में स्त्री और यौन (Sex) को केन्द्र में रखा गया है किंतु यह कृषि के कर्मकाण्ड की अगली कड़ी होने के साथ ही इन दोनों के प्रति जिस तरह का सत्ता-ज्ञान था, उसके विरुद्ध विद्रोह भी था ।

यहाँ तंत्र की "दक्षिणाचार" धारा का उल्लेख भी आवश्यक है । "लोकायत" में सही बताया गया है कि यह धारा परवर्ती है और अपने में "दक्षिण"-सत्ता के प्रति समझौते को सूचित करती है । बागची तक ने भी यही कहा है, यद्यपि वे तंत्र के दो विभाग सनातनी (Orthodox) और असनातनी (Hetrodox) करते हैं । जब दक्षिणाचारी तांत्रिक एक साथ ही वैदिक मतावलम्बी और तंत्राचारी हो सकता था तो बात स्पष्ट हो जाती है । प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त शब्दावली का सहारा लेना हो तो कहा जा सकता है कि आंतरिकीकृत दक्षिण का ही वामाचार को निष्क्रिय बनाने का यह षडयंत्र था । प्रसंगवशात ध्यातव्य है कि तांत्रिक

वाम-मीमांसा : पश्चिमी संदर्भ

आज विश्व इतना सिमट गया है कि किसी भी शब्द, अर्थ या अवधारणा को किसी देश विशिष्ट के घेरे में रखकर समझने की चेष्टा बेमानी ही सिद्ध होगी । इसीलिए "वाम" शब्द भी मात्र प्राचीन भारतीय संदर्भों में सीमित नहीं रह सकता । आज जब "मानव नियति स्वयं को राजनीतिक शब्दावली में ही व्यक्त करती हो" टामस मान" तो "वाम" शब्द का, अंग्रेज़ी शब्द "लेफ्ट" (Left) का सीधा-सीधा अनुवाद माना जाना एक सहज घटना ही कही जायेगी । यों तो "लेफ्ट" शब्द का सीधा सीधा अर्थ "बाँया" होता है और उसके साथ ऐसी कोई स्थिति नहीं रही कि वह "टाबू-टेबू" दृष्टियों से बहुअर्थी होने को बाध्य हुआ हो । सन् 1789 में घटित फ्रांसीसी राज्य क्रांति

योग साधना एक ऐसा मनो शारीरिक प्रशिक्षण था, जो बुनियादी व्यक्तित्व और चेतना को "स्त्री" में रूपांतरित करता था अर्थात् अनुकूलन को तोड़ने की एक मनो-शारीरिक (Psycho-Physical) चेष्टा । Lokayata - Debiprasad Chatopadyaya - P.P.H. 1973 P.278 - 280
विस्तार के लिए P.C. Bagchi की पुस्तक Studies in the Tantras, Calcutta, 1939 भी देखी जानी चाहिए ।

12. The Grammar of Living - An Examinations of Political Acts - David Cooper, 1976.4
विशेषत: The acid test नामक अध्याय ।

13. तंत्र में पंच मकार के अभिव्यक्त करने वाले पाँच शब्द हैं - मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा तथा मत्स्य । Lokayat - Debiprasad Chatopadhyaya P.51

14. अधिक विस्तार में न जाते हुए हम मूल्य की यह परिभाषा स्वीकार करते हैं --"जिस विषया को खोज का विषय होने पर विवेक का समर्थन प्राप्त होता हो, वही मूल्य है ।" मूल्य-मीमांसा - डॉ० गोविंद चंद्र पाण्डेय पृ- 31 ।

के बाद रॉब्सपियरे और उसके साथियों के राष्ट्रपति की बाँयी ओर बैठने से "लेफ्ट" शब्द का अर्थादेश हुआ । नया अर्थ हुआ - राजनीतिक प्रतिपक्ष । समाजवादी विचारधाराओं को प्रायः उनकी मुखर विद्रोही और प्रगतिशील मंशाओं [illegible] के द्वारा जाना और पहचाना जाता है । कालांतर में यह "लेफ्ट" शब्द अपने नये अर्थ से युक्त होकर उनसे जुड़ा । "लेफ्ट" शब्द के इस नये अर्थ ने अपने लगभग दो सौ वर्षों के इतिहास में काफ़ी उतार-चढ़ाव देखे हैं । कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि विश्व-राजनीति की अप्रत्याशित हलचलों ने इसे एक निरे अर्थहीन शब्द में घटा दिया है । स्पष्ट ही "राजनीतिक प्रतिपक्ष" - धर्मी अर्थ को क्या औचित्य रह जाता है, अगर "लेफ्ट" का शासन स्थापित हो जाय । स्वयं अपनी जन्म-भूमि, फ्रांस तक में यह शब्द अब मात्र "जार्गान" [बकवास] कहा जाने लगा है ।[15] फिर भी कुछ कसर यदि बाकी रह गयी थी तो वह अमेरिका द्वारा पूरी कर दी गयी । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में "नयेपन" को मूल्यात्मक महत्व देने वाले जीवन-दर्शन ने "न्यू लेफ्ट" शब्द गढ़ा ।[16] उसके सिद्धांत निर्माताओं ने बताया कि "ओल्ड लेफ्ट" कोरे सिद्धांतवादी थे ।[17] कर्म (Action) पर अतिरिक्त बल देकर प्रकारांतर से इस सिद्ध कर दिया गया कि "लेफ्ट" शब्द अपने मूल में कर्मवाची नहीं है । यहाँ प्रसंगवश ध्यातव्य है कि समर्थकों और विरोधियों ने समान रूप से इसे मार्क्सवाद से भी जोड़ा है । इसके बावजूद

मूल्यों के दो भेद किये गये हैं --1. साधनात्मक और 2.साध्य । साध्य मूल्य को चरम मूल्य भी कहा जाता है । साधनात्मक मूल्य चरम या साध्य मूल्य पर ही आधारित होते हैं । संस्कृति का दार्शनिक विवेचन - डा०देवराज, पृ-167

15. रेमण्ड ऑरान ने (Raymond Aron) लिखा है - 'The left was born and took shape in opposition - The child of an idea.' अपने प्रसिद्ध और बहुचर्चित लेख " 'The myth of Left' " में ऑरान ने विस्तार से बतलाया है कि वस्तुतः "लेफ्ट" शब्द का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है । वह पूरी तरह से छद्म या मिथ्या-चेतना (False consciousness)

कहना होगा कि आज सारे विश्व में राजनीतिक प्रतिपक्ष (=प्रगतिशील, क्रांतिकारी, परिवर्तनकामी आदि) वाले अर्थ में व्यवहृत होते हुए भी "लेफ्ट" शब्द एक घनघोर अमूर्तता की मिसाल आप है ।

वाम-मीमांसा : प्रस्तुत संदर्भ

भारत के प्रसंग में स्थिति अधिक विचारणीय है । यहाँ "वाम" शब्द और उसके अर्थ की अपनी एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है । सहज बुद्धि-गत तर्क होगा कि जिस शब्द अर्थ को जड़े अपनी ज़मीन में हो, उसे किसी विदेशी शब्द का अनुवाद-भर नहीं बने रहना चाहिए । भारत में तो "वाम" शब्द दक्षिण (=सत्ता) का विरोधी होने के कारण आरंभ से ही प्रतिपक्ष का संकेतक रहा है । यह स्थिति उसे "दक्षिण" द्वारा ही

का पार्श्वक हो गया है । जब यथास्थितिवादी सत्ता के प्रतीक दक्षिण पंथी दल राजनीतिक प्रतिपक्ष की भूमिका निभाने लगे तो स्पष्ट हो जाता है कि "राइट" और "लेफ्ट" शब्दों के पीछे कोई जीवन-दर्शन सक्रिय नहीं है, बल्कि सिर्फ सत्ता हासिल करने का शक्ति-संघर्ष (Power Struggle) मात्र है । अँरान तो यहाँ तक टिप्पणी करता है कि ज्यों ही "लेफ्ट" संगठित होता है त्यों ही सत्तावादी मात्र बनके रह जाता है । The opium the intellectuals - Raymond Aron - 1957 पृ-7-12. (तुलना के लिए - 'Theoretical Marxism is essentially critical of false consciousness, but political Marxism is false consciousness. - False conciousness. An Essay on Reification - Joseph Gabel 1975 Preface.

जार्गन एक ऐसा शब्द होता है, जो यों तो अंधविश्वास से बुरकर जादूई प्रतीत होता है किंतु वह अपने आप में सत्य से भाषा के कटजाने की जिंदा मिसाल होता है और सम्प्रेषण तो कुछ करता नहीं करता ।

प्रदत्त है । तांत्रिक साहित्य में उसे जो विशिष्ट स्थिति प्राप्त हुई, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वह एक क्रांतिकारी विश्वदृष्टि का संवाहक बना । "लेफ्ट" शब्द में जो अर्थोदेश फ्रांसीसी क्रांति के द्वारा संभव हुआ, उसे "वाम" शब्द में सहज ही निहित माना जा सकता है । स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो एक ओर "लेफ्ट" जैसा शब्द है, जो मूलत: उन अर्थ-ध्वनियों से वंचित है, जो उसे फ्रांसीसी राज्यक्रांति द्वारा प्रदान की गयी और दूसरी ओर "वाम" शब्द की मूल अर्थ-ध्वनियाँ ही वे हैं । ऐसे में यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं है कि पश्चिम के किसी शब्द को हम वृथा ही ढोते फिरें । यों भी ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की इस स्थिति की दयनीय विडम्बना ही कहा जायेगा कि हम पश्चिम की पारिभाषिक शब्दावली को बिना सोचे-समझे भारत जैसे नितांत अलग संस्कृति वाले देश पर ज्यों का त्यों लागू कर रहे हैं और फिर उन्हीं जड़-बद्ध शब्दों के माध्यम से अतीत और वर्तमान को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं । और तो और भारत के तथा-कथित वामपंथी दल भी पश्चिम से स्वीकृति पाने के लिए मुँह जोहते रहते हैं और उनसे एकात्मकता स्थापित करने के प्रयासों में दिन-रात लगे रहते हैं ।

The Jargon of Authenticity - Theodor W.Adorno Preface.

16. "न्यू लेफ्ट" शब्द गढ़े जाने की पृष्ठभूमि के बारे में बात करते हुए डिक हावर्ड ने लिखा है The attempt was very American, very much in our tradition of national law' The marxian legacy. Dick Howard -19' P-25

17. वियतनाम युद्ध के प्रति उग्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, 1964 के बाद "न्यू लेफ्ट" शब्द व्यवहार में आने लगा । कर्म पर अतिरिक्त बल देने के साथ साथ इन्होंने आवश्यक हिंसा का भी समर्थन किया । इस प्रवृत्ति में नव-मार्क्सवाद, समाजवाद, संघवाद, अराजकतावाद, शांतिवाद आदि कई समकालीन विचारधाराओं का इसमें घालमेल हुआ । A dictionary of Politics ed. Walter Laquer P.355.

हम समझते हैं कि उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण ने हमें इस प्रस्तावना के लिए पर्याप्त आधार दे दिया है कि "वाम" शब्द "लेफ्ट" की तुलना में अधिक सार्थक, प्रभावशाली और सम्पूर्ण है । यह अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए कि चूंकि इतिहास में पीछे नहीं चलाया जा सकता इसलिए "लेफ्ट" के राजनीतिक प्रतिपक्ष-धर्मी अर्थ को भी "वाम" के साथ जोड़ना आवश्यक है । सह साम्प्रतिक अथवा युगीन माँग के चलते हैं । "लेफ्ट" शब्द का निरे जार्गन में घटकर रह जाना इतना तो दर्शाता ही है कि मात्र एक राजनीतिक संयोग किसी "लेफ्ट" जैसे साधारण शब्द को असाधारण नहीं बना सकता ।

यहाँ प्रासंगिक होगा अगर हम यह बतायें कि कोई विचारधारा आंतरिकीकृत होने पर ही शक्तिशाली हो पाती है ।[18] जहाँ "वाम" शब्द की अर्थ-ध्वनियों में सिद्धांत और व्यवहार को एकीकृत कर दिया गया है [19] वहीं लेफ्ट शब्द मात्र एक विचाराभास बनके रह गया है । यहाँ पुनः यह ध्यातव्य है कि "लेफ्ट" विशेषण को विशेषतः मार्क्सवाद से जोड़ा जाता रहा है ।[20] मार्क्सवाद का केन्द्रीय प्रत्यय प्रौक्सीस ‖ Praxis =आचरण‖ माना गया है । प्राग्शी ने तो मार्क्सवाद को ही Theory of Praxis कहा है । किस प्रकार न्यू लेफ्ट और ओल्ड लेफ्ट के विवाद ने

वे Che, लैंग Laing, फैनान फ्रेंच Fanon और सार्त्र Sartre को "न्यू लेफ्ट" का प्रवक्ता अमेरिकी आलोचकों ने ही घोषित किया । इन्होंने कभी इस "पद" को स्वीकार किया हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता ।

18. लोवेमरे का कथन द्रष्टव्य है - 'internalization the ideology must become an interorized force, an 'external law taken into the psyche itself'.

यह सिद्ध कर दिया कि "लेफ्ट" शब्द अपने आप में प्रैक्सीस की अर्थ-ध्वनि वहन करने में अक्षम है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है । यदि एक संयोग के कारण ही सही "लेफ्ट" का अपादिश "प्रतिपक्ष" हो गया और आज न्यूनाधिक रूप से "मार्क्सवाद" ही सही प्रतिपक्ष बन सकता है तो हमारे लिए प्रासंगिक ही नहीं बल्कि आवश्यक होगा कि हम "प्रैक्सीस" (Praxis= = आचरण) को समझें, क्योंकि यह एक सुखद विस्मय की बात ही कही जा सकती है कि "वाम" शब्द अपनी मूल अर्थ-ध्वनियों में ही वह विशिष्ट मंतव्य वहन करता है, जो मार्क्स का उद्देश्य था ।

हर्बर्ट मारक्यूज ने जैसे इसी सूत्र का विस्तार करते हुए लिखा है "..... Culture becomes nature and the individual learns to affirm and to reproduce the reality principle from within himself though his instincts.' ( ).

19. ध्यातव्य है कि "वाम" का एक अर्थ वामाचार भी है ।

20. सुधीजन उन प्रयत्नों से भली भाँति परिचित होंगे, जिनके अंतर्गत "लेफ्ट" मार्क्सवाद से इतर विचार धाराओं से ही जोड़कर देखा जाता है । सन् 1968 में आये छात्र-आंदोलन के तूफान ने ऐसे कई "प्रयत्नों को पुस्तकाकार प्रस्तुत होने की प्रेरणा दी थी । रिचार्ड गोम्बिन (Richard Gombin) ने Origin of the leftism नामक पुस्तक में लुकाच, को सार्त्र, लेफेब्रे तक बोल्शेविक-विरोधी लेफ्ट की परम्परा देखी है । अपनी दूसरी पुस्तक The Radical Tradition - A study in modern Revolutiona: Thought में गोबिन ने मार्क्सवाद विरोधी रुख अपनाया है । राज्य-पूंजीवाद (State Capitalism) सर्वहारा को भी आत्मसात कर लेता है तो गोम्बिन यही अपनाना ठीक समझते हैं कि क्रांतिकारिता की परम्परा मार्क्सवाद से भिन्न करके देखी जानी चाहिए । उनके निष्कर्षों की तुलना कस्टोरियाडिस Castoriadis के इस कथन से की जा सकती है 'To be revolutionar meant ceasing to be Marxist' (Telos 40, SUMMER 79, P.203 पर उद्धृत ।

वाम, प्रेक्सीस और आचार

प्रेक्सीस प्रत्यय उन विवादास्पद पदों में से एक है, जिनका अर्थ निर्धारण एक दुष्कर कार्य रहा है । मार्क्सवाद का केन्द्रीय प्रत्यय होने के बावजूद जहाँ तक मार्क्स के अपने लेखन का प्रश्न है, उसमें इस का आशय स्पष्ट नहीं किया गया है । कालांतर में जिन विचारकों ने इसे विमर्श का विषय बनाया है, वे यह मानते थे कि कोई भी दर्शन जब तक प्रेक्सीस का दर्शन नहीं बनता, वह सामाजिक स्थितियों को प्रभावित नहीं कर सकता ।[21] मार्क्स ने प्रेक्सीस शब्द का प्रयोग फायर बाख Faur Bach जैसे भौतिकवादियों की आलोचना के लिए किया है कि वे यथार्थ को आत्मनिष्ठता के रूप में समझते हैं ने कि मानवीय ऐन्द्रिय गतिविधि, व्यवहार अथवा आचार के रूप में ।[22] जिन विचारकों ने प्रेक्सीस को "विमर्श का केन्द्र बनाया, उनमें महत्वपूर्ण नाम अंतानियो ग्राम्शी और ज्याँ पॉल सार्त्र का है । अन्य विचारकों के योगदान को इन्हीं दोनों के पक्ष-विपक्ष में की गयी टिप्पणी के रूप में देखा जा सकता है ।[23]

---

21. Philosophy and Social criticism Jan, 78 Vol.5 1 Maxian Praxis an article by Tom Rockmore P-71

22. मार्क्स के शब्द Sensuous human activity - Practice (Praxis) not subjectivity - Ibid P-121

23. प्रसंगवश कतिपय विचाकरकों के प्रेक्सीस सम्बन्धी विचार उद्धृत किये जा रहे हैं 1. a category of human being relative to the formation of social reality - Kosik.4 2. Conscious goal - directed social ~~reality---Kosik~~ activity - Markovik.
3. Habermas ने Praxis के अंतर्गत सामाजिक व्यवहार और क्रांति को जोड़कर देखा है । 4. Heartman के अनुसार Praxis एक ऐसा गैर-दार्शनिक प्रत्यय है, जो दर्शन से परे जाता है । Gentile ने तो मार्क्स के ही शब्द ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिये है - Sensuous human activity. -वही - पृ- 8। कुछ विचारकों के अनुसार ग्राम्शी ने

हम यहाँ यह अवधारणा प्रस्तुत करना चाहेंगे कि "आचार" शब्द प्रेक्सीस के सही मार्क्सीय मंतव्य को समझाने में सक्षम है । यह एक ऐसा शब्द है, जिसकी जड़े नीति, धर्म, दर्शन से लेकर रोज़मर्रा के व्यवहार तक में गहरें धँसी हुई है । यदि ब टॉम राक्मोर Tom Rockmore जैसे विचारक प्रेक्सीस के सही अर्थ की खोज तलाश में प्लेटो के सुकरात-संवाद के पास जाते हैं और "शुभ का ज्ञान ही शुभ कर्म है" (Knowing the good, doing the good) जैसे कथनों में उसका बीच ढूंढते हैं तो भारतीय दर्शन (विशेषत: पूर्व-मीमांसा) तो "आचार" शब्द (= Praxis) के प्रसंग में बेहद प्रभावी और प्रासंगिक सिद्ध होगा ।

"वाम" शब्द न केवल "आचार" को अपने में समाहित किये हुए है बल्कि उसमें एक वयस्क विश्व-दृष्टि के भी संकेत है ।[24] निश्चित ही उस विश्व-दृष्टि के भीतर, उस के अनुरूप ही, काल-दृष्टि, इतिहास-दृष्टि और सौंदर्य-दृष्टि भी सक्रिय है । कहना न होगा कि वर्तमान प्रसंग में तथा पारम्परिक दक्षिणी (=सत्ता) दृष्टि से विपरीत किंतु युगानुकूल जीवन-दृष्टि को समझने के लिए यही विश्व-दृष्टि = वाम-दृष्टि सार्थक सिद्ध होगी ।

Praxis का प्रत्यय लेब्रिओला Labriola से लिया था ।

24. देवीप्रसाद चटोपाध्याय ने प्रसिद्ध ग्रंथ "लोकायत" में वामकेश्वर तंत्र से एक उद्धारण दिया है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही "दक्षिण" होता है किंतु "वाम" मार्ग को हासिल करना होता है ।

तंत्र-साहित्य के प्रसंग में "अभिषेक" का बड़ा महत्व है । अभिषेक के पश्चात ही कोई तांत्रिक वामाचारी कहलाने का अधिकारी हो सकता था । इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि दक्षिणाचार का तंत्र में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है । - पृ- 279

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम जोर देकर यह प्रस्तावना करना चाहेंगे कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में गंभीर चिंतन के लिए "वाम" शब्द को ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए तथा उसे उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण "लेफ्ट" से अधिक कारगर माना जाना चाहिए ।

बाधा और निवारण

"वाम" शब्द को "लेफ्ट" का अनुवाद मात्र ही रहने के अभिशाप से मुक्त किया ही जाना चाहिए । वाम-चिंतन के भारतीय आयाम तभी उजागर हो सकेंगे । इसमें सबसे बड़ी बाधा है - नये को स्वीकार न करने की प्रवृत्ति । यों तो मानव-मात्र की यह सहज प्रवृत्ति होती है कि वह पुराने में ही सुरक्षा अनुभव करता है । नये (विचार हो या समाज) से आशंकित रहता है । किंतु भारत के संदर्भ में तो यह प्रवृत्ति चिरकालिक (chronic) रोग-सी हो गयी है । हज़ारों वर्षों की परतंत्रता ने आत्म-निर्णय का साहस ही समाप्त प्राय कर दिया है । दूसरों द्वारा किये गये निर्णयों को नियति मान कर जीते रहने की आदत आंतरिकीकृत होकर सहज स्वभाव बन गयी है । अनुकूलन अथवा आंतरिकीकृत सत्ता का विरोध करना लगभग असंभव होता है । स्पष्ट है कि नये सोच को तभी अपनाया जा सकता है, जब पुराने सोच को न छोड़पाने की विवशता से मुक्त हुआ जाय ।

पूर्व में दर्शाया जा चुका है कि दक्षिण (-सत्ता) विचार अब एक आंतरिकीकृत इकाई बन गये हैं । यह भी कहा जा सकता है कि वे भारतीय जीवन के प्राणतत्व से एकीकृत हो गये हैं । ऐसे में स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक ऐसा विचार (भावना, कल्पना आदि भी) जो दक्षिण अथवा सत्ता (आंतरिकीकृत) के अनुकूल न प्रतीत हो, विदेशी और खतरनाक लगे । "वाम" के विकृतिपरक अर्थ पर सहज ही ध्यान जाने

अथवा (स्वघोषित नामधारी वाम पंथियों द्वारा) उसे मात्र "लेफ्ट" के अनुवाद के रूप में ही देखते हुए पश्चिम से आयातित पैमानों द्वारा उसकी व्याख्या-परिव्याख्या करते रहने में निस्संदेह गुलाम सोच की अभिव्यक्ति होती है और कहना न होगा कि गुलाम सोच बंजर होता है । प्रमाप के लिए भारत के तथाकथित वामपंथियों के चिंतन से प्राप्त नतीजों को देखा जा सकता है । आवश्यक है कि जोखिम भरा चिंतन किया जाये । यदि सारी जिंदगी दाँव पर लगाकर चिंतन नहीं किया जाता है, तो वह यों भी जिंदगी को सतही बनाकर, उसे देह (देहाभास ?) तक सीमित करके, अर्थहीन बना देगा । वाल्टर बेंजामिन Walter Benjamin और बर्तोलत ब्रेख्त के अनुग्र चिंतन Crude Thinking की वकालत को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है । नया चिंतन परिष्कृत अभिजात अथवा सुथड़ नहीं हो सकता । ये सारे गुण पुराने चिंतन के हैं । जिस चिंतन का सब कुछ सुरक्षित है, रोटी, छत, बिस्तर - वह अनग्र क्यों होना चाहेगा ? जोखिम क्यों उठाना चाहेगा ?[25]

यहाँ यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि "वाम" शब्द को उसकी भारतीय समग्रता में व्यवहृत करने के लिए तो ऐसे किसी जोखिम भरे प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं है । एक युग था कि ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तरह भारतीय अर्थ-विज्ञान भी वैज्ञानिक अर्थों में उदार था । उसकी परम्परा भी इसी दिशा में गतिशील हुई । शब्द-अर्थ सम्बन्ध को यहाँ कभी जड़ नहीं माना जाता था । भर्तृहरि, कैयट, नागेश (साहित्य शास्त्र की परम्परा में मम्मट, विश्वनाथ, हेमचंद्र आदि का नाम लिया जा सकता है)

---

25. डेविड कूपर (David Cooper) ने लिखा है -- 'If we are not prepared to risk our minds and lives we shall lose them any how.' The Grammar of Living. An examinations of political Acts P-76.

आदि ने अर्थ को वक्ता के आशय पर आधारित बताया है ।[26] शब्द-अर्थ सम्बन्ध युग-सापेक्ष होता है । राम विलास शर्मा ने स्पष्ट लिखा है - "शब्द और अर्थ का सम्बन्ध जड़ और अपरिवर्तनीय होता तो एक शब्द के दो अर्थ न होते ।" और भी " मनुष्य शब्द की प्रतिमा बनाकर उसे पूजता नहीं है । पहले किसी शब्द का अर्थ क्या था, इसकी चिंता न करके आवश्यकता पड़ने पर वह उसे नये अर्थ से जोड़ देता है ।[27] तय है कि ये अर्थ मनुष्य को यों ही नहीं प्राप्त हो जाते बल्कि "बाहरी जगत और अंतर्जगत" की ~~ट~~ टकराहट में ही वह इन्हें हासिल करता है ।

उपर्युक्त उद्धरण में "आवश्यकता पड़ने पर" वाक्यांश महत्वपूर्ण है । हम जोर देकर कहना चाहेंगे कि आज समय की आवश्यकता है कि "वाम" शब्द को सही परिप्रेक्ष्य से जोड़कर अर्थवान बनाया जाय । किसी भी चिंतन के लिए सामान्यत: तथा "वाम" सम्बन्धी चिंतन के लिए विशेषत: यह सही है कि यदि वह भारत में हो रहा हो तो भारतीय परिवेश की शर्तों पर ही निष्पन्न होगा । तभी वह सार्थक और परिणामी होगा वरना न सिर्फ़ अर्थहीन बल्कि अनर्थकारी भी होगा । जब अंतानियो ग्राम्शी और तोगलियाती (Togliatti) के चिंतन में निरंतर इटली का परिवेश मुखर होता है और गेराउडी (Garaudy) और अल्थूसर के चिंतन में फ्रांसीसी संस्कृति बोलती है तो कोई कारण नहीं है कि भारतीय वाम-चिंतन में "भारत"संवाद न करें । प्रसंगवश यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि तांत्रिक युग में दीक्षा का अनुकूलन तोड़ने की चेष्टा सफल नहीं हो सकी ।

---

26. ~~[illegible]~~ उदाहरण के लिए "यंस्मिन्स्तूच्चरिते शब्दे यदा यो र्थ प्रतीयते । तमा दुर्वे तस्मेव नान्यदर्थस्य लक्षणम ॥ वाक्य पदीय -2/330 भर्तृहरि यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि भर्तृहरि ने शब्द की अपेक्षा अर्थ को अधिक प्रधानता दी है । निश्चित ही "वाम" का वही अर्थ करना जो दीक्षा-प्रदत्त है, अर्थ विज्ञान की दृष्टि से नितांत अनावश्यक है ।

27. भाषा और समाज पृष्ठ 440-441

इसलिए आज अतिरिक्त सावधानी की अपेक्षा है । परिवेश-विमुख चिंतन कभी आंतरिकीकृत नहीं हो सकता । यह एक तथ्य है कि हम "वाम" शब्द से जुड़े किसी भी विकृति परक अर्थ की ओर से आँखें नहीं मूंद सकते । हमें यह स्पष्ट तौर पर समझलेना चाहिए कि शब्दों का अवमूल्यन एक अनिवार्य रण-नीति होती है । निष्कर्ष यह कि हम "वाम" को "लेफ्ट" के राजनीतिक प्रतिपक्षवाले अर्थ से युक्त कर के किंतु नितांत भारतीय परिवेश से जोड़कर उसे मसकालीन पद (Term) के रूप में व्यवहृत करना चाहेंगे ।

वाम का स्वरूप

एक बार यह निश्चित हो जाने के बाद कि हम "वाम" को एक विशिष्ट पारिभाषिक पद के रूप में प्रयुक्त करेंगे, यह आवश्यक हो जाता है कि हम सकारात्मक आधार पर उसका स्वरूप स्पष्ट करें । उसके परिभाषित करना इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है कि अब तक के विवेचन से तो यही प्रतीत होता है कि "वाम" से हमारा तात्पर्य मात्र "दक्षिण" विरोध है । यह मानते हुए भी कि "दक्षिण" विरोध वाम का एक आधार भूत लक्षण है, उसे मात्र इसी आशय में सीमित करके या घटाकर देखना पूरी तरह से एक नकारात्मक कारवाई होगी ।

वस्तुत: "वाम" को हम एक उन्मुक्त-प्रत्यय (Open concept) के रूप में लेना चाहेंगे । पूर्व-विवेचन में स्पष्टत: मनुष्य को द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में तथा उसकी सापेक्षता में देखने की सिफारिश की गयी है । उसकी चेतना, भावना, कल्पना, आवेग आदि के लिए भी यही सच है । तब यहाँ सहज ही विरोधाभास लक्षित होगा कि किसी द्वंद्वात्मक प्रत्यय को परिभाषित करने का प्रयत्न उसका अ-द्वंद्वात्मकीकरण (de-dialectization) किया जा रहा है । परिभाषा में गतिशील का

वस्तुकरण (Refication or Thingification) हो जाता है । ऐसी स्थिति में हम प्रस्तावना करेंगे कि हमारी परिभाषा मुक्त (Open) हो । आशय यह कि उसमें किसी ऐसी आभास का अवकाश न रखा जाय कि जैसे अंतिम सत्य की उद्घोषणा कर दी गयी हो । किसी भी गंभीर चिंतन के प्रसंग में विषय को परिभाषित करने से कतराना हमेशा ही अबुद्धिवाद (irrationalism) में फँस जाना होता रहा है ।

प्रस्तुत शोध के प्रसंग में प्रस्तावित "वाम" के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ आधारभूत विचार सूत्रों को पहले संक्षिप्त रूप में तथा अनंतर थोड़े विस्तृत रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे ।

ये विचार -सूत्र इस प्रकार हैं -§1§ "वाम" के दक्षिण-विरोध को हम इस तरह कहना चाहेंगे कि "वाम" प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध है । §2§ यह प्रतिरोध जीवन समर्थक है और इसलिए सृजनात्मक व द्वंद्वात्मक है । §3§ यह प्रतिरोध ऐतिहासिक है और इसलिए इतिहास बोध, काल-बोध तथा विश्व-बोध से संपन्न है । §4§ यह देह को पूरी तरह से स्वीकार करते हुए उसे ही अपना केन्द्र और आधार मानता है । §5§ इसका लक्ष्य सम्पूर्ण का यूटोपिया (Utopia) है ।

प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध

आज मनुष्य है तो इसीलिए कि उसने आरंभ से ही प्रदत्त प्रकृति की प्रतिकूलताओं के प्रति प्रतिरोध करते हुए अपने को बचाये रखा ।[28] वस्तुत:

28. यह भ्रम आम तौर पर पाया जाता है कि प्रकृति मनुष्य की सहयोगिनी है तथा उद्देश्यों के धरातल पर ये दोनों सहयात्री है । जूलियन हक्सले (Julian Huxuly) ने विकास (Evolution) को मनुष्य के लिए

मनुष्यता कोई प्रकृति-प्रदत्त विशिष्टता नहीं है बल्कि अर्जित उपलब्धि है । अगर मनुष्य यह जानगया है कि उसकी विशिष्टता का रहस्य उसके पशु होने में नहीं (यद्यपि प्राकृतिक रूप से वह पशु ही है) बल्कि मनुष्य होने में है, तो इसलिए कि वह पहचान गया है कि वह इस पराये जगत में जो भी स्थान प्राप्त कर सका है अपनी आधी अधूरी मनुष्यता की वजह से, न कि पशुता की वजह से । वह एक विरोधी जगत में अपने एक ऐसे संसार की रचना करता है जो उसके लिए सहायक हो । वह अपने कार्यों (= Praxis =आचरण) द्वारा उद्देश्य हीन संसार को अपने तई उद्देश्य पूर्ण बनाता है ।[29]

नैतिक उद्देश्यों का नियामक ठहराते हुए कहा कि ब्रह्माण्ड और मनुष्य दोनों ही एक विराट उद्देश्य के अंतर्गत विकास की सतत प्रक्रिया में हैं । (वस्तुत: जूलियन हक्सले ने अपनी दोनों प्रसिद्ध पुस्तकें Evolutionary Ethics तथा Religion without Revelation में यही नतीज निकाले हैं । इन विचारों की अवैज्ञानिकता स्पष्ट है । तय है कि इनके पीछे एक "पक्षपात" सक्रिय है । Political Theory - Arnold Brecht P.334
इस प्रसंग में रूथ रायना (Ruth Raina) का यह कथन ध्यान देने योग्य है —" To believe that the physical universe is progressive in the human sense, is absurd. The Universe follows the law of physics, not moral commands. (The philosophy of matter in the Atomic Era - P.204.

29. विकास वादी वैज्ञानिकों के अनुसार जब मनुष्य पहली बार पेड़ से उतर कर खुले मैदान में आया होगा तो बचे रहने के लिए अनिवार्य हो गया होगा कि शारीरिक और शरीरेतर (Sometic and Extra sometic) अंगों का विकास हो । कार्ल पॉपर (Karl Popper) के अनुसार : पशु-विकास अंगों का विकास होता है । मानव-विकास शरीरेतर अंगों अर्थात् औजारों, हथियारों आदि का विकास होता है । उदाहरण के लिए - स्मरण शक्ति के विकास की आवश्यकता हुई तो मस्तिष्क का आकार नहीं बढ़ा बल्कि

सहज ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य अपने बुनियादी मूल्य जिजी विषा अपने श्रम और अपने सौंदर्य बोध में पूरी तरह से प्रतिरोध-रत रहता है ।[30] प्रतिरोध का अर्थ सम्पूर्ण विरोध नहीं होगा । सम्पूर्ण विरोध का उत्स निराशा और मूल्य-मूढ़ता में होता है । "वाम" में निराशा नहीं हो सकती । अपनी जिजीविषा को फिर से पहचानना मनुष्य को जिम्मेदार बनाता है । जिम्मेदारी की भावना "वाम" प्रतिरोध के लिए आवश्यक है । वस्तुत: प्रदत्त [प्रकृति या समाज या संस्कृति] के प्रति "वाम-दृष्टि एक ऐसे कारीगर की दृष्टि की तरह होती है, जो कच्चे माल को उपयोग में लाने से पहले उसे जाँचता-परखता, निरस्त करता, सुधारता और अपने काबिल बनाता है । "वाम" नकार भी परिवर्तन की इच्छा को ही प्रकट करता है ।[31] सारांश में प्रतिरोध मानव के होने की शर्त है । इसलिए किसी भी मानव-दृष्टि (human vision)को प्रतिरोध-समर्थक होना चाहिए ।

कागज़ कलम और कम्प्यूटर का निर्माण हुआ । The objective Knowledge P. 238) जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है, हम फिर रूप रायना को उद्धत करना चाहेंगे -- 'There is no more purpose or meaning in the world then you put into it' ibid - P.214)

30. [1] पशु-स्तर पर ही, भाषा, चेतना आदि से पहले मनुष्य को बोध हो गया था कि उसे नष्ट नहीं होना है । अतएव जीने की इच्छा= जिजीविषा स्वत: ही बुनियादी मूल्य सिद्ध हो जाती है । जब एक बार मनुष्य को यह मूल्य-बोध हो गया कि उसे जीते रहना है तो उसका विकास इसी दिशा में हुआ । मनुष्य की परिभाषा ही क्या है ? कर्म से, श्रम से काटकर उसे देखा ही नहीं जा सकता । श्रम के माध्यम से ही उसने अपने को पहचाना । सम्पूर्ण प्राणि-जगत में मनुष्य ही एक मात्र ऐसा प्राणि

सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनुष्य का समूचा इंद्रियाबोध प्रदत्त को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करता बल्कि उसे मानवीय बनाता है । स्वयं को भी लगातार मानवीय बनाते रहने की जद्दोजेहद तो मनुष्य को एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के रूप में समझने का आह्वान करती है ।

निष्कर्ष रूप में प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध ही मनुष्य के मानवीय बनने की प्रक्रिया का पहला सोपान है और "वाम" दृष्टि भी इसे अपने लिए बुनियादी शर्त ही मानेगी ।[32]

है, जो अपने होने की पहचानता है । (The Anotomy of Human Distuctiveness - Erich Fromm P-225-226) मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है -- Conscious life activity directly distinguishes man from animal life activity xxxxxxx Increating an objective world by his practical activity, in working up inorganic nature, man proves himself a conscious species being. xxxxxxx Man therefore also forms things in accordiance with the laws of beauty.' (quoted in Marxism and art, ed. Mayhord Solomon P.26).

इस प्रकार मनुष्य का होना ही प्रतिरोध है ।

31. '.....Negation exists prior to the change itself' (Herbert Marcuse - One dimensional man P.17)

मारक्यूज़ ने हीगेल के आधार पर "विचार" का सही लक्षण भी "नकार" बतलाया है ।

32. इंद्रियाँ मात्र जैविक या पाशविक बने रहने के स्थान पर मानवीय बनती हैं । मार्क्स ने लिखा है कि- 'It is obvious that the human eye gratifies itself in a way different from the crude, non-human eye; The human ear different from the crude ear etc.' (Economic and Philosophical Manuscripts of 1844 P.102).

प्रतिरोध : जीवन-समर्थक, सृजनात्मक व द्वंद्वात्मक

मानव के मूल स्वभाव को जिजीविषा से समीकृत करके देखा जा सकता है। जब अपने होने के प्रति अज्ञान के दौर में भी जिजीविषा सक्रिय थी तो ज्ञान में कैसे नहीं होगी? निश्चित ही वह पहले पूर्व-मानवीय (Pre-human) अथवा पाशविक थी किंतु अपने पाशविक होने और फिर मानवीय श्रम की सौंदर्य बोधात्मकता से जुड़कर मानवीय होने के क्रम में ऐसा कभी नहीं हुआ कि वह अपने प्रतिरोधात्मक पक्ष से अलग हुई हो। जिजीविषा के बारे में इतना तो असंदिग्ध तौर पर कहा जा सकता है कि वह अपने स्वभाव से ही जीवन-समर्थक होती है। किंतु प्रतिरोध के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता? वह जीवन विरोधिनी इच्छाओं से जुड़कर लालच, अहं, शक्ति-प्रियता आदि के लिए साधन-मूल्य की भूमिका निभाने लगता है। मूल्य-मीमांसा के अध्येता अच्छी तरह जानते हैं कि सर्वोच्च

वस्तुत: मनुष्य को उसके अनुकूल कुछ भी स्वयमेव नहीं प्राप्त हो जाता। बाहरी प्राकृतिक जगत को बदलने में मनुष्य अपने तईं संसार की, मानवीय संसार की रचना करता है। कहा जा सकता है कि प्राकृतिक जगत को मानवीय आयाम देता है। किंतु '... he has also had to transform himself, for he was not human at the outset.' (Art and society - Adolfo Sanchez Vazanez P.75)

मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है — 'Neither nature objectively nor nature subjectively is directly given in a form adequate to the human being.' (Economic and Philosophical manuscripts P.146).

श्रम ही मनुष्य को मानवता के योग्य बनाता है क्योंकि '...for humanity is something that has to be wrested from nature, not something that is given directly.' (Art and Society - P.75).

मूल्य ही मूल्य-श्रेणी का नियामक होता है ।[33] यदि सर्वोच्च मूल्य का पद तथा कथित सांसारिक सफलता अथवा सुख या ऐसे ही किसी भाव को दे दिया गया तो प्रतिरोध, मूल्य-श्रेणी में एक नकारात्मक भूमिका ही निभायेगा । व्यक्ति-गत संपत्ति की अवधारणा, जो शक्ति, लालच आदि की प्रेरणा से अस्तित्व में आयी है, इसी नकारात्मक प्रतिरोध का उदाहरण है । वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व ही नहीं होता अगर मानव का हर कार्य सहज, स्वाभाविक रूप से जीवन-समर्थक होता । अधिकार-भावना ही वर्ग-भेद का कारण बनती है ।

प्रस्तुत शोध के प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि "वाम" को सप्रयास जीवन-समर्थ होना है ।

जीवन-समर्थन को ही प्रतिरोध की सृजनात्मकता और द्वंद्वात्मकता के सही होने न होने का आधार होना चाहिए ।

प्रतिरोध मानव कर्म है तथा मानव-कर्म उसी तरह अपने स्वभाव से सृजनात्मक होता है, जिस तरह प्रतिरोध जिजीविषा-गर्भी होता है । हम देखचुके हैं कि मानवीय श्रम को पशु-श्रम से अलग करने वाला पक्षातत्व सृजनात्मकता ही है । इस का स्वभाव द्वंद्वात्मकता होता है । प्रदत्त को कच्चे माल की तरह इस्तेमाल करते हुए ही सृजन संभव होता है । विशेष बात यह है कि यहाँ प्रदत्त को भले ही रूपकात्मक ढंग से "कच्चा माल" कहा गया हो, किंतु वह वस्तुत: मात्र निष्क्रिय नहीं बना रहता । द्वंद्वात्मकता एकांगी व एक पक्षीय नहीं होती । इस प्रकार जीवन-समर्थन को दिशा-निर्धारक मानते हुए सृजनात्मकता व द्वंद्वात्मकता को प्रतिरोध का अनिवार्य अंतस् (inner) मानना चाहिए ।

---

33. सर्वोच्च मूल्य का नियामक हमारे अलावा और कोई नहीं होता । साध्य [सर्वोच्च] मूल्य को ठोस, वैज्ञानिक विधियों से नहीं जाना जा सकता । वे तो "पल्वाने जाते" हैं । यह "पल्वान" सार्वभौम नहीं होती । दूसरे शब्दों में उसे वर्गीय भी कहा जा सकता है । आस्था, विश्वास आदि की अपेक्षा में ही सर्वोच्च मूल्य का निर्धारण होता है । The political Theory - Arnold Brecht P.302)

महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि द्वंद्वात्मकता न रही अथवा प्रतिरोध-सम्बन्धी सारी अवधारणा को वस्तुकृत (Thingified or reified) कर दिया गया तो ही जीवन-विरोधीतत्वों का प्रवेश होता है। चेतना को निरंतर द्वंद्वात्मक बनाये रखकर ही प्रतिरोध को सृजनात्मक बनाया जा सकता है। यहाँ आवश्यक है कि विश्वास, आस्था आदि परा - द्वंद्वात्मक (Para-dialectical) भावनाओं को भी सतर्कतापूर्वक जीवन-समर्थक बनाके रखा जाय, क्योंकि सर्वोच्च मूल्य के निर्धारण में उन्हीं का हाथ होता है। उदाहरण के लिए विज्ञान और अंधविश्वास को विपरीत और विरोधी माना जाता रहा है किंतु आज, पशु-जीवन में घटा दिया है जबकि अपनी तौर पर वह मानव को महा-मानव (Super man) बनाने का संकल्प लेकर चलता है।[34]

इस प्रकार "प्रतिरोध" विषयक तीनों शर्तों - जीवन-समर्थन, सृजनात्मकता और द्वंद्वात्मकता - परस्पर निर्भर है। इनमें भी यदि प्रमुखता दी जाय तो जीवन-समर्थन को ही दी जायेगी। जीवन-समर्थन [=प्रतिरोध] को सृजनात्मक और द्वंद्वात्मक होना ही है लेकिन "द्वंद्वात्मक" के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। "सृजनात्मक" को भी सापेक्ष मानकर देखा जाना चाहिए।

---

34. मानव-कर्म को निरपेक्ष रूप से पवित्र या आर्य नहीं माना जा सकता। आज अगर स्वतंत्रता की इच्छा और वर्ग-हीन समाज के आकर्षण ने मानव-समुदाय के एक बड़े हिस्से को नौकरशाही में जकड़ दिया है [इस में] और तकनीकी प्रगति प्रदूषण और आणविक युद्ध के खतरे की घोषणा कर रही है तो सहज ही अल्बर्ट श्वाइट्ज़र (Albert Schweitzer) के नोबल पुरस्कार प्राप्ति के समय के भाषा को याद कर [illegible] सकते हैं -- 'To dare to face the situation - Man has become a superman -- But the superman with the super human power has not rised to the level of superman reason. To the degree to which his power growas he

यहाँ निष्कर्ष यह कि प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध को जीवन-समर्थक होना है, तभी वह शून्यवादी संपूर्ण नकार से बच सक पायेगा ।

प्रतिरोध-ऐतिहासिक

हम देख चुके हैं कि प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध मनुष्य का सहज स्वभाव है, क्योंकि वह जिजीविषा-संपन्न है । यही प्रतिरोध इतिहास का निर्माण करता है । मनुष्य की यह नियति है कि वह प्रदत्त का वरण स्वेच्छया नहीं कर सकता, इसलिए इतिहास भी वह मनचाहा नहीं बना सकता । उसे अपने उत्तराधिकारी होने के अभिशाप (वरदान ?) को ढोना ही पड़ता है ।[35] परिणामस्वरूप कहा जा सकता है कि इतिहास प्रक्रिया में मनुष्य विवेक से अविवेक की ओर अग्रसर होता है तथा अजनबी (Alienate) होना ही इतिहास की देन है । मनुष्य पाता है कि उसका स्वत्व जिंसों, राज्यों और धर्मों में निहित है । अपने को खोता हुआ मनुष्य पाता है कि उसके निरंतर खाते जाने से ही इतिहास बन रहा है । इतिहास के अंत में मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह संपत्ति, धर्म और राज्य में अजनबी हो चुके अपने स्वत्व को फिर से हस्तगत करें ।[36] यहीं सच्चे इतिहास और झूठे इतिहास का भेद आवश्यक होता है । मार्क्स ने जब कहा ——" History always progress by its bad side '[37]

तो शुभ पक्ष (Good side) से शुरू होने का आभास देने वाले इतिहास को मिथ्या का दर्जा ही दिया । शासक वर्ग ही

---

becomes more and more a poor man.....It must shake up our conscience that we become all the more inhuman the more we grow into superman.' quoted in To have or to Be - Erich fromm - P. 3.

35. 'Men make their own history, but they do not make it just as they please; they do not make it under circumstances chosen by themselves, but under circumstances directly encountered, given and transmitted from the past. The tradition of

हमेशा अपने को इतिहास का निर्माता समझता है । जबकि वस्तुत: शासक वर्ग के प्रति प्रतिरोध-रत शासित ही सच्चे इतिहास को संभव करता है । इतिहास जिस सीमा तक "विचारधारा" (ideology = False consciousness) होता है, वह परम्परा के दुस्वप्न और प्रदत्त "दक्षिण" का उदाहरण होगा । उस इतिहास को अस्वीकार करते हुए ही सच्चे इतिहास का प्रादुर्भाव होता है ।

इस प्रकार वाम की प्रतिरोधात्मकता इतिहास-बोध से संपन्न होगी । मनुष्य के विचारों और कार्यों का जनक इतिहास होता है । यह मानते हुए भी यह जानना आवश्यक है कि वह कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है । यदि "कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो" का पहला वाक्य ही इतिहास और वर्ग-संघर्ष को जोड़ता है — 'The history of all hitherto existing society is the history of class struggles' तो यह अद्यतन लिखित इतिहास के शुभ-पक्ष (Good side) से शुरू होने और अलिखित किंतु सच्चे इतिहास के अशुभ पक्ष (bad side) से शुरू होने [क्या मार्क्स-एंगेल्स ने इस पद को कूट-व्यंग्य की तरह प्रयुक्त किया है ?] के सुविचारित बोध पर आधारित होने का ही प्रमाप है । सच्चा इतिहास संघर्ष का इतिहास ही होगा । यदि प्रस्तुत प्रसंग में तर्क-विस्तार की किंचित छूट ली जाय तो कहा जा सकता है कि चूंकि "दक्षिण" सत्ता या शासक-वर्ग का प्रतीक है और "वाम" शासित वर्ग का ; इसलिए "दक्षिण" द्वारा रचित इतिहास तथा कथित शुभ-पक्ष (good side) को लाने के कारण मिथ्या इतिहास होगा । सच्चा इतिहास "वाम" द्वारा "दक्षिण" के विरुद्ध संघर्ष के आधार पर ही लिखा जायेगा । "दक्षिण" प्रदत्त से समीकृत होता है । निष्कर्ष यह हुआ कि "वाम" का प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध [=संघर्ष] ही इतिहास का जनक है ।

---

all the dead generations weighs like a nightmate on the brain of the livings'. The Eighteenth Brumaire of louis Bonaparte collected in selected works. Vol.1 P.398

इस प्रसंग में वर्ग-संघर्ष की अवधारणा को बहुत सावधानी से जाँचने की आवश्यकता है । भारत की वर्ण-व्यवस्था का ताना-बाना बेहद उलझा हुआ है और बिना उस उलझन से सामना किये जर्मनी, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन के अध्ययन के आधार पर स्थापित वर्ग और समाज की संरचना के नियमों और प्रतिमानों को ज्यों का त्यों अपनाना कहीं नहीं पहुंचायेगा । वर्ग और वर्ण का विश्लेषण-समंजन तो आगे यथास्थान किया जायेगा । यहाँ हम शासक बनाम शासित [दक्षिण बनाम वाम] के द्वंद्व के आधार पर सर्वहारा तथा दलित वर्ण को शासित मानेंगे । चाहे वर्ग-संघर्ष हो या वर्ण-संघर्ष, हमें तो उस संघर्ष को रेखांकित करना है, जो शोषित वर्ग शासक वर्ग के खिलाफ छेड़ता है । "वाम" का सर्वाधिक प्रमुख आधार वही संघर्ष [=प्रतिरोध] है । जो प्रदत्त है, वह जिस सीमा तक दक्षिण है, उस सीमा तक "वाम" उसका प्रतिरोध करेगा, किंतु साथ ही प्रदत्त प्रतिरोध परम्परा से अगली कड़ी के रूप में जुड़े भी जायेगा ।

---

36. For Marx - Louis Althusser P-226 फायरबाख पर लिखते हुए अल्थूसर ने कहा ------ 'In principle, hisotry should be reasons and liberty; in fact, it was merely unreason and slavery' ibid - P.441.

37. Ibid P.981 'This obviously means the worse side for the rulers, but without stretching the sense unduly we can interpret the bad side as the bad side for those who expect history from another side.'

सारांश यह कि "वाम" प्रदत्त के प्रति पूरी तरह से इतिहास-चेतना से लैस रहेगा ।

यहाँ काल-बोध और विश्व-बोध की संक्षिप्त चर्चा भी उपयोगी होगी ।

काल (time) और इतिहास परस्पर गुँथे हुए हैं । बीसवीं शती में काल-बोध का स्वरूप इस सीमा तक बदल गया है कि वर्ष, महीने और दिन यदि आकृतिक तीव्रगति से नहीं दौड़ रहे हैं तो भी इतनी घटनाएँ एक साथ हो रही हैं कि सहज- लय-बोध पर आधारित- आविष्कृत काल-प्रत्यये यदि फिर से परिभाषित किया जाय, तो ही ग्राह्य हो पायेगा ।[38] भूत-वर्तमान-भविष्य जिस सीमा तक आज घालमेल के शिकार हो रहे हैं उस सीमा तक उसे स्वीकार कर पाने के लिए हमारे मस्तिष्क भी तैयार नहीं है । यहाँ कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे, जब 1918 में रूसी क्रांति हुई तो एक पर्यटक यात्री ने घोषणा की - 'I have seen the future and it works'. आज जॉन रीड (John Reed) द्वारा

---

38. A vital factor in man's primitive intution of time was his sense of rhythm. x x x Time is also experienced by man in the periodicity of his own life as well as in the periodicity of the natural world. (The nature of time G.J.Whitrow P.14)

आक्टेवियो पॉज़ (Octavio Paz) ने आधुनिक युग की विशेषता बतलाते हुए लिखा है '....The modern era marks the acceleration of historical time. If years, months and days actually do not pass more quickly now, at least more things happen in them. And more things happen at the same time - not in succession, but simultaneously. Such acceleration produces fusion. All times and all spaces flow together in one here and now. (Children of the Mire - P-6).

दिया गया क्रांति-विवरण अब सुदूर अतीत में घटित किसी घटना का विवरण प्रतीत होता है। पॉज़ ने परम्परा सम्बन्धी चिंतन करते हुए ठीक ही लिखा है — 'Out age is distinguished from other epochs and other societies by the image we have made of time. For us time is the substance of history, time unfolds in history.'[39]

यों तो काल-बोध प्रत्येक सभ्यता में अलग होता है। भूत-वर्तमान-भविष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को यदि भारत के संदर्भ में देखें तो यहाँ भविष्य का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वर्तमान और भविष्य के लिए आदर्श नमूने (ideal model) के रूप में सदा ही अतीत रहा। चार युगों - सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग - की चक्राकार कल्पना में इतिहास (जिस रूप में उसे हम आज समझते हैं) को कोई स्थान नहीं था। भूत और भविष्य भी परस्पर एकमेक कर दिये गये हैं। भूत फिर आयेगा इसलिए वह भविष्य है और भविष्य बीत जायेगा इसलिए वह भूत है। समय जैसे समाप्त होजायेगा (कलि युग के बाद) और फिर आरंभ हो जायेगा (सतयुग में)। इस प्रदत्त काल-बोध में न तो मानवीय प्रगति के लिए कोई स्थान था और न परिवर्तन अथवा क्रांति का। युग-चक्र की गति मनुष्य-निरपेक्ष थी। परिणामस्वरूप सैकड़ों-हज़ारों युगों तक गुफाओं में बैठकर तपस्या करने वाले ऋषि-मुनियों की कथाओं का आदर्श स्थापित हुआ।

---

39. Children of the mire - Octavio Paz - P-9
आज यह तो निर्विवाद रूप से सच है कि हमारा काल-बोध पूरी तरह से बदल गया है। ज्यादा सच यह कहना होगा कि युग के दबावों ने उसे बदलने पर विवश कर दिया है। इस स्थिति में सारा का सारा जीवन-दर्शन एक अराजक और अनिश्चित स्थिति में फँस गया है। वे आदर्श अब किसी काम के नहीं रहे, जो काल की चक्राकार अवधारणा पर आधारित थे। अब परिवर्तन को और तात्कालिक वर्तमान (now) को इतिहास और काल-प्रत्यय के निर्णायक घटक मानने होंगे। निष्कर्ष यह कि प्रदत्त विश्व-बोध के प्रति जबर्दस्त प्रतिरोध की आवश्यकता है।

काल-बोध और इसीलिए विश्व-बोध में जो अभूतपूर्व संकट उपस्थित हुआ है, भारतीय संदर्भ में वह बहुत ही महत्वपूर्ण है । पश्चिम में काल की गति रैखिक (~~linera~~ linear) मानी जाती थी यद्यपि इतिहास और भविष्य को वहाँ "पतन" (fall) का पर्याय बना दिया गया था ।

आज हमारे लिए भविष्य ही सब कुछ है । मनुष्य को एक प्रक्रिया के रूप में देखते हुए परिवर्तन को ही उसका एकमात्र आधार मानना होगा । संभवत: प्राचीन भारतीय [और यूरोपियन भी] अपने को इतना असुरक्षित अनुभव करते थे कि उन्होंने आध्यात्मिक चिंतन में भविष्य की संभावना ही खत्म कर दी । उनके लिए मानवीय पूर्णता के आदर्श या तो अतीत में थे या फिर मानव-निरपेक्ष थे लेकिन हमारे लिए तो सब कुछ हमारी प्रतिरोध-परकता है, भविष्योन्मुखता है और परिवेश के साथ घात-प्रतिघात [द्वंद्वात्मकता] है ।[40]

---

40. Not past nor eternity, not time which is but time which is not yet and which always will be to come. This is our archetype x x x Our perfection is not that which is, but that which will be. The ancients feared the future and invented ~~xxxxx~~ formulas to exercise it; we would give our lives to know its shining face - a face we will never see. Ibid P 17-18.

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वज चिंतकों का एक ही प्रयत्न रहा कि "परिवर्तन" को या तो निरस्त किया जाय अथवा उसे नगण्य ठहराया जाय ।

"वाम" के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रतिरोध, जीवन-समर्थन और इतिहास-बोध के ये तीन आधार वस्तुत: उस विश्व-बोध की रचना करते हैं, जो दक्षिण (=प्रदत्त) से सर्वथा विपरीत है। इतिहास बोध को बहुत गहराई से और सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों की सापेक्षता से समझते हुए ही हम पहचान सकेंगे कि "वाम" दृष्टि को ऐतिहासिक के साथ अनिवार्य रूप से कालिक (Timely) भी होना है। तभी "परिवर्तन" पर आधारित विश्व-बोध रूप ग्रहण कर सकेगा।

प्रतिरोध : देह - केन्द्रित

जब से मनुष्य ने जाना कि वह है, तभी से वह एक त्रासदी का शिकार हो गया। निरंतर अजनबी (alienated होता) होता हुआ मनुष्य दो भागों में बँट गया। यह विभाजन जहाँ परिवर्तन-धर्मी कामनाओं को निस्तेज करने की वजह से सत्ताधारियों (=दक्षिण) के लिए, यथास्थिति बनाये रखने के हेतु कारगर उपाय सिद्ध हुआ, वहीं शासितों को निरंतर जीवन-विमुख करता चला गया। शरीर/आत्मा, आंतरिक/बाह्य आदि छद्म विभाजन एक प्रकार से "फूट डालो, शासन करो" (Divide and Rule) की नीति को ही पुष्ट करता रहा।[41] दार्शनिक चिंतन में देह को निरंतर

41. तुलना की जा सकती है - All is out in the world - There is no reality behind the menifestations of reality; but although I say all is outside, all is also inside the outside.'
(The grammar of living - David Cooper - P.88)
लैंग (R.D.Laing) ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Politics of Experience. में देह के इस खण्डित बोध की विवेचना की है। वस्तुत: अपने होने को स्वीकार करने का साहस दरकार है। निश्चित ही "देह" होने का चाक्षुष अथवा ऐन्द्रिक प्रमाण है। देह को "देह" की तरह स्वीकार करके ही किसी क्षेत्र में सही चिंतन किया जा सकता है।

तिरस्कृत करते हुए और व्यवहार में उसीसे बद्ध (obsessed) होकर एक मुखर विरोधाभास ही प्रस्तुत किया जा रहा था। देह को कोसने में क्या भारत और क्या भारतेतर देश ; सब समान हैं। प्रत्येक धर्म ने अपने आक्रमण का लक्ष्य देह को ही रखा। परिणामस्वरूप मनुष्य में एक अपराध-बोध स्थायी रूप से घर कर गया। अपराध-बोध हमेशा व्यक्ति को जिम्मेदारियाँ उठाने के अयोग्य बनाता है और उसे मानसिक-बौद्धिक रूप से शैशवावस्था में ही रोके रखता है।[42] कहना न होगा कि यह स्थिति शासक वर्ग के लिए लाभदायक रही। भारत में पूर्व-मीमांसा की कर्म-काण्ड-वादी दृष्टि और तत्पश्चात तांत्रिक दृष्टि में देह को अस्वीकृत नहीं किया गया। हमें तंत्र द्वारा दक्षिण की प्रभुता और अनुकूलन को तोड़ने की चेष्टा की बात लिख चुके हैं। नारी-देह को प्रमुखता देकर तंत्र ने देह-विरोधी आध्यात्मिक चिंतन के सम्मुख एक बड़ी चुनौती उपस्थित की थी। किसी सीमा तक भक्ति आंदोलन और उसमें भी विशेषत: मधुरा भक्ति में, तत्कालीन सीमाओं में, देह को स्वीकृति मिली। किंतु सर्वोच्च मूल्य के पार-लौकिक होने के कारण वह एक निम्नतर साधन के रूप में ही परिणित की गयी।

उपर्युक्त देह-सम्बन्धी चिंतन परम्परा के अवशेष आज भी बहुतायत से देखने को मिलते हैं। विस्मय की बात तो यह है अपने आप को भौतिकवादी कहलाने वाले विचारक भी उसी कठमुल्ला निषेधात्मक प्रवृत्ति के शिकार हो

---

42. 'The feeling of guilt is characterstic of child psychology; The feeling of responsibility is an adult phenomenon. xxxx To feel guilty is to live without value, to feel responsible is to live for a value.' False consciousness : An essay on Reification -Joseph Gabel - P.111)
यह उद्धरण मध्यम-वर्ग विशेषत: निम्न पूंजीवादी बुद्धिजीवियों के सनातन अपराध-बोध-ग्रस्त मनोस्थिति और मूल्य-मूढ़ता को समझने में सहायता कर सकता है।

रहे हैं । अभी अधिक दिन नहीं हुए, जब हिंदी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा में देह का यौन-परक पक्ष नितांत वर्जित माना जा रहा था । विश्व स्तर पर लुकाँच (George Lukacs) जैसे विचारक ज़दानोव-वाद (Zhdanovism) के फ़ेर में पड़कर "मनुष्य" की व्याख्या उसके जैविक अस्तित्व के उल्लेख के बिना कर रहे थे ।[42क] लुकाँच के लिए "मनुष्य" दो भागों में विभक्त हो गया था —"निम्न स्तरीय" (पशु, बर्बर) तथा "उच्च स्तरीय" (वर्ग-चेतना से संपन्न" । तय है कि ईसाई धर्मशास्त्र के "भौतिकवादी" और "आदर्शवादी" विभाजन से ही इसका सम्बन्ध हो सकता है, जबकि लुकाँच मार्क्सवादी थे और वे स्वयं भी मानते थे कि वे मार्क्सवादी हैं । एंगेल्स (Engels) ने एक जगह भोग वादिता की भर्त्सना करते हुए ऐसे कवि की प्रशंसा की है, जो खरे तौर पर प्राकृतिक ऐन्द्रिकता तथा यौन-आनंद को अभिव्यक्त करता है । आगे वे भोगवादी पूर्वग्रहों के साथ ही छद्म नैतिकता की लज्जाशीलता की भी आलोचना करते हैं । क्योंकि ऐसी लज्जाशीलता 'only serve as a cover for surreptitions obscenity.' एक ऐसे ही नैतिकवादी कवि के कृतित्व का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि अगर उसे पढ़ो तो ' you would really think people had no sexual organs'.[43] मार्क्स ने भी "खाना, पीना, प्रजनन" को तभी पाशविक

---

42 क. Marxism and Art - Ed. Mayhard Solomon P.2931.

जब कि मार्क्स ने मनुष्य को "मनुष्य का श्रेष्ठतम सार" कहा था, और उन सारे सम्बन्धों को तोड़ देने की बात की थी, जो मनुष्य को आधारहीन, बंदी, त्याज्य और तुच्छ बनाये । कहना न होगा कि देह का नकार तो किसी भी रिश्ते को मानवीय नहीं रहने देता । मार्क्स के शब्दों में —

'Man is the highest eseence of man, hense with the categoric imperative to overthrow all relations in which man is a debased, enslaved, abandoned, despicable essence.' Ibid P.53)

43. Marxism and Art - Mayhard Solomon P.701.

माना है, जब वे अन्य मानवीय गतिविधियों से काटकर एकान्तिक और निरपेक्ष ढंग से संपन्न किये जाय । वरना वे पूरी तरह से मानवीय कार्य हैं ।[44]

इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि मार्क्स-एंगेल्स के बाद उन्हीं के नाम पर काउट्स्की वादियों तथा प्लेखानोव वादियों ने मार्क्सवाद को निरे आर्थिक नियतिवाद में बदल दिया ।

वस्तुत: प्रत्येक महत्वपूर्ण अनुभव दैहिक उत्तेजना को जगानेवाला होता है । उसे गहरे अर्थों में यौन अनुभव से जोड़कर देखा जा सकता है । मात्र आर्थिक नियतिवाद के आधार पर सामाजिक क्रांति होगी तो वह सतही होगी । मनुष्य के संस्कार अगर वे ही रहे तो कोई भी क्रांति असफल हो जायेगी । परम्परा-प्रदत्त संस्कार सर्वाधिक देह के यौन-परक आनंद के विरुद्ध होते हैं । वस्तुत सूक्ष्म स्तर पर सर्वाधिक दमन भी वहीं होता है, जहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मात्र यौन-विषय (sex-object) में घटाकर एकांतिक और निरपेक्ष रूप में मैथुन-रत होता है । एक मानवीय अनुभव मात्र उन्हीं संस्कार-गत बाधाओं के कारण पाशविकता में घट जाता है, जिनके बारे में चर्चा तक करना उन राजनीतिक दलों या व्यक्तियों को

---

44. ------'Man only feels himself freely active in his animal functions - eating, drinking, procreating, or at most in his dwelling and in dressing-up, etc., and in his human functions he no longer feels himself to be any thing but an animal. What is animal becomes human and what human becomes animal.

Certainly eating, drinking, procreating, etc., are also genuinely human functions. But taken abstractly seperated from the sphere of all other human activity and turned into sole and ultimate ends, they are animal functions. (E.P.M. P.71)

गवारा नहीं होता जो क्रांति से नीचे उतर कर बात नहीं करना चाहते ।[45]

"दक्षिण" = §सत्ता§ द्वारा संचालित समाज को यह ज़रूरी लगता रहा है कि वह अपने सच्चे-झूठे चिंतन के आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन द्वारा स्वयं को "सच्चा" प्रमाणित करता रहे । देह को पाप की खान और माया का खेल आदि बताकर गलत करार दे देना और अपराध-बोध का प्रवेश कराके रीढ़-हीन केंचुए में बदल देना आदि यहाँ की सफलतम दक्षिण-नीति रही है ।

इस संदर्भ में देह को फिर से पहचानना जिस तरह एक निजी और मनोवैज्ञानिक घटना है, उसी तरह राजनीतिक भी ।

जब तक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में से शोषण-दमन नहीं हटता तब तक उत्पादन सम्बन्धों का स्वामित्व प्राप्त करना कोई अर्थ नहीं रखता ।

स्पष्ट ही व्यक्ति-व्यक्ति के बीच को सम्बन्ध कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है । आज किसी भी विवेकशील राजनीतिक दल को चाहिए कि वह यौन और प्रेम को भी अपने राजनीतिक चिंतन में शामिल करे । सुख और आनंद की अवधारणा को जब हम राजनीतिक समाज की परिकल्पना में शामिल करते हैं तो कोई कारण नहीं है कि हम स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को चिंतन का हिस्सा न बनायें ।

---

45. भीतरी दमनकारी प्रवृत्तियों से क्रांति से पहले ही नहीं निबटा गया तो वे क्रांति को तबाह कर देती है । इसीलिए डेविड कूपर (David Cooper) ने यौन-संतुष्टि को राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना ।कूपर ने तो यहाँ तक कहा है —" The message must be bread and organm - otherwise one can live but live for nothing, one can create a ℓ revolution that finally is not worth having.' (The grammar of living - D.Cooper P.40) आगे डेविट कूपर ने यहाँ तक कहा है — - 'Non-Organm and political reaction go hand in hand - we have to achieve their simultaneous abolition.'(P.41)

मानव देह और उसकी क्रियाओं को फिर से मानवीय गरिमा देना वाम-चिंतन की एक बड़ी जिम्मेदारी है । मिखाईल बख्तिन (Mikhail Bakhtin) ने तो सामान्य जन के यूतोपिया को उनकी बोल-चाल की असंस्कृत भाषा, परम्परा, त्यौहार और उत्सव में ही देखा है और विश्वसनीय तरीके से बतलाया है कि अपनी "देह" और उसकी पाशविक समझे जाती क्रियाओं के ज़रिए सामान्य जन, शासक के प्रति प्रतिरोध जारी रखता है ।

बख्तिन द्वारा हँसी (laughter) की सत्ताविरोधी व्याख्या भी देह की राजनीतिक दार्शनिक गरिमा को स्थापित करती है । स्वतंत्रता और हँसी के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्थापित करते हुए बख्तिन ने हँसी को 'Serves as the repository of the people's Unofficial truth, Thereby conquering fear'. यह भूमिका दी ।[46]

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के आधार पर ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "देह" किसी भी चिंतन की अनिवार्य तथा बुनियाद होगी । "वाम" भी देह को मानवीय गरिमा से युक्त देखेगा । आत्मा हो या चेतना, ये देह के हिस्सों या उसके उत्पादनों के रूप में ही विचारणीय होंगे । सारांश में "वाम" देह के प्रति मानवीय आत्मीयता रखते हुए उसे अपने चिंतन का केन्द्र बनायेगा ।

---

46. बख्तिन का योगदान मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से बड़ा ही महत्व पूर्ण है । लुकाँच की कट्टरता से इनकी विचारधारा एकदम विपरीत थी । जहाँ लुकाँच माँसलता को पतनोन्मुख समाज का अनिवार्य लक्षण मानते थे, वहीं बख्तिन देह को वर्गीय समाज के काल्पनिक स्वर्ग का स्थानापन्न बनने की बात करते थे । शासक विचारधारा का अतिक्रमण करने के लिए सामान्य जन के पास ठोस और आनंददायी देह भर है । शासक विचारधारा जहाँ अपने केन्द्रीय विचारों में सूक्ष्म, अमूर्त, बिम्ब और प्रतीक प्रधान हो जाती है, वहीं सामान्य जन अपना ध्यान देह पर केन्द्रित करके Copulation, birth, growth, eating, drinking, defecation इन दैहिक क्रियाओं को प्रतिपक्ष की कार्रवाई का दर्जा दे देता है ।

उन्मुक्त हास्य सदा ही छद्म शासकीय गंभीरता के विरुद्ध जाता है । भारतीय संदर्भ में होली जैसे अन्य त्यौहारों का प्रतिपक्ष-धर्मी स्वरूप देखा जा सकता है ।शासकों के ठीक सामने मूर्खता के फूहड़ प्रदर्शन, वर्जित शब्दावली का खुले आम प्रयोग तथा अन्यान्य ऊल-जलूल समारोहों की सार्वजनीनता, स्पष्ट ही शासकीय पाखण्ड का विरोध होती है ।[47]

सारांश यह कि ठोस मानव-देह का उन्मुक्त स्वीकार आंतरिकीकृत सत्ता-विचारों = वर्जनाओं अथवा विधि, निषेधों को मिटाता है और "मनसा-वाचा-कर्मणा" प्रतिरोध के लिए व्यक्ति को तैयार करता है । खण्डित अस्तित्व-बोध "वाम" को अर्थात् शासित को प्रतिपक्ष के लिए अयोग्य बना देता है । इसलिए हमारी प्रस्तावना यह है कि "वाम" चिंतन में देह और उससे जुड़े जैविक कृत्यों को उन्मुक्त रूप से स्वीकार किया जाय और उसे प्रतिरोध का अनिवार्य अंग माना जाय ।

बख्तिन सर्वाधिक महत्त्व उन्मुक्त हास्य को देते हैं ।

'Laughter .... overcomes fear, for it knows no inhibitions, no limitations, It's idiom is never used by violence and authority xxxx Laughter is the social consciousness of all the people. xx and signifies 'The defeat of power, of earthly kings of the earthly upper classes of all that oppresses and restricts.'

इस संदर्भ में मौखिक-प्रधान लोक-साहित्य की महत्ता अपने मिट्टी से जुड़े बिम्बों और वर्जनाहीन अभिव्यक्ति रूपों के कारण स्वत: सिद्ध है ।
Marxism and Art - P.293-294.

47. 'The feast was a temporary suspension of the entire official system with all its prohibitions and hierarchic barriers. For a short time life came out of its usual, legalized and consecrated furrows and entered the sphere of Utopian freedom. The very brevity of this freedon icreased its fantastic nature and utipian radicalism, born in the festive atmosphere of images.*

भारतीय संदर्भ में तो होली के अतिरिक्त कृषि और ऋतु परिवर्तन से जुड़े अन्य त्यौहार भी यही भूमिका निभाते हैं ।

* Ibid. P.2961.

प्रतिरोध : यूतोपिया UTOPIA के लिए

स्वयं को भौतिकवादी माननेवाले विचारों के लिए सर्वाधिक असमंजसकारी प्रत्यय "यूतोपिया" का रहा है। जिस दौर में मार्क्सवाद निरे आर्थिक नियतिवाद में ढलकर रह गया था, उस दौर में "यूतोपिया" को भी अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी कहकर अस्वीकृत कर दिया गया। मार्क्स की पूर्ववर्ती विचारधाराओं में जर्मनी की आदर्शवादी दार्शनिकता, ब्रिटेन का राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ्रांसीसीवाद ने इन्हें तीनों के प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया में स्वयं को विकसित किया था। यह सच है कि मार्क्स और एंगेल्स ने यूतोपियात्मक समाजवाद की तीखी आलोचना की है। किंतु इस तीखी आलोचना का स्वरूप संपूर्ण अस्वीकार का नहीं है। कार्ल कोर्श (Karl Korsch) ने बताया है कि मार्क्स-एंगेल्स ने यूतोपियात्मक समाजवाद की आलोचना इसलिए नहीं की कि उसके विचारक समसामयिक बुर्जुआ व्यवस्था से एकदम विपरीत या अलग किसी सुखद भविष्य के चित्र उकेर रहे थे, बल्कि इससे ठीक उल्टे वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को ही किंचित आदर्शीकृत रूप में भविष्य का स्थानापन्न बना रहे थे।[48] वरना एंगेल्स ने यूतोपिया के लक्षण को बहुत सही तरीके से यों भी लिखा है — The Utopia begins only when one ventures, 'from existing conditions', to prescribe the form in which this or any other antithesis of present day society is to be resolved.'.[49]

---

48. Marxism and Art. Mayhord Solomon P.458 पर उद्धृत। सचमुच एंगेल्स ने 'The present day society without its defects '(Marx's concept of man - Erich From, भूमिका) को अाह्य बताया है। नाॅर्थप फ्राई Northrop Frye ने भी इसी ओर संकेत किया है कि एंगेल्स पूर्व-समाजवादी संसार के भीतर ही यूतोपिया को एक ब्लूप्रिंट के रूप में इस्तेमाल करने के विरुद्ध थे।
‖ Marxism and Art. Mayhord Solomon P.459 पर उद्धृत।‖ मार्क्स ने भी सोर्ज (Sorge) को पत्र लिखते हुए ‖19-10-1877‖ कहा है कि उन्हें भविष्य के समाज के काल्पनिक चित्रों के "मूर्खतापूर्ण, जड़ और प्रतिक्रियावादी" होने से विरोध है।" Ibid -458 पर उद्धृत।

49. Selected works - Marx Engles Vol.II P.369

मार्क्स-एंगेल्स के बाद कोरी विचारधारा (ideology) के विशेषज्ञ अध्येताओं ने भी यूतोपिया को लेकर काफ़ी शंकाएँ खड़ी की । वस्तुकरण (reification) को चेतना (Consciousness) की मिथ्या चेतना (False consciousness) में बदलने का एकमात्र कारण मानने वाले विचारकों ने यूतोपिया को मिथ्या चेतना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया । "यूतोपिया भविष्य का वस्तुकरण (reification) है ।"[50] जोजेफ़ गाबले इस प्रसंग में मार्क्स को भी रुचियों के मनोविज्ञान (psychology of interests) से ग्रस्त बताते हैं और इसके लिए ज्ञानोदय (englightenment) के दर्शन के प्रभाव को दोषी सिद्ध करते हैं । यदि कोई समाज परिवर्तन में रुचि (Change (Interested in change) रखता है तो वह ऐतिहासिक अस्थायित्व (historical Temporality) को अव-द्वंद्वात्मकीकरण (de-dialecticization) द्वारा यूतोपिया में बदल देता है । - 'It is above all a crisis in Temporalization which makes utopian thought illusory; Utopia is above all a /uchrony.'[51] गाबेल सारी समस्या को काल-बोध और द्वंद्वात्मकता के साथ जोड़ते हैं । एक ओर यूतोपिया एक चेतना ऐतिहासिक समय को दो भागों में बाँट देती है ।1। सामान्य ऐतिहासिक क्रमिकता ।2। प्रभावशाली गतिकी (affective dynamics) ; दूसरी ओर वर्तमान और भविष्य के बीच रिक्ति (hiatus) की कल्पना करती है और तीसरी ओर यूतोपियात्मक रूप के आने के साथ ही ऐतिहासिक समय (historical time) के अंत की कल्पना करती है । इन तीनों प्रवृत्तियों के लिए उत्तरदायी परिवर्तन-कामी समाज का अव-द्वंद्वात्मकीकृत (de-dialecticized) अर्थ-बोध है, जो एक ओर यूतोपियात्मक संसार में भागीदारी

---

50. False consciousness - Joseph Gabel P. 19 सिमोन द बोआ (Simon de Beauvoir) ने Future Thing पद का प्रयोग यूतोपिया के के लिए किया है । (Ethics of Ambiguity P.170).

51. False consciousness Joseph Gabel P.20. मार्क्स के कथन The realization of socialism is the beginning of real human history में स्पष्टत: ऐतिहासिक चेतना पर यूतोपियात्मक चेतना हावी हुई है ।

करता है, जो निश्चित ही एक आबौद्धिक (irrational) कृत्य है और दूसरी ओर प्रति-द्वंद्वात्मक मिथ्या-चेतना से घिर कर वस्तुकृत (reified) हो जाता है ।[52]

प्रस्तुत शोध के संदर्भ में हम "वाम" को यूतोपियात्मक चेतना संसंपन्न क्यों बनाना चाहते हैं, इसका सकारात्मक उत्तर देने से पूर्व मिथ्या-चेतना के विशेषज्ञ गाबेल हम इन्हें उन सारे विचारों का तात्कालिक-प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं जो लुकाच की History and class consciousness' कृति को सम्पूर्ण मार्क्सवादी विचार साहित्य की तुलना में अधिक महत्व देते हैं । तय है कि गोल्डमान जैसे विचारक ? भी कोई आपत्ति, इस प्रसंग में सुनने को तैयार नहीं है ।[53] की उपर्युक्त आपत्तियों का उत्तर संक्षेप में देना चाहेंगे ।

---

52. False consciousness - Joseph Gabel P- 19-20.

गाबेल भूत-भविष्य-वर्तमान के पारस्परिक सम्बन्धों में द्वंद्वात्मकता को निर्णायक ठहराते हैं । बिना इस बात की चिंता किये कि द्वंद्वात्मकता समय अथवा काल-निर्भर नहीं है । गाबेल यूतोपिया सम्बन्धी अपने चिंतन के निष्कर्षों को सार रूप में यों प्रकट करते हैं - " It is not too dialectical a conception of the present, but an insufficiently dialectical conception of the future which marks the utopian nature of consciousness' P- 59.

53. यूवा लुकाँच को अपने विचारों के लिए मसीहा मानने वालों में लूसिएँ गोल्डमान (Lucien Goldmann) प्रमुख है । प्रसंगवश यह जानना रोचक और महत्वपूर्ण होगा कि स्वयं लुकाँच उनके बारे में, इस संदर्भ में क्या सोचते थे ? जब गोल्डमान ने अपनी The Hidden God पुस्तक भेजी तो उन्हें लुकाँच का एक महत्वपूर्ण पत्र प्राप्त हुआ । जिसमें लिखा था If I had died around 1924 and my unchanged soul had observed your literary activity from some beyond, it would be filled with a vertiable gratitude at seeing you occupied os intensely with the works of my youth. But as I am not dead and for 34

गॉबेल तथा अन्य विचारकों की उपर्युक्त आपत्तियों के संदर्भ में पहली बात तो यह है कि स्पष्ट ही इनके विचारों पर पूंजीवाद के जिंस-केन्द्रित (Commodity oriented) ज्ञान हावी है। वस्तूकरण का प्रत्यय को बिना वैचारिक उत्तरदायित्व के अपनाने से जो हानि हो सकती है, वह प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार विटगेंस्टाइन (Wittgenstein) ने दर्शन को शब्द-क्रीडा (Word-Play) में बदल दिया था, उसी प्रकार गॉबेल व उनके साथी वस्तूकरण को प्रत्यय का निरर्थक बना रहे हैं। लिखना बोलना यहाँ तक कि सोचना भी बोध का वस्तूकरण हो जायेगा। कहा तो यह भी जा सकता है कि गाबेल की उक्त पुस्तक भी ज्ञान, विचार आदि के वस्तूकरण का उदाहरण है। (Knowledge-Thing, Thought- Thing आदि पदों के बारे में क्या कहा जायेगा ?

दूसरी बात यह कि "कोरी विचारधारा (ideology) को मिथ्या-चेतना (False consciousness) से समीकृत करते हुए और फिर इसे रबड़ की तरह खींचकर सामान्य ज्ञान तक को ढांपते हुए ये विचारक भूल जाते हैं कि वस्तुत: कोरी विचारधारा (ideology) का चेतना से बहुत कम सम्बन्ध होता है। वह प्राय: अपने बिम्बों और कभी-कभार के विचार-प्रत्ययों में अचेतन का संरचनात्मक प्रतिबिम्ब (Structural reflection) होती है।[54]

---

years have been creating what must well be called my life's work and for you this work does not exist at all, it is hard for me as a living being whose interests are, of course, directed towards its own present activity, to take a stand on your reflection.' (Telos 40, Summer 79 P.139) यह पत्र 1-10-59 को डाक में डाला गया था। इसके साथ ही गोल्डमॉन और लुकॉच के आपसी सम्बन्ध खत्म हो गये थे।

54. For Marx. Louis Althusser P. 232-233.
पूर्व मार्क्सवादी दर्शन मार्क्सवादी विचार-दृष्टि से कोरी विचार धारा (ideology) ही तो होगा। किंतु मिथ्या चेतना नहीं।

तीसरी बात यह कि प्रगति, विकास, द्वंद्वात्मक परिवर्तन आदि समय-निर्भर नहीं होते । समय होता है (Time IS) तात्पर्य यह कि काल, घटनाओं की क्रमिकता को या सिर्फ "क्रम" (sequence) देखकर गढ़ा गया प्रत्यय है । काल-बोध का पहला सोपान "अभी" (now) का बोध है । वर्तमान के बोध ने ही कालांतर में यह पहचान कर कि जगत में एक क्रम है, भूत, भविष्य-वर्तमान के प्रत्यय गढ़े । यों अब भी कई विचारक इस प्रत्यय को लेकर शंकित है ।[55] प्रस्तुत शोध के प्रसंग में इतना पर्याप्त है कि काल-बोध को चर्चा का केन्द्र बनाते हुए यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसके किस रूप, किस आयाम की बात की जानी है । ऐतिहासिक क्षणों को घड़ी और कैलेण्डर के समय से जोड़ना इतिहास-बोध के ज्ञान को तो सूचित करेगा ही, साथ ही काल-बोध की आवश्यकता भी प्रकट होगी । - Thesis - Antithesis - synthesis is the historical moment which has no relation to the moments of history measured in clock - Time.'[56]

मार्क्स ने युतोपिया के विरुद्ध ही सब लिखा हो और पक्ष में कुछ भी न लिखा हो ; ऐसी बात नहीं है । फूरियर (Fourier) ओवेन (Owen) आदि फ्रांसीसी समाजवादियों के युतोपिया के बारे में उसने एक पत्र में लिखा 'There is the anticipation and expression of new world' [57] imaginatice एंगेल्स ने भी युतोपियात्मक विचारों में निहित "आलोचना तत्वों" पर बल देते हुए लिखा They attack every principle

---

55. Time IS इस वक्तव्य में डेविड बूयर ने स्पष्टत: । और IS को Capital letter में लिखकर अब काल का महत्वपूर्ण पद दिया है । किंतु कई विचारक 3 काल प्रत्यय को मात्र चेतना का एक आयाम मानते हैं और इस तरह उसे दिक से न्यूनतर घोषित करते हैं । अनिश्चय के सिद्धांत ने तो काल प्रत्यय के समाने एक प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है विज्ञान को सर्वशक्तिमान मानने वाले न्यूटन ने अगर कहा "बादल घड़ियाँ हैं"(Clouds are clocks) तो प्राकृतिक जगत में एक नियम बद्धता देखकर ही । लेकिन जब उत्तर में प्रसिद्ध अनुभववादी दार्शनिक पिअर्स ने कहा 'Clocks are clouds)' तो नियमों पर बल देने वाला मस्तिष्क सन्न हो गया कि विज्ञान भी अनिश्चित का समर्थक निकला ।

of ex isting society. Hence they are full of the most valuable materials for the enlightenment of the working class.'.[58]

स्पष्ट ही मार्क्स और एंगेल्स ने यूतोपिया के क्रांतिकारी तत्वों का स्वागत किया था । कोई भी विवेकशील विचारक यूतोपिया को सम्पूर्णत: नहीं नकार सकता । यों तो चाहे जो और जैसा यूतोपिया हो ; चाहे उसमें सामंती तत्व सक्रिया हो या बुर्जुआ ; वह समानता की बात ही आखिरकार करेगा और इस प्रकार किसी सीमा तक समाजवादी रहेगा ।"[59] अर्नेस्ट ब्लॉख (Arnest Bloch) अपने इस कथन को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं --"सिर्फ मार्क्सवाद में ही यूतोपिया की संभावनाओं को ठोस रूप से उजागर किया गया । और मार्क्सवाद सम्पूर्णता को भी प्रस्तुत करता है × × × यह सम्पूर्णता स्थिर था गतिहीन नहीं है और न 'as a finished principlae of the whole' किंतु वह यूतोपियात्मक है या ज़्यादा ठीक यह कहना होगा कि ठोस यूतोपियात्मक सम्पूर्णता जैसे कि अपूर्ण संसार की अंतर्स्थित प्रक्रिया ।"[60]

यूतोपिया को मात्र सुदूर भविष्य के बारे में कोई काल्पनिक छलांग मानना उसको बुर्जुआ दृष्टि से व्याख्यायित करना होगा । पूर्व में लिखा जा चुका है कि युग और काल के अनुसार हमारा काल-बोध बदलता है और आज हमारा सारा बल भविष्य और परिवर्तन पर है । इसमें जितना

---

56. The grammar of living - David Cooper P.30
57. Selected Works, Vol. II P.417
58. Ibid Vol.III P.120
59. Marxism and Art - Ed. Mayhord Solomon P.459
लेनिन ने यूतोपिया के उत्स की विवेचना की है । वह ग्रीक शब्द है और OU = not तथा Topos = place से बना है ।
'It means a place which does not exist, a fantasy, invention or fairy-tale. In politics, utopia is a wish that can never co come true- ' on Utopian and scientific socialism - P.66.

महत्व भविष्य को है, उससे कहीं ज़्यादा महत्व "आज" का है । यूतोपिया "आज" से निर्धारित होता है । यहाँ उद्धृत मेन्हीम का कथन भी इसी ओर इंगित कर रहा है । आज अगर हम अतीत को "अतीत" कहते हैं और भविष्य को "भविष्य" और उन्हें चिंतन का विषय बनाते हैं तो वस्तुत: आज से ही संचालित होते हैं ।"[61]

"वाम" के लिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि वह "सम्पूर्ण" को अपना यूतोपिया माने । वह सम्पूर्णता [मनुष्य की, समाज की] अपने स्वरूप में समाप्त या घटित नहीं बल्कि अपूर्ण से सम्पूर्ण की ओर प्रक्रिया होगी । दूसरे शब्दों में यूतोपियात्मक सम्पूर्णता ही "वाम" का आदर्श है ।

यूतोपियात्मक चिंतन के खतरों से बचने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम "वाम" के लिए उसके स्वरूप को, लचकीले ढंग से ही सही, निश्चित करलें ।

---

60. Marxism and Art. Mayhord Solomon. P.460 कार्ल मेन्हीम (Karl Mannheim) ने यूतोपिया को पुन: परिभाषित किया है और उससे जोड़े जाते "व्यर्थता" [futility] के तत्व को दूर किया है । -

'A state of mind is Utopian when it is incongrous with the state of reality within which it occurs - Only those orientations transcending reality will be referred to by us as Utopian which - tend to shatter the order of things prevailing at the time'.

Ideology and Utopia - P. 192.

61. 'The action of putting the past behind as past and putting the future ahead as future is a future act.' The grammer of living. David Cooper P.291. तुलना के लिए मेन्हीम का एक उद्धरण उपयोगी होगा :-

The Utopian consists of thos ideas and values in which are contained in condensed from the unrealized and the unfulfilled tendencies which represent the need of each age ... The

अर्नेस्ट ब्लॉख ने यूतोपिया को स्वप्न के साथ जोड़ा है । विशेषत: दिवा-स्वप्न के साथ । रात्रि-स्वप्न में इच्छाओं की पूर्ति के लिए यात्रा पीछे की ओर होती है और दमित आवेग उसमें निर्णायक भूमिका निभाते हैं । दिवास्वप्न में यात्रा भविष्योन्मुखी होती है और आरंभ से अंत तक "मैं" सक्रिय रहता है । परिकथाओं, लोककथाओं" आदि के युतोपिया की विवेचना के बाद ब्लॉख का निष्कर्ष होता है कि मानववाद युतोपिया में ही विकसित हुआ है ।[62] स्वप्न की बात लेनिन (Valadimir Ilyich Lenin) ने भी की है । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'What is to be done' में लेनिन का मत है कि यदि मनुष्य से सपने छीन लिये जाय तो वह कल्पना, विज्ञान और व्यावहारिक जीवन जीने के लिए कहाँ से प्रेरणा पायेगा ।[63] टालस्टाय (Tolstoy) पर अपने प्रसिद्ध निबंध में लेनिन टॉलस्टाय के लेखन में यूतोपिया के शुभ पक्ष की बात करते हैं ।

मेयोनार्ड सालोमन ने विलियम मोरिस (William Morris) सम्बन्धी भूमिका में एक महत्वपूर्ण बात कही है कि "प्रत्येक युतोपिया" को एक अतीत की आवश्यकता होती है, जिसके नमूने पर भविष्य को गढ़ा जा सके ।"[64] हर्बर्ट मारक्यूज़ ने (Eros and civilization) में मनुष्य की प्राक् ऐतिहासिक और शिशु इच्छाओं के आधार पर युतोपिया की रचना की है, जब श्रम भी क्रीड़ा में बदल जायेगा ।[65]

---

existing given birth to Utopia which in turn break the bonds of the existing order, leaving it free to develope in the direction of the next order of existence.' Ideology and Utopia' P. 199.

62. Marxism and Art - Mayhord Solomon. P.578

63. What is to be done ? P -

64. Marxism and Art : Mayhord Solomon P. 82

65. Ibid P.521. 'If work were accomapnied by a reactivation of pregenital polymorphons eroticism, it would tend to become gratifying in itself without losing its work content'. Ibid P. 521.

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि युतोपिया भविष्य तथा बेहतर संसार की एक स्वप्न-छवि है । वह संसार जो अभी अपूर्ण प्रतीत होता है और जो अपनी बेहतरी के लिए अतिरिक्त प्रयत्नों की अपेक्षा रखता है ।

ऐसा बेहतर संसार जो इच्छित हो, अभीष्ट हो, जो स्वयमेव नहीं प्राप्त होगा बल्कि जिसे प्राप्त होना चाहिए अथवा भविष्य भी जो स्वयमेव ही वर्तमान के अनंतर आनेवाला हो ; युतोपिया का लक्ष्य नहीं हो सकता । "चाहिए" तत्व युतोपिया के लिए आवश्यक है ।"[66]

युतोपिया वर्तमान समाज का आलोचक होगा । यह आवश्यक है कि कोई विचार तभी युतोपियात्मक हो सकेगा, जब वह अपने होने में वर्तमान समाज से विपरीत नहीं तो अलग या भिन्न हो ।

युतोपिया के साथ संयोग तत्व नहीं जुड़ा हो सकता । उसे लाने के लिए सामूहिक कार्रवाई की आवश्यकता का मान होना चाहिए ।

युतोपियात्मक विचार की जड़े वर्तमान में [समाज, राजनीति, संस्कृति आदि] और वर्तमान के माध्यम से ही अतीत में होनी चाहिए । वह कोई अमूर्त और एकांतिक प्रत्यय नहीं हो सकता । चूंकि वर्तमान की ठोस परिस्थितियों के साथ द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का ही परिणाम युतोपिया होता है, अतः उसके साथ मात्र इच्छा ही नहीं, आस्था और विश्वास भी जुड़े होंगे । एक प्रकार से वह विश्व-बोध को प्रस्तुत करेगा ।

---

66. Socialism and utopia - Zygmunt Bawen P. 17.

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के बाद "वाम" की परिभाषा का प्रयत्न किया जा सकता है । यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि चाहे जैसी परिभाषा हो, वह अपने पक्षपात को ही अंतिम सत्य घोषित करती है ।[67] लुकाँच के इस कथन की सत्यता असंदिग्ध है फिर भी प्रयत्न तो हमारा, प्रस्तुत शोध के प्रसंग में मुक्त (Open) परिभाषा का ही रहेगा ।

वाम, प्रदत्त के प्रति ऐसा जीवन-समर्थक तथा ऐतिहासिक प्रतिरोध है, जो देह को समूचे अस्तित्व का केन्द्र और आधार मानते हुए सम्पूर्ण की यूटोपियात्मक छवि को अपना लक्ष्य तय करता है ।

वाम कविता

जब वाम का स्वरूप न्यूनाधिक रूप से निर्धारित हो चुका है, तो "वाम कविता" में अब विशेष्य-कविता को विशेषण-वाम की रोशनी में समझना ही उचित होगा । एक प्रकार से देखा जाय तो किसी भी सार्थक कविता पर "वाम" की हमारी परिभाषा पूरी तरह से बैठती है । हमारे मत से जो कविता अपने सौंदर्यबोधात्मक अस्तित्व के माध्यम से प्रदत्त के प्रति जीवन-समर्थक तथा ऐतिहासिक प्रतिरोध नहीं करती, वह कविता का भ्रम खड़ा करने वाली छद्म-कविता होती है । देह तो वहाँ पूरी तरह से उपस्थित रहेगी ही । कभी सूक्ष्म तो कभी स्थूल । सर्व विदित है कि कविता में "मैं" की भागीदारी पंक्ति-पंक्ति में रहती है और कहीं भी "मैं" विदेह नहीं होता । यदि सारे रस तथा भाव-विभाग देह से जुड़ते थे तो इसीलिए कि देह को हटा दो तो मात्र शून्य ही बचता है । यहाँ हम उन प्रयत्नों की बात नहीं करेंगे, जो देह को हटाने के

---

67. Marxism and Art - Mayhord Solomon P. 418

लिए हुए और परिणाम स्वरूप कला, संस्कृति और दर्शन में या तो एक शून्य पैदा हुआ या फिर अपनी अनुपस्थिति में "देह" अपनी उपस्थिति से भी अधिक मुखर होती रही । जहाँ तक यूटोपिया का प्रश्न है तो ब्लॉख ने उसे स्वप्न से जोड़ा था और कविता का तो स्वप्न से सीधा सम्बन्ध है । मनोविश्लेषकों ने कहा -"स्वप्नों में हम कवि होते हैं" और हम कह सकते है कि कवि होते समय हम स्वप्नों में होते हैं ।

इस प्रकार कोई भी सार्थक कविता वाम ही होगी । विश्व कविता का अद्यतन इतिहास भी यही बतलाता है । ऐसे में "वाम" कविता" पद का क्या अर्थ ?

वस्तुत: ठोस और विशिष्ट संदर्भों में ही "वाम" को समझा जा सकता है । कविता को भी सायास ही "वाम" कविता होना पड़ेगा । मुक्तिबोध की विश्व-दृष्टि वाली बात इस संदर्भ में उपयोगी है । जब मनुष्य को मनुष्य होने के लिए "श्रम" का सहारा लेना पड़ता है तो कविता के लिए भी यही सच है । अनुभूतियों, आवेगों, विचारों और सबसे बढ़कर कल्पना शक्ति - इन सबको परिवेश के साथ द्वंद्वात्मक क्रिया प्रतिक्रिया में मानवीय अथवा विश्व-दृष्टि संपन्न होते चलना है । जब आँख को भी मानवीय आँख बनना है और कान को मानवीय कान, तो तय है कि इनके द्वारा होते बोध और उस बोध द्वारा प्रभावित कल्पना, अनुभूति आदि को भी मानवीय होने की यात्रा जारी रखनी पड़ेगी ।

कविता को अगर प्रतिरोध की कविता होना है तो उसे अपनी रचना-प्रक्रिया और प्रयुक्त रचना सामग्री के प्रति सतर्क रहना पड़ेगा ।

वाम की परिभाषा में आये सारे सूत्रों के साथ कविता को समंजन करना पड़ेगा । यह वाम-विचार से कहीं अधिक कठिन काम है । कविता को अपना सौंदर्यबोधात्मक रूप भी बचाये रखना होगा । वस्तुत:

कथ्य या विषय-वस्तु के स्तर पर तो वाम-विश्व-दृष्टि उसकी सहायता कर सकती है किन्तु उस कथ्य के सौंदर्यबोधात्मक रूप (Aesthetic Form : Herbert Marcuse) ग्रहण करते समय आवश्यक है कि अवचेतन के स्तर पर राजनीतिक दृष्टि (गहरे अर्थ में) और काव्य-दृष्टि का यों मेल हो कि काव्य-रूप जिस तरह काव्य-परक हो, उसी तरह राजनीति परक भी ।

यदि काव्य-रूप में दरार दिखायी पड़ती हो तो निश्चित ही या तो राजनीतिक दृष्टि में कोई खोट है या फिर काव्य-दृष्टि में ; कुल मिलाकर मुक्तिबोध द्वारा बताये गये, कवि के लिए तीन संघर्ष-क्षेत्रों में यदि किसी एक में भी खोट रह जाती है तो उसका प्रभाव दूसरे क्षेत्र पर भी पड़ेगा । कहा जा सकता है कि एक ही युद्ध के ये विभिन्न मोरचे हैं । "(1) तत्व के लिए संघर्ष (2) अभिव्यक्ति सक्षम बनाने के लिए संघर्ष और (3) दृष्टि-विकास के लिए संघर्ष ।"[68]

इन तीन क्षेत्रों में समानांतर जारी संघर्ष की बात मुक्तिबोध ने कई तरह से और कई बार की है । "नयी कविता में आत्म संघर्ष" नामक निबन्ध में भी वे इन तीन क्षेत्रों का नामोल्लेख करने के बाद व्याख्या इस तरह करते हैं --"प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है । दूसरे का सम्बन्ध चित्रण सामर्थ्य से है । और तीसरे का सम्बन्ध थियॅरी से है, विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है । यह त्रिविध संघर्ष है ।[69]

---

68. मुक्तिबोध के शब्दों में -"तत्व के लिए संघर्ष का अर्थ अपने वास्तविक जीवनानुभव को संदर्भ-सहित व्यक्त करने के लिए उचित विषय-संकलन के विवेक से संबंधित है । "काव्य की सांस्कृतिक प्रक्रिया" नामक लेख मुक्तिबोध रचनावली भाग पाँच - पृ- 197) इसी लेख में उन्होंने "विश्व-दृष्टि का विकास तब तक नहीं होगा, जब तक हम मानव के भविष्य निर्माण के संघर्ष में आस्था न रखें, और आध्यात्मिक रूप से उससे संबद्ध न हो जायें ।"

मुक्तिबोध ने यत्र-यत्र मनोवेगों की यांत्रिक्ता की बात की है । —"ध्यान रहे कि मनोवेगों में स्वयं-स्फूर्ति के अतिरिक्त यांत्रिक्ता भी होती है । यहीं यांत्रिक्ता विवेक की शत्रु है । --- xxx "अपने लक्ष्यों के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना जिज्ञासा, आत्म-संस्कार, आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-संघर्ष, सब व्यर्थ है ।"[70]

शब्दावली के पुराने पर को ध्यान में न रखें तो हम पाते हैं कि मुक्तिबोध ने "वाम" और "वाम कविता" के सारे संभावित लक्षणों को अपनाने की सिफ़ारिश की है । "लक्ष्यों के प्रति दुर्दान्त स्नेह का आस्तिक्ता" की मांग वस्तुत: भागीदारी (involvement) की मांग है, जो बौद्धिक प्रतिबद्धता की अपूर्णता से आगे की बात है ।

सारांश में निष्कर्ष यह कि वाम कविता पूरी तरह से "वाम" के साथ समंजन करती हुई काव्यात्मक आवेगों, काव्य-रूपों का अभ्यास और विशेषत: सौंदर्यबोध के काव्य-धर्मी पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है । जिस अर्थ में ब्लॉख ने मार्क्सवाद के आशा का दर्शन (Philosophy of Hope) कहा ; हम उस के साथ ग्रॉम्शी का प्रेक्सीज़ का सिद्धांत जोड़कर वाम कविता के लिए कहना चाहेंगे कि वाम कविता ऐसी "आचरण

लिखकर यूतोपिया भर तत्व की आवश्यक्ता पर ही बल दिया है । यूतोपिया का जो भी स्वरूप हमने "वाम" के लिए निर्धारित किया है, वह बिना "यूतोपिया" नाम के उल्लेख के मुक्तिबोध के लेखों में सर्वत्र, यद्यपि कहीं बीज रूप में, बिखरा हुआ है ।

69. मुक्तिबोध रचनावली भाग पाँच - पृ-336

70. मुक्तिबोध रचनावली भाग पाँच - पृ-215

की कविता है" '(Poetry of Praxis)' जो अपने में "आशा" समाहित किये हुए हो । हम देख चुके हैं कि दर्शन बिना आचरण = Praxis के प्रभाव हीन हो जाता है । "आशा के दर्शन के लिए कविता एक आचरण है और कवि को "कविता" नहीं, बल्कि "आचरण-कविता" ही सही तौर पर कवि बनाती है । तात्कालिक प्रसंग में वाम-कविता=आचरण कविता, यह कहा जा सकता है ।

इस स्थिति में यह निश्चित है कि आचरण की दुहाई देने वाली या ढिंढोरा पीटनेवाली कविता को "वाम कविता" नहीं माना जा सकेगा । यदि राजनीतिक प्रचार भी कवि और कविता का लक्ष्य हो तो उस लक्ष्य "के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना" और यह जाँच किये बिना कि वह स्नेहावेग कहीं यांत्रिक तो नहीं है ; वह कविता व्यर्थ हो जायेगी ।

राजनीतिक कविता में राजनीति और कविता सहज आचरण के धरातल पर ही एक होने चाहिए । यदि कविता में [अभ्यास, अभिव्यक्ति आदि] खोट होगी तो कविता में अभिव्यक्त राजनीति अप्रभावी और उथली बन जायेगी । राजनीति भी मूलत: कला है[71] और दो कलाओं का एक होना यांत्रिक न होगा तो वह झूठी "एकता" होगी । जिस तरह यौन-कृत्य की यांत्रिकता दोनों पक्षों को अमानवीकरण का शिकार बनाती है और "यौन" (Sex) को छद्म-यौन (Pseudo-sex) में बदल देती है, उसी प्रकार यदि राजनीति ने कविता को मात्र इस्तेमाल किया [या कविता ने राजनीति को] तो परिणाम में एक छद्म-आचरण ही सम्मुख आयेगा ।

फिर से मुक्तिबोध की विश्व-दृष्टि की बात याद करते हुए हम कहना चाहेंगे कि वह विश्व-दृष्टि कविता में अखण्ड रूप से प्रस्तुत हो तो वह प्रतिरोधात्मक भी होगी [राजनीतिक स्तर पर भी] और जीवन समर्थक

---

71. The alternative future - Roger Garaudy P.206

तथा यूतोपियात्मक भी ।

निष्कर्ष यह कि "वाम कविता" वाम-दृष्टि (जो जितनी जीवन दृष्टि होगी, उतनी ही कला-दृष्टि और उतनी ही राजनीतिक दृष्टि भी)[72] का काव्यात्मक अभिव्यक्ति है ।

वाम बनाम प्रगतिशील बनाम जनवादी

हिन्दी साहित्य के विवाद-प्रियता वाले परिदृश्य में एक प्रश्न इस तरह का भी खड़ा किया जाता है कि प्रगतिशील सही विशेषण है अथवा जनवादी ? जब "वाम" का उल्लेख हुआ तो इस प्रश्न में उसे भी जोड़ लिया गया । यह प्रश्न अगर लेखक-संघों के संदर्भ में उठे तो उसका औचित्य भी है और महत्व भी ; किंतु रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में संघ-परिदृश्य के घात-प्रतिघात का प्रवेश किस सीमा तक हानिकारक हो सकता है, यह 1936 से लगातार स्पष्ट होता रहा है । संघ का जो भी कार्य हो, वह साहित्येतर और गैर-सृजनात्मक होगा । सृजनात्मक साहित्य पर शोध के संदर्भ में वह विवाद ही अप्रासंगिक है और प्रश्न ही गलत है । गलत प्रश्न का सही जवाब देना एक कठिन कार्य है फिर भी चूंकि साहित्यिक परिदृश्य में यह प्रश्न हावी है, हम बहुत ही संक्षेप में अपना मत प्रस्तुत करना चाहेंगे ।

प्रथम प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति पद से बोलते हुए प्रेमचंद ने कहा था -"यह नाम (प्रगतिशील लेखक संघ) गलत है । साहित्यकार

---

72. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी पृ-

स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है ।"[72क] फिर भी चूंकि संगठन की बात थी (सृजनात्मक साहित्य की नहीं) इसलिए प्रेमचंद ने बात आगे नहीं बढ़ायी ।

सन् 1936 के आस-पास की प्रगतिशीलता एक जीवन-दर्शन का परिणाम या प्रकटन नहीं बल्कि रुझान थी । रूस की अक्तूबर क्रांति के गीत गाना तत्कालीन प्रगतिशीलता का एक प्रमुख लक्षण था । यों तो प्रति का प्रत्यय ही पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभाव की ओर संकेत करता है ।[73] समाज या विश्व को बदलनेवाली जीवन-दृष्टि के लिए यह संज्ञा नितांत अपर्याप्त है । "आचार के दर्शन" (Philosophy of Praxis) के संदर्भ में तो और भी ।

फिर भी एक उदार फलक पर बनाये गये लेखक संघ के लिए यह नाम अनुचित नहीं था । यद्यपि उस संघ के पदाधिकारियों ने जो रुख सृजनात्मक साहित्य के सम्बन्ध में अपनाया, वह तत्कालीन रूस की स्तालिनवादी नीतियों के अनुरूप था । एक ओर निरंतर परिवर्तनशील साहित्य था और दूसरी ओर साहित्य शास्त्री है, जो ऐसे नियम या प्रतिमान बना रहे थे, जिनका सृजनात्मक साहित्य से कोई सरोकार नहीं हो सकता ।

फिर राजनीतिक आज़ादी मिलने के बाद की स्थितियों में प्रगतिशील लेखक संघ के विफल हो जाने की बात करके फरवरी 82 में जनवादी लेखक संघ का गठन किया गया । निश्चित ही संघ के सफल और विफल हो जाने का सम्बन्ध सृजनात्मक साहित्य से सृजनेतर ही होता है ।

प्रगतिशील बनाम जनवादी के बीच का सारा विवाद नामकरण को लेकर है । संगठन के लिए "नाम" के महत्व को हम भी स्वीकार करते हैं । किंतु "वाद" (ism) का सम्बन्ध सृजनात्मक साहित्य से जीवन-दृष्टि के स्तर पर ही संभव है । बेहतर समाज के लिए संघर्षरत जीवन दृष्टि के लिए,

---

72 क.

73. The Grammar of Living - David Cooper. P.

साहित्यिक संदर्भ में, ये दोनों नाम अपर्याप्त ठहरते हैं । वस्तुत: इन दोनों नामों का सम्बन्ध, साम्यवादी दलों से हैं । ~~प्रगतिशील~~ प्रगतिशील लेखक संघ के पदाधिकारी भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (C.P.I.) के सदस्य या सहयात्री हैं और जनवादी लेख संघ के मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी (C.P.M) के । दोनों ही ~~संघ~~ संघों में श्रेष्ठ रचनाकार है । यों कोई भी सही प्रगतिशीलता जन-विरोधी नहीं होती और न सही जन-वादिता, प्रगति-विरोधी होती है । जहाँ तक राजनीतिक दलों से सृजनात्मक साहित्य के सम्बन्ध का प्रश्न है, बर्तोल्त ब्रेख्त ने स्पष्टत: कहा है - 'Art is not capable of Turning artistic ideas dreamed up in offices into works of art. Only boots can be made to measure. Moreover, the taste of many people who are highly educated from the political point of view is perverted and therefore of no importance whatsoever .....it is not the business of the Marxist - Leninist party to organizing poetic production the way it would set up a chiken form. If it does so, poems will all be as much alike as one egg is like another.'[74]

प्रस्तुत शोध के प्रसंग में हम ब्रेख्त से शत-प्रतिशत सहमत हैं ।

कविता के संदर्भ में प्रगतिशील तथा जनवादी की अपेक्षा "वाम" विशेषण को प्राथमिकता देने की पृष्ठभूमि में तीन कारण प्रमुख हैं ।

1. "वाम" शब्द एक क्रांतिकारी विश्व-दृष्टि को वहन करता है । प्रगतिशीलता और जनवाद - ये दोनों उस विश्व दृष्टि में समाहित हो जाते हैं ।

---

74. Marxist Esthetics - Menri Arvon P-109. पर उद्धृत ।

2. परम्परा से प्राप्त ये दोनों विशेषण संघ के विवाद-संदर्भों में बार-बार सतही ढंग से उल्लिखित तथा विवेचित होकर अर्थायकर्ष के शिकार हो चुके हैं ।

3. सृजनात्मक साहित्य को किसी ऐसे विशेषण से संपृक्त करता जो प्रति सृजनात्मक दबाव से प्रचलित हुआ हो ; सृजनात्मक साहित्य के लिए हानिकारक होता है ।"[75]

इस प्रकार हम "वाम" विशेषण को अपनाने की सिफ़ारिश करते हैं । यह एक प्रतिरोध धर्मी विश्व-दृष्टि है और इसका कोई "वाद" नहीं हो सकता । अधिक से अधिक आप इसे जीवन-वादी कह सकते हैं ।

निष्कर्ष यह कि दोनों संघों के प्रति सहानुभूति रखते और ग़ैर-सृजनात्मक धरातल पर उनका महत्व स्वीकार करते हुए "वाम" को ही अपना रहे हैं ।

---

75. "वाम" के प्रयोग - सम्बन्धी इस विवाद के प्रसंग में युग-परिबोध मई,76 के अंक में प्रकाशित ओम प्रकाश ग्रेवाल के लेख "समकालीन हिंदी कविता में वाम" पर जनवरी-मई 1977 के युग परिबोध में डॉ० मैनेजर पाण्डेय की प्रतिक्रियात्मक टिप्पणी उल्लेखनीय है । वे "वाम" की भारत के "वामपंथी" दलों से जोड़कर देखते हुए उन्हीं दलों के अनुपात से "वाम" को अमूर्त ठहराते हैं । उनका निष्कर्ष है कि "वाम" या "वामपंथी" जैसी किसी नयी धारणा की आलोचना में कोई सार्थक अनिवार्यता नहीं है ।" [पृ-11]

उनकी आपत्तियों में प्रमुख है - 1. "दक्षिण" की तरह वाम भी एक बदनाम और अनिश्चित शब्द है । 2. केन्द्र किसे मानेंगे, जो "दक्षिण" और "वाम" के भेद में सहायक हों ? 3. प्रतिबद्धता, प्रगतिशीलता, जनवादी और क्रांतिकारी की तुलना में वाम के प्रयोग की कोई विशेष अनिवार्यता नज़र नहीं आती ।

प्रकट है कि उन्होंने "प्रचलन" को ही प्रतिमान माना है । जनवा प्रगतिशीलता या क्रांतिकारिता "वाम" में ही अंतर्निहित होते हैं । डॉ० मैनेजर पाण्डेय ने "वाम" के जड़े फलक को स्वीकार किया है । आज की आवश्यक्ता है कि निजी पक्षपात या अभ्यास को प्रतिमान न बनाकर वस्तु स्थिति के आंकलन द्वारा निष्कर्ष निकाले जाय ।

o
o
o
o
o
o
o
o
o
o
o

खण्ड : एक

o
o
o
o
o

वाम सौंदर्यशास्त्र और उसकी रचना - प्रक्रिया

वाम सौंदर्यशास्त्र और उसकी रचना-प्रक्रिया

प्रस्तुत शोध प्रसंग में मनुष्य को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से समीकृत किया गया है। एक ओर मनुष्य है और दूसरी ओर वस्तु-जगत। मनुष्य ने यह द्वंद्वात्मक स्थिति स्वयं नहीं चुनी है अपितु उसका "होना" तक इस स्थिति का परिणाम है तथा वह अपने को इसके बीच पाने को विवश है। वह बचा रहना चाहता है और इसलिए वस्तु-जगत को अपने लिए बदलने का प्रयत्न करता है और इस क्रम में स्वयं भी बदलता चलता है।[1] स्पष्ट है कि द्वंद्व दो स्थिर और जड़ शक्तियों के बीच में नहीं चल रहा है। चाहे जो विचार-दर्शन हो, वह यदि एक ओर इस द्वंद्व की उपज होता है तो दूसरी ओर उसे इस परिवर्तन-शीलता के बोध से ही सार्थकता प्राप्त होती है। यहाँ अन्य अनुशासनों की चर्चा न कर हम अपना ध्यान सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में हुए चिंतन-सम्बन्धी भटकावों पर ही केन्द्रित करें तो पायेंगे कि प्रत्येक सौंदर्यशास्त्री या तो मनुष्य को परिवर्तन-निरपेक्ष समझता रहा अतएव उसके बोधात्मक पक्ष को भी या फिर वस्तु-जगत को ही गतिहीन मानकर उसके मानवीकृत होने या किये जाने की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को अपने विशुद्ध किस्म के सौंदर्यशास्त्र से दूर ही रखता रहा। परिणाम यह हुआ कि वह विश्व-दृष्टि ही एकांगी, अस्थायी और अनुत्तरदायी रही; जिसका मात्र एक हिस्सा ही व्यक्ति की सौंदर्य दृष्टि होती है। यदि अंशी में एकांगिता हो तो उसके अंश पर भी उसका प्रभाव रहेगा।

---

1. यह सुखद रूप से एक विस्मयकारी तथ्य है कि आधुनिक युग में मनुष्य स्वयं के विश्व-केन्द्र होने की धारणा से दूर हो गया है किंतु वह यह भी जान गया है कि वस्तु-जगत की सार्थकता मनुष्य चेतना की सापेक्षता में ही है। प्रासंगिक होगा अगर यहाँ बहु चर्चित किंतु सर्वाधिक कम समझे गये प्रत्यय "अहं" की चर्चा की जाय। दार्शनिक धरातल पर नहीं, जहाँ तर्क-सरणी ठोस यथार्थ से सर्वथा निरपेक्ष होने का दंभ भी कर सकती है बल्कि ठोस जैविक-मनोवैज्ञानिक संदर्भ में। अर्न्स्ट बेकर (Ernest Becker) ने मनो चिकित्सा और नृतत्वशास्त्र के

निश्चित ही हम युगीन सीमाओं की ओर से आँखें नहीं मूंद सकते । यदि भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के विचारों में हम भाववाद का वर्चस्वपाते हैं और आस्वाद-विषयक विमर्श को मुठ्ठी भर प्रशिक्षित लोगों पर केन्द्रित देखते हैं तो यह स्वाभाविक ही था । फिर भी हम पाते हैं कि उक्त विचारकों के कई वक्तव्य, संभवत: उनके अनजाने ही, उनकी जीवन-दृष्टि का अतिक्रमण कर जाते हैं और हम आज के संदर्भ में उक्त वक्तव्यों का आधुनिकीकरण करके उन्हें अपने युग-दर्शन का हिस्सा बना सकते हैं । ऐसा इसलिए हो पाताहै कि रसास्वाद भी अपने द्वंद्वात्मक रूप में सृजनात्मक होता है और सृजनात्मकता सदैव ही "प्रदत्त" का अतिक्रमण करने में सफल होती है । विश्व-दृष्टि का विकास एक सायास, जागरूक और कष्टसाध्य द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है और कम से कम किसी बंद (closed) विचार-व्यवस्था के आधार पर तो वह संभव हो ही नहीं सकती । "दक्षिण"-विचार सत्ता-परम्परा से जुड़े रहने के कारण मुक्त (Open) नहीं रहसकते । उन्हें संस्था-बद्ध होना पड़ता है और वे किसी तरह के भी परिवर्तन के विरुद्ध खड़े होने वाले जड़ अनुशासनों-शास्त्रों में घट कर रह जाते हैं । "वाम" कहलाने वाली विचारधाराओं के साथ भी ऐसा हुआ है, जब वे संस्था बद्ध हो गयी हैं या सत्ता के यथा स्थिति वादी पक्ष से अपने को एकात्मकरके लगभग दक्षिण ही होकर रह गयी है । बंद (closed) कुछ भी नहीं है, न यथार्थ, न मनुष्य और न उनके बीच का सम्बन्ध और इसलिए अंतिम रूप से नतीजों की घोषणा करनेवाली विचारधारा, चाहे वह अपने को "वाम" ही क्यों न कहती हो ; वस्तुत: ऐतिहासिक द्वंद्वात्मकता के विरुद्ध जाती है और इस प्रकार "वाम" की शत्रु-भूमिका निभाती है ।[2]

परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हुए "अहं" (ego) के बारे में लिखा है - 'It is due to this famous "ego" that man differs from any animal known to nature.'

अर्न्स्ट बेकर ने अहं को "मनोवैज्ञानिक अंग" (Psychological organ) माना है । वस्तुत: प्रमस्तिष्कीय प्रांतस्था (cerebral cortex) ही उसका कारण

बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में "मनुष्य" और "वस्तु-जगत" की द्वंद्वात्मकता की चर्चा करते हुए उन्हें मात्र अमूर्त प्रत्ययों में घटा कर नहीं देखा जा सकता । प्रश्न आवश्यक है कि कैसा "मनुष्य" ? ब्रह्माण्डीय ? किस तरह "गुंथा" हुआ है, वह अपने प्रयत्नों में और कैसे बँटकर ही - रुक रही है उसकी मानवीकरण की सतत चलनेवाली प्रक्रियाएँ ? सौंदर्य-बोध मूलत: एक सम्बन्ध-बोध है और सम्बन्ध को जानने के लिए आवश्यक है कि सम्बन्धित पक्षों की स्थिति की पड़ताल की जाय ।

Daseinanalyse के प्रवर्तक बिस्वांगर (Binswanger) ने इन सम्बन्धित पक्षों के पारस्परिक सम्बन्धों की पर्याप्त सृजनात्मक विवेचना की है - ' Things do not happen as in abstract self was placed in an abstract word, and this self later endowed with definite needs, desires and instincts. Nor does this happen within the frame works of a world endowed 'as an afterthought, with a certain physiognomy and a certain expressive content. On the contrary, self and world constitute a dialectical unity in which eadh pole gives significance to the other, or more exactly, in which all meaning is a result of their inter-action.'[3]

होती है । अहं (ego) की परिभाषा - 'What is the ego ? Simply, the epitome of central control of behavior in a large brained animal. "यदि दार्शनिक आयाम ही इस जैविक-आयामी चिंतन को सम्पूर्णता की ओर बढ़ा सकता है तो अर्न्स्ट बेकर के ही शब्दों में -

'The ego, in other words, is a rather acute sense of 'I' and an awareness of this 'I' as the control of behavior.' (The birth and death of meaning : A perpective in psychiatry and anthropology. P.25-26)

उपर्युक्त लंबे उद्धरण में जिस द्वंद्वात्मक अंतर्क्रिया की बात कही गयी है, उसे कोई कठमुल्ला मार्क्सवादी मात्र इसीलिए अस्वीकार कर सकता है कि बिस्वांगिर को प्राय: पश्चिमी विद्वानों ने अस्तित्ववादी मनोविज्ञान के प्रसंग में देखा-दिखाया है । अस्तु, एक ओर ठोस, जीवित और "मैं" से युक्त मनुष्य है और दूसरी ओर दिन-ब-दिन अपेक्षाकृत अधिक अज्ञेय होता हुआ प्राकृतिक जगत ।

स्पष्ट ही आज का मनुष्य एक ओर तो आशविज़ (Auschwitz) जैसे हिटलरी नज़रबंदी-शिविरों का साक्षी है तो दूसरी ओर तकनीकी प्रगति उसे किसी प्रसन्न-युग के आश्वासन दे रही है । भारत के प्रसंग में भी उदाहरण प्रचुर हैं । गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन करते करोड़ों जन यदि अपने जीते रहने से विस्मित कर रहे हैं तो चंद लोगों की समृद्धि दिन-दूरी रात-चौगुनी गति से बढ़ रही है । अगर बेसिक स्तर पर विरोधाभास है तो राष्ट्रीय स्तर पर भी । चरम स्थिति तो यह है कि जिस विज्ञान के कारण मानव-नस्ल के समाप्त होने की आशंका आ खड़ी हुई है, वही विज्ञान भविष्य की एकमात्र आशा है ।[4]

एरिकफ्रॉम ने भी स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि मनुष्य का अपने को "मैं" करके जानना ही उसके विकास का आधार है । यदि मनुष्य परिवर्तनशील और प्रगतिशील है तो इसीलिए कि उसका "होना" प्रकृति में नयी समस्याएँ खड़ी करता है, जिन्हें सुलझाने के क्रम में, नये-नये असंतुलनों के बीच संतुलन साधने के क्रम में ही मनुष्य बदलता और विकास करता चलता है । (The anotomy of Human Distructiveness - P.225- 226). यही प्रक्रिया वस्तुजगत को मानवीय आयाम देती है । - 'Transforming external nature, Man has made a world to his measure, a human world and has thus added a human dimension to nature'. (Art and Society - Adolfo Sanchez Vazquez P.75)
कहना न होगा कि सौंदर्य, उसका बोध और उसकी चेतना, इसी मानवीय आयाम के चलते संभव होती है ।

सौंदर्य-चर्चा : भीतर से या बाहर से

उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस बेजोड़ वर्तमान में न केवल उत्तरों को बदलना आवश्यक है अपितु समूची प्रश्न-सरणियों को आमूल-चूल बदलना होगा । किसी भी वैचारिक अनुशासन को, और इसीलिए सौंदर्य-शास्त्र को भी निश्चित ही ; इस विडम्बना-रूपी वर्तमान से दो-चार होकर स्वरूप ग्रहण करना पड़ेगा । सौंदर्यशास्त्र के नाम पर हुए अद्यतन विचार-विमर्श पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि तथाकथित मौलिक और क्रांति-कामी सिद्धांत अथवा व्याख्याएँ भी, वस्तु-निष्ठ बने रहने की चेष्टा में, "बाहर" से ही सारा विचार करती हैं ।

---

2. इस प्रसंग में पर्याप्त रोचक और महत्वपूर्ण उदाहरण होगा - मनोचिकित्सा और मार्क्सवाद के पारस्परिक सम्बन्ध । सुधीजनों को भलीभांति विदित है कि मनोचिकित्सा क्षेत्र के कई महत्वपूर्ण चिकित्सकों, विद्वानों और सिद्धांत-वेत्ताओं ने मार्क्सवादी ~~चिंतनाओं~~ चिंतनाओं से पर्याप्त सहायता लेनी शुरू करदी है । यों मार्क्सवाद के प्रसंग में मनोविज्ञान की चर्चामात्र से, नाक-भौं सिकोड़ने वालों की आज भी कमी नहीं और ऐसे मार्क्सवादी, सम्पूर्ण मार्क्सवाद को मात्र राजनीतिक अर्थशास्त्र में सीमित कर देते हैं और उसे एक बंद विचार प्रणाली (Closed Thought System) मात्र मानते हैं । खुला मार्क्सवाद (Open Marxism) जड़ सिद्धांतवादी बनकर नहीं रह सकता । वह यह प्रश्न अवश्य पूछना चाहेगा कि मार्क्सवाद क्या मात्र वही है, जो मार्क्स ने लिखा और कहा है या वह एक गत्यात्मक क्रांतिकारी जीवन-दर्शन है ? रोज़र गेराउडी (Roger Garudy) ने लिखा है -- "xxxx यदि हमने हुसर्ल, हाइडेगर, फ्रॉयड, बाशेलार और लेवी-स्त्रोस आदि की ऐसी उपेक्षा की, जैसे ये कभी हुए ही नहीं, तो स्वयं मार्क्सवाद ही दरिद्र होगा ।" [आलोचना-13, अप्रेल-जून, 70 में पृष्ठ 39-40] पर उद्धृत । एक क्रांतिकारी

मानवीय उत्तरदायित्व की सामान्य ऊष्मा तक का उनमें सर्वथा अभाव होता है । पेशेवर चिंतकों का चिंतन तब तक प्राणहीन रहने को अभिशप्त है, जब तक हिस्सेदारी की भावना उसमें नहीं आती । एक मुर्दानगी से भरी व ठण्डी तार्किकता अपने आप में आचरण-विहीन दार्शनिकता के बंजरपन की जीती-जागती मिसाल होती है । चिंतन को भी, जीवन की तरह पूरी हिस्सेदारी में से गुज़रना चाहिए । जोखिमों से न तो जीवन में बचा जा सकता है और न चिंतन में । दर्शक मात्र बने रहकर आत्म-छल की शिकार होती हुई दार्शनिकता से सौंदर्यशास्त्रीय धरती अटी पड़ी है । एक ऐसी भाषा का आविष्कार हुआ, जो "सुंदर" और "सौंदर्य" की चर्चा के बहाने प्रत्येक मानवीय "सौंदर्य" को नष्ट करती है क्योंकि उसे अनुभव, अनुभूति और जीवन के बाहर से देखने की वृथा चेष्टा करती है ।[5] सौंदर्यशास्त्र को यदि आचार [=Praxis] से कटकर नहीं रह जाना है तो उसे सौंदर्य-बोध अथवा सौंदर्य-अनुभूति के भीतर से उगना और बढ़ना चाहिए । मार्क्स के एक प्रसिद्ध कथन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत शोध प्रसंग की उपपत्ति यह होगी कि अब तक सौंदर्य शास्त्रियों ने सौंदर्य [सौंदर्य-बोध, सौंदर्यानुभूति अथवा सौंदर्य-मूल्य] की मात्र व्याख्या की है । आज मुद्दा उसे बदलने का है[6] ।

विचार-दर्शन को अपनी समकालीन विचार प्रणालियों से संवाद करना ही होगा । निश्चित ही वह अपने द्वंद्वात्मक स्वभाव के आधार पर ही उन्हें सही तौर पर स्वीकार या अस्वीकार करेगा ।

3. The False Consciousness पृ- 308 से उद्धृत ।

यह भारतीय विचार-जगत का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि यहाँ सिर्फ मार्क्सवाद ही नहीं बल्कि अस्तित्ववाद, अस्तियथार्थवाद, अराजकतावाद आदि कई वैचारिक अनुशासनों का सिर्फ सतही और यांत्रिक इस्तेमाल किया गया । उनसे किसी सार्थक संवाद की कोशिश नहीं की गयी । या तो एक पक्षीय प्रभाव लिया गया या फिर एक सिरे से रद्द कर दिया गया । तय है कि बिना समझे ही । विडम्बना तो यहाँ तक है कि भारती की अपनी दार्शनिक परम्परा भी सिर्फ उद्धरणों में इस्तेमाल करने की चीज़ बनके रह गयी है ।

जिस बिंदु पर पहुँचकर अथवा लौटकर कविता और "सार्थक वक्तव्य" (धूमिल) में कोई अंतर नहीं रह जाता, वह बिंदु निश्चित ही जीवन के भीतर से, सारे विचारों-तर्कों का अतिक्रमण करने पर और अनुभूति के रूप में ही प्राप्त होता है । इसी प्रकार "सौंदर्य" के भीतर से ही एक उत्तरदायी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण हो सकता है । सौंदर्य-बोध एक सृजनात्मक प्रक्रिया है । उसकी व्याख्या या उसके अनुशासन को भी वैसा ही होना चाहिए । सारांश में सौंदर्य-सम्बन्धी विमर्श को प्रतिबद्ध, उत्तरदायी और मानवीय पक्षधरता से पूरम्पूरा होना चाहिए ।[7] तभी सौंदर्य के नशीले (Narcotic) रूप और आनंददायी रूप में अंतर किया जा सकता है ।

अपने आंतरिक अंतर्विरोधों में भारतीय दार्शनिक परम्परा भी भाववाद और पदार्थवाद की द्वंद्वात्मकता की अपनी मिसाल आप है ।

बिस्वागीर के उपर्युक्त उद्धरण में अगर "विश्व" World की जगह "समाज" Society होता तो कट्टर कहे जाने वाले मार्क्सवादी संभवत: कोई आपत्ति नहीं करते । किंतु "विश्व" और "समाज" के अंतर को परिभाषित करना एक दुष्कर काम है और अस्तित्ववाद का अदना-सा विद्यार्थी भी इस दुष्कर काम में मिलनेवाली भावी असफलता का ध्यान कर इस ओर प्रयासरत नहीं होगा । जहाँ तक बिस्वागीर का प्रश्न है, वह मनुष्य और उसके वातावरण को एक ठोस द्वंद्वात्मक सम्पूर्णता के रूप में देखता है -

"Man is personalized by Transforming his environment "

"व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण में पूरी तरह गुंथा हुआ है"

(Concretly integrated not simply placd)

यह गुंथा हुआ होना विश्व-दृष्टि के बनने और विकसित होने पर निर्णायक प्रभाव डालता है तो निश्चित ही सौंदर्य दृष्टि भी इसकी अविभाज्य हिस्सा होती है ।

4. अ. स्थिति किस सीमा तक त्रासदीय है ; इसकी जानकारी आज प्रत्येक समाचार-पत्र पाठक को है । आये-दिन बड़ी शक्तियों के सामरिक बजट के

मैं - बोध तथा अहं-बोध

उपर्युक्त विवेचन से प्राप्त सारे के सारे निष्कर्षात्मक प्रत्यय अपने आप में विवादास्पद मूल्य-प्रत्यय हैं । पक्षधरता, प्रतिबद्धता, उत्तर-दायित्व और आनंद को मनुष्य के "मैं" के विकास के संदर्भ में ही समझा जा सकता है । वह विकास, सांस्कृतिक विकास होता है ।

संस्कृति को प्राय: परिवेश के साथ सतत क्रिया-प्रतिक्रियारत विशिष्ट मानवीय व्यवहार से एकीकृत करके देखा जाता है । इस दृष्टिकोण में निहित अति-व्याप्तता निश्चित ही उस सरलीकरण के चलते है, जो "मैं" के विकास से जुड़े जटिल ताने-बाने को गौण महत्व देकर जल्दबाजी में सर्व-सम्मत और संतोषप्रद निष्कर्ष पाना चाहता है ।

व्यक्ति "मैं" होने से पहले शरीर होता है और शरीर अपने जैविक अस्तित्व में पावलाव की प्रयोगशाला के कुत्ते से अलग नहीं होता । डब्लू. एच. गांट (W.H.Gant) का एक कथन याद करें तो शरीर "अनुकूलित प्रतिक्रियात्मक पुरावस्तुओं का एक संग्रहालय होता है ।"[8] मात्र "शरीर" से मनुष्य होने की प्रक्रिया का अर्थ अपनी प्रतिक्रियाओं को मात्र उद्दीपकों (Stimilus) पर निर्भर न रखकर उन पर यथासंभव अधिकार करना होता है ।

बारे में पढ़ने पर हीरोशिमा-नागासाकी की कहानी अब बासी प्रतीत होती है । भारत के अपने प्रसंग में देखें तो प्राय: भड़क उठनेवाले साम्प्रदायिक दंगे अथवा हरिजन-हत्या काण्ड अब मात्र "एक समाचार" से ज्यादा नहीं होते । कार्ल सागान(Carl Sagan) , जो वैज्ञानिक साहित्य के विश्व-विश्रुत लेखक हैं, जिनके कई लेखों का छायानुवाद भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में मौलिक लेखन के नाम पर प्रकाशित होता रहता है, अपनी पुस्तक - (Broca's Brain : Reflection on the Romance of Science) - में आज की स्थिति की निराशा का बखान करते हुए वे बताते हैं कि हमारे ग्रह के बचे रहने की संभावना तभी हो सकती है कि जब हम किसी अन्य ग्रह

"मैं" के विकास का सम्बन्ध अनिवार्यतया काल-बोध से होता है । अतीत, वर्तमान और भविष्य से अपने को सचेत रूप से जोड़कर ही मनुष्य अपनी स्मृतियों को व्यवस्थित कर पाता है और काल-बोध ही उसके अपनी दृष्टि में निर्दिष्ट होने में सहायक होता है । यह सारी प्रक्रिया बिना भाषा के संभव नहीं हो पाती अतएव कहा जा सकता है कि मनुष्य का "मैं" बोध मूलत: भाषा वैज्ञानिक होता है । बिना भाषा के "अहं" (True ego) संभव नहीं हो सकता । अब तक जितनी भाषाओं का पता चला है, उन सभी में "मैं", "तुम", "वह" आदि सर्वनाम और इन से जुड़े क्रियारूपों का अस्तित्व प्राप्त हुआ है ।[9] "अहं" ही "बोध" को मानवीय बनाता है । अहं-बोध से विश्व-बोध तक की मानवीय सृजनात्मक प्रक्रिया "अहं" के मूल "मैं" के सहीतरीके से प्राप्त होने पर ही निर्भर होती है । अपने लिए अपने को जानना, बाह्य-जगत में अपनी स्थिति को पहचानना, अपने शरीर को काल-बोध के परिप्रेक्ष्य में पहचान कर उसके सांतत्व [=मृत्यु] को जानना तथा अपने से सम्बन्ध को द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक-जीवन-समर्थक [=वाम] बना पाना बिना "मेरा-मेरी" से "मैं" तक की यात्रा के संभव नहीं है ।[10]

में मानव-सभ्यता की तुलना में अधिक विकसित सभ्यता का पता लगा लें । यदि ऐसी सभ्यता का पता नहीं चलता है तो यही सिद्ध होगा कि सभ्यताएँ एक निश्चित सीमा तक प्रगति के बाद स्वयं को नष्ट कर देती है । मानव-सभ्यता की भी यही परिणति होगी है । पृ- 314.

ब. नार्मन ओ ब्राउन (Norman O. Brown) ने इस स्थिति को ही रेखांकित करते हुए कहा है - "Today even the survival of humanity is a utopian hope" (Life against death -P. 267)

5. तुलना कीजिए - " xxxx I how aim to destroy alienated language by using it against itself just as sex was invented to destroy sexual love , so language was invented to destroy communication . The strategy must be to use what destroys

मानव-विकास सम्बन्धी खोजों से पता चलता है कि चेतना बुनियादी रूप से एक सामाजिक अनुभव है । शिशु के लिए आवश्यक होता है कि वह दूसरों की स्थिति जानें क्योंकि उसे अपनी स्थिति जाननी है । साथ ही यह भी कि पहले अपने को "मैं" पहचान कर अलग करें ताकि "मैं" से इतर जगत [यह, वह - तुम - सब आदि] के संबंध स्पष्टतया बन सकें । कहा जा सकता है कि मानव का पहली बार अपने को "मैं" करके एकात्म स्थापित करना पूरी तरह से सामाजिक उत्पादन (Social Product) है । स्पष्ट है कि उपर्युक्त एकात्म की सामाजिक पृष्ठभूमि पहले से तैयार रहती है । वही पृष्ठ भूमि जहाँ व्यक्ति की समस्त चिंताओं को निर्धारित करती है, वहीं उसकी समस्त प्रसन्नताओं को भी । उसके [=प्रदत्त के] साथ लगातार एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया ही मनुष्य को "मनुष्य" बनाती है ।

जहाँ "अहं" की चेतना मानवीय होने की प्रारंभ-बिंदु है, वहीं असुरक्षा, हीनता आदि की भी ।[11]

---

us to destroy what destroys us so as to liberate quite specific zones of hope " (The grammer of living -David cooper, interoduction) ऐसी स्थिति में वाम सौंदर्य शास्त्र को एक निश्चित अर्थ में प्रति-सौंदर्यशास्त्र (Anti-Aesthetics) होना पड़ेगा ।

6- " The Philosophers have hitherto only interpreted The world . The point is , however , to change it " - "Collected works - Karl Marx, vol one -P. 15 ।

7. इस प्रसंग में एरिक फ्रॉम (Erich Fromm) द्वारा किया गया हिस्सेदारी से रहित आशावाद-निराशावाद का एक विवेचन याद किये जाने योग्य है । विवेचन इस प्रकार है - मानलीजिए में कहीं घूमने जानेवाला हूँ और यह शक है कि वहाँ का मौसम खराब हो सकता है तो मैं कह सकता हूँ कि "मैं आशावादी हूँ" किंतु मेरा अच्छा बीमार हो तो मैं आशावादी हूँ कहना किस कदर अजीब लगेगा क्योंकि यह कथन दूरी की अनुगूंज पैदा करेगा । न मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी यह पक्की मान्यता है कि मेरा बच्चा जीवित रहेगा । शायद मैं कहूँगा - "मुझे विश्वास है कि

आवश्यक है कि हम शैशवावस्था की वह स्थिति याद करें, जब शिशु अपने को माता (और पिता) के साथ एक करके देखता है। उनका दृष्टिकोण ही उसका दृष्टिकोण होने लगता है क्योंकि माता-पिता की प्रसन्नता उसके लिए प्रसन्न-सुरक्षा की प्रमाण होती है। कहा जा सकता है कि इस अर्थ में शिशु स्वयं कुछ होने से पहले अथवा दूसरे शब्दों में "मैं" होने से पहले, "माता-पिता" होता है। "माता-पिता उसके बोध से निरपेक्ष, समाज होते हैं, अत: वह "मैं" होने से पहले "समाज" होता है। इस प्रकार उसके विधि-निषेध, पसंदगी-नापसंदगी और प्रेम-घृणा की सामाजिक भूमि उसके "मैं" होने से पहले ही तैयार हो जाती है। उसका "मैं" "मैं" से इतर (Not-Me) (= समाज = माता + पिता) तत्वों द्वारा ही बुना जाता है।

सम्बन्ध-बोधके संदर्भ

उपर्युक्त संक्षिप्त विचार-सरणी के परिप्रेक्ष्य में यदि हम मनुष्य की यह परिभाषा ध्यान में रखें कि "मनुष्य चिंता से कतरानेवाला एक प्राणी है" (The anxiety- avoiding animal) तो सौंदर्य-बोध के सांस्कृतिक प्रशिक्षण सम्बन्धी हमारी मान्यताओं को पुष्टि प्राप्त होगी। "मैं" पर आया हुआ संकट ही चिंता का जनक होता है। यह संकट मुख्यत: अलगाव-बोध के चलते होता है। शिशु का "मैं" पूर्व व्यक्तित्व पूरी तरह से समाज (=माता+पिता) से एकमेक होता है। उसके पास माता-पिता के निरंतर अविच्छिन्न सम्पर्क और स्नेह के अतिरिक्त, अपने बचे रहने के लिए कोई और सम्बल नहीं होता।[12]

मेरा बच्चा जीवित रहेगा। "विश्वास" यद्यपि चुका हुआ शब्द लग सकता है लेकिन उसका स्थानापन्न कोई और शब्द नहीं हो सकता। क्योंकि "विश्वास" उस तीव्र इच्छा को व्यक्त करेगा कि बच्चा जीवित रहे। बच्चे के प्रसंग में मैं तटस्थ दर्शक नहीं रह सकता। मैं स्थिति का हिस्सा हूँ - मैं और मेरे प्रयत्न। मेरा विश्वास बच्चे से मेरे सम्बन्ध में निहित है। यह पूरी तरह से भागीदारी को सूचित करेगा। यद्यपि यह तभी सही होगा जब हम बौद्धिक विश्वास की बात करें।

बहुत पहले विलियम जेम्स ने डार्विन की खोजों के संदर्भ में यह जिज्ञासा रखी थी कि मानवीय विचार का पतला-आवरण (The thin mask that is human thought) कब तक सुरक्षित रह पायेगा ? जब हांस वेहींगर (Hams Vaihinger) ने सन् 1911 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The philosophy of As If ' लिखकर सारे मानवीय ज्ञान को उत्प्रेक्षा (= As If) का खेल दिखा दिया तो जैसे समझ की एक नयी [सही ?] राह खुल गयी । ऑडलर का मनोविज्ञान-शास्त्र जहाँ शिशु को चिंताभिमुख अवस्था का दिग्दर्शन कराता है, वहीं इस ओर भी संकेत करता है कि चिंता से मुक्त होने के लिए स्व-संकेतों का एक भाषिक संसार आवश्यक है । प्रतीकात्मक प्रक्षेपण ही व्यक्ति को हीनता-ग्रंथि से पराजित होने से बचाता है । नृतत्वशास्त्रियों द्वारा किये गये शोध ऐसी कई सांस्कृतिक जीवन-प्रणालियों का पता देते हैं कि किसी एक संस्कृति को सही और विशिष्ट कहना "पक्षपात" मालूम होने लगता है । यदि अस्तित्ववाद ने अपने दर्शन के माध्यम से यह चुनौती रखी है कि मानव जीवन का कोई भी अर्थ समयातीत और प्रदत्त नहीं हो सकता और अपनी स्वायत्तता में मानव-कर्म अल-बत्ता होते हैं तो यह बीसवीं शती की एक महती ज्ञान मीमांसात्मक समस्या है । अगर सार्त्र और काम्यू को नोबल पुरस्कार दिये जाते हैं तो एक अर्थ में, उनकी समस्याओं और उनके द्वारा बताये गये समाधानों की महत्ता को स्वीकार करना ही तो है कि सचमुच मनुष्यने ही इस संसार को अर्थ दिया है, देता रहता है और इसलिए अपने प्रत्येक कृत्य के लिए उत्तरदायी है ।

"बौद्धिक विश्वास" के पीछे परिस्थिति की पूरी जानकारी रहेगी जब कि "अबौद्धिक विश्वास" हमारी इच्छाओं पर आधारित एक भ्रम मात्र रहेगा ।

एरिक फ्रॉम ने इस विवेचन के निष्कर्ष-कथन में लिखा है -

" Optimism is an alieneated form of faith, pessimism an alieneated form of despair " (The Anatomy of Human distructiveness P. 436)

"मैं" बोध के साथ ही नैतिकता-बोध का आरंभ होता है, क्योंकि "वरण" (Choice) और कर्म(action) की स्वतंत्रता उसे जाने-अनजाने जीवन के उस अर्थ (meaning) से जोड़ देती है,जो उसी के द्वारा रचित होता है । अपने-आपको "मैं" के रूप में एक विषय(object) सा देखता हुआ वह इतर-जगत से सम्बन्धित होता है । सम्बन्ध-बोध और "मैं" बोध (I-sense) की पारस्परिकता ही जीवन-दृष्टि की नियामिका होती है । मार्टिन ब्यूबर (Martin Buber) का सम्बन्ध-विवेचन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक' I and Thou) में वे सर्वाधिक सार्थक और उचित सम्बन्ध "मैं-तुम" को बताते हैं । इससे पहले के तीन चरण "मैं-वह" (I -He) "मैं-यह"(I-IT) और "मैं-मैं"(I-I) अपर्याप्त होते हैं ।[8] प्रक्रिया की त्रुटियों की ओर संकेत करते हैं ।[13]

काल-बोध अगर मैं-बोध का परिणाम है तो दिक्-बोध भी । मनुष्य के लिए "बाहर" का अस्तित्व, मस्तिष्क और चित्त की सापेक्षता में ही संभव होता है । इस प्रकार दिक्-काल का मानवीय आयाम निस्संदेह सांस्कृतिक है और पूर्व-उद्धृत ब्यूबर के सम्बन्ध-चरणों को भी एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रशिक्षण के अंतर्गत समेटा जा सकता है । मै बोध की अगली कड़ी ही स्वत्व-बोध (Self- sense) है और सही-गलत, अच्छा-बुरा

प्रस्तुत शोध प्रसंग में हम उपर्युक्त विवेचन से यह नतीजा निकालना चाहेंगे कि हिस्सेदारी के बिना कोई भी कथन निरर्थक है । हिस्सेदारी में विश्वास एक जरूरी भावना है । इसलिए "सौंदर्य-बोध" अगर मात्र"चर्चा" नहीं है तो उसमें हिस्सेदारी और विश्वास दोनों ही तत्व रहेंगे । कोई भी सम्बन्ध बिना हिस्सेदारी के नहीं होता ।

8- " xxxxx a museum of conditioned reflex antiquities "
(The Brith death of meaning - by Ernest Baker -P. 20)

9. "अहं" वस्तुत: "मैं" का बोध है और यह ज्ञान है कि "मैं" "व्यवहार" का नियामक अथवा संचालक है । इस प्रकार अहं स्वयं को परिवेश में अलग अलग पाता है । बिना अहं के एक काल हीनता की स्थिति का सामना करना

अथवा सुंदर-असुंदर के लक्ष्य उस बोध से ही प्राप्त होते हैं । दूसरे शब्दों में "संस्कृति" ही "वरण की स्वतंत्रता" का निर्धारण करती है तथा वे विधान देती हैं, जिनसे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए मानव-कर्म अच्छे या बुरे होते है । जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात मनुष्य जो कुछ होता है, सांस्कृतिक प्रशिक्षण के कारण ही हो पाता है । यहाँ तक कि जैविक आवश्यकताओं को भी निर्णायक रूप में प्रभावित करना, सांस्कृतिक प्रशिक्षण के क्षेत्र में आता है ।

जब शिशु पहली बार बाहरी जगत से संतुष्टि पाता है तो वस्तुत: वह अपने माता-पिता से स्वयं को एक करके देख रहा होता है । उसके सम्मुख सर्वशक्तिमान (Omnipotent) के रूप में माता-पिता कुछ इस प्रकार उपस्थित रहते हैं कि वह पूर्णरूपेण उन पर निर्भर होता है । सुरक्षा और सहायता के वे ही स्रोत होते हैं और प्रकारांतर से आत्म-गौरव (self-esteem) के दाता भी वे ही होते हैं । ओटो फेनिशेल (Otto Fenichel) ने स्नायु रोगों (neuorosis) के स्रोतों का अध्ययन करते हुए लिखा ही है कि "संसार से पहली बार संतोष की प्राप्ति, जो पुष्टि-दायक होती है,

---

होता है और मानवेतर प्राणी = पशु, इसीलिए काल-हीन होते हैं । संवेदना परक जगत में अपने को उचित ढंग से स्थित देखपाना उनके लिए असंभव होता है । केवल मनुष्य ही "मृत्यु" जानता है और इसके लिए वह "अहं" का ऋणी है । आज से कल को अलग करके देखपाना किसी पशु के लिए संभव नहीं है, इसलिए उनका संसार मात्र प्रवाहशील संवेदनाओं का पर्याय होता है । अस्तित्व वादियों का मृत्यु को महत्व देना इसलिए भी उल्लेखनीय हो सकता है कि सिर्फ मनुष्य ही "मृत्यु" जानता है क्योंकि प्राणी-जगत में अकेला वही "अहं-युक्त" होता है । (विस्तार के लिए देखिए - The Birth and death of meaning - Ernest Baker - P. 23 to 30)

काल-बोध के प्रसंग में मनुष्य को पशु से अलग ऐतरेय ब्राह्मण ने भी किया है । भविष्य के प्रति सक्रिय रुझान और अतीत की स्मृति - "उसे पशु से श्रेष्ठ" ठहराती है । - ऐतरेय ब्राह्मण - पृ-

आत्म गौरव को भी साथ ही साथ पहली बार नियत या निर्धारित करती हैं ।"[14] यद्यपि यह कुछ अतिरिक्त कथन प्रतीत होता है परंतु प्रस्तुत शोध प्रसंग के संदर्भ में हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि आत्म-गौरव भले ही किसी सीमा तक पश्चात्-वय (Latter-age) में प्राप्त होता हो किंतु पर्यावरण के साथ समंजन के प्रयास में जो अपनी कार्यकारी शक्तियों का बोध होता है, वह जीवन-पर्यंत निर्णायक रूप से प्रभावशाली रहता है । यह कहना अनुचित न होगा कि आत्म-गौरव, आत्म-तंत्र (Self- system) का अनिवार्य अंग होता है । इस प्रसंग में प्रतीकात्मक-विधान को मनुष्य के लिए सर्वोपरि महत्व देने वाले विचारकों के मंतव्य स्वयमेव महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाते हैं । चाहे अंर्स्ट के सिरर हो या सूसान के लैंगर । इन विचारकों ने बलाघात पूर्वक कहा है कि "मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो अपनी मूल्यवत्ता के लिए प्रतीकात्मक विधान का आयोजन करता है ।"[15]

सौंदर्य-बोध : एक सामाजिक - सांस्कृतिक प्रशिक्षण

कहना न होगा कि कई-कई अनुशासनों को छूने की चेष्टा करता हुआ उपर्युक्त विवेचन, प्रस्तुत शोध प्रसंग में, इतना कहने का आधार तो देता ही है कि व्यक्ति का सब कुछ समाज द्वारा प्रशिक्षित होता है । मूल्य-बोध, सम्बन्ध-बोध या सौंदर्य-बोध से पूर्व की स्थितियों में बोध और अहं बोध भी जब पूरी तरह से समाज (=माता-पिता अथवा अभिभावक) द्वारा नियंत्रित होता है तो व्यक्ति का जीवन अपने महत्व-बोध, लक्ष्य बोध और इनके विपरीत प्रसंगों में भी निश्चित ही उसीसे नियंत्रित होगा ।

---

10 . " Man is the only animal - in the universe for all we knows - who sees himself as an object " Ernest Becker वही पृ-32 । यह "जानना" बाहर की अपेक्षा में ही संभव है । दूसरे शब्दों में, अहं और ~~विधर्षित-क्लेश~~ उसके बोध को भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति ही निर्धारित करती है ।

मनुष्य जिस बिंदु पर पशु से पृथक् होता है, वह बिंदु और पश्चात्-वर्ती समूची प्रक्रियाएँ सामाजिक प्रशिक्षण का हिस्सा होती हैं । में, अहं, काल-बोध आदि सामाजिकता के परिणाम हैं । यदि मनुष्य अनिवार्यतया सामाजिक होता है तो अनिवार्यतया सृजनात्मक भी । जब अलेक्सांद्र बुरोव कहते हैं - "केवल सामाजिक व्यक्ति में सृजन-क्षमता होती है ।"[16] तो कहीं गहरे में सृजन को अनिवार्यतया सामाजिक भी सिद्ध कर रहे होते हैं । प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत भी अब तक जो मनोविश्लेषण और नृतत्वशास्त्र की किंचित चर्चा का सहारा लेकर विवेचन किया गया है, वह भी यही सिद्ध करता है । अपने को जीवित समझना और काल-बोध के सहारे मृत्यु को जानना मनुष्य को जीवन के प्रति प्रेमोन्मुख बनाता है और उसके सारे कार्य-कलापों की व्याख्या करता है । सौंदर्यशास्त्र सम्बन्धी कोई भी मान्यता निरर्थक ही सिद्ध होगी, यदि उसमें यह ध्यान नहीं रखा जायेगा कि मनुष्य के लिए प्रथम और अंतिम "जीवन" है, ठोस और गहरे अर्थों में । जीवन जो चूंकि मनुष्य का है, अत: अनिवार्यतया सामाजिक, काल-बोध संपन्न और स्व-बोध से युक्त है । यदि मूल्य-जगत की बुनियाद में जिजीविषा [=जैवमूल्य] है तो सौंदर्य-मूल्य की बुनियाद भी वही होगी ।

रमेश कुंतल मेघ का साक्ष्य और तत्सम्बन्धी विमर्श

उपर्युक्त विवेचन तथा उससे प्राप्त निष्कर्षों को और अधिक ग्राह्य बनाया जा सकता है अगर हम हिन्दी-जगत के एक ऐसे विचारक को अपने पक्ष में उद्धृत करें जो "सौंदर्य" पर विचार करते हुए पूरी तरह भागीदार

---

11. आडलर (Adler) का एक अपेक्षाकृत लंबा उद्धरण यहाँ इस विचार को स्पष्ट करने के लिए सहायक होगा - " Man would necessarilly have sucumbed before the assult of the powers of nature if he had not employed them to his advantage ; - - - climitic conditions compel him to project himself from the cold by clothes which he takes from animals better protected than he is. His organism requires artificial housing and artificial

(involve) रहे हैं और अद्यतन शोधों का पूरा उपयोग करते रहे हैं। हमारा संकेत डा० रमेश कुंतल मेघ की ओर है। वे जब कहते हैं - "सौंदर्य मूल्य-अहं-वातावरण के सम्बन्धों में (ego - environmental relation) स्थित है। "तो प्रकारांतर से हमारे अब तक के विवेचन को पुष्टि मिलती है। अहं के दो भेद करते हुए वे जैविक और सामाजिक की पारस्परिक अंतर्क्रियाओं को इस सम्बंध [अहं-वातावरण] का संचालक मानते हैं।[17] कहना न होगा कि डा० मेघ की यह मान्यता अपने आप में पर्याप्त सुविचारित तथा सौंदर्य-शास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

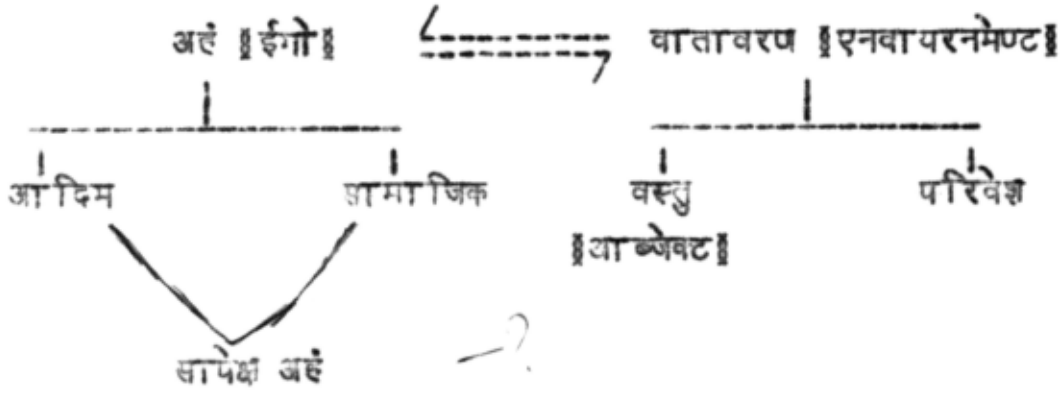

---

preparation of food. xxxx His organs and his mind toil continually for conquest and security. To all this have to be added his greater knowledge of life's dangers and his awareness of death. Who can seriously doubt that the human individual treated by nature in such a stepmother fashion has been provided with the blessing of a strong feeling of inferiority that urges him toward aplus situation, Towards security and conquest ? This tremendous, enforced rebellion against a Tenacious feeling of inferiority as the foundation of human development in awakened afresh and repeated in every infant and little Child'. (Quoted in The Birth and Death of Meaning - P. 35 Ernest Baker).

डॉ० मेघ का "जैविक" भी पाशविक-जैविक नहीं है बल्कि मानवीय जैविक है क्योंकि सामाजिक है । यहाँ प्रासंगिक ही नहीं बल्कि आवश्यक है कि हम मार्क्स द्वारा विवेचित "मानवीय" तथा "पाशविक" का अंतर पुनः स्मरण करें । अलगाव (alienation) के परिप्रेक्ष्य में कामगार (worker) पर विचार करते हुए मार्क्स ने बतलाया है कि यदि अलग-थलग और अमूर्त रूप में देखा जाय तो खाना-पीना-प्रजनन जैसी जैविक क्रियाएँ पाशविक कही जायेगी (डॉ मेघ के शब्दों में आदिम अहं की प्राथमिक अनुप्रेरणाएँ) लेकिन इतर मानवीय जगत से जोड़कर ठोस रूप में देखें तो वे निश्चित ही मानवीय हैं यद्यपि उन्हें जैविक या आदिम अहं की अनुप्रेरणाएँ कहा जा सकता है । हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि उन्हें "सामाजिक" से अलग करके नहीं देखा जा सकता । अपने आपको शोषित-श्रेणी में अनुभव करता हुआ कामगार धीरे-धीरे मानवीय से पाशविक होने चले जाने के लिए बाध्य होता है ।[18] यह अलगाव की स्थिति होती है । जिस विशेष समय में हम इस सौंदर्य-चर्चा में संलग्न हुए हैं, उसमें अलगाव-चर्चा लगभग युग चर्चा का पर्याय है । कौन ऐसा व्यक्ति है, जो अलगाव से पीड़ित नहीं है ? परिणामतः अमानवीकरण के लिए अभिशप्त व्यक्तियों के समाज में सौंदर्य-बोध की जैसी भी स्थिति होगी, वही हमारे लिए प्रतिपादन और विवेचन का विषय बन कर प्रस्तुत होगी ।

"सुरक्षा" की यह आवश्यकता ही निश्चित रूप से तौर पर सौंदर्य-बोध के मूल में निर्णायक रूप से सक्रिय होती है ।

12. चिंता, पहले मृत्यु की और फिर "नष्ट हो जाने" की ; मात्र स्नेह द्वारा ही शमित हो सकती है । मनुष्य की अपेक्षाकृत लम्बी शैशवावस्था ही उसके मनुष्य होने के मूल में है कि "मैं" बोध से संपन्न होना और साथ ही अपनी कालबद्धता को पहचानना, बिना समाज के संभव नहीं होता । अगर कहा जाय कि "मैं" होता ही इसलिए है कि समाज है (अपने सारे रूपों में) तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । "मैं" बोध मस्तिष्क के चलते नहीं प्राप्त होता, वह मस्तिष्क से चित्त (Brain to mind) तक की मानवीय यात्रा की उपलब्धि है । सूसान के. लैंगर (Susanne K. Langer) ने मस्तिष्क

हम देख चुके हैं कि हमारा मैं-बोध और अहं-बोध सापेक्ष हैं । सौंदर्यानुभव करता हुआ अहं वस्तुत: वस्तु-जगत से जुड़ता है अर्थात् किसी "वस्तु" में सौंदर्य की "प्रतिष्ठा" करता है । सौंदर्य "वस्तु में होता नहीं है बल्कि हमारे द्वारा "प्रतिष्ठित" किया जाता है । यह प्रतिष्ठित किया जाना देश-काल और व्यक्ति-विशेष के प्रभाव में ही संभव होता है । रमेश कुंतल मेघ ने इसीलिए बल देकर कहा है कि - " × × × सौंदर्य प्रभाव (अनुभवादि) की विशिष्टता है ।[19] सामाजिक-सांस्कृतिक सापेक्षता में ही सौंदर्यानुभव की स्थिति है । जिस अर्थ में डा० मेघ "सामाजिक स्व" पद का उपयोग करते हैं, हमारे प्रस्तुत शोध-प्रसंग के अंतर्गत उसका विकास हम "मैं-बोध" (और उससे भी पूर्व) से देखना चाहेंगे । हम बार-बार बलाघात-पूर्वक कह चुके हैं कि यह विकास पूरी तरह से सामाजिक है और संस्कृतिगत विशिष्टता द्वारा प्रशिक्षित होता हुआ ही संभव होता है ।[20]

जब मैं-बोध भी समाज-प्रदत्त अथवा सामाजिक-प्रशिक्षण का परिणाम होता है तो सौंदर्य मूल्यों (मूल्य मात्र प्रथमत: बोध का विषय होते हैं) का प्रेक्षणीय होना और सराहेदारी में ही सार्थक होना स्वत: सिद्ध है । डॉ० मेघ के शब्दों में - "सौंदर्य से पूर्ण तो वस्तु (=कलाकृति) है किंतु उसको सौंदर्य प्रदान करने वाले तथा उसकी रचना करने वाले हम मानव हैं - कलाकार तथा निरीक्षक या आशंसक के रूप में । इसलिए सौंदर्यात्मक मूल्य प्रेक्षणीय तथा सराहे योग्य है ।[21]

बनाम चित्त (Brain versus Mind) की इस दार्शनिक समस्या पर कुछ यों टिप्पणी की है - " The brain with all its extensions in the organ of animal mentality, and it is of course, an epoch making development in that organ that raises human mentality to the status properly called mind" (Philosophical Sketchs P.12)

"मैं" "अहं" और चिंता के सम्बन्ध में इस सारी उलापोह का उद्देश्य यही यह है कि "सौंदर्य-बोध" चूंकि "बोध" के बिना अस्तित्व ही नहीं रखता और "बोध" की प्राथमिक और बुनियादी स्थिति "मैं-बोध" की है ; अत:

इस प्रकार प्रेक्षणीयता और साझेदारी के आधार पर एक ऐसा सम्बन्ध निर्धारित होता है, जो पूरी तरह से सौंदर्य-मूल्यों के क्षेत्र के अंतर्गत आता है । डा० मेघ ने इस सम्बन्ध को दर्शाने के लिए एक चित्र का सहारा इस प्रकार लिया है --[22]

कलाकार ------ कलाकृति ------ निरीक्षक

प्रेक्षणीयता

साझा

(सारूप्यात्मक मूल्य)

चित्र-2

"मैं-बोध" की संरचना को समझना सौंदर्य-बोध को व्याख्यायित करने के लिए एक आवश्यक शर्त है । समाज, जो निश्चित ही माता-पिता अथवा अभिभावक के माध्यम से ही "मैं-बोध" की रचना-प्रक्रिया का सूत्रधार होता है ; अनिवार्यतया सौंदर्यबोध पर भी निर्णायक प्रभाव डालेगा । मैं बोध द्वारा उत्पन्न चिंताएँ और उनसे निवारण के उपाय के रूप में ही "संस्कृति" पनपती है और इस अर्थ में, वह बुनियाद में ही भाषिक-मनोशास्त्रीय (Linguistic psychological) संसार होगी, जो पूरी तरह से दूसरों से (मैं से इतर = (Not me)) प्राप्त शिक्षा पर आधारित होगी । इस प्रकार "मैं" बोध के साथ ही उपजी चिंताएँ (मृत्यु-सम्बन्धी, अलगाव सम्बन्धी आदि) और उनसे बचाने के लिए कर्म-काण्ड (rituals) से लेकर सौंदर्य अनुभव तक अपने प्राथमिक रूप में प्रशिक्षण का परिणाम होते है । यह प्रशिक्षण प्रतीक-केन्द्रित होता है और अल्फ्रेड ऑडलर का "हीनता-ग्रंथि" से मुक्त होने का सारा मनोवैज्ञानिक दर्शन इसी तथ्य पर आधारित है ।

यह एक निर्विवाद रूप से स्वीकृत तथ्य है कि सौंदर्य-मूल्य व्यक्ति की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं की अनुकूलता पर निर्भर है । जितनी तीव्र वे संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ होंगी, उतना ही सौंदर्यमूल्य महत्तर होता चला जायेगा । दिनचर्या के दौरान उत्पन्न इंद्रियों के उद्वेलन अपने आप में सुखदायी भले ही हो किंतु सौंदर्यबोध के संदर्भ में मात्र पहले सोपान की भूमिका ही निभाते हैं । यह सच है और यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सौंदर्यबोध मूलत: इन्द्रियबोध है किंतु हमारा यह कथन "मूलत:" शब्द के प्रयोग द्वारा, इस ओर भी संकेत करता है कि इंद्रियबोध और सौंदर्य-बोध एक ही नहीं है । इंद्रियबोध के प्रशिक्षण की चर्चा जहाँ शुरू होती है, सौंदर्यबोध का क्षेत्र भी वहीं शुरू होता है । जिस सीमा तक इंद्रिय-बोध का प्रशिक्षण हो पायेगा, उसी सीमा तक निरीक्षक अथवा आशंसकर्ता कलावस्तु से सुख प्राप्त कर सकेगा ।[23] स्पष्ट ही यह प्रशिक्षण सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही संभव हो पाता है और उसी की सापेक्षता में स्तर-भेद से युक्त होता है । यदि आज KITSCH का दौर है और इन्द्रिय बोध के स्तर पर व्यक्ति विकृतीकरण का शिकार हो रहा है तो सौंदर्य-चर्चा के प्रस्तुत शोध-प्रसंग में, वाम-दृष्टि की आवश्यकता को प्रतिपादित करना मात्र शोध-गत विवशता नहीं है बल्कि शोध के मानवीय पक्षधर बने रहने की

---

13. I and thou P. डेविड कूपर की प्रसिद्ध उक्ति इस प्रसंग में प्रासंगिक होगी - 'All relationships are Therapy or They are voilence.' (The grammar of Living P.74)

पूर्व में हमने सौंदर्य-बोध को मूलत: सम्बन्ध-बोध निरूपित किया है । संबंध बोध एक प्रशिक्षण है, जो मैं-बोध के नियामक-समाज द्वारा प्रदत्त होता है । माता-पिता (=परिवार) एक बिचौलिए की भूमिका निभाते हैं । समाज - मनोविज्ञान की गहराई में गये बग़ैर भी हम कहना चाहेंगे कि व्यक्ति को अनुकूलित (conditioned) करने का सबसे अच्छा साधन सत्तावर्ग (ruling class) के पास परिवार होता है । व्यवस्था के मुताबिक किसी भूमिका के लिए व्यक्ति को ठोक-पीट कर तैयार करना ही उसका उद्देश्य

चेष्टा का प्रमाण है । इससे पूर्व कि हम (Kitsch) की चर्चा करते हुए सौंदर्य-बोध के अवमूल्यनकारी वर्तमान की पड़ताल करें और बतायें कि वाम-दृष्टि उसके प्रति कैसी नीति किस तरह अपनाये, हम यह प्रयत्न करना चाहेंगे कि इंद्रिय-बोध की विशिष्ट चर्चा हो और आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा का सौंदर्य-शास्त्रीय दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन हो ।

इन्द्रियाँ और इंद्रिय-बोध

प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत पूर्व में ही कहा जा चुका है कि "आज का मनुष्य अपने अद्यतन अस्तित्व संघर्ष की ही देन है ।" तथा मार्क्स का यह कथन भी हमने उद्धृत किया है कि "(The forming of the five senses is a labour of the entire history of the world down to the present)"[24] इसके साथ ही इंद्रियों के "मानवीय" बनने की प्रक्रिया को भी रेखांकित किया गया था । युवा मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में इस ओर संकेत किया था । पूर्व में विवेचित "प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध" और "देह केन्द्रित" होना भी वाम-दृष्टि के संदर्भ में इंद्रिय-बोध को महत्वपूर्ण बनाता है । आवश्यक है कि यहाँ किंचित विस्तार से चर्चा हो ।

होता है । डेविड कूपर के कुछ निष्कर्षात्मक कथन यहाँ उपयोगी होंगे -
"The family generates a conflict between the active reality of a person and the conditioned passivity of this role-complex.' xxxx alinated use of The family in bourgeois Society. x x x x The original family is the property family long before the bourgeois family - The family in which woman become the property of men, children become the property of women and men and all became the property of the slave-masters, of feudal barons and clergy and then of the capitalist military-industrial complexes." P.14-20

यह एक मान्य तथ्य है कि इंद्रिय-संवेदी-संसार प्रदत्त नहीं होता । वह मानवीय-प्रतिरोध के द्वारा निर्मित होता है । मानव के पृथ्वी पर पदार्पण के साथ ही वह निसर्ग अब नहीं रहा, जो पूर्व में था ।[25] अब जो भी निसर्ग के नाम पर प्राप्त होता है, वह मनुष्य ने ही "सौंदर्यात्मक नियमों के अनुसार रचा" है ।मार्क्स। यहाँ जिन इंद्रियों की चर्चा हमें करनी है, वे भी मानव-पूर्व और प्रकृति प्रदत्त न होकर रची हुई है । वस्तुत: बाहर के वस्तु-जगत की निरंतर परिवर्तनशीलता और इसलिए सनातन अनिश्चय के सम्मुख अपने आपको असहाय और संकटग्रस्त पाते हुए मनुष्य का अपने को प्रकृति के और प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने की सतत् चेष्टा का परिणाम ही "इंद्रियाँ" हैं । स्पष्ट हो यह कहा जा सकता है कि - "वह तंत्रिकीय बिंदु ।स्नायविक या नर्वस। जो प्रकाश के प्रति संवेदनशील रहा, अंत में आँख बन गया ।" अस्तित्व-संघर्ष में इस अंग की उपयोगिता निसंदिग्ध है । ये पदार्थ जो पहुँच से परे होते हैं और स्पर्श की सीमा में आ ही नहीं

निश्चित ही अगर सौंदर्य-बोध के क्षेत्र में अधिकारी-भावना (possessiveness) प्रवेश कर गयी हो और भाववादी सौंदर्यशास्त्र में उसकी गूँज-अनुगूँज सुनायी देती हो तो मार्क्स का एक कथन स्मरण होता है - "Capitalism has made us so stupid and onesided that objects exists for us only if we can possess them or if they have utility." Quoted in Norman O Brown 's Life against death P.211).

14. 'The first supply of satisfaction from the external world, the supply of nourishment, is simultaneously the first regulation of self-exteem." The psychoanalytic Theory of Neurosis. P.402

संतोष बोध, जो मूलत: एक अनुकूल अथवा प्रसन्न सम्बन्धबोध है ; निश्चित ही सौंदर्य-बोध का पूर्ववर्ती चरण माना जा सकता है ।

15. इन विचारकों के मंतव्यों को अन्स्ट बेकर (Ernest Baker) ने इस तरह अपने शब्दों में व्यक्त किया है - "Man is the only animal

सकते, उनकी अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति का अनुमान लगाने की सामर्थ्य यह "आँख" नामक अंग ही देता है । सौंदर्य-बोध के संदर्भ में दूसरा मानवीय अंग "कान" है । यदि रंग,अनुपात आदि का अनुमान "आँख" के आधार पर होता है तो "कान" ही "नाद-बोध" का साधन है । यह अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य-बनते हुए प्राणी को जिस प्रदत्त नैसर्गिक वातावरण में रहना पड़ता था ; उसमें आशंकाओं और भयदायी रहस्य-मयताओं का बोलबाला था ; तब आसन्न संकटों और छुटकारे की पूर्व सूचना देने की जद्दोजेहद में यह "कान" नामक अंग विकसित हुआ ।

स्पर्श, गंध और स्वाद-शक्ति का सीधा-सीधा सम्बन्ध सौंदर्य-शास्त्र से नहीं जुड़ता किंतु स्वस्थ मानव शरीर के ये भी महत्वपूर्ण घटक हैं । अहितकारिता अथवा संकट की चेतावनी में "नाक" नामक अंग की भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । "जीभ" नामक अंग भी विष अथवा अन्य हानि-कारक भोज्य-वस्तुओं तथा पुष्टिकारक खाद्य का अंतर-विवेक सिखाता है । स्पर्श-बोध बुनियादी बोध है । इरविन एडमेन के अनुसार इसका - "प्रारंभ भी स्वरक्षात्मक और प्रजननात्मक वृत्तियों से सम्बद्ध नज़दीकी और तात्कालिक ग्रहणशीलता के रूप में हुआ"।[26]

---

who needs a symbolic constitution of his xxx worth.' The Birth and Death of meaning - P.80.

16. अलेक्सांद्र बुरोव का यह एक लंबा उद्धरण है । डा० रमेश कुंतल मेघ ने इसे अपनी एक महत्वपूर्ण पुस्तक "सौंदर्यमूल्य और मूल्यांकन" में उद्धृत किया है । पूरा उद्धरण इस प्रकार है - "यह सामान्य "ऐसा कुछ" है क्या ? मनुष्य के लिए सबसे प्रिय वस्तु और उसी के साथ साथ सारी वस्तुओं में सबसे सामान्य प्रिय वस्तु तो जीवन ही है । जो वस्तु अपने विभिन्न रूपों द्वारा हमें जीवन की पूर्णता का प्रदर्शन करती है अथवा स्मरण दिलाती है, वही सुंदर है । इसीलिए समाकृति, अनुपात, रंग, विभिन्न अंगों का समतयत्व और सम्बन्ध आदि स्वयं अपने कारण महत्वपूर्ण नहीं है किंतु वे संक्षेप में प्रस्तुत वस्तु का

प्राकृतिक वातावरण को मनुष्य का मित्र मानलेने का कोई कारण नहीं है, यह प्रस्तुत शोध प्रसंग में पहले ही लिखा जा चुका है। अनिश्चय और संकटदायी होने के साथ-साथ प्रतिकूलताएँ और मानव-विरोधिनी शक्तियाँ भी प्राकृतिक वातावरण में बहुतायत से रहती है। स्व [मैं + अहं] को उनके अनुकूल बनाना अथवा उन्हें अपने मन-मुताबिक, ढालना ही जीवन-संघर्ष का उद्देश्य है। इसी "अनुकूल" के भाव-प्रत्यय में शुभ-बोध > आनंदबोध और सौंदर्य-बोध बीज रूप में निहित होते हैं। दूसरे शब्दों में सौंदर्य-बोध के प्रत्यय में "अनुकूलता" और "समंजन" के प्रत्यय तो अनिवार्य रूप से जुड़ते हैं। "अनुकूल" और "समंजन" के साथ "सुंदर" को भी एकीकृत करके देखा जा सकता है। सार रूप में कहा जाय तो "सुंदर" की माध्यम ललित कलाओं का मुख्य सम्बन्ध मात्र दो ज्ञानेन्द्रियों - आँख और कान से ही रहा तो कोई गलत नहीं होगा। यों स्वाद, गंध और स्पर्श को दृष्टि और श्रवण से सर्वथा पृथक् करके देखने की सिफ़ारिश हम नहीं कर रहे हैं। यह सच है कि आँख और कान, सौंदर्य-बोध के प्रमुख माध्यम हैं और इन माध्यमों के आधार पर मस्तिष्क का सम्बन्ध भी सौंदर्यबोध से घनिष्ठ रूप से हैं किंतु स्वादेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय भी अनुकूलता-प्रतिकूलता के माध्यम हैं और आँख और कान से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। जीव-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि मस्तिष्क का विकास इन्द्रिय

प्रकाशन करते हैं। - - - एक सर्जक स्वयं अपने ही मानवीय तत्व को, या कहा जाय कि अस उस तत्व को प्रचुर और अत्यंत विकसित अथवा क्षीणतर धारणाओं को प्रदर्शित करता है या उनको मूर्तरूप देता है। वह स्वयं अपने विकास के स्तर को तथा मनुष्य के महत्व की अपनी ऐतिहासिक और ठोस समझ, मनुष्य और मनुष्यता के अपने आदर्श दोनों को ही प्रदर्शित करता है। यहाँ पर यह समझलेना चाहिए कि केवल सामाजिक व्यक्ति में सृजन-क्षमता होती है।" पृ- 67 पर उद्धृत।

17. मनुष्य का एक तो बर्बर या जैविक या आदिम अहं होता है जो अपरिष्कृत, मूल प्रवृत्तिमूलक और नैसर्गिक है; दूसरा संस्कृत या सामाजिक

बोध के विकास की परवर्ती घटना है । मनुष्य के पूरे चेहरे की बनावट और उसके अंतर्गत इंद्रियों और मस्तिष्क की संरचना की पृष्ठभूमि में प्रदत्त प्रकृति (वह स्वयं तथा वस्तु-जगत) के प्रति प्रतिरोध (=अस्तित्व-संघर्ष और जिजीविषा) की देन है ।[27] स्पष्ट है कि यदि मस्तिष्क और इंद्रियाँ जिजीविषा की प्रमाण है तो इंद्रिय-बोध > सौंदर्यबोध के जिजीविषात्मक आधार को निरस्त कदापि नहीं किया जा सकता । इस प्रकार सम्पूर्ण सांस्कृतिक-बोध की बुनियाद अस्तित्व-संघर्ष है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि यांत्रिक समझ या सरलीकरण की प्रवृत्ति से "अस्तित्व-संघर्ष" का अर्थ सीधे-सीधे, स्थूल रूप में, देह-रक्षा या प्राण-रक्षा से जोड़ा जा सकता है । यह साफ़-साफ़ गलत होगा क्योंकि जो भी मूल्य-श्रेणी कोई व्यक्ति अपने तईं निर्धारित करें (अथवा उसे प्रदत्त हो) उसमें चरम-मूल्य (absolute value) के लिए प्राण विसर्जित किये जा सकते हैं बशर्ते "प्राण रक्षा" ही चरम मूल्य के पद पर आसीन न हो ।

अहं होता है जो बिना वर्जनाओं के अस्तित्व भी नहीं रख सकता और अति-निषेधों से निर्जीव (शव), निस्पंद, प्रभाहीन-सा हो जाता है । पहला अहं जैविक (बायोलाजिकल) तथा दूसरा सामाजिक (सोशल) घटकों से लिप्त रहता है । इन दोनों की आपसी प्रक्रियाओं के फलस्वरूप एक दिशा में क्रियात्मकता होती है, तो दूसरी दिशा में निषेध या वर्जना । उनका अंतस्संमिश्रण भी होता है । पहली दिशा की अनुप्रेरणाएँ (मोटिवेशन्स) प्राथमिक हैं, जिनका सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकताओं तथा जीवंत तनावों से है, दूसरी दिशा की द्वितीयक हैं, जिनका सम्बन्ध सामाजिक निश्चयकों से होता है और जो मूल्यों में वास करके प्रौढ़ होते हैं । इस प्रकार हमारे आदिम तथा सामाजिक अहं का आपसी द्वंद्व तथा वस्तु और वातावरण का दूसरा द्वंद्व इस संबंध को संचालित करते हैं ।" - सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन - रमेश कुंतल मेघ - पृ-62-63.

हमारे विवेचन के अनुसार आदिम अहं भी एक गहरे अर्थ में सामाजिक

वस्तुत: सौंदर्य-बोध के क्षेत्र में इंद्रियों और मस्तिष्क का बुनियादी योगदान तो होता ही है किंतु बहुत कुछ ऐसा होता है जो अव्याख्येय ही रहता है । मानव जीवन की जड़ें परोक्ष कारणों में, रक्त-प्रवाह की स्थिति, ऊतकों का बढ़ना-घटना आदि को गिनाया जा सकता है, जो यों तो प्रत्यक्ष नहीं होते किंतु जिनमें अगर त्रुटि हो जाय तो चेतना [=सौंदर्य-चेतना] निर्णायक रूप से प्रभावित होती है ।[28] वस्तुत: शरीर के स्वास्थ्य के लिए जो जरूरी है, वह "बोध" के लिए भी महत्वपूर्ण है । आनंद-बोध के साथ शरीर का स्वास्थ्य अनिवार्य रूप से संबद्ध है । हमारी श्रम-पूर्ण दिन चर्या और अवकाश के साथ शारीरिक स्वास्थ्य एक बुनियादी शर्त की भूमिका निभाता है । हमारी वह अतिरिक्त ऊर्जा, जो क्रीड़ा, कला और कल्पनाशीलता की ईंधन होती है, निश्चित ही शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है । सांतायना ने एक रोचक उदाहरण इस बारे में दिया है । उसने उन्मीलन और दिवा-स्वप्न की चर्चा की है । बाहरी

ही होता है क्यों कि अगर "मैं" और "अहं" बोधात्मक स्तर पर सक्रिय होते हैं तो समाज [माता-पिता और भाषा के माध्यम से] ही उनका संदर्भक होता है । उपर्युक्त चित्र-1 में दर्शित द्वंद्व भी हमारे विवेचन के विरुद्ध नहीं जाता ।

18. " xxx man (the worker) only feels himself freely active in his animal functions - eating, drinking, procreating, or at most in his dwelling and in dressing-up etc., and in his human functions he no longer feels himself to be any thing but an animal. What is animal becomes human and what is human becomes animal.

Certainly eating, drinking, procreating, etc., are also genuinely human functions. But Kamken abstractly, reported from the sphere of all other human activity and turned into sole and ultimate ends, they are animal functions." Economic and philosphic Manuscripts of 1844, Marx P.71)

रूप से उनींदापन इंद्रियों पर छाता है और चेतना की ग्राहिका शक्ति सुप्त-सी हो जाती है किंतु इसी स्थिति में, अनंतर कुछ ऐसे दिवास्वप्नी बिम्ब भी दिखायी दे सकते है, जो "कला-रचना" के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। अतियथार्थवादी आंदोलन की कुछ महत्वपूर्ण कला-सृष्टियाँ उसी उनींदेपन और दिवास्वप्न से उपजी है।[29] विस्तार में न जाते हुए हम कह सकते है कि शरीर की स्वास्थ्य-विषयक स्थिति का बोधात्मक स्तर पर बड़ा महत्व है। प्रथम अध्याय में विवेचित "देह-केन्द्रित" दृष्टि की भी यहाँ प्रासंगिकता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

देह्वी राजनीति और सौंदर्यशास्त्र

कहना न होगा कि इस चर्चा में "योन" भावनापर विचार किये बिना हम किसी परिणाम पर नहीं पहुँच पायेंगे। स्पष्ट है कि यदि प्रकृति प्रजनन-प्रक्रिया को बिना योन-गत विभेद किये, बिना स्त्री-पुरुष की रचना किये किसी प्रकार पूरा कर लेती तो आज मानव का आवेगात्मक जीवन पूरी तरह से अलग होता। योन-भावना निश्चित ही सौंदर्य-बोध पर गहरा और निर्णायक प्रभाव डालती है। योन-गत भेद चेतना के चरित्र को प्रभावित करते हैं। विशेषत: स्त्रियाँ तो अपने स्त्रीत्व-बोध से अपने आवेगात्मक ताने-

---

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दूसरे मानवों से जुड़ना अथवा साथ का जीवन ही मानवीय होता है और कटाव ही पशुता [=अमानवीकरण] की ओर ले जाता है।

19. डॉ० मेघ के अनुसार अहं [जैविक-सामाजिक] और वातावरण के द्वंद्वों के फलस्वरूप सुंदर वस्तु [=कलाकृति] और उसका सामाजिक परिवेश बदलता चलता है --"सौंदर्य वस्तु में स्थित [निहित नहीं] है क्योंकि हम नहीं अपितु वस्तु सुंदर है। सौंदर्य वस्तुगत है हमसे [हमसे बाहर है]" - सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन पृ-63.

20. --वही--

21. --वही--

बाने को पूरी तरह से गूंथ देती है । इस चर्चा का यह तात्पर्य कतई नहीं है कि स्त्री और पुरुष की सौंदर्यरुचियों में हम कोई मूलभूत भिन्नता देखते हैं बल्कि हमारे कहने का तात्पर्य मात्र यह है कि रुचियों की पृष्ठभूमि में सक्रिय आवेग निस्संदेह यौन से प्रभावित होते हैं । यौन(Sex) जहाँ पाशविकता से मानवीयता के क्षेत्र में प्रवेश करता है, वहाँ आवेग ही उसकी मानवीयता को निर्धारित करते हैं । यौन(Sex) से प्रेम तक की यात्रा पशु से मानव तक की यात्रा है । प्रेम-भावना में यौन-गत भेद ‡स्त्री या पुरुष होना‡ महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और "अनन्यता" का प्रत्यय उस भूमिका के महत्वपूर्ण होने की मिसाल आप है ।

हमने प्रस्तुत विवेचन में अस्तित्व-संघर्ष की बात बार-बार लिखी है । इंद्रियों का विकास, मानव मस्तिष्क की रचना तथा शारीरिक-शरीरेतर अंगों के विकास की बात भी कही गयी है । स्पष्ट है कि "स्त्री-पुरुष" के अनुसार उस अस्तित्व-संघर्ष का रूप और उसकी परिणतियाँ भी जुदा-जुदा होगी यद्यपि ऊपरी तौर पर और सांसारिक योग्यता ‡ की दृष्टि से उनमें अंतर करना एक कृत्रिम भेद-भाव को बढ़ाता रहा है । स्त्री मात्र देह-रचना नहीं है और न स्त्री की नियति ही उसकी देह रचना है फिर भी

---

22. हमने सौंदर्यबोध के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक प्रशिक्षण की बात कही है जो डॉ० मेघ के इस कथन से समर्थित है - "निरीक्षक के लक्ष में सौंदर्य कृतियों की आशंसा के लिए एक ऐसे परिनिष्ठ मस्तिष्क का होना पूर्वापेक्षित है जो सांस्कृतिक पैटर्न और मध्यमान से संयोजित हो । " इससे भी पहले वे स्पष्ट शब्दों में निरीक्षक को कलाकार के साथ रखते हैं - " कलाकार - निरीक्षक के अनुभवों में जितनी अधिक समानता होती है उतनी ही अधिक प्रेक्षणीयता साझेदारी तथा मध्यमान वाली रुचियों के स्तर होंगे ।" पृ-68. दूसरे शब्दों में कलाकार और निरीक्षक, दोनों ही सांस्कृतिक रूप से प्रशिक्षित होते हैं ।

23. --वही-- पृ-66. इसी तर्क-सरणि में डॉ० मेघ निष्कर्षतः पुनः कहते हैं

यह तो सच है कि उसकी देहरचना उसके अस्तित्व-संघर्ष को विशिष्ट बनाती है । पुरुष-शासित समाज में पुरुष-केन्द्रित या उस पर आधारित विचार ही आम विचार होंगे । स्त्री की देह को नैतिक-अनैतिक, विधि-निषेध आदि विचार-प्रत्ययों के प्रसार के लिए इस्तेमाल करना भी पुरुष शासित समाज की एक "देह की राजनीति" रही है ।

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है कि हम इस "देह की राजनीति" को विस्तार से उद्घाटित करें । इतना स्पष्ट है कि "देह" को आधार बना कर स्त्री के लिए कई ऐसे मिथक गढ़े गये, जो उसके लिए "जीवन का लक्ष्य" "जीवन की पूर्णता" आदि बन गये । स्त्री की चेतना, कल्पना भावना आदि भी प्रस्तुत शोध प्रसंग की उपपत्तियों के अनुसार मस्तिष्क अथवा देह के उत्पादन है । इस प्रकार सतीत्व, मातृत्व, जन्मजात अपवित्रता आदि के मिथक स्त्री के समूचे बोध को ढालते रहे हैं और निश्चित ही उसका सौंदर्य बोध भी इन मिथकों के आश्रयतले पलता रहा है । पुरुष का सौंदर्य-बोध भी जहाँ तक "स्त्री" के प्रति सौंदर्य-बोध का प्रश्न है देह के इसी मिथकीय ताने-बाने में गुंथा हुआ रहने के लिए विवश है ।

"एक ओर हम इंद्रियबोधों को प्रशिक्षित और तीक्ष्ण बनाकर कलाकृति की प्रत्यक्षीकृत तकनीकी और गुणात्मक विशेषताओं को पहचानते हैं और दूसरी ओर अपने मस्तिष्क को भी प्रशिक्षित और तीक्ष्ण बनाकर कलाकार या कलायुग की मौलिक खोजों, सांस्कृतिक संदर्भों, विषय-वस्तु की

24. Economic and Philosophical Manuscripts of 1844 P-2.

25. एलेन मेक्सेस वुड (Ellen Meiksesus Wood) ने मार्क्स को जर्मन आइडियोलाजी से उद्धृत किया है - 'The nature that preceded human history ----- is nature which no longer exists anywhere.' (New left review -127 May-June-81 P.79).

समूचे दक्षिण सौंदर्यशास्त्र में जिस प्रकार इंद्रिय-बोध की चर्चा मिलती है, उससे स्पष्ट है कि वह मात्र मुट्ठीभर अभिजात और भद्र लोगों पर केन्द्रित तो है ही ; साथ ही स्त्री को उसके "देह मिथकों" में ही बंदी बनाकर उसे हाशिए पर ही रखा गया है । यदि निम्न वर्ग के श्रमिक जन समूचे सौंदर्यशास्त्र की परिधि से बाहर रहे हैं तो स्त्री (उच्चवर्ग की भी) भी समूची तौर पर परायी और "विजय" रही है । यह कहना कि "परिवार" नामक संस्था की आवश्यकताओं के फलस्वरूप ऐसा हुआ है ; एक अधूरा सत्य है । एलानोर बर्क लीकाक (Eleanor Burke Leacok) ने स्पष्ट ही यह कहा है कि परिवार भी पूंजीवादी अथवा सामंतवादी सामाजिक ढाँचे के अनुसार, रूपग्रहण करता है ।[30]

स्पष्ट है कि प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत, वाम-दृष्टि की अपनी चारित्रिक विशिष्टताओं के कारण हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अद्यतन दक्षिण सौंदर्यशास्त्र की इस गलती का शिकार न बनें, जिसमें मनुष्य समाज की आधी संख्या (=स्त्रियाँ) को पूरी तरह से या तो बाहर रखा गया या शेष आधी संख्या (=पुरुष वर्ग) के लिए मात्र इस्तेमाल की वस्तु माना गया । हमारी विवेचन-दृष्टि के अनुसार "मनुष्य" अद्यतन संघर्ष का परिणाम है । (मार्क्स के अनुसार "पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ") तो यह स्त्री-पुरुष दोनों के लिए

---

26. ललित कलाएँ और मनुष्य - इरविन एडमन पृ-।।. स्पर्श प्रजननात्मक प्रवृत्ति से जुड़कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के बावजूद सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से गौण महत्व का ही सिद्ध हो जाता है । उसे जैविक (=शारीरिक) क्रियाओं से अलग करके नहीं देखा जा सकता और वह किसी कलाकृति का अंग बनने के काबिल कभी नहीं हो सकता । स्वाद और गंध की ही तरह स्पर्श को भी ललित रूप में अभिव्यक्त करना लगभग कठिन है । ललित की जो पारम्परिक पहचान है, वह स्पर्श से कहीं नहीं जुड़ती ।

27. विकासवादी वैज्ञानिकों के अनुसार जब मनुष्य पहली बार पेड़ से उतरकर खुले मैदान में रहने के लिए आया होगा तो उसके शत्रु पूरी तरह बदल गये

प्रयुक्त होगा ।[31] यदि पुरुष-वर्ग की चेतना स्त्री को "चीज़" में बदलने की अभ्यस्त हो तो यह समूची सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है । दूसरे शब्दों में, शासक (=दक्षिण) विचार-धारा की यह नीयत रहती है कि स्त्री "चीज़" की ही भूमिका निभायें ।[32] यह पुरुष वर्ग के लिए भी कोई शुभ स्थिति नहीं है । "चीज़" समझते हुए, स्त्री के साथ मानवीय स्तर पर पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर पाना असंभव था और समूची मानव-चेतना, उसकी मूल्य सरणी तथा कल्पना, भावना आदि भी इस अक्षमता से सीधे-सीधे प्रभावित हुई । पुरुष भी "चीज़" से कोई बेहतर स्थिति में नहीं रहा ।[33] कहना न होगा कि सौंदर्य-बोध, जिसमें रागात्मक अनुकूलता प्रमुखत्व के रूप में रहती है, इस प्रकार की विखण्डित और एकांगी चेतना के चलते यदि अधिकांशतः अपंग ही रहा तो क्या आश्चर्य ?

देह-केन्द्रित विकृत चिंतन के परिणामस्वरूप ही स्त्री-पुरुष संबंध की सामंतवादी-पूंजीवादी विकृत परिणतियाँ संभव हुई है । पूर्व-विवेचित "मैं"-"तुम" संबंध, जो स्त्री-पुरुष संबंध की सहज आदर्श स्थिति है, "दक्षिण" व्यवस्था में संभव ही नहीं है । "मैं"बोध, अहं बोध की स्वस्थ प्राप्ति के लिए इसी विकृत स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित ऐसा "परिवार" (प्रदत्त)

होंगे । आज जो भी उसके मस्तिष्क और चेहरे की बनावट है, वह पूरी तरह से उसके मैदानी शत्रुओं से हुए निरंतर संघर्ष का प्रतिफल है । अस्तित्व संघर्ष का ही तर्क शारीरिक और शरीरेतर (Somatic and Extra Somatic) अंगों के विकास की व्याख्या कर सकता है । ललितकलाएँ और मनुष्य पृ- ।।.

28. The sense of Beauty - George Santayana - P.49.

यदि थोड़ा-सा भी परिवर्तन इनमें हो जाय तो चित्त की सारी स्थिति, आवेगों की सारी शक्ति, आदतों का सारा ताना बाना, एकाग्रता की सामर्थ्य और हमारी ललित कल्पनाओं की समूची जीवंतता परिवर्तित हो जाती है । इस ढंग की सारी शारीरिक शक्तियाँ या स्थितियाँ हमारे किसी भी विचार और भावना की आधार भूमि तो नहीं बन सकती किंतु

मिलता है, जो शासक विचारों का ही संस्था-बद्ध "रूप" होता है । यदि "मैं-मैं" सम्बन्ध के अनुकूल स्थिति मनुष्य को न मिले तो उसका संबंध बोध (पुन: स्मरण करते हुए कि सौंदर्य-बोध मूलत: सम्बन्धबोध ही है तथा "बोध" वस्तुत: इंद्रिय बोध ही होता है) अविकसित और अपरिपक्व स्थिति में ही रहेगा ।

अपनी देह, स्त्री/पुरुष की देह और उसके अन्यान्य अंगों के प्रति एक विकृत चिंतन के प्रतिरोध में आवश्यक है कि एक ऐसा देह-केन्द्रित स्वस्थ, उन्मुक्त और वर्जना-हीन चिंतन विकसित किया जाय, जो वाम-मुक्त दृष्टि के अनुकूल "प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध" इतिहास-बोध (काल-बोध और द्वंद्वात्मक), जीवन-समर्थक और "यूतोपियात्मक (=भविष्योन्मुख) जैसे तत्वों से युक्त हो । देह-धर्म में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली यौन-आवेग रहता है । मनुष्य को "सम्बन्ध" के लिए प्रेरित करना, दूसरी देह (स्त्री/पुरुष) के प्रति लालायित करना तथा मानव-भविष्य से जोड़ना सिर्फ यौन (Sex) के कारण ही संभव होता है । यदि दो देहों के बीच में, किसी "इस्तेमाल" और बिचौलिए के बिना यौन-संबंध स्थापित होता है तो निश्चित ही यह "जिजीविषा" का प्रमाण है ।[34] "प्रमाण" यदि अपर्याप्त "शब्द" हो तो तथ्य

वे चेतना पर इस सीमातक प्रभाव डाल सकती है कि सारा का सारा चेतना चरित्र बदल जाय ।

29. Ibid P.50. कई आविष्कार और कई श्रेष्ठ कविताएँ इस जबर्द उनीदिपन में ही एकाएक प्रस्तुत हुई थी । सातायना ने श्वास-प्रवाह का भी महत्व इस प्रसंग में बतलाया है । पशु से मानव बनने की प्रक्रिया में इस सुरक्षादायी आनंद-बोध का अपना बड़ा योगदान रहता है, जो श्वास-प्रक्रिया का परिणाम होता है । "समाधि" या "योग" जैसे प्रत्यय इस प्रसंग में याद किये जा सकते हैं ।

30. Women in class society - Heleiefn 1-B. Saffioti की भूमिका । इ उद्धरण इस प्रकार है - 'Women's position, then, is not so much based on family demands, as these are commonly concieved as

को इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवीय यौन-सम्बन्धों के ज़रिए जिजीविषा ही अभिव्यक्त होती है । शर्त यह है कि दोनों ~~सहचरी~~ साझीदार अपनी-अपनी भूमिका में बराबरी का दर्ज़ा रखते हो । "देह" जब तक यौन में और अन्य क्षेत्रों में भी, मनुष्य-देह न समझी जायेगी तो एक छद्म-सम्बन्ध की ही वाहिका रहेगी ।[35]

पुन: इन्द्रियबोध : विकास-संदर्भ

देह का मानवीय होना, इंद्रियों के मानवीय होने की जद्दोजेहद के समानांतर ही संभव होता है । आनंद बोध निश्चित शारीरिक शर्तों पर ही निर्भर होता है । आँख, कान, स्मृति और मस्तिष्क के अन्यान्य संवेदनों के सहारे ही वह आनंद-बोध रूप ग्रहण करता है, जिसे प्रस्तुत चर्चा में हम सौंदर्य-बोध के नाम से जानेंगे । सुख-बोध > आनंद बोध > सौंदर्य-बोध में "चेतना का विस्तार" ही अंतर का प्रमुख आधार होगा । देह पर बुनियादी रूप से निर्भर होते हुए भी सौंदर्य-बोध में देह विस्मृत हो जाती है । यहीं रंग और नाद पर टिके आनंद-संवेदनों का महत्व बढ़ जाता है, क्योंकि वे सौंदर्य-बोध के महत्वपूर्ण घटक होते हैं । स्पष्ट है कि जब "सौंदर्य" की बात की जाती है तो यह विचार प्रमुखत: सक्रिय रहता है कि रंग, अनुपात, आकार आदि बाहर "वस्तु" में होता है । सौंदर्य हमारे बोध पर आधारित होता है । पूर्व में उद्धृत डा० मेघ के कथन "सौंदर्य प्रभाव

---

family structure itself is based on the marginalization of women that is essential to capitalism' (P. X) शासितों की मूल्य श्रेणियाँ हमेशा ही शासकों द्वारा गढ़ी जाती रही है । श्रमिकों का श्रम भी "अतिरिक्त श्रम" (Surplus labour) के ज़रिए मालिकों के उपयुक्त "मूल्यों" की रचना करता रहा है । घर में भी स्त्री का बेगार जैसा श्रम सीधे-सीधे "अतिरिक्त मूल्य" (Surplus value) उत्पन्न करता रहा है । [वही] पूंजीवाद से पूर्व की सामाजिक व्यवस्थाओं में स्त्री तत्कालीन परिवार की एक कर्मठ और महत्वपूर्ण सदस्या रही है । पूंजीवाद के उद्भव

(अनुभवादि) की विशिष्टता है ।" --- को पुन: स्मरण करें तो "अनुभवादि" की आश्रम देह और साधन इंद्रियों की महत्ता स्वयमेव प्रकट होती है । इस पुनर्विचार की आवश्यकता इसलिए है कि सांतायना का सौंदर्य को "मूल्य" मानकर यह कहना कि "सौंदर्य आनंद का विषयीकरण है । यह विषयीकृत आनंद है ।"[36] एक चुस्त-दुरुस्त और प्रतिभागर्भी विवेचन होते हुए भी विषय विषयी सम्बन्ध की द्वंद्वात्मकता को नहीं मानते हुए आत्मरक्ता पर बलाघात देता है । "प्रभाव की विशिष्टता" में निश्चित ही "विशिष्टता" एक ओर व्यक्ति-स्तर की ओर संकेत करती है तो दूसरी ओर उसे प्रभावित करनेवाले परिवेश (संस्कृति, परम्परा आदि) की भी सूचना देती है ।

उपर्युक्त समूची चिंतनात्मक उहापोह से तात्पर्य मात्र इतना है कि "बोध" को उसके मानवी परिप्रेक्ष्य में देखना होगा । "देह, उसका बोध (=मैं-बोध) और क्रमश: अहं, स्व आदि को भाषिक श्रेणियों में प्राप्त करते हुए "मानवीयता" प्राप्त करनी होगी । सौंदर्य-बोध का प्रश्न जहाँ मानव के लिए प्रासंगिक है, वहाँ वह मानवीय होने की प्रक्रिया में निरंतर लगी हुई इंद्रियों का "बोध" है । विकास की प्रक्रिया में, अथवा मानवीय होने के प्रयत्न में सर्वाधिक सफल "आँख" नामक अंग है । सिने-गीतों पर विचार करते हुए अड़ोनों ने बतलाया है कि "कान" एक ऐसा मानवीय अंग है, जिसका विकास लगभग नहीं हुआ है । "आँख" से तुलना करने पर यह विकास-हीनता और स्पष्ट हो जाती है ।[37] सांतायना ने भी इस ओर संकेत किया है ।

के साथ ही "उत्पादन" के संदर्भ में स्त्री की अक्षमता का मिथक गढ़ा गया और उत्पादन-तंत्र की जटिलताओं ने उसे और परे कर दिया । - The circumstances sorrounding the birth of capitalism were extremely inauspicious for woman' (P.43).

31. 'Work as an activity, in all the forms it has assumed over the course of history, is but the historical result of Men's and Women's struggle with nature in the social process of producing their existence ." (Ibid P.481)

उसने जीभ, नाक और चमड़ी को अपेक्षाकृत निम्नतर इंद्रियाँ माना है। कान को भी उसने "आत्मगत आकाशीय चरित्र"(intrinsic spatial character) न रखने के कारण इन्हीं "निम्नतर" इंद्रियों से जोड़ा है।[38] किंतु सूक्ष्म और अतिसंवेदनशील स्वर लहरियों से बना संगीत चूंकि "कान" के कारण ही संभव हो सकता है इसलिए "सौंदर्य" शास्त्र की दृष्टि से इसका [=कानका = श्रवणेन्द्रिय का] महत्व बढ़ जाता है। यों तो शुद्ध दार्शनिक किस्म का विवाद छेड़ना हो तो दिखायी देने वाला संसार भी वास्तविक नहीं है बल्कि "ऐन्द्रिक संभावना" भर है।[39] यहाँ हमारे विवेचन के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आनंददायी संवेदनाओं को उकसाने-उपजाने में स्वर-लहरियों की अपनी बड़ी भूमिका है और "कान" एक ऐसा अंग है, जो "शोर" और "स्वर-लहरी" में अंतर कर सकता है। नाद-परक प्रभाव की "विशिष्टता" भी व्यक्ति स्तर और प्रभावशाली घटकों पर निर्भर करती है। संगीत के संदर्भ में "आनंद बोध" पर्याप्त प्रशिक्षण की मांग करता है और फिर भी यह सांस्कृतिक सीमाओं के भीतर ही रह पाता है। यदि आज चारों ओर संगीत और शोर-गुल एक माने जा रहे हैं तो यह अपने में उस प्रदूषण की ओर संकेत है, जो आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक [औद्योगिकरण, शीत-युद्ध आदि] कारणों से विश्व-व्यापी है और (Kitsch) [निम्न स्तरीय किंतु बिकाऊ] के विवेचन के बेहतर दौरान हम इस पर यथोचित विचार कर पायेंगे।

---

32. 'Women simply perform the roles the system demands at a particulars moment ' (Ibid P.264)

33 . 'Reifying woman reifies mah as well, for he who obtain gratification from an object, who has no need to enter into relation with another human being, loses all humanity. (Ibid P.76) Saffioti के अनुसार तो मार्क्स ने शेष सारे मानवीय सम्बन्धों को स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के आधार पर समझने को कहा है।

34 The anatomy of human distructiveness - Eric Fromm P.281 एरिक फ्रॉम के अनुसार शुद्ध यौन अपनी प्रेमविहीनता में भी जीवन को व्यक्त

"आँख" एक ऐसा अंग है,जो अन्य ज्ञानेन्द्रियों की तुलना में सर्वाधिक विकसित है और "मानवीय" होने की संभावनाओं से पूरम्पूर है । प्रकृतिक जगत में, अंतरातारकीय अंतरिक्ष (interstellar space) में भी, एक व्यापक प्रवाह सक्रिय है ; तभी हम सुदूरवर्ती तारों का प्रकाश देख पाते हैं । प्रकाश की गति और उसके कंपनों के प्रति संवेदनशील "अंग" का विकास प्राणिमात्र के लिए आवश्यक हो गया क्योंकि सुदूरवर्ती वस्तुओं की उपस्थिति और उनका चरित्र तत्क्षण ही ज्ञात हो जाय, यह "आँख" नामक अंग के कारण ही संभव हो पाता है । यदि ऐसे में हम "दृश्य-बोध" को अन्य बोधों की तुलना में प्राथमिकता दें तो यह सहज ही है । यों भी "प्रकाश" ज्ञान का सर्वसम्मत नैसर्गिक प्रतीक है । यह "आँख" ही होती है, जो हमारे वास्तविक वातावरण से हमारे सम्बन्धों का "विस्तार" करती है और आसन्न संकट की तीव्रतम चेतावनी देती है । "दृष्टि" को देह के संदर्भ में "पैगम्बरी"(Prophetic) मानना उसकी इसी योग्यता के चलते हैं । "रूप" की अवधारणा पूरी तरह से "दृश्य" पर आधारित है - "It (=Form) is a synthesis of the seen " [40] "रूप" के प्रभाव से भी पूर्व "रंग" का प्रभाव आता है और यह पूरी तरह से संवेदी या ऐन्द्रिक (Sensuous) होता है । "रूप" तो संश्लिष्ट होता है, जो एक रचनात्मक कल्पना की मांग करता है ।

करता है, क्यों कि एक पारस्परिक आदान-प्रदान तथा आनंद की हिस्सेदारी की मांग करना, यौन-इच्छा की प्राथमिक शर्तें हैं । घृणा, प्रतिशोध या शोषण (इस्तेमाल) के उपाय के रूप में यौन, कुण्ठा है क्योंकि जीवन-समर्थक आवेग को जीवन-शत्रु आवेग में घटा देता है ।

[35] लिंग केन्द्रित अथवा योनि-केन्द्रित यौन कृत्य निश्चित ही छद्म - यौन है । 'In the case of two person uncertainty in women-man relations the man often does not take the 'trouble' to define the erotogenic zones of the woman and therefore simply uses her sexually. There is no mutuality of experience in this penis-centred pseudo sexuality. '(The grammar of Living

इस प्रकार हमारा समूचा आनंद-बोध वस्तुत: इंद्रिय-बोध है या सौंदर्य-बोध की बुनियाद में ऐन्द्रिक सौंदर्य होता है । सांतायना ने भी इस प्रसंग में इंद्रियों को "श्रम" से जोड़ा है और उनके विकास को जीवन की आवश्यकताओं पर आधारित बतलाया है ।[41]

आवश्यकता और "बोध" : शासन-प्रसंग

जीवन की आवश्यकताओं का "बोध" से घनिष्ठ संबंध है, लेकिन आवश्यकताओं से हम क्या तात्पर्य लेते हैं ? क्या मनुष्य की आवश्यकताएँ निर्विवाद रूप से परिभाषित हैं ? हम कह सकते हैं कि ऐसा नहीं है । चित्त (Mind) और चिति (Psyche) के गठन पर सामाजिक-राजनीतिक प्रभाव निर्णायक रूप से सक्रिय होते हैं । मैं-बोध, अहं-बोध आदि में समाज किस प्रकार परिवार के माध्यम से सक्रिय भूमिका निभाता है, यह हम देख चुके हैं । समाज एक लंबे समय से "शासन" (Domination) मात्र रह गया है । चिति(Psyche)को समाज से निरपेक्ष नहीं देखा जा सकता । निजता, वैयक्तिता आदि पद इसीलिए या तो भ्रामक हैं या फिर संवेदनहीनता और अपराध-बोध को व्यक्त करते हैं । यों अगर प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध-प्रक्रिया में, युक्ति के रूप में, ये पद प्रयुक्त हों तो युगोचित क्रांति के बीज भी इनमें रह सकते हैं । बाज़ार बनते जा रहे मूल्य-संसार में अगर "क्या क्या के लिए"

David Cooper P.107)

36. ' xx beauty is constituted by the objectification of pleasure. It is pleasure objectified.' (The nature of Beauty George Santayana - P.45.) सांतायना नेस्पष्ट शब्दों में कहा है - 'XXX beauty is an ultimate good, something that gives satisfaction to a natural function, to some fundamental need or capacity of our minds. Beauty is therefore a positive value that is intinsic; it is a pleasure (P.44) इसी प्रकार कई स्थलों पर सांतायनाने "सौंदर्य" को आत्मनिष्ठ आधारों पर समझाया है ।

कहकर वैयक्तिक को ऐश्वर्यीकृत किया गया तो उससे यही प्रकट होता है कि सामाजिक सम्पूर्णता के भीतर अंतर्विरोध सक्रिय हैं और बाज़ारूपन की अव-द्वंद्वात्मक प्रवृत्ति के खिलाफ वैयक्तिक को खड़ा करके द्वंद्वात्मकता को पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न हो रहा है। अगर "राजनीति" को मारक्यूज़ की तरह, एक प्रक्रिया के रूप में देखें। जो वह है भी। तो शासन-समाज एक जड़ और स्थिर सत्ता साबित होगा।[42] जिसे सामाजिक सम्पूर्णता के नाम से हम जानते हैं, वह अपनी स्थिति में गतिहीन और स्थिर है और "राजनीति" नहीं है। अधिक से अधिक यह कि वह समाज-प्रमुख, हो चुकी राजनीति है। यहाँ प्रभुत्व या शासन (Domination) का अर्थ स्पष्ट हो, यह आवश्यक है। हर्बर्ट मारक्यूज ने इस प्रत्यय को गहराई से बखूबी परिभाषित किया है। उसके अनुसार - "शासन या प्रभुत्व वहाँ प्रभावशाली होता है, जहाँ व्यक्ति के लक्ष्य और उद्देश्य उनकी प्राप्ति के लिए किये जानेवाले संघर्ष, सबके सब उसके लिए पहले से ही नियत होते हैं और उसकी कार्य-पद्धति भी जैसे नियत की गयी होती है।[43]

---

37. Marxism and Art.

38 'South[nd] shares with the lower[l] senses the disadvantage of having no intrinsic spatial character; it therefore, forms no part of the properly abstracted external world, and the pleasures of the ear cannot become, in the literal sense. quality of things. (The sense of Beauty) George Santayana P.581

39. Ibid - 1. स्वर-संसार में अनगिनत विविधताएँ निहित हैं और एक प्रशिक्षित "कान" उनसे जुड़कर निश्चित ही आवेगात्मक समृद्धि प्राप्त करता है।

यह प्रभुत्व अथवा शासन(Domination) मनुष्यों द्वारा भी निष्पादित किया जा सकता है, प्रकृति के द्वारा भी, वस्तुओं के द्वारा भी - यहाँ तक कि यह आंतरिक भी हो सकता है जिसमें व्यक्ति स्वयं पर ही शासन का व्यवहार करता है और ऐसे में यह शासन व्यक्ति की स्वायत्तता के रूप में प्रकट होता है।[44]

यदि पूर्व में विवेचित में-बोध, अहं-बोध की तर्क-सरणियाँ सही हैं और मारक्यूज़ का यह विवेचन भी, जो उसकी अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है ; यथार्थ को प्रस्तुत करता है तो इंद्रियों के विकास में मानवीय आवश्यकताओं के योगदान में हमें "शासन" (Domination) के घटक को भी सामने रखना होगा । चिति की रचना- प्रक्रिया में अनुभवों की सक्रिय भूमिका रहती है । आर डी लैंग(R.D. LAING) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :- " To say that my experience is intra-psychic is to presuppose that there is a psyche that my experience is in. My psyche is my experience , my experience is my payche." [45]

तथाकथित सामान्य मनोस्थिति के मिथक् अब मनोचिकित्सा के क्षेत्र में ध्वस्त किये जा रहे हैं । खण्डित-मनस्कता (Schizophrenia) (~~Lie-detector~~) का गहराई से विवेचन-विश्लेषण करते हुए लैंग ने एक रोगी के बारे में लिखा है कि उसे मिथ्या-संसूचक (Lie-detector) यंत्र से संबद्ध किया गया और उससे पूछा गया कि क्या वह नेपोलियन है । उसने जवाब दिया - "नहीं" ।

. xxxx 'in fact, from which is alomost synonym of beauty, is for us usually some thing visible' xxxx

रंग अलग अलग होते हैं और प्रत्येक का प्रभाव स्नायविक प्रक्रिया पर अलग अलग होता है -

There are certain effects of color which give all men pleasure and others which far, almost like a musical 'discord'.

(ibid P.61)

41. Ibid P.63

यंत्र ने बताया कि रोगी झूठ बोल रहा है ।[46] समझदार और पागल व्यक्ति के अंतर का वह सारा विभेदकता का ताश-महल भहरा कर गिरपड़ता है जब हम पाते हैं कि दो व्यक्तियों के अब आपसी सहयोग या विरोध पर ही वह ठहरा हुआ है । अपने को समझदार मानना और दूसरे से यह आशा करना कि वह भी ऐसा ही मानें और पारस्परिक सहमति पर आधारित यह तथा कथित सामान्य (Normal) जन का संसार गतिशील रहता है ।[47]

निष्कर्षत: यह कि ऐसे में "स्वाधीनता" व्यक्ति के लिए एक असंभव प्रत्यय हो जाती है । निराशा के इस क्षण में मारक्यूज का यह कहना ही सही लगता है कि ऐसा कुछ भी नहीं है जो नियतन कर दिया गया हो [= जो प्रदत्त न हो] वस्तुत: वाम दृष्टि ["प्रतिरोध" को, मानवीय संघर्ष को, प्रदत्त के दायरे में ही, उसकी सापेक्षता में ही समझने की सिफ़ारिश करती है । प्रतिरोध हवा में नहीं होता और मनुष्य को मनुष्य होने के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है किंतु स्वतंत्रता भी प्रदत्त स्थितियों [=इतिहास] से जुड़कर ही स्वरूप ग्राह्य करती है । मारक्यूज़ की परिभाषा यहाँ हमारी सहायता कर सकती है - " Freedom is a form of domination . The one in which the means provided satisfy The needs of the individual with a minimum of a displeasure and renunciation.[48]

---

42. Five lectures - Herbert Marcuse. P.

43. 'Domination is in effect when ever the individuals good goals and purposes and the means of striving for and attaining them are prescribed to him and performed by him as something prescribed. Ibid P.

44. 'Domination can be exercised by men, by nature, by things - it can also be internal exercised by the individual

यह स्वतंत्रता ऐतिहासिक स्थितियों द्वारा ही निर्धारित होती हैं, जैसा कि मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यक्ति अपना इतिहास बनाता हैं किंतु हवा में नहीं बल्कि ठोस सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में जो उसे मिलती हैं [=प्रदत्त होती हैं] । इसीलिए मध्य युग के किसी व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता की अवधारणा अलग होगी और आज के व्यक्ति के लिए दूसरी । इसी प्रकार निरक्षर और विद्वान की अवधारणाएँ भी जुदा-जुदा होगी । स्वतंत्रता का अनुपात भी ऐतिहासिक स्थितियाँ ही निर्धारित करेगी ।

"प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध की पद्धति भी ऐतिहासिक स्थितियों के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत आती है । योग्यता और आवश्यकता - आवश्यकता को जानने-पहचानने-अनुभूत करने की योग्यता और उसके समाधान या पूर्ति की सामर्थ्य तथा इस योग्यता अथवा सामर्थ्य की आवश्यकता का अनुपात व्यक्ति और युग के सांस्कृतिक विकास पर निर्भर होता है । यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सांस्कृतिक विकास को आत्म-निष्ठ के विवेचन से समझा जा सकता है । वस्तु निष्ठ स्थितियाँ ही योग्यताओं और आवश्यकताओं के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाती हैं । वस्तुतः मार्क्स का कथन ही

---

on himself and appear in the form of autonomy'. (Ibid P...1)

वस्तुतः मारक्यूज ने फ्रायड के प्रवृत्ति-सिद्धांत के आलोक में स्वतंत्रता के प्रत्यय को समझना चाहा है । उपर्युक्त उद्धरण में स्वायत्तता (autonomy) का जो उल्लेख हुआ है, वह फ्रॉयडीय सिद्धांतों में इस "पद" के निर्णायक होने के कारण ही । मारक्यूज के अनुसार (Super ego) [परा-अहम्] सत्ता-शासन के आदर्श नमूनों को आत्म सात कर लेता है । पिता और उसके प्रतिनिधि अपने आदेशों और वर्जनाओं से व्यक्ति चेतना को निर्मित करते हैं । कुल मिलाकर वे पिता-धर्मी संस्थाएँ [परिवार, शिक्षा, धर्म-संस्कृति आदि] उसके "मैं" "अहं" "परा-अहम" और चिति को गढ़ती है । कहना न होगा कि वे सारी संस्थाएँ वह समाज होता है जो अब द्वंद्वात्मक संवाद नहीं बल्कि केवल शासन कर सकती है ।"

45. The politicgs of Experience and the Bird of paradise R.D. Laing P.19

यह स्वतंत्रता ऐतिहासिक स्थितियों द्वारा ही निर्धारित होती हैं, जैसा कि मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यक्ति अपना इतिहास बनाता हैं किंतु हवा में नहीं बल्कि ठोस सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में जो उसे मिलती हैं [=प्रदत्त होती हैं] । इसीलिए मध्य युग के किसी व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता की अवधारणा अलग होगी और आज के व्यक्ति के लिए दूसरी । इसी प्रकार निरक्षर और विद्वान की अवधारणाएँ भी जुदा-जुदा होगी । स्वतंत्रता का अनुपात भी ऐतिहासिक स्थितियाँ ही निर्धारित करेगी ।

"प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध की पद्धति भी ऐतिहासिक स्थितियों के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत आती है । योग्यता और आवश्यकता - आवश्यकता को जानने-पहचानने-अनुभूत करने की योग्यता और उसके समाधान या पूर्ति की सामर्थ्य तथा इस योग्यता अथवा सामर्थ्य की आवश्यकता का अनुपात व्यक्ति और युग के सांस्कृतिक विकास पर निर्भर होता है । यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सांस्कृतिक विकास को आत्म-निष्ठ के विवेचन से समझा जा सकता है । वस्तु निष्ठ स्थितियाँ ही योग्यताओं और आवश्यकताओं के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाती हैं । वस्तुत: मार्क्स का कथन ही

---

on himself and appear in the form of autonomy'. (Ibid P...1)

वस्तुत: मारक्यूज ने फ्रॉयड के प्रवृत्ति-सिद्धांत के आलोक में स्वतंत्रता के प्रत्यय को समझना चाहा है । उपर्युक्त उद्धरण में स्वायत्तता (autonomy) का जो उल्लेख हुआ है, वह फ्रॉयडीय सिद्धांतों में इस "पद" के निर्णायक होने के कारण ही । मारक्यूज के अनुसार (Super ego) [परा-अहम्] सत्ता-शासन के आदर्श नमूनों को आत्म सात कर लेता है । पिता और उसके प्रतिनिधि अपने आदेशों और वर्जनाओं से व्यक्ति चेतना को निर्मित करते हैं । कुल मिलाकर वे पिता-धर्मी संस्थाएँ [परिवार, शिक्षा, धर्म-संस्कृति आदि] उसके "मैं" "अहं" "परा-अहम" और चिति को गढ़ती है । कहना न होगा कि वे सारी संस्थाएँ वह समाज होता है जो अब द्वंद्वात्मक संवाद नहीं बल्कि केवल शासन कर सकती है ।"

45. The politicss of Experience and the Bird of paradise R.D. Laing P.19

यहाँ लागू होता है किंतु गहराई के साथ और द्वंद्वात्मक रूप में न कि यांत्रिक ढंग से —"ऐसा नहीं है कि मनुष्यों की चेतना उनकी सत्ता को निर्धारित करती हो, बल्कि इसके विपरीत ही, उनकी सामाजिक सत्ता ही उनकी चेतना को निर्धारित करती हैं।"[49] यों "निर्धारित" का अर्थ एक पक्षीय प्रतिक्रिया नहीं है बल्कि मार्क्स ने (determine) का जो मूल जर्मन शब्द प्रयुक्त किया है, वह द्विपक्षीय क्रिया-प्रतिक्रिया को ही सूचित करता है। वस्तुत: वस्तुनिष्ठता और आत्म निष्ठता की द्वंद्वात्मक आनुपातिकता तथा इनमें से प्रत्येक की अव-द्वंद्वात्मकीकरण की स्थिति भी इतिहास द्वारा अनुकूलित (conditioned)होती है।

प्रस्तुत शोध प्रसंग में हम सामान्य (General)श्रेणी के वाद-विवादों से यथा शक्य बचना चाहेंगे। एक विशेष युग [वर्तमान] पर विशिष्ट ढंग से ही बहस लाभदायी हो सकती है। आज स्थिति यह है कि स्वतंत्रता, योग्यता-आवश्यकता आदि के अवधारणात्मक पद कुछ भी अर्थ सम्प्रेषित नहीं करते। सब कुछ को-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो या स्वतंत्र चेतना - एक पूर्व निर्धारित या नियत संस्कृति में ढालकर आलोचनात्मक विचारों की गुंजाइश लगभग समाप्त कर दी जाती है। चाहे जैसा क्रांतिकारी विचार हो, अगर वह संस्थाबद्ध हो जाय तो उस समाज का हिस्सा बन जाता है, जिसके विरोध में वह जनमा और विकसित हुआ था। दूसरे शब्दों में, मारक्यूज के अनुसार, उपलब्धि ही उपपत्तियों को निरस्त कर देती हैं।[50] ऐसे में विचार-स्वातंत्र्य राजनीतिक विरोध, व्यक्ति की स्वायत्तता आदि प्रत्ययों की जीवंतता नष्ट हो जाती है। समाज की यथास्थितिवादिता का विरोध मात्र वाद-विवाद में घटकर रह जाता है। चाहे जैसा वाद-विवाद हो, अगर वह आचार

---

46. The divided self-R.D.Laing P.35 / चिति के पूर्वत: रूपांतरण के पश्चात् वह रोगी "नेपोलियन" ही हो गया था।

47. Ibid - P.35-56 When two same persons are together one expects that A will recognize B to be more or less the person B takes himself to be and vice vesr versa. This is, for my part, I expect that my own definition of my self should, by

[=प्रेक्सीस] से रहित हो तो यथास्थितिवाद को कोई हानि नहीं पहुंचा सकता । तथाकथित प्रजातंत्र की बहुविज्ञापित उद्योग-स्वतंत्रता [काम करने या भूखों मरने की] किस प्रकार देश की बहुसंख्यक आबादी को असुरक्षा और भय से ग्रस्त किये दे रही है, यह पिछले वर्षों में पनपी अनावश्यक आक्रामकता, आपाधापी और गुण्डागर्दी से स्पष्ट है ।

आज अपने को सुरक्षित रखने के लिए, यथा-स्थितिवादी शक्तियों का स्वतंत्रता के खिलाफ़ संघर्ष, अपनी नीतियों और शैलियों में नये-नये रूपग्रहण कर रहा है । व्यक्ति का दमन होता रहे, वह अपनी सच्ची और झूठी आवश्यकताओं में भेद न कर सके और झूठी आवश्यकताओं को ही सच्ची समझता रहे ; यह दमनकारी व्यवस्था की अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक होता है । यदि आज ऐसी बौद्धिक और भौतिक आवश्यकताओं का उत्पादन धड़ल्ले से किया जा रहा हो जो अस्तित्व-संघर्ष से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रखती तो यह "स्वतंत्रता" [प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध में ही जो संभव होता है] को संभव न होने देने का ही षड्यंत्र है ।

---

and large, be endorsed by the other person, assuming that I am not deliberately impresonating some one else, being my hypocritical, lying, and so on.'

पारस्परिक समझदारी का संदर्भ विरोधों, त्रुटियों, गलत धारणाओं आदि से भरा होता है । विशेषत: अपनी नज़र में हम जो होते हैं ज़रूरी नहीं है कि हम "वही" हों । निष्कर्ष रूप में लैंग कहते हैं --

'Sanity or psychosis is tested by the degree of conjuction of disjuction between two persons where the one is same by common consent.'

48. Five lectures - Herbert Marcuse

इस प्रसंग में अभी, हाल ही का एक उदाहरण लिया जा सकता है। वैज्ञानिक विषयों पर लिखनेवाले श्री रमेशदत्त शर्मा ने शिशु आहार के उत्पादकों के षड्यंत्रों का भण्डा फोड किया है कि वे किस तरह अपने माल की बिक्री के लिए विश्वव्यापी योजना बनाते हैं और व्यक्ति-मानस की दुर्बलताओं का लाभ उठाते हैं। यों तो मनुष्य-मात्र ही इस विराट प्राकृतिक जगत में असुरक्षित होता है किंतु नारी तो इस पुरुष प्रधान जगत में दुगुनी असुरक्षा महसूस करती है। ऐसे में शिशु-आहार के उत्पादकों ने -"सबसे पहले तो नारी को आधुनिक दिखने के लिए स्तन-सौंदर्य की ओर खींचा गया। फिर यह वहम भरा गया कि बच्चों को दूध पिलाने से यह सौंदर्य ढल जाता है। इस तरह धीरे-धीरे सारी दुनियाँ में बच्चों के मुँह से स्तन हटते गये और उसकी जगह बोतल ने ले ली।"[51] वे बोतलें बनाने वाले कारखानें इस प्रकार मालामाल होते जा रहे हैं। नयी आवश्यकताएँ गढ कर व्यापारिक लाभ कमाने वाले अवयस्क मानस को किस सीमा तक अपने प्रभाव में ले सकते हैं और उसका परिणाम कितना घातक हो सकता है, इसका प्रमाण कलकत्ता में निम्न-मध्य-वित्त परिवार की उन चार लडकियों की आत्महत्या में भली भाँति मिल जाता है,जो दुर्गा-पूजा के उत्सव में नये और कीमती कपडे

---

49. 'it is not the consciousness of men that determines their being, but, on the contrary, it is their social being that determines their consciousness.' Marx and Engels. Selected works Vol. I 303.

50. The achievement cancels the premises .. 'one - dimensional man - Herbert Marcuse - Introduction.

51. दिनमान - 6-12 फरवरी, 1983

52. दिनमान - 1982

बनवाने में असमर्थ पिता की विवशता को नहीं समझ सकी और मूल्य-दर्शन के अद्यतन उत्तराधिकार को तहस-नहस करते हुए नये और कीमती कपड़ों को [जो प्रचलित फ़ैशन के मुताबिक नयी किस्म के होंगे] "चरम मूल्य (absolute value) का दर्जा दे बैठी और प्राण उत्सर्ग कर दिये ।[52] झूठी और ग़ैर ज़रूरी ज़रूरतों का यह उत्पादन कितना छल जंजाल और विषैला है ; यह उस समय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब हम उन अबोध [सब से बड़ी उम्र की लड़की पंद्रह वर्ष की थी] लड़कियों के नये कपड़ों के लिये किये जाने वाले प्राणोत्सर्ग को देश की स्वाधीनता के लिए फाँसी पर चढ़ने वालों के साथ रखकर देखें । एंगेल्स ने आवश्यकता-बोध को स्वतंत्रता से समीकृत किया था और आज की स्थिति में "स्व" को जानने से कम जटिल अपनी आवश्यकताओं का जानना नहीं है ।

जब आवश्यकताएँ और उनको पूरा करने के साधन, सब के सब बाज़ार की "चीज़ों" की तरह उत्पादित हो रहे हों तो "बोध" पर संकट ज्यादा गहरा हो जाता है । शासन-तंत्र कितना गहरा है, इसे समझने के लिए प्रस्तुत शोध प्रसंग के आरंभ में ही उल्लिखित "आंतरिकीकरण"(Internalization)की अवधारणा का स्मरण लाभप्रद होगा । भारत में प्रभुता-स्थापन की उक्त प्रणाली अब तकनीकी-युग में विश्व-व्यापी हो गयी है । शासन के प्रति "विरोध" भी जब शासन द्वारा "प्रदत्त" हो तो स्थिति की असंगति अनबूझता की सभी सीमाओं को पार करेगी ही । कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में हम संस्कृति को भी शासन (domination) का

---

53. "Capitalist production is hostile to certain branches of spiritual production for example, art and poetry" Marx quoted in Art and Society - Adolfo Sanchez Vazquez P.13

54. One Dimensional Man - Herbert Marcuse - Introduction

एक रूप होता हुआ पाते हैं । आज सारी की सारी भौतिक, और बौद्धिक शक्तियाँ ऐतिहासिक स्थितियों के तथाकथित शुभ पक्ष (good side) द्वारा संचालित होने के लिए विवश हो रही है । उन शक्तियों को जीवन में लागू करना भी उस "शुभ पक्ष" (good side) पर ही निर्भर है । व्यक्तिगत संतुष्टि को भी हम किसी न किसी सामाजिक आवश्यकता के भीतर ही मानेंगे । बौद्धिक शक्तियों को लागू करने की संभावनाएँ व्यक्तिगत संतुष्टि में सीमित और नियत हो जाती हैं । इस बिंदु पर सामाजिक और व्यक्तिगत का "अंतर" उठ खड़ा होता है और हम पाते हैं कि सामाजिक आवश्यकताएँ पूरी तरह से "सत्ता" की रुचियों पर आधारित हैं । निश्चित है कि यह एक "सीमा" तक ही संभव हो पाता है । परिवर्तनशील शक्तियाँ "सत्ता" की रुचियों के विरुद्ध सक्रिय होती हैं किंतु इससे पूर्व तो संस्कृति-सभ्यता "शासन" का ही एक रूप मात्र बनकर रह जाती है । सत्ता-रुचियाँ अपना यह अधिकार समझती है कि वे समाज के सभी वर्गों की आवश्यकताओं, रुचियों, उनकी संतुष्टि के साधनों और सीमाओं की अंतिम व्याख्या करें । कला-गत आवश्यकताओं, रुचियों और उनकी संतुष्टि के साधनों के बारे में भी यही सही है । जब कि अब तो सत्ता अपने को पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के माध्यम से ही व्यक्त करती है और कला, खास कर कविता के प्रति उस तो दुश्मनी का ही रहता है ।[53]

---

* Most of the prevailing needs to relax to have fun, to behave and consume in accordance with the advertisements, to cover and hate what others love and hate, belongs to this category of falseneeds.' " One Dimensional Man - Herbert Marcuse - Introduction -

55. The Hidden persuaders - Vance Packard P.18

आवश्यकता और बाज़ार

अर्न्स्ट फ़िशर (Arnest Fischer) ने राजा मीडास की कहानी याद की है कि पूंजीवाद भी जिसे - चाहे विचार हो या कोई कलाकृति - छूता है, उसे बिकने-खरीदने योग्य बना देता है । अधिकार भावना का इस हद तक विकास कि वही वस्तु हमारे लिए "वस्तु" होती है या वस्तु के रूप में मान्यता पाती है जो हमारे अधिकार में भी आये । द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रांसीसी कलाकृतियों को लेकर होनेवाले संघर्ष पर आधारित प्रसिद्ध फिल्म "द ट्रेन" में नाज़ी अफ़सर की भूमिका निभाता हुआ पाल न्यूमेन कहता है -
" Beauty belongs to those , who appriciates it "

एक प्रकार से यह विकृत अहं की अभिव्यक्ति होते हुए भी एक युगीन सत्य को प्रकट करता है । प्रस्तुत शोध प्रसंग में हम सौंदर्य-बोध की चर्चा का आधार "मानव" को बना रहे हैं और यह "मानव" कोई अमूर्त पद नहीं है बल्कि आज की ठोस सामाजिक राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों में गुंथा हुआ सच है और इसलिए आज "बोध" को हम बाज़ार से निरपेक्ष रखके नहीं देख सकते । आज ज़रूरत है कि सच्ची और झूठी आवश्यकताओं के बीच फ़र्क किया जाये । आज झूठी ज़रूरतें, पसंदगी-नापसंदगी वगैरह व्यक्ति पर लादी जा रही है क्योंकि व्यक्ति का दमन हो, यह सत्ता [=समाज] की चाहना होती है । अवकाश और श्रम, दोनों ही स्थितियों में भरपूर घुसपैठ करके शासन अब शमन

---

56. Ibid P.18 व्यापारिक कम्पनियों में अब एक नये विज्ञान का विकास किया जा रहा है जिसका नाम रखा गया है Motivational Analysis अथवा Motivational research या फिर सिर्फ़ M.R. वस्तुत: यह विज्ञान = M.R. मानव की अबौद्धिक तहों का कम्पनी के हक में इस्तेमाल करता है । M.R. एक ऐसी शोध-पद्धति है जो मनुष्य की वरण क्रियाओं (Making choices) की पृष्ठभूमि में निहित अंतर्प्रवृत्तियों का अध्ययन करती है । निश्चित है कि यह पद्धति व्यक्ति के अचेतन अथवा उप चेतन को समझ लेने की चेष्टा करती है क्योंकि व्यक्ति की [illegible] पसंदगी

कक्ष और दफ्तर-कारखाने तक में निर्णायक रूप से प्रभावशाली बन बैठा है । चमकीले और आकर्षक विज्ञापनों से अपनी इच्छा के मुताबिक गुमराह करते इसे झूठी संस्कृति-सभ्यता [=शासन=बाज़ार] का दमन-तंत्र इतना शक्तिशाली है कि व्यक्ति अपनी हँसी-खुशी के क्षणों के लिए भी अब पूरी तरह से निर्णय-दुर्बल और पर-निर्भर है । हर्बर्ट मारक्यूज़ ने इस दमनकारी तंत्र का भण्डाफोड़ अपने ढंग से करना चाहा है । वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि आराम और खुशी के लिए भी व्यक्ति विज्ञापनों पर निर्भर होता है ।[54]

कुल मिलाकर यह कि व्यक्ति जिन ज़रूरतों को नितांत अपनी और निजी समझता है, वे भी उस समाज [=शासन=बाज़ार] की ही उत्पादन होती है, जो "व्यक्ति" के दमन के लिए उद्यत रहता है ।

आवश्यक है कि संक्षेप में बाजार-तंत्र पर भी विचार किया जाय क्योंकि व्यक्ति-मानस पर उसीकी पकड़ है और दमित होने को दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक विवश भी, बाज़ार ही कर रहा है । बीसवीं शती में बाज़ार का वह रूप नहीं रहा, जो अभी तक समझा जाता रहा है । अब व्यक्ति के अवचेतन पर प्रभाव डालने के प्रयत्न होते हैं । बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अब मनोविश्लेषकों की मदद लेती हैं ताकि यह पता लगा सकें कि "Why on edth customers act the way they do "[55] ऐसा करते हुए वे मात्र अवचेतन या ग्राहकों के संस्कारगत का पता लगाकर संतुष्ट नहीं होते, बल्कि लोगों=ग्राहकों के संघर्षमय-क्रय कार्यों के उद्दीपकों की जानकारी भी प्राप्त करते हैं ताकि उन का इस्तेमाल किया जा सके । अमरीकी बाज़ार का तो

नापसंदगी का दारोमदार उसी पर निर्भर होता है । वस्तुत: खरीदने के क्षणों में ग्राहक प्राय: उन बिम्बों और डिज़ाइनों के प्रति प्रतिक्रिया करता है जो उपचेतन के स्तर पर 'माल' से जुड़े होते हैं ।" उपर्युक्त विचार लुई चेस्किन (Louis Cheskin) के हैं, जो एक ऐसी शोध कम्पनी के प्रमुख हैं, जो बाज़ार के उतार-चढ़ाव का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करती है ।

मुहावरा ही है "Triggers of action". एलीड मिलर (Elyde Miller) की एक पुस्तक है 'The process of persuasion' इस में यह बताया गया है कि चालाक किस्म के "दलाल" (Persuaders) हमेशा इच्छित प्रतिक्रियाओं के लिए (Word Triggers) और (Picture Triggers) का प्रयोग करते हैं। एक बार नमूना हासिल हो जाये तो किसी भी सीमा तक लोगों का विश्वास हस्तगत किया जा सकता है। क्यों कि मिलर के शब्दों में '...All of us are creatures of conditioned reflex' मिलर के अनुसार चाहे शीत पेय बेचना हो या कोई राजनीतिक दर्शन, आवश्यक है कि इस अनुकूलित प्रतिवर्तन (conditioned reflection) का विकास हो। चाहे शब्दों द्वारा या फिर प्रतीकों द्वारा।[56]

कम्पनी की मदद करने वाले मनोविश्लेषकों की मानव चित्त के बारे में राय लगभग समान होती है। वे मानव-चेतना की तीन तहें मानते हैं। पहली तह सचेतनता की होती है, जिसमें बौद्धिकता होती है और जिस तह के सहारे यह कहा जा सकता है कि किसी घटना के कार्य-कारण सम्बन्ध क्या हैं? दूसरी तह उससे नीची होती है और जिसे पूर्वचेतना या उप चेतना कहते हैं। इस तह के सहारे व्यक्ति अस्पष्ट रूप में

यह कम्पनी शिकागो में स्थित है और बड़े-बड़े अमरीकी निर्माता इस कम्पनी के मुवक्किल हैं। प्रश्न यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या किसी सीमा तक उपर्युक्त वक्तव्य को हम तथाकथित सौंदशास्त्र पर लागू कर सकते हैं? Ibid P.51

57. Ibid P.19 बाज़ार के इस तंत्र के आधुनिक तकनीकी ताने-बाने को देखने के बाद स्पष्ट ही यह प्रतीत होता है कि भलेही ऊपरी तौर पर "शासन" अभी "बाहर" से किया जा रहा हो किंतु बाज़ार की और जिस सीमा तक शासन" भी संचार साधनों के द्वारा अपना प्रचार करता है। सारी "सत्ता" तो व्यक्ति मानस के अवेतन को हस्तगत कर लेने में ही निहित है।

"क्या" का जवाब तो जानता है पर "क्यों" के बारे में वह अनभिज्ञ ही रहता है। इसी तह पर पूर्वग्रह, मान्यताएँ, भय, आवेग आदि स्थित है। तीसरी सतह के बारे में व्यक्ति कुछ भी नहीं जानता। अगर जान भी जाय तो वह उस तह के रुझानों और भावनाओं के बारे में बात बिलकुल ही नहीं करेगा। कम्पनियों के M.R.(Motivational Research) विभाग के वैज्ञानिक इस दूसरी और तीसरी तहों को ही अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाते हैं।[57] इस प्रकार औतरिकी करण की तकनीक इतनी प्रभावशाली हो गयी है कि यह कहना कठिन है कि व्यक्ति किस बिंदु पर "स्वतंत्र" कहा जा सकता है। साथ ही यह भी सच है कि बाज़ार में पूरी तरह से ढल चुके, संस्कृति-सभ्यता के नाम पर एक निर्दिष्ट व्यवहार-सरणी को अपने लिए बना-बनाया पाकर और इस सत्य के सामने अपने-आपको असहाय पाते हुए कि - "ऐसा कुछ नहीं है व्यक्ति के पास, जो निर्दिष्ट (Prescribe) न किया गया हो।"[58] व्यक्ति-मानस को ही अंतिम निर्णय में "उत्तर" देने के लिए स्वतंत्र होना होगा। इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा कि उसकी कौन सी आवश्यकताएँ सही हैं और कौन सी झूठी। है आज स्थिति की भयावह विडम्बना ऐसी है कि किसी के "उत्तर" को उसका उत्तर नहीं माना जा सकता। उत्तर देने

---

58. 'Five lectures - Herbert Marcuse P.

59 'Democracy would appear to be the most efficient system of domination.' One Dimensional Man - Herbert Marcuse P.52.

60. सौंदर्यशास्त्र को गेराउडी ने इस प्रकार परिभाषित किया है - 'Aesthetics in the deepest sense of a reflection on the creative act of man and on its conditions becomes thus an essential moment in the formation of man, being pedagogy of invention.' Man and Work, David Meakin P.

का धंधा करनेवाले पेशेवर लोग [=चिंतक-विचारक-दार्शनिक-कलाकार आदि] भी इसी समाज में रहते हैं और ऊपर से नहीं तो अंतर्प्रवृत्तियों की सतह पर इसी समाज के "सामाजिक सदस्य" हैं तो उन्हें निर्विवाद रूप से स्वायत्त मानकर उनके उत्तरों को [सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी] उन्हीं के "उत्तर" मानना अथवा उनको सचमुच ही "होने" की मान्यता देना इस तथ्य को झुठला देना होगा कि व्यक्ति को [उन्हें भी] आज प्रवृत्तियों [= Down to their very instincts -Marcuse] की सीमातक "इस्तेमाल" किया जा रहा है। आज "प्रजातंत्र"(Democracy) भी जब शासन(System of Domination) की ही एक और प्रणाली (System) मात्र बनकर रह गया हो।[59] तो वाम दृष्टि - प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध के सृजनात्मक चरित्र की आवश्यकता, मात्र प्रस्तुत शोध प्रसंग की विषय-गत विवशता नहीं, बल्कि मानव के बचे रहने की एकमात्र आशा है। जिस बिंदु पर "मनुष्य" इतिहास और कर्म में पक्ष लेता है, वही बिंदु "मुक्ति" का सूचक होगा। वाम सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता का विस्तार से विवेचन करने से पूर्व हमें कला-जगत और सौंदर्य-जगत की उस दारुण रूप से बाज़ारू हो चुके चरित्र के आमने-सामने भी होना चाहिए, जो किच (Kitsch) के रूप में आज कला-विवेचन के केन्द्र में स्थित है। प्रति-सृजनात्मक अमानवीय स्थिति ही (Kitsch) को

---

61. इस प्रसंग में Logo Therapy के प्रवक्ता VIKTOR E. FRANKL का एक आस्था-भरा कथन उद्धृत करना महत्वपूर्ण होगा -

'Man is free to rise above the plane of somatic and psychic determinanats of his existence. By the same token a new dimension is opened. Man enters the dimension of noetics in counterdistinction to the somatic and psychic phenomena. He becomes capable of taking a stand not only towards the world but also towards himself. Man is a being capable of reflecting on, and even rejecting himself.'

Psychotherapy and Existentialism - Viktor E. Frankl P.15

आधुनिकता का पर्याय बनाकर सौंदर्य-शास्त्र को मात्र बाजारू हो जाने के षड्यंत्र में फँसा चुकी है । मनुष्य के "मनुष्य" होने की प्रक्रिया में मानव-आचार की सृजनात्मकता की छवि ही सौंदर्य-शास्त्र की विषय हो सकती है ;[60] और गेराउडी (Garaudy) की यह चिंतन-धारा हमारे शोध प्रबंध के लिए चिंतन और चर्चा का आधार बनने से पूर्व हम इतना स्पष्ट करना चाहेंगे कि हम "स्थिति की भयावता का साक्षात्कार किसी निराशावाद को पुष्ट करने के लिए नहीं कर रहे हैं । मार्क्स की तरह हमें भी मनुष्य के अस्तित्व-संघर्ष के इतिहास से यह अवधारणा मिलती है कि मनुष्य अनिवार्य रूप से एक सृजनात्मक प्राणी होता है और प्रस्तुत प्रसंग में हमने इस उपपत्ति को एकाधिक बार स्पष्ट किया है कि सृजनात्मकता "प्रदत्त" का अतिक्रमण करने में सक्षम होती है । सौंदर्य-बोध का क्षेत्र इस दृष्टि से सर्वाधिक सृजनात्मक होता है और प्रस्तुत प्रसंग में विवेचित, शासन और बाज़ार की घातक प्रवृत्तियों का निदान इसी क्षेत्र से प्राप्त होगा । मनुष्य अपने अस्तित्व संघर्ष के दौरान शारीरिक और चित-गत (Psychic सीमाओं को पार करने में सफल हुआ है ! यहाँ वर्णित "बाज़ारू स्थिति" ने मनुष्य को और अधिक सक्षम भी बनाया है और वह देह और "चिति" (Some and psyche) का बंदी भर नहीं है ।[61] वाम सौंदर्यशास्त्र इसी तथ्य को अपने ढंग से प्रकट करता है और इसीलिए अंतिम विश्लेषण में, मानव के प्रति आस्थावान है ।

यूरोप में "अठ्ठारहवीं सदी तक शास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र का ही वर्चस्व रहा । उसके बाद स्वच्छंदतावाद (romanticism) पहली बार श्रेण्यवाद अथवा अभिजात्यवाद (Classicism) की प्रतिक्रिया में सामने आया । निश्चित ही तभी से सौंदर्यशास्त्रीय आधुनिकता (aesthetic modernity) की अवधारणा भी प्रस्तुत हुई । यों यह श्रेय स्तांधाल (Stendhal) को मिलता है कि उसी ने सबसे पहले प्राचीन बनाम आधुनिक का विवाद उठाया और स्वच्छंदतावाद पर चर्चा करते हुए "वर्तमान" पर बल दिया । सौंदर्यशास्त्रीय क्षेत्र में और मूल्य-मीमांसा में तभी से वर्तमान [प्रकारांतर से अनित्यता और अस्थायित्व] मूल्यों का स्रोत बना और वह

किंतु आवश्यक है कि विपरीत, घातक और जीवन-शत्रु स्थितियों की सम्यक पड़ताल की जाय । इस संदर्भ में(Kitsch) से रुक्क हुए बिना हम उस "बाज़ार" का चित्र पूरी तरह नहीं उकेर सकते, जो वाम- से लगभग विलोम है ।

किच (Kitsch) : सौंदर्य- चेतना की विद्रूपिका (Parody)

जब से लिखित शब्द का अस्तित्व मिलता है, तभी से यह मानवीय भावना भी मिलती है कि "बोध" का अतिक्रमण किया जाय । काल-बोध के साथ "सनातनता" का प्रत्यय जोड़कर भी एक प्रकार से यही धेड चेष्टा की गयी । पूर्व में विवेचन हो चुका है कि अहं-बोध के साथ ही काल-बोध अस्तित्व में आता है और तभी अनिवार्य रूप से मृत्यु-भय जागता है और चिंता(Anxity) सिर उठाने लगती है । व्यक्ति अपने को असुरक्षित अनुभव करने लगता है । इस असुरक्षा और चिंता से उबराने में सहायक-प्रतीक विधान और उस पर आधारित आचार-विचार ही प्रकारांतर से संस्कृति-सभ्यता कहलाता है । "आधुनिक"युग में यह सनातनता का प्रत्यय पूरी तरह से उलट चुका है । परिवर्तन और नया-पन ही सारे कार्य-कलापों की आधारभूत प्रेरणा है । अनित्य या अस्थायी के सौंदर्यशास्त्र(Aesthetics of Transitoriness)[62] की कल्पना भी "आधुनिकता" की ही देन है । विस्मय

संस्कृति प्रकाश में आयी जिसे लियोनॉल ट्रिलिंग (Lionel Trilling) प्रति-संस्कृति या शत्रु संस्कृति (adversary culture) कहते हैं । Faces of modernity - Mateicalinescu P. 3-4.

63. Children of the Mire - Octavio Paz P 2-3

64. डेनियल बेल (Daniel Bell) ने अपनी पुस्तक 'The cultural contradictions of capitalism.' में विस्तार और गहराई से इन मुद्दों पर विचार किया है ।

का सौंदर्यशास्त्र (Aestnetics of shock) तथा प्रघात का सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics of surprise) भी आधुनिक संवेदना को ही प्रकट करता है।[63] एक तुच्छता की स्वीकृति और अंगभीरता का वर्चस्व अगर प्रति-बुर्जुआ संस्कृति के ऐसे लक्षण है, जो कला और जीवन में एक साथ दिखायी पड़ रहे हैं तो गहराई से देखने पर मालूम होता है कि "पूंजीवादी" प्रणाली ही उनके जन्म के लिए उत्तरदायी हैं। अपवाद के नये-नये आयाम जीवन और कला में उभर रहे हैं।[64] उद्योग धंधों में व्यक्ति से एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जा रही है कि वह मेहनती हो, तरक्की की लालसा रखें और वेतन आदि के प्रसंग में धीरज रखें लेकिन साथ ही दूसरी तरफ़ वे ही उद्योग अपने "उत्पादनों" और विज्ञापनों में, तात्कालिक खुशी, खाओ-पिओ, मौज-मज़ा, लापरवाही और "सदा आराम" का प्रचार-प्रसार करते हैं। स्थिति ऐसी है कि " One is to be 'straight' by day and a 'swinger ' by night" (Daniel Bell) यह स्थिति, जिसमें उपभोग ही उपभोग हैं, ऊब का भय है और प्रत्येक व्यक्ति पलायन की आवश्यकता को कहीं गहरे में महसूस कर रहा है; कला को मनोरंजन, खेल और नुमाइश के रूप में ही देखना-दिखाना पसंद करता है; उन कई कारणों में महत्वपूर्ण है, जो Kitsch के विकास के लिए जिम्मेदार है। आधुनिक युग का एक अनूठा करिश्मा ही इस Kitsch को कहा जा सकता है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सारे अंतर्विरोध जैसे किच Kitsch में उभर आते हैं। शास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र की परम्परा के प्रति विरोध प्रकट करता हुआ यह क्षण वादी सौंदर्यशास्त्र सामने आया है। स्थायित्व अथवा सनातनता के आदर्श तथा सौंदर्यबोधात्मक अतिक्रमणशीलता (Aesthtic Transeandence) को नकारते हुए ही "आधुनिकता" ने स्वयं को प्रत्यय के रूप में संभव किया है।

---

65. Faces of Modernity P.9 आधुनिकता के साथ हमारा भी सम्बन्ध है क्योंकि हम सौंदर्यशास्त्र पर अमूर्त और सामान्य ढंग से विचार नहीं कर रहे हैं बल्कि भविष्योन्मुखी "वर्तमान" काल ही हमारी चिंतन-धुरी है।

66. Ibid P.45 तय है कि सौंदर्य बोधात्मक आधुनिकता ने प्राचीन कालीन सौंदर्य विधानों के विरोध में एक आधुनिक ढंग से सौंदर्य की

किंतु किच् के लिए आधुनिकता के साथ-साथ पूंजीवादी तकनीक-तंत्र तथा व्यापारिक रुचियों का ताना-बाना भी उतना ही उत्तरदायी है । विशेषत: कला के क्षेत्र में क्रय-विक्रय का प्रवेश "किच" के लिए ज़मीन तैयार कर गया । औद्योगिक विकास के समानांतर "संस्कृति उद्योग" (culture industry) का भी प्रसार हुआ ; जिसमें प्रचुरता (affluence) और उपभोग (consumption) पर ही बल दिया गया । ऐसे में किच आधुनिक सभ्य जीवन का केन्द्रीय तत्व बन गया और एक ऐसी कला का वर्चस्व स्थापित हुआ, जो सामान्य रूप से आज़ हमारे चारों ओर है । हमें घेरे हुए हैं । "किच" तत्कालत्व के सिद्धांत (principle of immediacy) का उदाहरण बना । धन प्रचुरता में जल्दबाज़ी, प्रभावगामिता में तुरंत फुरंत किसी नतीजे पर पहुँच जाना और क्षणिक सौंदर्य "किच" के अंग बनें । समय-चेतन (Time -conscious) सभ्यता निश्चित ही वर्तमान-बोध को पुष्ट करती है किंतु अपेक्षाकृत विस्तृत मूल्य-संसार के साथ उसका मेल नहीं जमता । समय की बचत ताकि उसे गुज़ारा जा सके (save and to 'kill time') तत्काल और अनायास हासिल हो जाने वाला आनंद, जो किसी नशे की तरह मनुष्य को अस्तव्यस्त समय (=काल) चेतना से मुक्त करें, "सौंदर्य-बोध" के रूप में अपने को प्रमाणित करें और खोखले, अर्थहीन वर्तमान को सहनीय बनायें । मातेइ कलिनेस्कू (Matei Calinescu) ने आधुनिकता, हिरावल-दस्ता (Avant -Garde) पतनोन्मुखता (Decadence) के साथ किच (Kitsch) को अनिवार्य रूप से सम्बद्ध किया है ।[65] तथा इस का कारण "सौंदर्यबोधात्मक" बताया है । आधुनिकता को भी यहाँ एक अवधारणा रखी । बादलेयर स्वच्छंदतावाद (Romanticism) में पहली बार सौंदर्य की समकालीन अभिव्यक्ति देखी । 'For me, romantcism is the most recent, the most contemporary expression of beaty.' (Bandlaire As a literary critic P.40.

परम्परा को नष्ट करना ही अपना उद्देश्य रख कर अराजकतावाद भी कहीं "नयेपन" के सम्प्रदाय (Cult of New) में ही अंतर्भुक्त होता है । बाकुनिन की अराजकतावादी सूक्ति है - " To destroy is to create.'.

65. Ibid - P.117

सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यय के रूप में देखा गया है । सौंदर्य-बोधात्मक प्र
आधुनिकता ने "कलात्मकता के लिए" का नारा देकर पहली बार बढ़ती
हुई व्यापारिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का सूत्रपात किया ।[66] वस्तुत:
आधुनिकतावाद को ऐतिहासिक रूप से अग्रगामी न मान कर सौंदर्य-
बोधात्मक रूप से ही "आगे" मानना चाहिए । इसी प्रसंग में सही
आधुनिकतावाद और झूठे आधुनिकतावाद का भेद खड़ा किया गया है ।
"नये पन" के प्रति अतिरिक्त आग्रह और "क्षणवाद" ही उस तथा कथित
सही आधुनिकतावाद के प्रतिमान होंगे । शून्यवाद के कला-आयाम =
दादावाद ने"प्रति-कला प्रति-कला के लिए" (antiart for autiart's
sake) कहा तो यह एक आत्मघाती सौंदर्यशास्त्र को मान्यता देने
की अवयस्क चेष्टा ही थी । अराजकतावाद ने भी ध्वंस को सृजन से
समीकृत करके उस अवां-गार्द-प्रवृत्ति को ही पुष्ट किया, जो अतिवादिता
से ग्रस्त थी ।[67]

इस भूमिका के साथ ही "किच" का विवेचन यहाँ प्रासंगिकता
प्राप्त करता है । क्लीमेण्ट ग्रीन बर्ग (Clement Greenberg) ने
अगली टुकड़ी अथवा हिरावल दस्ता(about= Vant- Garde) के साथ ही
अनिवार्य रूप से पिछली टुकड़ी या चंदावल (rear guard) को जोड़ा
है, जिसे "किच" कहा है ।[68] सारे यूरोप के सांस्कृतिक जगत में इस सदी के

---

68. Where there is an avant - garde, generally we also find a rear guard. True enough - simultameously with the entrance of the avant-garade, a second new cultural phenomenon appeared in the industrial west; The thing to which the German gave the wonderful name of KITSCH ---- Kitsch is vicarious experience and falsified sensations. Kitsch changes according to style, but remains always the same, Kitsch pretends to demand nothing of its customers except

प्रारंभिक वर्षों से ही किच को आधुनिकता के सार के रूप में जाना जा रहा है । हेराल्ड रोज़ेन बर्ग (Herold Rosemberg) ने लोकप्रिय संस्कृति (Popular culture) की आलोचना करते हुए किच् के बारे में अपनी ज्ञात शैली में यों लिखा है " Kitsch has captured all the arts - - - - - when painter X of playwright Y begins to turn out X's and Y's for his readied audiences _ _ _ Kitsch. One of the best American poets has produced little else for years - - - - - In each case no question of dishonesty of "selling-out but of muscular slellxnem associated with finding an audience responsive to certian norms - - - - - In the present organization of society only Kitsch can have a social reason for being "[69]

इसे सामान्य जन-जीवन की दिनचर्या की विडम्बना ही कहा जायेगा कि आधुनिक की शर्त "नयापन" है और किच (Kistsch) में दुहराव, पिष्टपेषण और पिटे-पिटायेपन (Triteness) के अलावा कुछ नहीं होता । यह सांस्कृतिक अंतर्विरोध ही है कि किच को चाहे सौंदर्यशास्त्रीय श्रेणी में परिगणित करें या तकनीकी कोटि में रखें - वह अंततोगत्वा आधुनिकता (modernity) का उत्पाद (product) ही सिद्ध होगा ।[70] आर्थिक लाभ हानि की दृष्टि से जुड़कर किच कला और साहित्य को भी आर्थिक वर्गीकरणों (सस्ता-मंहगा आदि) से जोड़ देता है । चाहे लोक-गीत हो या नयी

. The tradition of the New. Harold Rosenberg P.268

कला समीक्षकों में हेराल्ड रोज़ेन बर्ग का नाम विश्वविश्रुत है । आधुनिक कलान्दोलनों में उनकी पैठ न सिर्फ गहरी है बल्कि सृजनात्मक चरित्र लिये हुए हैं । अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'The anxious object' में भी वे पॉप कला की प्रवृत्तियों (Comic- strips, blowups and mock advertising displays) का विवेचन करते हुए आज के सामान्य जन-जीवन के किच-वातावरण को ही महत्ता देते हैं - 'Entire Kitsch environment of present day public life' P.28

कविता - बाज़ार के नियमों से प्रभावित होने लगते हैं । रंगीन पत्रिकाओं और व्हीलर के बुक-स्टाल्स पर बिकने वाले तड़क-भड़कदार उपन्यासों या पॉकेट बुक में इस किंचित् वातावरण के आस्वाद-विषयक आयाम को स्पष्ट ही देखा जा सकता है । चित्रकला या मूर्तिकला तो प्रतिलिपियों की बिक्री से सम्पूर्णतः किंचित् वातावरण में पण्य कला होकर रह गयी है । घर की सज्जा उस में निवास करने वाले व्यक्ति की आय पर निर्भर होती है और कला जब किसी न किसी अर्थ में "सज्जा" में बदल गयी हो ।"घर" ही नहीं दफ्तर या कला - दीर्घा भी। या उसी में घट कर रह गयी हो (reduced) तो उसका सस्ता-महंगा होना निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण होगा ही । कला-आस्वाद विषयक सौंदर्य -शास्त्रीय विमर्श इसीलिए "बाज़ार" की ओर से आँखें नहीं मूंद सकता । कलाकृतियाँ अब अपने सृजन-क्षण से "उपभोग किये जाने तक" की यात्रा बाज़ार के बीच में ही संपन्न करती है ।[7] परिणामस्वरूप अंतर्विरोध अतिरिक्त रूप से तीव्र हो गये हैं । कहना न होगा कि विभिन्न किस्म के पुरस्कार भी अब अपनी प्रेरणाओं और प्रक्रियाओं में बाजार से ही संचालित होते हैं । पुरस्कृत कृतियाँ भी ड्राइंग रूम में सजकर गृह-स्वामी के सुसंस्कृत होने का प्रमाण देती है ।

. Faces of Modernity - Matei Calinescu P.236.

भारत जैसे देश के संदर्भ में किंच की स्थिति बड़ी ही विशिष्ट है । अक्सर अमरीकी अर्थशास्त्रियों-समाजशास्त्रियों द्वारा "तीसरी दुनिया" में इसकी गिनती होती है । किंच पूरी तरह से व्यापारिक सनकों (फैशन आदि) और अन-टिकाऊ सामग्री (चाहे भावना - कल्पना ही वह सामग्री क्यों न हो) पर आधारित होता है और परिणामस्वरूप एक ऐसी कला (साहित्य) अस्तित्व में आती है जो तुरंत अक्ल आनंद दें, लोकप्रिय वगैरह हो और फिर जल्द ही किसी नयी रचना के लिए स्थान खाली कर दें याने भुला दी जाय । सिने-गीतों या उन की समान-धर्मा कवि-सम्मेलनी रचनाओं को हम इसके अंतर्गत देख सकते हैं । विडम्बना यह है कि किंच का सम्बन्ध "आर्थिक तत्वों" से घनिष्ठ होता है और आर्थिक लाभ से जुड़कर तो वह बाजारू ही हो गयी है । ड्राइंग-रूम में रखी जानेवाली व्यावसायिक पत्रिकाओं की

यहाँ अलेक्सी द तोक्वेवाइल (Alexis de Tocqueville)
की एक प्रसिद्ध पुस्तक "Democracy in America " के स्मरण के बहाने हम आधुनिक प्रजातंत्र का कला के साथ क्या रिश्ते हो सकते हैं ? - इसकी पड़ताल कर सकते हैं । कहा जा सकता है कि ये प्रजातंत्र तथाकथित ही हैं और वास्तविक प्रजातंत्र पर यह विवेचन लागू नहीं होगा । यह बहस प्रस्तुत शोध प्रसंग के संदर्भ में आवंतर-चर्चा मात्र होगी कि सही प्रजातंत्र और झूठे प्रजातंत्र को कैसे पहचाना जा सकता है ? अमेरिकी प्रजातंत्र का भारतीय प्रजातंत्र से तकनीकी अंतर होते हुए भी दोनों के चरित्रों में इतनी समानता तो है ही कि हम कला और सौंदर्य के सम्बंध में उनके कार्य को लेकर कुछ सामान्य किस्म के नतीजे प्राप्त कर सकते हैं ? सृजन और उपभोग के स्तर में गिरावट होने से मौजूदा प्रजातंत्र का गहरा सम्बन्ध है । जहाँ तक कला के उपभोक्ताओं का प्रश्न है, उनकी संख्या निश्चित रूप से बढ़ती है किंतु रुचि संपन्न और संवेदनशील उपभोक्ताओं की संख्या में भारी कमी हो जाती है । ऐसी स्थिति में कलाकार और शिल्पी जल्दबाज़ी में अपूर्व किस्म की कला - जिनको किस्से (art commodities) बहुतायत से तैयार करते हैं । उन्नीसवीं

सज्जा, उनका आकर्षक आवरण-पृष्ठ तथा "नौ से पाँच बजे तक (Nine to five- ers) दफ्तर में प्रति सृजनात्मक श्रम करनेवाले मध्यवर्गीय बाबुओं की उत्तेजना-लोलुप रुचियों को ~~ढकने~~ तृप्त करने वाले कथ्य, विषय-वस्तु, रूप-विधाएँ और ले-आउट - साहित्य की मूल्यवत्ता पर ही निर्णायक प्रभाव डालने लगे हैं ।

पिछले दिनों कविता की दृष्टि से एक नयी बहस हिंदी साहित्यिक जगत में छिड़ी है । सरकारी खरीद को केन्द्र में रखकर । एक प्रदेश विशेष के संस्कृति विभाग ने साहित्य-संस्कृति के उत्थान का बीड़ा उठाया है और कविता पुस्तकों की थोक खरीदी की जाती है । परिणामस्वरूप प्रकाशन-जगत में कविता-पुस्तकों की बाढ़-सी आ गयी है । अब अगर नागार्जुन, शमशेर और त्रिलोचन जैसे वरिष्ठ कवियों की पुरानी कविताएँ भी इसी "बाढ़" की वजह से प्रकाशित हो सकी हैं तो इसे बाज़ार की घटना मानें या साहित्य की ? इन पुस्तकों के कारण अब पत्रिकाओं में कविता-विधा की चर्चा विस्तार

सदी का प्रारंभ आधुनिकता का भी प्रारंभ माना जाता है । ताक्वेवाइल ने उस समय की "आधुनिकता" की बुनियादी प्रेरणाओं में "विलासिता के पाखण्ड"(The hypourisy of Luxury) को बतलाया है । उसका विवेचन आज पर और भारतीय प्रजातंत्र के संदर्भ में भी कला पर पूरी तरह से लागू होता है । कला-उत्पादनों में बहुलता किंतु गुणवत्ता की दृष्टि से उनका हीन होना, शाश्वत और महान के स्थान पर आकर्षक और रमणीय होना तथा यथार्थ से अधिक प्रकटन पर बल देना[72] आदि यदि उसकाल में सत्य था तो आज के समय में अधिक सत्य है । आस्वाद-विषयक क्षेत्र में प्रदूषण का एक कारण प्रदर्शन और प्रतिष्ठा को अनावश्यक महत्व दिया जाना भी है । सबसे पहले तो धनिक वर्ग और फिर मध्य-वर्ग प्राय: यह प्रयत्न करते पाये जाते हैं कि प्राचीन सामंती कलारुचियों का अनुकरण करें और यह तथ्य सौंदर्य रुचियों के बारे में भी सच है । जिस कला को वे पसंद करते हैं, जिसका वे सृजन करते हैं और जिसे वे खरीदते हैं, वह कला उनके लिए सामाजिक प्रतिष्ठा की निशानी होती है । ऐसे में जो कला न उन रसिकों, कलाकारों और क्रेताओं की सापेक्षता में पनपती है, उस के लिए कतई आवश्यक नहीं होता कि वह भाषा या रंग या अन्य रचना-सामग्री के साथ सृजनात्मक बर्ताव करें और सौंदर्यबोधात्मक जटिल ताने-बाने में स्वयं को निर्दिष्ट करें बल्कि मनोरंजक और आकर्षक और आर्थिक दृष्टि से "पूर्ति" भर हों अर्थात् ग्राहकों के पैसें को ध्यान रखें

से होने लगी है और"कविता की वापसी"का एक नारा भी साहित्यिक वायु मण्डल में तैर रहा है । निष्कर्ष रूप में यह था, ऐसी स्थितियाँ बाज़ार और साहित्य के सम्बन्धों पर एक "सार्थक टिप्पणी तो है ही

. 'The productions of artists are more numerous, but the merit of each production is dimished. No longer able to soar to what is great, the artist, cultivate what is pretty and elegant and appearance is more attended than reality.' Faces of Modernity P.227 Meter Calinescu

और कलाकारों को यथेच्छ मुआवज़ा मिलें । अब अगर ऐसी स्थिति में कवि-कलाकार पाठक-श्रोता या रसिक वर्ग की ओर से मुँह फेर लें तो बिना सारी स्थितियों का सापेक्ष विमर्श करें, हम इस प्रतिक्रियावादी या पतनोन्मुखी कार्य नहीं कहेंगे । सौंदर्यबोधात्मक क्षेत्र में आर्थिक लाभ-हानि का विचार करते हुए जन-समूह की मांगों की पूर्ति करते रहना तो स्पष्ट ही एक गलत और घातक कार्रवाई होगी ।[73]

संस्कृति की इस अलेजलूल (absurd) परिणति को भाँपकर वेब्लेन (veblen) ने सन् 1899 में अपनी बहु-चर्चित पुस्तक (The theory of Leisure class) में सारी संस्कृतियों को छद्म संस्कृतियों में घटा कर देखा है ।[74] निश्चित ही यह निष्कर्ष "अति-व्याप्ति" मूलक था और अडोनों ने ठीक ही वेब्लेन के "सुस्पष्ट उपभोग" (conspicuous consumption) के सिद्धांत को "कृत्रिम बिम्बों"(artificial imagery) से जोड़ा है और संस्कृति से दूर का ही सम्बन्ध बतलाया है ।[75] किंच को प्रतिष्ठा से जोड़े या आधुनिक रोज़मर्रा की क्षुद्र जिंदगी से एक आनंदायी पलायन के रूप में देखें इतना तो निश्चित है कि उसमें अनुकरण, नक्ल, जालसाजी में से कोई एक एक अवगुण तो होता ही है और इसीलिए कालिनेस्क्यू ने इसे "छल का सौंदर्यशास्त्र" अथवा "आत्म-छलका सौंदर्यशास्त्र(aesthetics of deception or self-deception) कहा है ।[76]

---

73. The new poetic - C.K.stead - P 11 - 14 ।
लेखक ने एक त्रिभुज की कल्पना की है । यथार्थ, दर्शक या पाठक और कवि । यदि कवि दर्शक या पाठकों के अधिक निकट आता है तो भय है कि कहीं वह "यथार्थ" से दूर हो जाये । और यथार्थ (काव्य-सौंदर्य) से अतिरिक्त निकटता पाठकों से दूर करदेती हैं । एक संतुलन आवश्यक है । स्टीड ने ईलियट की टेनिसन विषयक सम्मति को उद्धृत किया है कि किस प्रकार वह अपने पाठकों की आस्वाद विषयक भूमि द्वारा आत्मसात कर लिया गया था ।

वेब्लेन ने "अवकाश" और "उपभोग" का केन्द्र में रखा । प्रदर्शन के उद्देश्य से कलाकृतियों को खरीदने की बात, उसके मतसे, प्रारंभिक बर्बर समाजों में, अलग रूपों में व्याप्त थी । जब समूचीमूल्य-सरणि आर्थिक भेदों

पूंजीवादी युग का गहरे तक पैठा हुआ यह भ्रम कि "सौंदर्य खरीदा और बेचा जा सकता है", इस विज्ञ-परिवेश अथवा विज्ञ-वातावरण की सृष्टि में अपना योग देता है। यह ऐतिहासिक है अथवा ऐतिहासिक चरित्र से युक्त आधुनिक सौंदर्य-बोध है और अगर कुल मिलाकर एक "मिथ्या-कथन का सौंदर्य-बोधात्मक रूप (aesthetics form of lying) है, तो इससे पूंजीवादी जगत की वह मूर्खतापूर्ण किंतु व्यापक प्रवृत्ति ही प्रकट होती है। (संदर्भ - पूर्व - उद्धृत मार्क्स का उद्धरण = "capitalism has made is so stupid and onesided that objects exist for us only if we can possess them of if they have utility)"

जिसमें सुंदरता भी अन्य चीजों की तरह "मांग और पूर्ति" के अर्थशास्त्रीय नियम के अनुसार सामाजिक स्तर पर वितरित हो रही हैं। एक बार "मौलिकता" या "अद्वितीयता" का दावा समाप्त हो जाय तो "प्रति-लिपियों" मात्र आर्थिक प्रतिमानों पर ही आधारित रहेंगी। महान से महान चित्र की प्रतिलिपि या संगीतकार का कैसेट या रेकार्ड या कवि का संग्रह-एक बार खरीद लिया जाय तो यह उपभोक्ता पर निर्भर होगा कि वह कैसे, कहाँ उसका आस्वादन करें। प्राकृतिक सुंदरता तक अब पर्यटन-उद्योग के हाथों व्यावसायिक बनकर "इस्तेमाल" हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे ताजमहल का दूधिया सौंदर्य हो या कन्याकुमारी का समुद्री किनारा; उनकी "सुंदरता" का प्रतिमान वे पिक्चर पोस्ट कार्ड होंगे, जो बहुतायत से रंग-बिरंगे, आकर्षक नमूनों में छापे जाते हैं। अब तो

उपभेदों की प्रतीक हो तो सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों को अलग कैसे रखा जा सकता है। वेब्लेन के अनुसार, आधुनिक समाज ने लूट-खसोटवाली संस्कृति (predatory culture) की बुनियादी चारित्रिक विशेषताएँ अपना ली है। ऐसे में उस विवादास्पद प्रत्यय "विज्ञ" को भी क्या हम बर्बर या प्रागैतिहासिक समाज की विरासत मानेंगे? अडोर्नो ने इस बिंदु पर वेब्लेन की आलोचना की है और विज्ञ को विशिष्ट सामाजिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा है। सौंदर्यानुभवों के निर्धारण में कई सामाजिक तत्व सक्रिय होते हैं किंतु इतना

देवी-देवता तक मुलगाँवकर की तूलिका के आश्रित दिखायी देते हैं और अगर प्रत्येक देवी किसी सिने-तारिका से मिलती-जुलती हों तो यह किच का प्रभाव ही होगा । दर्शन, धर्म, राजनीति आदि ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जीवन का, जहाँ किच् का वर्चस्व स्थापित न हुआ हो ।[74] पिछले दिनों निम्न पूंजीवादी प्रवृत्तियों को पर्याप्त सामाजिक-सांस्कृतिक सहयोग मिला है और क्रांति, विद्रोह, परम्परा-विरोध आदि का धडल्ले से प्रसार हुआ है । यद्यपि किच का अपना चरित्र-गत स्वभाव किसी भी प्रकार की जोखिम को उठाने का साहस नहीं कर सकता फिरभी तथाकथित विद्रोही सांस्कृतिक-साहित्यिक रूपों का "इस्तेमाल" करता है । इस इस्तेमाल को "सौंदर्यबोधात्मक विज्ञापन बाज़ी" (aesthetic advertising) कहा जा सकता है ।[75] किच का विश्लेषण-विवेचन वहाँ कठिन हो जाता है, जहाँ मौलिक और सही क्रांतिकारिता को छद्म, या नक्ल से अलग करना ही पहली जिम्मेदारी हो जाती है । यहीं किच को परिभाषित करने का दायित्व सम्मुख आता है, जो आसान नहीं है । उसकी शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करें तो वह घटिया क्ला का पर्याय ठहरता है । उसे जालसाजी, नक्ल या झूठ से भी जोड़ा गया है । फिर "घटिया आस्वाद स्तर"(bad taste) से भी उसे एक मेक करके देखा जाता है । यहीं "आस्वाद-स्तर" के घटिया-बढ़िया की कठिन बहस भी आवश्यक हो जाती है । जालसाजी और झूठ, उसे "नैतिकता" से भी जोड़ते हैं ।

तो सत्य ही है कि प्रतिष्ठा की लालसा और क्ला की आवश्यकता की अनुभूति को एक ही नहीं माना जा सकता । क्ला अथवा छद्म-क्ला की व्याख्या मात्र प्रतिष्ठा-लालसा के आधार पर नहीं की जा सकती । छद्म क्ला अथवा किच् का उपयोग तथा केवल प्रदर्शन के उद्देश्य से किया जाने वाला उपभोग(consumption) बुनियादी शर्तों में ही अलग-अलग होता है । किच के स्नेही जन अथवा उपभोक्ता प्रतिष्ठा-लालसा रख सकते हैं किंतु सिर्फ प्रतिष्ठा-लालसा ही उनके और किच के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण नहीं है । किच की बुनियादी आधुनिकता को अडोर्नो ने इस तरह स्पष्ट किया है कि बेन्जेन के भ्रम का खण्डन हो जाता है । "किच" की ऐतिहासिक आवश्यकता

एक बात यहाँ महत्वपूर्ण मानी जा सकती है कि किच ही एक ऐसा पद है, जो विश्व-जनीन है । इसका उत्स जर्मन है । कालिनेस्क्यू ने सिर्फ स्पेनी शब्द cursi और रूसी शब्द poshlust को किच की अर्थ ध्वनि के निकट पाया है । सबसे पहले इसका प्रचलन उन्नीसवीं शती के छठे और सातवें दशक में हुआ, जब यह म्यूनिख के कला व्यापारियों के बीच "सस्ती कला सामग्री" के लिए व्यवहृत हुआ करता था । बीसवीं शती के पहले दशक में यह विश्वव्यापी हुआ । इस की शब्द व्युत्पत्ति था अर्थ-विकास भी पर्याप्त विवादास्पद है ।"[76]

सार रूप में किच की तीन बुनियादी विशेषताएँ देखी गयी हैं । 1. सतहीपन 2. अपेक्षाकृत सुलभ 3. सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से रद्दी या घटिया । यद्यपि किच् के कुछ अन्य चिंतक इन तीन बुनियादी विशेषताओं में संशोधन करना चाहेंगे । गिलबर्ट हाइट (Gilbert Highet) किच को रूसी क्रिया-पद Keetchtsyal से जोड़कर "भद्दे प्रदर्शन और बनावटी घमण्ड" आदि के साथ देखा है । हाईट ने किच की रचना-प्रक्रिया पर बलाघात देते हुए उसकी सरलता के प्रत्यय को नकारा है ।[77] जो भी हो, किच कौं इस्तेमाल घृणित, अरुचिकर आदि भावनाओं को व्यक्त करने

और उसके अंतर्गत निहित आधुनिकता के कारण ही उसमें एक अनिश्चय, भ्रम-मूलकता और एक सरल किस्म के विरेचन का आश्वासन मिलता है । मोहई कालिनेस्क्यू के अनुसार - What constitutes the essence of Kitsch is probably its opened imdeterminacy , Its vague hallucinatory "power, and its spurious dreamines , its promise of an easy catharsis " Faces of modernity p 228

72. Studies in philosophy and social sciences - Adorno P. 40

73. Faces of modehity P.229

आर्थिक प्रतिमान जब "कला-सौंदर्य" के लिए निर्णायक हो जायं तो "सौंदर्य" रचना अपेक्षाकृत सरलकार्य हो जाता है । वह अगर "छल" हो या "आत्म-छल, तो यह विशिष्ट पूंजीवादी समय=[वर्तमान] के किच चरित्र को ही उजागर करता है ।

के लिए ही प्राय: होता है । किंतु प्रस्तुत शोध-प्रसंग में हम कालिनेस्क्यू की इस सलाह को मानना चाहेंगे कि किच का वहाँ प्रयोग नहीं हो सकेगा या नहीं होना चाहिए, जहाँ सौंदर्यबोधात्मक स्थिति न हो ।[78] दूसरे शब्दों में, किच अनिवार्य रूप से एक सौंदर्यबोधात्मक श्रेणी (aesthtic category) के रूप में देखा जाना चाहिए । पहले किच को "छल का सौंदर्यशास्त्र" कहा गया था । इस प्रकार किच के उतने ही भेद-उपभेद हो सकते हैं, जितने कला-गत छल रूप के होंगे और इनकी कोई सीमा नहीं । यदि वर्गीकरण का मोह छोड़ दें तो यह निश्चित है कि "सौंदर्यबोधात्मक अपर्याप्तता या अपूर्णता (Aesthetic ~~category~~ Inadequacy) किच का प्रधान लक्षण है । प्रस्तुत शोध-प्रसंग में हमने डॉ० मेघ की सौंदर्य-सम्बन्धी परिभाषा को मान्यता दी है कि × × × सौंदर्य प्रभाव (अनुभववादी) की विशिष्टता है ।" (हमने इसी अध्याय में सौंदर्यबोध के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रशिक्षण की चर्चा करते हुए इस परिभाषा को उद्धृत किया है ।) किच-सम्बन्धी इस चर्चा में किच प्रभाव (Kitsch effects की बात ज़रूरी है और इस प्रसंग में डॉ० मेघ की उपर्युक्त परिभाषा का स्मरण न केवल प्रासंगिक है बल्कि विषय-विकास के लिए सहायक भी होगा । किच प्रभाव निश्चित ही अपर्याप्त या एकांगी या अधूरा "सौंदर्य बोधात्मक प्रभाव होगा और उसमें सहृदय या पाठक की सांस्कृतिक-प्रशिक्षण संबंधी

: किच की संभावना ही लुप्त प्राय: हो गयी थी, जब अभिजात-कला के विरोध में आधुनिक-कला का वर्चस्व स्थापित हुआ था । एक सस्ते किस्म की नक्ल, धार्मिक चित्र या मूर्तियाँ, भद्दी स्मारिकाएँ और टेढ़ी-मेढ़ी पुरावस्तुएँ ही किच का क्षेत्र हो गयी थी और यह आशा नहीं ~~थी~~ की जा सकती थी कि यह "कला" के अपने "विशुद्ध" जगत में भी घुस पैठ करेगा । किंतु मध्य वर्ग का उदय और विकास, किच की दृष्टि से सर्वाधिक लाभदायी और अनुकूल सिद्ध हुआ । छद्म कला = किच में एक शक्ति होती है, जो सरलतर तरीकों से सांस्कृतिक ऊँचाइयों वाले आनंद-प्राप्ति का आश्वासन देती है । सौंदर्य को लेकर जो एक लोक-प्रचलित, सरल और लोक प्रिय किस्म की ललक मिलती है, उसे भी शमित करने की क्षमता किच में होती है । मध्यवर्ग का एक अमूर्त आदर्श होता है, जो सुंदरता को एक लचकीले ढंग से, हालांकि पारम्परिक ढाँचे

न्यूनता जिम्मेदार नहीं होगी बल्कि कला-सामग्री [=काव्य-सामग्री] का त्रुटिपूर्ण संयोजन ही उत्तर दायी होगा । डॉ० मेध ने "साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक नामक अपनी महत्वपूर्ण कृति में "उत्तर साक्ष्य" शीर्षक के अंतर्गत उन स्थितियों की पड़ताल की है, जो "आतंक" की भूमि तैयार करती है । जहाँ तक "फूहड़" या "विकराल" के "सौंदर्य-तत्व" होने का प्रश्न है, यदि वह सचमुच "आनंद और आंतक" की द्वंद्वावस्था को प्रस्तुत करता है तो प्रस्तुत प्रसंग में हम भी उसे "सौंदर्य" ही मानेंगे । किंतु यदि वह छद्म हो, मिथ्या-चेतना (False consciousness) से उपजा हो तो क्या वह "सौंदर्य" होगा ? डा० मेध ने इस मुद्दे को बहुत थोड़े में और संश्लिष्ट रूप देकर प्रस्तुत किया है किंतु यह स्पष्ट नहीं होता कि जब वे "हॉरर कामिक्स, टार्जन" आदि की बात करते हैं या "जादू टोना" नामक हिन्दी फिल्म तथा "ओमेन", "दि एक्सोर्सिस्ट" जैसी अँग्रेज़ी फिल्मों की चर्चा करते हैं तो क्या उन्हें "सौंदर्यबोध की दृष्टि से "विपरीतों का सफल संयोजन मात्र मानते हैं ?[79 82]

में ही देखना चाहता है । चूंकि सौंदर्य-उपभोक्ताओं [पाठक-श्रोता-दर्शक वर्ग] और सौंदर्य-रचयिताओं [कलाकारों] में मध्यवर्ग की ही बहुलता रहती है, इसीलिए मध्यवर्ग की छद्म-जीवन-चर्या [प्रतिष्ठा-सुख आदि में उच्च वर्ग को आदर्श मानना] का किच के विकास में अत्यधिक योग रहता है । भारत के प्रसंग में नव-धनाढ्य वर्ग ने भी पिछले दिनों साहित्य-संस्कृति के अपने फैशन-परक प्रेम से किच को ही पुष्ट किया है ।

इसका साहित्यिक उदाहरण रूसी युवा कवि एवतुशेंको (Yevtushenko) हो सकते हैं । राजनीतिक कथ्य का लोकप्रियता के लिए "इस्तेमाल" उस काव्यात्मक किच (Poetic Kitsch) की रचना करता है, जो मायकोवोस्की (Mayakousky) की भाषा-शैली के प्रयोग द्वारा क्रांतिकारिता का भ्रम [?] खड़ा करता है । एवतुशेंको की कविता "The Hydroelectric power station of Bratsk में एक [घिसा]-पिटा संदेश हो सकता है, पर वह किच नहीं है । राजनीतिक कथ्य को किच तभी कहा जा सकता है, जब वह अपनी झूठी पहचान कायम करता है और कविता की तरह आचरण करता है, बिना काव्यात्मकता की शर्तों को पूरा किये । एक ऐसी कविता या कलात्मक

डॉ० मेघ "किच" वातावरण से अनभिज्ञ नहीं है किंतु वे अपने ग्रंथों में संभवत: सकारात्मक मुद्दों पर ही अपना ध्यान टिकाये रखना चाहते हैं। वे अपने सौंदर्यबोधशास्त्र "सम्बन्धी लेखन में पूरे साझीदार रहते हैं और परिणाम स्वरूप सही कला और छद्म-कला - दोनों ही उनके यहाँ समानभाव से आदर पाते रहते हैं। "थैंक्यू मिस्टर ग्लाड" और "घासीराम कोतवाल" जैसे नाटक एक साथ उल्लिखित होते हैं जब कि एक किच है और दूसरा कला। कहा जा सकता है कि अपने व्यावहारिक निष्कर्षों में डॉ० मेघ संभवत: अपनी साझेदारी के कारण भावकुल होते हुए एक उदार किस्म का समन्वयवादी रुख अपनाते हुए प्रतीत होते है। जहाँ तक सिद्धांत पक्ष का प्रश्न है, हिन्दी जगत में उनका स्थान अप्रतिम है।

किच-प्रभाव की चर्चा में यह विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि चूंकि कलाकृति तैयार और समाप्त (ready and finished) नहीं होती, इसलिए उसका सृजन-पक्ष ही नहीं बल्कि आस्वाद-पक्ष भी उसे किच में घटा सकता है। सांस्कृतिक समारोहों में मात्र एक "रूढ़ि-निर्वाह के लिए निराला का "वीणा वादिनी, वरदे" गाया जाना उक्त प्रार्थना-गीत

उत्पाद (artistic product) जो सिर्फ विचारधारापरक संदेश का पैकेट भर रहे, निश्चित ही किच का उदाहरण होगा। मायकोवोस्की जहाँ मौलिक रूप से क्रांतिकारी और कवि था वहाँ दूसरे के पास एक ऐसी प्रचार धर्मी काव्य-चातुरी मात्र है, जो सत्ता-सम्मत विचारधारा को क्रांतिकारी बाना पहना कर बेच सकती है। किच आधुनिक सौंदर्यशास्त्र की एक ऐसी अवधारणा है, जिसे कला की तरह ही आसानी से विवेचित नहीं किया जा सकता। जिस बिंदु पर धर्मवीर भारती की "मुनादी" शीर्षक कविता या दुष्यंत कुमार की प्रसिद्ध राजनीतिक ग़ज़लें किच की समानार्थक होती है, उसे परिभाषित करना सरल नहीं है।

यों तो मोटे तौर पर "निम्नस्तरीय कला-सामग्री" ही इस का अर्थ होता है। किंतु कुछ लेखक-विचारक इसे अंग्रेजी शब्द Siketch से जोड़ते हैं। एक जर्मन क्रियात्मक शब्द (verkitsch) से भी इसे जोड़ा जाता है, जिसका अर्थ "सस्ता बनाना" होता है। गली-कूचों से कचरा-कूड़ा

को किच बना देता है । शादी-ब्याह के मौके पर रविशंकर का सितार हो या बिस्मिल्ला खाँ की शहनाई-किच से अलग नहीं होती । उसमें उनका वह उपयोग ही उन्हें "किच बनाता है, जो सौंदर्य बोधात्मक प्रभाव को क्षतिग्रस्त करते हुए उसे किच प्रभाव में बदल देता है । कहना न होगा कि ड्राइंग रूम में सजी रंगीन पत्रिकाओं में छपा साहित्य या तड़क-भड़क वाले समारोहों - कवि सम्मेलनों में कविता-पाठ उपयोग केन्द्रित किच-करण के ही उदाहरण होंगे । यहाँ निश्चित ही हम अतिशयोक्ति करते हुए प्रतीत हो सकते हैं । यदि हम उन सौंदर्य-वस्तुओं अथवा कलाकृतियों को किच न कहें बल्कि यह कहें कि वे अपनी सज्जा-मूलक भूमिका में किच-जगत में ही स्थित होने के लिए बाध्य होती है ; तो संभवत: किसी को आपत्ति नहीं होगी । वीणा वादिनी वरदे गीत भले ही किच न हो जाता हो पर उसका किच की भूमिका में इस्तेमाल तो होता ही है । इस इस्तेमाल और कलात्मक शोषण की ओर से भी जागरूक रहना आवश्यक है क्योंकि किच-संसार धीरे-धीरे श्रेष्ठ कला-कृतियों का भी मात्र सज्जा=किच् बना देता है ।

बटोरने के अर्थ में भी एक जर्मन क्रिया(Kitschen) का प्रयोग होता है । दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी में इसका अर्थ "पुराने फर्नीचर को नया बनाना" भी होता है । किच पर विपुल यूरोपीय साहित्य उपलब्ध है । विस्तार के लिए देखिए (The Faces of modernity - Matia Calinescu P. 232- 234

74. Kitsch " in a clerk of oxenford P.211

हाइट इस प्रसंग में तो सही है ही कि कई बार घटिया कला या कविता भी बिकी योग्य होने के लिए पर्याप्त प्रयास जनित होती है ।

78. Faces of Modernity P. 235 " Kitsch cannot be applied however to objects or situations that are completely unrelated to the broad domain of aesthetic production or aesthetic reception "

विभिन्न सौंदर्यशास्त्रियों के-अनुसरण ने अपने अपने विचार-दर्शनों के अनुसार किच का वर्गीकरण उपस्थित किया है । साहित्य के संदर्भ में दो वर्गीकरण

प्राय: इससे विपरीत भी घटता है । कोई घटिया या कलाहीन कलाकृति भी सज्जा-वस्तु बनकर वही आदर पाने लगती है, जो किसी श्रेष्ठ कलाकृति को मिलता है / मिलना चाहिए । ये दोनों ही किच-जगत के अपने अतिवाद हैं । प्रामाणिक और सच्ची कलाकृति का सज्जा मात्र बन के रह जाना और किसी अकलात्मक कलाकृति का मात्र सज्जा होने के कारण श्रेष्ठ कला माना जाना - इन दोनों बिंदुओं के बीच अनगिन उदाहरण सौंदर्य बोधात्मक अधूरे पन ‖=किच‖ के हो सकते हैं ।

वस्तुत: किच एक ऐसा प्रत्यय है, जो कई दृष्टियों से विवेचित हो सकता है । स्वच्छंदतावाद(Romanticism) में अगर सौंदर्यबोधात्मक पलायन (aesthetic escapism)ा को बढ़ावा मिला तो कालांतर में यह तथ्य भी किच के व्यापक प्रसार में सहयोगी हुआ। आधुनिक प्रजातंत्र और स्वच्छंदतावाद के उदय का घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रजातंत्र पूर्व और प्रजातंत्रीय व्यवस्थाओं के साहित्य में गुणात्मक अंतर होता है और तोक्वेवाइल ने इसे प्रजातंत्र नागरिक की आस्वाद विषयक मनोस्थिति से सम्बद्ध किया है । श्रम और अवकाश का चरित्र "आस्वाद" को प्रभावित करता है । बौद्धिक और मानसिक आनंद को जीवन का लक्ष्य मानना तथा भाग-दौड के

उपस्थित किया है । साहित्य के संदर्भ में दो वर्गीकरण प्रमुख रूप से प्राप्त होते हैं । !. प्रचारधर्मी किच (propaganda) , इस में राजनीतिक और धार्मिक किच गिने जा सकते हैं और दूसरा मनोरंजन धर्मी किच । ‖इसमें रूमानी कहानियाँ-कविताएँ, उत्तेजक और सनसनीखेज साहित्य आदि आता है‖ स्पष्ट है कि यह विभाजन खासा काम चलाऊ और अपर्याप्त है । प्रचार और मनोरंजन-श्रेष्ठ साहित्य में न होता हो, ऐसा नहीं है । साथ ही प्रचार भी सांस्कृतिक दृष्टि से मनोरंजक हो सकता है और मनोरंजन भी प्रचारात्मक उद्देश्य रख सकता है । एक सौंदर्यशास्त्री (Hans Egon Holthusen) ने "मीठा किच" और "खट्टा किच" नामक विभाजन भी किया है, जो भावुकता आदि के आधार पर है ।

जीवन में क्षणिक आराम के लिए साहित्य तथा अन्य कलाओं का स्मरण करना "मांग" (Demand) के चरित्र को गढ़ता है और जहाँ पूर्ति (supply) की बाध्यता हो, वहाँ मांग का चरित्र ही पूर्ति के चरित्र को निर्धारित करता है । प्रजातंत्र में एक सामान्य पाठक की आवश्यकता (छद्म आवश्यकता ?) क्या होगी ? उसके पास, अवकाश-काल की कमी होगी । वह उस सीमित समय का अधिक से अधिक उपभोग करना चाहेगा । वह ऐसी पुस्तक को प्राथमिकता देगा, जो जल्द से जल्द पढ़ी जा सके, भरपूर मनोरंजन दे सके, और किसी खास ढंग के प्रशिक्षण या ज्ञान की मांग न करें । सौंदर्य के सम्बन्ध में भी वह कठिनाई से बचना चाहेगा । एक नीरस और घटना विहीन जिंदगी जीते हुए वह तीव्र आवेगों के लिए लालायित रहेगा, विचलित होना चाहेगा.....कलाकारों के लिए ऐसे में आवश्यक होगा कि पाठक को विस्मय-सुख दें न कि किसी उदात्त आदर्श के जटिल झमेले में डालें, आवेगों की तीव्रता को ध्यान में रखें न कि आस्वाद के सौंदर्य का लक्ष्य अपनायें । ऐसे में महाकाय ग्रंथों का स्थान छोटे आकार की पुस्तकें ले लेती हैं । बाज़ार और व्यापार का प्रवेश कला में हो जाता है । कलाकार-कवि को भी सरलता से पैसा और प्रसिद्धि मिलने का आश्वासन रहता है । कला मनोरंजन धर्मी मात्र रह जाती है, इच्छित और आशानुकूल प्रभाव डालती हैं, कलाकारों में "व्यापारिक उत्साह" (Trading spirit) जागता है, और जनता की मनोवैज्ञानिक जरूरत कि जो उबाउ जिंदगी से भागने की होती है वह भी पूरी होती है । समाजशास्त्रीय दृष्टि से किच् को इसी भूमिका में समझा जा सकता है ।[88]

---

88. साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक - डॉ० रमेश कुंतल मेघ पृष्ठ 40(से 40(. वस्तुत: डॉ० मेघ यह तो बताते हैं कि वे इस सम्बन्ध में भ्रमित मति नहीं है । उनका यह कथन-"आंतक एवं फंतासी का यह शोध्य वाला तथा मुनाफाखोर सौंदर्यबोधात्मक प्रयोग स्वयंसिद्ध है ।" तथा "इस तरह ऐसे विधारूप हमारे अवचेतन भय का भरपूर कलात्मक शोध्य कर रहे हैं ।" "किंतु सौंदर्यबोध शास्त्र के इस मस्ती ग्रंथ (अथातो सौंदर्य जिज्ञासा में भी) में "किच्" जैसी सौंदर्य शास्त्रीय श्रेणी" का अभाव खलता है ।

सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से किच पूरी तरह से स्वच्छंदतावाद (Romanticism) की देन है । पहले "सौंदर्यबोधात्मक आदर्श" अतिक्रमणशीलता (Transcendent) में निहित था और सौंदर्य "सर्वथा निरपेक्ष था । स्वच्छंदतावादी युग में अस्थायित्व का वर्चस्व स्थापित हुआ । इस अर्थ में हरमन ब्रोश (Hermann Broch) ने स्वच्छंदतावादी सौंदर्यबोध की प्रक्रिया के उल्लेख करते हुए लिखा है :- And this process constitutesthe basic precondition of every form of kitsch, but at the same time owes it existence to the specific structure of romanticism X X) we can say that Romanticism , without therefore being kitsch itself , is the mother of kitsch and that there are moments, when the child becomes so like its mother that one cannot differentiate between them"[84]

किच इतिहास के सब कुछ निर्धारित मान्यताओं वाले मानस में पलायन है और भव्य-प्राचीन के विरह (nostalgia) को सरलतम तरीके से शमित करने का सबसे अच्छा तरीका है ।[83] घुस्त उक्तियों को यथार्थ-चित्रण के नाम पर रखना उन्हीं प्रवृत्तियों की संतुष्टि करना है, जो रोमांटिक विश्व-दर्शन का हिस्सा होती है । इस प्रसंग में किच को स्वच्छंदतावाद की एक अतिमामूली धारा के रूप में भी देखा जा सकता है ।

---

80. Faces of modernity - Matei Catinescue P . 237- 38
81. Kitsch , the world of bad taste - ed. Gillo Dorfles P. 62
82. Ibid - p. 731
83. लिओ लोवेन्थाल (Leo Lowenthal) ने लोकप्रिय संस्कृति और समाज के अंतर्सम्बन्धों का विस्तार से विवेचन किया है । लोवेन्थाल ने उस समाजशास्त्रीय रुझान को एकदम निरस्त किया है, जो साहित्य को "समाज

आधुनिक संचार-साधनों के विकास के साथ ही इसकी संभावना भी बढ़ गयी कि छद्म चेतना (False consciousness) का प्रचार-प्रसार भी संभव है। आस्वाद के धरातल पर विकृतियों का प्रवेश बिना तकनीकी हस्तक्षेप के असंभव है। पुनः मारक्यूज़ की उक्ति स्मरण करते हुए "Down to their very instincts" सही कला में यदि सापेक्ष सौंदर्यबोधात्मक स्वायत्तता (relative asesthetic autonomy) रहती ही है तो जो कला तुरंत उपभोग के लिए रची जाती है, वह निश्चित ही अपने से बाहर के कारणों और प्रेरणाओं में घटाकर देखी जा सकती है। फ्रैंकफुर्ट स्कूल द्वारा किये गये "भीड़-संस्कृति (Mas culture) विषयक अध्ययन के इस निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए कि 'In classical Marxism Terms, mass culture is indeed ideology.'[83]

हम किच् को "भीड़ संस्कृति" का स्थानापन्न बनाकर देख सकते हैं। कालिनेस्क्यू ने स्पष्ट शब्दों में इसकी सिफ़ारिश करते हुए, इस परिप्रेक्ष्य में किच को "छद्म सौंदर्यबोधात्मक चेतना" से समीकृत किया है। इसी प्रसंग में अडोर्नो की परिभाषा "किच विरेचन की विद्रूपिका है" को याद करते हुए किच को "सौंदर्यबोधात्मक चेतना की विद्रूपिका (Parody) कहा है।[84] फ्रैंकफुर्ट स्कूल के ही अंतर्गत अडोर्नो और होर्कीमियर ने संस्कृति उद्योग (Culture Industry) की अवधारणा भी दी, जो "मनोरंजन उद्योग (amusement industry or entertainment industry) के नाम से जाना जाता है। उनकी बहुचर्चित पुस्तक 'Dialectic of Enlightment' में वे भीड़ संस्कृति के प्रसंग में "संस्कृति उद्योग" (Culture Industry) को परिभाषित करते हैं। संस्कृति उद्योग की चिंता यही रहती है कि वह किस प्रकार छद्म संस्कृति-बाज़ार की विश्राम या आराम केन्द्रित मांगों को पूरा करें। उसके उत्पादों को इसी मांग-पूर्ति के ढाँचे में समझा जा सकता है। भीड़ की बढ़ी जरूरत "मज़ा लेना" (fun) होती है, जो वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन के चरित्र को स्पष्ट करती है और

का प्रतिबिंब" मात्र समझता है पर "भीड़ संस्कृति"के लिए इसे सही माना है।

84. 'If we replace the notion of mass culture by Kitsch,

उस की एक विशिष्ट उत्पादन भी होती है । संगीत विषयक अपने अध्ययन के दौरान मार्क्स की प्रसिद्ध उक्ति [उत्पादन की प्रणाली न सिर्फ कुछ जिंसों को तैयार करती है बल्कि उन जिंसों की ज़रूरत को भी जगाती है] को आधार बनाते हुए अडोर्नो ने लिखा कि लोकप्रिय संगीत के रसिक भी उसी तंत्र के उत्पादन हैं, जो लोकप्रिय संगीत का उत्पादन करता है ।[85] भीड़ संस्कृति पलायन-इच्छा से ग्रस्त रहती है और इसमें अलगाव का शिकार कामगार-वर्ग ही नहीं बल्कि मध्यम वर्ग भी आता है । मध्यमवर्ग की मानसिक आवश्यकता भी आत्म छल अथवा पलायन की रहती है और संस्कृति उद्योग उस आवश्यकता की पूर्ति करता है । अडोर्नो ने लिखा है कि लोग मौज-मज़ा चाहते हैं । एकाग्र चित्त से कलानुभव वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जिनकी जीवन-चर्या इतनी थकानेवाली नहीं होती कि अवकाश भी थकान से भरा हो और वे सिर्फ छुटकारा चाहते हो । ऊब से छुटकारा और प्रयासों [किसी भी तरह के] से भी छुटकारा । सारा सस्ता व्यावसायिक मनोरंजन इस "छुटकारे" के उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही गढ़ा जाता है । और यह छुटकारा मूलक संस्कृति-उद्योग तभी संभव होता है, जब लोग आत्म-छल के लिए तैयार हो । उद्योगों का लक्ष्य मुनाफा होता है और जब नयी नयी जागरूक या शिक्षित जनता की सांस्कृतिक मांगों में एक नये बाज़ार की विकास के कारण मुमकिन है कि किताबें, चित्र, संगीत और साज-सज्जा का सस्ता और बहुतायत से उत्पादन हो सके तो उसे यह नया धंधा खूब लाभ-दायी लगता है । यहाँ यह भी विचारणीय तथ्य हो सकता है कि "सस्ता होना" एक सापेक्ष तथ्य होगा और जो "कला वस्तु" उच्च मध्य-वर्ग के

---

this distinction becomes even more convincing. By Kitsch in this context we mean simply flase aesthetic consciousness or, to paraphrase Theodor W.Adorno's defination of Kitsch as the 'Parody of catharsis', the Parody of aesthetic consciousness.' Faces of Modernity P.241.

लिए सस्ती हो सकती है, वही निम्न मध्य-वर्ग के लिए खासी महंगी भी प्रतीत हो सकती है । किच जहाँ भड़कीला और तड़क-भड़क वाला होता है (gorgeous kitsch) वहाँ उसका सम्बन्ध धनिक वर्ग से जुड़ा है । यहाँ लोक रुचि (popular taste) और लोक प्रिय संस्कृति (popular culture) में अंतर करना आवश्यक होगा । जहाँ लोकरुचि लोक कला और लोक-साहित्य (Folk-art- and Folk -literature) से तृप्त होती है वहाँ भीड़ संस्कृति [=लोक प्रिय संस्कृति] ऊपर से लादी जाती है । Dwight MacDonald [ड्वाइट मेक्डोनाल्ड] के अनुसार "लोक कला" जमीन से उगती है जबकि "भीड़ संस्कृति" को, उद्योगों के मुनाफ़े को ध्यान में रखते हुए तकनीकी-विशेषज्ञ [=कलाकार] तैयार करते हैं और दर्शक-श्रोता पाठक वर्ग उसमें निष्क्रिय भूमिका निभाता है, अधिक से अधिक उनके पास यही विकल्प चाहता है कि खरीदें या न खरीदें । किच क्षेत्र के मालिक भीड़ की सांस्कृतिक आवश्यकताओं का शोषण करते हैं और उनका उद्देश्य या तो मुनाफ़ा होता है या फिर वे अपनी वर्ग-सत्ता को बनाये रखना चाहते हैं ।[86]

चाहे किच महंगा हो या सस्ता, वह समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक रूप से मध्यम वर्ग की जीवन शैली को अभिव्यक्त करता है । उच्च-वर्ग और निम्न-वर्ग भी उससे प्रभावित होते हैं और इस प्रकार वह संपूर्ण समाज के लिए आदर्श जीवन-शैली हो जाता है । धनिक देशों के लिए यह सब है तो भारत जैसे देशों के लिए भी यह उतना ही सच है । मध्यम वर्ग

. " The customers of musical entertiament are themselves objects or , indeed, products of the same mechanism which produces popular music. " "On popular music" [होकीमर] ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किये हैं -- The opposition of individual and society , and private and social existence , which gave seriousness to the pastime of art , has become obsolete. The socalled entertainments , which have taken over the heritage of art , are today nothing but popular tonics, like swimming of foot ball . Popularity no longer

की उस विशिष्ट चारित्रिक विशेषता का भी किच-विवेचन की दृष्टि से महत्व है, जिसमें वह "सुख" के लिए लीलायित रहता है । मध्यम वर्ग का यह सुखवाद पूरी तरह से उसके अवकाश-काल" में ही अभिव्यक्ति पाता है । यह विश्राम-केन्द्रित सुखवाद(hednosim of relaxatiion) होता है और इसी लिए किच कल्पनाशील पलायनवाद से जुड़ता है । मध्यम-वर्ग के अवकाश के इस सुखवाद में "उपभोग" (consumption) एक आदर्श का रूप इसी लिए ग्राह्य करता है क्योंकि सुख की यह ललक "उपभोगेच्छा" को बढ़ावा देती है । यह "उपभोगेच्छा" वर्तमान काल में, मध्यमवर्ग को लगभग विक्षिप्त किये दे रही है । "उपभोग" के वर्तमान कालिक सांस्कृतिक रूप अगर सामान्य नहीं दिखायी दे रहे हैं तो यह सहज ही है ।

फ्रैंकफुर्ट स्कूल द्वारा "भीड-संस्कृति" विषयक किये गये अध्ययन में "किच" के मध्यम वर्गीय उद्गम और विकास की चर्चा नहीं है । जेनी शार्प (Jenny Sharp) ने इसका भी कारण मध्यवर्गीय "कतराने की आदत" में देखा है । किच को दो टूक शब्दावली में परिभाषित करते हुए वह लिखती है — " Kitsch means all those cheap , vulgar sentimental , tasteless, trashy , pretty , cute objects the vast majority of people in this country like to live with . . . this pop culture . . has transcended the barriers of Taste and refinement and become absorbed in the archfes of the establishment culture. The only page left unturned is the most obvious in some ways. The most bizarre, and therefore overlooked Kitsch is infact the taste of the middle class, which in the

---

has any thing to do with the specific content or the truth of artistic productions. In the democratic countries the final decision no longer rests with the education but with the amusement industry .... xxxxx ' Critical Theory . M. Hokheimer P.289-90.

फ्रैंकफुर्ट स्कूल का अपना सिद्धांत-विश्लेषण किच का नामोल्लेखन करते हुए भी उसके संकट को सामने रखता है ।

present day is the Taste of the vast majority of our society.[87 90]

कालिनेस्क्यू को भी अडोर्नो और होर्खेमर, तथा अन्य मार्क्सवादी चिंतकों द्वारा किच को श्रमिकवर्ग के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने पर आपत्ति हुई है। वस्तुत: उद्देश्य ही समूचे अध्ययन के चरित्र को निर्धारित करता है। अलगाव (alienation) तथा उससे जुड़े किचे के प्रत्यय को या ही सामान्य (General) ढंग [अध्ययन, अध्ययन के लिए] से अध्ययन करना और "संसार को बदलने के उद्देश्य से बुनियादी सिद्धांतों की पड़ताल - व्याख्या करना ; निश्चित ही भिन्न लक्ष्यों तक पहुँचायेगा।[88 91] मध्यमवर्ग से किच का सम्बन्ध ज़रूर है किंतु श्रमिक वर्ग [मार्क्सवाद के अनुसार] क्रांति का वाहक होता है, इसलिए मार्क्सवादी विचारकों ने उस के संदर्भ को बलाघात पूर्वक उल्लिखित किया है। यों कालिनेस्क्यू भी मानते हैं कि अडोर्नो और होर्खेमर का अध्ययन किच-संस्कृति किच संसार और उसके आंतरिक द्वंद्व को सफलता-पूर्वक उजागर कर सका है।

उपुर्यक्त विवरण, विवेचन और तर्क-सरणी से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि किच का एक सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यय के रूप में पर्याप्त महत्व

---

86. A Theory of Mass Culture in 'Mas Cultureed' ed. Bernard Rosenberg and Dvaid Manning White Dwight Macdonald P.60

. Faces of Modernity P.248 पर उद्धृत

. 'The intention of Marxism is to provide a Theoretical foundation for interpretingthe world in order to chage it.'

'The sepgration of the Economic and the Political in capitalism Ellen Meiksins wood, New Left Review 127 May June 1981

है । मध्यवर्ग का एक विशिष्ट तरह का काल-बोध=वर्तमान बोध ही उसके नैतिक परिवर्तन और उसके किच रूप में क्या परिणाम के लिए जिम्मेदार है । परिवर्तन की गति का अतिरिक्त रूप से तीव्र होजाना भी मध्यवर्ग को एक "आतंक" से भर देता है और काल-बोध के परिप्रेक्ष्य में अतीत और भविष्य अयथार्थ-से प्रतीत होने लगते हैं । इस स्थिति में अवकाश-काल, जो आधुनिक तकनीकी प्रभाव के कारण-एक भार प्रतीत होने लगता है । एक ऐसा भार जो व्याख्यातीत होता है और जिसे "कंधो पर आकाश ढोते-ढोते थक गया हूँ ।[892] केदारनाथ सिंह जैसे काव्यात्मक उद्गार ही किसी सीमा तक प्रकट कर सकते हैं । किच समय गुजारने को (For killing time)एक अच्छा, आनंददायी तरीका नज़र आता है । श्रम और अवकाश की असहनीय अर्थहीनता में किच से प्राप्त होने वाला तीव्र आवेगात्मक आनंद, भयावह ऊब से बचाव का एकमात्र तरीका प्रतीत होता है । किच कलाकार अपनी रचना में क्या कहना चाहता है ? वह स्पष्टतया ये ही सोचता प्रतीत होता है कि संक्षेप में कहें तो किच कलाकार अपने जाने-अनजाने, सामान्यता के सिद्धांत (Principle of Mediocrity) का पालन करता है । इससे उसे भरोसा रहता है कि उसकी रचना का स्वागत किया जायेगा । इसलिए ग्राहकों की मनोस्थिति के अनुसार अपने को ढालना, किच कलाकार की विवशता होती है । वह कभी घरेलू किस्म की रचना करता है तो कभी तड़क-भड़कवाली । विभिन्न त्यौहारों, मौसमों या महत्वपूर्ण तिथियों को केन्द्र बनाकर रचना प्रस्तुत करने वाले पेशेवर कवि लेखक तथा कवि सम्मेलनों में मुक्तक, गीत, चुटकुले आदि सुनाते हुए कवि वस्तुत: किच कलाकार ही होते हैं ।

: "लहर" फरवरी, 67

. Kitsch is (a) art that has established rules (b) art that has a predictable audience, predictable effects, predictable rewards. 'The tradition of New P.266 कहा जा सकता है कि किच प्रदत्त की सीमाओं में रहता है तथा उसका यथार्थ से, समय से, द्वंद्वात्मक सम्बन्ध नहीं रहता । व्यावसायिकता, और लोक प्रियता को एक मेक करते हुए इसीलिए किच प्राय: प्रति-वाम दृष्टि का वाहक होता है ।

हेराल्ड रोज़नबर्ग ने "किच के बारे में "भविष्य वचन कहे जा सकते हैं" को आधार बनाया और बताया कि किच एक ऐसी कला है जो स्थापित नियमों को मानती है और दूसरे उसका भोक्ताबर्ग, उसका प्रभाव और उसका लाभ, सबके सब पूर्व ज्ञात रहते हैं ।[93]

किच पर कई दृष्टिकोणों से विचार हुआ है किंतु प्रस्तुत शोध प्रसंग की दृष्टि से इतना ही पर्याप्त है कि हम किच को निरपेक्ष कोटि में नहीं रखेंगे । कोई कलाकृति कला है या "किच् (= झूठीकला) इसके लिए उद्देश्य और संदर्भ का विवेचन आवश्यक होगा । यहाँ किच का शैक्षणिक महत्व ध्यान में रखना होगा और बाल मनोविज्ञान में "सौंदर्यबोधात्मक ~~महत्व-बाध~~ अपर्याप्तता का सिद्धांत (Law of aesthetic inadequacy) लागू नहीं होता । यदि बहुसंख्यक अवयस्क भी बाल-मनोभूमि से आगे नहीं बढ़ पाते तो वे सही कला से पहले किच के माध्यम से ही आनंद प्राप्त कर पायेंगे । यदि किच सौंदर्यबोधात्मक शिशुता (aesthetic infantilism) ही प्रस्तुत करता है तो यह संभावना तो बनती ही है कि किच अथवा छद्म कला और कला का अंतर, कालांतर में स्पष्ट होगा ।

किच के शैक्षिणिक महत्व को प्राय: भुलाया गया है । सम्प्रेषण की प्रक्रिया में सौंदर्य बोधात्मक स्तर से पूर्ववर्ती सोपान तो किच ही निर्धारित करेगा । उदात्त तक या मौलिक पहुँचने का रास्ता किच से ही होकर जाता है । इसीलिए उसे जन-संचार (Mass communication) की दृष्टि से एक सौंदर्य-बोधात्मक प्रणाली कहा गया है ।[94]

. 'The Pedagogical function of Kitsch has been generally neglected because of the innumerable bad connotations of the Term and also because of the instinctive Tendecny of the Writers on this subject to overrate their own aesthetic judgement. In a bourgeois society, and generally in a meritocratic one, the passage through Kitsch is the normal passage in order to reach the genuine.... Kitsch is pleasureable to the members of mass society, and through pleasure, it allows

अंत में बहुचर्चित प्रत्यय, किच-मानव (Kitsch Man) की संक्षिप्त चर्चा के साथ हम किच-सम्बन्धी प्रकारण को समाप्त करेंगे । किच मानव का लक्षण सीधे-सीधे यह होगा कि वह व्यक्ति, जो किच अनुभव का अभ्यस्त हो गया है और जो ऐसी स्थितियों या कलाकृतियों को भी अनायास ही किच में घटा देता है, जो वस्तुत: किच नहीं होती । उदाहरण के लिए, कला-दीर्घा का एक दर्शक, किसी भी महान चित्र के प्रति अपने उथले रुझान से उसे किच भूमिका में लादेगा । कला और "सुंदर" के प्रति किच-मानव का दृष्टिकोण एक सुखवादी का होगा । एक ऐसा सुखवाद जो कला-बोध के संदर्भ में यथोचित वयस्क न हो । किच मानव अपने अवकाश काल को अधिकाधिक उत्तेजना से बिना कोई, प्रयास किये, भरना चाहेगा । उसका आदर्श श्रम हीन मौज मज़ा (effortless enjoyment) होता है । यों तो किच-मानव को मात्र सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से नहीं समझा जा सकता उसे नीतिशास्त्रीय दृष्टि से समझना भी ज़रूरी है । हरमन ब्रोश का कथन है " 'Kitsch is the element of evil in the value system of art.'[9] किच को सौंदर्यबोधात्मक झूठ से समीकृत किया जाता है । (Kitsch = (= aesthetic lie) झूठके रूप में देखा जाय तो किच कलाकार और किच-मानव का सम्बन्ध घनिष्ट होकर प्रस्तुत होता है । किच-मानव चाहता है कि उससे झूठ "सुंदरता" से बोलाजाय और किच-कलाकार ऐसा ही बोलकर आर्थिक लाभ प्राप्त करता है । जिम्मेदारी तो दोनों की ही मानी जायेगी ।

---

them to attain the level of higher exigencies and to pass from sentimentality to sensation. The relationship between art and Kitsch is therefore particularly ambiguous. Kitsch is essentially an aesthetic system of mass communication'.
Abraham Moles, Faces of Modernity P.258

. Kitsch : The world of Bad Taster. Gillo Dorflies P.63

. कालिनोवस्कु के शब्दों में - xxx We can come close to an understandingof the phenomenon by combining (1) The historical sociological approach, in which Kitsch, as we use it, is

एक पारस्परिक भ्रम की स्थिति में वक्ता अपने "झूठ" को सच समझने लगता है । यह समझना गलत है कि किच कलाकार हमेशा ही यह जानता है कि उसकी कला किच् है । दिमागी "निष्क्रियता और आत्मिक आलस्य ही किच-मानव को चरित्र होता है । यूरोप में तो नव इसाई चिंतकों ने "धार्मिक दृष्टि से भी किच् का विवेचन किया है । उनके अनुसार किच् आलस्य का पर्याय है और इसलिए पाप का सूचक है ।

निष्कर्ष रूप में यही कहना पड़ेगा कि किच एक ऐसा प्रत्यय है, जिसकी कोई एक सीधी परिभाषा देना कठिन है । हमारे लिए यही तथ्य पर्याप्त होगा कि उसेक एक सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यय (aesthetic concept) के रूप में भी देखा गया । कालिनेस्क्यू के अनुसार किच के प्रति दो रूझानों (approaches) के अगर साथ-साथ मिलाकर देखा जाय तो किसी संतोषप्रद निष्कर्ष और किच् सम्बन्धी पहचान तक पहुँचा जा सकता है । पहला तो ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय रूझान, जो आधुनिक होने के साथ ही सांस्कृतिक उद्योगीकरण, व्यावसायिकवाद और समाज में बढ़ते हुए अवकाश काल (Leisure time) से जुड़ता है और दूसरा, सौंदर्य-बोधात्मक-नैतिक रूझान, जो छद्म कला तथा छोटे या बड़े पैमाने पर उत्पादित होने "सौंदर्य बोधात्मक झूठ या मिथ्या" (aesthetic lies) से समीकृत होता है ।[96] भीड को एक साथ और जल्द से जल्द खुशी [=छद्म आनंद] देने वाली कला अक्सर ही मांग-पूर्ति खुशी [=छद्म आनंद] देनेवाली कला, उसका ही मांग पूर्ति

---

typically modern and as such closely linked to cultural industrilization, commercialism, and increasing leisure in society, and (2) the aesthetic-moral approach, in which Kitsch is false art, the production on a smaller or larger scale of various forms of 'aesthetic lies'. Faces of modernity P.262. कहना न होगा कि दूसरा रूझान ही हमारे लिए महत्वपूर्ण होगा । हमने यथोचित स्थानों पर छद्म-चेतना की बात की है । किच=छद्म कला उसी की अगली कड़ी के रूप में जुड़कर वाम दृष्टि की आवश्यकता को नकारात्मक ढंग से रेखांकित करती है और साथ ही उसके आगमन को और

के अर्थशास्त्र सिद्धांत के तहत उपभोग और उत्पादन, दोनों ही दिशाओं में "बहुतायत" या "बहुमत उत्पादन और बहुमत उपभोग (Mass production and mass consumption)का रूप लेलेती है । यही स्थिति कि्च-वातावरण की होती है जिसमें बहुसंख्यक जनता [=भीड़] की सतही सौंदर्यबोधात्मक आवश्यकताओं [=छद्म आवश्यकताओं] की तुरंत पूर्ति करना ही कि्च का उद्देश्य और स्वभाव होता है । इस प्रकार, कि्च संसार सौंदर्य-बोधात्मक छल और आत्म-छल-प्रधान होता है । यदि प्रस्तुत शोध प्रसंग में, आधुनिक युग के सर्वाधिक प्रचलित मानसिक रोग खण्डित मनस्कता (Schizopharemia) की चर्चा की गयी थी तो इसीलिए कि जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में इसका प्रवेश हो चुका है । सौंदर्य-बोध का क्षेत्र सर्वाधिक प्रभावित हुआ है तो इसलिए कि सम्बन्ध-बोध में गड़बड़ होने से ही खण्डित-मनस्कता आरंभ होती है[93] और सौंदर्य-बोध [बोध मात्र ही] सम्बन्ध-बोध का ही एक परिष्कृत मानवीय रूप है । जहाँ तक छद्म [चेतना या कला] का प्रश्न है, हम जोज़ेफ़ गाबेल की पुस्तक 'False concsiousness - An essy on Reification' का पुनः स्मरण करना चाहेंगे, जहाँ वह अपने निष्कर्षों का सार प्रस्तुत करते हुए किसी सीमा तक छद्म चेतना तथा वस्तुकरण (Reification) को मनुष्य के लिए आवश्यक बतलाता है ।[94] एक निश्चित सीमा के पश्चात ही "मात्रा" गुण में परिवर्तित होती है । वह निश्चित सीमा यांत्रिक ढंग से सूचित नहीं किया जा सकती । कब सामान्य "तनाव" (Tension) "उच्चरक्त चाप"(Hypertension) में बदलेगा, कब शरीर का तापमान (Temperature)ज्वर में बदलेगा आदि सवालों का कोई तयशुदा जवाब नहीं होगा ।

और कठिन भी बना देती है ।

..आर.डी. लैंगने खण्डित मनस्कता के रोगी को इस प्रकार परिभाषित किया- The term schizoid refers to an individual the totality of whose experience is split into two main ways. in the first place, there is rent in his relation iwth his world and in the second, there is a disruption of his relation with himself. 'The Divided Self. P.18. इसीलिए वह रोगी दूसरों के साथ और अपने साथ सहज नहीं रह्पाता ।

जोज़ेफ़ गाबेल ने एक चित्र और उसके दर्शक का उदाहरण दिया है। एक चित्र को अनुकूलतम (Optimum) दूरी से देखा जाना चाहिए। किंतु यह "अनुकूलतम दूरी" दर्शक और चित्र (विषयी और विषय) पर निर्भर होती है और निकट-दर्शी व्यक्ति (Short sighted person) और दीर्घ-दृष्टि व्यक्ति (Long sighted person) पर समान रूप से लागू नहीं होती।[99] यह तथ्य चाहें कोई मामूली दर्शक हो या यामिनी राय, रामकुमार, हुसेन जैसे चित्रकार हो; सब पर समान रूप से लागू होता है। "छद्म" भी कहीं जीवन के लिए आवश्यक है और कहीं वह घातक होता जाता है, यह देखने के लिए "संदर्भ" का गहराई से विश्लेषण ज़रूरी होता है। यह एक ऐसा "पद" है जिसे सौंदर्य बोधात्मक (aesthetic Term) रूप में देखे जाने के हम समर्थक हैं किंतु इसका वैसा "आतंक" हम नहीं रचना चाहते जैसा आंतक इतिहास में "पतनोन्मुखी" "प्रतिक्रियावादी" आदि मार्क्सवादी "पदों" के यांत्रिक प्रयोग द्वारा रचा गया था। किच का समानार्थी कोई पद हमें हिन्दी में नहीं प्राप्त हुआ और न इसे बहु-आयामी अर्थ ध्वनियों वाले शब्द के समान हम कोई नया शब्द ही बना सके जो इतना सरलतम उच्चारण वाला भी हो; अतः हम इसे ही अपनाने को बाध्य हुए और सिफ़ारिश भी करते हैं कि इसे सौंदर्य-शास्त्रीय पदावली में स्थान दिया जाय। किच् लाभदायी भी हो सकता है कि "प्रतिलिपि (Duplicate) द्वारा वह सही कलाकृति तक पहुंचने में सहायक होता है। आधुनिक सामाजिक जीवन में यह अनिवार्य है। सौंदर्य बोधात्मक प्रशिक्षण की दृष्टि से वह नकारात्मक उदाहरण के रूप में लाभदायी हो सकता है।

"Let me say in summry that a certian degree of reifiacation and false consciousnes in necessary individual or collective existence. Beyound a certain linit, quantity is trnsformed into quality, and the pathological makes its appearance " P.321

. Ibid P.321

'The fault of many of our intellectucals and artists, is to the found in their original sin ओ. चे ने यह भी लिखा है -

"बोध" में निहित अंतर्विरोधों के प्रति कोई भी सरलीकृत रुझान के हम विरोधी हैं । वाम दृष्टि, जटिलता को सरलता में घटाकर देखने के बजाय उसका साक्षात्कार करने को वचन बद्ध या कृत-संकल्प है । जिस बिंदु पर हमारा होना (being) ही "छद्म" का प्रमाण हो, उस बिंदु से पलायनवादी "वाम" का उद्देश्य नहीं होगा । चेने जन्म जात संस्कारों के छद्म-पन के लिए "मौलिक पाप" पद का प्रयोग किया था ।[१६०] इस मौलिक पाप (Original Sin) की ओर से आँखें नहीं मूंदा जा सकती और कम से कम सौंदर्यशास्त्र, जो मानवता के लिए आज सर्वाधिक आवश्यक है, तो ऐसा नहीं कर सकता । और यहीं से ~~दक्षिण सौंदर्यशास्त्र, जो मानवता के लिए आज सर्वाधिक आवश्यक है, तो ऐसा नहीं कर सकता । और यहीं से दक्षिण सौंदर्यशास्त्र~~ से अलग होकर, वाम सौंदर्यशास्त्र की विवेचन-विश्लेषण यात्रा प्रारंभ होती है ।

मुक्तिबोध और सौंदर्यानुभव

प्रस्तुत शोध प्रसंग में सौंदर्य बोध के भीतर से विचार करने को आदर्श स्थिति माना गया है । हिन्दी जगत में डॉ० रमेश कुंतल मेघ के साथ ही जो दूसरा नाम हमें मिलता है, वह मुक्तिबोध । उनके प्रसिद्ध लेख "तीसरा क्षण" में हमें इस तरह का सफल प्रयत्न प्राप्त होता है । "लेखक की हैसियत से, सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण के रास्ते से होते हुए सौंदर्य-मीमांसा" किस प्रकार "पाठक अथवा दर्शक की हैसियत से, रसानुभव के मार्ग से गुज़रते हुए सौंदर्य की

The new generation will arrive free of original sin. 'Man and socialism in cuba - Che. Vencerness - ed. John Gerray. इन मौलिक पापों को वर्ग संस्कार नाम देकर भी समझा समझाया गया है । जीव-मनोशास्त्रीय दृष्टि से (Boi-psychological) इस "बुनियादी त्रुटि (Basicfault) नाम भी दिया गया है ।

If I am right , psychoanalysis is about to develop a new conception, which may be called 'basic fault' or perhaps, basic illness in the biological structure of the individual involving in varying dgree both his mind and his body. (The

व्याख्या ।"[101] से भिन्न (यद्यपि "पूरक" के रूप में) हो सकती है, इसका उदाहरण डॉ० मेघ की व्याख्याओं के साथ मुक्तिबोध की सौंदर्य-मीमांसात्मक विचार-सरणी को रखकर देखा जा सकता है । दोनों की विशेषता यह है कि प्रश्न को सही ढंग से रखते हुए अपनी-अपनी विचार-यात्रा सम्पन्न करते हैं किंतु मुक्तिबोध का "सृजन" तत्व पर बल देना उन्हें न केवल "लेखक" के रूप में, सौंदर्य-सम्बन्धी चिंतन के संदर्भ से सही स्थिति देता है, बल्कि कहीं पाठक या दर्शक की भूमिका में किये गये चिंतन को भी "सृजनात्मक" से जोड़कर देखने की दृष्टि देता है । निश्चित ही मुक्तिबोध पारम्परिक अर्थों में सौंदर्यशास्त्री नहीं थे । यह शुभ भी हुआ क्योंकि "सौंदर्यानुभव" को भीतर से द्वंद्वात्मक स्तर पर पहचानने के लिए वे पूरी तरह से सक्षम हो सके । "सौंदर्य की परिभाषा क्या है ?" के जवाब में सौंदर्यानुभव को प्राथमिकता देता हुआ यह वर्णन -"मैं जो स्वयं था, वह स्वयं हो गया था । अपने से बृहत्तर, विलक्षण, अस्वयं ।" इस कथन के संदर्भ में विशिष्ट रूप से ध्यातव्य यह है कि इसकी समानांतर व्याख्या टीका भी उन्होंने रखी है, जिसे वे स्वयं "पण्डिताऊ भाषा" कहते हैं । उपर्युक्त अनुभव के सम्मुख उस परिभाषा ("केशव" नामक पात्र द्वारा) को रखा जाय तो बात और स्पष्ट हो सकेगी । "किसी वस्तु या द्रव्य या भाव से मनुष्य जब एकाकार हो जाता है, तब सौंदर्यबोध होता है ।"[102] स्पष्ट ही इस परिभाषा में "बृहत्तर" हो जाने को कोई स्थान नहीं मिल पाया है । यों "केशव" द्वारा ही दी गयी अन्य परिभाषा सत्य के काफ़ी निकट आ जाती है । --"एक बात निश्चित है । सौंदर्य-प्रतीतिका सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया से है । सृजन-प्रक्रिया से हटकर सौंदर्य-प्रतीति असंभव हो जाती है ।" इस कथन पर (लेखक (मुक्तिबोध) की टिप्पणी है --"असलियत यह है कि

---

biological structure of the individual involving in varying degrees both his mind his body. (The Doctor, his patient, and the illness, Michael Balint M.D). अंतत: प्रवेशांक दिसंबर 76 में वेणुगोपाल के , "समकालीन काव्यचिंतन के मौलिक पाप शीर्षक लेख में उद्धृत । पृ-29.

मुक्तिबोध रचनावली चार पृष्ठ 91 । मुक्तिबोध के विचारों का

सौंदर्य तब उत्पन्न होता है, जब सृजनशील कल्पना के सहारे, संवेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाये । कलाकार का वास्तविक अनुभव और अनुभव की संवेदनाओं द्वारा प्रेरित फैण्टेसी - इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है । वह रोल - वह भूमिका एक सृजनशील भूमिका है ।"[103] संवेदनापूर्ण कल्पना द्वारा जीवनानुभवों का पुनः सृजन"[104] अथवा "सौंदर्यानुभव के लिए मनुष्य को क्षण भर के लिए ही क्यों न सही, अपनी दृष्टि बदलनी पड़ती है ।"[105] जैसी सौंदर्य-बोध-संदर्भ में सार्थक बातें भी मुक्तिबोध के लेखन में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं । कोई इसी उद्देश्य को सामने रखकर प्रयत्न करें कि मुक्तिबोध के लेखन में सौंदर्य-सम्बन्धी ऐसे वक्तव्य ढूंढे जाये, जो परस्पर विरोधी प्रतीत हो अथवा सीधे सीधे भाववादी दर्शन का प्रतिबिम्ब लगें तो यह संभव है कि वह किसी सीमा तक सफल हो जायें । किंतु ऐसे स्थल भी पर्याप्त हैं, जहाँ मुक्तिबोध ने (1) सृजन (श्रम) (2) कलानुभव (3) मानवीयता (4) वैचारिकता आदि प्रत्ययों को सौंदर्य-बोध के साथ अनिवार्यतः जोड़ा है । निष्कर्ष यह कि सौंदर्य-बोध को यदि सृजनात्मक धरातल पर समझा-समझाया जाना है तो मुक्तिबोध के सौंदर्य-सम्बन्धी चिंतन से पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है । यों भी मुक्तिबोध उसी प्रकार से, गहरे रूप में, सौंदर्य के कवि है, जिस प्रकार शमशेर बहादुर सिंह । मुक्तिबोध का सौंदर्य-चिंतन उनके जीवन की मूल भूत आवश्यकता थी । तार सप्तक में उनका वक्तव्य इस अर्थ में प्रमाण है । पहला ही अनुच्छेद है -"मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त-भव्य साँझें और विविध रूप वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौंदर्य-प्रेरणाएँ थीं ।"

महत्व तब और बढ़ जाता है, जब हम उन्हें सृजनात्मक तनाव से युक्त पाते हैं । उनकी चिंतन प्रक्रिया कविता की तरह बढ़ती और आकार लेती है और कविता की ही तरह, उसमें परस्पर अंतर्विरोध भी प्रायः मिल जाते हैं । लेकिन वे अंतर्विरोध उनको महत्वपूर्ण ही बनाते हैं । इसी प्रकार शमशेर बहादुर सिंह का लेखन हो सकता है । दूसरा सप्तक में उनका वक्तव्य इसका उदाहरण है । यों मुक्तिबोध का गद्य साहित्य और शमशेर की कुछ कविताएँ - एक साथ देखी जाय - विशेषतः सौंदर्य नामक कविता तो सृजन पक्ष से की गयी सौंदर्य-मीमांसा को पर्याप्त बल प्राप्त होगा ।

अपनी मनोरचना के बारे में "उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्ग लोक उस व्यक्ति के लिए जिस की मनो रचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक है, अत्यंत आत्मीय था ।" फिर आगे भी वे क्रमश: सौंदर्य की ही बात को आगे बढ़ाते हैं --"उसके बाद इंदौर में प्रथमत: ही मुझे अनुभव हुआ कि यह सौंदर्य ही मेरे काव्य का विषय हो सकता है ।" " × × × मैं अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन भरी अभिव्यक्ति और अमूर्तकल्पना छोड़कर नवीन सौंदर्य-क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ । यह मेरी प्रथम आत्म चेतना थी ।"

"समय का प्रभाव कहिए यावय की मांग, या दोनों, मैंने हिन्दी के सौंदर्य लोक को ही अपना क्षेत्र चुना।" × × ×" मेरे बाल मन की पहली भूख सौंदर्य, और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुख इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी ।" उपर्युक्त वक्तव्य के बीस वर्षों के पश्चात उनके "पुनश्च" नामक वक्तव्य में "सौंदर्य" शब्द एक बार भी नहीं आया है और उसमें उसकी जगह जो विचार आये हैं, वे मुक्तिबोध को प्रस्तुत शोध-प्रसंग, वाम सौंदर्यशास्त्र के लिए, और अधिक महत्वपूर्ण बनाते हैं । " × × × × यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों को अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है ।" आर्थिक स्थिति और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रगाढ सम्बन्ध बताते हुए मुक्तिबोध व्यवसायीकरण की बात भी करते हैं । स्वयं को किंचित् कलाकार न बनने देने की जद्दो जहद उनके साहित्य में गहरे से मिलती है । " अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिए

. मुक्तिबोध रचनावली - भाग-4 पृ-88 बृहत्तर शब्द के प्रसंग में तुलना कीजिए —

Man's vocation is to be more - more that is than what he is at any given time or place.' Cultural Action for Freedom - Paulo Freire - Preface Joao Deveigacontintro - P.8.

यहाँ "अपने से बृहत्तर" § = to be more § होने की "प्रक्रिया" अगर सौंदर्य-बोध की पीठिका है तो "मानव" होने की भूमिका भी । सौंदर्य-बोध कम से कम इस अर्थ में तो जीवन का लक्ष्य बोध ही सिद्ध होता है । संभवत: अपने से "बृहत्तर" होना और होते रहने के लिए संघर्ष करना ही, मानव के अस्तित्व-संघर्ष को सौंदर्य-बोधात्मक आयाम देता है । मानव का जीवन-लक्ष्य

व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग भी सामने आता है । मेरे लेखे यह अत्यंत अनुचित मार्ग है । और कम से कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया, लेकिन यह मार्ग तो सामने आता ही है और व्यवसायीकरण - व्यापारीकरण का दबाव तो तीव्रतर होता जाता है । सचमुच यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्म-परीक्षा, उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा, सबसे प्रधान समय, उस इम्तिहान का सबसे नाजुक दौर यही आज का युग है ।"

ऐसे दौर में जो होता है, वह यह कि "जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोक में भी दु:स्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है ।" इस सत्य के बारे में यह कहना "मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है ।"[106] - मुक्तिबोध को विशिष्ट बनाता है । जिसे मुक्तिबोध ने "आभ्यंतर लोक" कहा है, वही तो प्रस्तुत शोध प्रसंग में "चिति" (Psyche) है, जो बोध के स्वरूप को निर्धारित करता है । "मैं-बोध," "अहं-बोध" पर-बोध (I sense, me-sense , not-me sense) के आधार पर ही चिति की अवधारणा को स्वरूप प्राप्त होता है और सुंदर-बोध (Beauty sense) भी इन्हीं पर निर्भर होता है । प्रस्तुत शोध प्रसंग में हमने "बोध" पर संकट के बादल मंडराने की बात कही है । बोध मूलत: इन्द्रियबोध होता है और तकनीकी युग ने इंद्रिय-बोध को भी अपना शिकार बना रखा है । इसी क्रम में छद्म-चेतना, छद्म-आवश्यकता, छद्म इच्छाएँ आदि की बात कही गयी थी । किंतु बहुत गहराई में, इन स्थितियों से, लड़ा भी जा सकता है । इस लड़ाई की मिसाल मुक्तिबोध का लेखन है । मूलत: सौंदर्य के कवि को किन-किन दबावों का सामना करना पड़ता है और मुक्तिबोध का लेखन उसी सामना करने = लड़ाई या संघर्ष का सौंदर्यशास्त्रीय

सौंदर्यबोध के धरातल पर ही चरितार्थ हो सकता है । इसीलिए प्रत्येक आध्यात्मिक चिंतन, किसी न किसी रूप में "सौंदर्य-बोध शास्त्र होना ही है ।

. -वही- पृ-98.

. मुक्तिबोध रचनावली पाँच - पृष्ठ 161

. -वही- पृ-265 सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभव-शीर्षक का यह लेख अपूर्ण ही प्राप्त हो सका है । जहाँ लेख एकाएक खत्म होजाता है, वहीं

प्रकटन है । वाम-सौंदर्य शास्त्र की आवश्यकता पर विचार करते समय, अमूर्त ढंग की दार्शनिक-तार्किक उपपत्तियों-अवधारणाओं के स्थान पर यदि मुक्तिबोध ‖निराला, रागेय राघव, राज कमल चौधरी, धूमिल आदि कवियों के नाम भी लिये जा सकते हैं ‖ जैसे कवियों के ठोस जीवन और उनके करुणा (Pathos) से जाते और प्रेरणा देते संघर्ष को सामने रखें तो यह अनुमान और कल्पना स्वाभाविक है कि यदि एक सौंदर्यशास्त्र ऐसा होता, जो निरा एकेडेमिक चरित्र का न होकर सीधे-सीधे इन कवियों के "आभ्यंतर लोक" को बचाने के लिए किये जा रहे संघर्ष में भागीदारी करता तो कहानी क्या दूसरी नहीं होती ? इस धनात्मक भूमिका को सामने रखकर ही, प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत, "वाम सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" पर विचार किया जायेगा । मुक्तिबोध और उन जैसे कवियों के "सौंदर्यानुभव" को बचाना और बचाते रहना, वाम सौंदर्यशास्त्र का एक ऐसा उद्देश्य है, जो हमेशा बना रहेगा ।

वाम सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-जगत में "सौंदर्य-शास्त्र" विवादों और विचार-विमर्श का विषय बना हुआ है । इसके कई रोचक परिणाम सामने आये हैं । उनसे पहला और प्रमुख परिणाम तो यही कि आज भी "सौंदर्य-शास्त्र" उतना ही अपरिभाषित है, जितना पहले था । बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि भ्रम ज्यादा हो गये हैं और अनबूझता पहले के मुकाबले अधिक बढ़ गयी है ।

वस्तुत: योरोप में सौंदर्यशास्त्र सम्बन्धी विवाद इस शती के आरंभिक दशकों में ही जोर पकड़ने लगे थे । वहाँ बहुत सीमातक दार्शनिक और कलात्मक सौंदर्यशास्त्रों के बीच अंतर बराबर बना रहा । यद्यपि इस

वस्तुत: सौंदर्य-मीमांसा का आरंभ हो रहा था ।

. तार सप्तक - सं० अज्ञेय, पृ- 5-6 और 37.

. आलोचना - 43 - अक्तूबर - दिसम्बर - 77

. चिंतामणि - दूसरा भाग । "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नामक निबंध ।

अंतर का भान कतिपय सुधी सौंदर्यशास्त्रियों को ही था । शेष तो सभी विवादी थे । स्पारशॉट जैसे महत्वपूर्ण सौंदर्यशास्त्री इस अराजक स्थिति से ऊब कर कहे बिना न रह सके —"इस विषय पर इतना अधिक लिखा गया है पर उसमें बहुत कम पढ़ने लायक है और यह जानना बड़ा कठिन हो जाता है कि दर असल हो क्या रहा है ? ——— सौंदर्य शास्त्र में तो जैसे सब कुछ चलता है । मूल समस्याओं और दृष्टि-बिंदुओं का कोई निश्चित आधार न होने से कुछ लेखक बिना संकोच या लज्जा के जो मन में आया, लिखते रहते हैं । परिणामत: इनके लेखों में गलत दृष्टांत, उल्टे-सीधे सिद्धांत निरूपण और तर्कों के छद्म वेश में रूपक भरे पड़े हैं ।"[103]

स्पॉरशॉट के इस कथन को यदि भारतीय स्थितियों के संदर्भ में देखें तो हालत अधिक बुरी दिखायी देती है । बहुत पहले आचार्य शुक्ल ने इस ओर संकेत किया था — "सच बात तो यह है कि काव्य के स्वरूप लक्षण में जितने शब्द उतने काम का नहीं, जितना समझा जाने लगा है ।"[104] और भी "सौंदर्यशास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा, उसी प्रकार काव्य का भी । सबसे बेढ़ंगी बात तो यही हुई अत: इस बाद का निषेध करने के पहले मैं यह कह देना चाहता हूँ कि "सौंदर्यशास्त्र", जिसके भीतर इसका निरूपण हुआ है, काव्य-सम्बन्धी मीमांसा का ठीक स्थान हीं नहीं । पहले तो "सौंदर्यशास्त्र" अभी कोई ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं - कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता । यदि होतो भी काव्य से उसका सम्बन्ध नहीं ।"[105]

पृ-178. यों उसी पुस्तक में "काव्य में रहस्यवाद" नामक लेख में शुक्ल जी लिखते हैं - "काव्य दृष्टि से जब हम जगत को देखते हैं, तभी जीवन का स्वरूप और सौंदर्य प्रत्यक्ष होता है ।" इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी "काव्य और सौंदर्य" के सम्बन्ध का निषेध नहीं करते थे । यहाँ तक कि उस काव्य-दृष्टि के प्रति उनका समर्थन भी व्यक्त हो रहा है, जो सौंदर्य को प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष करती है । शुक्ल जी उस पेशनेबल "सौंदर्यशास्त्र" और उस में वायवी और अमूर्त प्रत्यय "सौंदर्य" को आधार या प्रतिमान बना कर "काव्य के स्वरूप

उपर्युक्त उद्धरण में शुक्ल जी द्वारा निन्दित सौंदर्यशास्त्र "वस्तुतः" क्रोचे की विचारधारा है जो विशुद्ध दार्शनिक सौंदर्यशास्त्र तो था ही, साथ ही "अभिव्यंजना" को निरपेक्ष रूप से चरम पद देकर भाववाद को ही पुष्ट कर रहा था ।[106]

फिर भी शुक्ल जी की भविष्यवाणी यहाँ तक तो सच उतरी है कि आज भी हिन्दी में "सौंदर्यशास्त्र" कोई ठीक ठिकाने का शास्त्र नहीं हो सका है । डॉ मेघ, मुक्तिबोध और रामविलास शर्मा के कुछ निबंधों पुस्तकों को छोड़ दें तो चारों ओर शून्य दिखायी देता है । सिद्धांत स्थापन की जब यह स्थिति हो तो काव्य से उसका सम्बन्ध तो दूर की बात है ।

वस्तुतः आज जिसे "सौंदर्यशास्त्र" कहा जाता है, वह भारत में कभी भी विवेच्य नहीं रहा । यद्यपि डॉ० फतह सिंह जैसे कुछ मनीषी इस कथन से सहमत नहीं होंगे । उनके अनुसार वैदिक युग में सौंदर्य-तत्व को "स्वस्ति" कहते थे । "सुम" नामक अनुभूति ही सौंदर्यानुभूति थी ।[107] दूसरे शब्दों में, डॉ० फतह सिंह के अनुसार, भारत में सौंदर्य शास्त्र था । वस्तुतः भारत में दार्शनिक सौंदर्यशास्त्र नहीं होने की बात जब कही जाती है तो उसका तात्पर्य मात्र इतना ही होता है कि जिस प्रकार योरोप में विश्लेषणात्मक दृष्टि से "सुंदर-सौंदर्य का विवेचन होता था, यहाँ इस तरह नहीं होता था । सौंदर्य-दृष्टि का अभाव नहीं था और न सौंदर्य-बोध का ही, बस, यह था कि इनका स्वरूप समूचे जीवन दर्शन में घुल मिलकर संश्लिष्ट तम ढंग से प्रत्यक्ष होता था । वस्तुतः शास्त्र और दर्शन को परिभाषित करने की भाव-भूमि ही भारत में, योरोप से नितांत भिन्न रही और यह सहज-स्वाभाविक भी था । इसे योरोप के साथ तुलनात्मक ढंग से देखना तथा

लक्षण के विरोधी थे और इस बिंदु पर हम शुक्ल जी से सहमत हैं । "काव्य दृष्टि" को हम "सृजनात्मक" से एकमेक करेंगे । "कवि" का अर्थ "कर्म" भी तो होता है ।

- वही -

जिस अभिव्यंजनावाद को लेकर शुक्ल जी असंतुष्ट थे, उसे स्वयं शाश्वत और स्थायी तो स्वयं क्रोचे भी नहीं मानते थे । अपने ग्रंथ (Aesthetic) के प्रकाशन के सत्ताइस-अठाइस वर्षों बाद "उन्होंने लिखा — "Aesthetics"

हीन-उच्च घोषित करना एक तो संस्कृतियों के निजी चरित्र और पारस्परिक अनिवार्य भिन्नता को नहीं समझना है और दूसरे ऐसी तुलना, स्वयं को (भारत को) दूसरों-योरोप अथवा पश्चिम की दृष्टि से देखकर स्वीकार करने की गुलाम-मनोभूमि को सम्मुख लाती है । भारतीय जीवन प्रणाली में सौंदर्य-बोध का महत्वपूर्ण स्थान था, इस प्रमाण हम यहाँ के काव्य दर्शन में (जो अपने चरित्र और स्वभाव से कोरम कोर दार्शनिक ही था) पाते हैं और बड़े से बड़ा पश्चिम भक्त भी यह नहीं कह सकता कि भारत में काव्य दर्शन नहीं था ।

यहाँ प्रस्तुत शोध की सीमाओं के कारण हम उस काव्य दर्शन का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सकते । फिर भी इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि भारतीय मनीषी भले ही अपनी भाववादी (दक्षिण) दृष्टि के कारण मनुष्य का यथार्थ के साथ और इसीलिए सृजन = कलाकृति के साथ, बनते-बिगड़ते-बदलते-विकसते सम्बन्धों का जो द्वंद्वात्मक ताना-बाना होता है, उसे न देख पाये हों लेकिन अपनी अंत: प्रज्ञा (Intuition) से ही सौंदर्यबोध की सृजनात्मकता = द्वंद्वात्मकता तक अवश्य पहुंच गये थे । जब कुंतक वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए "रूप" सम्बन्धी चिंतन की गहराइयों में उतरते हैं और पण्डितराज जगन्नाथ "आनंद" को लोकोत्तर कहते हुए भी उसे "अर्थ के पुन: पुन: अनुसंधान से निष्पन्न मानते हैं तो उनकी सटीक और महान अंतर्प्रज्ञा ही प्रत्यक्ष होती है ।[112]

आज हिन्दी के क्षेत्र में नये सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता पर कई विद्वानों ने बल दिया है । स्पष्ट ही वे "नये" को पुराने से आगे लेकिन जुडा हुआ देखते हैं । यहाँ यह विशेषत: ध्यातव्य है कि " नये सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" का अनुभव करनेवाले और उसके बारे में लिखनेवाले सारे विद्वान प्राय: मार्क्सवादी है ।[113] स्पष्ट है कि "नये सौंदर्यशास्त्र" का तात्पर्य "वे मार्क्सवादी सौंदर्य-शास्त्र लेते हैं । किंतु यह एक अजीब स्थिति दिखायी देती है कि उन विचारकों को मथने वाले प्रश्न और विचलित करनेवाली समस्याएँ वे हैं, जो भाववादी पृष्ठभूमि से, जुड़ी हैं । यहाँ पूर्व विवेचित

"गलत प्रश्नों के सही उत्तर" सम्बन्धी चर्चा का पुनः स्मरण होता है । न तो प्रदत्त प्रश्न आज प्रासंगिक हैं और न प्रदत्त समस्याएँ । एक नया सौंदर्य शास्त्र, जो पुराने की जगह लें - यह मंशा ही स्वयं में प्रति-मार्क्सवादी है । टोनी बेनेट ने एण्डरसन को उद्धृत करते हुए जो बात विश्व के प्रमुख मार्क्सवादी चिंतकों के बारे में कही है, वह "नये सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" पर विचार करते हुए भारतीय मार्क्सवादी चिंतकों पर भी न्यूनाधिक रूप से लागू होती है । टोनी बेनेट के तर्क के तीन सोपान प्रमुख हैं ।1। ऐतिहासिक भौतिक-वाद का इस प्रकार से व्यवस्था पन करना कि वह मनुष्य और प्रकृति संबंधी बुर्जुआ दर्शनों या अनुशासनों को हटा सके और उनका स्थान ले सके ।2। इसके लिए मार्क्सवादी दर्शन की भूमि से बिना कोई प्रश्न किये, पारम्परिक सौंदर्य-शास्त्र की समस्याओं से ही जूझते रहे ।3। इनमें अधिकांश विचारक ।ग्राम्शी। को छोड़कर। या तो विश्व विद्यालयीन अकादमीक अनुशासन में दीक्षित थे और उसी के अंतर्गत लिख रहे थे ।अतः बुर्जुआ शिक्षा-व्यवस्था की छाप तो पड़नी ही थी। या फिर, लुकाच, स्तालिनवादी प्रभाव में थे ।[11]

यह निश्चित है कि मार्क्सवादी विश्व दर्शन, भाववादी विश्व-दर्शन को गलत मानता है तो फिर क्या महत्व रह जाता है उन मार्क्सवादी उत्तरों का, जो भाववादी विश्व-दर्शन द्वारा पूछे गये प्रश्नों की प्रतिक्रिया में दिये जाते हैं । क्या इस से यह सिद्ध नहीं होता कि भाववादी अवशेष : अनुकूलित प्रतिवर्तन "संस्कार" "बुनियादी त्रुटि" या "मौलिक पाप" की भूमिका में, ऐन मार्क्सवाद के बीच में, सक्रिय हैं ? प्रस्तुत शोध-प्रसंग में तो यह और

---

or the science of art - - - is only the progressive systematization, always renewed and always renewing , of the problem arising from time to time out of reflection upon art "Encyclopedia Britenica 1929) और इस प्रकार क्रोचे "अभिव्यंजनावाद" या किसी भी सौंदर्य-सिद्धांत को युग-सापेक्ष या समय-सापेक्ष मानते रहे थे ।

. भारतीय सौंदर्यशास्त्री की भूमिका - डॉ० फतहसिंह । यह नहीं पता चल सका कि उनका "भारतीय सौंदर्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ पूरा हो सका या नहीं ।

. वैदग्ध्य भंगीभणिति"

वक्रोक्ति जीवितम पृ- रूप गोस्वामी

प्रसंग वशात भट्ट नायक के कथन को सौंदर्य बोध ।काव्य बोध। की संवादात्मकता

भी विचारणीय है कि अगर "दक्षिण" (=आंतरिकीकृत सत्ता) विश्व-दृष्टि (सौंदर्य दृष्टि जिसका एक अंश है) को ही संशोधित कर लिया जाय और उसी के प्रश्नों को स्वीकार करके उनके उत्तरों से ही एक "वाम दृष्टि" ~~प्रश्नोंवाच~~ गठने का भ्रम पाल लिया जाय तो क्या यह एक सतही और छद्म कारवाई नहीं होगी ? दर्शन और विचारधारा के क्षेत्र में भी तो किच का प्रवेश हो सकता है । किच कला की परिभाषा में हेराल्ड रोजेनबर्ग ने "स्थापित नियमों" (established rules) को मानेनवाली कला "कहा था तो किच-दर्शन या किच-सौंदर्यशास्त्र भी तो वही होगा, जो "स्थापित नियमों (=प्रश्न-उत्तर सम्बन्धी) को ज्यों का त्यों मान लें । वस्तुत:"सौंदर्यशास्त्र" पद का जो भी अर्थ दक्षिण परंपरा में मिलता है, वाम उसे अपने तईं न मानकर ही "वाम" हो पाता है । इस अर्थ में "वाम" पूरी तरह से सौंदर्यशास्त्र का विरोधी होता है और इसीलिए "वाम" होता है । इस स्थिति में कहना होगा कि "वाम" बनाम "सौंदर्य-शास्त्र" ही सही पद-समूह होगा । निश्चित ही वह एक और नया सौंदर्य-शास्त्र नहीं होगा या उसे नहीं होना चाहिए बल्कि वह नया=अप्रत्याशित, की शर्त निभाते हुए प्रति सौंदर्यशास्त्र (Anti- Aesthetics) होगा ।[115]

के प्रसंग में देखा जा सकता है -- "शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तम शास्त्रं पृथविदु: । अर्थ तत्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यान में तयो : । द्वयार्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यधभवित् ।" अर्थात शास्त्र में शब्द, आख्यान में अर्थ तथा काव्य में इन दोनों की अपेक्षा "व्यापार" प्रधान होता है । ध्वन्यालोक लोचन । पृ-

109. "पल्लव" 9 तथा "क्यों" - 9 में

110 . " Marxism and formalism - Tony Bennet - P. 102 -103 एण्डसन का उद्धरण इस प्रकार है-

× × × × ×

to systematize historical materialism as a comprehensive theory of man and nature , capable of replacing rival bourgeois desplines and providing the way and coherent vision of the world that could easily be grasped by its militants " movement with a broad इस कार्रवाई को आलोचना हम प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत कर रहे हैं । यद्यपि इसके ऐतिहासिक महत्व से, अर्थात लुकाच, बेंजामिन, अडोर्नो, मारक्यूज, गोल्डमान आदि के योगदान से, हम इंकार नहीं करते ।

यों अगर प्रति-कला ने कला को ही समृद्ध किया हो और प्रति-कविता ने कविता को - तो प्रति-सौंदर्यशास्त्र भी युगोचित अर्थ में सौंदर्यशास्त्र की परम्परा को ही आगे बढ़ायेगा । इस तथ्य को अलग से कहना या नकहना, कोई महत्व नहीं रखता । जिस अर्थ में विचार, नकार (negation) से पैदा होता है, उसी अर्थ में वाम सौंदर्यशास्त्र भी "दक्षिण" सौंदर्यशास्त्र को नकारता है ।

जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में यूरोपीय पदावली का श्रद्धा-भक्ति पूर्वक जाप होता है, वैसा हीमार्क्सवादी और सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी होता है । वाम-दृष्टि ऐसे जाप के विरोध में और ऐसी पदावली ही नहीं, किसी भी पदावली के साथ सृजनात्मक प्रतिरोध अर्थात द्वंद्वात्मक व्यवहार करना चाहेगी । प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध, वाम की प्रथम विशेषता कही गयी है । प्रदत्त में मार्क्सवादी चिंतन भी आता है और अद्यतन मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र भी । निश्चित ही मार्क्सवादी सौंदर्य-चिंतन के अधिकांश और आयातित रूपों ने "दक्षिण" को ही पुष्ट किया है । "वाम" इस अर्थ में अवश्य ही मार्क्सवादी है कि वह "मार्क्सवाद" को भी ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसके साथ भी एक मार्क्सवादी = द्वंद्वात्मक =सृजनात्मक व्यवहार करना चाहता है । "वाम" के लिए पहली जिम्मेदारी उस की ज़मीन [=संस्कृति-समय-ठोस ऐतिहासिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ] है और इसी लिए वह मार्क्सवादी है । मार्क्स के अपने लेखन में भी अगर और मार्क्सवादी तत्व मिलते हैं तो वह मार्क्सवादी होने के नाते, उन्हें स्वीकार/अस्वीकार करने से पहले, जाँचना-परीक्षा करना चाहेगा

आज की अद्वितीय रूप से क्रांतिवादी स्थितियों में इस अतिकथन का भी महत्व है -
"No concept of beauty is viable now . Beauty is dead and aesthetics must return to its original sense of feelimg with (and beyond) all over sense. x x x only way out of dead and deadening aesthetics (that) we shall create a quotidian Dada an anti-aesthetics of every day life." The grammar of living- David Cooper - P. 150 —डेविड कूपर प्रति-मनोचिकित्सा (Anti- psychitry) आंदोलन के प्रवक्ता हैं और पश्चिमी देशों की तथा

मुक्त मार्क्सवाद (Open Marxism) ही उसका विश्वास है और इसीलिए कार्य-प्रणाली [=जीवन-प्रणाली] है ।[116]

"सौंदर्य", "सुंदर" जैसे अवधारणात्मक-प्रत्यय प्रभाव मूलक हैं और स्वभाव तथा मानव-सापेक्ष [=दृष्टा-पाठक-भोक्ता] सापेक्ष होते हैं । "वाम सौंदर्यशास्त्र" की इसलिए भी आवश्यकता है कि वस्तु-जगत और मानव - इन दोनों को प्राय: एकांगीदृष्टि से देखा गया है । यह सवाल भी दार्शनिक जगत में प्राय: पूछा गया है कि इन दोनों में कौन प्राथमिक है ? निश्चित ही इस सवाल का क्षेत्र ज्ञान-मीमांसा(epistemology) है किंतु हाइडेगर और हुसर्ल(Heidegger and Husserl) जैसे विचारक इसे सत्ता-मीमांसा(ontology) से जोड़ते हैं । हाइडेगर की समस्या "सत्ता का अर्थ" (meaning) खोजने से जुड़ी और हुसर्ल Dasein (= human existence) की बात करते हुए हाइडेगर के पास ही पहुँच जाते हैं क्यों कि मानव का तथ्य-परक अस्तित्व(factual existence) उनके लिए विमर्श का मुद्दा नहीं रहता बल्कि सत्ता (Being) की बुनियादी संरचना ही उनके लिए अध्ययन-दर्शन का आदि और अंत है । सार्त्र (Sartre) इन दोनों से अलग वहाँ होते हैं, जहाँ सत्ता और असत्ता (Being and Non-being) की सारी चर्चा में वे "चेतना" (consciousness को प्राथमिक "पद" मानते हैं । अगर हर्बर्ट मार्क्यूज के पूर्व उल्लिखित "सब कुछ निर्दिष्ट या निर्धारित (Prescribed) होता है" तर्क को स्मरण किया जाय तो उपर्युक्त दार्शनिकों की चिंतना का "निरपेक्ष" पर बलाघात देता हुआ रुझान, उनकी राजनीतिक-सामाजिक स्थिति पर एक स्पष्ट टिप्पणी करता कोई अति-विकसित स्थितियों के प्रसंग में ही इस बात का महत्व है । भारत भी चूंकि अभी सांस्कृतिक औपनिवेशिकता का शिकार है और कि समस्या से पूरी तरह ग्रस्त है इसलिए यह उद्धरण प्रासंगिक और उपयोगी है

116. मार्क्स के लेखन की कई असंगतियों की ओर मार्क्सवादियों ने ध्यान आकर्षित किया है । अर्न्स्ट फिशर ने अपनी 'Marx in his own words मार्क्सवाद' नामक पुस्तक में ऐतिहासिक भौतिकवाद के विवेचन के संदर्भ में मार्क्स के अपने लेखन के अंतर्विरोधों को उजागर किया है । इसीतरह साहित्य-कला सम्बन्धी विचारों का अधिकांश, स्वयं मार्क्स का लिखा हुआ

प्रतीत होता है । "चेतना" भी मानव चेतना होती है और ठोस रूप में, मानव-संसार के संदर्भ में मानव के अस्तित्व (existence) को प्रस्तुत करती है । यह एक सामान्य सत्य है कि मनुष्य पर सारी बल्कि को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह [=मनुष्य] वस्तु जगत के बीच में है और उसीका एक अंश है ।[117] मारलो पोंती का महत्व इसी लिए है कि वे वस्तु-जगत (world) को प्राथमिकता देते हैं ।

यह सत्ता-मीमांसा की किंचित चर्चा इसलिए कि गहराई में यह भी "बाहर" [राजनीति-समाज आदि] से ही संचालित होती है । व्यक्ति और विषय (subject and object) का जो भी सम्बन्ध होगा, वह द्वंद्वात्मक पद्धति पर होगा ।—

व्यक्ति (person) ———————— विषय (other)

वस्तुत: "चेतना" और "वस्तु-जगत" की चर्चा करते हुए यह दृष्टिकोण सक्रिय रहता है कि "चेतना" किसी "अधिकार भावना" (possesiveness) के क्षेत्र में आती है । व्याक्तिगत सम्पत्ति केन्द्रित चिंतन ने हमें सत्ता-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में भी "मूर्ख" (stupid - Marx) बना दिया है कि हम वहाँ भी "मेरी-मेरा" के स्तर पर सोचते हैं । "हमारी चेतना" और "उस चेतना" का एक विषय" और जैसे हम उन्हें "रखते"(to have) हैं ।[118] सौंदर्यशास्त्र में यह संकट और भी तीव्र और घना हो जाता है । व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित "परिवार" में प्रशिक्षित "मैं बोध" और अहं बोध सीधे-सीधे सौंदर्यबोधात्मक जिंसों(aesthetic commodities) होने पर भी, "मार्क्सीय" नहीं रह पाती । टोनी बेनेट ने लिखा है—

"It is quite clear , however, that the greater part of Marx's writing on art and literature, although penned by Marx , are in no sense indicative of the position of ' Marxism ' on these matters " Marxism and Formalism. P. 101"

इसी प्रकार मार्क्स के इस सवाल पर " Where does the eternal charm of Greek art come from ?" पर एटिने बेलिबर (extienneBalibar) और पियरेमेशर (pierre macherey) ने मार्क्सवादी जमीन से उत्तर दिया

का तर्क समझता है । अधिकांश सौंदर्यशास्त्र में जिस प्रकार की विचार-क्रीड़ा मिलती है, उसमें विचारों की स्थिति समाज की "लोभी प्रणाली" (greed system) के अंतर्गत ज़मीन-जायदाद के मुक़दमे में प्रयुक्त होनेवाले तर्कों में घटकर रह जाती है ।

प्रस्तुत शोध के प्रसंग में हम यह बल देकर कहना चाहेंगे कि बाहरी जगत और भीतरी जगत (outer world - Inner world) के पद केवल भाषिक सीमा और सुविधा-असुविधा को प्रकट करते हैं । कहा सकता है कि दिक् (space) के अनुभव और भौतिक-विज्ञानों में उसका महत्व होते हुए भी उसे इस सीमा तक आंतरिकीकृत (internalizied) कर लेना ठीक नहीं है कि हम "बाह्य जगत" और "आंतरिक जगत" के मिथ्या भेद करने लगें । जहाँ तक सौंदर्य-अनुभव का प्रश्न है, अगर वाम-सौंदर्यशास्त्र की अपनी उपपत्तियों के संदर्भ में, इस विषय में जागरूकता न बरती गयी तो उसी विकृति का सामना करना पड़ सकता है, जिससे भाववादी सौंदर्यशास्त्र अटा पड़ा है । वस्तुत: "बाहर" "भीतर" ये "पद" और इनके पीछे निहित भाव - एक बौद्धिक ताना-बाना है । यह सही है कि इनसे कभी-कभार "अनुभव" को व्याख्यायित करने और सम्प्रेषित करने में सहायता मिल सकती है । किंतु हमें यह सतत स्मरण करना होगा कि जो भीतर है वही बाहर है और जो बाहर है, वही भीतर है ।[113]

"There is no good answer to this question, quite simply because there is no eternal charm in Greek art. x x x Work of art are process and not objects for they are never produced once and for all, but are continually susceptiple to Reproduction In fact, they only find and identify and a content in this Continual process of transformation. There is no eternal art, there are no fixed and immutable works." — Ibid - Quoted on P. 68.

"वाम" इस तरह की आलोचनाओं की मार्क्सवादी दृष्टि और स्पिरिट के साथ पूरी तरह से सहमत होगा ।

113. वस्तु-जगत (=यथार्थ-मानव संसार) मनुष्य के लिए कोई चुनाव का विषय नहीं होता । मनुष्य को एक प्रदत्त (विश्व-समय-दिक्) समाज में होना ही

हमने बाज़ार-तंत्र और उसके माध्यम से बढ़ते हुए सत्ता (=दक्षिण) के हाथों की बात की । आज "बोध" मात्र उन्हीं हाथों द्वारा गढ़ा जा रहा है । "सौंदर्य" का सम्बन्ध जहाँ एक ओर उन संवेदनाओं, अनुभूतियों, भावनाओं, कल्पनाओं आदि से तो होता ही है, जो चौबीसो घण्टे "जिंस" (commodity) की तरह गढ़ी जा रही है ; वहीं दूसरी ओर उसका सम्बन्ध उन "विचारों से भी है, जो, प्रस्तुत शोध के प्रसंग में, प्राय: सत्ता-वर्ग (ruling class) के होते हैं । "सौंदर्य-बोध" का गहरा और निर्णायक सम्बन्ध विचारों से होता है, क्योंकि विचार भी मूलत: इन्द्रिय-बोध है और प्रस्तुत शोध-प्रसंग की एक उपपत्ति यह भी है कि सौंदर्य-बोध मूलत: इंद्रिय बोध है अथवा प्रत्येक बोध मूलत: इंद्रिय बोध है ।[16]

पूर्व में दर्शाया जा चुका है कि जिजीविषा ही सारे मूल्यों की आधार है । मनुष्य अपने सत्ता-बोध (sense of being) से अस्तित्व बोध(sense of existence) तक पहुँचने में जिजीविषा द्वारा ही निर्देशित और प्रेरित होता है । परिवार अथवा समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही वह जिजीविषा क्यों न सक्रिय रही हो । बोध से सौंदर्य-बोध तक की यात्रा भी इसी जिजीविषा के चलते हैं तथा माध्यम भले ही इंद्रियाँ हो या (मूल में इंद्रिय-संयुत) कल्पना, विचार जैसी मस्तिष्कीय - - - - जो वस्तु जगत (मात्र विचार-विमर्श के लिए ही क्यों न हो) मानव-निरपेक्ष होगा, वह हमारे प्रस्तुत शोध प्रसंग में अर्थ हीन ही माना जायेगा । मानवीकृत वस्तु-जगत (=मानवीय यथार्थ) ही सौंदर्यशास्त्र (अथवा वाम सौंदर्यशास्त्र) का विवेच्य होगा । निश्चित ही वस्तु जगत को प्राथमिक मानने में यह तथ्य अन्तर्निहित होगा ही कि वह मानवीकृत होता है और अपने मानवीकृत होने में मानवीय सृजनात्मकता को ही रेखांकित करता है । तुलना की जिए — "Things have meaning only in so far as they have relationship with man" Marxism a Art — Bela Balazas — ed. Maynord Solomon. P. 282.

साथ ही वैस्क्वेज़ द्वारा निर्धारित, यथार्थ की तीन श्रेणियों को भी देखा जाना चाहिए — ।. मानव-जीवन के हाशिए पर स्थित बाहरी यथार्थ,

शक्तियाँ हों किंतु सम्पूर्ण मानव-अस्तित्व ही उसमें ‖सौंदर्यबोध या सौंदर्यानुभव‖ सक्रिय रहता है । यहीं मानव-व्यवहार की बात आयेगी । मनुष्य के सक्रिय और सृजनात्मक अस्तित्व ‖=सांस्कृतिक-सौंदर्यबोधात्मक अस्तित्व‖ की कसौटी और पहचान, उसका व्यवहार ही होता है । सार्त्र ने जब चेतना (Consciousness) को अपनी सत्ता-मीमांसा-धर्मी ज्ञान-मीमांसा में प्राथमिकता दी थी तो उसे प्रेक्सीस् ‖=आचरण‖ से समीकृत कर के देखा था । प्रस्तुत शोध-प्रसंग में हम व्यवहार को आचरण या आचार से एक करके देखना चाहेंगे । वस्तुतः वह एक ही होता है । कला कलाकार का आचरण है और उसके देखना-सुनना-पढ़ना "सहृदय" का आचरण है और यह आचरण ठोस वस्तु-जगत के बीचोंबीच संपन्न होता है । ठोस वस्तु-जगत मनुष्य के सामने ठोस व्यवस्था ‖सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक‖ के रूप में आता है, जिसका वह हिस्सा होता है । एक ऐसा हिस्सा, जो अपने "समाज" या "संसार" को बदलता और बनाता भी चलता है । आज प्रकृति-प्रदत्त संसार कहीं नहीं है, जो भी है, वह इंद्रिय-संवेदी संसार है ।

उस यथार्थ का मानवीकृत रूप ‖यद्यपि बाह्यरी यथार्थ‖ और मानव यथार्थ ।" Art and Society. P. 33

यहाँ हाइडेगर, हुसर्ल, सार्त्र और मारलोपोंती की सत्ता और जगत (Being and world) सम्बन्धी अवधारणाएँ प्राथमिक सोपानों की तरह पीछे छूट जाती है । मानव-यथार्थ, मानव द्वारा, मानव के लिए और मानव के बारे में होता है ।

11H. डेविड कूपर ने हुसर्ल को उद्धृत किया है ।— "That there is no consciousness that is not a consciousness-of-something, that there is an organic link between consciousness and its object

इस उद्धरण पर डेविड कूपर की टिप्पणी है— "Otherwise we would be le with a 'Property' state of affairs in which we 'Had' a conscio which 'had' its object." — The Grammer of Living — P. 22

ज्ञान के क्षेत्र में यह संपत्ति केन्द्रित दृष्टिकोण एक ऐसे "छद्म-अहं" (false or Pseudo ego) को प्रदर्शित करता है कि समूची ज्ञान-मीमांसा प्रदर्शनव

दूसरे शब्दों में, सत्ता-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के सारे विमर्शों में हम यह जोड़ना चाहेंगे कि यह सौंदर्यबोधात्मक संसार है, जो (मार्लेपोंती के सहारे से) प्राथमिक है और जो मानव-व्यवहार या मानव-आचार के द्वारा ही सौंदर्य बोधात्मक हो पाया है इसलिए प्राथमिक मानव और उसका श्रम है।[121]

इस विवेचन के आलोक में "वाग् सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" की बात स्वयमेव स्पष्ट और समर्थित हो जाती है। संसार (=इंद्रिय-संवेदी संसार) अपने होने में मानवीय (Human) संसार है और इसीलिए सौंदर्यबोधात्मक (Aesthetic) है; तो आज वह खतरे में है। मनुष्य, उसके बीच में है और उसका एक हिस्सा है तो वह दुगुने खतरे में है। यहाँ विडम्बना यह है कि खतरा भी स्वयं "मनुष्य" ही है। अपने आचार या व्यवहार के द्वारा। "मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो अपनी ही नस्ल को खत्म कर रहा है।"[122] यदि एक ओर ऐसा व्यवहार है, जो स्पष्टतः आत्मघाती है तो दूसरी ओर उसका "व्यवहार" ही उसे अब तक बचाये हुए हैं और उसके मनुष्य होने की प्रक्रिया को जारी रखे हुए हैं।

Exhibitionism में घटकर रह जाती है।

115. "All is out in the world - There is no reality behind the many frustrations of reality; but although I say All is out side, All is also inside the outside - Ibid P 88

तुलना के लिए याद किया जा सकता है कि शंकराचार्य ने विज्ञानवादियों के कथन-'सारा बाह्य वस्तु-जगत वस्तुतः मन में ही है' की आलोचना करते हुए कहा था - "ऐसे ऐसे व्यक्ति को जिसने कभी बाहर पन का अनुभव नहीं किया, बाहर पन का भ्रम कैसे होसकता है?" (ब्रह्मसूत्र, शारीरिक भाष्य 2/2/8)

116. सौंदर्यबोध और विचारों के संदर्भ में राम विलास शर्मा का यह कथन उद्धृत करने योग्य है - "कुछ वस्तुएँ सबसे अधिक इंद्रियों को रुचती है कुछ हृदय को, कुछ मस्तिष्क को। गुलाब के फूल में कोई विचार निहित नहीं है हम उसे देखकर चाहे जो सोचें। उसका वस्तुगत सौंदर्य इंद्रिय बोध तक सीमित है। ललित कलाओं में इंद्रिय-बोध, भावना और विचार - इन तीनों की एकता दिखायी देती है। स्थापत्य, शिल्प और चित्रकला में इंद्रिय बोध की प्रधानता रहती है, संगीत में भावना की और साहित्य में विचारों की।

उसके "समस्त इंद्रिय-बोध का जन्म व्यवहार के आधार पर हुआ था, सौंदर्य-चेतना के आधार पर नहीं ।"[123] यह कहना अधिक सही होगा कि मनुष्य की सौंदर्य-चेतना का आधार भी मनुष्य का व्यवहार ही है । रामविलास शर्मा ने लिखा भी है - "सौंदर्य की कसौटी है, मनुष्य का व्यवहार।"[124] इंद्रियबोध और इंद्रिय-विकास की चर्चा की जा चुकी है । "अनुकूलता" और "समंजन" के प्रत्यय जहाँ एक ओर जिजीविषा से जुड़ते हैं, वहीं सौंदर्य-बोध के भी वे अनिवार्य घटक हैं । इन्हीं प्रत्ययों को बीज-रूप में सुख-बोध > आनंद बोध > सौंदर्य-बोध में पहचाना जा सकता है । डॉ० फतह सिंह के अनुसार प्राचीन भारत में जो "स्वस्ति" शब्द, सौंदर्य-तत्व का अर्थ देता था ; उसे भी हम, प्रस्तुत शोध के अंतर्गत "सौंदर्य-बोध" से जोड़ सकते हैं । यह चर्चा भी इंद्रिय बोध प्रकरण में पर्याप्त विस्तार से आचुकी है ।

इस प्रकार सौंदर्य-बोध का आधार जिजीविषा है यह पूरी तरह से प्रत्यक्ष हो जाता है । अस्तित्व-संघर्ष हो या कोई और संघर्ष ; सैन्य-विज्ञान के अनुसार उसकी बुनियादी उपपत्ति यह है कि शत्रु, उसकी रण-नीति आदि को पूरी तरह से समझ लिया जाय । यहाँ वह प्रकृति ही शत्रु है, जिसका हिस्सा स्वयं मनुष्य है । भें-बोध से सौंदर्य-बोध तक की संघर्ष-गाथा, मनुष्य की अपने से और वातावरण से, दो मुँहे मोरचे पर एक साथ लड़ने की गाथा है । उदाहरण के लिए, मनुष्य के प्रथम बोध अर्थात्

लोक जीवन और साहित्य पृ-2 । इसीलिए "सौंदर्य" पर सार्थक विचार ललित कलाओं को आधार बनाकर ही किया जाता है और अगर न किया जाय तो फिर विचार "अनुपयोगी" होते हैं । सौंदर्यशास्त्र इसी अर्थों में "सौंदर्य-केन्द्रित कला-दर्शन है," न कि कला-दर्शन ही सौंदर्यशास्त्र होता है, जैसा कई विद्वानों ने समझा - समझाया है । सौंदर्य को स्थिर-प्रत्ययन मानें तो "सुंदर" सम्बन्धी आधुनिक आपत्तियाँ निरर्थक हो जाती है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी स्पष्ट शब्दों में साहित्य-तत्व [=सौंदर्यतत्व] को "सौंदर्य असल में वस्तु की समग्रता की अनुभूति है । xxx "मनुष्य की इच्छा शक्ति जब सर्जनात्मक रूप ग्रहण करती है तो भारतीय शास्त्रों में उसे विश्वव्यापी सर्जनात्मक शक्ति "ललिता" का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है ।"

स्पर्श बोध को लिया जा सकता है । "प्रजजनात्मक" और "स्वरक्षात्मक" भूमिका से शुरूआत होकर किस प्रकार वह सौंदर्य-बोध तक पहुँचा[125] यह द्रष्टव्य है ।

जब "मैं-बोध" से लेकर "सौंदर्य-बोध" तक, प्रदूषण का संकट आया हुआ हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि बीसवीं शती के इस नौवें दशक में आकर अस्तित्व-संघर्ष का रूप अधिक विकराल और अधिक मारक होगया है । तकनीकी विकास, सत्ता-वर्ग के हाथों में एक ऐसा औजार है, जो मनुष्य और उसकी आवश्यकताओं, इच्छाओं, कल्पनाओं, भावनाओं, अनुभूतियों, आवेगों और जीवन-ऊर्जा के बीच में खाइयाँ तैयार कर रहा है और मनुष्य को रोबोट या मशीनी मानव में ढालने की चेष्टा कर रहा है ।[126] ऐसे में यदि मनुष्य को बचे रहना हो तो उसे अपने "बोध" को और अपने सौंदर्य-बोधात्मक संसार को बचाये रखने के लिए युद्धस्तर पर संघर्ष करना होगा । आचरण-श्रम और अवकाश दोनों ही बिंदुओं पर मनुष्य को अपने अजनबी हो चुके "स्व को पुन: पाना है और उसका प्रस्थान-बिंदु उसी सौंदर्यबोधात्मक नैतिकता (Aesthetic Morality) से पहचाना जा सकता है, जहाँ मनुष्य की मनुष्यता और सृजनात्मकता एक हो जाती है । कहना न होगा कि ऐसा ललित कला के धरातल पर ही संभव होता आया है और इसलिए एक ऐसे सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है, जो मनुष्य के "मैं-बोध" से सौंदर्य-बोध तक पहुँचने की यात्रा में, हर कदम पर उसके साथ रहे ।

गद्यविशेल गाथावली (ग्रंथावली भाग-7) बताया है । प्रस्तुत शोध के प्रसंग में हम भी जोर देकर कहना चाहेंगे कि यदि गुलाब के फूल (अथवा कोई भी प्राकृतिक वस्तु) को केन्द्र में रखकर सौंदर्यशास्त्र रचा जायेगा तो वह सौंदर्य शास्त्र" भले ही एक सही सौंदर्यशास्त्र" के लिए कच्ची सामग्री का काम दे अपने आप में ~~रखकर=सौंदर्यशास्त्र=रच=जायेगा=तो=वह~~ वह बंजर ज्ञान का लेखा जोखा भर होगा । किंतु राम विलास जी के उपर्युक्त उद्धरण के प्रसंग में यदि हम आधुनिक बागबानी की कला के बारे में सोचें और अम्स्टर डम की उस गुलाबों की घाटी को याद करें, जो "सिलसिला" और "प्रेमरोग" जैसे हिन्दी चलचित्रों में दिखायी गयी है तो यह कहना कठिन हो जाता है कि वस्तुगत सौंदर्य इंद्रियबोध तक सीमित है । "कलाओं के संदर्भ में सौंदर्य "के नशीले रूप

सारांश में एक ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास मानव अस्तित्व के लिए जरूरी है, जो मानव के लिए अखण्ड हो । आर्थिक -राजनीतिक सामाजिक से ऐन्द्रिक संवेदनात्मक भावनात्मक को काट कर, मानव को खण्ड-खण्ड देखना और उन खण्डों को अपने अध्ययन-मनन को विषय बनाकर विचारों का एक खण्डित संसार निर्मित करना, भाववादीदृष्टि से अनुप्राणित अनुशासनों का (जिनमें तथा कथित वैज्ञानिक अनुशासन भी शामिल होते हैं) और इसलिए सौंदर्यशास्त्र का भी,- एक सामान्य उद्देश्य रहा है । एक खण्डित मैं-बोध पर आधारित, छद्म यथार्थ-बोध द्वारा निर्दिष्ट मूल्य-दृष्टि, इतिहास-दृष्टि और विश्व-दृष्टि यदि मात्र भटकानेवाली हो तो क्या आश्चर्य ।[123]

संसार (=समाज) को बदलने की इच्छा की पृष्ठभूमि में जहाँ साम्प्रतिक समाज के प्रति अस्वीकृति रहती हैं, वहीं भावी समाज का एक यूतोपियात्मक-सौंदर्यबोधात्मक नमूना (Model) भी कल्पना में रहता है । उस सौंदर्य-बोधात्मक नमूने के आधार पर ही मनुष्य का व्यवहार = आचार = चरित्र निर्धारित होता है । (पुनः स्मरा करते हुए -" Man therefore also forms things in accordence with the laws of beauty- Marx "

जिस अनुपात में अस्वीकृति की तीव्रता रहेगी, उसी अनुपात में भावी-समाज के नमूने के रंग भी गाढ़े और आकर्षक रहेंगे । जितना गहरा अस्तित्व-संकट होगा, भावी समाज के नमूने का सौंदर्यबोधात्मक आकर्षण (Aesthetic attraction) भी उतना ही तीव्र होगा । ऐसे में सौंदर्यबोध को जिजीविषा से जोड़ने का को और उसके यथास्थितिवादी आचरण को पहचानना आज जिजीविषा के संदर्भ में अनिवार्यतः महत्व पूर्ण है । कलाओं के साथ तो यह संकट हमेशा रहा है कि यदि उनमें निहित "सौंदर्य"(जो निश्चित ही कलाकार के जाने-अनजाने उसके विचार-गर्भी सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति होती है) अपने स्वभाव और चरित्र से प्रतिरोधात्मक न हुआ तो सत्ता-वर्ग (चाहे आज संचार-साधनों और बाज़ार तंत्र के माध्यम से) उसे अपना औजार बना लेता है । इसी संदर्भ में हर्बर्ट मारक्यूज तथा फ्रेंकफर्ट-स्कूल के अन्य विचारकों की चिंता और चिंतना पर्याप्त महत्व रखती है । यद्यपि उनके अधिकांश निष्कर्ष "तीसरी दुनिया"

कोई अर्थ नहीं, वे तो स्वयं ही परस्पर अंतर्ग्रथित हैं। उन्हें समग्रतः प्रतिरोधात्मक बनाने का काम अवश्य ही होना चाहिए और यहीं "वाम सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" उठखड़ी होती है। गोर्की ने इसी अर्थ में सौंदर्यशास्त्र को भविष्य का नीति शास्त्र कहा था।[128]

यदि दो विरोधी और विपरीत इतिहास दृष्टियों के बीच चुनाव करने का सवाल[129] ही "सौंदर्य-शास्त्र का प्रमुख सवाल" है (जो कि वह है) तो निस्संदेह वह सवाल अब टाला नहीं जा सकता। आज के सर्वनष्टकारी दौर में मनुष्य को अपनी ~~समुज्ज्वल~~ मनुष्यता को बचाना ही है और उसकी वह मनुष्यता (=प्रक्रिया) सौंदर्यबोधात्मक श्रम (Aesthetic labours) का पर्याय है। चारो ओर से उस प्रक्रिया को अवरुद्ध किया जा रहा है और "अमानवीकृत" होने का संकट और वह भी अपने ही हाथों; मुँह बाये खड़ा है।

संसार को बदलना ही है और अब मार्क्स के समय से सर्वथा विपरीत मांग यह भी साथ है कि उसकी व्याख्या भी करनी है।[130] यदि सौंदर्यशास्त्र को उस बदलाव की प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभानी है तो उसे "बदले जा ~~रहे~~ सकनेवाले संसार (=समाज) और उसी के एक अंश मनुष्य

दूर का ही सम्बन्ध रखते हैं। — "The rebellious idea becomes an excessory in justification xxx In affermative Culture even unhapoiness becomes a means of subordination and acquiescence. By exhibiting the beautiful as present, art pacifies rebellious desires." — Negatinos — Albert Marcuse P. 121

• एलेन मेक्सीयस वुड (Ellen Meikseisus Wood) ने लिखा है। — "one of the first principles of Marx's Materialism, that while man work within definate Material limits Not of there own making including purely physical and ecological factor the material world as it exists for man is not simply a natural given, it is a mode of productive activity, a system of social relations, an historical product, even nature xxx." — New left Review - 127, May-June, Pa. 79

की सौंदर्यशास्त्रीय व्यवस्था (Aesthetic interpretation) का उत्तरदायित्व वहन करना होगा । यह उत्तरदायित्व ही वाम सौंदर्य शास्त्र की आवश्यकता के लिए, मानव के अस्तित्व संघर्ष में उसके सहयोग के लिए और संसार को बदलने में उसकी भूमिका के लिए स्वयं प्रमाण (Axiom) है ।

वस्तु जगत बनाम मानव=यथार्थ : [एक टिप्पणी]

कहा जा चुका है कि वस्तु-जगत, मनुष्य-निरपेक्ष होता है । लेकिन मनुष्य-सापेक्ष वस्तु-जगत ही कलाओं और शास्त्रों का प्रतिपाद्य हो सकता है । इस विराट वस्तु जगत के बीच, लगातार असुरक्षित, अपने को प्रकृति की क्रूरताओं के सामने पाता हुआ और अपने को बचाये रखने की जोरदार कोशिश करता हुआ मनुष्य, कैसे "मनुष्य" हो पाया ; यह मात्र एक अनुमान हो हो सकता है । स्टीफ़न मोरावोस्की (Stefan Morawski) ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि आज यह कल्पना करना असंभव है कि कितनी धीमी गति से, जादुई-प्रतीक विधानों और ठोस उपयोगिता-परक व्यवहारों के माध्यम से मनुष्य कला और सौंदर्य तक पहुँचा था । कला-बोध निश्चित ही "कला" के आविर्भाव के बहुत बाद की घटना है ।[131]

मार्क्स ने भी "प्रक् ऐतिहासिक प्रकृति" के आज कहीं भी न रहने की बात कही है । [पूर्व उद्धृत-इंद्रिय-बोध के संदर्भ में]

118. "On the one hand man is akin to man is species & animo is that he fights is own species. But on the other hand, he is among the thousands & species, that fight, the only one, in which fighting is destructive, xxx. man is the only spe that is a man murderer. The only mis fit in his own Book

The Anatomy & human destructiveness.

- Erich Fromm. P66.

जहाँ हमारी पहुँचन हो, वहाँ ह अपनी असमर्थता मान लेना एक साहसी विवेक का लक्षण है । जिस प्रकार यथार्थवाद अथवा सामाजिक यथार्थवाद की चर्चा करते हुए "यथार्थ" पर बात की गयी, वह अधिकांशत: दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से, अनुमान-शक्ति और तर्क-शक्ति का मिला-जुला दुरुपयोग था । लेनिन ने "पदार्थ" को व्याख्यायित करते हुए अतिरिक्त स्पष्टता वाली अपनी खास शैली में यह कहा था कि वस्तुगत यथार्थता मनुष्य को अपनी ऐन्द्रिक संवेदनाओं द्वारा दी गयी होती है और वह "उनसे" (ऐन्द्रिक संवेदनाओं) स्वतंत्र होती है ।[128][132]

स्पष्ट ही जो कुछ ऐन्द्रिक संवेदन देते हैं, वही यथार्थ या मानवीय यथार्थ है जबकि उन संवेदनों के परे विराट वस्तुजगत मानव निरपेक्ष बना रहता है । इस स्थिति में यह तो कहा ही जा सकता है कि अब इंद्रियों के प्रशिक्षण पर निर्भर है कि वे "कितना" दे पाती है या "यथार्थ" बोध भी कोई सीमा नहीं होती । जब "बोध" के स्तर पर कुछ भी अंतिम कहना गलत है क्योंकि "यथार्थ" का अंतिम "बोध" असंभव है तो "ज्ञान" तो बहुतबाद की वस्तु है ।[129][133]

---

119. ललित कलाएँ और मनुष्य - इवविन ह एडमेन

120. लोक जीवन और साहित्य पृ- 2

121. यदि कालांतर में यौन मात्र प्रजनन धर्मी उपयोगिता से बंधा हुआ या उसी तक सीमित नहीं रह सका और "आनंद" से जुड़ा तो इसके लिए फ्रॉयड को याद करना कतई आवश्यक नहीं है कि समस्त ललित कलाओं का आधार यौन (जो बुनियाद में स्पर्श-बोध ही है) है । प्राचीन भारतीय मनीषियों ने तो "ब्रह्मानंद" और "रस-दशा" अथवा "मधुमती-भूमिका" को भी "यौन-आनंद" की तुलना में विवेचित किया है । पूर्व में कहा जा चुका है कि मनुष्य विस्तार धर्मी है । वह जो है, उससे "अधिक" होना चाहता है । यह सकारात्मकता पर बल देता हुआ कथन है । "नकारात्मकता" पर बल देता हुआ कथन भी उपलब्ध हैं । - "Man is the only creature, who refuses to be what he is" — Albert Camus

मनुष्य के पास अगर पहली इंद्रिय "त्वचा" ही 'to be more' की साधन थी, तो उसीसे जुड़ा "यौन" भी जहाँ वह पाशविक से अलग होता है - यही भूमिका

इंद्रिय-बोध के स्तर पर यथार्थ की उथरी सतह ही जानी जा सकती है। सौंदर्य-बोध भले ही मूलतः इंद्रिय बोध हो किंतु सौंदर्य-दर्शन के लिए ज्ञान, मूल्य-दर्शन और विश्व-दर्शन आवश्यक होते हैं। किस सीमा तक "बाहर", "भीतर" को दूषित कर सकता है, यह हमारे विवेचन में आचुका है। स्पष्ट है कि वह सीमा "चिति"(Psyche) तक जाती है। यथार्थ-बोध की जटिलता भी बड़ी गहरी होती है क्यों कि वह सम्बन्ध है और "सम्बन्ध" की जटिलता को ठोस आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक सापेक्षता में ही समझा जा सकता है। ऐसे में सदा युग सापेक्ष और अधूरे यथार्थ-बोध पर आधारित यथार्थ ज्ञान और उसे केन्द्र बनाकर आंदोलन का रूप लेते यथार्थवाद पर क्या कहा जाय? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यथार्थवाद शब्द से "यथार्थ" पर भले ही कोई प्रकाशन पड़ता हो, किंतु उस "वाद-प्रधान" युग के बारे में अवश्य ही पता चलता है, जो द्वंद्वात्मक सच्चाई के बजाय विधि-निषेधों के निर्माण पर अधिक बल देता है।

वस्तु जगत के साथ मानव के सम्बन्धों को पूरी तरह से न समझ सकने के कारण ही दार्शनिक यथार्थवाद (Philosphical realism) अव-द्वंद्वात्मकता की एक मिसाल बनकर रह गया था।[134] विडम्बना यह कि समाजवादी यथार्थवाद (Socialist realism) में यह दुर्घटना बड़े पैमाने पर घटी। वहाँ तो सिर्फ पहले पद "समाज वादी" पर ही समूचा जोर लगा दिया गया और बेचारा "यथार्थवाद" असहाय-सा खड़ा देखता रहे गया।[135]

[illegible] है वही अव-मानवीकृत हो जाता है। आनंद-बोध निश्चित ही जो है; उससे कुछ अधिक होने का सूचक है। सम्पूर्ण ललित कलाएँ और उनमें सक्रिय सौंदर्य "आत्म-विस्तार" का साधन होता है। आत्म-विस्तार (Self-expansion) ही यौन को मानवीय आयाम देता है और प्रकारांतर से प्रमाणित करता है कि "आत्म-विस्तार" के साधारण-धर्म के धरातल पर ललित कलाएँ निश्चित ही यौन की अवांतर धाराएँ हैं।

122. तुलना कीजिए – "Contemporary society uses the instrument of liberation to control, divert and defeat the struggle for liberation." – Marxism and Art – Jerry Cohen. ed. Maynerd Soloman.

वस्तु-जगत के साथ अपने अस्तित्व-संघर्ष के दौरान (जो उसके भीतर ही भी घटित होता है) मनुष्य ने "यथार्थ" या "मानवी-कृत वस्तु जगत की रचना की । यथार्थवाद के महान प्रवक्ता लुकाँच के साथ एक बड़ी दिक्कत थी कि उनके सम्मुख दो पाठक वर्ग एक साथ रहते थे । समाजवादी यथार्थवाद से जुड़े लेखक और आलोचनात्मक यथार्थवाद से जुड़े पश्चिमी लेखक ।[136] फिर भी ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि लुकाँच स्तालिनवादी प्रभाव के बावजूद "यथार्थ" के बारे में बड़ी स्पष्ट धारणा रखते थे लेकिन जब वे लेखकों को बाल्ज़ाक और लेव टालस्टाय जैसा बनने का उपदेश देते थे तो जैसे "यथार्थ" के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं से मुँह फेर लेते थे ।[137]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग के अंतर्गत-लुकाँच की विद्वत्ता के प्रति पूरा आदर प्रदर्शित करते हुए हम उन्हीं की "गतिशील यथार्थ" की अवधारणा स्वीकार करते हुए उनके उपदेशात्मक निष्कर्षों से असहमत होंगे । यथार्थवाद के संदर्भ में तो हम उचित स्थल पर विचार करेंगे लेकिन "वाम" दृष्टि की ओर से यह अवश्य कहना चाहेंगे कि लुकाँच ही इस के एक श्रेष्ठ उदाहरण हो सकते हैं कि कैसे रूढ़िबद्ध विचार धारा महान आलोचक को भी गलत निष्कर्षों और अधूरी व्याख्याओं के जाल में फँसा देती है । ज़ोला और बल्ज़ाक के बारे में लुकाँच के मंतव्य इस ओर संकेत करते हैं ।

मनुष्य से "उसके मनुष्य होने" "होते रहने" का अधिकार छीन लेना ही वर्तमान युग-समाज और सत्ता वर्ग की मनुष्य के खिलाफ एक मात्र रणनीति है । बोध (आत्म-बोध और यथार्थ बोध) ही मनुष्य को स्वतंत्र होने और इसलिए परतंत्रता का दायी वातावरण को आमूल चूल बदलने के लिए प्रेरित कर सकता है और इसलिए यथास्थितिवादी शक्तियों को अपनी आत्म रक्षा का यही तर्क समझ में आता है कि "बोधात्मक शक्ति" को या तो छद्म बनादें या फिर उसे खण्ड-खण्ड करके लगभग निर्जीव (=लगभग निर्जीव) करदें ।

123. इंद्रिय-बोध (> सौंदर्यबोध) का आधार वस्तु जगत का मानवीकृत यथार्थ होता है और जब उसे ही मिथ्या या छद्म (false or pseudo

फ्रेडरिक जेमूसन की टिप्पणी से सहमत होते हुए हम "यथार्थ" सम्बन्धी यह प्रकरण समाप्त करेंगे । यदि सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हों कि लेखक और उसके पात्र उन स्थितियों में हिस्सेदारी करते हुए अपने युग को प्रस्तुत करते हैं तो यह सहज ही है । अपनी सामाजिक स्थितियों को चुना नहीं जा सकता । उनमें सक्रिय या निष्क्रिय रूप से रहा जा सकता है । अब अगर द्रायफस (Dreyfus) काण्ड में अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाने वाले ज़ोला को वह ऐतिहासिक भाग्य (Historical luck) नहीं मिला जो बाल्ज़ाक को हासिल हुआ तो क्या मात्र इसी से बाल्ज़ाक को श्रेष्ठ ठहराया जा सकता है ? ज़ोला का जीवन पूरी तरह से सामाजिक और राजनीतिक हिस्सेदारी से युक्त था जबकि बाल्ज़ाक बुनियादी तौर पर अपनी निजी महत्त्वाकांक्षाओं के घेरे में ही बद्ध रहा । रचना-प्रक्रिया भी ज़ोला की ही ज़्यादा सृजनात्मक हिस्सेदारी वाली थी, जब कि बाल्ज़ाक कल्पना की उड़ानों पर ज़्यादा भरोसा करता था ।

बनाया जा रहा हो, तो इंद्रिय-बोध का मिथ्या या छद्म हो जाना तो नितांत सहज-स्वाभाविक है — "There is little conjunction of truth and social reality: around us are pseudo events, to which we adjust with a false consciousness adopted to see these events as true and real and even as beautiful. In the social of man the truth decides now less in what things are than in what they are not. Our social realities are so ugly if seen in the light of exiled truth and beauty is almost no longer possible if it is not a lie." — The Politics of Experience — R.D. Laing. P 11.

कहना न होगा कि मारक्यूज की अंतप्रवृत्तियों को बदलने की बात या चेग्वेवेरा की "नया मनुष्य की अवधारणा का परिप्रेक्ष्य "संसार" को बदलने का ही है । मनुष्य के अंतस बदलने की अमूर्त, उपदेशात्मक बातों की प्रतिक्रिया

पुनः बल देकर हम यह कहना चाहेंगे कि ऐतिहासिक समय प्रदत्त होता है और किसी भी व्यक्ति को अपना "समय" चुनने की छूट नहीं होती ।[136] अपने समय (सामाजिक-राजनीतिक) के साथ द्वंद्वात्मक सम्बन्ध ही किसी कलाकार की रचना-प्रक्रिया और रचना-परिणाम को निर्धारित करता है । "यथार्थ" गतिशील होता है, यह मानने के बाद भी लुकाचने आधुनिक साहित्य को, बाल्ज़ाक और टालस्टाय को आदर्श नमूना के रूप में देखने को कहा । यदि बाल्ज़ाक मार्क्स-एंगेल्स को रुचिकर लगते थे और उन्होंने और लुकाँच ने उसपर विस्तृत विवेचनात्मक लेख लिखे थे तो इसका मार्क्सवाद से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं जुड़ जाता है । ब्रेख्त को बाल्ज़ाक ने तो कहीं से पसंद था और ने वह उसे श्रेष्ठ ही मानता था ।[139] भारत के संदर्भ में भी, बाल्ज़ाक को नमूना (Model) नहीं माना जा सकता । हिन्दी जगत में भी यह यथार्थ-विरोधी प्रवृत्ति लगातार सक्रिय दिखायी देती है । साठ के बाद के कवियों के लिए नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल को नमूना बनाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा कुछ ऐसी ही थी । यदि साठ के बाद के अराजक समय में कविता में आनेवाले कवि नागार्जुन और केदार से गुणात्मक अंतर रखते हो तो यह सहज ही है ।

यह हुई कि "संसार" को बदलने में अंतस की बात ही भुला दी गयी और माख्यूज़ प्रभृति विद्वानों का महत्व यह फिर से याद दिलाने में है ।

124. "Aesthetics will be the ethics of the future" गोर्की का यह कथन कई बार उद्धृत किया गया है । यहाँ इसे David Meakin की 'Man and Work' से उद्धृत कर रहे हैं पृ-125. यों तो "समाजवादी यथार्थवाद" का पक्ष ग्रहण करने के कारण गोर्की को जदानोव वादियों में परिगणित किया जाता है, किंतु सृजनात्मक लेखन से जुड़े होने के कारण सौंदर्य का महत्व उन्हें पता था । वे मार्क्सवादी इसीलिए थे कि "मार्क्सवाद" संसार को बदलने का उद्देश्य लेकर चलता है, और ~~है~~ जो भी दर्शन संसार को बदलने का उद्देश्य लेकर चलता है, ~~और उसी~~ उसी के लिए "सौंदर्य-शास्त्र" महत्वपूर्ण हो जाता है । जहाँ भी क्रांति-चेतना का चरित्र "यूटोपिया-त्मक" होगा (पूर्व अध्याय में "परिभाषित") वहीं सौंदर्य और उसका शास्त्र

वस्तु-जगत को यथार्थ में बदलता व्यक्ति अपना-युग-संदर्भ जीता है। किसी भी "यथार्थ" की बात बिना संदर्भ के नहीं की जा सकती। वस्तु जगत के बरक्स खड़ा हुआ व्यक्ति का यथार्थ उसके ठोस सामाजिक-राजनीतिक ऐतिहासिक समय से कटा हुआ नहीं रह सकता।

मानवीय श्रम, उपयोगिता, अलगाव, चेतना और रूपांतरण के सौंदर्य-गत संश्लिष्ट संदर्भ

प्रस्तुत शोध प्रसंग में, अब तक के विवेचन-विश्लेषण से जो कतिपय बातें स्पष्ट हुई हैं, वे मानवीय संदर्भों की जटिलता बताने के लिए पर्याप्त हैं। असीम, अनबूझ और विराट वस्तु-जगत में अपने आपको असहाय पाता हुआ मनुष्य जो कुछ भी आज है वह सिर्फ उस संघर्ष के कारण है, जो वह बचे रहने के लिए, जीने कि अपनी सीमाओं में प्रत्यक स्तर पर करता रहा है। यह बाहरी तौर पर मात्र देह के बचे रहने की बात नहीं थी, मनुष्य के लिए मानसिक तौर पर बचे रहना भी उतना ही आवश्यक है। देह हो या मन

उसके लिए महत्वपूर्ण हो जायेगा। यहाँ यह स्मरण करना सर्वथा प्रासंगिक है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का जो भी रूप आज हमें मिलता है, उसका विकास पर्याप्त संकट और उथलपोथलात्मक समय में हुआ है। जो विद्वतगण "सौंदर्य" और उस क्षेत्र के शास्त्र को केवल "अवकाश" और "शांति-पूर्ण समय से जोड़ते हैं, उन्हें यह याद दिलाना-प्रस्तुत शोध के प्रसंग में, हम आवश्यक समझते हैं कि जिस समय योरोप पर हिटलर की तानाशाही मण्डरा रही थी उस वक्त, उसके विरुद्ध अपनी समूची बौद्धिक क्षमता से लड़ते हुए भी, बर्तोल्त ब्रेख्त, वाल्टर बेंजमिन, थियोडोर अडोर्नो, जार्ज लुकाच और अर्न्स्ट ब्लाख ने, सौंदर्य-सम्बन्धी समस्याओं पर गहर विचार-विमर्श किया था। रोनाल्ड टायलर द्वारा संपादित (Aesthetics and Politics) में अडोर्नो के दो लेखों को छोड़कर, शेष सारे विवाद-परक लेख 1934 से 1938 के बीच लिखे गये हैं। लुकाच द्वारा मार्क्स को 'The Marx of Aesthetic' कहा जाना भी मार्क्स की क्रांति चेतना को सौंदर्य-चेतना से गुंथना था। "संकट" और सौंदर्य-चेतना के इस वैचारिक बिंदु पर दो उदाहरण प्रासंगिक

अपनी स्थिति को पहचानना और संतुलन-समंजन के अनंत लिए अपने प्रयासों द्वारा उसे §अपनी स्थिति को§ इस प्रकार निर्धारित करना कि अधिकतम सुरक्षा प्राप्त हो - यह प्रारंभ से ही मनुष्य के लिए चरम लक्ष्य रहा ।[136] इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने जो भी साधन अपनायें, वे उसकी स्वयं की अपर्याप्तता के कारण परस्पर विरोधी, अंतर्विरोधों से ग्रस्त और आवेग बनाम बुद्धि के द्वंद्व से प्रभावित रहें । विडम्बना यह कि स्थिति-निर्धारण के लिए प्रकृति या वातावरण को जानना जरूरी होता है और "जानना" जिस चेतना, समझ या बुद्धि के माध्यम से संभव होता है, वह भी अपने आप में "प्रकृति" ही होती है और चेतना को समझने पहचानने के लिए भी "चेतना" ही चाहिए ; यह अपने आप में चाहे जितनी विचित्र बात प्रतीत हो, किंतु यह सही है । परिणामस्वरूप प्रत्येक अनुशासन जहाँ दूसरे अनुशासन का पूरक हो सकता है, वहाँ "विरोधी" होना उसकी नियति हो जाती है । जब स्वयं मनुष्य ही अंतर्विरोधों और विपरीत तत्वों का पुतला हो तो यह "ज्ञान मीमांसात्मक" क्षेत्र के लिए भी सच होगा क्यों कि मनुष्य और उसकी ठोस स्थिति से निरपेक्ष कोई "अनुशासन" नहीं होता ।

होंगे । §1§ विभूति भूषण वंद्योपाध्याय के अंतिम उपन्यास "आरण्यक" में एक स्थान पर बिहार की उस गरीब जनता के आनंद-बोध और सौंदर्य-बोध पर टिप्पणी की गयी है, जो कई-कई मील दूर गाँवों से चलकर पेट की भूख मिटाने किसी मामूली से भोज में आते हैं । टिप्पणी है "दो मुट्ठी भात खाने की खुशी में जो बेबुलाए नौ-दस मील की संचित मंज़िल मार कर भीमदास टोला और पर बत्ता से यहाँ आ गये - उनके आनंद ग्रहण की संचयशक्ति शक्ति कितनी पैनी है - मैं यह सोचकर दंग रह गया । पृ+24 सहज ही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि दुख-बोध और श्रम-बोध की अधिकता के अनुपात से ही आनंद बोध और सौंदर्य-बोध की अधिकता निर्धारित होती है । मात्र दुःख बोध को निष्क्रियता से सम्पुटित करके उसे सौंदर्य से जोड़ने की एक रोमांटिक परिपाटी भी रही है । नीत्शे The birth of Tragedy के समापन में एक ग्रीक-वचन यों उद्धृत किया है — "How much did this people have to suffer to become beautiful" - From Shakespeare to existentialism. - Walter Kufmann P22.

अब यदि प्रत्येक मानवीय स्थिति के लिए अलग-अलग अनुशासनों में ऐसी अलग-अलग व्याख्याएँ मिलती हैं, जो परस्पर एक-दूसरे को काटती प्रतीत होती हों तो यह आवश्यक नहीं है कि उनमें से एक सही और दूसरी गलत ही हों । "यथार्थ" एकायामी (One dimentional) नहीं होता और मनुष्य "एकायामी" होने में भले ही अपने को सुरक्षित अनुभव करें पर उसका मनुष्य होना अथवा "मनुष्य" होने की प्रक्रिया किसी भी "सीमा" या साँचे में बंदी रहना (भले ही सुरक्षा मिलती हो) नहीं चाहती । ऐसे में वह एक साथ "चिंता से कतराने वाला प्राणी" (Anxiety avoiding animal) भी है और "विस्तृत होने" (To be more) के लिए नयी-नयी चिंता-प्रद स्थितियों को गढ़ता और आमंत्रण देता है । यदि आचारशास्त्र (Ethology) की यह मान्यता है कि कुल मिलाकर सबसे पहले मनुष्य "एक प्राणी है, जो सूर्य की रोशनी में चमकते एक ग्रह पर "निर्मित" हुआ है । दूसरे शब्दों में बिना उसके पशु-स्वभाव को प्रस्थान-बिंदु बनायें, उसके बारे में सार्थक रूप से जाना ही नहीं जा सकता (किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि "मनुष्य" जो है, उससे कुछ और होना चाहता है । भले ही इस चाहना के कतिपय परिणाम मानसिक रोग, परपीड़नवाद और युद्धों की श्रृंखला रही हो पर उसका "मनुष्य होना" इसी तथ्य पर निर्भर है ।[141]

पृ-22 पर उद्धृत) यह प्रवृत्ति एक विकृत अर्थ में पीड़ित या दुखी स्त्री को सुंदरता का नमूना मानकर एक परपीड़क (Sadist) दृष्टिकोण के सहारे पुरुष-शासक विचारों को लुभाती रही है । (2) स्टीफन क्रेन की एक कहानी में, तीन व्यक्ति एक छोटी सी नाव में यात्रा करते हुए समुद्री तूफान में फँस जाते हैं । कहानी का आरंभ ही इस वाक्य से होता है --उन्हें आकाश का रंग नहीं दिखायी दिया । "घोर संकट के उन क्षणों में, उन व्यक्तियों के पास आकाश के रंग" के लिए न तो रुचि थी और न तालसा ।"

इन तीन व्यक्तियों की तरह की स्थिति ही आज के मनुष्य की है । यह जानना ज़रूरी है कि "आकाश का विस्तार अथवा रंग" संकट से जूझने की शक्ति को बढ़ाता भी है । वाम सौंदर्यशास्त्र को एक ऐसा ही

यहीं "मृत्यु-भय" (fear of Death) की बात आती है। वह पशु नहीं है तो उसे पशु की तरह "मरना" भी नहीं चाहिए। "नश्वरता" ही उसका पशु-पक्ष है, और पशु नहीं रहना है तो "नश्वरता" से लड़ना होगा और उसे हराना होगा। नितांत विशिष्ट ढंग के अपने मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन में ऑटो रैंकेने ने स्पष्ट शब्दों में कहा है "अंतिम विश्लेषण में, सारे धर्म स्वाभाविक मृत्यु के डर के कारण अस्तित्व में नहीं आये बल्कि "संपूर्णत: नष्ट" हो जाने के भय से वे विकसित किये गये।[138] आवेगात्मक अबौद्धिकवाद (Instinctual irrationalism) और बौद्धिकवाद (Rationalism) का द्वंद्व यहीं प्रकट होता है। मनुष्य के मूलत: पशु होने पर कुठाघात देने वाले विचारक सारी समस्याओं का समाधान फिर से "आवेगात्मक" जीवन में लौट जाने में मानते हैं[143] और दूसरे सिरे पर "बौद्धिकवादी" पशु-आवेगों की ओर से आँखें मूंद लेना चाहते हैं। संभवत: प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध की उपपत्तियों को मानते हुए हम "प्रतिरोध" के संदर्भों का यथाशक्य सौंदर्यबोधात्मक अध्ययन करें तो किसी सीमा तक संतुलित दृष्टि प्राप्त कर सकें।

विमर्श होना है। प्रेरणादायी हो सकता है यह प्रसंग कि बोलिविया में गेरिल्ला लड़ाई लड़ते चेग्वेवरा के पास नेरूदा की कविताओं की किताब हमेशा रहती थी और उसके शव के पास से बरामद हुई थी।

125. क्यों -9 में शिवकुमार मिश्र का "नये सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता" नामक लेख। पृ-9.

126. इस "निष्कर्ष" की प्रेरणा अडोर्नो की प्रसिद्ध पुस्तक 'Negative Dialectics' के प्रारंभिक वाक्यों से ली गयी है। — "Philosophy which once seemed obsolete lives on because the moment to realise it was missed. The dismmy judgement that it had nearly interpreted the world that resignation in the face of reality had merelly crippled it in itslef becomes a defeatism of reason after the attempts to change the world miss-carried" — P.3

अडोर्नो के अनुसार, एक तो उस अपर्याप्त व्याख्या के कारण बदलना संभव नहीं हो सका, जो आवाहन कर रही थी। और दूसरी बात यही है कि "संसार

यही मनुष्य की श्रम-केन्द्रित जीवन-चर्या की चर्चा आवश्यक होती है। "बोध" के विकास को यथोचित चर्चा हम कर चुके हैं। मनुष्य का "अपने को जानना उसे उस स्थिति में अंतिम रूप से ले आया है, जिसके परिणामस्वरूप अगर वह एक अंतहीन "विचलन" का शिकार हो गया है तो पिछले पड़ावों पर लौटना कोई समाधान नहीं होगा। "आवेग" और "आनंद" निश्चित ही जीवन समर्थक होते हैं। "किंतु" "बुद्धि" या "तर्क शक्ति" को "दैहिक इच्छाओं" की तुलना में हीन या नगण्य या घातक घोषित करना भी दूसरें अतिवाद की गिरफ्त में फँस जाना होगा।[144]

प्रस्तुत शोध प्रसंग में उपर्युक्त चर्चा, भूमिका के बतौर इसलिए आवश्यक हुई कि नार्मन ओ : ब्राउन हो या मारक्यूज अपने में यूतोपियात्मक चरित्र रखते हैं। "चाम" के संदर्भ में इसीलिए एक तो यूतोपियात्मक को "द्वंद्वात्मक प्रक्रिया" का परिणाम कहा गया था और दूसरे "सामूहिक= राजनीतिक कारवाई= कारवाई" की बात कही थी। ललित कल्पनाओं की अपनी जोखिम होती है और उसमें सबसे बड़ी जोखिम "आवेगात्मकता" है।

अपने को विषयी और प्रकृति को विषय करके जानना - दूसरे शब्दों में "अहं-बोध" ही "मनुष्य" का पशु से अलग होने का आरंभ और निर्णायक पड़ाव है। यहीं इस का "श्रम" भी मानवीय श्रम होता है।[145]

को व्याख्या (interpreting the world) को बंद करने (to ban) का परिणाम यह हुआ कि तथाकथित समाजवादी देशों में असहिष्णुता बेहद बढ़ गयी। मार्क्सवाद को "वैधानिकता का विज्ञान" (The Science of Legitimatation) में घट कर नहीं रह जाना है।

127. 'Enquiries into the fundamentals of Aesthetics' P.62 गुहा मानव की जिजीविषा और उसके द्वारा उतारे गये गुहा चित्रों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी मेरोवोस्की ने सकारात्मक टिप्पणी की है। पृ-64

128. "The objective reality which is given to man by his sensations and which is copied photographed and reflected by our sensations, while existing independently of them. — 'Collected works' — vol. 14. P. 130

विषय-विषयी सम्बन्ध (subject - object relation) के स्तर पर मानव-व्यवहार (= Praxies = human sensary activity) विषयी [=मनुष्य] के "बृहत्तर होने"(to be more) का आधार बनता है। "यथार्थ" से मनुष्य के सौंदर्य-बोधात्मक सम्बन्ध का आधार भी यही मानव-व्यवहार है जो उसके सामाजिक-ऐतिहासिक होने की बुनियाद भी है।[146]

"श्रम" जहाँ मनुष्य के अस्तित्व संघर्ष के लिए आवश्यक हुआ, वहीं वह उसके "सृजनात्मक चरित्र" का मूल भूतत्व भी बना। "काम करना" (to work) मनुष्य को "मनुष्यता" से गुंथा हुआ है और उसे "पहली नैतिक श्रेणी" घोषित करते हुए गेराउडी इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं।[147] काम करना या श्रम मनुष्य को संतुष्ट करता है बशर्ते वह स्वतंत्रापूर्वक चुना जाय। यहीं "श्रम" का संकट उजागर होता है कि उसका "अर्थवान होना" मनुष्य के अहं-बोध के लिए प्राकरांतर से उसके "मनुष्य" होने के लिए आवश्यक हैं। "करने के लिए" काम न होतो जीवन सडांधसे भर जाता है किंतु काम अगर आत्मा-हीन हो तो जीवन मृत प्राय हो जाता है।[148]

---

129. बोध से "ज्ञान" तक की यात्रा द्वंद्वात्मक होती है। माओ-त्से-तुंग ने तीन पड़ाव बताये हैं। [1] बोध [2] बौद्धिक (ज्ञान) [3] सिद्धांत और आचरण का द्वंद्व - 'The Human Essence' - Geargе Thomson - P. 45.
वस्तुतः माओ अपने प्रसिद्ध निबंध 'On Practice' में व्यवहार को ही केन्द्र में रखते है। उनका निष्कर्ष है - " Perception only solves the problem of phenomena, theary alone can solves the problem of essence. The solving of both these problems is not separable in the slightest from practice".
-selected works. vol-1., P.299.

130. Marxism & form - Fredric Jameson - P. 366

131. The Aesthetics of Gyorge Lukac's - Bela Kiralyfalvi P. 18.

प्राक् औद्योगिक समाज-व्यवस्था में मानव-श्रम सीधे-सीधे उसे प्रकृति से जोड़ता था और वह स्वयं को "सहज" महसूस करता था किंतु अब वह न तो औजारों के साथ अपने को एक करके देखपाता है और न वह काम करने में अपने को जमीन से जुड़ा ही अनुभव करता है। यह जुड़ाव (integration) अलगाव (alienation) का ठीक विपरीत है। औजारों को इस्तेमाल करने में मनुष्य और प्रकृति या मनुष्य का अपनी चेतना से सम्बन्ध, टूटता नहीं था किंतु अब यंत्र जैसे मनुष्य और उसकी ज़मीन के बीचोबीच खड़ा हो गया है।[145] परिणाम यह हुआ कि जो कारीगर था, जो श्रम करता था, जो विषयी (Subject) था, वह यंत्र-युग में "उत्पादन का साधन मात्र रह गया। कार्ल मार्क्स ने 'पूंजी' (capital) नामक ग्रंथ में इस स्थिति का विस्तार और गहराई से विवेचन किया है। जहाँ मनुष्य के श्रम [=एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध] की बात आती है, वहीं से "सौंदर्य और "सुंदर" के बारे में बात अर्थात् सौंदर्यशास्त्र शुरू होता है। युवा मार्क्स ने इस ओर संकेत किया।[146] 150

---

132. फ्रेडरिक जेमूसन के अनुसर लुकाच के लेखन में जटिलता वहाँ पैदा होती है जहाँ — "That Lukac's aims here at to publics at once — at the writers of socialist realism just as much as at the 'critical realist' of the west."
— Marxism & foorm - P.199.

133. ब्रेख्त का कथन है — "Lukac's recommends to writers be like Tolstày, but without his weakness; be like Balzac, but be your own time."

इस कथन पर हेनरी अरवोन की टिप्पणी है — "The Brecht's way of Thinking, these two recommendations are obviously self-contradictary". — Marxist Aesthetis - P.107

वस्तुत: लुकाच की सम्पूर्ण आधुनिक साहित्य के विषय में जो अवधारणाएँ थी, वे अस्पष्ट थी। लुकाच का मत ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आधुनिक लेखकों ने अपने ऐतिहासिक समय का चुनाव भी स्वयं ही किया हो।

मानव-श्रम और पशु श्रम के को अलग करने वाला तत्व, गहरे में, मनुष्य का सौंदर्य-बोध है ।[134][151] यहीं मनुष्य की "वरण की स्वतंत्रता" (श्रम के संदर्भ) में प्रत्यक्ष होती है । दैहिक स्तर पर तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के परे वह श्रम को "रूप" और "प्रतिमान" आवेगों के आधार पर नहीं, बल्कि सृजनात्मक ढंग से, अपने कार्य या रचना या कृति के आधार पर करता है । यहीं वह उस अकेले मानव "व्यक्ति" से भी अलग हो जाता है, जो जीते रहने के लिए अकेला संघर्ष या श्रम कर रहा है । वह "मानव-जाति" का सदस्य और उसका एक अद्वितीय हिस्सा हो जाता है । इस प्रकार श्रम, मनुष्य को जिजीविषा से "चिति" के स्तर पर जुड़कर उसके मानवीय चरित्र का अवभाज्य अंग हो जाता है ।

किंतु हमने "यंत्र" के आगमन की बात कही है । आस्वाद-पर सौंदर्य निर्भर रहता है और यंत्र समाज उसे विकृत कर देता है । आदिम समाजों में उपयोगिता, धार्मिकता और सौंदर्य बोधात्मकता - ये सारे तत्व "श्रम" के संदर्भ में एक ही में समाहित हो जाते थे । आधुनिक युग में श्रम का मात्र उपयोगिता से और वह भी आजीविका के स्तर पर स्थूल रूप में ; जोड़ा जाता है और सृजनात्मक श्रम का अधिकार अल्पसंख्यक लोगों के पास बच रहता है । आदिम समाजों को स्मरण करते रहना भी एक घातक "विरह-(Nostalgia) रोग" है और संभवत: प्रो० हर्जबर्ग (Herzberg) की यह आपत्ति सही है कि जब आदिम समाजों में लग भग सारा मानवीय श्रम अनाज उपजाने में खर्च होता था तो "व्यक्ति" के विकास की बात ही व्यर्थ थी ।[148][152]

---

134. Marxism and Form - Fredric Jameson - P. 202

135. Marxist Esthitic - Henory Arvon - P. 108.

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि वस्तु-जगत का मानवीकृत अंश ही मानव-यथार्थ होता है । यह "मानव" ठोस सामाजिक आर्थिक स्थितियों में गुंथा हुआ होता है और उसका यथार्थ भी वैसा ही होगा । इस प्रसंग में न तो विश्व स्तर पर "अतियथार्थवाद" के ऐतिहासिक महत्व को नकारा जा सकता है और न भारत में "अकविता" आदि को ।

136. :- "Man must survive not only physically but also psychically, he need to maintain a certain

"श्रम" की आधुनिक युग में जो आजीविका-धर्मी स्थिति है, उसका नकारात्मक पक्ष "अलगाव" के रूप में प्राय: विचार-विमर्श का केन्द्र बनता है। रूसो का यंत्र-विरोधी आदर्शवाद चाहे जितना अव्यावहारिक प्रतीत हो किंतु आज की "अलगाव-पीड़ित" मानव-स्थिति को देखते हुए वह निस्संदेह एक सीमा तक दूरदर्शी ही सिद्ध होता है।[153] "पहिये" को यंत्र के प्रतीक के रूप में, केन्द्र बनाकर शीलर ने भी आनेवाले "अलगाव" की पूर्व घोषणा की।[154] कार्लाइल (Carlyle) ने तो आधुनिक युग को "यांत्रिक युग" का नाम ही दे डाला। मनुष्य के समूचे चरित्र पर इसका घातक प्रभाव पड़ेगा, यह भविष्यवाणी भी उसने की।[155] इस यांत्रिकीकरण का विषैला संपर्क मानवीय सम्बन्धों को भी दूषित कर गया और "साम्यवादी घोषणा-पत्र" में स्पष्ट शब्दों में "मानव-मानव के बीच" के सम्बन्धों में "स्वार्थ" और पैसे के दख्ल की बात की गई।[156]

---

equilibrium. ××× First of all man has a vital interest in retaining his frame of orientation
— The Anatomy of Human Distructiveness.
Erich Fromm — P. 197

137. 'The mass Psychology of fascism' - wilhelm Reich. P.334.

रीख ने जर्मन नाज़ीवाद के आदर्श - महामानव (Superman) को भी कहीं मनुष्य के अपने पशु होने से इंकार करने की प्रवृत्ति से जोड़ा है -

"Superman or any theory of group or racial superiority - has its origin in man's effort disassociate himself from the animal."
—ibid.

138. Beyond Psychology - Otto Rank. P. 208.

यहीं मूल्य खोजी प्रवृत्ति की बात भी की जा सकती है। "मरना" और पशु की तरह यूंही मर जाना मनुष्य के लिए दो अलग-अलग चरित्र की दुर्घटनाएँ हैं। कम से कम कुछ चिह्न मरने के बाद भी बच रहें। काफ्का के 'द ट्रायल' के नायक का अंतिम समय यह कहना "कुत्ते की तरह।" इसी ओर संकेत करता है।

139. यही हर्बर्ट मारक्यूज उस खतरे में फँसते दिखायी देते हैं, जो फ्रायड के "दमन" के सिद्धांत में निहित है। — "The thary of repression is the pillar upon which the edifice of psychoanalysis rests" (Basic writings of Sigmund Freud)

युवा मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि पूंजीवादी समाज के प्रभाव से औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में ‖ एक "दुहरा अलगाव" पनपता है । एक तो श्रम से और दूसरा अपने ही श्रम के परिणाम ‖=उत्पादन‖ से श्रमिक पूरी तरह से कट जाता है । जहाँ पूर्व-युग में कारीगर अपनी बनायी हुई वस्तुओं पर गर्व अनुभव करता था वहीं आज "वस्तुएँ" श्रमिक के हाथों द्वारा बनायी हुई होने पर भी उसी के खिलाफ हो जाती है क्योंकि बाजार में जाकर उसी "पूंजी" में बदल जाती है, जो श्रमिक का शोषण करनेवाली व्यवस्था को मजबूत बनाने में सहयोगी होती है । श्रमिक या कारीगर अनिवार्यतः जिंसें (commodities) तैयार करता है, उनका मूल्य विनियम-मूल्य पर निर्भर है और उनके उत्पादन की योजना और रूपरेखा, पूंजी > जिंस > पूंजी-इन तीनों के मंडल द्वारा तय की जाती है । इस प्रकार समूची उत्पादन प्रक्रिया का लक्ष्य धन का धन से आदान-प्रदान है । अब अगर "श्रम" घटकर केवल बाज़ार के लिए जिंस तैयार करने की यांत्रिक प्रक्रिया भर रह जाये तो "अलगाव" अवश्यंभावी ही होगा । कहां तो विषय-विषयी की तदाकारिता "श्रम" की कसौटी होनी चाहिए थी ‖सौंदर्यानुभव" की भी-मुक्तिबोध पूर्व उद्धृत‖ और कहाँ अब विषय बनाम विषयी की स्थिति आगयी है । इसी प्रकार यह मानव-निर्मित छद्म द्वंद्व जीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में दिखायी देने लगता है । निसर्ग भी मनुष्य के लिए अजनबी और विरोधी हो जाता है ।

यह सिद्धांत अंततोगत्वा यही सिद्धाता है कि संस्कृति मात्र एक "रुग्ण-वस्तुकरण (Diseased Reification) है । यह आकस्मिक नहीं है कि नारमन ओ ब्राउन (Norman O'Brown) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Life against Death' में मारक्यूज को प्रशंसात्मक संदर्भों में स्मरण करते हैं । Pleasure Principle और Reality Principle के फ्रायडीय द्वंद्व को "आवेग और संस्कृति" के द्वंद्व में ढलना ही है । ब्राउन, फ्रायड और उसके मनोविश्लेषण सिद्धांतों के प्रति अपनी ईमानदारी के तहत "चेतना" के नष्ट कर देना चाहते हैं । 'Life against Death' के Brown Reality को Death instinct से जोड़ते हैं और life का अर्थ Unrestricted Eros लगाते हैं । अपनी दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'Love's Body' में, जो सूक्ति-परक शैली में लिखी गयी है, में ब्राउन पूरी तरह से प्रतिबोधिक वादी हैं । क्लो, उदात्तीकरण

अब तक मनुष्य के अपने होने की प्रक्रिया ही निसर्ग से द्वंद्वात्मक सम्बन्ध थी जो पूरी तरह से स्वतंत्र थी और अब वह उससे कट जाने के लिए विवश था । इस प्रकार उस का हज़ारों-लाखों वर्षों में कमाया गया "बोध" (उसकी मनुष्यता) टुकड़े-टुकड़े होने को अभिशप्त हो गया । यह "अलगाव" निर्जीव वस्तुओं को अनावश्यक रूप से मूल्य-वान बना देता है, जिसें मनुष्य की तुलना में अधिक महत्व प्राप्त कर लेती हैं और परिणाम स्वरूप मानवीय संसार का अवमूल्यन हो जाता है ।[153] श्रम का जो भी चरित्र, अद्यतन मानव की मानवता का आधार रहा, वह पूंजीवादी औद्योगिक-उत्पादन-व्यवस्था में पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो गया । अपने श्रम से वह अपने होने को स्वयं की दृष्टि में और अपने समाज की दृष्टि में-प्रमाणित करता रहा था और अब उसीका "श्रम" उसे नकारता है और उसकी सत्ता को अप्रमाणित घोषित करता है । परिणामस्वरूप जो श्रम उसके "अहं-बोध" के लिए अजस्त्र "आनंद" "स्वस्ति" और "संतोष" का साधन रहा, वह उसके लिए अब सिर्फ़ "विषाद" और "दुख" का स्रोत भर रह गया है । उत्पादन साधनों के विकास के अनुपात में ही उसका यह अलगाव-बोध बढ़ रहा है और मनुष्य अब अपने "श्रम" के धरातल पर सिर्फ़ मशीन का विस्तार-भर रह गया है । उसे अब मशीन की तुलना में गौण माना जाता है क्योंकि उसे, दूसरे श्रमिक से कभी बदला जा सकता है जबकि मशीन के प्रसंग में ऐसी "स्थानापन्नता" कठिन होती है ।[154]

दूसरों शब्दों में "मनुष्य" होना, मात्र रोगी होना है । मारक्यूज जहाँ इन विचारों के निकट पहुँचते हैं, वहाँ वे भी 'आवेगपादी' होते हैं (तुलना की जिए -- " The development of life as life's own burden (Escape from Evil - Ernst Baker - P. 34) "In the eyes of culture, to live is a crime."

पृ-35 पर उद्धृत ।

140. Art, Politics and Will - ed. Quent Andersson, Stephen Dumadis, Steven Marcus.

में डेनियल बेल का अतीव महत्वपूर्ण लेख Beyond Modernism, Beyond Self.

पृ-232. अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Love's Body' में नार्मन ओ ब्राउन ने रूसो की पंक्तियों को उद्धृत किया है --"The human mind was born free, or at any rate born ~~free~~ to be free, but everywhere it is in chains".

कुल मिलाकर यह सारा विवेचन यही बताता है कि ~~है~~ मानव का स्थान आधुनिक युग में अत्यधिक घट गया है, और वह मानव होने की प्रक्रिया से कट कर "पशु" मात्र रह गया है । इस स्थिति में मनुष्य "पशु" होने ~~की=प्रक्रिया=से=क~~ में ही संतुष्ट और आनंदित होता है और "मनुष्य" होने में [=श्रम में] स्वयं को पशु अनुभव करता है ।[159] निसर्ग के लिए अजनबी, स्वयं अपने लिए ~~वह~~ अजनबी और परिणाम स्वरूप अपने "समाज [=अपनों]" के लिए भी वह अजनबी ही बन गया । इस स्थिति में मानवीय सम्बन्धों को मानवीयता की दृष्टि से, मार्क्स "सामंतवाद" को फिर भी बेहतर मानते हैं ।"[160]

मार्क्स ने "अलगाव" की बात ~~को~~ कही है, जब कि शीलर ने "पहिए" की बात को थी । कला की सृजनात्मकता ने "अलगाव" पर बिना सैद्धांतिक विमर्श किये जैसे भावी [=आधुनिक] जीवन की यांत्रिकता, कुरूपता, और निसर्ग नाश को मूर्त कर दिया । मार्क्स के विवेचन के पूरक के रूप में एंगल्स का मैंचेस्टर के कामगारों का वर्णन ज़रूर शीलर के शक्तिशाली रूप के की तुलना में रखा जा सकता है ।[159][161]

और अपनी तरफ़ से जोड़ा है – " Now at the end of its tether."
– ibid – P. 237.

पृ-237 पर उद्धृत ।

141. मार्क्स ने "पशु" और "मनुष्य" के अंतर को परिभाषित करते हुए लिखा है – " The animal is immediately identified one with its life activity. It does not distinguish itself from it is life activity. Man makes his life activity itself the object of his will and of his consciousness. He has conscious life activity."
– Economic and Philosophic manuscript of 1844. P. 73.

142. Art and Society – Adolfo Sanchez Vazques – P. 48.

143. "काम करना" या श्रम हमारे वातावरण और प्रकृति के साथ तो सम्बन्ध निर्धारित करता ही है, हमारी अपनी चेतना के साथ भी सम्बन्ध भी "श्रम" पर ही आधारित है कि बकौल ऑरवेल – 'cease to use your hands and you have lobbed off a huge chunk of your consciousness.'

इस संदर्भ में प्रो० हर्जबर्ग द्वारा उल्लिखित एक प्रयोग की चर्चा भी प्रासंगिक होंगी । सी. अेगिरिस (C. Argyris) ने जो येले विश्वविद्यालय में औद्योगिक सम्बन्ध पढ़ाते थे, एक बार मंद-बुद्धि के रोग से ग्रस्त कुछ मानसिक रोगियों को एक उद्योग में, उत्पादन विभाग में काम पर लगाया । काम एकायामी, दुहराव से भरा और अपरिवर्तनशील था यद्यपि कठिन था । परिणामस्वरूप उत्पादन में 400% की अप्रत्याशित और चमत्कारी वृद्धि हो गयी । इस आधार पर मंद-बुद्धि मानसिक रोगी योग्य कामगारों से कहीं बेहतर साबित हुए । दूसरे शब्दों में, वे अधिक योग्य थे । औद्योगिक संसार में ऐसी ही योग्यता की दरकार होती है और प्रशंसा मिलती है ।[162] [158]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में "परिवर्तन बना स्थायित्व" की चर्चा आ चुकी है । "परिवर्तन" पर टिके आधुनिक युग में जब औद्योगिक [=यांत्रिक] चरित्र अनिवार्य प्रतीत होतो स्थायित्व (Permanence) के प्रति अतिरिक्त लगाव बढ़ना स्वाभाविक है ।[163] [159]

— Man and work — David Meakine — P. 2.

फ्रायड ने भी सामान्य स्वस्थ मनुष्य के दो गुण बतलाये — 'Love and work' P. 3.

144. "Without work all life goes rotten, when work is soulless, life stifles and dies." *
— Albert Camus — Qtd.- D. Scott- The psychology of Work — P. 34-35.

145. "Nothing separates him from his materials from his work. As for the tool, he holds it in his hand, and extension of the hand That knows, adapts and fashions it at will". ××× "Initially, it is true, the machine appears as simply an extension of the tool, although moved by energy that is created artificially but in proportion to its increasing efficiency it become a means of avoiding contact with nature. Whereas the pre-industrial tool was a way of making contact with nature, and meaningful contact at that. — Man and work — David Meakine — P. 8-9.

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में "सौंदर्य-मूल्य" के संदर्भ में "अहं-वातावरण" सम्बन्ध की बात की गयी थी । "वातावरण" अब नैसर्गिक नहीं है बल्कि सम्पूर्णत: तकनीकी है । बड़ी मशीनों के प्रति मात्र घृणा या वितृष्णा कहीं नहीं पहुँचायेगी । औद्योगिक तकनीकी प्रगति के साथ जुड़े अनिवार्य "अलगाव" (alienation) को पहचानने के बावजूद कार्लाइल और जोलानें मशीन को "मानव के लिए" उपयोगी भी बताया क्योंकि मशीनी शक्ति मनुष्य के लिए "सेवक" की भूमिका भी निभा सकती है । तकनीकी वातावरण के साथ भी द्वंद्वात्मक सम्बन्ध आवश्यक है । मानव-चरित्र में निहित अनिवार्य सृजनात्मकता > सौंदर्य बोधात्मकता से युक्त "अहं" को यह उत्तरदायित्व निभाना ही है । औद्योगिक तंत्र से प्रभावित वातावरण, अब तक के "सौंदर्य-बोधात्मक" संसार (मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और उनका बोधात्मक व्यवहार) जो मार्क्स के अनुसार अद्यतन" मानव के अस्तित्व संघर्ष की देन है) के लिए संकट है । इस प्रकार सत्ता-मीमांसा" का "सत्ता (being) से जुड़ा प्रश्न और उसका पूर्व-विवेचित आयाम "संसार में होना (being in the world) अब "तकनीकी" विशेषण से युक्त संसार में होना "हो गया है being in the technical world) और रस्किन के अनुसार यह सौंदर्यबोधात्मक (Aesthetic) प्रश्न हैं क्योंकि समाधान "संतुलन" ही होगा । उसने कहा "कला-हीन उद्योग नृशंसता है (Industry without art is brutality)[164] विलियम मारिस (william Morris) का कथन है -"मशीनों का हमारा सेवक न बनकर मालिक बन जाना, हमारे जीवन की सुंदरता को आघात पहुँचाता है ।"[165]

---

146 . काम गार (श्रमिक) और उत्पादन के आपसी सम्बन्धों की बात करते हुए मार्क्स ने पहली बार "सौंदर्य" की बात इस प्रकार की थी -- "It is true that labour produces wonderful things for the rich - but for the worker it produces privation It produces palaces - but for the worker, hovels. It produces beauty - but for the worker, deformity." E. P. M. P- 70.

मारिसह के अनुसार, मनुष्य का मशीन का गुलाम बनना इसलिए संभव होता है कि वह पहले से ही एक मुनाफाखोर व्यवस्था का गुलाम होता है। बुर्जुआ समाज और सभ्यता – इसीलिए शोषक व्यवस्था है कि "काम करने" (to work) या श्रम का अवमूल्यन उसे सम्पूर्णतः अमानवीय बना देता है। बुर्जुआ, मात्र आर्थिक या सामाजिक स्तर पर ही नहीं समझा जा सकता, वह अनिवार्यतः नैतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से भी "अव-मानव" (Sub-human) होता है। "बुर्जुआ-वर्ग" का चरम लक्ष्य या चरम मूल्य "सुरक्षा" होता है और अपनी वर्ग-सुरक्षा के लिए वह किसी भी सीमा तक जा सकता है। वस्तुतः बुर्जुआ व्यवस्था का सारा तंत्र एक छद्म रौब होता है।—"Bourgeois society is condemned to 'government by eunuchs whose faces all bear the same 'Nixon-look'".[166]

यों तो किसी भी विशिष्ट [=शोषक] समाज को सदा ही यह आवश्यक लगता है कि वह अपने होने को सही सिद्ध करता चले। लेकिन बुर्जुआ समाज पर यह तर्क दुहरे तौर पर लागू होता है। बुर्जुआ समाज को यह पता होता है कि वह गलत है और दूसरा, उसे अपना नाश, अवश्यंभावी और आसन्न प्रतीत होता है। ऐसे में वह अपने को गलत मानने वालों को जोरों-शोर से गलत

---

[47]. युवा मार्क्स का लेखन आश्चर्य जनक रूप से विचार-दीप्त था। पशु-श्रम और मानव-श्रम को अलगाने वाला यह कथन अपनी सौंदर्यबोधात्मक "स्पिरिट" के कारण भी उल्लेखनीय है — "But an animal ~~produ~~ only produces what it immediately needs for itself or its young. It produces one sidedly, whilst man produces universally. It produces only under the domination of immediate physical need, whilst man produces even when he is free from physical needs and only truely produces in freedom there from. And animal produces only itself, whilst man reproduces the whole of nature. An animal's product belongs immediately to its physical body whilst man freely confronts his product. An animal forms object only in accordance with the standard and the need of the species to which it belongs, whilst man how to produce in accordance with the standard of every species, and knows how to apply everywhere the inherent standard to the object. man therefore also forms objects in accordance with the laws of beauty." E. P.M. – P-131.

करार देने लगता है । देखा जाय तो यह परम्परा रही है । व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित समाज अपने सदस्यों को अमान्य (Disown) करने और उनका बहिष्कार करने का अधिकार रखते हैं । अगर इतिहास में स्त्री को गालियाँ दी गयी, बच्चों, पागलों और विचार-विरोधियों [=सत्ता-विरोधियों] की निरंतर भर्त्सना की गयी तो यह आत्मरक्षा के लिए किया जानेवाला सहज व्यवहार ही था । किसी भी प्रकार की साहसिकता और आवेगात्मकता [=अबौद्धिकता] का दमन करना उसका चरित्र-गत स्वभाव होता है । एक बड़े फलक पर समझौता परस्ती ही उसकी संरचना होती है । कला के संदर्भ में यह तथ्य इसलिए महत्वपूर्ण है कि मनुष्य के जीवन और उसके "श्रम" में एक गहरा आंतरिक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध होता है और कहना न होगा कि जीवन और कला की पारस्परिकता के बारे में यही सच है । बुर्जुआ बुद्धिजीवी या तो उप देश देता है या फिर श्रमिकों को और उनके संघर्ष को केन्द्र बनाकर ऐसी कृतियाँ रचता है, जो श्रमिकों के किसी काम की नहीं होती अलबत्ता बुर्जुआ "वर्ग को उन कृतियों से अवश्य ही प्रसन्नता होती है ।

---

148 The Motivation to work - P. 131

149. रूसो को किसानों और कारीगरों से हमदर्दी थी । अपने युग के बौद्धिक और सांस्कृतिक वातावरण में वह एक अकेला था, जो बढ़ते हुए व्यापार, बसते हुए नगर और प्रगति करते विज्ञान से नफरत कररहा था और शोषण और असमानता के खिलाफ लड़ रहा था । - Man and work - David Mackine - P. 101

150. "××× Enjoyment is separated from labour, the means from the end, exertion from recompense. Eternally fettered only to a single little fragment of the whole, man fashions himself only as a fragment, ever hearing only the monotonous whirl of the wheel which he turns, he never develops the harmony of his being, and instead of shaping the humanity that lies in his nature, he becomes a mere imprint of his occupation, his science".
- Letters on the Aesthetic Education of Man.
qtd. in 'Eros and Civilization'
- Herbert Marcuse - P. 135.

मारक्यूज ने इस उद्धरण का भविष्य दृष्टा चरित्र पहचान कर ही इसे "यांत्रिकता श्रम का आनंद हीन हो जाना और मानव-कार्य में से पूर्णता का समाप्त हो

मज़दूरी बढ़ाने के आंदोलन भी प्राय: मालिकों से किसी बिंदु पर समझौते में समाप्त होते हैं ।[167]

इन मुद्दों पर विस्तार में गये बिना ही हम "श्रम" के सृजनात्मक चरित्र की बात करना चाहेंगे । कभी युंग ने कहा था — " The supreme ideal of man is to fulfill himself as a creative unique individual according to his innate potentialities and within the limits of reality".
सृजनात्मकता जहाँ मानवकी अनिवार्य चरित्रगत विशेषता होती है, वहीं उसका प्रकट होना या व्यवहार से प्रत्यक्षरूप से जुडना, व्यक्ति के जीवन-दर्शन का भी सूचक होता है । अपनी आवश्यकता को पहचानने से ही स्वतंत्रता का आरंभ होता है और "सृजक बनना मनुष्य की मानवीय आवश्यकता है ।"[168] गोराउडी के इस कथन में जो मार्क्सवाद अभिव्यक्त हुआ है, वह निश्चित ही खुला है । युवा मार्क्स के विचार भी इस विषय पर यही कहते हैं कि मनुष्य मनुष्य अनिवार्यत: सृजनात्मक प्राणी है क्यों कि वह स्वतंत्र है ।[169] मार्क्सवादी मूल्य-मीमांसा में "श्रम" के सृजनात्मक पक्ष पर निश्चित ही बलाघात दिया जायेगा । अमानवीय संसार के विरोध में मार्क्सवाद के इस नये मूल्य-प्रत्यय "सृजन की नैतिकता" को खड़ा होना आवश्यक है । मात्र उपयोगितावादी और पराधीन सम्बन्धों में बंदी श्रमिक को आजीविका-धर्मी पशु-स्तरीय श्रम सम्बन्धों से मुक्त करना ही होगा । मांग-पूर्ति के आर्थिक सिद्धांत के परे ही सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र हो सकता है ।[170] गेराउडी के विचार से मार्क्सवाद का यही ध्येय है कि सभी को "सृजनात्मक कर्म" उपलब्ध

जाना - इन तीनों से जोड़ा है ।

151. "were we required to characterize this age of ours by any single epithet, we should be tempted to call it, not an Heroical, Devotional, Philosophical, or moral age, but above all others, the Mechanical age ××× A mighty change in our whole manner of existence ..... men are grown mechanical in head and heart, as well as in hand. They have lost faith in individual endeavour, and in natural forces, of any kind..... Their whole efforts, attachments, opinions, true or mechanism and are of a mechanical character. ××× Our true deity is mechanism." — Critical and Miscelanious Essays vol- II. P. 69-74.

करायें । प्रत्येक को सृजक बनाने की आशा, इच्छा और लक्ष्य ही गेराउडी का विचार-दर्शन है । लेनिन ने भी तो "करोड़ो सृजकों (Tense of millions Creatures) की बात कही थी ।

उत्पादन के लिए पूरी तरह से समर्पित "श्रम" का सृजनात्मक रह पाना प्राय: असंभव होता है । श्रम की महिमा गाते हुए काम्यू जब विद्रोह को एक अंशत: सौंदर्यबोधात्मक आवश्यक्ता बताते हैं तो जैसे, गोर्की के कथन "सौंदर्यशास्त्र भविष्य को नीतिशास्त्र है" को प्रतिध्वनित करते हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में सामान्य रूप से "कला (विशेष रूप से साहित्य) और "श्रम" के सम्बन्धों की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक होगी । सर्व प्रथम तो कला का उद्गम उद्देश्य-हीन किंतु महत्वपूर्ण मानवीय आचार "क्रीड़ा" से माना गया और उसके विरोध में उसे सोद्देश्य श्रम से उद्भूत बताया गया। दोनों ही पक्षों का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है । एक बार कला का उद्गम तय कर लिया जाय तो उसके सारे विकास और आधुनिक युग में उसकी भूमिका पर विचार के लिए भी वहीं उद्गम सिद्धांत काम आ सकता है । ऐसे किसी भी सरलीकरण के विरुद्ध ही इस शोध-प्रसंग की लगभग, समूची प्रतिज्ञाएँ संभव हुई हैं । क्रीड़ा और श्रम के छद्म द्वंद्व से सरोकार रखना यहाँ अप्रासंगिक होगा । अनुकूलता, जिजीविषा, आनंद-बोध, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण आदि तत्व यदि प्रत्येक मानवीय आचार (=प्रेक्सीस) में अंतर्निहित है तो उसके सम्पूर्णत: सृजनात्मक अतएव द्वंद्वात्मक आचार-कला में कैसे नहीं निहित होगा ? बोध प्राप्ति की यात्रा में हमने पाया है कि सब कुछ गुंथा हुआ है और किसी भी मानवीय कर्म को उद्देश्यहीन घोषित

---

152 "It has pitilessly tol asunder the motly feudal tie that bound man to his 'Natural Superiors', and has left remaining No other Nexus between man and man than naked Self interest than Callous 'Cash payment'" — The Communist Manifesto P41

153. "××× He estranges his own activity from himself so he confirms upon the stranger an activity which is not his own" E.P.M. Page 77

करना मात्र तात्कालिकता के चलते हो सकता है, वरना "उद्देश्य" तो "तथाकथित" निरुद्देश्यता" में भी होता ही है । यों "निरुद्देश्य क्रीड़ा" से कला का उद्गम मानने वालों को प्लास्टिक कला और प्रदर्शनात्मक कलाओं पर समान रूप से अपना उद्गम सिद्धांत लागू करने में पर्याप्त कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है । फिशर ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि कला मनुष्य जितनी ही प्राचीन है, यह कार्य का एक रूप है और "कार्य" मनुष्य के लिए एक विशिष्ट क्रियाशीलता है ।[170] इस प्रसंग में गेराउडी द्वारा कांट की प्रसिद्ध सौंदर्य-परक परिभाषा की चर्चा महत्वपूर्ण होगी । कांट ने सौंदर्य को "अंतिम उद्देश्य, लेकिन अंतिम लक्ष्य से विहीन" (final purpose without final end) कहा था । गेराउडी ने इस परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इस परिभाषा में एक ओर तो "श्रम" को संकीर्ण रूप से उपयोगिता और तात्कालिक लक्ष्यों से जुड़ा गया है और दूसरे, कला को भी क्रीड़ा का एक रूप समझा गया है ।[171]

आधुनिक युग में "श्रम" की गुलाम भूमिका तथा "कला" का अपना तथा कथित "स्वतंत्र" अथवा स्वायत्त अस्तित्व – यह एक ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन है, जो व्यक्ति के "श्रम" से कट जाने की चरमतम परिणति है । और "बोध के स्तर पर विध्वंसकारी स्थिति है ।

---

154. मार्क्स ने पूंजी (Capital) में लिखा – "whereas Simple co-operation leaves the Individual's methods of work substantially unaltered, manufacture revolutionaise these methods and cuts at the root of individual labour power, it transforms the worker into a cripple, monster by forcingly into develop some highly specialized dexterity at the cost of a world of productive impulses and faculties" P. 381

155. इस संदर्भ में सर्वाधिक अनुकूल उद्धरण – "There fore man xxx functi xxx"

186 प्रथम अध्याय में देह संबंधी विवेचन में उद्धृत किया गया है ।

156. "whatever view we have of the masks in which the different personalities strut up on the feudal Stage, the social relations between individuals

क्रीडा और श्रम - दोनों मानवीय कार्य-कलाप है और कला के उद्गम के एक प्रदत्त [=प्रश्न] को लेकर विचारकों में जो खींचातानी हुई और निरपेक्ष रूप से उसके खण्ड-खण्ड करके अपने-अपने विश्व-दर्शन के अनुकूल सिद्धांत गढने में उसका इस्तेमाल हुआ ; यह हमें फिर से सोचने की ओर उन्मुख करता है कि उत्तराधिकार में प्राप्त "दक्षिण" -प्रश्नों को ज्यों का त्यों नहीं अपनाना है वरना इसी प्रकार की घातक परिणतियों के आमने-सामने होना पड़ेगा । निश्चित ही, आदिम समाज में जिस क्षण, चाहे जिस कारण से हो, श्रम और क्रीडा वृत्तियों का ऐक्य हुआ होगा, तभी कला का उद्गम हुआ होगा । क्रीडा का उच्चतम रूप क्या हो सकता है ? शीलर के अनुसार, उसे हम कला से ही सीखते हैं । शीलर की यही सौंदर्य बोधात्मक शिक्षा (Aesthetic education) है । मारक्यूज़ ने शिलर की इस शिक्षा में, "बोध" और "भावना" के स्तर पर एक नयी क्रांति की संभावना देखी[168][172] तो यह मारक्यूज के ईरोज-धर्मी (Pre-Eros) चिंतन के अनुकूल ही था और प्रस्तुत शोध-प्रसंग में "वाम" को इससे असहमत होने की कोई आवश्यकता नहीं है । यद्यपि "श्रम" के अवमूल्यन पर केन्द्रित आधुनिक तकनीकी-सभ्यता द्वारा ही अपने सिद्धांत-स्थापन में अमूर्तता और शुद्धेच्छा के समन्वय की मिसाल आप हैं ।

दूसरे सिरेपर रस्किन हैं और उनसे प्रेरित विलियम मॉरिस "एक सच्चा कलाकार दर्जी या बढ़ई का ही सुंदर विकास है"--

---

at work appeare in their natural melieu" - Man and work - David Mealin.

157. कलाकारों कवियों और बुद्धिजीवियों ने इस यांत्रिकता" के बारे में विस्तार से और गहराई से लगातार लिखा है । कुछ नाम ये हैं, जान रस्किन, डी एच लारेंस, चेप्लीन, ज़ोला आदि । चेप्लीन की माडर्न टाइम्स नामक फिल्म अवश्य ही मशीनों के बीच फँसे व्यक्ति को चाक्षुष स्तर पर प्रस्तुत कर के दर्शकों को जिस प्रकार विचलित किया है, वह अतुलनीय है ।

158. work and the nature of Man - P.39

159. परिवर्तन के साथ "प्रगति" और "अपनी जड़ों" से कट जाना

रस्किन की इसी स्पिरिट को यथावत् रखते हुए मॉरिस ने कला को इस प्रकार परिभाषित किया है - "सच्ची कला, मेरी समझ से, मनुष्य के श्रम से प्राप्त आनंद की अभिव्यक्ति है ।[169] 173

"श्रम" कला और क्रीडा को उसी बिंदु पर एक होना है, जिस बिंदु पर "श्रम" और "कला" को भी एक होना है । वह एक होना संसार [=समाज] को बदलने के उद्देश्य से संचालित होगा । श्रम को गुलामी और आजीविका-धर्मी अवमूल्यित स्थिति से और "क्रीड़ा" (Play) को अवकाश-धर्मी अनुपयोगी और इनकी सहगामी स्वतंत्रता के जाल से निकलना ही होगा । गेराउडी का "दुहरी उपयोगिता" (Double Usefullness) का सिद्धांत इस प्रसंग में, निश्चित ही हमारी सहायता कर सकता है कि कला, श्रम की संतान है और न तो उससे उसका अलगाव जरूरी है और न उसका कोई विरोध है । आज के बाज़ार केंद्रित समाज में अगर कला आर्थिक दृष्टि से भी उपयोगी हो और गहराई में सामान्य रूप से, मानवीय अथवा सौंदर्य-बोधात्मक दृष्टि से भी उपयोगी हो [174] गेराउडी के इस वचन के आलोक में हम कह सकते हैं कि अखण्ड और सम्पूर्ण "मनुष्य" [जो आदर्श है] के लिए आवश्यक है कि श्रम बुनियादी मानवीय यथार्थताओं से सम्बद्ध हो । मानवीय यथार्थ का अर्थ पूरी तरह से [=समाज] मानवीय संसार में सक्रिय हिस्सेदारी करने में ही उजागर हो सकता है । यहीं कार्य-बोध का आयाम प्रस्तुत होता है । मात्र भूत या भविष्य की बात या चिंता "हिस्सेदारी को आघात पहुंचाती है । "भूत" पूरी तरह से हममें पैठ चुका होता है और भविष्य उसी आत्म-

---

(Uprootedness) दानों भावनाएँ जोड़ी जाती है । David Mealkin ने सिमोन वेल (Simon Weil) को उद्धृत किया है - "xxx all uprooted intellectuals all obsesed by the idea of Progress". — Man and Work - P. 70

काम्यू ने बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को दुहरे पाखण्ड से पीड़ित बताया है कि एक तो बुर्जुआ होने के नाते "प्रामाणिकता के एक मात्र स्रोत काम (work) से कट जाते हैं और "मानवतावाद" के भ्रम में एक मात्र साथी "कामगार" (workers) से दूर हो जाते हैं । Ibid P. 73

160. Man and Work - Ibid. P. 81

सात किये हुए "भूत" के धरातल से एक काल्पनिक बोध बोध (भले ही सृजनात्मक स्तर पर हो) के रूप में ही उभर सकता है। संपूर्णता" का प्रत्यय यांत्रिक और अमानवीय नहीं है जैसा कि काम्यू का विचार रहा। यह जैविक सम्पूर्णता है। काम्यू का आदेर्श "ऐक्यता" (Unity) है, जो सम्पूर्णता का विरोध नहीं हो सकता। " "ऐक्यता" होने पर ही "सम्पूर्णता" संभव होती है। अंशों की "ऐक्यता" ही अंशी को आनुपातिक रूप से सम्पूर्ण बनाती है।

युवा मार्क्स ने निसर्ग को मनुष्य को अजैव (Inorganic) देह कहा था तो प्रकारांतर से मनुष्य के अनुभवों के जैव रूप से दैहिक होने के अधिकार का समर्थन ही तो किया था। एक सीमा तक यहीं फ्रायड वाया मारक्यूज, फ्रॉम या ब्राउन, हमारे लिए प्रासंगिक होते हैं कि यांत्रिक सभ्यता का सहारा लेकर सत्ता (=दक्षिण) मानव-अनुभवों के जैव (organic) होने के अधिकार को निरस्त करती है। मनुष्य का अपने अस्तित्व से सम्बन्धित जैव अनुभवों को प्राप्त करना उसका एक प्राकृतिक अधिकार है। इसी अर्थ में "आवेगात्मकता" का समर्थन किया जा सकता है।

यहाँ उस जोखिम की चर्चा भी आवश्यक है, जिसकी ओर पॉल लाफार्ग ने अपनी विवादास्पद पुस्तक "आलसी होने का अधिकार" 'The right to be lazy' में की है। लाफार्ग ने "श्रम की नैतिकता" को मात्र बुर्जुआ पाखण्ड माना है। जो यथास्थितिवाद के समर्थक होते हैं, वेतनभोगी और श्रमिक को लगातार काम में लगाये रखना चाहते हैं, वे ही "श्रम" को ऐश्वर्यीकृत

---

161. Ibid हर्बर्ट मारक्यूज ने अपनी विचारोत्तेजक शैली में इसीलिए "औद्योगिक सभ्यता" के विरुद्ध लिखा है — "However intensified progressives to be bound up with intensified unfreedom throughout the world of industrial civilization. The domination of Man by Man is growing in scope and efficiency. Nor does this trend appear as an incidental, transitory regration on the road to progress. Concentration Camps, Mass extermination world wars and atom bombs are no 'Rep'Relapse' into barbarism but the unreplaced implementations of the achievements of modern science, technology and domin

(Glorified) रूप में प्रस्तुत करते हैं । "काम करने का अधिकार" (Right to work) यह सारा श्रमिक वर्ग को गुलाम बनाये रखने की कामना से प्रेरित है ।[175] काम करने से सम्बन्धित कठमुल्ला सिद्धांतों के कारण ही सर्वहारा-वर्ग सर्वाधिक दण्डित होता रहा है । "किसान" - को लाफ़ार्ग इसीलिए मात्र "गुलाम-श्रम" का श्रमिक मानते हैं । कहना न होगा कि लाफ़ार्ग के इस श्रम विरोधी जेहाद के पीछे वही प्रेरणा सक्रिय है, जिसने प्रेमचंद से "पूस की रात" और "कफ़न" जैसी कहानियाँ लिखवायी थीं । लाफ़ार्ग की दृष्टि पूरी तरह से "आद्योगिक कामगार" अथवा "मज़दूर" पर केन्द्रित है ।

"श्रम" का सौंदर्य-बोधात्मक पक्ष निस्संदेह शैशवावस्था से जुड़ा है । यदि आरंभ से ही तकनीकी श्रम और मानवीय सौंदर्य (पारिवारिक आत्मीयता, ममत्व, परिहास-विनोद, क्रीड़ा आदि) को संयुक्त रूप से शिक्षा का विषय बनाया जाय तो कई समस्याएँ आकार ही नहीं पायेंगी । जोला का यह एक यूतोपियात्मक आदर्श-विचार भले रहा हो किंतु इसके भीतर निहित अर्थवत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता । सिमोनवेल ने भी कारखानों में बच्चों को खेलने के लिए प्रोत्साहित करने के बारे में कहा है ।[176] उसका दृढ विचार है (मार्क्स प्रेरित) कि वर्ग-सम्बन्ध तब तक नहीं बदल सकते, जब तक कि साथ ही साथ तकनीक में परिवर्तन न हो । विशेषत: मशीनी तकनीक में । ऐसी नयी मशीनों की आवश्यकता पर सिमोने वेल ने बल दिया है, जो कुछ पुराने युग के औजारों की तरह, मनुष्य को आत्मीय

---

162. The Grammes of living — David Koolpes P. 81

163. वस्तुत: यह भी पूंजीवाद द्वारा ही लादा गया होता है — "The worshipping money is a worship which the workman has learned from his Superiors. He (workers) is merely adopting the Creed of the Masters as his Values, the trade union leader gets its philosphy ready-met from the people he is supposed to be fighting. This merely brings the workman to the facts that, whatever his wages, the factory System will still be wrong."
Man and work' David Meakin

लगे । मनुष्य जिसके साथ पूरी तरह संमजन कर सके । शिक्षा-व्यवस्था, जो किसी सीमा तक शिक्षकों के स्तर पर निर्भर है, मात्र शिक्षकों का उत्पादन करती है —"संस्कृति, शिक्षकों के हाथ में एक ऐसा उपकरण है, जो ऐसे शिक्षकों का उत्पादन करने के लिए है, जो अपनी बारी आने पर और शिक्षक पैदा करेंगे ।"[173]

तकनीकी संस्कृति की निराशाजनक स्थिति का सामना करने के लिए बुद्धिजीवियों के पास फिर एक यूतोपियात्मक आशा भर है । गेराउडी को भरोसा है कि साइबरनेटिक्स के विकास के साथ, मनुष्य का पारम्परिक मशीनों का दास बना रहना समाप्त हो जायेगा ।[176] हेनरी अरवोने को भी तकनीकी विकास पर आधारित भविष्य आशादायी प्रतीत होती है ।[179]

स्वचलित यंत्रों के इस्तेमाल से मनुष्य एक नयी और अपेक्षाकृत स्वतंत्र सभ्यता तक पहुँच सकता है, ऐसा हर्बर्ट मारक्यूज का भी विश्वास है ।[180]

श्रम तथा अलगाव विषयक इस विवेचन से इतना तो निश्चित हो

---

164. Ibid P. 124

165. सार्त्र ने भी युवा मार्क्स के विचारों को ही "मार्क्सवाद" के रूप में आशंसा की है । मार्क्स और एंगेल्स की भेंट को सार्त्र दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं क्योंकि खुले और उदार मार्क्सवाद के संकीर्ण हो जाने का एक कारण इस भेंट का विषैला प्रभाव भी था । सार्त्र के शब्द है — "The nefarious meeting with Engels". — Situations P

166. "Art is almost as old as man. It is a form of work and work is an activity peculiar to mankind".

167. "... it impoverish both annotations of labour by reducing it to the realization of stripped utilitarian and immediate ends, and that of art, which becomes a gratuitous activity and a form of play." Garaudy Quoted in Marx and work. — David Mealcin P. 134

ही गया कि मनुष्य के श्रम-मूलक व्यवहार को अनिवार्यत: ऐसा होना चाहिए कि वह प्रकृति, वातावरण और समाज में अपने गुँथे हुए होन (Integrated) को नये सिरे से अनुभव करें और कुछ अतिरिक्त रूप से ही अपनी जड़ों को स्वागत - भाव से पहचानें। अलगाव (alienation) का जवाब सिर्फ लगाव (affection) है। लगाव को माध्यम केवल मनुष्य का व्यवहार ही हो सकता है। मनुष्य के व्यवहार का रूप द्वंद्वात्मक होता है और ज्यों ही वह अव-द्वंद्वात्मक हो जाता है, वहीं "अलगाव" और "अमानवीकरण" की स्थितियों का उभरना अनिवार्य हो जाता है। व्यवहार के द्वंद्वात्मक स्वरूप को बचाये रखने के लिए उसकी चेतना को भी द्वंद्वात्मक रहना पड़ेगा। "चेतना" (Consciousness) के बारे में निश्चित ही उसे निर्धारित करती है।[181] किंतु इतना भर जानना पर्याप्त नहीं होता। मार्लोपोंती ने कहा कि मार्क्सवाद को चेतना-सम्बन्धी सिद्धांत की आवश्यकता है।[182] यहीं जोजेफ़ गौबल चिकित्सा शास्त्रीय चेतना (Pathological Consciousness) और छद्म चेतना (false-Consciousness) की क्रिया-प्रतिक्रिया की ओर ध्यान देते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि इसी से चेतना-सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट होगा।[183]

---

168. 'Eros and Civilisation' - Herbert Marcuse P. 136-137
once it has really gained asseendency as a principle of Civilisation the play impulse would literally transform the reality. Nature the objective world, would then be experienced primarily Neither as dominating man (As in primitive society), Nor as being dominated by man (as established Civilisation), but whether as an object of 'Contemplation'" — Ibid

खंडित मनस्कता (Schizophirinia) की चर्चा पहले हो चुकी है। सम्बन्धि-बोध के खण्डित होने से ही इस रोग का आरंभ होता है और वस्तु-कृत (Reified) चेतना के एक प्रतिनिधि उदाहरण के रूप में भी इसे देखा जा सकता है। द्वंद्वात्मक चरित्र से युक्त मानव-व्यवहार [=आचरण= प्रेक्सीस] का "अस्तित्व के धरातल पर विकृत हो जाना ही इसका लक्षण है। बुद्धि के स्तर पर संज्ञानात्मक (Cognitive) व्यापार के अ-द्वंद्वात्मकीकरण की भी यह मिसाल है। विचारों का द्वंद्वात्मकता-हीन या अ-द्वंद्वात्मक हो जाना "रूग्णबुद्धिवाद" का सामाजिक रूप है। इसी से जुड़कर "यूटोपियात्मकता" भी अ-द्वंद्वात्मक (A-dielechical) और इतिहास विरोधी हो जाती है। वस्तुत: चेतना प्रदत्त नहीं होती। अद्वंद्वात्मक मिथ्या-चेतना से मुक्त होना ही "चेतना" [मानव चेतना] से जुड़ने का आरंभ है।

अलगाव से पीड़ित चेतना को "द्वंद्वात्मक नाटक" की संज्ञा दी गयी है। मार्क्स ने "पूंजीवाद" पर विचार किया है किंतु -"अलगाव" (Alienation) का सिद्धांत ही उसकी बुनियाद थी और रागात्मक स्तर पर "अलगाव से पीड़ित "व्यक्ति[=मज़दूर]" ही उन्हें सक्रिय बनाये रहा। मार्क्सवाद दर्शन में विचारधारा और छद्म चेतना को एक ही माना गया।[186] छद्म चेतना को चित्त (Mind) की बिखरी हुई स्थिति से समीकृत किया गया

---

169. रस्किन का कथन है — "A true artist is only a beautiful development of a tailor or carpenter". or M

अन्य मारिस का परिभाषा है — "The thing which I understand by real art is the expression by man of his pleasure in labour". - quoted in Man and work: David Mercier. P. 137-138

170. "Art, the child of labour is not nessecerily some thing seperate from the latter and still less opposed to it. On the contrary it expresses what I may call the 'Double reading' of that meaning, since the object offers man a 'Double usefulness', its immediate economic usefulness in as much as it is a product which is a capable of satisfying a definate need, and its more generally human (I would say spiritual) need xxx". Gramsci - Ibid P 145.

है और इससे हम "चेतना" को "चित्त की संवरी हुई स्थिति" कह सकते हैं। निश्चित ही मार्क्स ने अलगाव को बहुत गहराई से अपने चिंतन का विषय बनाया है और पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के उस चरित्र को उजागर किया है, जो व्यक्ति से उसकी पहचान छीन लेती है और जो पूरी तरह से प्रति द्वंद्वात्मक और अमूर्त आर्थिक मूल्यों पर आधारित है किंतु मार्क्सवादी मूल्य मीमांसा को के लिए मार्क्सवचन को अंतिम रूप से प्रमाण मान लेने की प्रवृत्ति पर्याप्त घातक सिद्ध हुई।[185] वस्तुतः कठमुल्ला मार्क्सवाद ने सिद्धांत और उसके द्वंद्वात्मक चरित्र की प्रामाणिकता के बारे में भ्रम खड़े कर दिये। "प्रतिबिम्ब-सिद्धांत (Reflection theory) के अनुसार जब प्रकृति द्वंद्वात्मक होती है तो उसके अनुपात में ठोस लगनेवाला अथवा मूर्त परिणाम प्रदान करने वाला सिद्धांत द्वंद्वात्मक ही होगा। किंतु यह याद रखना आवश्यक नहीं समझा गया कि कोई भी मनुष्य दिक्-काल के संदर्भों में सीमित होता है और यह सीमित होना एक अनिवार्य अव-द्वंद्वात्मकता हैं, जो दिक्-काल बद्ध होने के नाते प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है, चाहे वह मार्क्स हो या कोई और पैगम्बर समझे जानेवाला व्यक्ति। यथार्थता का अव-द्वंद्वात्मक बोध स्थितियों के साथ व्यक्ति के द्वंद्वात्मक सम्बन्ध को भी प्रभावित तो करता ही है और मनुष्य का विचार-धारात्मक जगत= अधिरचना प्रायः दिक्-काल से सीमित अर्थात् उप-द्वंद्वात्मक (Sub-dialectical) होता है। मानव सत्ता (Human being) जो हमेशा एक प्रक्रिया है, दिक्-काल के कारण ही कभी प्रक्रिया के लक्ष्य=सम्पूर्णता तक नहीं पहुंच सकती, किंतु मानव अस्तित्व ही अपने काल-बोधात्मक गुण के कारण वर्तमान

गेराउडी क्रिश्चियन मार्क्सवाद" के प्रवक्ता है इसीलिए उन्हें आत्मिक (Spiritual) जरूरी लगा, हम उसे (Psychic. कहना चाहेंगे।

171. सयोग से लाफार्ग मार्क्स के दामाद थे। — "The Dellusion is the love of work, the furious ~~flash~~ passion for work, pushed even to the exhaustion of the vital force of the individual and his progony. Instead of opposing this mental abberation, the priest, the economist and the moralist have Casted a Sacred Halo over work. Bliss and [illegible]

की तात्कालिक सीमाओं को पारकर "भूत" और "भविष्य" को अपने आचरण के आधार के रूप में अपनाता है ।[186] सामाजिक स्थिति के वस्तु-कृत रूप (Reified state) या अधि-रचना के अवद्वंद्वात्मक चरित्र के कारण यदि "निराला" को प्रताड़ना सहनी पड़ती है अथवा मुक्तिबोध ऐसी मृत्यु प्राप्त करते हैं, जिसे उनके घनिष्ट मित्र श्री हरिशंकर परसाई "हत्या या आत्म हत्या" कहते हैं तो यह गहराई में वस्तु-करण (Reification) और द्वंद्वात्मकता (Dialectic) का द्वंद्व है ।[187] विचार-जिस अर्थ में भी हो, जब "हथियार" का काम करने लगे और प्रभावशाली होने के लिए भीड़-मनोविज्ञान से अनुकूलता स्थापित करें तो एक उपयोगिता परक वस्तु-करण का शिकार तो हो ही जाता है । द्वंद्वात्मकता से अवद्वंद्वात्मकता और फिर द्वंद्वात्मकता ये प्रक्रियाएँ "चेतना" के रूपांतरण और वर्ग-च्युति की प्रक्रिया से निस्संदेह घनिष्ठ रूप से जुड़ती है । काल-बोध की जड़ों में पैठे में-बोध तक में रूपांतरण संभव है और इसके लिए "सामाजिक स्थिति" निर्णायक भूमिका निभाती है । "निम्न-वर्ग, भविष्य-चिंता को प्राथमिकता देते हैं और उच्च-वर्ग वर्तमान चिंतना को — (The lower Classes Prefer future considerations the Upper Class present considerations)
यह फारमूला अगर सर्वहारा की भविष्योन्मुखी चेतना के बारे में कहता है तो यही कि इसीलिए "सर्वहारा" अथवा "वह कोई भी वर्ग, जो भविष्योन्मुखी चेतना से लैस हो" क्रांति का वाहक हो सकता है । यदि किसी सीमा तक भविष्य वस्तुकृत (Reified) होता है तो वह आवश्यक है । इतना

---

wiser than there God, weak and contemtable Man, they have presumed the rehabilate what there God hay (wished xxx".

यहाँ तक कि लाफार्ग "काम" करने का प्रभाव और सिफलिस जैसे रोग को एक समझते हैं । — The Right to be Lazy and other Studies P. 9-12

172. "children would be welcomed into the workshop where they could be encouraged to help their fathers as a game, they would play in the place of works, thus living the two ~~mo~~motions forever fused for them so that the work would be lit with poetery for the whole of their lives ~~while these~~ by this Childish wonder may

ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वह चिकित्सा शास्त्रीय (Pathological) न हो जाय। "सर्वहारा" या शोषित के पास वर्तमान का अर्थ असंतोष और अस्वीकृति है, इसलिए वह भविष्योन्मुखी होता है। अद्वंद्वात्मक स्तर पर वह भाग्यवादी होता है किंतु जहाँ विश्वास, आस्था की बात आती है, ये हमारी शोध-भाषा के प्रसंग में, परा द्वंद्वात्मक (Para-Dialectical) स्थितियाँ है। किसी भी "वर्ग" का अर्थ (उसकी सार्थकता) और उसकी चेतना यहीं एक होती है।[187] वर्ग-च्युति का आधार काल-बोध, इसी अर्थ में निश्चित अर्थ है। वर्ग-च्युति (De-classed) की प्रक्रिया में भूत या वर्तमान की अपेक्षा "भविष्य" को प्राथमिकता देना और इस प्राथमिकता को व्यवहार में प्रकट करना - प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। मूल्य को अव-वस्तूकरण (De-Reification) का सहचारी इसीलिए कहा गया है।[188] "मूल्य"-दर्शन को द्वंद्वात्मकता से समीकृत, आचरण के आधार पर ही किया जा सकता है। सौंदर्य-मूल्य इसी अर्थ में द्वंद्वात्मकता-मूलक आचरण है।

चेतना भी वस्तूकृत (Reified) होती है और फिर से अव-वस्तु-कृत हो सकती है — यहीं पर "सामाजिकस्थिति" और मानवीय आचरण के द्वंद्वात्मक सम्बन्धों का प्रकटन होता है।

चेतना और वर्ग-चेतना - मूलतः काल चेतना है।[189] प्रस्तुत शोध-विवेचन में मैं-बोध के संदर्भ में काल-बोध को जोड़ा गया था। मैं-बोध

Any change in class relationships, the claims on the Authority of ~~me~~ Marx must be accompanied by a change in technics and specially in Machines. the new machienes must allow the possibility of fine adjustment by the operator and must have multiple functions instead of carrying out one totally automatic operations. In other words the machines should become the technological Ages equivivalent of the Artesion tools, the modern Prolongation of those tools instead of their negations" Man at Work' David Mealcin P. 195

178. Culture is an instrument willeded by teachers in order to produce teachers, who in their term will produce teachers. Ibid. P. 192.

एक सामाजिक-बोध है और इस प्रकार समाज के मंच पर, "मैं-बोध के आधार पर भूमिका का निर्णय होता है और निश्चित ही काल-बोध का चरित्र भी तभी ढल जाता है। यदि रूढ़िवादी परिवार का शिशु "अतीत के वस्तुकरण" (Reification of past) का अभ्यस्त बनाया जाता है तो परिवर्तनकामी परिवार "भविष्य के वस्तुकरण (Reification of future) का प्रशिक्षण देता है। वस्तुत: वस्तुकरण की शिक्षा दीक्षा तकनीकी-युग में गहरे स्तर पर सक्रिय हुई है। कवि-सम्बन्धी विवेचन इस ओर पर्याप्त संकेत कर चुका है।[190]

"अलगाव" को हमने श्रम के संदर्भ में देखा है। वस्तुत: उसकी कसौटी भी "व्यवहार" है। जब इतिहासेतर छद्म-मूल्य किसी व्यक्ति पर लाद दिये जाते हैं तो वे मूल्य उस व्यक्ति के "व्यवहार-आचरण" के माध्यम से व्यक्त नहीं होते बल्कि मनुष्य की "साझेदारी" (विश्व-समाज और उस समय में) रहस्यमय हो जाती है। जब मनुष्य वातावरण से द्वंद्वात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं कर पाता है तो न तो प्रकृति को "सौंदर्य नियमों के अनुसार" बदलता चलता है और न उसके अनुपात में अपने को बदल पाता है। मार्क्स की प्रारंभिक चिंतनाओं में मानव-श्रम के संबंध में, इस ओर पर्याप्त विवेचन हुआ है।[191] वस्तुत: वस्तुवृत चेतना अनिवार्य रूप से अनैतिहासिक होती है।[192]

174. "A little technical development leads us away from man, a lot bring back to man" 2d ... cybernetics ... optimism ... [illegible]

कहा जा सकता है। हिन्दी में डॉ० भेद्य ने "साइबरनेटिक्स" को युगांतरकारी कहते हुए भी सृजन स्तर पर उसे "मशीने होने के कारण अक्षम घोषित करते हैं। "फिर भी साइबरनेटिक्स ने शारीरिक तथा मानसिक काम के बीच की दीवार को बहुत ज़्यादा ढहाया है, मनुष्य को रीढ़ तोड़ शारीरिक श्रम से आज़ाद किया है; उस के तकनीक को अकल्पनीय ऊँचाइयाँ दी हैं और सृजन में विश्लेषण एवं संगठन आदि के नये विधान किये हैं - अपातो सौंदर्य जिज्ञासा पृ-247.

175. "Machines will be substituted for man in so far as man where privously condemned to automatic works, the workes will thus be realeased from the circuit of Blind Mechanical forces so that he can controll them from above and dired them towards harmonious ends. Alternatively the machines should allow man to specialize

"यौन" का मूल सृजनात्मक होता है और वस्तुकृत यौन चेतना (Reified-sex-Consciousness) वस्तु-मोह या वस्तु-पूजा (fetesism) की शिकार हो जाती है। वस्तुकरण का सीधा प्रभाव सम्बन्ध-बोध पर होता है। यौन में वस्तूकरण का अर्थ स्पष्ट ही "तुम-बोध की सम्पूर्ण संरचना" से मुँह मोड लेना है।[123] पूर्व - विवेचित छद्म यौन का यही अर्थ है कि छद्म यौन मूल्य चेतना में सक्रिय हो जाते हैं। यौन-साथी का वस्तूकरण "वेश्याओं" के संदर्भ में स्पष्टत: उजागर होता है।

चेतना और आचरण (प्रेक्सीस) को सार्त्र ने एक ही माना है। वस्तूकरण भी दोनों ही स्तरों पर सक्रिय होता है। रूपांतरण और वर्ग-च्युति अथवा अव-वस्तूकरण मात्र चेतना या मात्र आचरण का नहीं होता। सौंदर्य-चेतना, जो निश्चित ही विश्व-चेतना, की अंश है, के साथ भी यही सच है। न तो उसे मनुष्य के सौंदर्य बोधात्मक व्यवहार = आचार (आचरण) से काटकर देखा जा सकता है, और न मनुष्य के एक स्तर "वस्तूकरण का प्रवेशद्वार" के उसे "मनुष्य" जो एक प्रक्रिया है - ही रहने दिया जा सकता है।

एक गतिशील द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के स्तर पर ही हम सम्पूर्ण मानवीय पक्षों को समझ सकते हैं। वस्तूकरण उस प्रक्रिया के लिए रुकावट होता है और यह रुकावट हमारे प्रस्तुत: शोध-प्रसंग में, हमारे अब तक के विवेचन के अनुसार अतीव महत्वपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य की सृजनात्मकता को रेखांकित करना और उसे संभव बनाये रखना ही पहला उत्तरदायित्व है। मनुष्य की सृजनात्मकता अनिवार्य रूप से सौंदर्यबोधात्मक सृजनात्मकता है और वस्तूकरण का खतरा (= विश्व-करण का खतरा संकट" उस पर मंडरा रहा है। चेतना को समझने के लिए इतना बोध पर्याप्त है।

---

on the human sphere. Man ceases to be a slave and becomes a supervisor, Technical development bears in its flanks that promise of a better world widdened and enriched by human effort xxx a meta chosmos is super impose on the chosmos to Constituate a universe in which the human spirit ~~murtes~~ merges with the natural order"- Man and work. P. 196

वाम सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप और उसकी रचना-प्रक्रिया

प्रस्तुत शोध-प्रसंग के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि अध्ययन विवेचन-विश्लेषण के लिए एक संश्लिष्ट शैली अपनायी गयी है। ऐसे में सहज ही "वाम सौंदर्यशास्त्र" के संभावित स्वरूप का परिचय देने में सक्षम तत्व एक स्थान पर नहीं आ पाये हैं। वे यथावसर और उचित स्थल पर ही आ सके हैं। इतना तो निश्चित है कि यहाँ "शास्त्र" का नया अर्थादेश करना परम आवश्यक है। इस शब्द के साथ जो "शासन" की ~~अर्थ-ध्वनि~~ अर्थ-ध्वनि पारम्परिक रूप से जुड़ी है, वह हमारे पूरे प्रयत्न के चरित्र के विपरीत जाती है। "सौंदर्य" कोई ऐसी जड़ या मृत निर्मिति नहीं है कि जिसके बारे में अंतिम रूप से सब कुछ कह दिया जाय।

~~176~~.

176. हम यह संकेत कर चुके हैं मारक्यूज़ का चिंतन एक ओर अतिरिक्त रूप से (आवेग-मूलक है और दूसरी ओर एक नयी सभ्यता (जो आवेगों के दमन से जुड़ी हुई नहीं होगी) के प्रति यूतोपियात्मक ललक लिये हुए हैं। प्रस्तुत उद्धरण में भी वे स्वचालित यंत्रों में एक नयी सभ्यता के उदय की संभावना ताबड़तोड़ देख लेते हैं। — "The Reification of human labour-power driven to perfection would shatter to rebind for be cutting the chain that ties the individual to the machinary — The Mechanism through which is whole labour and slavery him. Complete automation in the realm of nessecity would open the dimension of free time as the ~~sum~~ one in which mans private and social existence would constitute it self. this would be the historical transcendence towards a new civilisation". Eros and Civilisation P. 231

डॉ० रमेश कुंतल मेघ के साक्ष्य से हमने "सौंदर्य" को "प्रभाव" माना है। निश्चित ही "प्रभाव" एक जीवंत और द्वंद्वात्मक प्रक्रिया होता है। उसे ऐसा होना चाहिए।[123] अपनी समूची जटिलता में भी प्रक्रिया स्पष्टत: और पूरी तरह से सृजनशील होती है। दूसरे शब्दों में, वह जीवन-धर्मी होती है। ऐसे में "सौंदर्य" शास्त्र पद में निहित अंतर्विरोध ज्यादा उजागर होगा। "सौंदर्य" और "शास्त्र" का सम्बन्ध वैपरीत्य-गर्भी है। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि "गति" और "ठहराव" को एक ही स्थान पर एक साथ देखने की चेष्टा प्राय: शास्त्र निर्माताओं को पराजित और असफल करती रही है। "मूल्य-शास्त्र" और "मानव-शास्त्र" जैसे शब्द-युग्म-पद अपनी असफलता के उदाहरण आप है। हमारा शोध-क्षेत्र "सौंदर्य" से सम्बन्धित है। मुक्तिबोध को "सौंदर्यशास्त्र" में जो विचित्रता दिखायी पड़ी, उसका एक कारण यह भी है। मुक्तिबोध ने लिखा-~~लिखा~~ "सौंदर्यशास्त्र एक विचित्रशास्त्र है"। वह वस्तुत: एक मूल्य-शास्त्र है, आदर्श शास्त्र है। × × × आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में तो सिद्धांतों का एक जंगल

---

177. "It is not the Consciousness of Man that determines their being but on the contrary, it is their Social being that determines their Consciousness".

मार्क्स के इस कथन में (determines शब्द का मूल जर्मन शब्द "क्रिया-प्रतिक्रिया" को सूचित करता है।

178. "Marxism needs a theory of Consciousness" The adventure of dialetics P 58.

179. false Consciousness Preface

180. — "Ideology is a process that the So Called thinkes accomplishes, doubtless, Consciously, But with a false Consciousness". Engles, letter Mehrin.

बाद में विचारधारा (Ideology) शब्द का अर्थ वैज्ञानिक उत्कर्ष हुआ और अब उसे छद्म-चेतना कोई नहीं समझता।

181. कार्ल मेन्हीम ने पर्याप्त विस्तार और गहराई से "विचारधारा" (Ideology) पर विचार किया है। छद्म चेतना यदि बिखरी हुई

का जंगल खड़ा हो गया है। × × × उसके सिद्धांतों में परिवर्तन होता रहता है और किसी युग में, किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना केलए, वैसे सौंदर्य सिद्धांत बनते और बनाये जाते हैं।[194] स्पष्ट है कि "विचित्रता" "सौंदर्य" का "शास्त्र" बनाने में निहित है। एक साथ विरोधी बिंदुओं को देखना निश्चित ही उलझन पैदा करता है। एक रहस्यमयता और अस्पष्टता अवश्यंभावी है किंतु यह रहस्यमयता कोई "अलौकिक" स्थिति नहीं बल्कि सृजन-प्रक्रिया में अनिवार्यतः निहित द्वंद्वात्मकता के कारण है। "साहित्यिक की डायरी" का केशव यहाँ विज्ञान का सहारा लेने की सिफ़ारिश करता है।—"पहली बात तो यह मान लो कि सारी सृजन-प्रक्रिया में एक प्रवाह मान गति है। और, अगर हम फ़िजिक्स की कुछ कल्पनाओं का सहारा लें, तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि हमारे लिए यह कहना कठिन है कि मनस्तत्व कहाँ किस जगह, वस्तुतः एकत्व है और कहाँ, किस जगह वह शुद्ध गति है, अर्थात कहाँ वह "पार्टिकल" और कहाँ वह "वेव" है। दूसरे शब्दों में, हमें केवल अस्पष्टता के लोक में ही विचरण करना है।[195]

चित्त-स्थिति है तो विचारधारा उसी को ऐसा सैद्धांतिक मूर्त रूप है जो अपने स्वभाव से ही स्पष्टीकरण-मूलक है। छद्म-चेतना की दिक्-काल-परक संरचना निश्चित ही ऐसे दिक्-अनुभवों (spatial experiences) पर आधारित है, जो काल-बोध को तहस-नहस करदेते हैं। अर्थात सामाजिक स्थिति {दिक्-काल की विशिष्ट स्थिति} ही चेतना को निर्धारित करती है।

182. सूसान के लैंगर ने एक अलग दृष्टिकोण से "चित्त" पर विचार करते हुए चेतना पर विचार किया है। डॉ० जे सी एक्कलेस (Dr. J C Eccles) को उद्धृत करते हुए वह कहती है कि "चित्त" (Mind) हमेशा ही "चेतन चित्त" (Conscious Mind) का सूचक है। इच्छा करना, याद करना, सोचना, महसूस करना आदि के समय जब "प्रांतस्था" (Cortex) अत्यधिक सक्रिय होता है, तभी "चित्त" संभव होता है। वस्तुतः स्नायविक आवेगों का परिणाम ये क्रियाएँ नहीं होती बल्कि स्नायविक तंत्र की सहगामी होती है। "सोचना" और "व्यवहार" इसी स्तर पर एक हो जाते हैं। मस्तिष्कीय

निष्कर्ष यह कि "सौंदर्य": पर कोई भी चर्चा प्रकारांतर से सृजन चर्चा ही होगी । उस चर्चा को भी सृजनात्मक होना चाहिए । "जीवन के अन्य साधारण अनुभवों से भिन्न" ही " कला का प्रथम क्षण (=सौंदर्य-प्रतीति का क्षण) होता है और उस पर की जानेवाली टिप्पणी के मूल में भी वह "प्रथम क्षण" अपनी तीव्रता के साथ रहे, यह आवश्यक है ।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रसंग में "शास्त्र" का चरित्र उसी प्रकार "प्रति-शासन-धर्मी" रहेगा, जिस प्रकार "सौंदर्य" का रहता है । "वाम" सम्बन्धी विमर्श में हमने पाया था कि उसका प्रधान गुण "प्रदत्त के प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध" का है । यही स्थिति "सौंदर्य" के लिए भी सच है । "सौंदर्य" अनिवार्यत: बोध-सापेक्ष होता है ।[196] बोध अपने मानवीय होने के क्रम में सृजनात्मक और इसीलिए द्वंद्वात्मक होता है ।[197]

स्पष्ट है कि "वाम" और "सौंदर्य" दोनों पद प्रति-शासन-धर्मी चरित्र रखते हैं । इन से सम्बन्धित शास्त्र को भी वैसा ही होना चाहिए ।

प्रेमा२-शा (Cerebral cortex) के कार्यकलापों के बारे में, विचारों और बिम्बों के सम्बन्ध में उसकी रहस्यमय शक्ति के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी आज भी उपलब्ध नहीं है । वस्तुत: चेतना के बारे में उसकी प्रक्रिया के बारे में आज भी विज्ञान चुप है । - Mind - My essay on human feeling P. 438.

183. "xxx The meaning and Consciousness of class are the same thing", Cale Vaze quoted in False Consciousness. P. 65.

184. "xxx Value is essentially a corollary of devaluation for its past, revaluation also entails de-valuation" Ibid. P. 69.

सौंदर्यशास्त्र का इतिहास साक्षी है कि अलग-अलग क्षेत्रों के अंतर्गत इसे साहित्यशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र में बाँट कर देखा गया तथा उन्हीं की विशिष्ट शाखा के रूप में इसका अध्ययन किया गया। यह निश्चित है कि "सौंदर्य वस्तु के रूप में हमेशा "कलाएँ" ही अध्ययन-कर्ताओं के सम्मुख रही। डॉ० मेघ के अनुसार " जब कलाओं का अनुशीलन दार्शनिकों ने किया तो वह "सौंदर्य-बोधशास्त्र" हुआ, जब आलोचकों ने किया तो वह "समालोचना" हुआ और जब कलाकारों तथा कारीगरों ने किया तो वह "कला कौशल"बना।"[१९] एक ओर जीवन और दूसरी ओर कलाकृति, जो "जीवन" को ही कच्चेमाल के रूप में इस्तेमाल करती है और एक विशिष्ट अर्थ में "परिष्कृत जीवन" कही जा सकती है - ये दो धुरियाँ ही सौंदर्यशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण होंगी। प्रस्तुत शोध-प्रसंग में हमने "प्रक्रिया" [=प्रभाव=प्रक्रिया] पर बल दिया है जो दूसरे शब्दों में जीवन > कलाकृति > जीवन [सहृदय का] की तीन धुरियों को एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध में बांधती है। निर्णायक धुरी "जीवन" ही होगा। "कच्चे माल" के रूप में कलाकार के रूप में तथा सहृदय के रूप में। जीवन समाज सापेक्ष है और समाज व्यवस्था -सापेक्ष।

---

185. "Class consciousness ~~and~~ is first and formost consciousness of time. The manner in which an individual apprehandes the three temporal dimensions (Past, Present, future) is closely conditioned by his situation and role within society." I. Domarchi quoted in false consciousness P. 105. 106.

निराशा और असफलता भविष्य की ओर उन्मुख करती है। यहाँ तक कि वस्तुकृत भविष्य (Reified future) भी पलायन का एक रूप होता है। for dispair whether personal or historical, remains end emotion oriented to the future one which intense the future in as total a fashion as hope, only it projects nothingness as its ultimate, rather than the all the invent rather than the supreme". Marxism and form - Predrick Jamson. P-132

व्यवस्था कोई अमूर्त प्रत्यय न होकर ठोस राजनीतिक-आर्थिक सामाजिक आदि से निर्धारित होती है । निष्कर्ष यह कि ये सारत प्रत्यय एक "सतत प्रक्रिया" धर्म को सूचित करते हैं । "जीवन" [कच्चे माल के रूप में] से "जीवन" तक की यह प्रक्रिया ही अपने सौंदर्यबोधात्मक चरित्र में समझे जाने की मांग करती है और सौंदर्यशास्त्र को इसे समझने की एक चेष्टा मात्र होना है । "कलाकृति" तो "जीवन" के सौंदर्यबोधात्मक रूप का एक विशिष्ट प्रकटन है जो "कलाकार" के माध्यम से संभव हो पाता है । इस प्रकार लक्ष्य सौंदर्यबोधात्मक जीवन को उसके समूचे परिप्रेक्ष्य में देखना ही होगा । निश्चित ही यह परिप्रेक्ष्य द्वंद्वात्मक = सृजनात्मक है ।

अद्यतन विवेचन में पूर्व ही "वाम" दृष्टि के बारे में पर्याप्त कह दिया गया है । "देखना" भी द्वंद्वात्मक और सृजनात्मक क्रिया है तथा "प्रक्रिया" की प्रवहमानता ही इसके द्वारा सूचित होती है । जीवन = समाज को प्रस्तुत शोध-प्रसंग में एकाधिक बार वस्तु-जगत अथवा संसार भी कहा गया है । वस्तुत: समग्र रूप में देखने का प्रयास ही हमें निरर्थक रूप से

---

[190] "xxx it appears that in periods of extreem crisis Capitlism tends to intensify Reification and even to bring it to a head." Georg "Lukac" Quoted in false Consciousness" — p-119

दो बातें स्पष्ट है । एक तो पूंजीवाद का संकट सर्वाधिक घना है और वह कला और कविता का दुश्मन इसीलिए है कि ये अव-वस्तुकरण की प्रक्रियाएँ हैं । जातीय उच्चता की ग्रंथि अथवा सामाजिक स्थिति को जैविक उच्चता-हीनता के रूप में देखना भी एक वस्तुकृत प्रत्यय (reified concept) है । भारत के और विश्व के स्तर पर इस वस्तुकरण के भी पचीसों उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

191. . व्यक्ति दिक्काल में सीमित होता है । वस्तुकृत विश्व की "सामाजिक

खाने बनाने या बाँटने के विरुद्ध करता है । अस्तित्ववादी पदावली से लेकर उसके द्वारा उठाये गये प्रश्नों तक को हमने इसी संदर्भ में स्वीकार किया है । "संस्कृति" उन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा है जो कुल मिलाकर "जगत के प्रति मनुष्य के तात्कालिक रुझान की बुनियादी श्रेणियों (The basic-Catgories of man's immediate attitude to the world) द्वारा निर्धारित होते हैं । केनेथ-ए-थाम्पसन (Kenneth A. Thompson) ने लुकाच की शब्दावली (Mode of being-in-the-world) की तुलना अस्तित्ववादी मनोचिकित्सकों की शब्दावली से इसीलिए की है । प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में हमने Daseinanalyse के प्रवर्तक बिंस्वागेर को अपने पक्ष में उद्धृत किया था । वस्तुतः sein शब्द active becoming को सूचित करता है । बिंस्वागेर के अनुसार मानव-सत्ता का अर्थ मानव सत्ताओं (Human beings) को वह बेजोड़ क्षमता है जिसके द्वारा तात्कालिक स्थिति का अतिक्रमण किया जाता है, और जो मनुष्य के स्व-ज्ञान पर निर्भर है ।"[196] यह स्व-ज्ञान (self awareness) ही कलाओं की आधार-भूत प्रेरणा है । लुकाच ने भी तो कहा है "मानव-जाति का ज्ञान (awareness) अगर विज्ञान है तो मानव जाति का आत्म ज्ञान (self awareness) कला है ।"[197] यही आत्म-ज्ञान प्रस्तुत शोध प्रसंग में "अपने को विषय करके जानना" की स्मृति के साथ यदि हम यह कहें कि यही मानवीय स्वतंत्रता है तो कोई गलत नहीं होगा । मैं-बोध का

स्थिति" उसे यह नहीं सोचने देती कि काल-क्रम (मानवीय) अथवा इतिहास सृजनात्मक रूप से स्वयंस्फूर्त अभिव्यक्ति है । परिवर्तन होता है और "घटना" या "आकस्मिक घटना" के रूप में घटा यह परिवर्तन वस्तुतः गुण का "मात्रा" में रूपांतरण है । अतीत की अगली कड़ी भी वर्तमान होता है और "घटना" (ऐतिहासिक) के रूप में उसे तोड़ता भी है । व्यक्ति इस बाहरी स्थिति के दबाव से काफ्का के नायक की तरह "छद्म यथार्थ" का बंदी हो जाता है । श्रमिकों की वर्ग-चेतना का रूप ग्रहण करना इसीलिए अव-वस्तूकरण (De-reification) है कि वह उन स्थितियों के "छद्म" के विरोध में सक्रिय होती है ।

अनिवार्य सम्बन्ध कालबोध से जुड़ता है और यहाँ "प्रदत्त तत्काल" को अतिक्रमित करने का अर्थ यही तो होगा कि भूत और भविष्य के प्रति प्रतिक्रिया हो । "काल" एक द्वंद्वात्मक आयाम है । भूत > वर्तमान > भविष्य की प्रवहमानता तभी रुकती या नष्ट होती है, जब द्वंद्वात्मकता ~~कालबोध~~ हीन बोध था अर्द्धद्वंद्वात्मकी-कृत बोध के कारण मानव किसी एक ही "जगत रूप World design के प्रति आत्म-ग्रस्त हो जाता है । 202 "प्रदत्त से प्रतिरोध" अनिवार्यतया काल-चेतना है जो भविष्योन्मुख होती है ।[198]

192 xxx Deviation from the total structure of the work
Nevsatten cited in Future Consciousness p 176

193 ≫ डॉ० मेघ विस्मय जनक रूप से मुक्तिबोध के निकट हैं । कहा जा सकता है कि कवि-लेखक की यात्रा भी उसी लक्ष्य तक पहुँचा सकती है, जिस लक्ष्य पर पाठक (=आलोचक=सतर्क पाठक) अपनी यात्रा के अंत में पहुंचता है । मुक्तिबोध ने कई बार, कई तरह से लिखा है --"सौंदर्य की स्थिति और लय वास्तविक जीवन पर आधारित है । सौंदर्य का मूल अर्थ है, एक विशेष मनोवैज्ञानिक प्रकार का प्रभाव" (मु रच 4 पृ-117) x x x भाव-प्रक्रिया का वस्तुपरक चित्रण अथवा वस्तु-प्रक्रिया का आत्म परक चित्रण, विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है । यह प्रभाव सौंदर्य है ।" (वही- पृ-15) मुक्तिबोध के "मनोवैज्ञानिक" विशेषण से आपत्ति हो सकती है । उसे "सामाजिक मनोवैज्ञानिक कर देने से वस्तुस्थिति पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है ।

१९५ मुक्तिबोध रचनावली-5 पृ-89 । "मुक्तिबोध ने यह सही कहा है कि "आधुनिकतम चित्रकला को समझने के लिए सबसे पहले हमें उसकी सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताओं का ही अध्ययन करना चाहिए ।" हेराल्ड रोजेनबर्ग जैसे आलोचकों की कृतियों का अध्ययन ही हमें उस अत्याधुनिक कला-धारा के मर्म के पहचानने की क्षमता देता है । "प्रभाव" प्रक्रिया की द्वंद्वात्मकता में प्रतिक्षण तत्व को भी हमने प्रस्तुतशोध प्रसंग में एकाधिक बार रेखांकित किया है । इसी प्रकार अंतर्विरोधों तथा विरोधाभासों से भी बिदकना नहीं चाहिए । सौंदर्य-प्रतीति को परिभाषित करने की कोई भी चेष्टा इस तथ्य को सामने खड़ा कर देती है । -"एक साथ दो विरोधी बातों (जो एक ही क्षण के दो

उपर्युक्त विवेचन में "देखना" की रेखांकित सख्य तथा अनायास द्वंद्वात्मकता पर बल देने हेतु किया गया है । जब "देखना" नामक क्रिया अद्वंद्वात्म कीकरण की शिकार होती है अथवा जब देखनेवाला आत्म-ग्रस्तता की स्थिति में [चाहे जिस कारण से] होता है तो "सौंदर्य-प्रतीति" असंभव हो जाती है । मुक्तिबोध के ---"प्राकृतिक सौंदर्य या नारी-सौंदर्य का अवलोकन व्यक्तिबद्ध होने से सही अर्थों में सौंदर्यानुभव नहीं कहा जा सकता ।[199] इस कथन को उपर्युक्त विवेचन के आलोक में देखने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है । यह सच है कि मुक्तिबोध तार्किक दृष्टि से यहाँ अस्पष्ट है किंतु इस कथन में "अवलोकन" शब्द निश्चित ही अद्वंद्वात्मकी-वृत्ति दृष्टि को सूचक है । आगे मुक्तिबोध ने "सृजनशील कल्पना" का सहारा "सौंदर्य" के लिए आवश्यक बताया है, क्योंकि "संवेदित अनुभव का विस्तार" बिना कल्पना के संभव नहीं हो पाता ।[200] कोई आवश्यक नहीं कि "प्रकृतिक

आयाम है] का नाम सौंदर्य-प्रतीति कहा है । [मुक्तिबोध रचनावली - भाग-4 पृ-151]

[199] मुक्तिबोध रचनावली भाग -4 पृ-100 । यह "अस्पष्टता" ही इस तथ्य को रेखांकित करती है कि "प्रक्रिया" जारी है । कोई भी अंतिम सत्य" इस अस्पष्टता की ओर से आँखें मूंद कर ही संभव हो पाता है ।

[200] दार्शनिक सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में "बोध" और "अनुभव" के बीच द्वंद्व खड़ा किया गया है । मनरो सी बर्डस्ले (Monroe Beardsley) ने अनुभव की तुलना में "बोध" को अपर्याप्त ठहराया है । हम इस विवाद में पड़े बिना ही यह कहना चाहेंगे कि "अनुभव" को "बोध" से काटकर देखना कहीं नहीं पहुँचायेगा । यह प्रवृत्ति उसी विचारधारा के चलते है, जिसके अंतर्गत समग्र के बजाय किसी खण्ड के विश्लेषण होने पर बल दिया जाता है । रमेश कुंतल मेघ ने "सौंदर्यबोधानुभव" पद को सही प्रयुक्त किया है । बर्डस्ले के विचारों के लिए (Philosophy looks at the arts) में "The asthetic point of view" Joshep Margolis नामक लेख तथा डा० मेघ के सौंदर्यबोधानुभव सम्बन्धी विवेचन के लिए "अथातो सौंदर्य जिज्ञासा पृष्ठ 335 से 452 तक.

सौंदर्य "अथवा" "नारी सौंदर्य" सृजनशील कल्पना को ~~अवरुद्ध~~ उकसाकर संवेदित अनुभव का विस्तार न करे । यदि ऐसा न हो तो कसूर "अवलोकन" क्रिया के पीछे सृजनशील कल्पना के नहोने में निहित है या फिर "अनुभव" का अभाव होना ही उसके मूल में है ।

दूसरे शब्दों में "देखना" व्यक्ति-बद्ध न हो तो सौंदर्य-प्रतीति संभव होती है । व्यक्ति-बद्धता का शिकार कोई भी व्यक्ति तभी होता है, जब वह अपने "संसार" का कोई एक नमूना तय कर लेता है, और उसे जड़ या शाश्वत मान लेता है अथवा अपने या समाज द्वारा तय होते [अथवा "प्रदत्त"] नमूनों के प्रति प्रतिरोधरत नहीं होता ।

---

[9] हमारे अब तक के विवेचन में हमने कई विद्वानों को ~~किया~~ नया विशेषत: मुक्तिबोध को "बोध" की द्वंद्वात्मकता के विपक्ष में उद्धृत किया है । यहाँ गार्वेलका एक कथन हम देना चाहेंगे । × "× ×××× Perception is both a biological and a social act, and act of encounter?? [False Consciousness-३०५]

लुकाच भी अपने "प्रतिबिम्ब" (reflection) सिद्धांत के विवेचन में बल देकर कहते हैं कि मनुष्य कोई ऐसा वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक औजार या मापक नहीं है जो "इंद्रिय-बोध" द्वारा मात्र रेकार्ड करे । आवश्यक (essential) और अनावश्यक (non essential) के चयन को उन्होंने इंद्रिय-बोध के मानवीय होने का अनिवार्य लक्षण माना है । × × × A perception, man subjective response to each split second of sense-experience. The main feature of the response being selection or the [sorting out of the essential from non essential. (The Aesthetics of Georgy Lukacs?) (Bela Kiralyfalvi P-56)

अनुभववाद और यांत्रिक भौतिकवाद की सीमाओं में मानवीय बोध को सीमित नहीं किया जा सकता । लुकाच ने द्वंद्वात्मकता पर बल दिया है और इसलिए "परिवेश" को एक मात्र निर्णायक और मानव को निष्क्रिय अंकक में घटा कर देखने का विरोध किया है । यद्यपि लुकाच का प्रिय प्रत्यय "प्रक्रिया" न होकर "कर्म" (action) था । वस्तुत: लुकाच यहाँ

"सौंदर्य" और उसकी अधिष्ठान "कलाएँ" अपने स्वभाव से ही वस्तुकरण की विरोधिनी होती है । वे एक ऐसे "देखने" का परिणाम होती है, जो सृजनशील कल्पना" के सहारे कलाकार के "संवेदित अनुभव" का विस्तार करता है । आवश्यक है कि उन कलाओं को "देखने" (या उनका विवेचन-विश्लेषण आदि करने) में यह "विस्तार" और भी संपन्न होता रहे ।[20] निष्कर्ष यह कि "सौंदर्य-प्रतीति" एक प्रक्रिया है, जो कलाओं में जारी रहती है और इस "प्रक्रिया" को "शास्त्र" (समीक्षा, आलोचना, सौंदर्य-दर्शन) में भी जारी रहना चाहिए । सारांश यह कि सौंदर्यशास्त्र को सृजनात्मक होना चाहिए ।

इस मांग के साथ जुड़े प्रश्नों और खतरों से परिचित होना भी यहाँ आवश्यक है । प्रस्तुत शोध के प्रसंग में हमने "नये" को चरम मूल्य मानने वाले अमरीकी चरित्र की चर्चा वाम और "लेफ्ट" के संदर्भ में की थी । यहाँ भी हम यह कहना चाहेंगे कि इस सृजनात्मकता की मांग को भी तथा कथित विद्रोही विचारकों ने पर्याप्त भोंथरा कर दिया है । प्रस्थान-बिंदु, उपपत्तियाँ आदि सब ठीक होने पर भी कैसे-कैसे अनूठे और हास्यास्पदता की सीमाओं तक को पार करते निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है, इसका उदाहरण पाना हो तो रोलाँ बार्थस Roland Barthes के उग्र सुझावों से प्रेरणा पाकर और हर्बर्ट मारक्यूज की "ईरोज" eros धर्मी अरस्तू से सहमत थे कि "the Consistent Artist" ibid p6c

198 अथातो सौंदर्य जिज्ञासा - भूमिका

199 'Dasein' is Sein का अर्थ being (सत्ता) होगा और DA का अर्थ होगा there (वहाँ) । केनेथ ए. धाम्पसन के अनुसार "Dasein is the being who is there and implies also that he has to be there" — in his sense that he can know or be aware and can take a stand with reference to that fact. (Also Consciousness p — XI)

हीडेगर के being-in-the-world प्रत्यय के संदर्भ में प्रस्तुत शोध-प्रसंग में चर्चा हो चुकी है । WORLD = वस्तु-जगत को हमने praxis के आधार पर अनिवार्यतः Aesthic world (सौंदर्यबोधात्मक जगत) कहा था । यहाँ यह जोड़ना प्रासंगिक होगा कि यह अपने चरित्र में

बुद्धि विरोध से प्रोत्साहित होकर किये गये सूसान सोण्टाग Susan Sontag लेसली फिडलर Leslie Fiedler ईहाब हसन Ihab Hasan आदि के कथन देखे जा सकते हैं । यह सही है कि "बोध" की पारम्परिक रूढ़िबद्धता टूटनी ही चाहिए किंतु "Interpretation is the revenge of the intellect upon art" (Susan Sontag) as well as unsubstance (Leslie Fiedler) एक ऐसी आलोचना जो Poetic inform इसके लिए तो कविताएँ ही पर्याप्त है व्यर्थ में आलोचना को क्यों कष्ट दिया जाय ? ? × × × तथा परा-आलोचना का Paracriticism प्रवर्तन, जो Myths mix by used of discontinuity and discontinuity, of space silence, self denial and surprise." Ihab Hasan

का मिला जुला- रूप होगी

ऐसे कथन तो वहीं पहुंचाने पर सन्नद्ध दिखायी पड़ते हैं, जहाँ जहाँ मनोविज्ञान की राह से पहुँचकर, नार्मन ओ ब्राउन "शिश्न को ही जिह्वा मानने का आग्रह करते हैं । निश्चित ही ऐसा विद्रोह उन गुस्सैल, चिढचिढे और

एक सत्ता मीमांसा धर्मी ontological वक्तव्य है । हमने सत्ता-मीमांसा को अनिवार्य रूप से "आध्यात्मिक न मानते हुए उसे भौतिकवादी चरित्र देते हुए ही उक्त बहस की थी । यह वक्तव्य मानव की अतिक्रमण-क्षमता को भी प्रकट करता है ।

डेनियल बेल ने संस्कृति को उपर्युक्त रूप में परिभाषित किया है । उनके शब्दों में "culture - forms as the effort to provide a coherent set of answers to the existential predicaments that confront all human beings in the passage of their type." "The cultural contradictions of Capitalism", — Daniel Bell Foreword.

संभवत: इसी लिए परम्परा का महत्व है कि वह उन प्रश्नों के उत्तरों की स्मृति है ।

नपुंसक-सा हो जाता है । निश्चित ही इस स्थिति में उसकी कला हानि-रहित harmless निरीह रिरियाहट से अधिक कुछ भी नहीं होगी । कला को प्रत्ययी-करण conceptualization का सहारा अवश्य लेना चाहिए । यथार्थ के विकृत किये गये रूप को समझने के बाद ही उसे निरस्त किया जा सकता है । [रोचक होगा यह जानना कि ब्राफ़ने "see" किया का प्रयोग किया है यद्यपि बिना बलाघात दिये] ।[202]

न तो देखनेवाला विचार-हीन होता है और न देखी जाने वाली कलाएँ तो विचारों का विरोध एक खतरनाक कार्रवाई होगी । यह सही है कि विचारों को बोध और कल्पना से एकाकार होना चाहिए । कम से कम कटे हुए रूप में, अलग तो कतई नहीं होना चाहिए ।

---

200. "The unique Capacity of Human being for transcend the immediate situation, which in turn depends upon man's self-consciousness."

201. "Luke" after Consciousness - Introduction: Conclusion that science and mankind divorces while art-is

202. विश्वगिर ने "काल" को अस्तित्ववादी विश्लेषण की केन्द्रीय समस्या के रूप में स्वीकार किया है । उसके अनुसार "transcendence - Kierkegaard's awareness of is called on the basis nature of Time, in the Aesthetic its unfolding into future' 'Have been' and of George 'present' 'false Consciousness'" preface Lukacs" "काल" एक सम्पूर्ण प्रत्यय है । मनुष्य अपनी सीमाओं या अपूर्णता के कारण उसे खण्डित करता है । बिना वस्तुकरण किये मनुष्य काल से क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं कर पाता । मनुष्य का "मैं-बोध" मूलत: भाषिक चरित्र से युक्त होता है । स्टूअर्ट चेज 'Stuart Chase' ने The Tyranny of words में बताया है कि "प्रत्येक शब्द अव-सृंद्धात्मकता का परिणाम है ।" Ibid p 299 गोबल ने इस प्रसंग में एक रूसी कवि की पंक्ति उद्धृत की है— "The expressed thought is able." Ibid—P

203. मुक्तिबोध रचनावली भाग-चार पृष्ठ 98

204. असलियत यह है कि सौंदर्य तब उत्पन्न होता है, जब सृजनशील कल्पना के सहारे, संवेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाये । —वही—

वाम सौंदर्यशास्त्र को जब "बोध" [जो स्वयं में एक प्रक्रिया है] का विषय हो "प्रक्रिया" [=कलाकृति] मिल गयी होगी तथा और रूप को वह रूढ़ीतिक करके नहीं देख सकता । भले ही ग्राफ़ ने नव-मार्क्सवादी विचारकों का झुकाव की तुलना में मुक्त का पक्ष लेने और मुक्त open और बंद closed रूपों के उल्लेख द्वारा अपनी बात प्रस्तुत करने की खिल्ली उड़ायी हो किंतु प्रस्तुत शोध प्रसंग में हम स्पष्ट कहना चाहेंगे कि "मुक्त" का

---

305. इंद्रियों के सम्बन्ध में विवेचन करते समय हमने सौंदर्य प्रतीति के प्रसंग में "आँख" के महत्व को बतलाया है । "देखना" उसी क्रम में सौंदर्य-शास्त्र की मूलाधार-रूपी क्रिया है । देखना जहाँ मात्र जैविक हो, जहाँ "आँख" मानवीय "आँख हो न हो वहाँ "सौंदर्य" की स्थिति नहीं होगी । "आँख" और "देखना" निरंतर "मानव" होते becoming Human मानव से जुड़कर ही सौंदर्य-चर्चा के केन्द्र में आयेंगे और इसी बलाघात पर ध्यान आकर्षित करने के लिए उन्हें उद्धरण सूचक चिह्नों से युक्त किया गया हो । एक उदाहरण इस प्रसंग में रोचक और महत्वपूर्ण होगा - टेरी ईगलटन Terry Eagleton का कलाओं के लक्षण को बतलानेवाला और विज्ञान से उनके अंतर को स्पष्ट करने वाला एक उद्धरण है, जिसे गेराल्ड ग्राफ़ Gerald Graff ने एक बहुचर्चित तथा विवादास्पद लेख "The politics of anti-realism." में उद्धृत किया है और उसमें see को उद्धरण सूचक चिह्नों से युक्त करने पर प्रश्न उठाया है । उद्धरण इस प्रकार है — "Science gives us conceptual knowledge of a certain situation, art gives us the experience of that situation, which is antithetical to ideology. But by doing this it allows us to 'use' the nature of that ideology, and thus begins to move us towards that full understanding of ideology which is scientific knowledge."

प्रत्यय हमें आरंभ से ही स्वीकार है । कलाकृति को हम एक मानवीय सृजनात्मक "प्रवाह" की कड़ी के रूप में देखते हैं । रोलाँ बार्थस से हमारा मत इसलिए भिन्न है कि हम "कलाकृति" अथवा पाठ text को अनिश्चित समझे जाने की सिफ़ारिश नहीं करते । मुक्त open और अनिश्चित indeterminate का अंतर स्पष्ट है । कलाकृति को मानवीय प्रक्रिया के प्रकटन के रूप में देखा गया है और उस पर अनिश्चितवाद से सम्बोधित करना उसे अराजक आदि कहने जैसा ही है ।[203]

पहले तो ग्राफ़ ने इसे इस आधार पर अस्पष्ट माना है कि कैसे एक विचारधारा को बिना प्रत्ययात्मक conceptual सौंदर्य के देखा जा सकता है ? या तो ग्राहक-जन audience "विचार धारा" को ही विचारधारा ही देखेंगे और तब निश्चिय ही प्रत्ययीकरण करेंगे वरना वे विचारधारा को कतई नहीं देखेंगे । ग्राफ़ ने see को बलाघातपूर्वक लिखने पर भी शंका उठायी है । Salamagundi - 42, 1978 · p - 10 - 11.

ग्राफ़ को कैसा लगेगा यह जानकर कि यही See [बलाघातपूर्वक] अल्बूसर के सौंदर्यबोधशास्त्र का आधार है, अथवा भारत में तो दर्शन-दृश्यते इति अनेन+दर्शनः "की परिभाषा" सर्वसामान्य रही है । विचार भी तो मूलतः बिम्ब ही होते हैं और सोचे जाने से पहले देखे जाते हैं । आइजेंस्ताइन Eisenstein ने इसी लिए मार्क्स के पूंजी Capital नामक ग्रंथ पर फ़िल्म बनाने की योजना बनायी थी । द्वंद्वात्मक चिंतन के प्रसंग में मज़दूरों और किसानों का मार्गदर्शन करने के लिए Talks · 34, Spring 1977 p 153

ग्राफ़ का निष्कर्ष इस प्रकार है -

206. Salmagundi - 42 - P17.
"Art must be created due parents to Conceptu
realize the existing reality, to see as distorted
before it can effectively negate Ibid - P30.

नार्मन ओ ब्राउन के कथन के लिए 'Art politics and will' ed. Quentin Anderson, Stephen Donadio, Steven Marcus P 33

मारक्यूज ने अपने सारे फ्रायडीय अबुद्धिवाद के बावजूद नार्मन ओ ब्राउन की इस स्थिति की आलोचना की है । बुद्धि और भावना में छद्म द्वंद्व की

प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत "कला" की रूप-गत विशेषताओं को "प्रक्रिया" के समर्थन-विरोध की दृष्टि से ही देखा जायेगा । ऐसी ही कथ्य, विषय-वस्तु, कथानक आदि के लिए भी अपनाया जायेगा । चूंकि "प्रक्रिया" का स्वभाव ही खण्ड-विरोधी होता है अतएव रूप और कथ्य का छद्म-द्वंद्व यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता । यहाँ यह विशेषत: ध्यातव्य है कि "सृजन-प्रक्रिया" तक "कलानुभव" के मार्ग से पहुँचना होगा । कलाकृति से कलानुभव और फिर उस कलानुभव के विश्लेषण में कला की रचना-प्रक्रिया को समझना और फिर कलाकृति के प्रभाव (=सौंदर्य) का मूल्यांकन करना ।[204]

स्थापना करके ही इस प्रति-बुद्धिवाद को संभव किया जाता है ।

२०४: बार्थस ने पाठ की निश्चितता 'textual determinacy' को सिद्धांत को व्यक्ति गत संपत्ति की अवधारणा का विस्तार माना है । वे वस्तुनिष्ठता को पुलिस बल की संज्ञा भी देते हैं जो व्याख्याओं की सृजनात्मकता का दमन करती है । वस्तुनिष्ठ व्याख्या के लिए "पाठ" मुद्रा currency होता है और वर्तमान वर्ग व्यवस्था से उसका सम्बन्ध ठेके contract का होता है । लेखक के इच्छित अर्थ से "पाठ" को मुक्त करना प्रकारांतर से पूंजीवादी व्यवस्था की मालिकाना व्यवस्था को धक्का पहुँचाना है । Selden ramdy. P-42

मुक्तिबोध ने भी बंद closed के प्रत्यय को स्वीकारा है "हम मनुष्य को बंद तंदूक क्लोजड सिस्टम नहीं मानते (मुक्तिबोध रचनावली पाँच पृ-122)

२०५. मुक्तिबोध रचनावली - चार पृ-91. यहाँ कलाकार के मनमें जो सौंदर्य का नमूना रहता है और जिसके समीप पहुँचने की चेष्टा कलाकृति करती है, उसे पहचानना आवश्यक है क्यों कि बिना इसके रचना-प्रक्रिया को नहीं पहचाना जा सकता ।

२०६: --वही-- पृ-224-225. दूसरे शब्दों में "प्रथम, भावानुभूति का आकलन" और उसके साथ कलाकृति में उसकी "संगति या असंगति की खोज का प्रयास" साथ ही "द्वितीय, उस जीवन-तथ्य की खोज, जो लेखक का अपना जीवन-तथ्य है, अर्थात काव्यानुभूति के आत्म-चरित्रात्मक रंग खोजने का

मुक्तिबोध ने कामायनी-सम्बन्धी अपने अध्ययन में कुछ ऐसी ही पद्धति अपनायी है -- " x x प्रथमत: काव्य का आस्वादन और उस काव्य के अंत:सूत्रों की सहज राह से कवि-व्यक्तित्व के आकलन की सहज चेष्टा और उस व्यक्तित्व के माध्यम से उससे सम्बन्धित समाज और विश्व का अध्ययन । दुबारा फिर समाज और विश्व और उसके प्रति प्रसाद की प्रतिक्रियाएँ, और प्रसाद-व्यक्तित्व की अंत:प्रकृति, इस अंत: प्रकृति के सूत्रों के मार्ग से कलाकृति का अध्ययन । इस प्रकार अध्ययन की ये दो यात्राएँ हैं, जो दो प्रकार की हैं । वे एक-दूसरे की कमी या अतिरंजना को पूरा करती है ।[208]

प्रयास, तृतीय, उसे जीवन तथ्य का भूगोल और इतिहास अर्थात दिक्काल और इस दिक्काल के प्रति कविकृत प्रतिक्रियाएँ और उन प्रतिक्रियाओं के भीतर झलकते हुए जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टि, चतुर्थ, उस जीवन-तथ्य का कलाकारकृत "आलोचन और इन सबबातों पर" निष्कर्षात्मक हमारी टिप्पणी । (वही-) निश्चित ही मुक्तिबोध की यह कामायनी अध्ययन की कसौटी अतीव महत्वाकांक्षिणी है और वे इसका निर्वाह "सुविधा न होने से" न कर सके । किंतु प्रस्तुत शोध प्रसंग के तईं इसका बड़ा महत्व हैं क्यों कि "सौंदर्य" के विवेचन-विश्लेषण के लिए ऐसी ही निर्दोष और समग्र योजना की दरकार है ।

210. वही पृ-99 । यह अपना-अपना ढंग जीवन-चर्या द्वारा ही निर्धारित होता है । विपरीत जीवन-चर्या के अभ्यस्त पाठक आलोचक कैसे कैसे अनर्थ करते हैं, इसका उदाहरण वे ढेरों समीक्षाएँ हैं, जिनमें मुक्तिबोध को, उनके समूचे साहित्य के साथ एक हानि-रहित Harmless प्रसन्नता-दायी सौंदर्य-वस्तु में जड़ीभूत कर दिया गया है ।

211. मुक्तिबोध रचनावली 5 पाँच पृ-52 मुक्तिबोधने इस तथ्य को कई बार कई तरह से लिखा है । "सच तो यह है कि जीवन-चिन्ता के बिना साहित्य-चिन्ता नहीं हो सकती । जीवन-चिन्ता के अभाव में साहित्यिक आलोचना निष्फल और वृथा है । किंतु, यह जीवन चिंतन व्यापक जीवन-जगत घनिष्ठ और गंभीर भाग लिये बिना रीता है । (वही पृ-122) समीक्षक को "भोगा हुआ" होना चाहिए । तभी वह "वृथा भावुक या वृथा बौद्धिक" होने

कलानुभव के प्रथम क्षण में ही "अनुभव के महत्व की भावना" आवश्यक है । यह कलाकार के लिए सच है पाठक या दर्शक के लिए भी । "प्रसन्न-भावना" अपने-आप में सम्पूर्ण सौंदर्यानुभव नहीं है । उसके साथ "नये-नये अर्थ-महत्व" की प्राप्ति आवश्यक है । यही जीवन-मूल्यों और मूल्य-दर्शन का सौंदर्यशास्त्र के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध सिद्ध होता है । अंततोगत्वा नियामक तो "जीवन" ही है । समाजबद्ध और कला-बद्ध जीवन । "हाँ, यह सही है कि पाठक या श्रोता को, वैसे ही फैण्टेसी के जनक को, फैण्टेसी में, जो नये-नये अर्थ-महत्व प्राप्त होते हैं, वे अपनी-अपनी उत्तेजित जीवन-संवेदनाओं द्वारा ही मिलते हैं । × × × पाठक या श्रोता अपने ढंग से ये अर्थ-प्रतीतियाँ करता है और कलाकार अपने ढंग से ।"[206]

इसलिए मुक्तिबोध के कथन "साहित्य-विवेक मूलतः जीवन-विवेक है" - को हम यों लिखना चाहेंगे -"सौंदर्य-विवेक मूलतः जीवन विवेक है ।" यदि तथाकथित सौंदर्य-विचारक एक प्रकार की यांत्रिकता के शिकार होते रहे अथवा "एक पक्षीय दृष्टिकोण से देखते हुए उसके किसी एक अंग को ज्यादा फूलाकर" देखते रहे तो यह इसी तथ्य का साक्षी है कि वे सौंदर्यबोधात्मक रूप में उपस्थित जीवन को नहीं पहचान सके हैं । इस नहीं पहचान सकने का कारण यही होता है कि वे "जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठे हुए होते हैं । " -"सच्ची बात तो यह है कि आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह उस जीवन को (लेखक द्वारा प्रस्तुत) लेखक से भी अधिक पहचाने सके ।" × × × "तभी वह जीवन की एक पक्षीय अथवा विकार-

---

से बच पायेगा । इसी अर्थ में मुक्तिबोध ने समीक्षा को "प्रेम दर्शन" कहा है ? क्योंकि भीगा हुआ समीक्षक "पाठक और लेखक दोनों का आत्मीयत होता है । (वही पृ-150)

212. "value of theory on its realization to praxis" ——— Marx mentioned in original-

प्रेरित उपस्थिति को उद्घाटित कर सकता है, लेखक की मूलभूत अक्षमताओं और अविवेकों का "पर्दाफ़ाश कर सकता है ।"[207] यह "पहचान" बिना "जीवन में गहरी भागीदारी के संभव नहीं है । सौंदर्य-बोध को जीवन जगत के संदर्भों में ही रूप ग्राह्य करना चाहिए । यदि दुर्भाग्य से ऐसा नहीं होता है तो सौंदर्य-विवेचन के नाम पर एक "बोध हीन बौद्धिकता" की प्रदर्शनी मात्र लग सकती है । "सौंदर्य"सम्बन्धी सिद्धांत निरर्थक है यदि वे आचार या व्यवहार से नहीं जुड़ते ।[208] मात्र बौद्धिक कृत्य होने के स्थान पर सौंदर्य चिंतन को, मानव-समाज की पुनर्रचना के लिए किये जा रहे व्यावहारिक चिंतन का भाग होना चाहिए । कलाकृति को जीवन की पुनर्रचना कहा गया है । समीक्षा को भी अपने ढंग से यही होना है ।

सार रूप में कहें तो कलानुभव में प्राप्त सौंदर्य-प्रभाव का विवेचन विश्लेषण "कलाकृति" की रचना-प्रक्रिया और उसमें निहित जीवन-बोध को समझने के लक्ष्य को लेकर ही किया जाना चाहिए । अपनी दृष्टि को कलाकार की दृष्टि से द्वंद्वात्मक सम्बन्ध में तभी रखा जा सकता है । कलाकार की जीवन-दृष्टि का परिणाम कला-कृति है तो पाठक या समीक्षक की जीवन-दृष्टि का परिणाम समीक्षा होगी । कलाकृति और उसकी समीक्षा में एक प्रवहमानता रहेगी । समीक्षा भी अपने "ढंग से "कलाकृति" होगी । कलाकार को अपने जीवन में "तीव्र उत्कट अनुभव" (मुक्तिबोध) क्षण के कारण कलाकृति (=जीवन की पुनर्रचना) को प्रस्तुत करने में सफलता मिली होती समीक्षक को भी कलाकृति और जीवन, दोनों में, ऐसे तीव्र उत्कट अनुभव क्षण में से गुज़रना होगा कि वह कलाकृति में प्रस्तुत जीवन के साथ द्वंद्व-रत अपने जीवन की भी पुनर्रचना कर सके । कलाकार के "अनुभव" की उत्कटता को सही

Significance of the Ger Frankfurt School of Marist perspective – phd stated - p 15

प्रस्तुत शोध प्रसंग में भी प्रथम अध्याय के अंतर्गत "आचार" के निर्णायक महत्व की चर्चा की गयी है ।

तरह से पहचाना ही नहीं जा सकता अगर समीक्षक भोगा न हो "उत्कटता" का अनुभवी न हो । प्रस्तुत शोध-प्रसंग में एकाधिक बार "सौंदर्य" के भीतर से सौंदर्यशास्त्र के उगने और बढ़ने की बात कही गयी है । उस बात का संदर्भ यही समीक्षक का जीवनानुभव = सौंदर्यानुभव है । शास्त्र की स्थिति, अनुभव में से और उसके पश्चात ही होती है । अनुभव-निरपेक्ष शास्त्र के विरोध में ही प्रस्तुत विवेचन-विश्लेषण की चरितार्थता है ।

एक प्रवहमान प्रक्रिया ही जब "सौंदर्य" है तो अनुभव, विश्लेषण और मूल्यांकन में भेद-दृष्टि मात्र भाषायी सुविधा के चलते हैं । सौंदर्यानुभव की सम्पूर्णता में कलाकार और पाठक (दर्शक या श्रोता) एकमेक हो जाते हैं । इसी अर्थ में कलाकृति शाश्वत होती है कि यह सौंदर्यानुभव ऐतिहासिक-काल को अतिक्रमित करता है । पाठक की काल-बद्धता उस सौंदर्यानुभव को परिवर्तित-चरित्र से युक्त अवश्य करती है ।

सौंदर्यबोध का, अतएव सौंदर्यशास्त्र का नियामक मानव जीवन है । ठोस, समाज बद्ध-, व्यवस्था-बद्ध और काल-बद्ध जीवन । जहाँ सौंदर्य-बोध उससे नियमित-संचालित होता है, वहीं उसे प्रभावित करता है, तथा इसी अर्थ में वह एक महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनैतिक "आचार" (Praxis) है । कलाकार का समग्र जीवन (अपने युगीन रूप में) अपने सौंदर्यबोधात्मक आयामों में "कलाकृति" के माध्यम से प्रकट होता हुआ वास्तव सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप और उसकी रचना-प्रक्रिया को, द्वंद्वात्मक रूप में, निर्धारित करता है ।

हिंदी वाम कविता की पृष्ठभूमि :

प्रस्तुत शोध प्रसंग में कविता-संदर्भित सौंदर्य-बोध ही विवेचन-विश्लेषण का लक्ष्य है । यदि अद्यतन अध्ययन कोरमकोर सैद्धांतिक रहा तो इसलिए कि "सौंदर्य" के सहजमान्य, पारम्परिक और प्रदत्त "दक्षिण" आधारों के बरक्स वाम-आधारों को स्पष्ट करना अपेक्षित था । आधार-भूत प्रश्नों को सदा उत्तरित मान कर किया गया विवेचन सतही भूल प्रश्नों मात्र रह जाने को अभिशप्त होता है । चाहे वे मीमांसात्मक गुत्थियाँ हो या सत्ता-मीमांसात्मक उलझनें -- वे मनुष्य के इस संसार में "होने" की प्राथमिक स्थिति से जुड़ी समस्याओं से दो चार होने का प्रयास है और इसलिए कोई भी सौंदर्य-विवेचन उनसे कतराकर नहीं निकल सकता । इंद्रिय बोध से सौंदर्य बोध तक एक परा मानवीय संघर्ष संसार है । "वाम" चिंतन, जो मूलत: और अंतत: मार्क्सीय आधारों को अपने लिए प्रामाणिक मानता है, एक और "चिंतन" मात्र नहीं हो सकता । जिस तरह मार्क्सीय चिंतन कोई ऐसा चिंतन नहीं है, जो भाववादी विचार धाराओं को हटाकर उनके स्थान पर आया हो और कल कोई दूसरी विचारधारा उसे हटाकर उसका स्थान ग्रहण कर लेगी ।[1] वाम सौंदर्य-दृष्टि को भी दक्षिण-सौंदर्य-दृष्टि का

---

1. "marxism is not just any hypothesis that might be replaced tomorrow by something. It is a simple statement of those conditions without which there would be neither any humanism in the sense of a mutual relation between men nor any rebellion in history."
—Humanism and Terror — maurice merleau ponty P.No.153.

स्थानापन्न नहीं माना जा सकता । वह मानव और मानवीय दृष्टि की, इस वस्तु जगत में, स्थिति को द्योतित करती है ।

एकाधिक बार इस ओर स्पष्ट संकेत किया गया है कि सौंदर्य के संबंध में भावबादी विचारण पद्धति इसलिए नहीं अपनायी जा सकती कि वह सुरक्षित और निर्धारित सौंदर्य-बोध के संदर्भ में ही उचित कही जा सकती है अथवा एक बंद-प्रणाली [closed system] के चरित्र के अनुरूप ही है ।[2]

घटकों, श्रेणियों, तत्वों, भेदों-उपभेदों आदि में बाँटकर देखने की परिपाटी "सिद्धांत" को व्यवहार [= आचार = praxis] से अलग-थलग देखने को उकसाती रही है । यहाँ तक कि सिद्धांत को व्यवहार पर लागू करने की प्रेरणा भी देती रही है । हमने द्वंद्वात्मकता का पथ चुना है और इसलिए न तो व्यवहार पर सिद्धांत को एक पदीय ढंग से लागू किया जा सकता है और न सिद्धांत को पूरी तरह से व्यवहार निर्भर ही बनाया जा सकता है । दोनों के बीच

---

2. पूर्व में अनगढ़ चिंतन [crude thinking] की सिफारिश ब्रेख्त और वाल्टर बेंजामिन के संदर्भ में की गयी थी । वाल्टर बेंजामिन ने इस प्रसंग में पहले तो ब्रेख्त को उद्धृत किया है -- "The most important thing is to learn to think crudely. Crude thinking is the thinking of great men" — Understanding Brecht — Walter Benjamin P. 81
स्वयं बेंजामिन ने कहा --
"..... crude thoughts belong to the household of dialectical thinking precisely because they represent nothing other than application of theory to practice, not its dependence on practice. Action can generate, be as subtle as thought. But as thought must be crude in order to come into its own in action." Ibid.

एक उभयापेक्षी अथवा अन्योन्याश्रयी संवाद-धर्मी सम्बन्ध ही अपेक्षित होगा । चूंकि यह भली भाँति स्पष्ट है कि प्रस्तुत शोध-क्षेत्र को सारे आधार-परक विवेचन-विश्लेषण के बावजूद अंतत: साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र ही होना है, अतएव उपयुक्त अवसर पर रचनाओं का पाठ [Text] ही अपने सर्वांगीण संदर्भों में, घटकों, तत्वों, श्रेणियों आदि के निर्धारण में ; यदि आवश्यकता हुई तो ; निर्णायक भूमिका निभायेगा ।[3]

पृष्ठभूमि-परक विवेचन की आधार-भूमि :

हिंदी वाम कविता की पृष्ठभूमि के विवेचन में कई जटिल समस्याएं हैं । काल-निर्धारण सामाजिक-राजनीतिक आर्थिक आदि के साथ विशेषत: साहित्यिक विश्लेषण और कविता" के लिए अनिवार्य "चेतना" के भारतीय परिप्रेक्ष्य में वाम-रूपांतरण की गाथा -- इन सबका द्वंद्वात्मक विवेचन उस स्थिति में कतई आसान नहीं है, जब इन विषयों में "प्रदत्त विवेचन" हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता ।

सब से पहले हिंदी वाम कविता के सम्बन्ध में काल निर्धारण की समस्या है । हमने वाम कविता की परिभाषा के संबंध में विवेचन करते समय उसकी राजनीतिक प्रतिरोधात्मकता पर बल दिया

---

3. वस्तुत: द्वंद्वात्मक आलोचना के लिए पूर्व-नियत श्रेणियां हो ही नहीं सकती क्योंकि -- प्रेरक जेम्सन के अनुसार कलाकृति या तो अपने आंतरिक तर्क ; निश्चित ही बाहरी वास्तविकताओं" द्वारा निर्धारित ; का परिणाम होती है या फिर अपने "कथ्य" का विकास होती है । द्वंद्वात्मकता का तकाजा यह होगा कि उस कलाकृति की अपनी श्रेणियों और मानों को ढूंढा जाय । - Marxism and Form - Fredric Jameson - P 333.

था । यदि राजनीति - सम्बन्धी इस शर्त को हटा दिया जाय तो वाम-कविता की परम्परा न्यूनाधिक रूप से, आदिकाव्य से आरंभ हो जाती है । "वाम" -चेतना, किसी न किसी अंश में, प्रत्येक कविता, प्रत्येक कलाकृति में निहित होगी । बोध का अपना स्वभाव ही जब द्वंद्वात्मक नहीं होगी । ऐसा अमूर्तन अथवा सरलीकरण, किसी भी विवेचन को कहीं नहीं पहुंचा सकता । इस प्रकार तो प्रत्येक "दक्षिण-विचार" का मूल "वाम" सिद्ध किया जा सकता है । हम बल-पूर्वक "वाम" को दक्षिण के विपरीत -- उसकी प्रतिरोधात्मकता में ही स्थित देखने की बात कर चुके हैं । युग के मुख्य अंतर्विरोध के संदर्भ में "तंत्र" का "दक्षिण-धर्म के प्रति प्रतिरोध भी लक्षित किया जा चुका है । ऐसा कब हुआ कि युग का मुख्य अंतर्विरोध अनिवार्यत: राजनीतिक या राजनीति-संपृक्त हुआ हो ? निश्चित ही वाम कविता का प्रस्थान बिंदु भी इस तथ्य के आलोक में ही निश्चित हो पायेगा । दूसरे शब्दों में, जब कविता उस अंतर्विरोध की राजनीतिकता से अपनी जीवन-ऊर्जा प्राप्त करने लगी हो ।

यहीं, इस बहस से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा होगा कि क्या हम "इतिहास" को एक नैरंतर्य के रूप में देखते हैं ? क्या "वाम" कविता की पृष्ठभूमि में एक नैरंतर्य को देखा जा सकता है ? इस प्रसंग में एक वस्तु-निष्ठ ढंग का वैज्ञानिक चरित्र से युक्त निष्कर्ष तो यह होगा कि "नैरंतर्य" एक प्रत्यय है, और "घटनाओं" में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् उनमें सम्बन्ध देखा जाता है अथवा उन पर आरोपित किया जाता है ।[4]

---

4. निकोलस मेकलेक के अनुसार तो प्रतिज्ञप्तियों [propositions] में ही जुड़ाव होता है न कि घटनाओं में -- " can there be neither connection between successive events ?"
—The British Journal for the philosophy of Science." Vol. 19 — P. No 1.

काल हो या इतिहास - वे मनुष्य की सापेक्षता में ही है और निश्चित ही एक प्रत्यय-रूप में। उनमें नैरंतर्य होता है या नहीं -- यह प्रश्न अपने में ही भाववादी बीज लिये हुए है। इतिहास चिंतन में नियतिवाद का प्रवेश ऐसे प्रश्नों के उत्तर ढूंढने में हुए भटकाव के कारण ही हो पाता है। "इतिहास" होता नहीं है, बनता है, बनाया जाता है। सार्त्र के इस बलाघात पूर्वक कहे गये कथन में पर्याप्त औचित्य है कि इतिहास में हुए व्यक्तियों के बीच में आवश्यक रूप से क्रमभंगता मिलती है। इसे सार्त्र ने एक आवश्यक अस्तित्ववादी तथ्य कहा है। उसके अनुसार उससे मार्क्सवाद तो कतई नहीं कहा जा सकता कि जो इतिहास में "मानव-निरपेक्ष नैरंतर्य" देखता है। यह छद्म मार्क्सवाद है। यदि निरंतरता कहीं है तो वह इतिहास-कार के मस्तिष्क में है। उसके लिए आवश्यक भी है क्योंकि वह शताब्दियों पर विचार करने में बिना नैरंतर्य की अवधारणा के, चाहे शुद्ध काल्पनिक ही क्यों न हो -- अपने को असमर्थ पाता है।[5] सार्त्र ने यहां यह विचार नहीं किया कि यथार्थ को यों भी बिना "प्रत्यय" में बदले या उसी के शब्दों में "घटाकर" [To reduce] कैसे देखा जा सकता है। यह अवश्य है कि उस "प्रत्यय" को उसकी सीमाओं में अर्थात् यथार्थ को समझने की एक साधन के रूप में ही देखा

---

5. Marxism and Form - Fredric Jameson p 219
घटाववाद [Reductionism] के खतरे व्यापक रूप से प्रभावकारी होते हैं। वस्तुतः यह एक ऐसी भाववादी दृष्टि का परिणाम होते हैं, जो भावुकता और आवेगात्मकता से परिचालित होती हैं। "इतिहास स्वयं ही निर्णय करेगा अथवा इतिहास मुझे माफ कर देगा (पिछेलकारद्रो) या "समय स्वयं एक चिकित्सक है" आदि कथन उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। ऐसे कथनों की तात्कालिक प्रभाव-गामिता या व्यावहारिकता असंदिग्ध है। सोचा यह जाना चाहिए कि ये किसी जीवन-दर्शन सम्बन्धी चिंतन के आधार नहीं हो सकते।

जाना चाहिए । यदि ऐसा नहीं होता है तो हम उसी भाववाद के शिकार हो जायेंगे, जो कठमुल्ला मार्क्सवाद के मुखौटे को पहनकर आता है और "इतिहास" की अपनी गति और अपने तर्क को एक "भाग्यचक्र" की तरह प्रचारित-प्रसारित करता है ।"[6]

---

6. इतिहास को "मानवीय आचार" [Human praxis] से काट कर देखने की आलोचना कई मार्क्सवादी विद्वानों ने की है । हमने भी "आचार" और "यूटोपिया" सम्बन्धी विवेचन में "कर्म" पर ही ज़ोर दिया था । "भविष्य" अपने आप नहीं आता, अपने आप में वह कुछ होता भी नहीं । गोरान थेरबार्न [Goran Therborn] ने आर्थिक राजनीतिक धरातल पर विवेचन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मात्र आदर्शों, आशाओं और स्वप्नों से "समाजवाद" की ओर नहीं चल जा सकता यद्यपि वे भी आवश्यक होते हैं ।— "It will have to be based on the realities of the past and present, and will be as full of contradictions, errors and surprises as all the rest of human history. Reasons can be and should be, drawn from the past and the present, but neither can be remade or abolished by the powers of thought."

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में भी सम्पूर्ण बल आघात "आचार" पर ही दिया गया है । भविष्य आता नहीं है, उसके रंग-स्वरूप से लेकर आगमन तक के मूल में मानव-कर्म होता है । भविष्य के बारे में कुछ भी लिखना एक भ्रामक कारवाई है, उसे तो साक्षात् करना पड़ता है ।— "xxx The history of the future can be written it has to be made."— "what does the ruling class do when it rules"— P.No 272 and 28

मानव-कर्म निश्चित ही प्रदत्त पदार्थ का "नकार" है दूसरे शब्दों में "नकार का नकार" सिद्धांत को प्रमाणित करता है । वाम सौंदर्यशास्त्र में प्रयुक्त होनेवाली इतिहास-दृष्टि को अनिवार्यत: मानव कर्म अथवा मानव आचार तथा उससे सम्बन्धित गतिविधियों पर केन्द्रित होना है । उपभोग और संतोष पर उसे स्वयं को केन्द्रित नहीं करना है । इसी तथ्य को हम अधिक स्पष्ट तौर पर इस प्रकार कह सकते हैं कि इतिहास चूंकि "काल" ही होता है ।[7] इसलिए इतिहास-बोध और काल-बोध परस्पर जुड़े होते हैं । स्थायित्व और नैरंतर्य एक भ्रांति है, क्योंकि इन प्रत्ययों में काल और इतिहास के प्रति "मानव-निरपेक्षता" की अर्थ-ध्वनि प्राप्त होती है । यहीं "वाम" इतिहास-दृष्टि का दक्षिण इतिहास-दृष्टि से अंतर स्पष्ट हो जाता है । "स्थायित्व" तथा "नैरंतर्य" का मानव-आचार से अलग-थलग एक नियतिवाद से सम्बन्ध होता है । इन प्रत्ययों की तुलना में यदि "परिवर्तन" और "संघर्ष" जैसे प्रत्ययों को सम्मुख रखें तो "भ्रांति" और "यथार्थ" का अंतर स्पष्ट हो जायेगा "वाम" दृष्टि में निहित इतिहास-बोध के लिए "स्थायित्व और नैरंतर्य" का स्वरूप सन्दर्भत: भाववादी अथवा "दक्षिण" होता है । हमने प्रक्रिया पर बल दिया है । इतिहास पर विचार करता हुआ विचारक अनिवार्यत: अपनी इतिहास-दृष्टि से परिचालित होगा । लेवीस्त्रासने इसीलिए बल देकर कहा है कि ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए पक्ष ग्रहण करना ही पड़ता है ।[8]

---

7. "History is time." — marxism and form — Fredric Jameson p. 265

8. Ibid — p. No 263.

"प्रक्रिया" को अनिवार्यत: मानव-कर्म की सापेक्षता में ही संभव होना है । यहां प्रश्न यह है कि हिन्दी कविता के संदर्भ में कवि की काल की सापेक्षता को कैसे देखा जायेगा ?

इस प्रसंग में जो प्रदत्त विवेचन हमें प्राप्त होता है वह कई निष्कर्षों को सामने रखता है । पूर्व-उद्धृत लेवी स्त्रास की उक्ति के स्मर के सहारे हम यह कह सकते हैं कि अपने-अपने पक्ष-ग्रहण के आधार पर विद्वानों ने उन निष्कर्षों को प्राप्त किया है । यहां हमारा पक्ष स्पष्ट रूप से उजागर है । हम "वाम" दृष्टि से युक्त इतिहास दर्शन के पक्षपाती हैं । संघर्ष और उससे जुड़े परिवर्तन ही हमारे विवेचन के आधार रहेंगे ।

यदि "वाम" कविता के प्रस्थान बिंदु किसी भी काल खण्ड से स्पष्टत: दिखायी पड़ने लगे तो इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि वह उसी समय धरातल पर अवतीर्ण हुई थी ।[9] प्राय: हिंदी

---

9. "Hegel taught that wherever something new becomes visible, immediate, striking, authentic, a long process of formation has preceded it and it has now nearly thrown off its shell. only that which has been nourished with the life blood of the creation can possibly have the power to confront it authentically."

"हेगेल का यह उद्धरण अडोर्नो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'prisms' में उद्धृत किया है । पृ. 155 । किसी नयी प्रवृत्ति के अपने "नये पन" के आधार पर परम्परा से जुड़ने और जूझने की द्वंद्वात्मकता इसमें भलीभांति स्पष्ट हो जाती है ।

क्षेत्र के विद्वानों ने इस पर विस्मय प्रकट किया है कि बीसवीं शती के चौथे दशक पर ही अधिक बल क्यों दिया जाता है ? ऐसा संभवत: इसीलिए हुआ है कि उक्त दशक हिंदी कविता के संघर्ष का एक ऐसा समय है, जब विचारधारा परक जगत इतने रूपों में बँटा हुआ दिखता है कि एक मूल्य-शून्यता की स्थिति पहली बार उजागर होती है ।[10] सन् 31 से 36 तक का समय कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रतीत होता है । प्रस्तुत संदर्भ में हम यह स्पष्ट तौर पर कहना चाहेंगे कि "बाम" कविता के लिए हमने सन् 1936 को ही प्रस्थान बिंदु माना है । अपनी इस मान्यता के आधारों को हम पृष्ठभूमि सम्बन्धी अपने अध्ययन के पश्चात ही प्रस्तुत करना चाहेंगे । सन् 1936 की पृष्ठभूमि में हमें "उथल-पुथल" भरी एक पूरी शताब्दी प्राप्त होती है । हमें मात्र कालगत पृष्ठभूमि ही नहीं देखनी है बल्कि भारतीय चेतना से उसके द्वंद्वात्मक सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए "आचार" (= प्रेक्सीस) को रेखांकित करना है । निश्चित ही यहाँ "आचार" का अर्थ मुख्यत: कविता होगा । यों भी हमने बाम कविता को आचार

---

10. मुक्तिबोध के लेखन और विचारों पर केन्द्रित एक गोष्ठी में डॉ० सुरेन्द्र चौधरी ने यह चर्चा शुरू की थी । उनकी बात को आगे बढ़ाते हुए मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने भी कहा- "सन् 30 से 40 के बीच में यथार्थ का जो नया अंकुरण काव्य-क्षेत्र में नए प्रयोगों के साथ, रचनाशीलता के आगे नयी चुनौती उपस्थित करता हुआ आया, उस सारी समस्या में गये बिना आप हिंदी काव्य परम्परा के नये जनवादी स्वर को नहीं समझ सकते ।" देखें - मुक्तिबोध विशेषांक पृ० 121 और 129

अथवा आचरण की कविता [poetry of praxis] कहा है। उस आचरण को प्रभावित और निर्धारित करनेवाली संस्थाओं को भी ठेठ भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखना है।

सर्व प्रथम हम वैचारिक पृष्ठभूमि को सारांशत: देखना चाहेंगे सन् १९३६ से पूर्व सन् १९२२ एक महत्वपूर्ण वर्ष था क्योंकि उसी वर्ष महात्मा गांधी ने चौरी चौरा काण्ड से क्षुब्ध होकर सत्याग्रह आंदोलन को वापस लेने की घोषणा की थी।[11]

---

११. सन् १९१६ के प्रसिद्ध लखनऊ अधिवेशन के आसपास ही गांधी जी स्वदेश लौटे थे। "गरम दल" और "नरम दल" में समझौता हो चुका था। मुस्लिम लीग भी साथ आ गयी थी। यह बद जबरदस्ती एवंता रौलट बिल के विरुद्ध देशव्यापी आंदोलन को कारगर बनाने में सहायक हुई। उस काल में जन-असंतोष की यह २ शांतिपूर्ण आंदोलन के आह्वान पर हजारों-लाखों व्यक्ति स्वयं-स्फूर्त ऊर्जा से, संपन्न हो, खड़े हो जाते थे उसकी प्रतिक्रिया में शासन की क्रूरता के प्रदर्शन जलियांवाला बाग की घटना में हुआ। और तभी सन् १९२२ में चौरी चौरा काण्ड हुआ। यों तो गांधी जी जनता के निरंकुश हो जाने के भय से पहले ही बेचैन थे किंतु चौरी चौरा काण्ड के बाद उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर देने का फैसला लिया। इससे पहले "मलबार" में भी ऐसी ही या इससे मिलती-जुलती घटनाएं घट चुकी थीं। उन्होंने लिखा -- "मलबार से चेतावनी मिली थी, लेकिन मैंने उस पर ध्यान न दिया। आखिर भगवान ने चौरी-चौरा में अपना संदेश स्पष्ट कर दिया।" (गांधी जी और उनका वाद-ई.एम.एस. नम्बुद्रिपाद पृ.32) यद्यपि पुलिस द्वारा बुरी तरह उकसाने के फलस्वरूप ही भीड हिंसक हुई थी।

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में सन् 1922 को हम इसलिए महत्वपूर्ण मान रहे हैं कि यह भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम और प्रकारांतर से भारतीय जीवन की पहली दरार थी । भारतीय चेतना के प्रसंग में "यह पहली दरार" पश्चातवर्ती जटिल स्थितियों को समझने में सहायता कर सकती है । "मोहभंग" जैसा शब्द साहित्य चर्चा के केन्द्र में बहुत बाद में आया किंतु उसके बोध का सूत्रपात तभी हुआ ।" 'सभी स्तंभित रह गये'। मोतीलाल नेहरू ने कहा कि कन्याकुमारी में अगर कोई गांव अहिंसा का पालन करने से चूक जाता है तो उसके लिए हिमालय की तलहटी में बसे गांव को सज़ा क्यों दी जाय ।"12

विस्तार में गये बिना ही हम यह निष्कर्षतः कहना चाहेंगे कि सन् 22 के बाद ही एक "अनिश्चय" का दौर शुरू होता है । "अनिश्चय" भावना व्यक्ति-स्तर पर हो या राष्ट्र स्तर पर - थकाती है और पराजय-बोध से ग्रस्त कर देती है ।

---

12. 'गांधी जी और उनका बाद - ई.एम.एस.नम्बुद्रिपाद पृ. 33 पर उद्धृत ।
इसी काण्ड के बाद यह बुनियादी प्रश्न उठा था कि संघर्ष का रास्ता । कौन सा होगा ? गांधी जी ने "अहिंसा" का रास्ता अपनाने पर बल दिया जबकि मोह भंग से स्तंभित हो गये लोगों ने "हिंसक की हिंसा के खिलाफ हिंसा" का रास्ता अपनाया। "हिंसप्रस" जैसी सशस्त्र संग्राम में विश्वास रखनेवाली क्रांतिकारी संस्था के गठन में इस "मोह भंग" की भी अपनी खासी भूमिका थी ।

संक्षेपत: 1922 के इस विघटनकारी महत्व को हम और बलाघात पूर्वक प्रस्तुत कर सकते हैं, यदि उससे पूर्व की स्थितियों पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लें। सन् 1828 से 1856 तक के काल को यूरोपीय पुनर्जागरण काल के वजन पर भारत का आधुनिक रिनैसां कह गया। इस युग से प्रमुखत: राजा राम मोहनराय का नाम जुड़ता है।[13]

सन् 1857 का प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम स्पष्टत: एक नयी चेतना के "सूत्रपात का संकेत करता है। कई विचारक गण तो सन् 1857 से 1947 तक के समय को "वर्तमान काल" कहना ही उचित समझते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह लम्बे वर्षों का काल-खण्ड राजनीतिक प्रभावगामिता की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसी काल-खण्ड में दो विश्व-युद्ध, उपनिवेशवादी मण्डियों का उदय, अंतर्राष्ट्रीय विश्व रंगमंच पर फासीवाद तथा समाजवाद जैसी

---

13. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण - रमेशकुंतल मेघ - पृ. 73. इस काल की विशेषता प्रमुखत: उदार विचारों का प्रसार प्रचार थी। मूर्ति पूजा विरोध, वर्ण-व्यवस्था विरोध धार्मिक समानता, सामाजिक समानता, बौद्धिक संदेहवाद और नव-ज्ञानवाद ही इस काल के प्रमुख तत्व थे। कहना न होगा कि सन् 1857 के आस पास प्राप्त होनेवाली काव्य-रचनाओं में जिस तरह की उग्र सुधारवादी प्रवृत्ति प्राप्त होती है, उसकी मनोभूमि इस काल-खण्ड की वैचारिक उथल पुथल से ही निर्मित हुई थी।

विचारधाराओं का उभार आदि बड़ी घटनाएं हुई, जिन्होंने भारतीय स्थितियों पर गहरा और निर्णायक प्रभाव डाला ।[14] सन् 1857 का स्वातंत्र्य संग्राम इस आत्म-बोध की उपलब्धि थी कि हमारा राष्ट्र विश्व-साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी व्यवस्था का शिकार है ।

हमारे शोध-प्रसंग की सीमा में यह बहस कतई नहीं आती कि 1828 अथवा 1757 से 1857 तक के समय को पुनरुत्थान युग कहना

---

14. वही - पृ. 73

उक्त काल-खण्ड में ही, ब्रिटिश शासन के समय भीषण अकाल पड़ा। उसका महत्त्व इस नाते है कि भारतीयों को अपनी दुरावस्था के तीखा बोध हुआ । रामविलास शर्मा ने उस अकाल के संदर्भ में, यद्यपि पर्याप्त बाद बीतने के पश्चात् लिखी गयी एक रचना को उद्धृत किया है, जिसकी प्रारंभिक पंक्तियां ही उस चेतना के बदलाव को स्पष्ट करती है । -- पंक्तियां हैं --

"डफ बाज्यो भरत भिखारी को ।
केसर रंग गुलाल भूलि गयो
कोउ पूछत नहीं पिचकारी को ।। आदि ।।

रामविलास जी की टिप्पणी है -- "x x x इन पंक्तियों में वह आग है, जनता के महाकष्ट का वह यथार्थ अनुभव है जो इसके पहले बहुत कम कवियों में आ पाया था । x x x उस "डफ" शब्द में एक नवीन क्रांतिकारी चेतना का आह्वान है ।"
भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा विकास की परम्परा-
पृ. ।।

उचित है या अनुचित । नामकरण से परे हम यह स्पष्टत: पाते हैं कि "चेतना" में एक ऐसा स्पष्ट परिवर्तन हो रहा था, जो अपने "राजनीतिक वर्तमान" में भागीदारी करने की ओर उन्मुख थी । काव्य पंक्तियों से भी इसे समर्थित किया जा सकता है ।[15] स्वयं को उत्पीड़ित अनुभव करने से भारतीय चेतना के वाम स्थांतरण की प्रक्रिया आरंभ होती है ।

स्वयं को उत्पीड़ित समझना वस्तुत: उत्पीड़क की दृष्टि को स्वयं पर आरोपित करना होता है । क्रांति की दिशा में यह पहला कदम कहा जायेगा । इस स्थिति में उत्पीड़ित सिवाय उत्पीड़क की दृष्टि के प्रतिबिम्ब के और कुछ नहीं होता । फिर कालांतर में भारतीय जन ने उत्पीड़क और उसकी दृष्टि के विरुद्ध विद्रोह किया । इसी

---

15. मुक्तिबोध पर आयोजित संगोष्ठी के लिए तैयार किये गये अपने एक लेख में कवि शील ने इस तरह की काव्य पंक्तियां उद्धृत की हैं । राजस्थानी, मराठी और बंगला कवियों पर भी 1857 के "स्वातंत्र्य-संग्राम ने अपना प्रभाव डाला था । यहां तक कि उक्त संग्राम के अवसर पर दिल्ली की सेना के एक सिपाही शायर ने ऐसा राष्ट्रगीत लिखा था, जिसके आधार पर कालांतर में इक्बाल ने "सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" लिखा था । उस सिपाही की रचना की पंक्तियां हैं -- "हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा "
पाक वतन है कौम का जन्नत से भी प्यारा ।"
निश्चित ही भारतेन्दु हरिश्चंद्र को विरासत में यह धारा मिली थी ।"
कंक, मुक्तिबोध विशेषांक - पृ. 247.

उपक्रम में उसे "आत्म-गौरव का भान हुआ । इसी प्रसंग में वह अतीत के वैभव को नये सिरे से स्मरण करने लगा। तीसरा चरण स्पष्टत: सशस्त्र संघर्ष का था ।[16] और वह साकार हो, इससे पूर्व ही भारतीय कांग्रेस जैसे राजनीतिक दल तथा उसमें महात्मा गांधी जैसे प्रभावी नेता के आविर्भाव ने उस प्रक्रिया को कुछ यों स्थगित कर दिया कि आज भी यह उप महाद्वीप क्रांति के तीसरे चरण की प्रतीक्षा कर रहा है ।

चेतना-सम्बन्धी हमारी प्रस्तावित विवेचना के लिए अंग्रेजी शासन के दौरान नगरों और ग्रामों में अनेक सामाजिक वर्गों का उदय भी महत्वपूर्ण है । उन वर्गों को उच्च मध्यम तथा निम्न के स्तरों में बांटा जा सकता है ।[17]

---

16. फैनान ने संवेदन-हीन बना दिये गये उत्पीड़ित जनों के लड़ाकू क्रांतिकारी बनने के बीच में तीन सोपान बताये हैं । तीसरे सोपान अर्थात् संघर्षों के द्वारा फौलाद बन चुके मनुष्य ही गारण्टी होते हैं कि संघर्ष सही रास्ते पर चलेगा । ऐसे लड़ाकू लोग फिर कपटी नेताओं, अवसरवादियों अथवा जादूगरों द्वारा मूर्ख नहीं नहीं बनाये जा सकते, जो न्याय का मात्र आश्वासन देते रहते हैं, उसे पूरा कभी नहीं करते । आधुनिकता और आधुनिकीकरण - पृ० 150 पर उद्धृत

17. इससे पहले भारत में वर्ण और जातियां ही थीं । यह विवादास्पद है कि वर्ण और वर्ग के बीच के सम्बद्ध को कैसा समझा जाय ? या क्या कोई सम्बन्ध है भी ? हमारा पक्ष इसी अध्याय के अंतर्गत आगे प्रस्तुत किया जायगा ।

कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता-संग्राम में इन तीनों वर्गों ने अपनी-अपनी भूमिका निभायी । निश्चित ही उनकी भूमिका उनके वर्ग-हितों पर आधारित थी । निम्न वर्ग में स्पष्ट राजनीतिक चेतना का अभाव था किंतु उसकी दृष्टि निस्वार्थ होने के कारण उसमें एक व्यापक भावना थी । उच्च-वर्गों ने अपने न्यस्त स्वार्थों को अपना लक्ष्य रखा । स्वतंत्रता संग्राम के भड़कावों को भी उसने अपने वर्ग-हितों को ध्यान में रखकर ही संभव किया । मध्यवर्ग भले ही प्राय: नेतृत्व का जिम्मा संभालता है किंतु अपने दुलमुल चरित्र के कारण निर्णायक अवसरों पर दुर्बलता प्रदर्शित करता है और अंततोगत्वा उच्च वर्ग के स्वार्थों को पूरा करने का साधन बनता है । किंतु उस सांस्कृतिक काल खण्ड में पहली बार वर्ग-विषमता की अनुभूति संभव हुई,[18] जो परवर्ती भारतीय चेतना को ढालने में अपना निर्णायक महत्व रखती है ।

कतिपय राजनीतिक घटनाओं के उल्लेख के साथ किया गया उपर्युक्त विवेचन प्रस्तुत शोध प्रसंग में मात्र भारतीय चेतना के अपने "काल" में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति की बढ़ोत्तरी सूचित करने के लिए था । चूंकि हमने आधोपरांत संश्लिष्ट शैली अपनानी चाही है, अतएव साहित्य-आलोचकों द्वारा किये गये काल विभाजनों और और नामकरणों को आधार बनाकर विवेचन करने का प्रयास ही हमने नहीं किया । यदि वृथा काल-खण्ड करने के फेर में न पड़े तो भारतेन्दु से १९५० तक एक ही साहित्यिक युग दिखायी देता है ।

---

१८. नया हिंदी काव्य - डॉ० शिवकुमार मिश्र
पृ. ११०-१११.

हम साहित्यिक पृष्ठभूमि का अलग से विवेचन करने के बजाय "चेतना-गत" पृष्ठभूमि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहेंगे ।

"चेतना" को राजनीतिक - सामाजिक - साहित्यिक के साथ मिलाकर देखते हुए हम उसके भारतीय परिप्रेक्ष्य में "वाम" होते जाने की प्रक्रिया को रेखांकित करेंगे । उपर्युक्त विवेचन हमें यथोचित आधार प्रदान कर चुका है ।

भारतीय चेतना के वाम-रूपांतरण की भूमिका :

चेतना कोई निर्मिती नहीं है क्योंकि मनुष्य एक "प्रक्रिया" है । प्रस्तुत शोध प्रसंग की पदावली में, जब "मनुष्य" एक होता हुआ मनुष्य [Becoming human] ही है तो उसकी चेतना के लिए भी यही सच है कि वह होते हुई चेतना [Becoming consciousness] है । मार्क्स की यह उक्ति हमने बहुधा उद्धृत की है कि "सामाजिक स्थिति ही चेतना को निर्धारित करती है ।" अपने राजनीतिक वर्तमान में बिना किसी भागीदारी अथवा हस्तक्षेप के मात्र "रहते" हुए भारतीयों की चेतना सामान्यत: प्रतिरोध-विमुख ही रही । वर्ण-व्यवस्था ने उत्पादन सम्बन्धों को न्यूनाधिक रूप से जिस प्रकार निर्धारित कर दिया था, वे वैसे ही बने हुए थे ।

§।§ वर्ग बनाम वर्ण :

रामशरण शर्मा ने बताया है कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुत: उत्पादन और वितरण की एक ऐसी प्रणाली थी, जिसमें उत्पादन के

फलों का बंटवारा समान रूप से नहीं होता था ।[19] कालांतर में वर्गों के उदय के पीछे निश्चित ही उत्पादन के साधनों के इस असमान बंटवारे पर आधारित प्रणाली की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी । वर्गों को हम इसी असमान बंटवारे के आधार पर समझते हैं और तब निश्चित ही प्राचीनकाल के "वर्ण" और वर्ग (जैसा आज हम समझते हैं) लगभग एक ही थे ।

वर्ण और वर्ग की समस्या बड़ी ही जटिल है । यदि हम थोड़ी देर के लिए "वर्ण" को हटाकर मात्र "वर्ग" को ही चिन्तन का विषय बनायें और फिर उसकी सापेक्षता में "वर्ण" को रखें तो संभवत: किसी सार्थक निष्कर्ष पर पहुंच पायेंगे ।

सबसे पहले तो यह कि "वर्ग" जिस अंग्रेजी शब्द [class] का अनुवाद है, वर्ग-सम्बन्धी चिंतन में वह किस अर्थ में प्रयुक्त होता है ? यह क्षेत्र मार्क्सवाद का है । कार्ल पॉपर [Karl Popper] ने इस सम्बन्ध में एक रहस्य उद्घाटित किया है । उनके अनुसार मार्क्स ने जो जर्मन शब्द लिखा था, वह अनुवाद में 'class' के रूप में आकर पूरी तरह से अर्थ भ्रष्ट हो गया । पॉपर के अनुसार उस जर्मन शब्द का शाब्दिक अनुवाद होगा Self consciousness अर्थात् आत्मचेतन । जर्मन भाषा के सामान्य व्यवहार में उस का अर्थ होता है, "conscious of one's worth and powers = of being proude and fully assured of one self and even selfsectio fical".
पॉपर के अनुसार अनुवादकों ने मात्र शाब्दिक अनुवाद करके मार्क्स के

---

19. कथन - मई-जून, 1982.

अभिप्रेत के प्रति अन्याय किया ।[20] पॉपर की मार्क्सवाद-विरोधी स्थिति के बावजूद वर्ग-सम्बन्धी विमर्श के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण है । एक और महत्वपूर्ण आपत्ति मारिस गोडलियर [Maurice Godelier] की है । पहले तो वे व्यंग्यात्मक शैली में यह याद दिलाना आवश्यक समझते हैं कि वर्गों पर बात करने से पूर्व यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कभी वर्ग-विहीन समाज भी थे । मानव के इस धरती पर पदार्पण करने के साथ ही वर्गों से जोड़ देना कई भ्रामक निष्कर्षों तक पहुंचायेगा । उनके अनुसार "यह विरोधाभास ही है कि वर्गों का वैधानिक जन्म वर्ग-विहीन समाजों में ही हुआ है ।"[21] फिर वे सामंतकालीन

---

20. (अ) 'open society and it's enemy' — part-two - p.No. 115.
कार्ल पॉपर ने यहां अपनी तीखी शैली में यह भी जोड़ा है कि "वर्ग-चेतना" [class-conscious] होने के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्ति मार्क्सवादी हो क्योंकि ये सारे सूत्र मार्क्सवाद के ही हैं । वस्तुतः पॉपर बीसवी शती के उन विश्व-विश्रुत विद्वानों में से एक है जो निरपेक्ष विज्ञानवाद पर भरोसा रखते हैं । उनकी तथा-कथित वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता उन्हें "परिवर्तन" "संघर्ष" "क्रांति" आदि के प्रति शंकालु, यहां तक कि विरोधी ही बना डालती है ।
(आ) किंतु यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मार्क्स के समय में ही उनकी कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ था और अंग्रेजी भाषा के अच्छे जानकार होने के बावजूद मार्क्स ने इस अनुवाद पर कोई आपत्ति नहीं की ।

21. — "xxx the paradox that classes have only been born legitimately in societies without classes."
— New left review. — ~~p.112~~
112 Nov. Dec. 1978. pp.

समाजों के प्रसंग में मार्क्सीय-विवेचन की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार मार्क्स ने "वर्ग" और पद श्रेणी order या [estate] § राजनीतिक प्रभाव-मुक्त सामंत § में भेद किया है। "वर्ग" अंतत: एक सामाजिक समूह है, जिसे उसके उत्पादन-साधनों के साथ सम्बन्ध में ही परिभाषित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में प्राचीन सामंती समाजों में मिलनेवाले दरबारी पदों से युक्त सामंतों के बारे में क्या कहा जायेगा ? गोडलियर के अनुसार पूंजीवाद ने सामाजिक सम्बन्धों की पहचान को सरल बना दिया है। जब व्यक्ति की स्थिति को आर्थिक कसौटी पर सुविधानुसार कसा जा सके तो उलझन की संभावना कम ही बचती है। पद-श्रेणियों के पीछे छिपे वर्गों को कैसे देखा जाय ? क्या मार्क्स ने पद-श्रेणियों और वर्गों को एक ही माना है ? वस्तुत: मार्क्स का अभिप्राय था कि उन सामाजिक विभेदों के कारणों की व्याख्या उनकी भौतिक बुनियाद [Material base] उत्पादन-सम्बन्धों और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से जुड़े सम्बन्धों के दमनकारी चरित्र को ध्यान में रखकर होनी चाहिए।[22]

उपर्युक्त विवेचन से "वर्ग" की परिभाषा निर्धारण की कठिनाइयों सामने आती है। फिर सार्त्र और हर्बर्ट मारक्यूज जैसे विचारक भी हैं, जो "वर्ग" के प्रत्यय पर अपनी चिंतना से कतिपय नये निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। सार्त्र ने इतिहास-लेखन पर विचार

---

22. Ibid p.95 — भारत के संदर्भ में यह स्थिति और भी विशिष्ट रूप में है। वर्ग-व्यवस्था ने यहां की सामंती व्यवस्था को एक अलग ही रूप दे दिया था। फिर दरबारी पदों के आबण्टन में शासक की इच्छा और सनक भी अपनी भूमिका निभाती थी।

करते हुए "काल" को आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सोचे जाने की बात कही है । "भविष्य" को इस प्रकार सोचते हुए ही मार्क्स ने यूटोपिया को वास्तविक इतिहास का आरंभ माना है और हमारे "इतिहास" को "प्राक-इतिहास" कहा है । [23] सार्त्र के अनुसार मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की दो शैलियाँ हो सकती हैं । एक तो आत्म-निष्ठता वादी शैली, जिसके अंतर्गत वर्ग-संघर्ष को आधार बनाया जायेगा । दूसरी वस्तु-निष्ठतावादी शैली, जिसके अंतर्गत आर्थिक उत्पादन-तरीकों के विकास का आधार अपनाया जायेगा । किंतु "वर्ग" का प्रत्येक फिर भी समस्या गर्भी रह जायेगा । उसके बारे में चर्चा करते हुए यह ध्यान में रखना ही होगा कि यह (वर्ग)

---

23. Marxism and Form – Fredric Jameson. p. 274.

वस्तुत: मार्क्स और सार्त्र के मनुष्य विषयक चिंतन में अद्भुत समानता मिलती है । पदावली का भेद कई बार सतही प्रतीत होता है । उदाहरण के लिए सार्त्र ने मनुष्य को आवश्यकता [Need] माना है । इस प्रकार चेतना "सत्ता का अभाव" [Lack of Being] अर्थात् अनस्तित्व [Nothingness] होगी । यहाँ याद करना आवश्यक है कि सार्त्र ने "चेतना" और "आचार" में अभेद किया था । मार्क्स ने स्वयं को "विषय" [object] के रूप में जानने में निहित गतिशील प्रक्रिया पर बल दिया था, क्योंकि मनुष्य को आवश्यकता [Need] होती है कि जीने के लिए वह दूसरे विषयों [objects] को जाने और "इस तरह उसकी (व्यक्ति की) सत्ता उसके "स्वयं" से बाहर होती है।"

पृ॰300 पर उद्धृत । इस विवेचन के परिप्रेक्ष्य में सार्त्र की विचार सरणी इतिहास और वर्ग के प्रसंग में अधिक उजागर होती है ।

एक ऐसी जन-संख्या है, जो आर्थिक कर्म के आधार पर परस्पर जुड़ती है किंतु जो यंत्र-विषयक जानकारी तथा उत्पादन प्रक्रियाओं को पुनः मानवीय अंतर्सम्बन्धों के रूप में देखने के लिए सहायता भी करती है।[24] यहाँ हमारे शोध-प्रसंग के लिए यह जानना आवश्यक है कि सार्त्र के लिए वर्ग-सम्बन्धन [class - affiliation] प्रदत्त नहीं होता, बल्कि उसे सीखा जाता है और सिखानेवाली संस्था "परिवार" होती है तथा व्यक्ति का बचपन ही उसका शिक्षण काल होता है। एक प्रकार से व्यक्ति के लिए वर्ग-सम्बन्ध[1] जैसे पुनराविष्कृत होता है।[25] इस प्रकार "वर्ग" समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति द्वारा सीखा हुआ पाठ होता है। प्रस्तुत शोध प्रसंग के अद्यतन, विवेचन में हमने कई बार "बोध" और "चिंता" की बनावट और बुनावट में, एक सामाजिक-संस्था के रूप में "परिवार" की भूमिका पर बल दिया था और यहाँ हम कह सकते हैं कि "बोध" की प्रक्रियात्मक आधार भूमि को जिस प्रकार सौंदर्य-बोध नहीं नकार सकता, उसी प्रकार वर्ग-बोध भी। पौपर की बात यदि सही हो तो आत्म-गौरव भी "वर्ग" के साथ जुड़ जायेगा और तब हम अपने पूर्व-कथित कथन को फिर

---

24. — "thus history can be written either subjetively, as the history of class struggel, ~~as to~~ or objectively as the development of the economic modes of production and their ~~evolu~~ evolution from their own internal contradictions: these two formulae are the same and any statement in one can without loss of meaning be translated into the others."

वर्ग को सार्त्र ने इन दोनों तरीकों के कहीं बीच में माना है — "For class is population articulated according to economic function, but it is also that which permits us to translate data about machinery and the operations of production back into human and interpersonal terms."

— Ibid.

25. Ibid. p. No 383

दुहराना चाहेंगे कि आत्मगौरव आत्म-तंत्र का अंग होता है और शैशव में पर्यावरण के साथ समंजन के प्रयास के दौरान अपनी कार्य-कारी शक्तियों का जो बोध "व्यक्ति" को होता है, उससे इसका (आत्म गौरव का) घनिष्ठ सम्बन्ध होता है ।[26]

यहां महत्वपूर्ण होगा , अगर हम हर्बर्ट मारक्यूज़ के विवादास्पद विचारों को भी संक्षेप में जान लें । मारक्यूज के लिए "ईरोज"[Eros]और थनोटोस[Thenatos]का महत्व अत्यधिक है । हेबरमास[Hebarmas]ने एक लंबी बातचीत के दौरान पूछा कि "आपने अपनी 'the asthetic alimention' नामक पुस्तक में ईरोज और थेनाटोज़ के बारे में लिखा है कि वे वर्ग-संघर्ष में और उसके विरुद्ध भी अपने को निश्चयपूर्वक सक्रिय रखते हैं, कि वर्ग संघर्ष को इसके लिए हमेशा जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता कि

---

26. देखिए प्रस्तुत शोध प्रबंध का दूसरा अध्याय - विशेषत: "सौंदर्य बोध" एक सांस्कृतिक प्रशिक्षण" नामक उपशीर्षक के अंतर्गत किया गया विवेचन । विडम्बना यह हुई कि वर्ग संबंधी चिंतन में भी भाग्यवाद" के कीटाणु प्रवेश कर गये । जैसे जन्म से "जाति" का निर्धारण कर लिया जाता था, वैसा ही "वर्ग" के साथ भी हुआ । चिंतकों ने अपने प्रगति-कामी उत्साह में यह नहीं देखा कि वर्ग को एक स्थायी निर्मिति और जन्म से ही "प्रदत्त" मानकर वे भाववादी जाल में फंस रहे हैं । किंतु हमारे शोध प्रसंग की दृष्टि से ऐसे विचारकों का वर्ग-संबंधी चिंतन "वर्ग" के बारे में भले ही कोई स्पष्ट राय न देता हो, उन विचारकों के बारे में तो काफी कुछ उजागर कर देता है । भौतिकवाद का मुखौटा पहन कर भाववाद ने इस प्रकार मार्क्सवादी चिंतन को पर्याप्त प्रदूषित किया है ।

प्रेमी जन साथ क्यों नहीं बने रह सके ? जीवन में संतुष्टि और मृत्यु की ओर अभिगामिता में अपनी शक्ति होती है और चाहे जितना रमणी ऐश्वर्यीकरण तथा सामाजिक स्पष्टीकरण दिये जाय, प्रकृति में मानव का गुंथा होना या फंसा होना ।

प्रदत्त सामाजिक सम्बन्धों में अपना गत्यात्मक शक्ति रखता है और अधि-सामाजिक आयाम का सृजन कर लेता है । वर्ग-विहीन समाज का यही तो आधार है न कि पुरुष और स्त्री एक स्वतंत्र समाज में रह सके । क्या यह प्रकृति की ओर लौटना नहीं है, भले ही नृतत्वशास्त्रीय विवेचन से शक्ति प्राप्त करके ?" हेबरमास के इस विचारोत्तेजक प्रश्न के उत्तर में मारक्यूज ने "प्रकृति की ओर लौटने" के नारे को साफ नकारा और कहा कि मेरे लिए "प्रकृति" भी वह है जो पहले मनुष्य द्वारा रची जायेगी ।"[28]

स्पष्टत: मारक्यूज ने आदिम आवेगों को वर्ग-संघर्ष की तुलना में अधिक महत्व दिया है किंतु प्रकृति भी मनुष्य द्वारा बनायी जाने की बात कहकर "मानव-आचार" की महत्ता स्वीकार की है ।

वस्तुत: नृतत्वशास्त्रियों द्वारा किये गये कबीलों के अध्ययन ने इस धारणा की पुष्टि की है । कर्मकाण्ड, बलिदान, पुरोहित ओझा की स्थिति आदि से पता चलता है कि मृत्यु-भय (या नष्ट हो जाने का भय) से उन्हें अपने अतिरिक्त उत्पादन को ~~अतिरिक्त उत्पादन को~~ पुरोहित के लिए प्रदान करने में कोई

---

27. Telos — 38, winter 78-79 — p. No 132-133.

हिचक नहीं होती थी । उत्पादन-सम्बंधों के आधार पर "वर्ग" की अवधारणा को कबीलों पर लागू नहीं किया जा सकता । मार्क्स के विचारों का आधार भी यही नृतत्वशास्त्रीय तथ्य रहा होगा । स्पष्ट रूप में नृतत्वशास्त्र शब्द का प्रयोग भी तो किया गया है ।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखकर यह तो पता चलता ही है कि "वर्ग" कोई ऐसी अवधारणा नहीं है कि जिसे स्वयं सिद्ध मानकर चला जा सके । स्थिति कितनी अस्पष्ट और जटिल है, इसका पता तब चलता है, जब हम रेमण्ड विलियम्स का यह कथन देखते हैं -- "हम व्यक्तियों को विशिष्ट वर्गों, राष्ट्रों या नस्लों के समूह रूप में रख सकते हैं, उनकी व्यक्तिगत पहचान को नकारने के लिए ।"[28] इससे भी बढ़कर टेरी ईगलटन का कथन है, जो यद्यपि रेमण्ड विलियम्स के एक कथन का विद्रूप-धर्मी पुनर्विवक्तव्य है, किंतु इससे प्रस्तुत चर्चा के अंतर्गत उसका महत्व कम नहीं होजाता । कथन इस प्रकार है -- "वस्तुत: "वर्ग" जैसा कुछ नहीं होता, सिर्फ एक दृष्टिकोण है, जिसके जरिए लोगों को "वर्गों" में देखा जाता है ।"[29]

यदि भारत में हुए वर्ग-सम्बन्धी चर्चाओं को लिया जाय तो स्थिति अत्यधिक दयनीय है । पश्चिमी देशों में हुए चिंतन को ज्यों का त्यों अपनाते हुए या तो फिर से अपने शब्दों में, कई बार नयी संयोजनाओं के साथ, दुहरा दिया गया है या फिर वर्ग बनाम वर्ण की समस्या खड़ी करके किसी एक में दूसरे को अंतर्भुक्त कर लिया गया है ।

28.—"we can group individuals into particular classes, nations or races as a way of refusing them individual recognition."

28· - जारी - Criticism and Ideology — Terry Eagelton p. 89

29· वस्तुत: टेरी ईगलटन ने रेमण्ड विलियम्स द्वारा "जनता" [masses] के बारे में कहे गये एक कथन में masses के स्थान पर classes रख दिया है -- निस्संदेह विद्रूपीकरण के मंतव्य से । रेमण्ड विलियम्स का कथन इस प्रकार है -- "there are infact no masses, there only ways seeing people as masses."

शायद रेमण्ड विलियम्स "जनता" शब्द में व्याप्त अमूर्तता को नकारना चाहते हैं किंतु इस फेर में "जनता" को ही नकार देना एक प्रकार से "क्रांति" के प्रत्यय को अस्वीकार कर देना है । ध्यातव्य है कि मार्क्सवादी चिंतन के संदर्भ में इंग्लेण्ड की स्थिति पर्याप्त उलझी हुई और विशिष्ट है । टेरी ईगलटन को प्रमाण माने तो इंग्लेण्ड का चिंतन यौरोप को लेकर मनोग्रंथिका शिकार रहता है x मार्क्सवाद में अपने योगदान के लिए वे यौरोप का मुंह जोहते हैं और ऐसे में आवश्यक है कि वे चौंक लेवाले तथ्य सामने रखकर ध्यान आकर्षित करें ।

"वर्ग" पर कुछ भी कहने से पहले हम वर्ग के सम्बन्ध में अपना मत यों रखना चाहेंगे कि यह एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रत्यय है, जिसका समाज को बदलने से जुड़े मानव-आचार के लिए अत्यधिक महत्व है। इसे इकहरे अर्थ में नहीं देखा जा सकता। इसका जहां ऐतिहासिक आयाम है, वहीं "समकालिक" भी। इसे परिभाषित करने का प्रयत्न ऐतिहासिक प्रक्रिया की सापेक्षता में ही होना चाहिए। ऐतिहासिक विकास की प्रदत्त और निर्धारित स्थितियों में भागीदारी के स्तर पर ही इसकी कोई पहचान बनेगी। अन्य समकालिक वर्गों से उसके विरोधी सम्बन्ध ऐतिहासिक भागीदारी की अपेक्षा गौण महत्व के होंगे। प्रस्तुत शोध प्रसंग की शब्दावली में कहें तो वर्ग का अर्थ सामाजिक समूह का एक विशिष्ट "ऐतिहासिक व्यवहार" [Historical praxis] है। दूसरे शब्दों में, वर्ग कर्म [= action = praxis] § × ~ § द्वारा निर्धारित होगा न कि जन्म द्वारा या "वर्ग" एक प्रक्रिया है, जो कर्म द्वारा निर्धारित होती चलती है। यहां भी शैशव में परिवार-प्रदत्त "वर्ग" के साथ प्रतिरोध का सम्बन्ध ही निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण होगा।

वर्ण-व्यवस्था पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। हम उसके सारे इतिहास को यहां दुबारा लिखने के स्थान पर "वर्ग" की अपेक्षा में ही उस पर विचार करेंगे। भारतीय समकालीन चिंतन में वर्ग बनाम वर्ण के प्रचलन की चर्चा हम कर चुके हैं। हमारे विचार से यह एक छद्म-समस्या है क्योंकि इन दोनों के बीच एक छद्म द्वंद्व देखा जा रहा है।

यह सच है कि वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात आर्य-अनार्य संघर्ष की प्रक्रिया में हुआ किंतु उसका समुचित गठन तो बाद में,

सामंतकालीन समाज में ही हुआ । शारीरिक श्रम & हस्तकला और कारीगरी & और बौद्धिक श्रम में भेद हुआ । "वर्ग" भेद जीवन-यापन के साधनों की असमानता पर पनपता है तो निश्चित ही प्राचीन समाज में वर्ण ही वर्ग थे । उनमें परस्पर विरोध के सम्बन्ध भी थे और संघर्ष भी होता था । किंतु आज क्या वर्णों को हम वर्ग मान सकते हैं अथवा नहीं ?

यहाँ की समाज-व्यवस्था के बारे में भी ऐसे ही प्रश्न उठे थे कि आज भारत में पूंजीवादी समाज है अथवा सामंतवादी और अधिकांश विद्वानों ने अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप पाया कि यह अर्धसामंतवादी और अर्धपूंजीवादी है । सामंतवाद पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ और पूंजीवाद का प्रवेश हो गया । हम यह प्रस्तावना करना चाहते हैं कि ठीक यही स्थिति वर्ण और वर्ग के सम्बन्ध में है । समाज-व्यवस्था के चरित्र की सापेक्षता में ही सामाजिक श्रेणियों का चरित्र निर्धारित होता है ।

सामंती राज्य व्यवस्था बुनियाद रूप में एक सैनिक संस्था होती है । सामंती सम्बन्धों का चरित्र भी अधिकारों और विशेषाधिकारों की तारतम्यता [Hierarchy] से निर्धारित होता है । निजी निष्ठा या वफादारी के बंधन ही उन अधिकारों और विशेषाधिकारों के धारकों को परस्पर गुंथे रखते हैं ।[30]

---

30. — "what does the ruling class do when it rules"
— Goran Therborn — p - 42 & 49.

इस तथ्य के आलोक में अब वर्ण-व्यवस्था को देखें । उसका चरित्र भी "सैनिक" है । "कर्तव्य" पालन या प्रकारांतर से अनुशासन का उसमें इतना महत्व था कि कर्तव्य को धर्म कहा गया । उस "धर्म" की तुलना किसी भी सैनिक कानून से की जा सकती है । कानून-तोड़ना एक खतरनाक अपराध था । राम द्वारा शंबुक के वध की कथा या दंत कथा इस वर्ण व्यवस्था रूपी सैनिक व्यवस्था के रूप को स्पष्ट करती है । वर्ण-शंकर होने को किस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर देखा जाता था और "कलियुग" का लक्षण माना जाता था ।[31] इसके लिए संस्कृत धर्म-साहित्य के अदना-से पाठक को भी विपुल जानकारी होती है ।

अब अगर अंग्रेजों के शासनकाल में "वर्गों" का उदय हुआ तो हम कहेंगे कि वर्णों के बीच में ही यह संभव हुआ । वर्णत्व को मिटाकर वर्गत्व नहीं आया । आर्थिक कसौटियां महत्वपूर्ण हुईं किंतु सैनिक § = वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी कानून § कसौटियां लुप्त नहीं हो गयीं ।

जिस प्रकार हमने "वर्ग" के ज्ञान के लिए परिवार द्वारा संभव होती समाजीकरण की प्रक्रिया को जिम्मेदार ठहराया था, उसी प्रकार वर्ण-सम्बन्धी शिक्षा § = संस्कार § भी परिवार ही देता है । कहना न होगा कि बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में, आज भी हमारे भारतीय परिवार घनघोर रूपसे सामंतवादी हैं और पूंजीवादी भी । कुल मिलाकर एक विचित्र किंतु घातक घालमेल है ।

---

31. कथन - मई - जून, 82 में रामशरण शर्मा के विचार ।

यही स्थिति वर्ण और वर्ग की है । भारत में, इन दोनों में, एक ऐसा घालमेल हुआ है कि सारे राजनैतिक अर्थशास्त्र के सामने उसकी व्याख्या एक चुनौती है । विस्तर में गये बिना हम निष्कर्ष रूप में कहेंगे कि आज जो वर्ग है, वही वर्ण है और इससे विपरीत भी सही है । एक सादृश्य का सहारा लें तो कह सकते हैं कि जिस प्रकार पशु-मानव (या नृसिंह) होता है, वैसा ही कुछ यह वर्ग-वर्ण है । अर्ध - वर्ग - अर्धवर्ण । भारत की विशिष्ट स्थिति में ही इसका चरित्र स्पष्ट होता है । "चेतना" के विवेचन की दृष्टि से यह तथ्य निर्णायक प्रभाव रखता है ।

वर्ग-वर्ण सम्बन्धी उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चा के बाद "चेतना" विषयक विवेचन के लिए हमारा ध्यान "परिवार" नामक संस्था पर जाता है । आश्चर्य है कि भारतीय, विशेषत: हिंदी क्षेत्र के विचारकों ने इस संस्था के साहित्य को निर्णायक रूप से प्रभावित करनेवाली भूमिका पर कतई ध्यान नहीं दिया । मुक्तिबोध निस्संदेह अपवाद माने जायेंगे । यदि सामान्यत: "चेतना" तथा विशेषत: साहित्यिक चेतना के वाम रूपांतरण की प्रक्रिया को समझना हो तो हमें "परिवार" और "शैशव" पर ध्यान केन्द्रित करना ही पड़ेगा । कहना न होगा कि भारतीय उप महाद्वीप में इनकी अद्वितीय चारित्रिक स्थिति है और इन पर विचार-विमर्श के बिना हम कुछ वैसा ही शुद्ध अथवा वायवी "साहित्यिक विवेचन" कर बैठेंगे, जो अधिकांशत: प्राप्त होता ही रहता है ।

§2§ परिवार और उसकी राजनीति :

यहां हम यह पूरा प्रयत्न करेंगे कि चर्चा संक्षिप्त और निष्कर्ष-धर्मी हो । वस्तुत: इस पर इतना महत्वपूर्ण लिखा गया है कि यदि हम उसे समेटने बैठे तो प्रस्तुत शोध प्रसंग की दृष्टि से यह अनुचित होगा । यदि इस प्रयास में हमें कई स्थलों पर मात्र सूत्रों से ही काम चलाना पड़े और विशद् व्याख्या तथा उदाहरणों से कतराना पड़े तो यह स्वाभाविक ही होगा कि तथापि हमारा प्रयास रहेगा कि "अस्पष्टता" के दोष से हम बच सकें ।

सबसे पहले हम यह पुन: कहना चाहेंगे कि "परिवार" की साहित्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय मुक्तिबोध को जाता है । विशेषत: हिंदी साहित्य के क्षेत्र में तो तथाकथित मनोवैज्ञानिक समीक्षा के बावजूद "परिवार" एक सामाजिक एजेण्ट के रूप में सर्वथा उपेक्षित रहा । दो-चार काम चलाऊ टिप्पणियां, और वह भी विशेषत: "कृतित्व एवं व्यक्तित्व" जैसे अकादमिक चरित्र से युक्त अध्ययनों में, कवि-लेखक के जीवन-चरित्र की उधारी जानकारी भर देती रही है । उसके परवर्ती लेखन से उसकी संस्था का क्या द्वंद्वात्मक सम्बन्ध रहा, यह विवेचन नहीं हो पाया । अपवाद में परिगणित किये जा सकने योग्य, जो कतिपय महत्वपूर्ण प्रयास पिछले दिनों हुए, उनकी महत्ता से हम इंकार नहीं करते । रामविलास शर्मा ने निराला जी के परिवार और उनकी शैशवावस्था को विश्लेषणपरक ढंग से लिया है । यद्यपि वे पर्याप्त तटस्थ नहीं रह सके हैं और मात्र उनके अंतरिकीकृत "निराला"

के परिवार से ही उनकी विवेचनात्मक संपृक्ति रही है, यह स्पष्ट है । एक विवादी [polemical] और स्पष्टीकरणों से लबालब उनका वर्णन अपनी सीमाओं के कारण भी पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है । छुटपुट प्रयत्नों में डॉ० रमेशकुंतल मेघ का महादेवी वर्मा पर लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, जो परिवेश के साथ महादेवी की द्वंद्वात्मक स्थिति की सीमाओं-संभावनाओं अभावों - उपलब्धियों आदि को बेलाग ढंग से उद्घाटित करता है ।[32] पिछले दिनों सीमित फलक पर कर्णसिंह चौहान ने भी विजेन्द्र और राजेश जोशी की रचनाओं की पड़ताल इसी प्रकार करनी चाहिए थी ।[33] किंतु हम पुनः बलाघात पूर्वक मुक्तिबोध को यह श्रेय देना चाहेंगे कि यों तो उन्होंने सन् 1950 के आस-पास लिखी जानेवाली "कामायनी : एक पुनर्विचार" में ही प्रसाद काव्य और प्रसाद जी की वर्ग स्थिति (जो निस्संदेह पारिवारिक देन थी) के बीच की द्वंद्वात्मकता को प्रस्तुत किया था, किंतु स्पष्ट शब्दों में उन्होंने "वसुधा" में प्रकाशित अपने डायरी परक लेखों में इस तथ्य पर बल दिया है ।

"मैंने उससे पूछा -- "पिछले बीस वर्षों की सबसे महान घटना कौन-सी है ?

एक मिनट तक उसने मेरी तरफ देखा और फिर छूटते ही कहा -- "संयुक्त परिवार का ह्रास ।"

मैं स्तब्ध हो गया ।

---

32. आलोचना -

33. कवि और पूर्वग्रह

उसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर खिलखिलाते हुए कहा ।
-- "और इस तथ्य का साहित्य से बहुत बड़ा सम्बन्ध है ।"[34]
मुक्तिबोध परिवार के शिक्षक-रूप से भी परिचित थे -- "समाज में वर्ग है, श्रेणियां हैं । श्रेणियों में परिवार है । समाज की एक बुनियादी इकाई परिवार भी है । समाज की अच्छाई बुराई परिवार के माध्यम से व्यक्त होती है । मनुष्य के चरित्र का विकास परिवार में होता है । बच्चे पलते हैं, उन्हें सांस्कृतिक शिक्षा मिलती है । वे अपनी

---

34. मुक्तिबोध रचनावली : चार- पृ.46 ध्यातव्य है कि यह डायरी-परक लेख "नये की जन्म-कुंडली : एक वसुधा" में मई 1957 में प्रकाशित हुआ था । यह दूसरी किस्त थी । पहली किस्त "सड़क को लेकर एक बात-चीत" (अप्रैल 57) में प्रकाशित में उन्होंने बिना परिवार का नाम लिये "नयी कविता के दो तबकों" का जो विवेचन किया था, वह परिवार-मूलक (= वर्ग-मूलक) ही था । इन अवधारणाओं को मुक्तिबोध कितना महत्वपूर्ण समझते थे, यह इस बात से स्पष्ट है कि वे "वसुधा" को मात्र एक पत्रिका मान कर उसमें नहीं लिखते थे -- "वसुधा में मैं स्वयं बहुत ज्यादा interested हूँ--आप जानते ही हैं ।" (प्रमोदवर्मा को पत्र - मुक्तिबोध रचनावली, छह-पृ.360) जिस पत्रिक में पूरे हार्दिक स्नेह के साथ आप भागीदार involve हों, उसमें पहली ही किस्त से पारिवारिक स्थिति विषयक विवेचना इसी को तो द्योतित करती है कि लेखक इन बातों को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता है ।

सारी अच्छाइयाँ बुराइयाँ वहीं से लेते हैं । हमारे साहित्य तथा राजनीतिकपास ऐसी कोई दृष्टि नही है, जो परिवार को लागू हो .....•35 § रेखांकन मेरे द्वारा § मुक्तबोध आज के परिवार के ~~सन्दर्भ~~ अर्ध-सामंती अर्ध-पूजीवाद दोगले रूप के प्रति पूरी तरह से जागरूक थे, यही इसी क्रम में उनका बाद का विवेचन बतलाता है । " x x x पुराने सामंती अवशेष बड़े मजे में हमारे परिवारों में पड़े हुए हैं । पुराने के प्रति और नये के प्रति इस प्रकार एक बहुत भयानक अवसरवादी दृष्टि अपनायी गयी है ।•36

हमने प्रस्तुत विवेचन में कई बार मुक्तबोध की अंतर्दृष्टि की बात कही है । उनके परिवार और "व्यक्ति" से संबंधित कई कथनों को यदि हम आर•डी•लैंग या सार्त्र के ऐसे ही कथनों से तुलना करें तो पायेंगे कि उनसे कई वर्ष पहले मुक्तबोध अपनी अंत:प्रेरणा और अध्ययन-निरीक्षण से समान निष्कर्षों पर पहुंच रहे थे --

---

35• मुक्तबोध ने बहुत ही दावे के साथ ये बातें कही हैं । घर बनाम बाहर का द्वंद्व किस तरह तोड़ता है और कायर तथा समझौता परस्त बनता है, यह उन्होंने स्पष्ट रूप से बतलाया है । मुक्तबोध रचनावली : चार पृ• 47•

36• वही - पृ• 48 इस अधूरे और एकांगी पूंजीवाद ने हमारे घरों में घुसकर कैसी भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी -- "परिवार में पुराने सामंती संस्कार-विचारों के अलावा, मौजूदा व्यक्तिवादी, धनवादी दुराग्रहों के वातावरण के अस्तित्व के कारण, घर में दम घुटने या घोटे जाने के दृश्य इतने विशाल है और असंख्य हैं कि क्या कहना .....•
- वही - पृ• 51

-- "x x x परिवार का भूगोल और व्यक्ति-चरित्र का इतिहास जिस विशाल परिस्थिति का निर्माण करते हैं, उस परिस्थिति की जाँच-परख होना बहुत जरूरी है । इस परिस्थिति के कारण परिवार का व्यक्ति दूसरे के लिए परिस्थिति का अंग बन जाता है ।"[37]

§ रेखांकन मेरे द्वारा §

यहाँ खानों में बाँटनेवाली या लेबुल चिपकाने में दक्ष तथाकथित साहित्यिक दृष्टि इसे "मनोवैज्ञानिक" कहकर, साहित्य की

- -

37. मुक्तिबोध के इस कथन के लगभग बारह वर्षों पश्चात् कनाड़ा में आर डी. लैंग की 'The politics of Family (1969) प्रकाशित हुई । यह सच है कि उसमें गहरा तकनीकी विवेचन मिलता है पर लैंग विश्व के जाने-माने मनोचिकित्सक हैं । उनके निष्कर्ष और मुक्तिबोध के यह कथन "परिवार के एक व्यक्ति का, परिस्थिति वश, दूसरे के लिए परिस्थिति का अंग बन जाना" बहुत सीमा तक मिलते जुलते हैं । विशेष अध्ययन के लिए ~~The~~ Family and the family नामक अध्याय । सार्त्र की अपनी विशिष्ट किस्म की दार्शनिक पदावली में कहें तो—"the family is united by the reciprocal internalization by each [whose token of membership is precisly this interiorized by each others internalization] family —The politics of family — P.No.5.

मुक्तिबोध साहित्य के सामान्य पाठकों के लिए लिख रहे थे, यह भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है । लैंग को अपने चिकित्सा शास्त्रीय अध्ययन के अलावा अस्पताल में आनेवाले रोगियों के परिवारों की गाथाओं का विश्लेषण करने और नतीजों पर पहुंचने के अवसर प्राप्त हैं और सार्त्र का तो सारा परिवेश ही ख्यात "बौद्धिक राष्ट्र" फ्रांस का है जबकि मुक्तिबोध के पास हमेशा "दिल्ली जाऊँ कि उज्जैन ?" § अँधेरे में § की समस्या रही । इसलिए हम मुक्तिबोध की अंतर्भेदी दृष्टि की ओर सराहना करना चाहते हैं ।

ओर से पल्लू झाड़ सकती है । हाथ झटक के दूर खड़ी हो सकती है यों तो मुक्तिबोध ने "सौंदर्य" को "मनोवैज्ञानिक प्रभाव" ही कहा है किंतु हम यहां मनोविज्ञान को एक अलग-थलग अनुशासन के रूप में न देखकर मनुष्य की जीवनी से जुड़े अनिवार्य पक्ष के रूप में देखते हैं । यदि "साहित्य" को रचनेवाला एक साहित्यकार होता ही है और उसके जन्म (जैविक) से लेकर मृत्यु (यह भी जैविक ही) तक एक जीवनी होती ही है, तो हमें उसे समझना है । हाँ, अगर हम "साहित्य" को एक सर्वथा निरपेक्ष "कृति-संसार" के रूप में देखते हो, देखना चाहते हो तो फिर यह एक दीगर बात होगी । एक व्यावहारिक कठिनाई की बात अवश्य की जा सकती है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण साहित्यकार के जीवन-विषयक तथ्य उपलब्ध नहीं हो पाते किंतु एक तो कठिनाई के कारण कोई सुविधा की राह झट से नहीं अपना ली जाती और दूसरे, ऐसे में उपलब्ध दो-चार तथ्यों को लेकर, उस युग के "सामान्य जीवन" की अपेक्षा में विश्लेषण के माध्यम से, लगभग सही नतीजों तक पहुंचा जा सकता है ।

इस प्रसंग में सार्त्र का नाम ही सर्वाधिक उल्लेखनीय है । ज्यां जेने, बादलेयर और फ्लाबेयर की जीवनियों में उसने "मनोविज्ञान" का सृजनात्मक उपयोग किया ताकि उनके सारे जीवन (सृजनात्मक और व्यक्तिगत) को समझा जा सके*, यद्यपि अस्तित्ववादी पदावली और उनसे व्यक्त होनेवाली दार्शनिकता उसमें आवश्यकता से अधिक रही ।

---

38. सार्त्र ने 'मनोवैज्ञानिक' पद के प्रति खासी अप्रसन्नता प्रकट की है — "I am not fond of the word psychology. There is no such thing as the psychological. Let us say that one can improve the biography of a person." — quoted in 'The divided Self' — R. D. Laing . P. No. 120.

प्रस्तुत शोध के क्षेत्र में हमने आग्रहपूर्वक "परिवार" की महत्ता को मान्यता दी है । "परिवार" के बारे में अध्ययन अपूर्ण होने के लिए अभिशप्त है क्योंकि कालावधि की सीमा आड़े आती है । किसी न किसी नमूने का "परिवार" लगभग एक लाख वर्षों से इस धरती पर मनुष्य के साथ संबद्ध है । कोई भी अध्येता एक बहुत ही छोटे-से टुकड़े को अपने अध्ययन का विषय बना सकता है । अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों का अध्ययन हो पाता है । कम से कम चार हजार पीढ़ियों से बनी "शृंखला" में मात्र तीन का अध्ययन किस सीमा तक सही नमूने और नतीजे दे सकता है । दूसरी कठिनाई यह कि जितनी अच्छी तरह से वे (परिवार) अपना काम करते रहेंगे, उतनी ही अधिक कठिनाई उनके अध्ययन के दौरान आड़े आयेगी ।[39] कठिनाई यह है कि हम स्वयं भी "परिवार" के अंग होते हैं । लैंग ने परिवार को एक ऐसा नाटक कहा है, जिसे हमने न तो कभी पढ़ा है, न कभी देखा है, न जिसका कथानक हम जानते हैं और जिसके "होने" की हम झलक देखते रहते हैं किंतु फिर भी हम उसमें अभिनय कर रहे हैं । उसका आदि-अंत हमारी कल्पनाशक्ति से परे है । तब कैसे यह आशा

39.— "Two enterenic difficaulties face us in studing families. First, the time scale. Families (of some kind or other, albeit very deferent from ours) Have existed, say, for 100000 years. We can study directly only a ~~minute~~ minute slice of a family chain; three generations, if we are ~~lucky~~ luck. Even studies of three generation are rare, what patterns can we hope to finde when we are restricted to three out of at least ~~four~~ 4000 generations. xxx a second difficulty is that the more smoothly they function the more difficult they are to study." — The politics of Family R.D. Laing. P. No. 77.

की जा सकती है कि जिस नाटक के बीच में हमारा जन्म हुआ है, उसके परदों का उठना-गिरना हम तटस्थ भाव से देख सकें ।[40]

व्यक्तित्व की बनावट में भूगोल और संस्कृति के हिसाब से, "परिवार" की निर्धारक भूमिका तय होती है । प्रस्तुत शोध-प्रसंग के आरंभ में ही हमने "आंतरिकीकरण" का मुद्दा "प्रभुत्व" -- संदर्भ में उठाया था । "परिवार" एक प्रणाली के रूप में आंतरिकीकृत होता है । एक विषय के रूप में नहीं, बल्कि सम्बन्धों के रूप में । आंतरिकीकरण के अनुपात से ही कोई सदस्य अपने को परिवार में या उसके बाहर देखता है । आंतरिकीकृत परिवार एक दिक्-काल प्रणाली होता है । "साथ" "अलग" दूर", "निकट" आदि दिक्धर्मी अथवा स्थानिक [Spatial] सम्बन्ध मात्र न होकर कालिक क्रम से युक्त भी होते हैं । "मैं" बोध की चर्चा अन्यत्र हम विस्तार से कर चुके हैं । यहां इतना जोड़ना आवश्यक है कि परिवार एक सामान्य "हम" होता है और परिवार से बाहर के "व्यक्ति" "वे" होते हैं । इस प्रकार "परिवार" सम्बन्धों के एक ताने-बाने के रूप में आंतरिकीकृत होता है । यह ताना-बाना ही व्यक्ति के "मैं-मैं" सम्बन्ध को निर्धारित करता है । प्राय: यह देखा गया है कि वयस्क व्यक्ति अपने सम्बन्ध-संसार में वही सब कुछ करने का प्रयत्न करता है, जो उसके साथ किया जा चुका है । ("xxx he tries to do what was done to him")

हम पूर्व-विवेचन में चर्चा कर चुके हैं कि इंद्रियबोध मुख्यत: संबंध-बोध होता है। "परिवार- बोध और कालांतर में उसकी

---

40. Ibid. P. 77 and 78

आंतरिकी करण प्रक्रिया भी निश्चित ही इंद्रिय-बोध के माध्यम से संभव होती है। परिवार में व्यक्ति "भीतर" महसूस करता है। "परिवार" की जटिल बुनावट में संगठन, व्यापार जैसे कई समूह गुंथ जाते हैं। उन समूहों में व्यक्ति सुबह से शाम तक रूपांतरण की प्रक्रियाओं से गुजरता रहता है। "असुरक्षा" और चिंता जैसी भावनाओं से दो-चार होने की स्थिति में वही पारिवारिक व्यक्ति "सुरक्षित" महसूस करता है, जो दूसरों में "परिवार" संरचना की अखण्डता [Integrety] की कल्पना कर सकता है। यह कल्पना अपने "परिवार" (आंतरिकीकृत) की अखण्डता से ही प्राप्त हो सकती है। परिवार नामक संस्था अपने सदस्यों के बीच जुड़ने के माध्यम के रूप में आती है। उसके अभाव में सदस्यों के बीच की सम्बंध श्रृंखला टूटी-फूटी ही रहेगी। आंतरिकीकृत "परिवार" एक अर्थ में पूरा संसार होता है। जब कोई उसे तोड़ता है तो एक प्रलय-सी घटना होती है। किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति का परिवार में प्रवेश भी बहुत हडकम्पी होता है, जिसका आंतरिकीकृत परिवार नितांत अलग या दूसरा हो। अतएव आंतरिकीकृत "परिवार" की रक्षा को स्व-रक्षा से समीकृत किया जा सकता है।[41]

कुल मिलाकर आंतरिकीकृत "परिवार" किसी भी व्यक्ति की दृष्टि [Vision] को प्रभावित करता है। वह "दृष्टि" विश्व-दृष्टि [world vision] भी हो सकती है और सौंदर्य-दृष्टि भी। पहला वर्ष बीतते नवीन ने इस आंतरिकीकृत "परिवार" की (बीतते) रचना शिशु के लिए हो चुकती है।

---

41. इसी संदर्भ में मुक्तिबोध के डायरी के पात्र द्वारा संयुक्त परिवार के ह्रास को बीस वर्ष की सबसे बड़ी घटना कहना समझ में आता है।

"परिवार" में रहता हुआ व्यक्ति परिवार को अपने आप ही या अनायास ही नहीं जान पाता । उसे सायास जानना पड़ता है । यद्यपि परिवार के किसी सदस्य को यह विश्वास बड़ी मुश्किल से ही हो पायेगा या कतई नहीं होगा कि वह "परिवार" को नहीं जानता ।

लैंग ने इसे "सम्मोहन" [Hypnosis] की सादृश्यता में देखा है । सम्मोहनकर्ता [Hypnotists] अर्थात् माता-पिता स्वयं भी अपने मात-पिता द्वारा सम्मोहित हो चुके होते हैं और निर्देशों का पालन करते हुए अपने बच्चों को सम्मोहित करते हैं । यह क्रम पीढ़ी-दर पीढ़ी जारी रहता है । बच्चों के कई सारे प्राथमिक अहसास इसी सम्मोहन की देन होते हैं । पेशेवर सम्मोहन-कर्ता और परिवार या माता-पिता में इतना ही अंतर होता है कि वह जानता है कि वह क्या कर रहा है जबकि ये नहीं जाते ।[42]

अधिकांश व्यक्ति इसी सम्मोहन समाधि में जीवन भर रहते हैं । यदि वे जाग जायें तो पायेंगे कि वे तो अब तक जीना शुरू ही नहीं कर पाये हैं । समय से पहले जाग जाना अक्सर उन्हीं लोगों के आगे अपराधी बन जाना और दण्ड का भागी हो जाना होता है, जो हमें हमारे परिवार में बहुत प्यार करते हैं । क्योंकि वे सम्मोहन समाधि में होते हैं और दण्ड देते हुए वस्तुतः निर्देशों का पालन करते रहते हैं ।

---

42. Ibid – p.No 74

इस सारे विवेचन के दौरान प्रस्तुत शोध-क्षेत्र की सीमाओं को ध्यान में रखा जा रहा है । परिवार को उपर्युक्त ढंग से विवेचित करने के लिए हमारे पास पर्याप्त आधार हैं । यहां प्रसंगवश एक आधार का उल्लेख आवश्यक है । डॉ० रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन करते हुए उन्हें "शिजोफ्रेनिया" नामक रोग से ग्रस्त बताया है । फिर चंचल चौहान नामक एक समीक्षक रामविलास जी के विरोध में यह बताते हैं कि शर्मा जी के सारे औजार फ्रायडीय थे । हिंदी क्षेत्र के समकालीन परिदृश्य में ही ऐसे कथन संभव हैं । चंचल चौहान का एक उद्धरण इस विषय में पर्याप्त मनोरंजक और पठनीय है । -- "वे फ्रायड के औजारों से सिद्ध कर देते हैं कि मुक्तिबोध को शिजोफ्रेनिया नामक रोग था । हमें यह मालूम न था कि डा० रामविलास शर्मा को मानसिक रोगों की डायग्नोसिस करने में इतनी महारत हासिल है कि रोगी के जीवित रहने पर नहीं, मरने के तरह साल बाद, मल-मूत्र, रक्त-चाप व सिर के एक्सरे" की परीक्षा किये बिना ही, वे रोग को डायग्नोज करके बता सकते हैं । हे प्रभु । यह तेरी दया नहीं तो और क्या है ?" इस कथन में प्रतिध्वनित दावागिरी के मूल में जो घनघोर "अज्ञान" सक्रिय है, उसकी प्रतिक्रिया में डॉ० सुरेन्द्र चौधरी को तत्काल कहना पड़ा -- "आप कहते हैं कि शिजोफ्रेनिया की पहचान पेशाब / पाखाने से करो / राम विलास जी तो क्या दुनिया के कोई समीक्षक शिजोफ्रेनिया की पहचान खून / पाखाने / पेशाब से नहीं कर सकता । मनोलक्षणों की पहचान दैहिक परिणामों से आप अगर करना चाहते हैं, माफ करें, ये समीक्षा हमें कहीं नहीं ले जायेगी ।"[43]

---

43. कंक - मुक्तिबोध विशेषांक - पृ० 108 और 125

शिजोफ्रेनिया का निदान इतना आसान नहीं है और न डॉ० रामविलास शर्मा के औजार फ्रायडीय हैं। यदि शिजोफ्रेनिया पर हुए शोधों और चिकित्सालयों में हुए इलाजों की रपट देखें तो इस भयावह पूंजीवादी व्यवस्था में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जो किसी न किसी अर्थ में शिजोफ्रेनिक न हो। यह पद एक स्विस मनोचिकित्सक ब्लूलर [Bleuler] द्वारा आविष्कृत हुआ है। वस्तुतः यह एक ऐसा लेबल है, जो विशेष सामाजिक परिस्थिति में कोई दूसरे पर चिपका देता है। लैंग को शिजोफ्रेनिया विषयक क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त है। बरसों के चिकित्सा शास्त्रीय अनुभव के बाद वे बल देकर कहते हैं कि "शिजोफ्रेनिया" का कारण "निदान" से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक संदर्भों की परीक्षा से ही जाना जा सकता है।[44]

मनोचिकित्सा क्षेत्र के किसी "पद" का प्रयोग करने के पहले डॉ० शर्मा ने यह नहीं सोचा कि उनका सारा विवेचन अधूरी जानकारी पर आधारित है। उनका निदान "मुक्तिबोध" के बारे में कुछ भी कहने से पहले रामविलास जी के उस समाज के बारे में बहुत कुछ कहता है जो दुष्क्रियात्मक [dys functional] है और जिस के साथ निबाह न कर पाना मुक्तिबोध की विशेषता ही कही जायेगी।

44.— "'Schizophrenia' is a diagnosis, a label applied by some people to others, ××× the reason of Schizophrenia, is to be found by the examination not of the prospective diagnosis alone but of the whole social context in which the psychiatric ceremonial is being conducted.— The politics of experience p. 110 – 86.

अपने जनजाने ही रामविलास जी ने उस समाज और उस राजनीति के प्रतिनिधि की भूमिका निभायी, जिसके खिलाफ मुक्तिबोध की सारी लड़ाई थी ।[45]

हम पहले ही मार्क्स के इस कथन को उद्धृत कर चुके हैं कि पूंजीवादी सभ्यता का कलाकारों और कवियों के साथ शत्रुता का संबंध रहता है । "पागल" कहकर बहिष्कृत करना भी अन्यायी समाज की एक जानी-बूझी नीति सदियों से रही है । आज बीसवी शती के उत्तरार्द्ध में "पागल" का वही अर्थ लेना, जो अब तक लिया जाता रहा है, अज्ञान का परिचय देना है अथवा गलत समाज का प्रवक्ता होना है । गलत पक्ष ग्रहण करना है ।

आचार शास्त्र [Ethology] के क्षेत्र में हुए प्रयोगों से स्पष्ट है कि पिंजरों में बंद जानवरों के व्यवहार का अध्ययन उनके "सहज व्यवहार के बारे में कुछ नहीं कहता । हमारी वर्तमान सभ्यता चिड़िया-घर से बेहतर नहीं है । मनोचिकित्सक, जो खुद चिड़िया-घर के दायरे में हैं, उन मनुष्यों को शिजोफ्रेनिक कहकर निदान करते हैं, जो दुहरे-तिहरे पिंजरों में हैं । मनुष्यों के लिए

---

45. लैंग ने जोर देकर लिखा -- "There is no such 'condition' as 'Schizophrenia', but the label is a social fact and the social fact is a political event."
— Ibid- p. 100

सचमुच का पिंजरा कोई जरूरी नहीं है । विचार भी पिंजरों का दे सकते हैं ।"[46]

यह सारी चर्चा हमें फिर से "असुरक्षा" बोध तक ले आयी है । यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि "शिजोफ्रेनिया" पर शोध करनेवाले विद्वानों ने "परिवार" को निश्चित ही अपने अध्ययन के केन्द्र में रखा है । परिवार की घेरा बंदी उस "असुरक्षा" बोध

---

46. The politics of Family – R.D. Laing - p. No 52-53

लैंग ने इस प्रसंग में मार्क्स के एक कथन को उद्धृत किया है -- "Marx said ; under all circumstances a Negro has a black skin, but only under certain socio-economic conditions he is a slave."

लैंग इसी को आधार बनाकर कहते हैं -- "under all circumstances a man get stuck, loose himself and have to turn round and go back a long way to finate himself again. only under certain socio-economic conditions will he suffer from 'schezophrenia'." — Ibid. p. 53

प्रस्तुत शोध प्रसंग में हमने काल-बोध के साथ अनिवार्यत: सम्बद्ध "असुरक्षा" की चर्चा की थी । एरिक फ्राम ने भी चिंपांजियों पर हुए प्रयोगों का जिक्र किया है । उनके अनुसार अपने सहज नैसर्गिक निवास से हटा दिये जाने पर उनमें असुरक्षा-बोध तीव्र हो जाता है । मनुष्य कई सारे अप्राकृत बंधनों में रहता है । उसकी स्थिति चिड़ियाघर में बंद चिंपांजी से अलग नहीं है । यह अति विकसित समाजों तक के लिए सच है । लोगों की स्थिति - "A dis-organised dust of individual — जैसी है. —The anatomy of Human Destructiveness P. No 107 and 196 इस विवेचन की अपेक्षा में हम सिर्फ मुक्तिबोध ही नहीं बल्कि भारतेंदु से लेकर धूमिल तक के समाज से मेल न खानेवाले [misfit] व्यक्तित्वों की देख सकते हैं । यदि वे किसी सीमा तक "मानसिक रोगी" कहे जा सकते हैं तो यह उनके समाज के चरित्र को ही उद्घाटित करता है ।

से बचा सकती है । किसी भी तरह की "स्वतंत्रता" में असुरक्षा का खतरा होता है, अतएव परिवार सुरक्षित गुलामी का प्रशिक्षण देता है । दिक् की संरचना अर्थात् पारिवारिक स्थिति ही व्यक्ति की विक्षिप्तता के मूल में होती है, उस व्यक्ति के विवेक के काबू में यह कतई नहीं होती ।"[47]

मुक्तिबोध ने कहा "बीस वर्षों की प्रमुख घटना है, संयुक्त परिवार का ह्रास ।" उनका कथन - वर्ष 1957 है अर्थात् 1937 से आरंभ होनेवाली बीस वर्ष की अवधि । हमारा प्रस्तुत विवेचन मुख्यत: 1936 से पहले के काल-खण्ड पर टिकना चाहिए । हम पाते हैं कि भले ही संयुक्त परिवार का ह्रास तब न हुआ हो किंतु संवेदनशील व्यक्ति आंतरिकीकृत "परिवार" की प्रदत्तता से प्रतिरोध करने लगे थे । परिवार द्वारा चरित्र ढालने की कोशिश का विरोध होता था । निश्चित ही युगीन सीमाओं के अंतर्गत और तीव्र अंतर्विरोधों के सम्पुट के साथ ही ऐसी चेष्टा मुखर होती थी । जब हमें पता चलता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्र सरकार थे, जिनके विवाह में कुओं में चीनी के बोरे उंडेल कर शरबत तैयार किया गया था अथवा 1857 के विद्रोह में बनारस की रजीडेंसी का बहुत सारा सामान उनके यहाँ रखा गया था --[48] तो भारतेंदु

47.— "what guarantees the healthy man against alienation or hallucination is not his critical faculty, but the structure of his space."
— Maurice Merleau-Ponty — quoted in "False Consciousness." P. No. 234.

48. भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा। - डॉ० रामविलास शर्मा-पृ० 12 माना जा सकता है कि भारतेन्दु युग से 1936 तक के "परिवार" की संरचना प्रमुखत: सामंतवादी थी और आर्थिक कसौटियों का प्रवेश तब नहीं हुआ था ।

तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के "परिवार" और उसके प्रति उनके प्रतिरोध का अनुमान हम कर सकते हैं ।

वाम हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि में भी "परिवार", उससे निर्धारित होती चेतना और उसकी प्रतिरोधात्मकता निरंतर सक्रिय रही थी ।

वस्तुत: संयुक्त परिवार के ह्रास का सम्बंध पूँजीवाद के अंतरिकीकृत "परिवार" में प्रवेश से है । किंतु संयुक्त परिवार "व्यक्ति" के लिए शुभ ही होता हो, ऐसा नहीं था ।

प्रत्येक समाज को, शिशुओं को अपने माफिक तैयार करने में बहुत रुचि होती है क्योंकि वे ही तो उसके रंगरूट होते हैं । उन्हें अनुकूलन [Adaptation] सिखाया जाता है । समाज से, संसार से तत्कालीन संयुक्त परिवार भी यही करता था कि स्वाभाविक जीवन-वृत्ति [Eros] का दमन करे, सुरक्षा की छद्म-चेतना उत्पन्न करे, जीवन से कतराने के माध्यम से मृत्यु को अस्वीकार करे, किसी भी तरह की अतिक्रमणशीलता को रोके, सारांश में एकायामी मनुष्य को इस प्रकार तैयार करें कि आदर-भावना, समझौते की भावना, आज्ञाकारिता और आदरणीयता के प्रति आदर की बढ़ोत्तरी हो ।[49]

49.—"The families fuction is to repress Eros; to induce a false consciousness of security; to deny death by avoiding life; to cut off transcendence; to believe in God, not to experience terror; to create, in short, one dimentional man; to promote respect conformity, obidience; to calm children out of play; to encourage a fear of failure; to promote a respect for work; to promote respect for "respectability".—"The politics of experience" R.D. Laing —P.No. 55.

सार्त्र ने अभिभावकों को उन आदिम कबीलों के सादृश्य में देखा है जो प्रत्येक नवजात शिशु में अपने पूर्वजों का पुनरागमन मानते थे।[50]

"परिवार" जो कुछ भी भला-बुरा करता है, मानव शिशुओं के साथ करता है। परिवार-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन हमें उस "असुरक्षा" और "सुरक्षा" को समझने के लिए पर्याप्त आधार देता है, जो साहित्य की पृष्ठभूमि में अपने बोधात्मक रूप में उपस्थित रहते हैं।

§3§ एक प्रस्थान बिंदु : बचपन :

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में परिवार को चेतना, निर्धारण भूमिका में ही अध्ययन का विषय बनाया गया है और इस प्रकार स्वयमेव "शिशु" और "शैशवावस्था" के मुद्दे सम्मुख आते हैं।

प्रस्तुत विवेचन में हमने एकाधिक बार उन तथाकथित मार्क्सवादियों की चर्चा की है, जो "मनोविज्ञान" और "फ्रायड" को गाली

---

50. लैंग ने सार्त्र का उद्धरण अपनी पूरी समग्रता में उद्धृत किया है। सार्त्र ने Andre Gorz की The traitor नामक पुस्तक में भूमिका लिखते हुए यह विवेचन किया है। आदिम कबीले किस प्रकार शिशु को विवश कर देते थे कि वह अपने दादा या परदादा की भूमिका ही अपने जीवन में निभायें। उद्धरण के अंत में सार्त्र अपनी विशिष्ट व्यंग्यात्मक शैली में निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत करता है--"These backward aborigianes can be found in the Fige Islands, in Tahiti, in new guinea, in Vienna in peris, in Rome, in Newyark — wherever there are men they are called parents. Long before our birth, even before we are conceived our parents have decided who we will be."— Ibid. p. 56.

समझते हैं । जब इस ओर अध्ययन नहीं हुए थे तो "अज्ञान" की अपनी सीमाएं थी किंतु 1982 में भी जब इस प्रकार के कथन उपलब्ध होते हो, -- "फ्रायड के चेतन, अवचेतन, उपचेतन के सिद्धांतों पर डॉ० शर्मा निर्भर करते हैं जबकि विश्वभर के मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री फ्रायड के भाववादी मनोविज्ञान पर आधारित एस्थेटिक्स को आतार्किक सिद्ध कर चुके हैं ।" बाद में विश्व भर के मार्क्सवादियों में लेखक को मात्र एक रूसी लेखक एम॰ ब्रेपचे को का एक ऐसा उद्धरण याद आता है, जिसमें बर्गसां, फ्रायड और क्रोचे -- इन तीनों की बीसवीं शती के "अबौद्धिक सौंदर्यशास्त्र" के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है । आगे लिखा है -- "वे अवचेतन के सिद्धांत पर पूरा विश्वास करते हैं जबकि आज की वैज्ञानिक शोधों द्वारा यह सिद्धांत पूरी तरह गलत साबित हो चुका है । मस्तिष्क में कहीं ऐसी कोठरियां नहीं बनी है जिन्हें चेतन, उपचेतन और अवचेतन के रूप में देखा जा सके ।"[51] ध्यान देने की बात यह है कि ये लेखक

51॰ कंक - मुक्तिबोध विशेषांक - पृ॰ 104-105 यों चंचल चौहान का वह पूरा आलेख ही अपने अज्ञान-जनित उत्साह के कारण, पढ़ने लायक है । जब एक पूरा का पूरा मार्क्सवादी मनोविज्ञान विकसित हो चुका हो और जब विश्वभर के मार्क्सवादियों में से अधिकांश अपने अपने भूगोल और संस्कृति की सीमाओं में मार्क्सवाद की वैज्ञानिक चिंतक को विकसित कर रहे हों और उन्हें फ्रेयड की कई अवधारणाओं से सहायता मिल रही हो तो मात्र एक-दो देशों के साम्यवादी दलों की नीति के आधार पर प्रकाशित पुस्तकों का पारायण और उल्लेख का क्या अर्थ ? यह ठीक है कि मार्क्सवाद की बुर्जुआ व्याख्या न हो, इसका ध्यान रखा जाय किंतु "मनोविज्ञान" से इस तरह का इंकार तो निस्संदेह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायेगा ।

मुक्तिबोध के पक्ष में खड़े हैं । कहा नहीं जा सकता कि मुक्तिबोध के "आत्मा" अंतरात्मा" आभ्यंतर-लोक" आदि पदों के बारे में ये क्या सोचते हैं ?

यह एक विडम्बना ही रही है कि प्राय: मार्क्सवादी सौंदर्य-शास्त्र में "बचपन" को समुचित स्थान नहीं मिल पाया । वह अपने को बलपूर्वक "वयस्कता" में यों धंसाए में रहा कि जैसे "वयस्कता" का बचपन से दूर-दराज का भी सम्बन्ध न हो । जबकि "वयस्कता" का निर्धारण ही बचपन में होता है । "सामाजिक स्थिति ही चेतना को निर्धारित करती है "किंतु यह निर्धारण प्रक्रिया अधिकांशत: बचपन में ही संभव होती है ।

फ्रायड के अपने "अबुद्धिवाद[52] अथवा मनोविश्लेषण की सीमाएं अब स्पष्ट हैं किंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि "परिवार" और "बचपन" ही उसके मूल सरोकार थे । हमारे अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि समाज-सापेक्षता कोई हमारा चयन नहीं बल्कि "बचपन" और "परिवार" की एक अनिवार्य स्थिति है । मनोविज्ञान अंतत: सामाजिक मनोविज्ञान है । हम मैं-बोध को

---

52. कई आधुनिक चिंतक तो फ्रायड को अंततोगत्वा "बुद्धि" और "विवेक" का अंध-समर्थक सिद्ध करते हैं क्योंकि "बीमार" को असामान्य कहकर उसे "सामान्य" बनाने की तथाकथित चिकित्सा प्रक्रिया को फ्रायड का पूरा समर्थन प्राप्त था । लैंग, कूपर या साज़ जैसे मनोचिकित्सक तो "समान्य" के प्रत्यय को ही एक राजनीति-प्रेरित मिथक बतलाते हैं ।

एक सामाजिक आचार के रूप में निरूपित कर चुके हैं । बंद मार्क्सवाद के सौंदर्यशास्त्रियों द्वारा "बचपन" की उपेक्षा और भी विस्मित करती है, जब हम पाते हैं कि युवा मार्क्स ने 17 सतरह वर्ष की उम्र में 17 साफ शब्दों में लिखा था -- "हमारे सामाजिक सम्बन्ध किसी सीमा तक, शुरू हो चुके होते हैं, इससे पहले कि हम उन्हें निर्धारण करने की स्थिति में आ सकें ।"[53]

परिवार सबसे पहले समाजीकरण की प्रक्रिया का एक उपयोगी उपकरण होता है । वह प्रयत्न करता है कि मानव जाति या नस्ल का नया रंगरूट वैसा ही अनुभव और व्यवहार करना सीखे, जैसा वह 17 परिवार 17 सीख चुका है । उसके बदले में वह सुरक्षा देता है । वह "सुरक्षा" कई बार ऐसी दुश्चिंताओं और संकटों से होती है, जो परिवार से बाहर होती नहीं है बल्कि उन्हें बाहर

---

53. —" our social relations have to some extent already commenced before we are in a position to determine them."— marx - quoted in "Marxism and Form" p.No 26

संभवत: मार्क्स का वह इतिहास के संदर्भ में प्रसिद्ध कथन, जिसके अनुसार, मनुष्य अपना इतिहास शून्य में नहीं बनाता बल्कि प्रदत्त स्थितियों से बनाता है, उपर्युक्त कथन का ही एक वयस्क और विकसित संस्करण है । हम कई बार कह चुके हैं कि अब मार्क्सवाद उन अनुशासनों से अपने को काट कर नहीं रख सकता, जो अपने-अपने क्षेत्रों में अध्ययन विश्लेषण और प्रयोग द्वारा मानव और उसके सम्बन्धों को समझने की दिशा में प्रगति कर रहे हैं । मनोचिकित्सा और मनोविश्लेषण भी ऐसे ही क्षेत्र हैं ।

की अपेक्षा में कल्पित और आविष्कृत किया जाता है । बालक को इस प्रकार अतिरिक्त सुरक्षा दी जाती है कि वह परिवार पर पूरी तरह से निर्भर हो जाता है ।

"परिवार" द्वारा दी जानेवाली सुरक्षा प्राय: कई पूर्व शर्तों के अनुसार होती है जैसे §1§ बाहरी संसार की एक संकट परक फंतासी §2§ उस काल्पनिक संकट-संसार की अपेक्षा में परिवार के भीतर पनप रही आतंकित पीढ़ी आदि । वस्तुत: परिवार की उपलब्धि वह आतंकित पीढ़ी ही होती है। यह उपलब्धि "हिंसा" द्वारा प्राप्त होती है । ऐसी "हिंसा" जिसे प्रेम कहा और समझा जाता है ।

परिवार का स्थायित्व अपने सदस्यों में भर दिये गये "आतंक" के अनुपात में ही टिका रहता है । हिंसा और आतंक ही उस स्थायी परिवार के आधार होते हैं । परिवार के भीतर की सर्वोच्च नैतिकता परस्पर-चिंता होती है । प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के विचार, भावना आदि को लेकर सदा चिंतित रहता है । इसी के साथ वह सदस्य अपनी "चिंता" के आधार पर यह नैतिक अधिकार पाता है कि दूसरे सदस्य भी उसके प्रति अनिवार्यत: चिंतित रहें । यह चिंतित होते रहने की एक अंतहीन पारिवारिक पारस्परिकता है । कोई भी पारिवारिक सदस्य को "मैं" बिना यह महसूस किये कोई हरकत नहीं कर सकता कि कोई पारिवारिक "तुम" उदास या दुखी हो रहा है, अथवा गर्वित या लज्जित हो रहा है । "मैं" का हर कर्म परिवार के दूसरे सदस्यों के प्रति "चिंता" से परिचालित होता है ।

लैंग ने ऐसी पारिवारिक स्थिति की व्यंग्य से आकृदल से समानता बतलायी है जो एक-दूसरे को एक-दसरे की हिंसा से सुरक्षा देते हैं । एक पारस्परिक आतंकवाद की स्थिति है ।[54]

इस "आतंक" और "सुरक्षा" के घालमेल से बनी स्थितियों में वह जन्म-क्षण आता है, जब पाषाणकालीन शिशु अपनी बीसवीं शती की माँ के सामने होता है । उसे इन हिंसक शक्तियों का सामना करना पड़ता है, जिन्हें "प्यार" कहा जाता है । उसके माता-पिता के साथ भी ऐसा ही हुआ था और उनके माता-पिता के साथ भी । इस हिंसा को, इस हिंसक ताने-बाने को प्राकृतिक [Natural] माना जाता है । यदि "सामान्य [Normal] होना" हो, रहना हो, तो हमारी अपनी हिंसा से एक दूसरे को "बचना" ही है । परिवार एक "सुरक्षा-चौकड़ी" [Protection Racket] के रूप में देखा जा सकता है । हम विवश हैं कि यही सब कुछ "समाजीकरण" है । मनुष्य जो कुछ भी बनता है, बना है, वह उसकी प्रकृति के अनुसार नहीं, बल्कि इसी समाजीकरण की प्रक्रिया के अनुसार संभव हुआ है ।

इस विवेचन के संदर्भ में हम यह सोच सकते हैं कि कोई शिशु जब तथाकथित "असामान्य" या "बुरा" होता है या "भले नहीं बिठा पाता है तो वस्तुत: क्या होता है । यह सच है कि बचपन में ही

---

54. — "A family can act as gangsters, offering each other mutual protection against each others violence. It is a reciprocal terrorism, with the offer of protection security, against the violence that each threatens the other with, and is threatened by, if any one steps out of time." — "The politics of experience" — R. D. Laing, p. 75-

व्यक्ति अधिकांशतः बन चुकता है । यदि फ्रायड का यह कथन न भी माने कि पांच वर्ष की उम्र तक व्यक्ति का चरित्र पूरी तरह से निर्धारित हो चुकता है तो भी यह माना जा सकता है कि प्रारंभिक वर्षों में आंतरिकीकृत नियम (= परिवार) बाद के वर्षों में भी बहुत प्रभावशाली रहते हैं । प्रस्तुत शोध प्रसंग में हम इतना जोड़ना जरूर चाहेंगे कि यदि बाद के वर्षों में कोई खास अंतर आ गया तो ठीक ऐसे ही नहीं होता है । बदली हुई सामाजिक स्थिति तब भी चेतना को निर्णायक रूप से प्रभावित करती है ।[55]

उदाहरण के लिए हम "बचपन" के ही दूसरे महत्वपूर्ण पक्ष "शिक्षा" को ले सकते हैं जो, कम से कम, वर्तमान में बालक के व्यक्तित्व को नष्ट करने में "परिवार" से कम कारगर सिद्ध नहीं होती ।

भारत में भारतेन्दुकाल के पहले से ही जिस शिक्षा पद्धति का प्रचलन अंग्रेजों द्वारा किया गया था, वह बिना किसी मूलभूत परिवर्तन के आज भी जारी है । उस शिक्षा पद्धति के पूंजीवादी चरित्र के प्रति शिक्षा शास्त्रियों ने बहुत कुछ लिखा है । पाओलो फ्रेअरे [Paulo Freili] की Pedogogy of the oppressed ईवान डी॰ईलिच [Ivan D. Illich] की De Schooling Society एवरेट रेमर [Everett Reimer] की "School is Dead" आदि विश्व-प्रसिद्ध कृतियां हैं ।

---

55. — "It is undoubtedly true that the rules on which a human being is fed, as it where, in the early years of life, profoundly affect his later behaviour. This is especially true of a person's rule diet," in later years does not differ markedly from that of his childhood."
— The meth of mental illness' — Dr. Thomas S. Szasz P. 181

हम बहुत ही संक्षेप में इस तथाकथित शिक्षा-पद्धति द्वारा बालकों के भीतर बैठायी जाती नकारात्मक प्रतिस्पर्धा की भावना, यौन-केन्द्रित भूमिकाओं का प्रशिक्षण, आत्मघाती नैतिकता आदि की चर्चा करेंगे। निश्चित ही हम फ्रायडीय मनोविज्ञान से अपने को अलग करेंगे क्योंकि शिक्षा-काल पांच वर्ष की वय के लगभग ही आरंभ होता है ।

सबसे पहले तो यह शिक्षा पद्धति एक प्रतियोगिता में धकेल कर बालक को अमूर्त और जनजलूल बना देती है । प्रारंभिक कक्षाओं में इस प्रकार के प्रश्न अध्यापक या अध्यापिका की कुशल अध्यापन पद्धति के अनिवार्य अंग होते हैं -- "तुम बच्चों में से कौन इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है ?"— प्रतिक्रिया में दर्जनों हाथ उठते हैं । कोई भी बालक बिना हाथ उठाये नहीं रह सकता यदि वह उत्तर जानता हो । दर्जनों में शामिल होकर वह अपने "अस्तित्व" को जनजलूलता का प्रशिक्षण देता है । उसे हाथ न उठाने में "अनस्तित्व" का भय प्रतीत होता है । पूंजीवाद में बुनियादी सांस्कृतिक प्रशिक्षण ही जब "प्रतिस्पर्धा" को लक्ष्य में रखकर दिया जाता हो तो कालांतर में यह आशा नहीं की जा सकती कि वे परस्पर प्रेम करना भी सीखेंगे । इस शिक्षा-पद्धति में यह आवश्यक है कि बच्चे घृणा करना सीखें यद्यपि इस सच तथ्य को स्वीकार कभी नहीं किया जायेगा । मान लीजिए "अ" एक प्रतिष्ठित विद्यालय, पब्लिक स्कूल या केन्द्रीय विद्यालय की प्रारंभिक कक्षा में पढ़ता है । उसे कोई मामूली से प्रश्न का उत्तर नहीं सूझ रहा है। "अध्यापिका" शिक्षा में उच्च-शिक्षिता है । वह उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है । प्रकारांतर से सारी कक्षा का ध्यान उस पर केन्द्रित होता है । "अ" को फिर भी उत्तर नहीं सूझता । अध्यापिका कक्षा की ओर

देखकर पूछती है -- "तुम में से कौन "अ" को सही उत्तर बता सकता है ?" दर्जनों हाथ उठते हैं। अध्यापिका "ब" को बुलाती है। "ब" "अ" को सही उत्तर बतलाता है। "अ" की असफलता "ब" की सफलता बनती है। "अ" के लिए तो यह दुस्वप्न से कम नहीं होता। वह उस असफलता के दुस्वप्न को आंतरिकीकृत करता है। उस दुस्वप्न की केन्द्रीय वस्तु "असफलता" है। विद्यालय में "अ" मात्र पढ़ाई नहीं कर रहा है, वह उस "दुस्वप्न" को भी सीख रहा है। "हमारी संस्कृति में सफल होने के लिए जरूरी है कि असफलता का स्वप्न देखना सीखा जाय।"[56]

शिक्षा पद्धति में लड़के-लड़की का समाज-मान्य देह-मिथकों के अंतर्गत भेदभाव करना भी एक सामान्य बात है। लड़की को अनिवार्यत: वह "औरत" बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, जो कालांतर में "चीज़" की भूमिका निभाए। सामान्यत: पाया जानेवाला वस्तु-पूजा (Fetishism) का स्थान महिलाओं को "प्रदत्त" होता है। बुर्जुआ नैतिकता तो प्राथमिक कक्षाओं से ही कुछ इस तरह सिखायी जाती है कि बालक-बालिकाओं की मस्तिष्कीय शक्तियां "यौन" नैतिकता के विधि-निषेधों में अपनी अधिकांश उर्जा गंवाती रहती हैं।

यह शिक्षा-पद्धति मस्तिष्क को स्वतंत्र करने का उपकरण नहीं है, बल्कि उसे बंदी बनाने की साधन है। बालकों को मात्र

---

56. "To be successful in our culture one must learn to dream of failure": Culture against Man.
J. Henry - P. 296.

स्वीकार करना, मान लेना सिखाया जाता है । किन्हीं पाठशालाओं में परिष्कृत ढंग से और किन्हीं में भद्दे ढंग से । लक्ष्य एक ही होता है । परिवार और शिक्षण संस्थाएं, एक ही लक्ष्य को न्यूनाधिक रूप से प्राप्त करती हैं ।

यदि ऐसा अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के प्रवेश के साथ हुआ तो क्या पहले अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति थी ? तब एक तो शिक्षा का प्रचार-प्रसार ही नहीं था । सामंती व्यवस्था मूलत: सैनिक व्यवस्था होती है और शिक्षा का प्रचार-प्रसार उसके हितों के प्रतिकूल जाता है । यह तो पूंजीवाद की प्रतिस्पर्धा-मूलक व्यवस्था के लिए आवश्यक होता है कि बालक सफलता-असफलता के पाठ सीखे और साथ ही व्यवस्था के आर्थिक ताने बाने में कोई भूमिका निभायें । सामंती व्यवस्था में एक तो उच्च-सामाजिक श्रेणी के बालक ही शिक्षा प्राप्त करते थे और दूसरे, शिक्षण संस्थाएं, किसी भी सामाजिक व्यवस्था में "राज्य" (State) के अधीन होती हैं -- तो उसमें भी बालक वही सब सीखते रहे होंगे, जो उन्हें सिखाया जाता रहा होगा । सामंती सोच और सामंती व्यवहार के अनुकूल ही-यदा-कदा पर्याप्त उदारता के साथ -- सामंती शिक्षण पद्धति का स्वरूप था ।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सामंती संस्कारोंवाले बालक पूंजीवादी शिक्षा-पद्धति से दो-चार हो रहे थे । परिणाम-स्वरूप एक विशिष्ट कोटि के मेल न बैठा सकनेवाले (Misfit) बालक भी तैयार हुए और उन्होंने "पारिवारिक प्रदत्त" तथा "शैक्षिक प्रदत्त" दोनों के प्रति प्रतिरोध किया । "प्रतिरोध" जिस सीमा तक सफल हुआ, वे एक नये युग के वाहक बनें, जिसे हम वाम चेतना का प्रारंभिक युग कहकर विवेचित कर रहे हैं और जिस

सीमा तक वे असफल हुए, उस सीमा तक उनकी रचनाओं और उनके कार्य-कलापों में अंतर्विरोध दिखायी देते हैं । एक ओर भारतेंदु हरिश्चंद्र वैष्णव थे और वैष्णव उदारतावाद की सारी विशेषताएं-न्यूनताएं उनमें मिलती हैं तो दूसरी ओर वे 'भारत-दुर्दशा' या 'अंधेर नगरी' लिख रहे थे । यह उस युग के अधिकांश कवियों रचनाकारों के लिए अपने-अपने ढंग से सच है । उनके अंतर्विरोध के नकारात्मक पहलू की बात करते हुए उन्हें अस्वीकार भी किया गया है और सकारात्मक पहलू पर बल देकर उन्हें सम्मानित भी किया गया है। एक ओर साही है, जो भारतेन्दु की एकाध पंक्ति ऐसी उद्धृत करके जो सामंती वफादारी चरित्र की है, उन्हें प्रगतिशील मानने वालों पर विस्मय प्रकट करते हैं ।[57] और दूसरी ओर रामविलास जी ने उन्हें, उनके युग की सापेक्षता में रखकर इस प्रकार विवेचित किया है कि वे हमारे लिए भी, अपनी प्रगतिशीलता में, मार्गदर्शक की भूमिका निभा सकें ।

हम रामविलास जी के विवेचन की कमियों को जानते हुए भी उनके साथ हैं । सबसे पहले उन्होंने ही व्यक्ति को युग की सापेक्षता में देखा। भारतेन्दु हरिश्चंद्र या राधाचरण गोस्वामी के अंतर्विरोध उस युग के अंतर्विरोध थे और उन अंतर्विरोधों में सक्रिय उस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को देखा जाना चाहिए, जिसने कालांतर में महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला या मुक्तिबोध को संभव किया ।

जिन कवियों-रचनाकारों की रचनाएं हम अपने विवेच्य काल-खण्ड में जानते हैं, वे सब अपनी-अपनी विशिष्ट जीवन-स्थितियों

---

57. साहित्य-अवक-विनोद - सं0 अशोक वाजपेयी, पृ. 320
शिवदानसिंह चौहान का स्वर भी यही है ।
हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष - पृ. 58

में अपने परिवार और अपने बचपन के युगीन अंतर्विरोधों से जूझ रहे थे। यदि ढूंढा जाय तो सभी में सामंती, साम्प्रदायिक, रूढ़िवादी आदि नकारात्मकताएं प्रचुर या अल्प मात्रा में प्राप्त हो ही जायेगी, किंतु ऐसी भी अभिव्यक्तियां प्राप्त होंगी, जो उनकी अपनी नकारात्मकताओं पर विजय का प्रमाण मानी जायेगी ।

प्रतिरोध एक द्वंद्वात्मकप्रक्रिया है और भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला आदि का व्यक्तित्व उनकी उस द्वंद्वात्मक विजय का प्रमाण है ।[58]

हमारी यह स्थापना है कि यदि उन कृति-व्यक्तित्वों के बचपन के बारे में और तथ्य प्राप्त हों अथवा उनकी पारिवारिक स्थितियों की और अधिक जानकारी हो तो हम उस अंतर्विरोधद्वय को, उस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को, ज्यादा अच्छी तरह जान सकेंगे, जिसका परिणाम उनके "कर्म" और "कृतियां" हैं ।

किसी व्यक्ति, किसी रचना या किसी घटना में अंतर्विरोध देखकर उस पर टिप्पणी जड देने से कोई सार्थकनिष्कर्ष की संभावना नहीं जागती, बल्कि उसे युग-सापेक्षता में देखना होता है ।[59]

---

58. "Personality is a dialectical conquest." False consciousness – Joseph Gabel – P. 231.

59. "सन् '52 में "कहानी" में प्रकाशित अपने एक महत्वपूर्ण लेख में डॉ० नामवर सिंह ने लिखा था -- "हर घटना में अंतर्विरोधलक्षित करना एक बात है, लेकिन युग के मुख्य अंतर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करना दूसरी बात है ।" पहले 9 मार्च 1977, सुरेन्द्र चौधरी के "समकालीन कहानी और विचार धाराएं : मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की समस्याएं" नामक लेख में उद्धृत – पृ० 34

वह युग, किसी भी अन्य युग की तरह, अंतर्विरोधों से पूरा भरपूर था । विरोधी शक्तियों की टकराहट हर क्षेत्र में थी । अपने को उत्पीड़ित समझना और फिर अतीत के मंथन द्वारा आत्म-गौरव की प्राप्ति के प्रयत्न करना यह युग चरित्र था । इस युग चरित्र से साक्षात्कार करता हुआ बालक अपने "परिवार" और "शिक्षा" से भी जूझ रहा था । एक उथल-पुथल थी और वह धीरे-धीरे विस्फोटक रूप में पहुँची चुकी थी । प्रचार-प्रसार के साधन भले ही आजकी तुलना में न्यून हो किंतु हम जानते हैं कि ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, विवेकानंद आदि के नाम और उनके विचार अपनी सीमाओं में पर्याप्त प्रभावशाली थे । उस युग के अंतर्विरोध की इससे बड़ी और क्या पहचान होगी कि जिस संस्था (= कांग्रेस) का जन्म अंग्रेजों से सहयोग के उद्देश्य से हुआ वह स्वाधीनता की चाहना करने लगी । फिर उस के चरित्र के भी अपने ऐसे उतार-चढ़ाव हैं, कि पूरा युग झाँकता है । लाल-बाल-पाल के नेतृत्व का काल अगर कांग्रेस के स्थापना उद्देश्यों के विपरीत जाता था तो गांधी जी के आगमन ने फिर उसे अंग्रेजों की सहयोगी संस्था बना दिया । एक ओर साम्राज्यवाद और सामंतवाद का जबर्दस्त विरोध और दूसरी ओर जब-तब आंदोलनों को वापस ले लेना तथा सरकार से समझौते की बात चलाना इससे गांधीजी के अंतर्विरोध तो उजागर होते ही थे, साथ ही वे अपने अनजाने में भारतीय जनता का मनोबल भी तोड़ रहे थे । एक ही संस्था थी कांग्रेस और उसी के नेता थे तिलक और बाद में गांधी । सन् १९०८ में हुए बम-विस्फोटक का समर्थन तिलक ने किया तो उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हें कालेपानी जाना पड़ा । उसके विरोध में बंबई के मजदूरों की पहली राजनीतिक हड़ताल हुई और वह ऐसी थी कि हजारों मील दूर बैठे

लेनिन ने उसे "महत्वपूर्ण घटना" कहकर विशेषीकृत किया ।[60] उसी कांग्रेस के गांधीजी मदनलाल ढींगरा की देशभक्ति को अंधी कह रहे थे ।[61]

प्रस्तुत विवेचन में यह विवरण इसलिए कि भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर निराला, पंत तक के बचपन की यही युगीन भूमि थी । स्वयं-स्फूर्त ढंग से हड़तालें हो रही थी । रूसी क्रांति तब तक नहीं हुई थी और सन् 1907 से पहले महावीर प्रसाद द्विवेदी उन हड़तालों का विश्लेषण कर रहे थे ।[62] राजनीतिक मुक्ति के

---

60. गांधी जी और उनका वाद -ई.एम.एस.नम्बुदिरीपाद । पृ.12
61. ढींगरा की जिस देशभक्ति को महात्मा गांधी "अंधी" कह रहे थे, उसका सही स्वरूप जानने के लिए आवश्यक है कि हम उनका बयान जानें -- मदनलाल ढींगरा ने अपने बयान में कहा था -- "विदेशी संगीनों द्वारा गुलाम बनाकर रखा गया राष्ट्र निरंतर युद्ध की स्थिति में रहता है । ..... अपनी मातृभूमि का मैं एक साधारण पुत्र हूं, जिसके पास न धन की शक्ति है न बुद्धि की । अतएव वह मां को मात्र अपना रक्त ही अर्पित कर सकता है । इसीलिए मैं अपनी बलि दे रहा हूं । भारत को इस समय मरना सिखाने की आवश्यकता है । यह काम स्वयं मरकर ही किया जा सकता है ।" ढींगरा के बयान पर चर्चिल जैसा कट्टर साम्राज्यवादी भी मुग्ध हो उठा और उसने कहा "देश-भक्ति के नाम पर इतना सुंदर बयान अभी तक किसी ने नहीं दिया था ।"
महात्मा गांधी की जीवनी -डी.जी.तेंदुलकर - खण्ड-1, पृ. 125
62. कलम-3-4, 1979 पृ. 110 प्राय: यह भ्रम पाया जाता है कि मजदूर, हड़ताल, संगठन आदि के महत्व की स्थापना रूसी क्रांति के प्रभाव से हुई जबकि बहुत पहले से न सिर्फ ये विषय चर्चा के केन्द्र थे बल्कि युगीन सीमाओं में लेख और पुस्तकें भी लिखी जा रही थी । कहा जा सकता है कि इन सबके पीछे कोई सुविचारित राजनीतिक सिद्धांत नहीं था और यह सब स्वत:स्फूर्त ढंग से हो रहा था । किंतु इस कथन से इनका महत्व कम नहीं हो जाता ।

के लिए बंग-भंग (1905-6) असहयोग (1920-22) जैसे आंदोलन थे तो 30 दिसंबर 1906 को आल इण्डिया मुस्लिम लीग जैसी साम्प्रदायिक संस्था की स्थापना हो रही थी ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वह युग (1857-1936) जिन अंतर्विरोधों से ग्रस्त था, उनसे रचनाकारों के "परिवार" और "बचपन" निरपेक्ष नहीं रह सकते थे । फिर अपनी-अपनी वैयक्तिक-पारिवारिक स्थितियाँ थी । किसी के पिता कवि थे और चालीस ग्रंथों के रचयिता थे पर अंग्रेजों के विश्वास पात्र थे (भारतेन्दु हरिश्चंद्र) तो किसी के पिता का बचपन में ही स्वर्गवास हो गया (सनेही, वियोगीहरि, जयशंकर प्रसाद आदि) किसी को माता-पिता दोनों का ही वात्सल्य प्राप्त नहीं हो सका । (सत्यनारायणकविरत्न) किसी का बचपन मातृ-विहीन ही रहा (निराला) तात्पर्य मात्र यह है कि प्रत्येक की विशिष्ट पारिवारिक स्थिति और "बचपन" का निर्णायक प्रभाव उनकी रचनात्मक क्षमता-अक्षमता पर पड़ा ।

चाहे युग हो या उसकी सापेक्षता में स्थित "परिवार" और उसके सदस्य हों - वे अपनी-अपनी सीमाओं में एक "पूर्ण" की ही रचना करते हैं । अंतर्विरोध भी उस "पूर्ण" का निराकरण नहीं करते बल्कि उसमें समाहित होकर द्वंद्वात्मक प्रक्रिया की गति को तीव्र करते हैं । कहना न होगा कि युग-चेतना किसी एक बोली या भाषा में ही अभिव्यक्त हो रही हो, ऐसा नहीं था बल्कि यदि अन्य प्रादेशिक भाषाओं को छोड़ दें तो भी हिंदी प्रदेश की प्राय: सभी बोलियों में युग-चेतन साहित्य की रचना हो रही थी । हमारे शोध-क्षेत्र में उन सबको समेट नहीं जा सकता किंतु खड़ी बोली के

सर्व-सम्मत रूप में लिखे जा रहे साहित्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए भी हम दक्खिनी, राजस्थानी, अवधी, ब्रज आदि में लिखे जा रहे तत्कालीन साहित्य की सराहना करते हैं। "चेतना" विषयक विवेचन में हमारी यह स्वीकृति हमारे निष्कर्षों को शक्ति ही प्रदान करती है।

§4§ भारतीय वाम चेतना : स्वरूप और रूपांतरण :

प्रस्तुत प्रसंग में हमें उस "चेतना" के स्वरूप और उसके रूपांतरण को समझना है, जिसे हम सामान्यतः "वाम" से विशेषित करना चाहते हैं। अद्यतन विवेचन में हमने उस बुनियाद की ओर संकेत किया है, जिसके आधार पर ही चेतना, विशेषतः भारतीय चेतना को स्वरूप प्राप्त होता है। "बुनियाद" से हमारा तात्पर्य वास्तुशिल्पीय (Architectural) सादृश्य पर बल देना नहीं है, क्योंकि "चेतना" वर्ग-वर्ण, परिवार, बचपन और राजनीतिक घटनाओं के भीतर भी प्रवाहित होती रही है। यह निश्चित है कि प्रमुख रूप से हम राजनीतिक घटनाओं को रेखांकित करना चाहेंगे यद्यपि उन्हें राजनीतिक व्यवहार या कर्म (Action = Praxis) की संज्ञा देकर उनसे ध्वनित होती "निरपेक्षता" का निराकरण हम अवश्य करेंगे। चेतना का वाम-रूपांतरण राजनीतिक कर्म का ही उप निगमन (Corollary) होता है।[63]

---

63. "Consciousness is a corollary of concrete political action": False Consciousness. Joseph Gabel — Preface.

चेतना का इतिहास लिखना एक दुष्कर कार्य है । घटनाओं का ब्यौरा लिख देने से "चेतना" तत्व कतई स्पष्ट नहीं होता ।[64]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग के अंतर्गत "बोध" के बारे में विस्तृत चर्चा हो चुकी है । चेतना बोध का ही विकसित रूप है । हम कह चुके हैं -- "चेतना बुनियादी रूप से एक सामाजिक अनुभव है ।" मार्क्स ने कहा है -- "जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना ही जीवन द्वारा निर्धारित होती है ।"[65] इस कथन की

---

64. "It is easier to write a history of matter than consciousness" — Sartre — Quoted by Fredric Jameson in 'Marxism and Form' — P. 297.

65. "Life is not determined by consciousness, but consciousness by life" — Marx — Ibid.

एंगेल्स ने चेतना को विचार की ही तरह मस्तिष्कीय उत्पाद माना है - "Thought and consciousness are product of human brain" — Anti-Duhring — P. 44.

चेर्नोव ने चेतना को पदार्थ की आंतरिक अवस्था निरूपित किया है -- "Consciousness is an internal state of matter" — Marxists on Literature — Ed. David Krieg. P. 36.

जो व्याख्या हो सकती है, वह हम कई प्रकार से अब तक करते आये हैं। समाज जब मैं-बोध तक को निर्धारित करत हो तो "चेतना" की समाजसापेक्षता स्वत: सिद्ध है। इसे इस तरह कहा जा सकता है कि समाज और वातावरण के बीच का जो सम्बन्ध व्यक्ति में प्रतिबिम्बित होगा, वही "चेतना" होगा।[66] उसका चरित्र, बोध की तरह ही, भाषिक होगा।[67] 'कामायनी' पर पुनर्विचार करते हुए मुक्तिबोध ने सबसे पहले यह आवश्यक समझा कि "चेतना" को परिभाषित कर लिया जाय। उन्होंने जीवन को त्रिकोणात्मक देखने का सुझाव दिया है। उसकी एक भुजा बाह्य जगत (समग्रत:) और दूसरी भुजा अंतर्जगत है और इन दो भुजाओं से ही "अपना स्वरूप और आकार स्थापित करनेवाली त्रिभुज की तीसरी भुजा "चेतना" है। अंतर्जगत और बाह्यजगत के क्रम भेद से भी मुक्तिबोध भलीभाँति परिचित थे। वे बार-बार अंतर्जीवन को बाह्य जीवन का ही एकरूप बतलाते हैं। -- "मनुष्य के अंतर्जीवन का इतिहास बाह्य द्वारा दिये गये तत्वों से बना हुआ होता है। --

---

66. वस्तुत: "चेतना" सम्बन्धी चिंतन को अनिवार्यत: वैज्ञानिक और तकनीकी होना पड़ता है। अनुकूलित प्रतिवर्तन (Conditioned reflection) और अन-अनुकूलित प्रतिवर्तन (unconditioned reflection) संबंधी पावलाव के प्रयोग इसमें निर्णायक भूमिका अपनाते हैं। प्राथमिक संकेतक प्रणाली से द्वितीयक संकेतक प्रणाली तक पहुँचना ही "चेतना" पाना है। भाषा द्वितीयक संकेतक प्रणाली है।

67. मार्क्स ने "मनुष्य" को भाषा की सापेक्षता में ही चेतना संपन्न देखा है +- "Speech is the direct reality of thought" — Concerning Marxism in Linguistics — J. V. Stalin. P. 29.

"अनुभव के अंतर्गत, जो बिम्ब, भाव अथवा विचार प्रस्तुत होते हैं, वे बाह्य के ही सम्पादित, संशोधित रूप है ।"[68] मुक्तिबोध के अनुसार "मानव चेतना की प्रक्रियाएँ" भले ही "प्राणी शास्त्रीय" आधारों पर खड़ी हों, किंतु वे "मूलत: मनोवैज्ञानिक हैं" । उनका निष्कर्ष है -- "चेतना के तत्व बाह्य के आभ्यंतरीकृत रूप हैं ।" x x x वे आगे कहते हैं -- " चेतना के तत्व बाह्य के आत्मसातकृत बिम्ब हैं । उनका आधार बाह्यगत है, आकार बाह्यगत है, किंतु उनकी अग्नि और उनका तेज आत्म-गत है ।"[69]

चेतना के इस सारे विवेचन के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि चेतना क्या है ? किंतु हमारे शोध-प्रसंग में मात्र चेतना

---

68. मुक्तिबोध रचनावली : चार, पृ. 215। मुक्तिबोध समाज को आवयविक संरचना के रूप में देखते थे । "समाज रेत का वह ढेर नहीं, जिसमें का प्रत्येक कण एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्पर्क रखते हुए भी एक दूसरे से विलग और स्वतंत्र रहता है । समाज एक वृक्ष की भाँति है, जिसका प्रत्येक भाग, प्रत्येक अंश, प्रत्येक कण और प्रत्येक बिंदु एक-दूसरे से और अपने पूर्ण अखण्ड से आवयविक संबंध रखता है ।" हम मुक्तिबोध की अंतर्दृष्टि की बात कर चुके हैं । तुलना कीजिए -- "Human beings relate to each other not simply externally, like two billiard balls, but by the relations of the two worlds of experience that come into play when two people meet." The Politics of experience. R.D. Laing. P 33- की याद भी की जा सकती है । बस की कतार में खड़े लोग कैसे लक्ष्य पूर्वक ता के धरातल पर "एकता" प्राप्त करते हैं ।

69. वही – पृ. 216. इसंबंधि
हम सत्ता-मीमांसा (ontology) संबंधित चर्चा में मार्लोपोंती द्वारा वस्तु जगत को सत्ता (being) की तुलना में प्राथमिकता देने की बात लिख चुके हैं । निश्चित ही मार्लोपोंती भी चेतना को वस्तु जगत द्वारा ही निर्दिष्ट मानते हैं ।

से क्या होगा, जो "प्रतिबिंब" है या "आत्मसातकृत बिम्ब है। क्या हम सहज ही "वाम" विशेषण इस चेतना के साथ जोड़कर "वाम चेतना" को परिभाषित मान लें? यहां हम मार्लोपोंती की इस चिंता और चाहना को याद कर सकते हैं कि "मार्क्सवाद को एक चेतना-विषयक सिद्धांत की आवश्यकता है।"[70] "प्रतिबिंब या "आत्मसातकृत बिम्ब" में निश्चित ही मुक्तिबोध का "कृत" एक सक्रियता और "कर्म" की ओर संकेत करता है किंतु हमें अपने विवेचन को आगे बढ़ाने के लिए अपने ढंग से चर्चा आगे बढ़ानी होगी।

हमें याद करना होगा कि हमने "प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध" और "आचार" को वाम की प्राथमिक लक्षण निरूपित किया था। "बोध" को भी हमने सामाजिक कर्म (= आचार) माना था। "चेतना" जहां "प्रदत्त" से समीकृत होगी, वहां वह छद्म-चेतना ही होगी भले ही समाज और वातावरण के बीच का संबंध ही व्यक्ति में प्रतिबिम्बित हो। हमारा आग्रह होने पर नहीं बल्कि करने पर होगा। "प्रतिबिम्बित होने में व्यक्ति जड़ और निर्जीव ग्रहण-कर्ता के रूप में उपस्थित है। सार्त्र का "चेतना" को "कर्म" मानना, यहां हमारे लिए उपयोगी होगा। सार्त्र की विशिष्ट दार्शनिक पदावली में "चेतना" का अर्थ होगा स्वयं को अतिक्रमित करने की प्रक्रिया (= the transcending For — Itself)[71] सार्त्र हुर्ल से प्रभावित

---

70. ~~वही पृ. 216~~ Quoted in False Consciousness — Joseph Gabel — Preface. हम सत्ता-मीमांसा (Ontology) संबंधी संक्षिप्त चर्चा में मार्लोपोंती द्वारा "वस्तु जगत" को सत्ता (being) की तुलना में प्राथमिकता देने की बात लिख चुके हैं। निश्चित ही मार्लोपोंती भी चेतना को वस्तु-जगत द्वारा ही निर्दिष्ट मानते हैं।

71. "Consciousness is a being that in its being its being is in question in so far as this being implies a being other than itself" — Being and Nothingness — Sartre. P. 801.

थे, इस बारे में अब किसी को कोई संदेह नहीं । हुसर्ल के अनुसार सार्त्र भी मानते थे कि "चेतना" हमेशा ही किसी "विषय" की चेतना होती है । सार्त्र कभी तो चेतना को मानसिक विषयों के आधार पर बाँटते हैं, जैसे पीड़ा-चेतना, लज्जा-चेतना किंतु उनके चेतना संबंधी दो भेद ही प्रमुख हैं -- §1§ अप्रतिबिम्बात्मक चेतना— इसमें "ज्ञान" नहीं होता §2§ प्रतिबिम्बात्मक चेतना -- इसमें "चेतना" अपने "चेतना" होने और उस "विषय" से अलग होने, जिसकी वह "चेतना" है, का पूरा ज्ञान रखती है ।[72] सार्त्र के मत से यही "चेतना" आधार है । स्पष्ट ही यह एक प्रक्रिया है, जो अप्रतिबिम्बात्मक चेतना से प्रतिबिम्बात्मक चेतना की ओर जारी रहती है ।

हमने कहा है कि चेतना प्रदत्त नहीं होती, वह "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोधात्मक प्रक्रिया होती है ।" x x x प्रामाणिक चेतना

---

72. डेविड कूपर ने इस विषय में हुसर्ल को उद्धृत किया है - "That there is no consciousness that is not a consciousness of something, that there is an organic link between consciousness and its object." (Husserl)
इस कथन पर डेविड कूपर की टिप्पणी है -- "Otherwise we would be left with a 'property' state of affairs in which we 'had' a consciousness which had 'its object.'" कूपर "अ-सम्पत्ति केन्द्रित दृष्टिकोण" (Non-property-oriented view) की हिमायत करते हुए निदेशन (direction) का सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं । इसके अनुसार चित्त (mind) और विषय (object) के बीच का सम्बन्ध का निर्धारण द्वंद्वात्मक पद्धति पर होता है । निश्चित ही इसमें "स्व" कोई स्थिर स्थिती नहीं है बल्कि निदर्शनात्मक स्व-परिवर्तन (directional self-alteration) ही "स्व" की सही स्थिति है ।

प्रदत्त नहीं होती, अपितु छद्म-चेतना की स्थिति से द्वंद्वात्मक अतिक्रमण होती है, वह "विजय" (Conquest) होती है और वैयक्तिक वयस्कता की प्राप्ति के अनुपात में क्रमशः प्राप्त होती है।[73] डेविड कूपर ने इस प्रसंग में अंग्रेजी शब्द "कांशसनेस" को अपर्याप्त माना है, वह उसे "अवेयरनेस" (Awareness) कहना चाहता है।[74] भारतीय दार्शनिकों की स्थिति स्पष्ट है, वे चेतना को स्व-चेतना से समीकृत करते हैं तथा अनिवार्यतः उसे कहीं स्थित नहीं मानते अपितु "व्यवहार" में निहित देखते हैं।[75]

---

73. False Consciousness — Joseph Gabel. P. 3.

74. Consciousness की लेटिन व्युत्पत्ति है = Cum + Scise = to know fully. जबकि awareness का अर्थ होगा A watchful state. डेविड कूपर awareness को अधिक उचित समझते हैं — The Grammar of Living. P 21.

75. "It seems that the problem of the nature of mind and its relation to matter maybe satisfactorily solved only if we think of mind as a higher form of matter capable of reflecting the nature of self which is consciousness. This mind or Mānas, the Indian philosopher says, has no concete abode. It is a name given to a series of conscious activities such as desire, aversion, pleasure, pain, intelligence, knowledge, thought etc. This mind is that which is capable of reflecting to the past, present and future." Concept of Mind in Indian Philosophy — Sarasvathi Chennakesavan. Preface.

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में हम देखते हैं कि भारतीय चेतना का वास्तविक रूपांतरण उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही होने लगा था। अपने को उत्पीड़न का विषयकर के जानना तथा उसे दूर करने की इच्छा व्यक्त करना - यह मानस बन चला था किंतु स्पष्ट संकेत हमें सन् 1857 के बाद ही मिलते हैं। न सिर्फ किसी एक बोली या भाषा में बल्कि कई भाषाओं और बोलियों में असंतोष, शिकायत, ग्लानि आदि की अभिव्यक्ति होने लगी। अपने राजनीतिक वर्तमान को अतिक्रमित करने की चेष्टा स्पष्ट रूप से वाणी और व्यवहार दोनों में ही प्रकट हो रही थी।[76]

प्रसंगवश इस "वर्तमान" के प्रति जागरूक होती भारतीय चेतना की चर्चा के दौरान मानव-कर्म की अपेक्षा में "काल" को संक्षिप्त रूप में समझ लिया जाय। अपने आचरण के रूप में इतिहास को देखना एक बहुत बड़ा दृष्टि-परिवर्तन होता है। उत्पीड़क के विरुद्ध किसी भी तरह की कार्रवाई का आरंभ इसी परिवर्तन प्रक्रिया का सूचक होता है। न केवल स्वयं को उत्पीड़न का "विषय" जानना बल्कि यह भी जानना कि इस स्थिति को बदला भी जा सकता है, एक प्रकार से अपने को, "समय" या "ऐतिहासिक सीमाओं" से बाहर जाकर देखने की चेष्टा है। फ्रेडरिक जेम्सन ने एक जगह

---

76. "वर्तमान" का सार्त्रीय अर्थ यहां हमारे अनुकूल होगा। सार्त्र के लिए "वर्तमान" का अर्थ "नहीं" (Not) होता है। वर्तमान में एक आंतरिक नकार होता है। वर्तमान भविष्य की ओर उड़ान होता है। यदि ऐसा नहीं है तो वर्तमान भी नहीं है। (Being and Nothingness P605. कहना न होगा कि अपने राजनीतिक वर्तमान में हस्तक्षेप करने या उसे अतिक्रमित करने की बात कहकर हम भारतीय चेतना की इसी कर्म-केन्द्रित भविष्योन्मुखता की ओर संकेत कर रहे हैं।

ज्वायस स्टीफन का एक कथन उद्धृत किया है -- "इतिहास एक दुस्वप्न है, जिससे मैं जागना चाहता हूं।"[77] किंतु जब तक दुस्वप्न की तीव्रता का पता न चले, जागना कठिन है। "ऐतिहासिक-काल" के साथ एक विचित्र स्थिति है। निकट से देखने पर जो इस काल की न्यूनताएं प्रतीत होती हैं, कालांतर में वेही उस काल की प्रमुख विशेषताएं मान ली जाती है। क्रांति-विद्रोह आदि के छुट-पुट प्रयत्नों को उनकी सही विराट भूमिका में समझ पाना पर्याप्त समय बीतने पर ही संभव हो पाता है। भविष्य की अपेक्षा में सीमाएं संभावनाएं सिद्ध हो जाती हैं और संभावनाएं सीमाएं।

"चेतना" अपने वाम-रूपांतरण की प्रक्रिया में सबसे पहले आत्म-चेतना (Self-consciousness) होती है। उसमें न सिर्फ प्रदत्त स्थिति या विषय बल्कि चिंतन-प्रक्रिया पर भी सतत चिंतन किया जाता है।[78]

---

77. "History is a nightmare from which I am trying to awake." Joyce Stephen, Quoted in Marxism and Poem, P 305

78. हेगेल और मार्क्स के बीच अंतर करने का आधार भी यह "आत्म-चेतना" हो सकती है। हेगेल के लिए शुद्ध बौद्धिक श्रेणियां थी, जैसे विषय / विषयी, मात्रा/गुण/, ससीम/असीम आदि/मार्क्स के लिए आत्म-चेतना का अर्थ (य उद्देश्य) समाज और इतिहास में चिंतक की "स्थिति" को जानना है। स्थिति (=वर्ग स्थिति) और विचारधारा ही मार्क्सवादी चिंतन (प्रस्तुत विवेचन में हम कह सकते हैं वाम चिंतन- जो वाम चेतना का परिणाम होता है) का चरित्र निर्धारित करती है। यह ध्यातव्य है कि आत्म-चेतना का अर्थ आत्म-निरीक्षण (Introspection) नहीं है। छद्मात्मक चिंतन किसी भी स्थिति में निजी चिंतन नहीं हो सकता।

अपने अतीत के गौरव को जानने का प्रयत्न करना, उन्नीसवी सदी के भारतीय मानस की एक सामान्य विशेषता कही जायेगी । "अतीत" का महत्व "भविष्य" की सापेक्षता में ही देखा जा सकता है | हमने काल-बोध के साथ अनिवार्यत: सम्बद्ध "चिंता" (Anxiety) की बात कही थी । वह चिंता अपने अतिवादी रूप में "शून्यवाद" (Nihilism) की जननी होती है । ऐसे में किसी भी प्रकार की "आशा" की संभावना नहीं बचती । दर्शन और कविता में ऐसे अनुभव-क्षणों की अभिव्यक्ति प्राय: मिलती रही है । अतीत का स्मरण जहां अपने को जानने की एक चेष्टा है, क्रांति का दूसरा चरण है, वही अपनी घातक परिणति में "भविष्य" को "स्मृति" पर आधारित करके उसे भूत-केन्द्रित रूप में देखना भी भारत के तथाकथित पुनरुत्थान युग की एक सामान्य विशेषता थी ।

बार-बार "प्रतिरोध" और "आचार" की चर्चा करते हुए हमने "वाम" दृष्टि की अन्य विशेषताओं को विस्मृत नहीं किया है । विशेषत: यूतोपियात्मकता । यूतोपिया का आधार अतीत है, यह हम कह चुके हैं । अतीत और भविष्य के बीच कृत्रिमता न होने की बात मार्क्स ने भी एक पत्र में लिखी थी ।[79] इस "न होने" में ध्वनित

---

79. "So our campaign slogan must be : Reform of consciousness, not through dogma, but through the analysis of that mystical consciousness which has not yet become clear to itself. It will then turn out that the world has long dreamt of that of which it had only to have a clear idea to possess it really. It will turn out that it is not a question of any conceptual impasse between past future but "स्मृति" यदि अपने होने में वस्तु-कृत हो जाय तो ही वह भविष्य को भूत-केन्द्रित देखने की प्रेरणा देगी । नहीं तो "चिंता" और स्मृति दोनों ही "कर्म" की सहायिकाएं हो सकती हैं ।

ly of the letion of the ights of the t" Marx - letter to Ruge. 1843.

नैरंतर्य के बारे में हमने लिखा है । मानव-आचार की सापेक्षता में काल को देखने का सुझाव हमने दिया है ।

ब्लाख ने, विशेषतः "उपन्यास" विधा के बारे में विचार करते हुए कहा है कि वह किस प्रकार अपनी सार्थकता में "खालीपन" (Emptiness) होता है । कोरा फलक (Blank canvas) उसका सौंदर्यबोधात्मक असंतोष उसकी संरचना में ग्रथित होकर उसे अनिवार्यतः खण्डमय (Fragmentary) बनाता है ।[80] प्रस्तुत शोध-प्रसंग में हम कहना चाहेंगे कि न्यूनाधिक रूप से यह प्रत्येक कलाविधा के विषय में सही है । एक सौंदर्यबोधात्मक असंतोष कविता की संरचना से भी स्पष्ट झलकता है । मुक्तिबोध ने लिखा भी था -- "नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होती / कि वह आवेग त्वरित काल-यात्री है । व मैं उसका नहीं कर्ता, / पिता-धाता / कि वह कभी दुहिता नहीं होती"[81]

वस्तुतः उपन्यास में "वर्णन" (Narration) कई बार इस भ्रम की सृष्टि करता है कि वही "यथार्थ" की पुनर्रचना में सक्षम है । मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में जब भी साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण किया गया, उपन्यासों को ही "कृति" का पद दिया गया । लुकाच का सारा यथार्थवाद सम्बन्धी विश्लेषण उपन्यासों पर केंद्रित रहा । जबकि मार्क्सवादी समीक्षा की अंतःद्वंद्वात्मकता की सच्ची

---

80. "xxx not-yet-existed itself and it is precisely this essentially fragmentary and aesthetically unsatisfying structure of the novel" Ernest Bloch. Marxism & Form. P. 132

81. "चकमक की चिनगारियाँ" - नामक कविता । मुक्तिबोध रचनावली - दो - पृ. 264

परीक्षा "कविता" के ही प्रसंग में हो सकती है ।[82] हमारे विवेच्य-काल खण्ड में भी "उपन्यास" का लेखन हुआ । स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने एक उपन्यास का अनुवाद किया था । वे स्वयं भी एक उपन्यास लिख रहे थे किंतु वह पूरा नहीं हो सका ।[83] किंतु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "उपन्यास" मूलत: मनोरंजन रहा । परीक्षा गुरु (1882) से प्रेमचंद के सेवासदन (1918) तक सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐय्यारी, जासूसी, आदि कई प्रकार के उपन्यास लिखे गये किंतु, यह एक तथ्य ही है कि वे "कविता" के मुकाबले बहुत ही पिछड़े रहे ।[84] प्रस्तुत शोध प्रसंग की पदावली में कहें तो "कविता" में जो

---

82. "This striking absence is not fortuous; for poetry is the most recalcitrant taste of a Marxist or Neo-Marxist criticism." Criticism & Ideology - Terry Eagleton. P. 36.

यूरोपीय कविता में अतियथार्थवादी आंदोलन इसी औपन्यासिक वर्णन के विरुद्ध था । आंद्रेब्रेतों उपन्यास से घृणा करता था । उसके मत से पारंपरिक का विवरणात्मक वर्णन बुनियादी रूप से "यथार्थता सिद्धांत" के सम्मुख आत्मसमर्पण का प्रमाण है ← Marxism & Form - Fredric Jameson - P. 97.

83. हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष - शिवदानसिंह चौहान-पृ. 167
हिंदी से पहले ही बंगला में उपन्यास लेखन आरंभ हो चुका था ।

84. गोपालराम गहमरी आदि के जासूसी उपन्यास काल-बोध के एक नये आयाम को तो प्रकट करते ही हैं । भले ही विदेशी प्रभाव उनमें प्रचुर हो । ब्लाख़ का एक लेख है -- "Philosophical view of the Detective Story — Philosophical view of the novel of the artist."
उसमें ब्लाख़ने दिखाया है कि जासूसी कथा पूरी तरह से अतीत में हुई घटना पर केन्द्रित रहती है और जो उपन्यास की संरचना से बाहर होती है । जासूसी कथा में "अतीत" ही प्रमुखकाल होता है । Marxism & Form. P. 131.

एक अन्य आयाम यह भी हो सकता है कि जासूसी कथा का उदय प्रकारांतर से मध्य-वर्ग के उदय की घोषणा था । डूइंग रूम फर्नीचर आदि का जासूसी कहानियों में बड़ा महत्व रहता है ← —
Baudlaire : A Lyric poet in High Capitalistic Era — Walter Benjamin.

अपने काल में, विशेषत: राजनीतिक काल में हस्तक्षेप करने और उसे अतिक्रमित करने की "वाम चेतना" दिखायी पड़ती है, वह उपन्यासों से एकदम लुप्त ही रही । कहानी की स्थिति और भी दयनीय रहीं । उस काल में "वाम चेतना" या तो "कविता" के माध्यम से व्यक्त हुई या फिर सीधे-सीधे निबंधों में मुखरित हुई । उपन्यासों का सौंदर्यबोधात्मक रस अभी तक हिंदी साहित्य में "असह्य" प्रतीत होता है। इसके कारणों का विवेचन हमारे शोध-क्षेत्र से बाहर की समस्या है किंतु इतना तो हम कह ही सकते हैं कि उपन्यास और कहानी के उद्भव-विकास का सम्बन्ध मध्य-वर्ग से है और हमारे वर्ग-वर्ण सम्बन्धी विमर्श के पश्चात् हम यह कहने की स्थिति में हैं कि अर्ध-सामंतवादी अर्ध पूंजीवादी बनावट मध्य-वर्ग को पूरी तरह से अपने सौंदर्यबोधात्मक रसों में प्रकट नहीं होने देती । हिंदी के श्रेष्ठ कहे जानेवाले उपन्यासों में भी ऐसी कोई कमी आलोचकों ने प्राय: महसूस की है, जिससे वे विश्वस्तर को नहीं प्राप्त कर सके हैं ।

कविता और निबंध ये दो विधाएं निश्चित ही 1850 (भारतेंदु का जन्म वर्ष) या 1857 के आसपास से यूटोपियात्मक ऊर्जा से दीप्त होकर असंतोष को अभिव्यक्त करने लगी थी । उस काल से पूर्व भी "असंतोष" प्राप्त होता, किंतु वह किसी क्रांति ऊर्जा का सहयात्री होने के स्थान पर काल्पनिक "रामराज्य" की बिम्ब मालाओं और निष्क्रिय इच्छा-पूर्तियों अथवा संतुष्टियों में प्रशमित हो जाता था । यूटोपियात्मक क्रांतिधर्मिता का प्रवेश हम भारतेन्दु युग से ही देखना आरंभ करते हैं । एक मजबूत इंकार को हम प्राय: निबंधों में और वक्तव्यों में पाने लगते हैं ।

तथाकथित व्यावहारिक चिंतन का अतिक्रमण करके ही वाम चिंतन का यूतोपियात्मक तत्व प्रस्तुत होता है । क्लात्मक आह्वान और एक ऐसा भावी संसार, जो इस संसार से अलग होगा का "दर्शन" (Vision) हम भारतेन्दु के कई वक्तव्यों में पाते हैं । "भाइयों ! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोंक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ, देखो, भारत वर्ष का धन जिसमें जाने ना पाये, वह उपाय करो ।"[85] कवि-वचन-सुधा, 8 जून 1874 को प्रकाशित इस वक्तव्य में यह यूतोपियात्मक आशा पूरी तरह से क्रिया सक्रिय है कि यदि "जन" ताल ठोंक कर खड़े जो जायेंगे तो भारतवर्ष का धन नहीं जा सकेगा । हमने यूतोपिया - संबंधी वाम आधार को स्पष्ट करते हुए लिखा था -- "यूतोपिया के साथ संयोग तत्व नहीं जुड़ा हो सकता, उसे लाने के लिए सामूहिक कार्रवाई की आवश्यकता का भान होना चाहिए" x x x और भी -- "उसके साथ मात्र इच्छा ही नहीं, आस्था और विश्वास भी जुड़े होंगे ।"[86] कहना न होगा कि ये आधार भारतेन्दु के वक्तव्यों में पूरी तरह से प्राप्त होने लगे थे ।

सन् 1879 में "कवि वचन सुधा" में "ग्राम साहित्य अथवा लोक साहित्य की आवश्यकता" नामक लेख में भारतेंदु उन्हीं समस्याओं से जूझते दिखायी देते हैं, जो आज भी प्रगति कामी और क्रांति कामी कवियों-लेखकों के सामने खड़ी हैं । कैसे क्रांति संदेश को उस "जन" तक पहुंचाया जाय, जो सचमुच ही क्रांति का वाहक

---

85. भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा- रामविलास शर्मा - पृ. 11

86. प्रस्तुत शोध प्रसंग का "वाम-विमर्श" नामक प्रथम अध्याय में यूतोपिया सम्बन्धी विवेचन ।

है और कैसे उनके व्यापक स्तर पर सक्रिय सुदृढबद्ध सामंती संस्कारों से मोरचा लिया जाय ? भारतेन्दु द्वारा सुझाया गया उपाय आज भी सार्थक है । उनकी इस प्रकार की चिंता और चिंतना से हमारे इस मंतव्य को ही पुष्टि प्राप्त होती है कि "वाम चेतना" का प्रारंभ भारतेन्दु युग में हो चुका था । -- "भारत वर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मा गण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है । x x x यह सोचा है कि जातीय संगठन की छोटी-छोटी पुस्तके बनें और वे सारे देश, गांव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जाय । x x x तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है ।"[87] इसमें "जातीय" शब्द से बिदकने की कोई आवश्यकता नहीं है, "संस्कार बदलने की बात" आगे स्पष्ट कही गयी है । रामविलास जी ने सही कहा है कि यह प्रकारांतर से, जनता के पुराने सामंती संस्कारों से मोरचा लेने की कोशिश थी ।"[88]

ऐसा नहीं कि भारतेन्दु बनारस या उसके आसपास को ही जानते रहे हों । भारत वर्ष की बात वे "भारत" और उसके लोगों को पूरी तरह से जानने के बाद ही कर रहे थे । यह भी ध्यातव्य है कि बाबू गोपालचंद्र सरकार के सुपुत्र होने के बावजूद उन्होंने "भ्रमण" या "देश-दर्शन अथवा तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से आरामपूर्वक यात्रा नहीं की थी -- "भारतेन्दु ने सभी प्रकार से देश की यात्रा की थी, कभी रेल के सेकण्ड क्लास डिब्बे में बैठकर तथा कभी बैलगाड़ी के दचके खाकर ।"[89]

---

87. भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा
रामविलास शर्मा - पृ. 12
88. - वही -
89. - वही - पृ. 16

हम संकेत कर चुके हैं कि "परिवार" (आंतरिकीकृत) और "बचपन" के प्रति प्रतिरोधात्मकता लगातार सक्रिय रहती है । यदि भारतेन्दु और उसके बाद हम कई रचनाकारों में एक "बोहेमियन" (Bohemian) अथवा निरंकुशता (जिसे किसी सीमा तक उच्छृंखलता भी कहा जा सकता है) पाते हैं तो यह संवेदनशील व्यक्तियों के लगातार असहनीय होते समाज के प्रति एक विरोध ही था । मार्क्स के अनुसार "बोहेमियन" का अर्थ व्यापक रूप में लिया जाना चाहिए । वह एक वर्गहीन जीवन होता है या दूसरे शब्दों में वह प्रत्येक वर्ग के लिए व्यर्थ (कूड़े करकट की तरह) होता है । इसमें डाकू से लेकर अंतर्राष्ट्रीय फलक पर काफी-हाउस में बहस करनेवाले और इसी प्रकार कवि और वाम-पंथी भी आते हैं । कुल मिलाकर वे समाज से मेल नहीं बिठा सकनेवाले (Misfit) होते हैं ।[90]

भारतेन्दु, निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी, धूमिल आदि कवियों के व्यवहार में, किसी न किसी सीमा में, जो वर्गातीत निरंकुशता मिलती है, वह तब तक समझ में नहीं आ सकती जब तक कि उनके "मिसफिट" होने को ध्यान में न रखा जाय ।

---

90. " xxx with Karl Marx, 'Bohemian' means that offscearing of all classes — gangsters or international cafe adventurers, as well as poets and left-wingers. Even in this broader application, however, the 'Bohemian' is still to use an ugly journalistic word a 'misfit'. Discovering the present — Herald Rosenberg. P 292.

बोहेमियन के नकारात्मक पक्ष में ही पूरी तरह धंसकर बीटनिक पीढ़ी या हिप्पी या हिन्दी-कविता में "अकविता वादी" आंदोलन हुआ था किंतु उसका सकारात्मक पक्ष भी है। वाम-चेतना की पूर्व-भूमिका के रूप में भी हम बोहेमियन चेतना को देख सकते हैं। वह चेतना इंकार-धर्मी चरित्र रखती है किंतु इसके बाद उसमें मात्र अवयस्क प्रतिद्वंद्वात्मक पहचान उभरती है। वर्तमान समाज & भारतेन्दु कालीन समाज भी & के अंतर्विरोध ही व्यक्ति के अंतर्विरोधों से ग्रस्त व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। कवि-कलाकार अपनी अतिरिक्त संवेदनशीलता के कारण कई परस्पर विरोधी-प्रवृत्तियों को एक साथ अपने व्यक्तित्व में लिये चलता है और उनमें से "बोहेमियन" और "वाम" धर्मी "प्रवृत्तियां भी हैं। हमने युग और उसके कारण कवियों के व्यक्तित्व में पाये जानेवाले अंतर्विरोधों की बात कही है। यहां हम यह कहना चाहते हैं कि उन अंतर्विरोधों की सचाई की ओर से आंखें मूंदकर मात्र नकारात्मकता को रेखांकित करना कई सुधी समीक्षकों के अपने अंतर्विरोध का परिणाम था? हम पहले ही लेवीस्त्रास के साहचर्य से, इतिहास लेखन को पक्ष-ग्रहण करने से जोड़कर देखने का सुझाव दे चुके हैं। समीक्षकों के अपने अंतर्विरोधों की नकारात्मकता का उभार अत्यधिक घातक होता है। सन् 1954 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष" में श्री शिवदान सिंह चौहान ने भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों को इन शब्दों में याद किया -- "भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखक हिन्दी और हिन्दू जाति के उद्धार के लिए आंदोलन करनेवाले देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, कवि और साहित्यकार कम। उनका देश-प्रेम एक ओर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम विरोधी साम्प्रदायिकता तो दूसरी ओर राजभक्ति की अवसरवादिता

के संकीर्ण घेरे में ही अंत तक चक्कर क टता रहा । x x x छायावादी कवित्ता ने ही सबसे पहले काव्य क्षेत्र में इन संकीर्ण सीमाओं को तोड़ा ।"[91] इससे पहले सन् 37 में उन्होंने लिखा था -- "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुंचाया, उतना शायद ही हिंदू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुंचाया हो ।"[92] श्री चौहान का यह नकारवाद कालांतार में कम हुआ हो, ऐसा नहीं है । -- "तत्कालीन हिन्दी-साहित्य अपनी विशिष्ट स्थिति (सन् 1919 की) और विकास गति के कारण समय की सामाजिक जागरूकता और राजनीतिक अभिलाषाओं के विकास स्तरों को प्रतिबिम्बित न करके ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद की अधोगति प्रवृत्तियों को प्रतिफलित कर रहा था, जिसे मंगलभाषित शब्दों में हिन्दू राष्ट्रवाद की संज्ञा दी जाती है ।[93] चौहान में

---

91. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष - श्री शिवदान सिंह चौहान-पृ.56-57

92. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ. 278

93. आलोचना- 13 अप्रैल-जून 1970 पृ. 80 ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण निस्संदेह परम्परा को अवरुद्धात्मक दृष्टिकोण से देखता है और रेखा अवस्थी का कथन सही है - वह "एक प्रकार से परंपरा भंजन का निम्न पूंजीवादी भटकाव था ।" प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी पृ. 80
द्विवेदी कालीन लेखन और समूचे छायावाद को "पुनरुत्थानवादी दृष्टि" में घटाकर एकायामी ढंग से देखने को चौहान अब भी गलत नहीं मानते हैं । "x x x 1936 में इलाहाबाद में हुए हिन्दी-उर्दू प्रगतिशील लेखकों के अधिवेशन में पंडित मेरा लंबा लेख जिसमें मैंने हिंदी में पहले-पहल साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या की थी -- जब 1937 में "विशाल भारत" में प्रकाशित हुआ तो हिंदी की अग्रणी पत्रिकाओं में हिंदी के जाने-माने लेखकों द्वारा लिखित लगभग एक दर्जन लेख सामने आये, जिनमें एक उग्र पुकार थी कि हिंदी में प्रगतिशील साहित्य के सृजन का मेरा कार्यक्रम वस्तुत: भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करने का ही एक प्रयास था ।" आलोचना-13, अप्रैल-जून, पृ. 88 इस कथन से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी "होना" मात्र अपने आप में "रुद्धात्मक" चिंतन का प्रमाण नहीं होता ।

"सामूहिक अपराध-ग्रंथि" जैसे प्रत्यय भी मिलते हैं कि "हिंदी" के लिए लेखकों ने अपने लोगों और अपनी मातृ भाषाओं को हिंदी के पक्ष में "त्याग दिया है" हिंदी के उस समसामयिक रूप को "अंग्रेजों के संरक्षण" में उनकी "बाँटो और शासन करो" की नीति में सहयोग देने के लिए विकसित किया गया था।[94] चौहान के मत से भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, सन् 1936 से पहले के निराला, पंत, प्रसाद आदि सब के सब "पुनरुत्थानवादी सिद्ध होते हैं। यहाँ तक कि, यदि उनके तर्कों को बढ़ाया जाय, तो "हिंदी के विकास" और "हिंदी नव-जागरण" की बात करनेवाले रामविलास शर्मा प्रभृति विद्वान भी न्यूनाधिक रूप से पुनरुत्थानवादी" ही कहे जायेंगे।

द्वंद्वात्मकता" की चर्चा करने और अपनी शैली में उसके तथाकथित इस्तेमाल के बाद भी किस सीमा तक "प्रति द्वंद्वात्मक" रहा जा सकता है, तो शिवदानसिंह चौहान और न्यूनाधिकरूप से रांगेय राघव का लेखन देखा जा सकता है। रेखा अवस्थी ने इस द्वंद्व को रेखांकित किया है -- "प्रगतिशील लेखक संघ के अंदर इस प्रकार के विषय पर निश्चित रूप से दो धाराओं का संघर्ष था। एक प्रकार का रुझान परंपराभंजन के नकारवाद की ओर था, दूसरे प्रकार का रुझान यह था कि अपनी जातीय परम्परा, विरासत और संस्कृति का द्वंद्वात्मक ढंग से मूल्यांकन किया जाय और मृत तथा जीवंत तत्वों में फर्क कर अपनी जन-संस्कृति के निर्माण के लिए जीवंत उपादानों को स्वीकार किया जाए। इन दो धाराओं के संघर्ष में पहली धारा

---

94. - वही - पृ. 81

का प्रतिनिधित्व शिवदानसिंह चौहान और रांगेय राघव करते थे तथा दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, चंद्रबली सिंह, हंसराज रहबर आदि किया करते थे ।"[95]

उपर्युक्त उद्धरण में 'मृत तथा जीवंत तत्वों में फर्क करना' ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण वाक्यांश है । चौहान के तर्कों में जो आंशिक सचाई है, उससे इंकार नहीं किया जा सकता । स्वयं रेखा अवस्थी ने पं० नेहरू के एक वक्तव्य का उद्धृत करते हुए लिखा है -- " x x x संकुचित दृष्टिकोण साहित्य पर हावी था, राष्ट्रीयता की कल्पना में जनवादी चेतना हावी नहीं थी बल्कि हिन्दू आभिजात्य का संकीर्ण वर्ग स्वार्थ हावी था ।"[96]

---

95. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी, पृ. 279

96. - वही - पृ. 5

रेखा अवस्थी ने अपने प्रबंध में "एक ही युग में" दो विपरीत धाराओं के द्वंद्व को उपपत्ति के रूप में स्वीकार किया है। एंगेल्स के एक वक्तव्य को उद्धृत करते हुए -- "मानव को गतिमान करनेवाली हर चीज का उसके मस्तिष्क से होकर गुजरना अनिवार्य है किंतु वह चीज मानव के मस्तिष्क में कौन सी शक्ल अख्तियार करेगी, यह बहुत कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है ।" § भूमिका § इतिहास को, वर्तमान के पूर्व-इतिहास (Pre-history) के रूप में अथवा "वर्तमान" को इतिहास के रूप में देखना ही एक सही द्वंद्वात्मक दृष्टि § = इतिहास दृष्टि § होगी । ट्राटस्की के कथन "हम मार्क्सवादी हमेशा परम्परा में रहते हैं" ("We Marxists have always lived in Tradition" Quoted in Marxism & Literary Criticism — Terry Eagleton P 42).

96. जारी ..

को भूलकर ही परम्परा को तमूचा नक रनेवाली अव-हंत्मक कार्रवाई की जा सक्ती है । प्रस्तुत शोध की परम्परा में "सृजनात्मक प्रतिरोध" को इसीलिए बार-बार वाम-दृष्टि का प्रमुख और प्राथमिक आधार बताया गया है । पं0 नेहरू को "मेरी कहानी" में से उद्धृत करना भी रेखा अवस्थी द्वारा एक सही प्रयास है क्यों कि "संस्कारों" के अंतर्विरोध को उजागर करनेवाली पं0 नेहरू की दृष्टि उस पूरे युग के बुद्धिजीवि सोच का प्रतिनिधित्व करती है । मेरी कहानी का वह अंश आज भी प्रासंगिक है -- "यह एक अजीब बात है कि देश को मानव रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक नहीं सक्ता । हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही है । भारत "भारत माता" बन जाती है -- एक सुंदर स्त्री, बहुत वृद्ध होते हुए भी देखने में युवती, जिसकी आँखों में दु:ख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रताड़ित, और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए आर्त स्वर से पुकारती हुई । इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगों की भावनाओं को उभाड़ देता और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है । लेकिन हिंदुस्तान तो मुख्यत: उन किसानों और मजदूरों का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नहीं है, क्योंकि गरीबी खूबसूरत नहीं होती । क्या वह सुंदर स्त्री, जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगे बदन और झुकी कमरवाले, खेतों और कारखानों में काम

96. जारी ....

करनेवाले किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती है ? या वह उन थोडे से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूस है, उस पर कठोर से कठोर रिवाज लाद दिये हैं और उसमें से बहुतों को अछूत तक करार दे दिया है ? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपने को बचाकर सपनों की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते हैं । -- "मेरी कहानी पृ. 601 - 602 " प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - पृ. 5 पर उद्धृत । ध्यातव्य है कि उपर्युक्त उद्धरण में "सुंदर" और "सौंदर्य" की चर्चा के पीछे "सौंदर्य-दृष्टि" को बदलने का अप्रत्यक्ष आह्वान भी है ।

आवश्यक यह होता है कि साहित्य अथवा कला की निर्णयात्मक सूत्रधार "चेतना" की छानबीन की जाय। वे कौन-सी शक्तियाँ हैं, जो "चेतना" को परिवर्तित कर रही हैं? प्रस्तुत शोध प्रसंग की पदावली में कहें तो सामाजिक उत्पाद की स्थिति समाजेतर हो ही नहीं सकती। उस प्रक्रिया का विवेचन ही प्रस्तुत चर्चा का लक्ष्य है कि जिसके कारण और जिसके दौरान भारतीय चेतना का वाम रूपांतरण हो रहा था। जिन विचारकों ने "व्यक्तिवाद" और "भेदवाद" आदि भाववादी श्रेणियों पर बलाघात दिया, वे यह ध्यान नहीं रख सके कि (1) एक तो मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अवधारणाएँ भी अपने समाज की ही उत्पाद होती हैं और (2) दूसरे वे "विचारक" स्वयं भी अपने "व्यक्ति" होने में अपने समाज की ही एक शक्ति (एक धारा) को प्रस्तुत कर रहे हैं। आज जहाँ शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव आदि को हम उनकी ऐतिहासिक स्थितियों और उन स्थितियों के प्रति उनके सरोकारों के प्रसंग में ही सही तौर पर समझ सकेंगे, वहीं इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि को भी हम उनके काल (= इतिहास) से काटकर नहीं देख सकते। वे अपनी सीमाओं संभावनाओं उस द्वंद्व को तीव्र या मंद कर रहे थे, जो उनके युग की पहचान थी। यदि हम चाहते हैं कि वाम कवित की पृष्ठभूमि में सक्रीय "चेतना" और उसके वाम रूपांतरण की प्रक्रिया का विवेचन करें तो उसे ऐतिहासिक स्थितियों की सापेक्षता में ही देखा जाना चाहिए (यही हमने किया है और कर रहे हैं) और साथ में यह भी आवश्यक है कि हम अपनी ऐतिहासिक स्थितियों और अपने काल में सक्रिय शक्तियों के प्रति भी जागरूक और सतर्क रहें। निराशा, हताशा, वासना, आत्म-परकता, मौलिकता, पलायन, पराजय आदि शब्द हमारे लिए ऐसे "शब्द लिबलिबी" (word-triggers) नहीं बन जाने

चाहिए कि इन्हें सुनते और पढ़ते ही हम "प्रतिक्रियावादी" या "पतनोन्मुखी" आदि विशेषणों को याद करने और इन पर लागू करने लगे। संदर्भ युक्त होकर ही ये सार्थक-निरर्थक, घातक या लाभप्रद हो सकते हैं। युग की तरह व्यक्ति में भी अंतर्विरोध होते हैं और उसमें भी "दो विपरीत शक्तियों के बीच संघर्ष चलता रहता है। कहा जा सकता है कि उस संघर्ष को भी युग और उसमें "व्यक्ति" की जैविक, पारिवारिक, यौनिक स्थिति ही प्रभावित करती है। उस संघर्ष की प्रक्रिया के प्रति वह व्यक्ति क्या रुख रखता है? या वह किसका पक्ष ले रहा है? इन प्रश्नों के उत्तर आवश्यक है। कहना न होगा कि अपने "भीतर" का यह "पक्ष-ग्रहण" भी बाहर की अपेक्षा में ही होता है।"[97]

---

97. याद करना प्रासंगिक है कि हमने "परिवार" संबंधी विवेचन में "भीतर" महसूस करने या "भीतर" प्रत्येय के आंतरिकीकरण की बात कही थी। लैंग ने भेद (Distinctions) अथवा पृथक्करण शक्ति के प्रशिक्षण की बात कही है। हम दो वस्तुओं को भेद-धर्मी दृष्टि से देखते हैं किंतु यह हमारी जन्मजात विशेषता नहीं है बल्कि हमने "परिवार" > समाज से प्राप्त की है। लैंग के शब्दों में -- "I guess that by one year from birth, the following distinctions among others have come to be made —

1, Inside & Outside
2, Pleasure & Pain, pleasant—unpleasant.
3, Real & not real.
4, good & bad.
5, Me & not-me.
6, here & there.
7, Then & now."

The Politics of Family – R.D. Laing. P. 81.

97. जारी ....

किस उम्र में और कित संख्या में पृथक्करण" सीख जाते हैं यह विवाद अप्रासंगिक होगा। इतना निश्चत है कि कुछ "पृथक्करण" बचपन में ही "परिवार" या "समाज" द्वारा दिये जाते हैं। इन्हीं पृथक्करणों के जरिए हम "प्रदत्त" से साक्षात्कार और प्रतिरोध करते हैं। हमारे सारे अनुभव, इस अर्थ में एक तय शुदा नमूने पर, कुछ नियमों के उत्पाद होते हैं। नियम भी अपने आपमें व्यावहारिक "भेदाभेद या पृथक्करण" ही है। (Ibid.) डेविड कूपर ने भी "प्रक्षेपण" (Projection) और "अंतःक्षेपण" (Introjection) की चर्चा करते हुए उन्हें परिवार की देन ही कहा है और इसी के अनुसार अंदर (inner) बाह्य (outer) के छद्म-भेद को पारिवारिक प्रशिक्षण बतलाया है। The Grammar of Living. David Cooper. P No. 88.

यह एक तथ्य है कि "चिंता" (Anxiety) का निषेध नहीं किया जा सकता। वह हमारे मैं-बोध की सहजात अनुभूति है। उसे रूपांतरित किया जा सकता है। नकारात्मक से सकारात्मक बनाया जा सकता है। जिजीविषा के साथ किया जा सकता है। ब्लाख ने "चिंता" की तीव्रता और "सकारात्मक प्रत्याशा" (Anticipation) में शारीरिक प्रतिक्रियाओं तक में समानता देखी है। "अस्तित्व परक क्षितिज के विस्मयकारी विस्तार (Prodigious enlargement of the existential horizon) में इतनी शक्ति होती है कि वह "चिंता" को भविष्योन्मुखी उत्कण्ठा में परिवर्तित कर दें। उस उत्कण्ठा में "आतंक" और "आनंद" एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं।[98]

यह चिंता जो अनिवार्यतः मनुष्य के साथ जुड़ी है, उत्कण्ठा में परिवर्तित होने के लिए "चेतना" के रूपांतरण पर निर्भर है। कहना न होगा कि हम अपने विवेच्यकाल में "निराशा" (चिंता से उत्पन्न) को सतत् एक भविष्योन्मुखी उत्कण्ठा में बदलते देखते हैं और वह उत्कण्ठा भी "कर्म" से जुड़ने या "कर्म" ही होने की चेष्टा भी करती दिखायी देती है। आशा-निराशा, चिंता

---

98. "xxx if one can not refute an experience, like anxiety, one can atleast transform it into that positive anticipation which is its correlative, and this even on the physiological level itself, where the kindred bodily concomitants of both emotions (rapid heart beat swelling, lowered skin temperature, facial pallor) are identical xxx." Ernest Bloch. Quoted in Marxism & Atheism. P. 153.

प्रसन्नता आदि भाव व्यक्ति में कहीं बाहर से आते नहीं है बल्कि उसी में रहते हैं ।[98] कर्म (Praxis) की भविष्योन्मुखता या उसका काल-बोध ही उनके उभरने-दब जाने के मूल में होता है ।

---

99. ब्लाख के लिए "निराशा" (despair) ऐतिहासिक हो या निजी अपने स्वभाव से ही भविष्योन्मुखी होती है । इस धरातल पर ब्लाख लुकाच के ठीक विपरीत, आतंक और मनहूस आवेगों (terror & black emotions) को मूल्यवान मानते हैं । जरूरी है कि वे आवेग बुनियादी रूप से सत्तामीमांसात्मक संबद्धता को प्रकट करे। वह संबद्धता ही "भविष्य" का ठोस बोध होती है, जो हममें निहित होती है । ब्लाख चिंता (anxiety) को आशा से स्थानांतरित भी नहीं करना चाहते । वे नकारात्मकता के भीतर ही सकारात्मकता को ढूंढने के पक्षपाती हैं । ("To locate the positive within the negative itself, to hold the negative fast as the very authentication of the positive as it reveal itself through it") प्रेरक जेम्सन ने ब्लाख के इस मत की तुलना उस धार्मिक रहस्यवाद मत से की है, जिसमें "ईश्वर" ~~दूसरा~~ तक नकार के रास्ते से पहुंचा जाता है । चिंता (anxiety) ही यूटोपिया का आधार आवेग है - "xxx Anxiety as one of the most powerful forms of our longing for Utopia." Ibid P 134
जूलियन हक्सले ने भी घनघोर निराशा को सच्ची आस्था के लिए पूर्व-शर्त के रूप में मान्यता दी है । (Religion without revelation, P 32).

तुलना के लिए कालिन विल्सन की the Outsider जैसी चर्चित कृति भी ली जा सकती है, जिसमें घनघोर निराशा के बाद ही व्यक्ति को पैगम्बर या मसीहा बनते दिखाया गया है और रामकृष्ण परमहंस, गौतम बुद्ध आदि का उल्लेख किया गया है ।

प्रासंगिक होगा अगर हम यह बतायें कि समकालीन बंगला में प्रसिद्ध उपन्यासकार महाश्वेतादेवी ने भी प्रथम आदिवासी विद्रोही बीरसामुण्डा को ठीक इसी प्रकार घनघोर निराशा में से गुजरकर ही विद्रोह चेतना प्राप्त करते दिखाया है ।

इस प्रसंग में अगर हम सन् 1857 के संग्राम में शहादत पाये लोगों और सन् 1905 के बाद सशस्त्र क्रांति का पथ अपनानेवाले लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस आदि और इन्हीं की परम्परा में आनेवाले शचीन्द्रनाथ सान्याल, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव राजगुरु आदि का स्मरण करें तो हमारी इस धारणा को ही पुष्टि मिलती है कि उस युग में यूतोपियात्मक चेतना का विकास हो रहा था। मृत्यु के सामने निर्भीक आचरण करते रहना बिना यूतोपिया के संभव नहीं हो सकता। हम कह सकते हैं कि पूरे भारतीय वायुमण्डल में एक यूतोपियात्मकता का प्रसार प्राप्त होने लगता है। "वर्तमान" की भविष्योन्मुखता, जो वाम-चेतना में निहित काल-बोध की प्रमाण है, उस पूरे काल-खण्ड में सक्रिय दिखायी देती है। सार्त्र और ब्लास्च के "वर्तमान" विषयक मतभेद हमारे लिए अप्रासंगिक होंगे।[100] सशस्त्र क्रांति के पथ को अपनानेवाली क्रांतिकारी संस्थाओं के गठन से बहुत पहले हम भारतेन्दु के एक वक्तव्य में भी मृत्यु के आमने सामने खड़े होकर निर्भीकता से सामना करनेवाली यूतोपियात्मक चेतना का स्पष्ट प्रमाण पाते हैं -- "अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो कोई धर्म की आड़ में कोई देश की चाल की आड़ मे, कोई सुख की आड़ में छुपे हैं। उन चोरों को यहां-वहां से पकड़कर लाओ। उनको बांध-बांध कर वेद करो। x x xकुछ मत डरो। जब तक सौदो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जायेंगे, तब तक कोई देश न सुधरेगा।"[101]

---

100. वर्तमान की अपर्याप्तता की ओर सार्त्र ने भी स्पष्ट संकेत किया है। (Present is Not) किंतु सार्त्र का पूरा बल "अभाव" पर है जबकि ब्लास्च का "कामना" (Wishing) पर। सार्त्र की दार्शनिक चिंतना "चेतना को समग्र-संपृक्त मानती है, जो इस

100. जारी ..

इस अभाव को दूर करने के व्यवहार (Praxis) से समीकृत की जा सकती है । यह "अभाव" बाहरी-संसार की सापेक्षता में ही देखा जा सकता है । ब्लास्च ने सार्त्र के इस "अभाव" प्रत्यय को "यथार्थता शून्य" (Reality cipher) कहा है । सार्त्र के अनुसार सत्ता (Being) और चेतना (Consciousness) का एकीकरण (Union) अपने-आप में अंतर्विरोध का सूचक है । इस अंतर्विरोध को कभी पहचाना नहीं जा सकता । इस आधार पर सार्त्र ब्लास्च के यूतोपिया दर्शन को दृष्टि दोष से ग्रस्त मानता है । उसके अनुसार यह एक ऐसा झूठ है जो ज़िंदगी जीने में मदद करता है । (A kind of lie which helps live) ब्लास्च भी सार्त्र को, और न सिर्फ सार्त्र को बल्कि समूचे अस्तित्ववाद को, दृष्टि दोष से ग्रस्त मानता है । ब्लास्च के अनुसार अस्तित्ववादी दर्शन "वर्तमान" को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए उसी के आधार पर स्वयं को खड़ा करता है । वस्तुत: इच्छा या कामना के प्रत्यय को लेकर दोनों में आधारभूत मतभेद है । सार्त्र के अनुसार "wish = an illusion in the present जब कि ब्लास्च वर्तमान की सत्ता मीमांसात्मक अपर्याप्तता (Ontological insufficiency) के प्रसंग में "इच्छा" को ही ठोस भविष्य का प्रतीक और कारण मानते हैं । जेमसन के मत से ब्लास्च के इस मत का कारण यह है कि ब्लास्च का मार्क्सवाद गेटे से जुड़ा है, न कि हेगेल से (Marxism & Form ; F. Jameson. Pp 138-140) हम भी जानते हैं कि ब्लास्च के दर्शन के पीछे एक धार्मिक प्रेरणा सक्रिय रही है । उसकी कला विषयक परिभाषा (Art = A displaced prophetic भी इसी ओर संकेत करती है । धर्म + राजनीति ही ब्लास्च के चिंतन के vocation स्रोत है। इसीलिए उसे "A theologian of the revolution कहा गया है । भारतीय प्रसंग में यूतोपिय से धर्म का संबंध, उसका [1822-1836] में जुड़ता है या नहीं यह विवेचन प्रसंगांतर होगा ।

101. भारतेन्दु और हिंदी भाषा की विकास परम्परा - रामविलास शर्मा - पृ. 12

सत्तामीमांसात्मक गुत्थियों के योरोपीय संदर्भों का हमारे विवेचन से कोई तात्कालिक सम्बन्ध नहीं है । एक यूतोपियात्मक जीवन-दर्शन को भारतीय-मानस के साथ जोड़कर देखने के लिए किसी द्राविड प्राणायाम की आवश्यकता नहीं x भवभूति के "कालाह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" में जिस यूतोपियात्मकता का आभास मिलता है, वह बहुत पूर्व से ही भारतीय चिंतन के विविध आयामों में मुखर होती रही है । उसके भाववादी अनुषंग "पुनर्जन्म" मोक्ष आदि अवधारणाओं में प्राप्त होते हैं किन्तु प्रस्तुत शोध प्रसंग में हम "राजनीतिक वर्तमान" में हस्तक्षेप को प्रमुख मानकर चर्चा कर रहे हैं । उससे सम्बन्धित चेतना में यूतोपियात्मक स्थान हमारे विवेच्य काल-खण्ड में ही प्राप्त होता है । यूतोपिया के राजनीतिक क्रांति-परक आयाम पर ही हमारा बल है ।

हमारे वाम-विषयक विवेचन में जितने आधारों को आवश्यक माना गया था, उसमें से "देह-केन्द्रित होने" की बात ही अवशेष रह गयी है । इस प्रसंग में संक्षिप्त रूप से हम यही कह सकते हैं कि एकतो हमारे अंतरिकीकृत "परिवार" और "समाज" में देह हमेशा ही विधि-निषेधों का स्रोत रही है, अतएव भारतेन्दु युग में रूपांतरित होती "चेतना" के वाम-आयामों से "देह" लगभग अनुपस्थित ही रही । जो भी उदाहरण प्राप्त होते हैं, वे रीतिकालीन अवशेष हैं और इसलिए अनुल्लेखनीय है । दूसरे, उस काल की पुनरुत्थान केन्द्रित वैचारिक परिस्थितियों में, जिनमें ब्रह्म-समाज, आर्य समाज के आंदोलन तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद और महात्मा गांधी के नाम प्रेरक शक्तियां थे,

"देह" को कन्द्र में रखने की बात तो दूर, उसकी स्वायत्त चर्चा भी कठिन थी । यों "देह" का वृथा अस्वीकार भी विवेकानंद जैसे विचारकों की चिंतना में नहीं मिलता । धर्म साधना के लिए "स्वस्थ देह" की आवश्यकता की बात उन्होंने कही थी ।

किंतु इससे विपरीत हम दो ऐसे मुद्दों पर बात करना चाहते हैं, जो "देह" के प्रसंग में ध्यान देने योग्य हैं । यह सर्व-विदित है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र लोक साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए न केवल उत्सुक थे बल्कि उन्होंने प्रयास भी किये थे । यह भी सर्व-विदित है कि लोक-साहित्य धरती से जुड़ा होने के कारण "देह" और उसके आनंद को किसी भी प्रकार की कुण्ठा से मुक्त होकर स्वीकार करता है और भारतेन्दु तथा उनके अन्य समकालीनों द्वारा लोक-साहित्य को स्वीकार करने का तात्पर्य, एक अप्रत्यक्ष रूप में "देह" के प्रति कुण्ठा-मुक्त व्यवहार का आरंभिक संकेत तो माना ही जा सकता है ।

वस्तुत: साहित्यिक रचनाओं में व्यक्त चिंतनाएं युग-सापेक्ष होती है और उस युग में अपने को उत्पीड़न के प्रसंग में देखना एक ऐसे राजनीतिक संसार की रचना कर गया जो "विदेशी दासता से मुक्ति" को अपना प्रधान लक्ष्य मानने लगा । स्वाभाविक ही था कि ऐसे में "देह" और उसके दुख-सुख पृष्ठभूमि में चले जाते । किंतु निराला की 'जूही की कली' में हम "देह" का भरपूर स्वीकार पाते हैं ।

"विजन वनवल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल कोमल-तनु-तरुणी
जुही की कली
दृग बंद किये, शिथिल, पत्रांक में ।"[102]

इस कविता की प्रतीकात्मकता के बावजूद निराला की कुण्ठा-मुक्त दृष्टि, देह को लेकर किसी अनुदार पूर्वग्रह की शिकार न थी । "यमुना के प्रति" में तो इस प्रकार के, यौन-अनुभूतियों पर आधारित मांसल चित्र भी मिलते हैं --

"वह सहसा सजीव कम्पन द्रुत
सुरभि-समीर, अधीर वितान
वह सहसा स्तंभित वक्षस्थल
टलमल पद, प्रदीप निर्वाण,
गुप्त रहस्य-सृजन-अतिशयश्रम
वह क्रम-क्रम से संचित ज्ञान,
स्खलित वसन-तनु-सा तनु अमरण
नग्न, उदास, व्यथित अभिमान ।"[103]

गीतिका (1936) में "स्पर्श से लाज लगी" नामक कविता में भी यौन का संयमित स्वीकार है । चुम्बन की तीव्रता को व्यक्त करती हुई ये पंक्तियां --

---

102. राग विराग, सं0 रामविलास शर्मा, पृ. 48.
103. निराला रचनावली - सं0 नंदकिशोर नवल - पृ. 109

"प्रेम चयन के उठा नयन नव
विधु चितवन, मन में मधुकलरव,
मौन पान करती अधरासव,
कण्ठ लगी उरगी ।"[104]

"उरगी" शब्द के बावजूद यदि नारी का अपमानना परक चित्र खड़ा न होता हो और एक मानवीय वासना की यौन-उत्तेजना प्रकट होती हो तो यह निराला के कवि की सफलता है । कहीं भी अश्लीलता का आभास न हो और चुम्बन की मूर्त कल्पना साक्षात् हो जाये -- यह निराला जैसे कवि के बूते की ही बात हो सकती थी ।

सन् 1920 में लिखित पं० मुकुटधर पाण्डेय "काव्य-स्वातंत्र्य" नामक लेख में, कविता में कवि व्यक्तित्व के अभाव की चर्चा करते हुए उसकी आवश्यकता का सुझाव दे रहे थे ।[105] यह भी प्रकारांतर से एक नया प्रमाण था, जिसके अंतर्गत कालांतर में, "देह" भी अपनी युगीन सीमाओं में व्यक्त हो सकी ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि किसी सीमा में "देह" के प्रवेश की स्थापना करते हुए हम "वाम" चेतना के प्रारंभिक काल के रूप में सन् 1857 से 1936 तक के काल-खण्ड ले सकते हैं । यदि पूरी

---

104. वही पृ. 206.

105. आलोचना 22, जुलाई-सितम्बर, 72 "छायावाद और पं० मुकुटधर पाण्डेय" नामक लेख । ले० नंदकिशोर नवल पृ० 82

तरह से वाम आधारों की कसौटी पर उक्त कालावधि की काव्य-चेतना को न कसा जा सके तो यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम इसे "पृष्ठभूमि" या प्रारंभ ही मान रहे हैं। यों पूरी तरह से वाम-चेतना तो प्राप्त हो ही नहीं सकती क्योंकि वह एक निरंतर चलने-वाली प्रक्रिया है।

प्रारंभिक वाम-चेतना के काव्य-गत संदर्भ :

वर्तमान के विच्योन्मुखता-धर्मी चरित्र के प्रसंग में ही वाम-संदर्भित रचनाओं का उल्लेख हो सकता है। भारतीय चेतना के वाम-रूपांतरण सम्बन्धी विवेचन के बीच-बीच में काव्यांश को भी प्राय: उद्धृत किया गया था। किंतु विवेचन सिद्धांत कथन पर केन्द्रित था अतएव अब आवश्यकता है कि हम उन रचनाओं की झलक भी देखें, जो न्यूनाधिक रूप से अपने राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक-साहित्यिक वर्तमान में सृजनात्मक हस्तक्षेप कर रही थी। ऐसा मात्र हिंदी में ही नहीं हो रहा था, अपने-अपने भूगोल-इतिहास के अनुसार अन्य भाषाओं में भी हो रहा था, इस बारे में हम संकेत कर आये हैं। देश की दुर्दशा, अकाल, आत्म-गौरव के स्मरण से प्रेरित आह्वान, व्यंग्यात्मकता आदि विषयों को लेकर रचनाएं प्राप्त होती हैं। युग के अंतर्विरोधों पर हम कई बार बद दे चुके हैं। अकाल के समय --

"कोई पात पेड़के चाबै, कोई माटी, कोई घास चबाय।
कोई बेटवा-बिटिया बेचै, अब तो भूख सही नहीं जाय।

इन पंक्तियों पर डा० रामविलास शर्मा की टिप्पणी यों है --

"जनता का यह रोष और व्यंग्य - भूषण को छोड- हिंदी साहित्य में पहली पहल इस तरह प्रकट हुआ था ।"[106]

इस काव्यांश में वर्णनात्मकता तो पहले "कोई" शब्द के प्रयोग द्वारा एक "दूरी" अथवा रचनाकार की वस्तुनिष्ठता का आभास देती है, किंतु अपने आर्थिक वर्तमान को प्रतिरोध सृजनात्मक स्तर पर करते हुए रचनाकार से बिना भागीदारी के कैसे रहा जा सकता है और "अब तो भूख सही नहीं जाय" में वह (रचनाकार) इस प्रकार से प्रविष्ट हुआ है कि उससे पूर्व में आया "कोई" शब्द एकाएक "पीड़ा" या "वेदना" की वयस्क अभिव्यक्ति के रूप में धारदार हो उठता है ।

हम उन रचनाओं को उद्धृत नहीं कर रहे हैं, जो विचारों का पद्य-बद्ध रूप मात्र हो । श्रीधर पाठक की "देश की वंदना" "वंदनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों" आदि रचनाओं से हमारे प्रतिपादन का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

"व्यंग्य" एक वयस्क प्रवृत्ति है और जब दुर्दशा या स्वात्म पीड़ा को लक्ष्य बना के किया जाय तो उससे रचनाकार के समय के प्रति सृजनात्मक सरोकार की झलक मिलती है । प्रताप नारायण मिश्र ने ब्रज भाषा में लिखा --

---

106. भारतेन्दु युग और हिंदी की विकास परम्परा - रामविलास शर्मा - पृ. 16-17

"नोन तेल लकरी घासों पर टिक्स लगे जहं ।
चना चिरौंजी मोल मिले जहां दीन प्रजा कहें ।
जहां कृषी वाणिज्य-शिल्प, सेवा सब मांही ।
देसिनके हित कछु तत्व कहूं कैसे हू नाही ।"[107]

इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र ने खड़ी बोली हिन्दी में भी लिखा :--

"बसो दुखित देवी ! आर्यों के जी में
तुम्हारे लिये हैं सर्व कैसे कैसे ।
अनुद्योग, आलस्य, संतोष, सेवा
हमारे भी हैं मेहरबां कैसे कैसे ।
अभी देखिए क्या दशा देश की हो
बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे ।
प्रताप अब तो है टल में निर्लज्जता के
मजे लूटती है जनी कैसे कैसे ।"[108]

"आर्यों के जी" को "सर्व कैसे कैसे" कहना, मेहरबानों की सूची और "आसमां के रंग बदलना" -- को यदि इस गहराई से देखें तो झपटाती चेतना का आक्रोश ही प्रकट होता दिखायी देता है। उस तथाकथित "पुनरुत्थान युग" में "आर्यों" का इस तरह इस्तेमाल सृजनात्मकता की अपनी सापेक्ष-स्वायत्त निरंकुशता का प्रमाण है । ग़ज़ल का व्यंग्य के लिए उपयोग, चाहे जितने सीमित

---

107. आधुनिक हिंदी काव्य - ले. डॉ० भगीरथ मिश्र - डॉ० बलभद्र तिवारी - पृ. 22.

108. - वही - पृ. 103

अर्थ में ही सही, तत्कालीन सांस्कृतिक-साहित्यिक स्थितियों में "कथ्य" और "रूप" के प्रदत्त-तत्व के प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध ही कहा जायेगा ।

पं० सुधाकर द्विवेदी के दोहों में अपने समय की गहरी पहचान मिलती है । नीतिपरक-दोहों की परम्परा में इनके इन दोहों के व्यंग्य की धार ध्यान देने लायक है --

"राजा चाहत देन सुख, पर परजा मतिहीना
पर जामत ही चहत है, भूमिकरन पग तीन ।।

x x x x

बाप चलाइ एक मत, बेटा सहस करोर ।
भारत को गारत किये, मतवाले बर जोर ।।

x x x x

अब कवित्त को समय नहिं, निरखहु आँख उघारि ।
मिलि मिलिकर सीखो कला, आपन भला विचारि ।।[109]

"राजा" कौन है, यह कहने की आवश्यकता नहीं । ऐसे में उसकी सुख देने की चाहना व व्यंग्य सौंदर्य कितना अनूठा बन पड़ा है क्योंकि साथ में परजा की "मतिहीनता" का उल्लेख भी है । इसी प्रकार बाप के "एक मत" चलाने में और बेटा के "सहस करोर" चलाने में क्या समकालीन काव्य-अध्येता को जगदीश गुप्त का "किसिम

---

109. आधुनिक हिंदी काव्य - ले० डॉ० भगीरथ मिश्र - डॉ० बलभद्र तिवारी - पृ० 22

किसिम की कविता वाला लेख याद नहीं आता । व्यंग्य की मनोविज्ञानिकता अगर सिर्फ निरपेक्ष रूप से हास्य-बद्ध होकर न रह जाय तो क्रांतिकारी उर्जा से संपन्न होता है । दोहों की शैली भारत में बहुत लोकप्रिय है और ऐसे में कवि का "वक्ष्य" अपनी पूरी प्रभावगामिता के साथ व्यक्त हुआ है । "कविता के समय का न होना भी तत्कालीन युग पर एक राजनीतिक सामाजिक काव्य टिप्पणी है । जिन पाठक-वृंद की कल्पना सुधाकर द्विवेदी के मन में रही होगी, वे पूरी तरह से इस दोहे से युग-समझ प्राप्त कर सके होंगे ।

इसी क्रम में बालमुकुन्द गुप्त के दोहे भी आयेंगे --

"खेल गई, बरछी गई, गये तीर तलवार ।
घड़ी, छड़ी, चश्मा भये, गये छत्रिन के हथियार ।
जहाँ लरे सुत बाप संग, और भ्रात सों भ्रात ।
तिनके मस्तक सो हटें, कैसे पर की लात ।।
अपनो कछु उद्यम नहीं, तक्त पराई आस ।
अब या भारत भूमि में, सबेवरन है दास ।[110]

"हंसने" को हमने बर्क्लिन के सादृश्य से सत्ता-विरोधी भूमिका में देखा था । बाल मुकुंद गुप्त का "शिवशंभु का चिट्ठा" उस काल में अपने व्यंग्य के लिए ही प्रसिद्ध हुआ था ।

---

110. आधुनिक हिंदी काव्य - ले. डॉ० भगीरथ मिश्र
डॉ० बलभद्र तिवारी - पृ. 41

लोक-प्रचलित काव्य रूपों को अपनाकर ही जनता तक पहुंचा जा सकता है और उनके संस्कारों से मोरचा लिया जा सकता है। भारतेंदु के ऐसे विचारों को हम उद्धृत कर चुके हैं। भारतेंदु और उनके साथियों में से अधिकांश ने होली, कजरी, लावनी, पद आदि रूपों को अपनाकर समसामयिक व्यंग्य की रचनाएं प्रस्तुत की। "प्रेम धन" ने स्त्रियों द्वारा ढोलक पर गाये जानेवाले गीतों की रचना की।

"सो है न तोके पतलून सांवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीज क्यों पहिरि बने बेबून सांवर
गोरखा आदि।[1]

भारतेन्दु की अपनी रचनाओं की झलक देने से पहले हम राजस्थानी भाषा में "सूर्यमल्ल" की रचनाओं का उल्लेख करेंगे। सचमुच ही यह अजब स्थिति है कि एक निश्चित तारीख तक ब्रज, अवधि, राजस्थानी आदि भाषाओं में लिखा साहित्य "हिंदी-साहित्य" के अंतर्गत आयेगा और उसके बाद खारिज कर दिया जायेगा। भाषा संबंधी आंदोलनों के विवेचन के लिए इस शोध प्रसंग के क्षेत्र में, अवकाश नहीं है किंतु शिवदानसिंह चौहान के इस तर्क में शंका तो है कि बोलियों का साहित्य से निकालने के पीछे कहीं किसी षड्यंत्र सा

---

1. आधुनिक हिंदी काव्य - ले० डॉ० भगीरथ मिश्र
   डॉ० बलभद्र तिवारी - पृ० 49०

और गुलाम मस्तिष्क का कारनामा प्रतीत होता है ।[112] आज उनमें तथाकथित बोलियों में से कई को "भाषा" का पद दे दिया गया है और उनमें लिखे जा रहे साहित्य को मान्यता प्राप्त हो रही है । बीच के काल में जब उन्हें मनमाने ढंग से हिंदी में अंतर्भुक्त मान लिया गया था, तब भी उनमें साहित्य-सृजन निरंतर हो रहा था । आज स्थिति यह है कि यदि उनका स्वतंत्र इतिहास नहीं है और वे हिन्दी में घुली-मिली थी तो फिर किस तार्किक से वे पृथक होती है ? यहां भी सारे मत-भेदों के पीछे अपनी-अपनी जीवन दृष्टि और संस्कारों के अन्तर्संघर्ष से सम्पुटित पक्ष-ग्रहण सक्रिय है ।

---

112. हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष में प्रस्तावना में ही शिवदान सिंह चौहान ने इस पर विस्मय प्रकट किया है कि "आधुनिक काल से पहले तक तो हम हिंदी -भाषा समूह का इतिहास लिखते हैं, लेकिन आधुनिक काल आते ही हम संघ भाषा हिंदी (खड़ी बोली का संस्कृत निष्ठ साहित्यिक रूप) का इतिहास लिखने लगते हैं । पृ.7 अपने नकारवादी स्वर के बावजूद चौहान ने उन लेखकों के "खण्डित व्यक्तित्व" को सही ढंग से रेखांकित किया है "जो घरों में विभिन्न मातृभाषाएं प्रयोग करने पर भी" हिंदी को लेखन माध्यम बनाते हैं । हिंदी भाषा को लेकर इस असंतोष के पीछे जो दृष्टि है, वह मात्र नकारवादी नहीं है किंतु इस "दृष्टि" के साथ भावुक आक्रोश जुड़कर उसमें -नकारवाद" का अवकाश उत्पन्न कर देता है । आलोचना 13 अप्रेल-जून,70 "हिंदी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों के (1919-39) के बीच" नामक लेख पृ. 1981-82 प्रस्तुत शोध प्रसंग में इस समस्या का स्वतंत्र विवेचन अप्रासंगिक होगा ।

चर्चा सूर्यमल्ल की रचनाओं की थी । उनकी "वीर सतसई" को अपने युग की प्रतिनिधि रचना होने का गौरव प्राप्त है । "ब्रिटिश शासन के विरोध में जन-क्रांति को सक्रिय बनाने के कारण यह बहुतवाद में प्रकाशित हुई ।[113] इस सतसई की कई रचनाओं को हमारे विवेचन के अंतर्गत सम्मिलित किया जा सकता है --

"नारण आज न मारु पग, काल्ह सुणीने जंग
धारां लागी मैं छणी, तो दीजे छण रंग ।। [114]

चारण कवि केसरी सिंह जी के साथ भी ये सारी बातें जुड़ती हैं । "इनको तथा इनके परिवार को ब्रिटिश कोपाग्नि का शिकार होना पड़ा ।[115] एक सोरण इनकी काव्य-चिंता को बताने के लिए पर्याप्त है --

"मान मोद सांसोद, राजनीत बल राखतों ।
ई गवरमिण्ट री गोद, फल मीठा दीठा फता ।।"[116]

---

113. आधुनिक हिंदी काव्य - डॉ0 भगीरथ मिश्र - डॉ0 बलभद्र तिवारी - पृ. 63
114. वीर सतसई - सूर्य मल्ल - सं0 शंभुसिंह मनोहर - पृ. 78
115. - वही - आधुनिक हिन्दी काव्य - डॉ भगीरथमिश्र - बलभद्र तिवारी पृ. 63.
116. - वही -

उदयपुर के महाराणा फतहसिंह को उन्होंने "चेतावनी का चुंगयुया" नामक कविता दोहा सोरठा - शैली में लिखकर भेजी थी और उन्हें दिल्ली दरबार में जाने से रोका था । सन् 1912 में लिखी यह कविता अपने ऐतिहासिक उद्देश्य और प्रभाव-गामित के कारण इतिहास प्रसिद्ध है । उपर्युक्त सोरठा इसी कविता में से उद्धृत है ।"[117]

भारतेन्दु की रचनाओं में उनके जीवन और युग के अंतर्विरोध पूरी तरह से अभिव्यक्त हुए हैं । प्रसंगानुसार उस "अभिव्यक्ति" के कतिपय उदाहरण भी दिये गये थे । यहाँ हम उन पहेलियों को विशेष रूप से उद्धृत करना चाहेंगे, जो एक ओरतों अमीर खुसरों की परम्परा में जुड़ता है । खा गया, पी गया, दे गया कुत्ता, क्यों सखि साजन, नासखि कुत्ता -- अमीर खुसरो । और दूसरी ओर उस परम्परा को राजनीतिक आयामों में प्रयुक्त करके किस प्रकार लोक-प्रचलितों काव्य रूपों को सम-सामयिक उद्देश्यों के हित काम में लाया जा सकता है -- इसका भी प्रेरणादायी निदर्शन है । भारतीय चेतना के जातीय स्वरूप का राजनीतिक रूपांतरण यहाँ ध्यान देने योग्य है --

"भीतर भीतर सब रस चुसै ।
बाहर से तन मन धन मुसै ।
जाहिर बातन में अति तेज ।
क्यों सखि, साजन ? नाहं अंग्रेज ।।

---

117. आधुनिक हिंदी काव्य- डॉ० भगीरथ मिश्र - डॉ० बलभद्र तिवारी - पृ० 63 - प्रस्तुत शोध विवेचन में इतना ही पर्याप्त है कि "वर्तमान" के प्रति राजनीतिक असंतोष काव्य-चेतना में सामान्य रूप से स्थान पा चुका था । वाम-चेतना के आरंभ का यही प्रमाण है ।

"सब गुरुजन को बुरो बतावे ।
अपनी खिचड़ी आप पकावे ।
भीतर तत्व न, झूठी तेजी ।
क्यों, सखि साजन ? नहिं अंगरेजी ।।

x x x

तीन बुलाएं तेरह आवे ।
निज-निज विपदा रोइ सुनावे ।
आंखों फूटे भरा न पेट
क्यों सखि साजन ? नहिं ग्रेजुएट ।।

x x x

रस दिखावत सरबस लूं है ।
पद में जो पड़े न छूटै ।
कपट कटारी हिय में हूलिस ।
क्यों सखि सज्जन ? नहिं सूलिस ।।[118]

हमने "वाम कविता" के लक्षण-निर्देशन में जिस सृजनात्क प्रतिरोध और इतिहास बोध की बात लिखी थी, कहना न होगा कि इन पहेलियों में वह पूरी तरह से (रूप + कथ्य स्तर पर) उपलब्ध है ।

इनके अतिरिक्त चूरनवाले की कविता (चूरन पुलिसवाले खाते / सब कानून हजम कर जाते । आदि) "अंधेर नगरी" नाटक आदि भारतेन्दु की अपनी युग-चेतना को उस जनता की भाषा में

---

118. ये सारे उदाहरण "भारतेन्दु युग और हिन्दी की विकास परम्परा डॉ० रामविलास शर्मा - से लिये गये हैं ।

प्रकट करते है, जिसके संस्कारों से मोरचा लेने और जिन तक पहुंचने की बात उन्होंने बार-बार कही थी । उनके युग के एक अन्य रचनाकार राधाचरण गोस्वामी भी अपने नाटकों और "यमलोक की यात्रा" नाम रचना के कारण, इस प्रसंग में उल्लेखनीय है ।

सन् 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" का संपादन भार संभाला । डॉ0 रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी द्वारा सरस्वती के सम्पादन काल को हिन्दी का दूसरा नवजागरण कहा है । साहित्य के अतिरिक्त अन्य जन-जीवन संबद्ध अनुशासनों को भी भी द्विवेजी जी ने समझने समझाने का प्रयत्न किया । विज्ञान, समाज-शास्त्र अर्थशास्त्र, संस्कृति, राजनीति आदि विषयों पर उनकी विचार-दीज टिप्पणियां लेख सरस्वती में लिखे जाते रहे ।

प्रसंगवश हम बता दें कि हमने आंतरिकी-कृत "परिवार" और "बचपन" की बात कही थी । द्विवेदी के सरस्वती काल के संघर्ष के बीज हमें उनके बचपन में ही मिल जाते हैं । -- "मै एक ऐसे देहाती का एक-मात्र आत्मज हूं, जिसका मासिक वेतन सिर्फ 10/- था । अपने गांव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर, 13 वर्ष की उम्र में, मैं 36 मील दूर, रायबरेली के जिला स्कूल में अंगरेजी पढ़ने गया । आटा-दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था । दो आने महीने फीस देता था । दाल ही आटे के पेडे या टिक्कियां पकाकर पेट पूजा करता था । रोटी बल रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था ।[119]

---

119. साक्षात्कार - 36-37, नवंबर-दिसम्बर, 1982
पृ. 5

द्विवेदी की टिप्पणियों - लेखों की बात न करके यदि हम उनके संबंध में दो उदाहरण दें तो हमारे विवेचन की दृष्टि से पर्याप्त होगा । सरस्वती जुलाई 1903 में एक कविता प्रकाशित हुई थी, जिसमें कवि का नाम नहीं था पर लेखकों की वार्षिक सूची से, उसके सम्पादक की रचना होने का पता चलता है । उसमें स्पष्ट शब्दों में "स्वदेशी आंदोलन" का आह्वान है --

"स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार की जै,
विनय हमारा इतना मान लीजै ।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो
न जावो पास, इससे दूर भागो ।
अरे भाई ! अरे प्यारे । सुनो बात ।
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात ।
चुप क्यों फंक्ते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम ।[120]

सुधीजनों को भली भांति विदित है कि कालांतर में "स्वदेशी आंदोलन" का भारतीय राजनीति में क्या स्थान रहा । वस्तुत: "भारतेन्दु ने स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात किया था, भट्ट जी तथा अन्य लेखक उस आंदोलन को बराबर बढ़ाते रहे थे ।"[121] वही क्रम द्विवेदी जी में आकर और स्पष्ट रूप में मुखर हुआ ।

---

120. साक्षात्कार 36-37 नवंबर-दिसंबर, 1982 पृ. 16
121. भारतेन्दु युग और हिंदी की विकास परम्परा - डॉ0 रामविलास शर्मा - पृ. 32

दूसरा उदाहरण सरस्वती के दिसम्बर 1914 के अंक में ही राडोम की भोजपुरी कविता का प्रकाशन है । साक्षात्कार के सम्पादक सोमदत्त के शब्दों में -- "यह संभवत: भोजपुरी की अकेली कविता थी जो उसके कार्यकाल में छपी "सम्पत्ति शास्त्र" से द्विवेदी जी की जागरूकता का एक पक्ष उद्घाटित होता है और अछूत समझे जानेवाले शोषित वर्ग के एक अजाने-अनाम हीरा डोम की भोजपुरी में लिखी कविता का प्रकाशन उनके दूसरे क्रांतिकारी पक्ष की झलक दिखता है । जिन स्थितियों में उन्होंने काम किया उन पर ध्यान देते ही इस अनमोल धरोहर के ऐतिहासिक मूल्य का भान होने लगता है ।"[122]

उस कविता के कुछ अंश इस प्रकार है :-

"हमनी के राति दिन मेहनत करीले जा
दुइगो रूपया दरमहा में पाइबि ।
दुइगो रूपया दरमहा में पाइबि ।
ठकुरे के सुखसेन घर में सुतल बानी
हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि ।
हाकिम के लसकरि उतरल बानी,
जेत उहओं बेगरिया में पकरल जाइबि ।
मुंह बान्हि ऐसन नोकरिया करत बानी,
ईकुलि खबरि सरकार के सुनाइबि ।।

---

122. साक्षात्कार, 35-37, नवंबर-दिसंबर, 1982 सम्पादकीय ।

बभने के लेखे हम भिखिया न माँग बजा,
ठकुरे के लेखे नहिं खदरि चलाइबि ।
सहुआ के लेखे नहिं डाँडी हम मारबजा
अहिरा के लेखे नहिं गइया चराइबि ।
भेंड के लेखे नकवित्त हम जोरबजा
पगड़ीन बान्हि के कचहरी में जाइबि ।
अपने पसिनवा के पइसे कमाइ बजा
घर भर मिलि जुलि बाँटि चोटि खाइबि ।।
हड्वा मसुइया के देहियाँ है हमनी के
ओकर के देहइयाँ बभनओं के बाबी ।
ओकरा के घरे घरे पूजव होवत बाजे
सगरै इलकवा अइले जजमानी ।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जा
पाके में से भरि-भरि पिअतानी पानी ।
पनहीं से पिटि पिटि हाथ गोड़तरि दैले,
हमनी के इतनी का हे के हलकानी ? ।।[123]

इस कविता में कई महत्वपूर्ण मुद्दे दृष्टव्य है । अपने को उत्पीड़ित करके जानना, अपने "आत्म-गौरव" को श्रम की सापेक्षता में पहचानना और एक आक्रोश -- यदि इस कविता को तत्कालीन संदर्भों में एक महत्वपूर्ण कविता मानने की प्रेरणा देते हैं तो द्विवेदी

---

123. साक्षात्कार, 36-37, नवंबर-दिसंबर, 82 सम्पादकीय ।

जी द्वारा इसका प्रकाशन भी एक महत्वपूर्ण घटना है । "सरस्वती" का मान-सम्मान तत्कालीन साहित्य प्रेमियों में, जो अधिकांश अभिजात कुलों के थे, अत्यधिक था और उसमें प्रकाशित होना" किसी के लिए भी एक आकांक्षा हुआ करती थी । ऐसे में एक अनाम, अछूत हीरा डोम की कविता का प्रकाशन वाम-चेतना की दृष्टि से निश्चित ही एक महत्वपूर्ण संकेतक है ।

"हिंदी काव्य में मार्क्सवाद चेतना" नामक शोध पुस्तक में डॉ० जनेश्वर वर्मा ने मार्क्सवादी काव्य-चेतना के प्रथम उत्कर्ष के अंतर्गत श्री गया प्रसाद शुक्ल सनेही को "प्रथम" कवि माना है । प्रमाण स्वरूप उनकी १९१८ की लिखी एक कविता भी उद्धृत की है ।

"न होने देंगे अत्याचार ।
लड़ जायेंगे न्याय पक्ष पर करके हृदय उदार ।"[124]

किंतु एक अन्य साक्ष्य से हम यह कहने की स्थिति में हैं कि गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही" से संबद्ध एक अन्य कवि श्री जगदम्बा प्रसाद मिश्र "हितैषी" की एक गजल सन् १९१६ में ही प्रकाशित हुई थी ।

"वतन की आबरू का पास देखे कौन करता है,
सुना है आज मकतल में हमारा इम्तहां होगा ।
इलाही वह भी दिन होगा, जब अपना राज देखेंगे ।
जब अपनी ही जमीं होगी, जब अपना आसमां होगा ।

---

१२४. हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - डॉ० जनेश्वर वर्मा पृ० २३४

१२५. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - खण्ड १ ।
डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ९२

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले
वतन पर मरनेवालों का यही बाकी निशां होगा ।"

-- यह सन् 1916 में "अमरीका को स्वाधीनता कैसे मिली ?" नामक पुस्तक के आवरण के अंतिम पृष्ठ पर छपी थी । "यह ग़ज़ल, इसकी अंतिम दो पंक्तियां, सारे देश में आग की तरह फैल गयी । इन पंक्तियों के लेखक थे कानपुर के प्रसिद्ध कवि श्री जगदम्बासहाय प्रसाद मिश्र "हितैषी" ।"[125]

इस ग़ज़ल की दो पंक्तियों का "आग की तरह फैल जाना" एक मामूली वातावरण में संभव नहीं हो सकता था । निश्चित ही एक राजनीतिक बोध (कि हम उत्पीड़ित है और हमें इस उत्पीड़न को समाप्त करना है) से युक्त परिवेश में ही यह संभव हो सकता था । परिवेश का इतना प्रभावी राजनीतिक चरित्र भी अल्प-काल की देन नहीं हो सकती । हम कहना चाहेंगे कि भारतेन्दु युग से इस "परिवेश-निर्माण" की तैयारी आरंभ हो चुकी थी । क्रांतिकारी आंदोलनों का सूत्रपात सन् 1905 से ही हो गया था और स्वयं "हितैषी" भी ऐसे ही आंदोलनों से जुड़े हुए थे ।[126]

सनेही मंडल के कवियों से पहले ही "सरस्वती" में द्विवेदी जी यथार्थमूलक रचनाओं को प्रोत्साहित कर रहे थे । उन्होंने सन् 1915

---

125. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - खण्ड-1
डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ. 92

126. - वही - रामविलास जी ने बल देकर लिखा है -- "क्रांतिकारी आंदोलन से हिंदी कविता का गहरा सम्बन्ध सन् 1920 के असहयोग आंदोलन से पहले ही हो चुका था, यह बात ध्यान देने की है । उक्त कविता के लेखक स्वयं क्रांतिकारी आंदोलन से संबद्ध थे, यह भी उल्लेखनीय है ।

में पं० केशवप्रसाद मिश्र की "जाड़ा और निर्धन" शीर्षक से एक कविता प्रकाशित की थी --

"सिर पर लदा घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत
हाय । हाय । कँपित होता है जाड़े से भारत का पूत
छोटे-छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट
किंतु आज वह दु:खित लौटा, विफल हुई है उसकी हाट
एक दरिद्र कृषक है जिसने किया खेत में दिन भर काम
किंतु पेट पर रोटी मिलना उसको है जैसी तारीम ।

इस कविता को उद्धृत करते हुए रेखा अवस्थी ने सही लिखा है -- "जहाँ तक यथार्थ के अनुभूति संवेदना का प्रश्न है, सनेही मण्डल के कृति कारों की रचनाओं से कहीं अधिक जीवंत रचनाशीलता "जाड़ा और निर्धन" में है ।[127]

गया प्रसाद शुक्ल "सनेही" निश्चित ही सन् 1918 के बाद प्रमुखत: ऐसी रचनाओं को रचने लगे थे कि जनेश्वर वर्मा द्वारा यह कहा जाना सच है -- "उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके बाद में अनेक कवि उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर इस प्रकार की रचनाएं करने लगे ।" स्वयं कवि के अनुसार ये रचनाएं उनके आकस्मिक काव्योद्गार न होकर मार्क्सवाद के अध्ययन से प्राप्त प्रेरणाओं के अनुसार रची गयी थी । आर्थिक विषमता और शोषण के संबंध में "सनेही" स्वयं को मार्क्सवाद के निकट पाते हैं किंतु मार्क्सवाद का अनीश्वरवादी पक्ष उन्हें मान्य नहीं था ।[128] "सनेही" जी की पूंजीपतियों को "अर्थ"

---

127. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ. 93
128. हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - डॉ० जनेश्वर वर्मा - पृ. 240-241

पिशाच" कहते हैं, कहीं उनकी अतृप्त धन-लोलुपता पर व्यंग्य करते हैं, कहीं मजदूरों को अवतार दीनता के कह कर उनका समर्थन करते हैं तो कहीं सामाजिक व्यवस्था का विकास बतलाते हैं। हमारे लिए इतना भर निदर्शन पर्याप्त है कि वे राजनीतिक आर्थिक वर्तमान के प्रति सक्रिय रूप से जागरूक पाये जाते हैं।[129]
एक उदाहरण से इसकी झलक मिल सकती है --

"कमला का भण्डार भवन में भरा हुआ है
गिन-गिनकर धन धरा गर्भ में धरा हुआ है
हे कुबेर के बंधु हमें हो क्यों कुछ परवा
कोई जीता कहीं या कहीं मरा हुआ है।"[130]

"साम्यवाद" के प्रति ललक, मजदूरों का आह्वान, दीनों और शोषितों के प्रति सहानुभूति और क्रांति-परक उद्घोषणाएं तत्कालीन रचनाओं में प्राय: प्राप्त होने लगी थी। प्रस्तुत शोध प्रसंग में हमने "बोध" और इसलिए चेतना को मूलत: भाविक कहा है। भारतेन्दु युग से "परिवेश" के प्रति एक नये संबंध-बोध का उदय हो रहा था। ठाकुर जगमोहन सिंह के कृतित्व में हम पाते हैं कि वे "सामान्य" वर्णन के स्थान पर "विशेष" को स्थापित कर रहे हैं। जिस आवेगात्मक "मैं" को हम बीसवीं शती के दूसरे

---

129. हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - डॉ० जनेश्वर वर्मा पृ० 230-से 241, 272 से 273 और 329 से 330 तक कई कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। सनेही जी ने राजनीतिक आंदोलनों में सहायक हो सकनेवाली रचनाएं भी लिखीं। वे "त्रिशूल" उपनाम से भी लिखते थे।
130. - वही - पृ० 236 भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद प्रथम खण्ड में डॉ० रामविलास द्वारा भी उद्धृत पृ० 278। यह कविता मार्च 1919 में "प्रताप" में प्रकाशित हुई थी।

दशक में छायावादी कही जानेवाली कृतियों के "केन्द्र" में देखते हैं, वह इस नये "सम्बन्ध-बोध" में आरंभ हो रहा था। भाषा-विकास से जुड़े प्रश्नों को छोड़कर हम इतना ही कहेंगे कि चाहे जिस कारण से हो, लेकिन खड़ी बोली में कविता लिखा जाना संवेदनात्मक धरातल पर एक निर्णायक और दिशा-निर्धारक घटना थी। "मामूली" में सौंदर्य देखना ; "सुथरा साफ, सुंदर कुसुम की क्यारियां ; सोआ-पालक आदि विविधतर क्यारियां।" अपने-अपने ठौर सभी में सोहते सुंदर शोभा से सब का मन होते।" -- श्रीधर पाठक ; या ग्रामीण वातावरण का आत्मीयता पूर्व वर्णन - ; "अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सब का मन चाहे -- "मैथिली शरण गुप्त ; इतना तो संकेत देता ही है कि "दृष्टि" बदल रही है। कालांतर में पंत जी की "गुंजन" और "ग्राम्या" में मिलनेवाली काव्य-चित्रों का आरंभ बहुत पहले हो चुका था कविता में स्पष्ट रूप में "वैयक्तिता का प्रवेश भी "आत्म-चेतना" की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इंद्रिय-बोध के स्तर पर एक द्वंद्व की शुरुआत हुई, जो बदलते हुए सौंदर्यबोध की सूचक तो था ही, साथ ही रचनाकार की आत्म प्रसार की चेष्टा भी मिलती है --

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन।
भूल अभी से इस जग को
तजकर तरल तरंगों को
इंद्रधनुष के रंगों को
तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा दूं निज मृग-सा मन।"[131]

---

131. पल्लव - पृ. 84 यह जनवरी 1918 की रचना है।

सन् १९१८ के आसपास जहां रचनाओं में "राजनीतिक वर्तमान" के प्रति प्रतिरोध का स्वर हम मुखर होता हुआ पाते हैं, वहीं "सौंदर्यबोधात्मक वर्तमान" के प्रति भी प्रतिरोध के लक्षण स्पष्ट रूप से प्राप्त होने लगते हैं । वस्तु-जगत के प्रति सम्बन्ध बोध में कल्पना का प्रवेश करना, कोई गौण घटना नहीं मानी जा सकती । असुंदर प्रतीतन होनेवाले यथार्थ पर "अपने मन के सौंदर्य का आरोप" भी निश्चित ही काम सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से रूपांतर कारी घटना थी । जिस ऐतिहासिक दबाव ने व्यक्तिवाद को जन्म दिया, उसी ने इस वैयक्तिक सौंदर्य-दृष्टि को भी ।[132]

प्रस्तुत विवेचन के प्रसंग में हम कहना चाहेंगे कि अपने "सौंदर्यबोधात्मक वर्तमान" की अपर्याप्तता पहचानना और उससे सृजनात्मक सरोकार के धरातल पर सम्बन्ध स्थापित करना एक महत्वपूर्ण "व्यवहार" है ।

शिवदान सिंह चौहान ने "बादल राग" (१९२०) और "भिक्षुक" (१९१२) कविताओं के प्रसंग में ये लिखते हुए कि "ये कविताएं सामान्य छायावादी गति और मनःस्थिति से अलगाव की सूचना देती है", यह भी लिखा कि इसी काल में निराला ने अनेक ऐसी लंबी कविताएं भी लिखी है, जिनमें राजनीतिक संस्थाओं के प्रतिपुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है ।[133] वे "जागो फिर एक बार" यमुना के प्रति "छत्रपति शिवाजी का एक पत्र" आदि का नामोल्लेख करते हैं और एक महत्वपूर्ण शंका उठाते हैं --
" x x x जिस बात की हम मार्क्सवादियों ने उपेक्षा की है, शायद

---

१३२. आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब-विधान - केदारनाथ सिंह - पृ. १५६
१३३. आलोचना १३ अप्रैल जून, ७० पृ. ८३

ये कविताएं उस विशिष्ट घटना काल को समझने का सूत्र प्रदान कर सकती है और इन प्रश्नों का सही उत्तर दे सकने में सहायक हो सकती है कि कैसे हिंदी साहित्य में समाजवादी विचार धारा के प्रभाव का सर्जन और विकृतिकरण किया गया ।"[134]

अद्यतन विवेचन में हमने बार-बार युग के अंतर्विरोधों की बात कही है और "व्यक्ति" अपने युग के अंतर्विरोधों का अपने स्तर पर "विशिष्टवाहक" होता है । यदि "निराला" ऐसा कर रहे थे तो स्पष्ट है कि उनकी रचना-दृष्टि में एक ऐसी दरार थी, जो उनका अपना चुनाव नहीं थी ।

रचनाकार के भीतर भी अंतर्विरोध सक्रिय होते हैं और रचना-क्षणों की तीव्रता उन अंतर्विरोधों की तीव्रता के अनुपात में ही संभव होती है । श्री चौहान तो दो भिन्न कविताओं में दृष्टि वैपरीत्य देखकर क्षुब्ध हैं, यदि एक ही कविता का गहरा विश्लेषण किया जाय तो प्राय: इसकी प्रबल संभावना हो सकती है कि दो विपरीत दृष्टियां टकराती हुई मिल जाय । यदि चौहान "समेत समस्त मार्क्सवादी समीक्षक इन प्रयासों की अर्थहीनता और साहित्यिक मानदण्डों तथा सौंदर्य विषयक अवधारणाओं की बेहूदगी को देखने में असमर्थ रहे तथा बिना यह समझे कि जीवन और समाज संबंधी पुनरुत्थानवादी और समाजवाद दृष्टिकोणों में मूलभूत विरोध है, हमने इनका अभिनंदन किया ।"[135] इस कथन में प्राप्त आत्म-विश्लेषण की ध्वनि और उसकी स्पिरिट के साथ सहानुभूति रखते हुए

---

134. आलोचना - 13 अप्रैल-जून, 79 पृ. 84

135. - वही - पृ. 83

भी हम इतना कहना चाहेंगे कि समीक्षक न तो युग से ऊपर हो सकता है और न निरपेक्ष ही । तिरस्कार और अभिनंदन -- दोनों समीक्षक की उस "चेतना" को प्रकट करते हैं, जो उसकी सामाजिकता के बनते हैं । "सामाजिकता" का आंतरिकीकरण जिन संस्थाओं के माध्यम से संभव हुआ, वहां दरारें ही दरारें हैं । समीक्षक के मूल्यधर्मी कथन या वक्तव्य यदि "मात्र" पढ़कर "संभव हुए हैं तो वे "दरारें" ही प्रेक्षित करते हैं । मुक्तिबोध के "विश्व-दृष्टि का विकास" या समीक्षक को जीवन से "भीगा हुआ" होना चाहिए, आदि विचार इसीलिए महत्वपूर्ण है कि मात्र कवि के बारे में लिखते रहना, बिना कवि के जीवन-संघर्षों की, अपने जीवन-संघर्षों द्वारा पहचान किए, न तो रचना को समझने में मदद देता है, न रचनाकार (उसके परिवेश आदि) को । तिरस्कार और अभिनंदन मात्र स्थापित या विस्थापित करते हैं, जबकि "रचना" को उसके सर्वांगीण संदर्भों में समझना ही समीक्षा है । यह "समझना" भी प्रदत्त "समझ" के साथ द्वंद्वात्मक सरोकार में ही संभव होती है । कहना न होगा कि इस प्रदत्त समझ रूपी कच्चे माल में प्राप्त "अंतर्विरोधों" को मात्र शुभ "इच्छा" या शुभ संकल्प" मिटा नहीं सकते ।

निराला का "परिवार" और "बचपन" को यदि देखें तो पायेंगे कि वह अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण द्वंद्वात्मक सरोकार के अधिक उपयुक्त था । सृजनात्मक - व्यक्तित्व सामाजिक प्रभावों को निष्क्रिय होकर ग्रहण नहीं करता, वह अपने "व्यक्तित्व" (जो उसके जीवन संघर्षों में तब तक की "जीत" का प्रमाण है) के माध्यम से उन्हें अपनी प्राप्त की गयी "दृष्टि" के अनुसार गढ़ता

और तोड़ता है । युग-प्रभावों को सरलीकृत ढंग से समझाया नहीं जा सकता । रचना किसी एक "कारण" या किसी एक "तथ्य" का परिणाम नहीं होती ।[136] निराला की रचनाओं में उनके अंतरिकीकृत "परिवार" वर्ग-स्थिति (परिवार द्वारा प्रदत्त या प्रशिक्षित) आदि ने जो निर्णायक भूमिका अपनायी है, उसे समझने-समझाने का प्रयत्न कम ही किया गया है । सन् 1935-36 तक उनका प्रबल विरोध हुआ । फिर भी शुक्ल जी ने अपने सारे निराला-विरोध के बावजूद यह माना -- "बहु-वस्तु स्पर्शिनी प्रतिभा निराला जी में है।" "जब कि वे छायावाद के बारे में कह चुके थे कि इसमें "नाना अर्थभूमियों" पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया ।[137] अपने ही मत के विरुद्ध कहकर निस्संदेह शुक्ल जी ने "अपनी समीक्षकीय ईमानदारी का परिचय दिया है । यह "बहुवस्तु स्पर्शिनी प्रतिभा" जो बाद में, जीवन के अंतिम समय तक विकसित और परिमार्जित होती रही, निश्चित ही उनकी "जीवनी" की देन है । एक निरंकुशता, नियमों के प्रति विरोध और मनमौजी प्रवृत्तिवाला उनका व्यक्तित्व, अपने ही ढंग से युगीन प्रभावों और वर्तमान (राजनीतिक - सांस्कृतिक - सौंदर्यबोधात्मक) के प्रति सृजनात्मक स्तर पर प्रतिरोध कर रहा था । बचपन में ही माँ का मृत्यु और उसके

---

136. Inquiries into The Fundamentals of Aesthetics - Stephen Morawski - P. 303-304.

137. हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष - शिवदान सिंह चौहान पृ. 96

बाद का उनका बचपन स्पष्टतया उनकी "नियम-चेतना"
को प्रभावित कर गया ।[138]

यदि पंत में "निज का बोझ" का है और निराला तथा प्रसाद को "स्थिति-रक्षा" का संघर्ष करना पड़ा हो तो यह अलग-अलग परिणतियां अलग-अलग युगों के कारण नहीं बल्कि रचनाकारों की अपनी अपनी विशिष्ट जीवन स्थितियों का परिणाम है ।[139] पुन: यह स्मरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि ये जीवन-स्थितियां, अपनी सम्पूर्ण निजता के बावजूद युग और "समाज" के भीतर ही होती हैं । छायावाद के युग को "प्रकृति काव्य" का युग कहकर पहचानने के हर प्रयास का जिस प्रकार डॉ० केदारनाथसिंह ने निराकरण किया है, वह उचित ही है । यों तो "विशुद्ध प्रकृति" का कोई अस्तित्व नहीं है और प्रसाद-पंत-निराला आदि में तो गहरी अनुभूतियां प्रकृति होती है, निश्चित ही "प्रकृति" और परिवेश के संदर्भ में[140]

---

138. बचपन में नियम सीखना बाद के जीवन पर भी प्रभाव डालता है । पियागेट (Piaget) ने इस विषय पर महत्वपूर्ण शोध किये हैं उसके अनुसार "All morality consists in a system of rules, and The essence of all morality is to be sought for in The respect which The individual acquires for These rules." quoted in 'The myth of Mental Illness.' Dr. Thomas S. Szasz. P. 201.
निराला के प्रसंग में यह महत्वपूर्ण है कि नियमों को, उसूलों को उन्होंने किस प्रकार आंतरिकीकृत किया । निश्चित ही साहित्य और कविता के प्रदत्त नियमों के प्रति वे "अस्वीकारी" नहीं रह सकते थे ।

139. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 448 - 450

140. आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब विधान - केदारनाथ सिंह - पृ. 169

किंतु ये "अनुभूतियां" महत्वपूर्ण हैं, जो बदलते हुए संबंध-बोध को सूचित कर रही थी । यदि कालांतर में निराला का जीवन-संघर्ष अपनी सौंदर्यबोधात्मक परिणतियों से हिंदी कविता में महत्वपूर्ण योगदान कर सका तो निश्चित ही उन "अनुभूतियों" की बुनावट की वजह से जो उस विशिष्ट युग और एक विशिष्ट बचपन" वाले बालक के बीच के द्वंद्वात्मक सरोकार की परिणाम थी । "बादल राग" (1920) में निराला लिख रहे थे --

"रुद्ध कोष है, क्षुब्ध तोष
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर कांप रहे हैं
धनी वज्र गर्जन से, बादल
त्रस्त नयन-मुख ढांप रहे हैं ।

x x x

जीर्ण-बाहु, है जीर्णशरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर ।
चूस लिया है उसका सार
हाड मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार ।"[141]

कहना न होगा कि हमारे वाम-प्रत्यय "सृजनात्मक प्रतिरोध" की दृष्टि से यह कविता एक आदर्श नमूना है । संगीत

---

141. राग विराग - निराला - सं० रामविलास शर्मा - पृ. 56.

को "रस" के हित में इस प्रकार इस्तेमाल करना एक सृजनात्मक उपलब्धि है, जो एक ओर तो "युग" से निर्धारित हुई है और दूसरी ओर उस "युग" से जूझते निराला की अपनी संघर्ष पूर्ण जीवन से ।

"विस्तार" सौंदर्य-बोध का प्रमुख लक्षण है । मैं-बोध के संदर्भ में हमारे द्वारा किये गये विवेचन के प्रसंग में यदि निराला की इन पंक्तियों को देखें -----

"भैने मैं शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दु:ख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई ।[142]

स्पष्ट ही निराला का सृजनात्मक व्यक्तित्व पूरी तरह से प्रयत्न कर रहा था कि अपनी सीमाओं (प्रदत्त सीमाओं) को तोड़े ।

उस काल में गद्य और समीक्षा मानों में भी युगीन द्वंद्व अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट हो रहा था । प्रेमचंद के उपन्यास और शुक्ल जी की आलोचना पुस्तकें इसकी उदाहरण हैं ।

तात्पर्य मात्र इतना कि प्रदत्त रूढ़िवादिता और कृतिमता के प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध हो रहा था ।[143] कहा जाय

---

142. राग-विराग - सं0 रामविलास शर्मा - पृ. सं0 62
143. छायावाद - नामवरसिंह - पृ. 12

तो उस युग के रचनाकारों का यह "सौंदर्यबोधात्मक आचरण" (= Aesthetic Praxis) ही उस युग को, हमारे विवेचन के संदर्भ में, वाम-चेतनाधर्मी बनाता है ।

जिस "प्रगतिवाद" की बात "छायावाद की प्रतिक्रिया" कहकर की जाती है, वह भारतेन्दु युग किसी सीमा में उससे भी पहले सन् 1857 से या 1822 से से ही शुरू हो चुकी थी ।[144] तथाकथित छायावाद-युग में ही निराला की कई कविताएं पूरी तरह से छायावादी लक्षणों आलोचकों द्वारा निर्धारित का अतिक्रमण करती है । साथ ही पंत, प्रसाद, महादेवी आदि भी युगीन और निजी सीमाओं में "सृजनात्मक प्रतिरोध" कर रहे थे । कभी रूप के स्तर पर, कभी कथ्य अनुभूतियों की "नयी बुनावट" के कारण वे स्तर पर "पलायन" को भी युगीन संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए । इनके अतिरिक्त दिनकर, नरेन्द्र शर्मा और बच्चन शिवमंगलसिंह चौहान के विवेचन के आलोक में [145] भी इसी काल-खण्ड में रचना रत थे । इनमें और अन्य कई कवियों में हम व्यापक तौर पर राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और सौंदर्य-बोधात्मक "वर्तमान" की अपर्याप्तता के विरुद्ध सृजनात्मक स्तर पर आचरण के उदाहरण पाते हैं । कहना न होगा कि इन कवियों में पर्याप्त विरोधाभास भी प्राप्त होते हैं, जो "अंतर्विरोधों" अथवा "दो विपरीत धाराओं के संघर्ष" का परिणाम थे । ये अंतर्विरोध

---

144. "प्रगतिवाद अचानक ही "अलादीन के चिराग" के जिन्न की तरह क्रिश्में के रूप में प्रकट नहीं हो गया था, बल्कि भारतेंदु-युग से ही प्रारंभ हो चुकी साहित्य धारा के मध्य से अपना रास्ता बनाता चला आया था ।" नारसप्तक के कवि: काव्य-शिल्प के मार्ग - मुक्तिबोध - पृ. 59.

145. आलोचना 13 अप्रैल-जून 70 पृ. 85

और संघर्ष समाज में भी है और इन रचनाकारों के अपने व्यक्तित्व में भी । अतिशय काल्पनिकता, आदर्शवाद का वर्चस्वत, बुद्धि-विरोध अथवा अबुद्धिवाद और विकृत बुद्धिवाद[146] तो मिलते ही हैं, साथ ही सृजनात्मक सरोकारों में भी टूट-फूट दिखायी देती है । यदि कोई रचनाकार राजनैतिक वर्तमान के प्रति जागरूक दिखायी देता है तो सौंदर्यबोध त्मक वर्तमान से एकदम निर्लिप्त और इसके विपरीत तथा अन्य आचरणों में भी एकायामिता प्राप्त होती है । एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं में कहीं राष्ट्रीयता मिलती है तो कहीं उद्दाम लेकिन गैर जिम्मेदार मांसलता, कहीं सामाजिकता तो कहीं समाज निरपेक्ष सी दार्शनिकता, यहां तक कि अलग-अलग विधाओं में रचना करते हुए एक ही रचनाकार की कई "दृष्टियां" प्राप्त होती हैं । यह खण्डित-परिदृश्य मात्र उसी "चेतना" के चलते हैं, जो युग बनाम व्यक्ति के माध्यम से लगातार बनती चलती है । सन् 1857 से सन् 1936 तक के समय में मात्र यही बात ध्यातव्य है कि रचनाकार अपने प्रति, अपने और अपने समय § = काल § के संबंधों के प्रति और उन संबंधों को बदलने के प्रति आचरण-रत दिखायी देते हैं । वाम-चेतना की भूमिका इससे अधिक हो भी नहीं सकती थी । सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम, सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना, लाल-बाल-पाल का नेतृत्व, गांधी जी का महत्व, 1922 का चौरीचौरा काण्ड, जलियांवाला बाग, कांग्रेस के नये-नये समाजवादी चरित्र का आभास देने वाले प्रस्ताव, भगतसिंह और उनके साथियों को फांसी आदि अनेक घटनाओं में जो विरोधाभास दिखायी देते हैं, उन्हें अपने युग और इसलिए अपने जीवन में पाते हुए रचनाकारों का कृतित्व "अखण्ड" हो ही नहीं सकता था । आवश्यक मात्र इतना है कि उस प्रक्रिया को, सकारात्मक को रेखांकित किया जा, जो "भविष्य" को मानव-जिजीविषा के पक्ष में संभव बनाती है ।

---

146. गाबेल ने विकृत बुद्धिवाद को संज्ञानात्मक व्यापारों का अद्वंद्वात्मकीकरण कहा है - "Morbid rationalism = de-dialectization of cognitive function." Preface'

बुद्धि पर अतिरिक्त बल देना या उसे भावना का विरोधी देखना इसी के चलते हैं ।

o
o
o
o
o
o
o
o
o
o

खण्ड : दो

o
o
o
o
o

हिंदी वाम कविता का सौंदर्यशास्त्र : प्रथम उत्कर्ष [1936–1950]

हिंदी वाम कविता का सौंदर्यशास्त्र : प्रथम उत्कर्ष :

(1936 - 1950)

अद्यतन विवेचन में हमने पाया कि "युग" में होते परिवर्तनों से क्रिया-प्रतिक्रिया करती व्यक्ति-चेतना अपने समय के प्रति आचरण के स्तर पर जागरूक होने लगी थी । किंतु इस आचरण के कई आयाम थे । रचनाओं में राजनीतिक अभिव्यक्ति भी प्राय: स्वयं स्फूर्त थी और उनके पीछे किसी राजनीतिक दृष्टि की उपस्थिति नहीं मिलती । ऐसी राजनतिक दृष्टि, जो रचनाकार की विश्व दृष्टि से संबद्ध हो । राजनीतिक उद्देश्यों के लिए संगठित जूथ थे, किंतु रचनाकारों पर उनका मात्र सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा था । सन् 1857 के बाद बनता राजनीतिक चेतना के विषय "अमूर्त" से "मूर्त" होते चले गये और राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन मात्र भावनाओं का प्रतिफलन न रहकर बुद्धि से भी जुड़ गया प्राय: यह माना जाता है कि महान् कृतियाँ अपने समय की उत्पादन स्थितियों से "अतिक्रमण" करती है । इस कथन में ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी स्थितियों

की "ऐतिहासिक सीमाओं" के बावजूद अस्तित्व में आती है जबकि यह कहना सही होगा कि वे अपनी ऐतिहासिक स्थितियों के कारण ही जन्म लेती है ।[1] यदि भारत के रचनाकारों पर रस की अक्तूबर क्रांति का प्रभाव पड़ा तो यह एक विचित्र घटना नहीं थी । उस प्रभाव को लेने के लिए मानसिक भूमि कई वर्षों से तैयार हो रही थी । भारतीय चेतना सन् 1857 से ही एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ने लगी थी, और "वह दिशा साम्यवाद की थी ।"[2] कहना न होगा कि इस दौरान लिखे गये साहित्य की कारण-भूमि वे ऐतिहासिक परिस्थितियां थीं, जिनमें चेतना का वाम रूपांतरण हो रहा था । भारतीय मानसिकता, किसी भी जन समाज की मानसिकता के समान ही, उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों द्वारा निर्धारित हो रही थी ।[3] इस मानसिकता का स्पष्ट राजनीतिक परिणाम हम बीसवीं शती के तीसरे दशक में पाते हैं । एक ओर परतंत्रता-बोध की तीव्रता ने "स्वतंत्रता" को चरम-मूल्य का पद बताया तो दूसरी ओर इस "स्वतंत्रता" तक पहुंचने के रास्तों में "हिंसा-अहिंसा" का द्वंद्व आ खड़ा हुआ । परिणामस्वरूप जहां मूल्य मूढ़ता की स्थिति

---

1. टॉल्स्टॉय ने कहा - "Great works of art are those which somehow transcend their conditions of production"

इसके जवाब में टेरी ईगलटन ने कहा -- "Valuable art comes into being not despite its historical limitations ... but by virtue of them." — New Left Review - 108 — p. 86

2. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - डॉ० रामविलास शर्मा पृ० 331.

3. "किसी भी जन-समाज की कला, उसकी मानसिकता से निर्धारित होती है । उसकी मानसिकता उसकी अवस्थिति का उत्पाद होती है । और इसकी अवस्थिति को अंतिम विश्लेषण में उसकी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की स्थिति निर्धारित करती है । प्लेखानोव- कला, साहित्य और संस्कृति - ई॰एम॰एस॰नंबूरिरिपाद पृ॰ 67 पर उद्धृत ।

मिलती है, वहीं दूसरी ओर क्रमशः संगठित होने की सचेत चेष्टा भी प्राप्त होनी शुरू ~~हो जाती~~ होती है । स्वाधीनता आंदोलन में भी अवसरवादी प्रवृत्तियां थीं, जो कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्षरूप से साम्प्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा दे रही थी । सन् 1921 तक मुहम्मद अली जिन्ना कांग्रेस में थे लेकिन वे मुस्लिम लीग के नेता बन गये । सन् 1917 में हिंदू महासभा की स्थापना हुई और 1925 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की । कांग्रेस का बुर्जुवा नेतृत्व इन संस्थाओं का मददगार था । निश्चित ही इससे राष्ट्रीय आंदोलन को धक्का पहुंचता था और किसानों मजदूरों को धर्म के नाम पर बांटा जा सकता था । साम्प्रदायिक दंगे बड़े पैमाने पर होने लगे थे । सन् 1931 में गांधी जी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेना सन् 1922 की ही तरह लोगों को स्तंभित कर गया । इसके समानांतर देश के बुद्धिजीवियों रचनाकारों और सामान्य शिक्षित जनों में भी "साम्यवाद" की ओर ललक दिखायी पड़ने लगी । सन् 1919 में ही "साम्यवाद" नाम से एक पुस्तिका और रामचंद्र वर्मा की एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित हुई । फिर प्रायः इस विषय पर पुस्तकें प्रकाशित होती रही । 6 सितंबर, 1924 के मतवाला में "साम्यवादी दल की स्थापना" का विज्ञापन निकला । सन् 1925 में इस दल की स्थापना हो गयी । सन् 39 में महात्मा गांधी की इच्छा के विरुद्ध सुभाषा बोस का अध्यक्ष चुना जाना "कांग्रेस के भीतर के वाम पक्ष की विजय थी ।

उपर्युक्त सामान्य सर्वेक्षण की भूमिका के बाद ही हम इस स्थिति में हैं कि सन् 1936 को हिंदी वाम कविता के प्रस्थान-वर्ष मानने से संबंधित अपने आधारों को प्रस्तुत कर सकें ।

हिन्दी वाम कविता : काल-निर्धारण संदर्भ :

यह आवश्यक है कि सौंदर्यशास्त्रीय विमर्श से पहले हम संक्षिप्त रूप में अपने काल-निर्धारण को स्पष्ट कर दें। जिस "चेतना" के परिवर्तन अथवा रूपांतरण की चर्चा हम अब तक करते आये हैं, उसने अपने को राजनीतिक स्तर पर संगठित कर लिया था। रूसी क्रांति के प्रभावशाली समाचारों ने यहां की पहले से ही तैयार क्रांति-धर्मी मनोभूमि को एक प्रेरणा दी और सन् 1920 से ही इस ओर प्रयत्न आरंभ हुए। 26 दिसम्बर 1925 को "कम्यूनिस्ट कांग्रेस" का आयोजन हुआ और भारतीय अंतर्विरोध का ही यह एक उदाहरण हो सकता है कि वर्षों से इस ओर प्रयत्नरत और इस कांग्रेस के संयोजक श्री सत्यभक्त का आरंभ में ही "कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल" को लेकर अन्य सदस्यों से तीव्र मतभेद हो गया और उन्होंने अपने को अलग कर लिया।[4]

जनेश्वर वर्मा ने रूसी क्रांति के समानांतर ही "प्रगतिवाद" का आरंभ माना है।[5] किसी भी ऐतिहासिक राजनीतिक घटना के प्रभाव को साहित्य-संस्कृति पर यांत्रिक ढंग से लागू नहीं किया जा सकता।[6] जिस प्रकार रचनाकार की मात्र इच्छा उसकी रचना में फेर बदल नहीं कर सकती उसी प्रकार "इतिहास" भी व्यक्तियों की इच्छा से स्वतंत्र होता है। वह उनके आचरण का उत्पाद अवश्य है पर उनके समग्र व्यक्तित्व और समग्र आचरण का जो अपनी "समग्रता" के लिए व्यक्तिपर नहीं, बल्कि "व्यक्ति" के साथ अपनी ऐतिहासिक स्थितियों पर निर्भर होता है।

---

4. हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - जनेश्वर वर्मा- पृ. 264।
5. वही - पृ. 305-306।
6. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - शेखा अवस्थी - पृ. 19

हम बता चुके हैं कि भारतेन्दु के समय से ही इस प्रकार की प्रवृत्तियों के संकेत मुखर रूप से प्राप्त होने शुरू हो जाते हैं। सन् 1936 के तुरंत पहले हम पत्रिकाओं के क्षेत्र में सरकारी दमन होता हुआ पाते हैं। सन् 1932 में "जागरण" "हंस" आदि से जमानत मांगी गयी, "आज" को बंद कर दिया गया। सन् 1930 से 1934 तक ही 348 समाचार पत्रों का प्रकाशन बंद किया गया।

इन सब का उल्लेख इसलिए कि रचनाकार अपने "आचरण" को वैयक्तिक स्तर पर संपन्न करते हुए युगीन दमनकारी शक्तियों के सामने अपने को असहाय पा रहा था। "बोलने और लिखने की आजादी" और "संगठन" बनाने की मनोभूमि सन् 1934 में ही प्रत्यक्ष हो गयी थी।[8] विश्वस्तर पर भी रचनाकारों - कलाकारों के संगठन के प्रयास हो रहे थे। सन् 1934 में, रूस में मैक्सिम गोर्की के नेतृत्व में सोवियत लेखक संघ का गठन हुआ और सन् 1935 में सारी दुनिया के प्रगतिशील लेखकों ने संगठन बना। इसी के समानांतर कुछ लंदन प्रवासी भारतीय लेखकों ने भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना का निश्चय किया। मुल्कराज आनंद अध्यक्ष चुने गये और सज्जाद जहीर सेक्रेटरी। रेखा अवस्थी ने ठीक ही लिखा है -- "कुछ लोग समझते हैं कि लंदन में प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित करने का निर्णय हुआ और हिंदुस्तान में लागू हो गया। ऐसे लोग सरल बनते हैं और हर आंदोलन के भीतर काम कर रहे अनेक प्रकार के तत्वों और सूत्रों के जटिल संबंध को न समझकर तुरंत सरलीकरण पर उतारू

---

7. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ. 5
प्रस्तुत विवेचन के प्रसंग में ध्यातव्य है कि हमने "वाम कविता" को "आचरण" की कविता कहा थाऔर उस "आचरण" के "संगठन" के धरातल पर आ जाने की अपनी एक प्रक्रिया होती है।

8. वही - पृ. 6।

हो जाते हैं । हिंदुस्तान के अंदर संगठन बनाने की जो कोशिशें हो रही थीं, उनके सूत्रधार प्रेमचंद थे और पेरिस, मास्को और लंदन में जो कुछ भी सरगर्मियां और हलचलें थीं, उनमें सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनंद थे ।[9]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में "संगठन" सम्बन्धी इस विवरण के पीछे हमारा यही ध्येय है कि हम भारतीय चेतना के वाम रूपांतरण में "संगठन" को एक निर्णायक महत्व देते हैं । चेतना को हमने आचरण से समीकृत किया था और वैयक्तिक आचरण के स्थान पर निश्चित ही "सामूहिक आचरण" के दूरगामी प्रभाव होते हैं । किसी एक कविता, किसी एक कहानी या निबंध तक अपने विचारों को सीमित न रख कर जब रचनाकार-बुद्धिजीवी अनेक के साथ मिल बैठकर, सुविचारित योजना के अनुसार वैचारिक आचरण को कार्यान्वित करता है तो निश्चित ही "प्रतिरोध" की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है ।

न केवल आचरण के स्तर पर एक से अनेक होने का वैचारिक उत्साही रचनाकारों में दिखता है बल्कि ठेठ राजनीतिक कार्यकर्ता और नेता के साथ मिलकर वह अपने "आचरण" को फलीभूत करना चाहता है । प्रस्तुत शोध की पदावली में कहें तो सन् 36 में जहां "काल-बोध" के स्तर पर राजनीतिक और सौंदर्य बोधात्मक का अंतर पहली बार मिटता हुआ दिखायी देता है, वहीं प्रतिरोध और हस्तक्षेप भी राजनीतिक रूप से सौंदर्य बोधात्मक अथवा "सौंदर्यबोधात्मक रूप से राजनीतिक हो गये थे । यह आकस्मिक

---

9. वही - पृ. 8। प्रेमचंद "हंस" के माध्यम से न केवल लंदन के प्र.ले.स. के समाचारों का प्रचार-प्रसार कर रहे थे, बल्कि जब-तब टिप्पणियां लिखकर अपना समर्थन भी दे रहे थे ।

नहीं था कि जिस घोषणा पत्र पर निराला और पंत हस्ताक्षर कर रहे हों, उसे नेहरु, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव का समर्थन भी प्राप्त हो ।[10] इस प्रसंग में "भारतीय साहित्य परिषद" के नागपुर अधिवेशन में बांटा गया परचा और पारित प्रस्ताव भी महत्वपूर्ण है । प्रस्ताव की शब्दावली स्पष्टत: जिंदगी को खानों में बांटकर देखने का विरोध करती है । हम बल देकर कहना चाहेंगे कि "वाम सौंदर्य शास्त्र" के संबंध में किये गये अद्यतन विवेचन के निष्कर्षों से हम उस प्रस्ताव की अद्भुत समानता पाते हैं । पारम्परिक सौंदर्यशास्त्र से प्रस्थान, राजनीति और सौंदर्यशास्त्र की चिंताओं का एक होना तथा आचरण में भी एकता के प्रस्ताव -- निश्चित ही वाम सौंदर्य शास्त्र को पहली बार प्रस्तुत करते हैं । निस्संदेह हम "समग्र" की बात नहीं कर रहे हैं क्योंकि "प्रक्रिया" पूरी नहीं हो गयी थी बल्कि जिस चेतना के रूपांतरण की प्रक्रिया उन्नीसवीं शती में शुरु हुई थी, वह सन् 1936 में एक निर्णायक साकार के साथ सम्मुख आयी-- "कैसे कहना है" का सवाल बाद में उठता है । पहले यह ठहराना है कि क्या कहना है, किनसे कहना है । हमारी समझ में साहित्य की समस्याओं को जीवन की दूसरी समस्याओं से अलग नहीं किया जा सकता । जीवन एक पूरी इकाई है, उसे साहित्य राजनीति, फिलासफी आदि के खानों में नहीं बांटा जा सकता । इंसानियत के नाते हम पूछते हैं कि क्या आज जब तरक्की और उन्नति और अवनति की ताकतों में आखिरी लड़ाई छिड़ी हुई है, साहित्य उससे अपने को अलग रख सकता है ? क्या "कला" सौंदर्य" आदि का पल्ला पकड़कर वह जिंदगी से भाग सकता है ? क्या वह "यथार्थवाद" फ्लीज पर बैठकर "क्रांति" और प्रतिक्रिया के द्वंद्व का तमाशा खामोशी से

---

1. वही - पृ. 9

देख सकता है 9 x x x साहित्य की जड़ जिंदगी में है और जिंदगी की जड़ परिवर्तन में ।"[11]

अंतर्विरोध तीव्र हो रहे थे । कांग्रेस के भीतर भी समाजवादी विचारधारा जोर पकड़ रही थी । सन् 36 में जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष बनें । स्थिति यह थी कि जो लोग स्वतंत्रता-संग्राम को अपने रक्त से गति दे रहे थे, वे अपने स्वप्नों के भारत को समाजवादी भारत से एक करके ही देख रहे थे ।[12] ऐसे में कांग्रेस का अपने प्रस्तावों में समाजवादी शब्दावली को स्वीकार कर लेना जहां एक ओर उस युग के आर्थिक-सामाजिक दबावों का परिणाम बतलाना है, वहीं दूसरी ओर "राजनीति" के नये छद्म-रूप की शुरुआत की । गांधी जीने देश के तरणों को भाप की उपमा देते हुए सन् 29 में ही उन्हें आवश्यक पाबंदी कबूल करने की सलाह दी।[13] एक और विरोधाभास देखने लायक है । सन् 30 में गांधी जी ने अंग्रेज सरकार के सम्मुख ग्यारह मांगे रखी थी, उनमें से एक भी मजदूर किसान से संबंधित नहीं थी । लेकिन सन् 31 में पूरा प्रस्ताव ही मजदूर-किसान से जुड़ा था । प्रस्ताव में यह भी था कि शासन सूत्र के हाथ में आ जाने पर सरकार के किसी भी कर्मचारी का वेतन पांच सौ रुपये से अधिक न होगा ।"[14]

---

11. वही - पृ. 316-317 पर उद्धृत ।

12. -" while the other classes of contemporary Indian society desired a free India, Indian labour dreamt of a free socialist India" — Sociological Background of Indian nationalism — A. R. Desai P 182

13. "जिस तरह भाप किसी मजबूत डिब्बे में गिरफ्तार होकर प्रचण्ड गति से उत्पन्न करती है, उसी तरह देश के नौजवानों को भी अपनी अदम्यशक्ति को बंद और वशीभूत रखने और उसे आवश्यक मात्रा में ही मुक्त करने की पाबंदी कबूल करना चाहिए।" नेहरू के बारे में गांधी जी ने कहा "जवाहरलाल निस्संदेह उग्रवादी हैं और अपने चारों ओर की स्थिति से बहुत दूर आगे जाकर सोचते हैं, लेकिन उनमें इतना अनुशासन, इतनी विनम्रता और व्यावहारिकता है कि वह इस हद तक आगे नहीं बढ़ेंगे कि मामला बिल्कुल ही बिगड़ जाये।" गांधी जी और उनका वाद
ई.एम.एस.नम्बूदिरिपाद - पृ.464 पर उद्धृत

14. कांग्रेस का इतिहास भाग-1 डॉ0 पट्टाभिसीतारामय्या - पृ.371-372 और 471 ।

जब हमारे विवेचन की दृष्टि से एक ओर "राजनीतिक सौंदर्यशास्त्र" अथवा "सौंदर्यशास्त्रीय राजनीति" की संभावना स्पष्ट दिखायी पड़ने लगी थी नयी सात प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें बनी । उन सरकारों का चरित्र ऐसा था कि नेहरू ने गांधी जी को एक पत्र में लिखा -- "इतनी मेहनत से हमने जो जनता के दिल में ऊंची पोजीशन बनायी है, उसे हम धीरे धीरे खोते जा रहे हैं । हम पेशेवर राजनीतिज्ञों के स्तर पर उतार दिये गये हैं ।[15]

सार यह कि दो विपरीत धाराओं के बीच का संघर्ष प्रत्येक स्तर पर तीव्र और जटिल हो रहा था । ऐसे समय प्रगतिशील लेखक संघ का पहला सम्मेलन (9 और 10 अप्रेल 1936) लखनऊ में हुआ । अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने जो कुछ भी कहा, वह सब महत्वपूर्ण होते हुए भी हम अपने विवेचन की दृष्टि से उपयुक्त कुछ अंश उद्धृत करना चाहेंगे -- "हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था ।[16] x x x कला सौंदर्यवृत्ति को पुष्ट करती है पर सौंदर्यवृत्ति के मूल में भी उपयोगिता का पहलू होता है । और इस सौंदर्य की सत्ता निरपेक्ष नहीं है बल्कि सापेक्ष है । एक रईस के लिए जो वस्तु सुखकर साधन है वही दूसरे के लिए दुख का कारण है । x x x हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी । अभी वह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी । x x x उसके शासक वर्ग के लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है, उस बच्चों वाली गरीब रसरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चों को खेत की मेंड पर

---

15. मानव मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती - पृ.87 पर उद्धृत ।
16. नया हिंदी काव्य - शिवकुमार मिश्र - पृ.7 पर उद्धृत ।

सुलाये पसीना बहा रही है । उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होठों, कपोलों और भौहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है, उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियां पड़े हुए होठों और कुम्हलाये गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहां ? पर यह संकीर्ण दृष्टिकोण का दोष है ।[17]

पहली बार ऐसा हुआ सन् 1936 में कि सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर भी "सामूहिक और संगठित कार्रवाई" की घोषणा हुई । इस प्रकार यह एक स्पष्ट सौंदर्यशास्त्रीय प्रस्थान था और "वाम" कविता को इस वर्ष से मानने के पीछे यह हमारा एक महत्वपूर्ण आधार है ।

रचना-कर्म के स्तर पर भी बदलाव को इसकाल के संदर्भ में रेखांकित किया गया है । एक व्यापक फलक पर हो रहे बदलाव

---

17. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ.16 पर उद्धृत ।
यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रेमचंद का भाषण, बहुत गहराई से, दक्षिण अथवा शासक सौंदर्यशास्त्र की जड़ पर ही कुठाराघात कर रहा था । वे कसौटी बदलने की बात कर रहे थे । सौंदर्य को "श्रम" की सापेक्षता में समझाकर उस "कसौटी" की ओर संकेत भी कर रहे थे । "उपयोगिता" को सतही अर्थ में न लेकर उनके पूरे भाषण की सापेक्षता में समझना होगा । निश्चित ही जीवन-संघर्ष में उसकी "उपयोगिता" का प्रश्न उठाया गया है ।

उसी अनुपात में तीव्र हो रहे अंतर्विरोध आदि सन् 36 को एक महत्वपूर्ण वर्ष बताते हैं ।[18]

हमारा समूचा बल सौंदर्यशास्त्रीय तथ्य पर है और हम यह कहना चाहते हैं कि आचार (= Praxis) और दृष्टि (Vision) के धरातल पर उस समय की कविता में, एक निर्णायक बदलाव को देखते हुए सन् 36 को हम "वाम कविता" का प्रस्थान वर्ष मानते हैं ।

कविता का सिंह द्वार :

प्रस्तुत शोध को अपनी सारी तैयारी के साथ यही पहुँचना थ । दूसरे शब्दों में, सारी तैयारी थी ही इसलिए कि यहाँ पहुँचा जा सके । कविता के बारे में कुछ भी कहने की पूर्व शर्त है, कि उसके सामने आना, फिर "कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार में से गुजरकर, अंतर्जगत में विचरण कर चुकने, रस ले चुकने, व्यक्तित्व और भा-दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरांत" -- यह सोचना कि -- "प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन-कौन से

---

18. 36 के आस-पास हुए बदलाव और एक नये साहित्यिक प्रस्थान की बात कई विद्वानों ने की है । नामवरसिंह, शिवकुमार मिश्र और रेखा अवस्थी आदि की बात छोड़ दें तो "अज्ञेय" आदि भी महसूस करते हैं -- "लेखक की मानसिक स्थिति स्वतंत्रता प्राप्ति की 31-37 में ही हो गयी थी । साहित्य भी भिन्न हो गया था ।" नई कहानियाँ - दिसंबर 65 में प्रकाशित एक साक्षात्कार ।

सन् 36 को हिंदी साहित्य का एक नया-प्रस्थान वर्ष मानने के बारे में आम सहमति को देखते हुए यह व्यर्थ होगा कि उन सारे तर्कों का- विवेचनों को यहाँ दुहराया जाय, जो दर्जियों पुस्तकों में लिखा जा चुका है ।

हैं, जिन्होंने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की, अथवा सफलता के मार्ग पर चलते-चलते लेखक ने कौन- सी बाधाएं उत्पन्न कर दी ।"[19] इस वास्तुशिल्पीय सादृश्य का तात्पर्य मात्र सौंदर्यशास्त्रीय प्रस्थान बिंदु तय करना है । मुक्तिबोध ने एक से अधिक बार इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि कवि या सृष्टा से ठीक विपरीत पाठक की यात्रा होती है । वास्तु-शिल्पीय सादृश्य को यांत्रिक ढंग से अपना लेने की जो हानियां होती हैं, वे मार्क्सवादी जगत में आधार [base] और अधिरचना [Super Structure] सम्बन्धी विवादों में उजागर हो चुकी है । यहां भी "द्वार", उसमें से गुजरना" आदि का सौंदर्यशास्त्रीय अर्थ ही देखा जाना चाहिए । यह क्रमिक होता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । यह किसी सीमा तक सच है कि कविता पहले अपने "रूप" के माध्यम से ही सामने आती है । और यहां पर भाषा का प्रश्न प्राय: उठाया जाता रहा है ।

कविता § और साहित्य § भाषा में ही होती है, हो सकती है किंतु "भाषण" मात्र नहीं होती । भारतीय काव्य शास्त्र में भी इसे लेकर विमर्श किया गया है । वक्रोक्ति सिद्धांत को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दिखाते हुए डा० विजेन्द्र नारायण सिंह ने कविता और भाषा की इस समस्या पर विचार किया है । वे कुंतक के वक्रोक्ति प्रत्यय को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करते हुए "काव्य-भाषा" के सनातन प्रश्न से जूझते हैं । प्रस्तुत विवेचन में हमने कविता को समझने के लिए "संदर्भ" पर बल दिया है । डा० विजेन्द्र नारायण सिंह का कथन है -- "किंतु संदर्भ तक माध्यम के सिवा और किस चीज़

---

19. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 219

के सहारे पहुचा जा सकता है । संदर्भ की प्रकृति और स्वरूप की आकृति [Physeology] है भाषा । x x x भाषा ही वह नैरोमीटर है, जिससे कवि की अनुभूति का दबाव नापा जा सकता है । x x x कविता सबसे अच्छी भाषा है । इसी को कुंतक ने "वक्रोक्ति" कहा है ।[20]

कुंतक के "वक्रोक्ति" -- प्रत्यय की व्याख्या मात्र तो इस कथन को नहीं माना जा सकता स्वयं विजेन्द्र नारायण सिंह का मत यह नहीं है, अथवा कुंतक का मंतव्य यही रहा होगा, यह कहना कठिन है । प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र के प्रति सृजनात्मक सरोकार की यह अनिवार्य परिणति है । हम इस मत को कुंतक विजेन्द्रनारायण सिंह अथवा विजेन्द्रनारायण सिंह के माध्यम से कुंतक का मत मानकर चल सकते हैं ।

डॉ० सिंह का बल "भाषा" और "स्व" पर है । -- "बुरी कविताओं की पहचान यह है कि उनमें निजता नहीं होती । वे बेडौल और सामान्य जीवन की भागीदारी होती है । x x x कविताओं को निजता चाहिए ही और जहां यह "स्व" की विशिष्टता नहीं होती, वहां वक्रत्व का अभाव समझना चाहिए । "वैचित्र्य" से कुंतक का यही तात्पर्य है ।[21]

यदि यही तात्पर्य है तो यह किसे अस्वीकार होगा । मात्र इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि "निजता" एक सापेक्ष स्थिति है

---

20. आलोचना 12 जनवरी-मार्च 70 - पृ. 81

21. - वही - पृ. 82

और वह "बेडौल" और "सामान्य जीवन" की अपेक्षा में ही स्वरूप ग्रहण करती है । इसी प्रकार कविता को सबसे अच्छी भाषा कहने में "अच्छी" का अर्थ कतई स्पष्ट नहीं होता । "राम की शक्ति पूजा" और "कुकुरमुत्ता", अगर दोनों अच्छी भाषा है तो "अच्छी" के सौंदर्य शास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट किये जाने की आवश्यकता है ।

यहां इस विवेचन से प्रस्तुत शोध प्रसंग का सम्बन्ध यह है कि "कविता" की भाषा ही सबसे पहले सामने आती है । किंतु क्या पहले उसी पर विचार किया जाता है ? "प्रभाव" से पहले ? हमारा उत्तर होगा कि जहां तक शिल्प रूप की बात है, वह बाद में विचारणीय होगी । "प्रभाव" की सापेक्षता में ही "वाद" का स्वरूप निर्धारित होगा कि किसके बाद में ? प्रमुख प्रभाव है । उसके बाद ही उसके "उपादान" भाषा, शिल्प आदि ।

कुंतक या विजेन्द्रनारायण सिंह निश्चित ही "उपादान" के महत्व को बतला रहे हैं । कहना न होगा कि कुंतक की प्रतिभा का यह उद्घाटन सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण घटना है । "कविता के सिंह द्वार" के प्रसंग में "भाषा और उसके पीछे सक्रिय कवि-व्यक्तित्व की भूमिका का उद्घाटन होना ही चाहिए । कई बार "भाषा" माध्यम न रहकर अवरोध का काम करती है तब भी उसका "अवरोधत्व" कवि-व्यक्तित्व का ही सृजन होता है ।

पहले भवन को पूरा देख लिया जाना चाहिए तब उसके बारे में कोई मत प्रकट करना चाहिए । वास्तुशिल्पीय सादृश को किंचित आगे बढ़ाकर हम कहना चाहेंगे कि उसकी बनावट, अच्छाई

बुराई, बिना उसे पूरा देखे पता नहीं चल सकती । देखने के बाद पहले तो उसके "प्रभाव" की बात होगी, फिर उसी के चलते बनावट और फिर पत्थरों या ईंटों की । कहने का तात्पर्य यह कि भाषा लगभग अंतिम क्रम में ही आयेगी ।

बहुत सारे प्रश्न हैं लेकिन जो "भीतर" ही पूछे जा सकते हैं । उनके उत्तर भी बाहर ही बाहर कभी नहीं मिलते । किंतु कतिपय बातें सामान्य तौर पर ऐसी हैं, जिन्हें भीतर प्रवेश करने से ऐन पहले जानना आवश्यक है ।

यहां वास्तुशिल्पीय सादृश्य को आगे न बढ़ाते हुए हम कहेंगे कि कृति के आमने सामने होते ही वह उत्पाद के रूप में प्रस्तुत होती है । कलाकार के लिए वह प्रक्रिया से उत्पादक तक की यात्रा है तो निरीक्षक के लिए उत्पाद से प्रक्रिया और उसके बाद मूल्यांकन या निर्णय कथन ।[22]

कलाकृति ऐसा उत्पाद होती है, जो "कलाकार" के अतिरिक्त और कई बातों का परिणाम (= उत्पाद) होती है ।

हमारा संकेत उत्पादन-सम्बन्धों की ओर है । कलाकृति उत्पाद के रूप में निस्संदेह अपने युग के सामान्य उत्पादन तरीकों और उसके अंतर्गत आनेवाले साहित्यिक उत्पादन तरीकों का परिणाम

---

22. "विकास की दृष्टि से कलाकृति के दो चरण होते हैं : कलाकार के लिए प्रक्रिया (प्रोसेस) और, निरीक्षक के लिए "उत्पत्ति" (प्राडक्ट) बीच में है पदार्थगत "माध्यम" (मीडियम)"
अथातो सौंदर्य जिज्ञासा - रमेश कुंतल मेघ - पृ. 52

होती है । "उत्पादन सम्बन्ध ही सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं । भौतिकवादी आलोचना जब किसी कलाकृति को परखती हैं तो यह सवाल उठाया करती है कि उस कृति का अपने समय के उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों में क्या स्थान है ?"[23] टेरी ईगलटन ने इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण सूत्रीकरण [Formulation] किया है, जो प्रस्तुत शोध के लिए अत्यधिक सहायक हो सकता है । मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांत के प्रमुख घटकों को उन्होंने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है --

(1) सामान्य उत्पादन का तरीका [General mode of production]
इसे टेरी ई गलटन ने छोटे रूप में GMP कहा है, प्रस्तुत प्रसंग में हम इसे "साउत" सम्बोधित करेंगे ।

(2) साहित्यिक उत्पादन का तरीका [Literary mode of production]
= LMP ⊕ = "लाहउत"

(3) सामान्य विचारधारा [General ideology]
GI = सावि ।

(4) लेखकीय विचारधारा [Authorial ideology]
AUL = लेवि ।

(5) सौंदर्यशास्त्रीय विचारधारा [Aesthetic ideology]
Ai = सौवि ।

पाठ [text]

---

23. आलोचना : 17 - अप्रैल-जून, 1971, पृ. 10-वाल्टर बेंजामिन का "लेखक : उत्पादक के रूप में" नामक लेख - पृ

उपर्युक्त सूत्रों में "पाठ" [Text] घटक नहीं है, बल्कि साहित्य-सिद्धांत का विषय है। किंतु यहां दूसरे घटकों के साथ उसके सम्बन्धों को देखते समय उसे "घटक" के स्तर पर मानना ही फलप्रद होगा।[24]

साउत का अर्थ होगा सामान्य उत्पादन का तरीका जिसे भौतिक उत्पादन से संबद्ध कतिपय शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों की एकता में देखा जाता है। "सामान्य" के प्रयोग "साहित्यिक उत्पादन से "आर्थिक उत्पादन" को अलगाने के लिए किया गया है।

साहिउत से तात्पर्य होगा, एक विशेष सामाजिक गठन [Formation] के अंतर्गत साहित्यिक उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों और निश्चित शक्तियों की एकता। कहना न होगा कि साहित्यिक उत्पादन के कई स्म होते हैं और उनमें से कोई एक स्म प्रमुख होता है।

उत्पादन के ये विशेष साहित्यिक स्म (साहिउत) कई तरह के द्वंद्व और अंतर्विरोधों से भरे-पूरे होते हैं। ये सब मिलकर एक विषम [Asymmetrical] सम्पूर्णता [Totality] की सृष्टि करते हैं क्योंकि जो स्म प्रमुख या प्रभावी [Dominent] होता है, वह दूसरे स्मों को या तो अपने अधीन कर लेता है या उन्हें मजबूर कर देता है कि वे अधीनता स्वीकार कर लें या फिर उन्हें साहित्य-क्षेत्र से बाहर खदेड देता है। एक ही समाज में, परस्पर संघर्ष-रत स्मों से बनी साहित्यिक-संरचना की स्थिति संभव है। एक ही समय में एक ओर पूंजीवादी मण्डी के लिए उपन्यास लिखे जा रहे हैं,

---

24. — "criticism and ideology" — Terry eagelton P. No. 44

तो दूसरी ओर कविता-पोस्टर दीवारों पर चिपकाये जा रहे हैं। साथ-साथ मिलने वाले साहित्यिक रूपों के लिए यह कतई आवश्यक नहीं है कि उनकी उत्पत्ति भी साथ ही हुई हो। यह भी प्राय: होता है कि पूर्ववर्ती ऐतिहासिक समाज में उत्पन्न कोई "रूप" परवर्ती समाज में भी बचा रह जाता है और नये रूपों में घुसपैठ करके उन्हीं में से एक बन जाता है। उदाहरण के लिए "मौखिक" और "लिखित साहित्य रूपों" को लिया जा सकता है। ऐसा उदाहरण प्राय: संभव है कि जब सामाजिक स्थितियां "मौखिक" रूप के लिए उपयुक्त हों तो "लिखित" रूप भी अपने महत्व को अक्षुण्ण बनाये रखें परस्पर घात-प्रतिघात करते हुए ये द्वंद्वात्मक रूप से, एक साथ महत्वपूर्ण बने रह सकते हैं। एक उदाहरण चार्ली चैपलिन की फिल्में हो सकती हैं। जब सवाक् फिल्मों के प्रचलन हो चुका था, तब भी चार्ली चैपलिन की Modern Times जैसी मूक फिल्में न केवल महत्वपूर्ण मानी जा रही थी बल्कि महानता की श्रेणी में परिगणित भी की जा रही थी। इसी प्रकार सभाओं या गोष्ठियों में "लिखित" का "पाठ" करना भी इसी द्वंद्वात्मक स्थिति का प्रमाण हो सकती है। कविता पाठ, कहानी पाठ, लिखित भाषण का पाठ आदि यदि एक छोर है तो आशु [extempore] वक्तव्य का दूसरों द्वारा लिखा जाना दूसरा छोर कहा जायेगा। लघु पत्रिकाओं का उद् देश्य होता है, वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध करना किंतु वे छपती है पूंजीवादी साहित्य से। बाद में यदि उन्हें पर्याप्त अनौपचारिक वितरण की सुविधा और उपभोक्ताओं [= पाठकों] की सक्रिय भागीदारी मिल जाये तो वे साहित्य से अलग भी हो जाती हैं। एक तरह का साहित्य lamp दूसरी तरह के साहित्य lamp से जटिल और अंतर्विरोधों

से ग्रस्त एकता स्थापित कर सकता है और स्वयं भी एक जटिल इकाई के रूप में बना रह सकता है । प्रत्येक साहित्य रूप ग्रहण करने के लिए उत्पादन संरचनाओं, वितरण, विनिमय और उपभोग पर निर्भर होता है। उत्पाद [product] की पूर्ववर्ती शर्तों के रूप में उत्पादक [producer] तो होता ही है, साथ ही उत्पादक-समूह सामग्री या उपादान, औजार और तकनीक, यहां तक कि स्वयं उत्पाद भी परम्परा, रूढि आदि के रूप में रहते हैं । समाज की विकसित स्थिति के अनुपात में उत्पादन की एक सर्व था स्वायत्त और निजी स्थिति भी बन जाती है, जो क्रमश: सामाजिक उत्पादन पद्धति में ढल जाती है । उदाहरण के लिए छपने और प्रकाशित होने की पद्धति एक मौलिक उत्पाद (= पाण्डुलिपि) को एक नये उत्पाद (= पुस्तक) में बदल देती है । इसके लिए उत्पादन सम्बन्धों (प्रकाश तथा छपाई से संबंधित अनेक औद्योगिक संस्थाएं) और उत्पादन के औजारों की पूर्ववर्ती स्थिति होना अनिवार्य है । ये सम्बन्ध जहां एक ओर निर्धारित होते हैं, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक वितरण, विनिमय और उपभोग के रूपों को निर्धारित करते हैं । ध्यातव्य है कि हस्तलिखित पाण्डुलिपि का वितरण और उपभोग सिर्फ वैयक्तिक्त स्तर पर और हाथों हाथ ही हो सकता है । एक से अधिक पाण्डुलिपियों हो अर्थात् यदि प्रतिलिपियां उतारी गयी हों तो अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक उपभोग की स्थिति होती है । मध्ययुगीन भाट-चारण को और आधुनिक काल में कवि-सम्मेलनी कवियों को और भी अधिक उपभोक्ता (= श्रोता) मिलेंगे । इसी प्रकार यात्रा के दौरान पढ़ने लायक उपन्यासों को बहुसंख्यक जनता [mass public] उपभोक्ता के रूप में मिलती है ।

साहित्यिक उत्पादन ही साहित्यिक सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है । भाट, चारण, मध्यकालीन भक्त कवि, दरबारी कवि और आज के काव्य संग्रहों और पत्र-पत्रिकाओंवाले कवियों को तुलनात्मक रूप से देखकर इस तथ्य को समझा जा सकता है । ऐसी स्थिति में एक सही समीक्षा पद्धति के लिए आवश्यक है कि साहित्यिक उत्पाद के विविध रूपों को साहित्यिक उत्पादन की अपेक्षा में और उससे जोड़कर देखा जाय । कहना न होगा कि साहित्यिक का चरित्र साहित्यिक उत्पाद [literary product] का एक विशेष घटक होता है । साहित्यिक के मौखिक रूप की शैली अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक होगी और इसलिए अधिक सम्प्रेषणीयता के गुणों से सम्पन्न आश्रयदाता के लिए लिखे गये साहित्य का चरित्र पूंजीवादी मण्डी के लिए लिखे गये ~~साहित्य का चरित्र पूंजीवादी मण्डी के लिए लिखे गये~~ साहित्य से अनिवार्यतः भिन्न होगा ।

प्रस्तुत शोध प्रसंग की पदावली में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक साहित्यिक पाठ [Text] किसी न किसी हद तक सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों को आंतरिकी कृत [internalized] करके ही संभव होता है और इस प्रकार प्रत्येक पाठ अपने उपभोग किये जाने के ढंग से ही अपनी विचारधारा को प्रकट करता है कि वह कैसे, किसके लिए और किसके द्वारा उत्पादित किया गया है ।

निश्चित ही साहित्यिक उत्पाद की उत्पादन शक्तियां साहित्यिक उत्पादन द्वारा प्रदत्त होती हैं । दूसरे शब्दों

साहित्य को साहित्य के एक विशिष्ट अंश के रूप में ही देखा जा सकता है । छापेखाने में से गुजरने के पहले और बाद में भी ।

इस तथ्य से वाम सौंदर्यशास्त्र आंखे नहीं मूंद सकता कि प्रकाशन व्यवसाय और पत्र-पत्रिकाओं के तंत्र ने सौंदर्यबोधात्मक क्षेत्र में अत्यधिक प्रभाव डाला है ।

यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्यिक उत्पादन और उपभोग का चरित्र यह होता है कि वह एक विशेष स्तर की साक्षरता की मांग करता है । साथ ही शारीरिक और मस्तिष्कीय स्वास्थ्य के एक विशेष स्तर की भी उसे दरकार रहती है । एक सीमा तक आर्थिक संपन्नता और अवकाश भी साहित्य उत्पादन और उसके उपभोग के लिए आवश्यक शर्तें हैं । इस क्रम को जरूरी सीमाओं में आगे बढ़ाकर हम कह सकते हैं कि आर्थिक स्रोत तथा छत या आश्रय [Shelter] जिसमें ठीक-ठीक अनुपात में रोशनी का इंतजाम हो और एकांत की सुविधा हो, साहित्य Lmp की जरूरतें हैं ।

हमारे शोध-प्रसंग के विषय के रूप में विशेषत: बीसवीं शती की हिन्दी कविता है । इस स्थिति में आवश्यक है कि साहित्यिक उत्पादन और वितरण में पूंजीवादी भूमिका को भी देखा जाय । पूंजीवादी व्यवस्था में निश्चित ही साहित्य Lmp का चरित्र अधिकाधिक पूंजीवादी होता जाता है । पूंजीवाद में साहित्यक उपभोक्ता और वितरक अधिक से अधिक शहर-केन्द्रित होते हैं । जनसंख्या वृद्धि और आजीविका की खोज में लोगों का

शहर आना पूंजीवादी साहित्य Imp के अनुकूल होता है । शहर में साहित्य-वितरण तंत्र अधिक लोगों तक पहुंच सकता है । शहर अपने ही ढंग से साक्षरता का अनुपात, संपन्नता, अवकाश, आश्रय और एकांत को निधारित करता है । शहरों में बढ़ते हुए पूंजीवाद के प्रभावस्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में "विशेषता" [Specialization] की मांग और उसके अनुपात में वृद्धि होती है । शहर द्वारा भौतिक और सांस्कृतिक स्थितियां भी इस ढंग की तैयार की जाती है कि उसके भीतर पेशेवर साहित्यिक उत्पादन संभव हो सके ।

यहां वाम सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से एक तथ्य और निर्णायक महत्व रखता है । शहर की अपनी स्थिति में गरीबी, शारीरिक और मस्तिष्कीय दुर्बलता, श्रमिकों का अत्यधिक श्रम, निरक्षता, घर-बार विहीन लोग, पर्याप्त आश्रय न पानेवाले, एकांत की सुविधा और रोशनी के इंतजाम से वंचित लोग आदि स्थितियां भी अत्यधिक गति से पनपती हैं । ऐसे में स्वाभाविक तौर पर साहित्य कतिपय निश्चित सामाजिक समूहों और वर्गों को साहित्यिक उत्पादन उपभोग से बाहर कर देता है ।

यहां उस सामान्य विचार धारा की चर्चा भी प्रासंगिक होगी जो कुछ निश्चित विश्वासों और मूल्यों की सुस्थिर स्थिति की सापेक्षता में प्रभुता प्राप्त करती हैं । यह भौतिक उत्पादन की संरचनाओं से जुड़ती है और निश्चित भौतिक उत्पादन तंत्र के भीतर ही पहचानी जा सकती है ।

कोई भी साहित्यिक "पाठ" उस विचार धारा से न सिर्फ भाषा की वजह से जुड़ता है बल्कि उस भाषा का विशिष्ट उपयोग वह

"पाठ" किस तरह से अपने नई करता है, यह बात भी उसे सावि [Gi = General ideology] से जोड़ती है। कहना न होगा कि भाषा विज्ञान और राजनीति के अंतर्सम्बन्ध साहित्य को अनिवार्य रूप से प्रभावित करते हैं। इस अर्थ में पाठशाला से लेकर विश्व-विद्यालय तक साहित्य एक ऐसे औजार का काम करता है, जिसके जरिए व्यक्ति को प्रभुत्वशाली विचारधारात्मक गठन के उपयुक्त बनाया जाता है।

यहीं लेखकीय विचारधारा = लेवि [authorial ideology] की स्थिति समझ लें।

हमने "परिवार" और "बचपन" की बात बलपूर्वक लिखी है। लेखक की जीवनी की विशिष्ट स्थिति ही लेवि [Paul = authorial ideology] की सृष्टि करती है, जीवनी के भीतर कई महत्वपूर्ण तथ्यों की स्थिति होती है। लेखक की सामाजिक वर्ग-स्थिति, स्त्री या पुरुष होना, राष्ट्रीयता, धर्म, भौगोलिक स्थिति और इस प्रकार के अन्य वे सारे महत्वपूर्ण भेद जो लेखक की जीवनी को अनूठा बनाते हैं। किंतु यह आवश्यक है कि उसका अध्ययन सावि के साथ ही होना चाहिए। लेवि और सावि के बीच हमेशा ही एक द्वंद्वात्मक स्थिति रहती है, जिसमें सहयोग, विरोध और तीव्र विरोधाभास तो संभव होते ही हैं, ये सब एक साथ रहकर तीव्र अंतर्विरोध को भी सक्रिय रख सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन, जो टेरी इगलटन के आधार पर, प्रस्तुत शोध-प्रसंग को दृष्टि में रखकर संक्षिप्त रूप में और किसी सीमा तक स्वच्छंदता पूर्वक प्रस्तुत किया गया है, हमें अंतत: उस

स्थान पर ले आया है, जहां सौवि [Ai = Aesthetic ideology] की चर्चा सम्भव हो सकती है। यह सामान्यत: सावि (Gi) से अलग होती है किंतु उसके नैतिक धार्मिक आदि क्षेत्रों से जुड़ी रहती है। सौवि (Ai) पूरी तरह से साउत Gmp द्वारा निर्धारित होती है। इसके कई भाग विभाग हो सकते हैं। साहित्यिक सौवि भी इनमें से एक है। साहित्यिक सौंदर्य-शास्त्र की अपनी कई जटिलताएं होती हैं, तर्क होते हैं। साहित्य के सिद्धांत, व्यावहारिक आलोचनाएं, साहित्यिक परम्पराएं, शैली [Genre] साहित्यिक रूढ़ियां [literary conventions] आदि साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत आते हैं। निश्चित ही इसमें सौंदर्यशास्त्र परक विचारधारा [ideology of aesthetics] भी निहित है। सौंदर्यशास्त्र का अपना मूल्य-संसार और व्यवहार जगत होता है, जो निश्चित रूप से एक विशिष्ट सामाजिक संरचना का हिस्सा होता है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो साउत (Gmp) सावि [Gi] का उत्पादन करता है, जो फिर साउत के पुनरुत्पादन में अपना योगदान देती है। साउत ही प्रमुख प्रभुता-संपन्न साहित्य का उत्पादन करता है जो सामान्यत: साउत का पुनरुत्पादन करता है और साउत द्वारा ही पुनरुत्पादित होता है और साथ ही साथ साहित्य (Gi) का पुनरुत्पादन भी करता और उसके द्वारा पुनरुत्पादित भी होता है।[25]

---

25. "Criticism and ideology" — Terry Eagalton

के दूसरे अध्याय को प्रस्तुत शोध की दृष्टि से, स्वच्छ संक्षिप्तीकरण

स्थिति यह है --

साहित्य सावि सौवि = साउत निर्धारित

= साहित्यिक उत्पाद
अथवा
साहित्यिक उत्पादन ।

यदि कलाकृति के सम्मुख खड़े हों तो इस प्रकार की एक जटिल द्वंद्वात्मक स्थिति बनती है कि साउत के अंतर्गत एक निर्धारित सावि की अपेक्षा में लेवि, सौवि के घात-प्रतिघात होते हैं, जो सबके सब साहित्य के क्षेत्र में होने को विवश हैं --

इस सारे विवेचन के उपरांत कहा जा सकता है कि जब पाठक / आलोचक / द्वारा कोई कविता पढ़ी जाती है तो पहले से चली आ रही एक जटिल प्रक्रिया के भीतर कई सारी जटिल द्वंद्वात्मक घटनाएं घटती हैं और कोई भी सौंदर्यशास्त्री उन्हीं की सापेक्षता में उत्पन्न होता है । वाम सौंदर्यशास्त्र की चेष्टा यह होनी चाहिए कि वह इस सारी जटिलता के प्रति यथा संभव सचेत रहे और मूल्य-कथनों में अबोध सरलता का परिचय न दें ।

इस विवेचन के परिप्रेक्ष्य में हम फिर सन् 1936 की कविता के सिंहद्वार के सम्मुख खड़े होते हैं । उथल-पुथल की स्थिति थी । सन् 34 में नरेन्द्र शर्मा -- "आओ हथकड़ियां तड़का दें, जाओ रे नतशिर बंदी" / प्रभात फेरी / लिख चुके थे । एक नयी आत्म-चेतना, जो कामनाओं, इच्छाओं और विश्वासों के माध्यम से व्यक्त हो रही थी, उस समय की कविताओं में सामान्य रूप से

पायी जा रही थी । माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, नवीन सभी में एक समान मनोभूमि दिखायी देती है । "मरण त्यौहार" और "वेदी और कोकिला" सन् 29 और 30 में प्रकाशित हुई थी -- "हूं मोट खींचता लगा पेट पर जुआ, खाली करता हूं ब्रिटिश अकड़ का कुआं ।" -- जैसी पंक्तियों में मध्यवर्गीय अहं-बोध का क्रांतिकारी आयाम स्पष्टत: दिखायी पड़ रहा था । "नई दिल्ली के प्रति" (1933) में दिनकर -- "वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेघ की रानी दिल्ली । अनाचार, अपमान, व्यंग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली ।" कहकर उस "मानस" के स्वर को ही मुखर कर रहे थे, जो तत्कालीन जन-मानस था । किंतु दिनकर कुल मिलाकर "वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल संभाव्य बनें ।" (मंगल आह्वान, 1939) -- जैसी अवरुद्धात्मक काल-दृष्टि के ही कवि रहे ।

एक ओर बाहर का यथार्थ समूचे सम्बन्ध-बोध को बदल डालने के लिए दबाव डाल रहा था और दूसरी ओर कवि मानस के अपने मध्यवर्गीय संस्कार थे, जो पीछा नहीं छोड रहे थे और सम्बन्ध-बोध को बदलने के नाम पर चीख-चिल्लाहट, ललकार, क्रांतिकारी प्रतीत होनेवाली किंतु निष्क्रिय इच्छाएं, एक गैर जिम्मेदार किस्म का फक्कडपन, मदहोशी, मस्ती और नारी को सामग्री में घटाकर देखते हुए यौन-विस्फोट के दृश्य प्राय: प्राप्त होते हैं । प्रगतिशील लेखक संघ के प्रसंग में हमने जिस सामूहिक कार्रवाई की मांग करती, राजनीति से एकमेक होती और प्रतिरोध करती सौंदर्यबोधात्मक चेतना की चर्चा की थी, उसके दर्शन इस स्वत:स्फूर्त काव्य-संसार में नहीं होते ।

कहना न होगा कि हमें "वाम कविता" के उदाहरणों के लिए अंतत: निराला और पंत की ओर देखना होगा । वास्तु-शिल्पीय सादृश्य का फिर से सहारा लेकर हम कह सकते हैं कि वहां सचमुच ही सिंह-द्वार है, जिससे भवन में प्रवेश किया जा सकता है और हमें बहुत कुछ देखने और पाने को मिलता है और जो नहीं मिलता है, उसकी चर्चा हम प्रस्तुत प्रसंग में सहायक होगी ।

वस्तुत: हमारा सारा बल आरंभ से ही द्वंद्वात्मक "प्रक्रिया" पर रहा है । जिन रचनाओं में मात्र "यथार्थ" के बारे में या "यथार्थ" को एक "सुविधा" बनाकर इस्तेमाल करते हुए सरलीकृत टिप्पणियां होती हैं, चाहे वे अपार क्रांतिकारिता से लदकर ही सामने आयें, उन्हें न तो "कविता" के अंतर्गत लिया जा सकता है और इसलिए नहीं "वामकविता" के अंतर्गत । पृष्ठभूमि परक विवेचन में हमने कई ऐसी रचनाओं को उद्धृत किया था, जो अपने राजनीतिक वर्तमान में हस्तक्षेप करने की इच्छा के कारण महत्वपूर्ण मानी जा सकती है । उनके "प्रभाव" के बारे में इतना भर कहा जा सकता है कि वे मार्क्सवाद लेनिनवाद से प्रभावित होने की चेष्टा में लिखी गयी है । रेखा अवस्थी ने सही लिखा है -- "हिन्दी काव्य परम्परा में सौंदर्यवृत्ति को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न आदिकालीन साहित्य से लेकर अब तक के काव्य में मिलता है । सनेही मंडल के रचनाकारों ने शुद्ध वैचारिक आवेश में इस पूरी काव्य परम्परा और उसकी सौंदर्यवृत्ति के यथार्थवादी उपादनों को ग्रहण न कर, स्वयं को अपनी परम्परा से ही काट लिया ।"[26]

---

26. प्रगतिवाद और समांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ. 108

एक बात और महत्वपूर्ण है । पृष्ठभूमि विवेचन में हमने सुभद्राकुमारी चौहान का नोमोल्लेख समझ-बूझकर ही नहीं किया था । उनकी कविताओं में जो "स्वाभाविक प्रवाहमयी सरलता" (मुक्तिबोध) मिलती है, वह हिन्दी साहित्य में अपवाद है । मुक्तिबोध ने उसे "बेजोड़" कहा है । उनके काव्य की "अनलंकृति" के स्रोत "वे स्रोत हैं, जो जीवन के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएं, जो अपनी ताजगी, नवीनता और जीवन-वस्तु-सम्पर्क के कारण हृदय की गहराई को छू लेती है ।[27] यदि उनका काव्य एक अपवाद है और उसकी कोई परम्परा फिर हिन्दी में नहीं मिलती तो भारतीय समाज में नारी की स्थिति को देखते हुए यह एक स्वाभाविक परिणाम ही माना जाना चाहिए । पूंजीवादी तत्वों के प्रवेश के बाद मध्यम वर्गीय नारी, की स्थिति सर्वाधिक विकृत हुई है । सामंती परिवार के "भीतर" और पूंजीवादी "बाहर" के बीच में वह साक्षर हुई है किंतु संवेदना के धरातल पर वह कहानीकार और उपन्यासकार तो हो सकती है किंतु "कविता" नहीं लिख सकती ।

निश्चित ही इसका कारण पूंजीवाद मण्डी के भीतर पारिवारिक नारी के प्रवेश की समस्याओं से है । सुभद्राकुमारी चौहान और उनसे विपरीत संवेदनात्मक छोर पर खड़ी महादेवी वर्मा के बाद जो भी नाम कवयित्रियों के मिलते हैं, वे एक स्थिति और एक परंपरा को बतलाने के लिए कितने अपर्याप्त हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं । धीरे-धीरे यह स्थिति इतनी विषम होती

---

27. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 400

जा रही है कि "नाम" तक मिलने कठिन हो गये हैं । पूंजीवादी और सामंती गठजोड़ ने सर्वाधिक हानि नारी-संवेदनाओं को पहुंचायी है और उनके अस्तित्व-संघर्ष को एक ऐसे मोरचे पर ला खड़ा किया है, जहां उनकी भी संवेदनात्मक समृद्धि या प्रगति की कोई राह नहीं दिखायी देती ।

प्रेमचंद ने सौंदर्य दृष्टि बदलने की बात की थी । अद्यतन विवेचन साक्षी है कि यह बात युग-सापेक्ष है और मात्र सौंदर्य-दृष्टि ही नहीं, बहुत कुछ बदलता है । समस्या वहां उपस्थित होती है, जहां बहुत कुछ बदल रहा हो, फिर भी सौंदर्य-दृष्टि जैसा की तैसी बने रहने को कृत-संकल्प हो । यदि वह बदल रही हो तो भी कई शक्तियां उसके लिए रुकावट बनती है और उसके बदलाव को कठिनतर बनाती जाती है । कहने का तात्पर्य यह कि "सौंदर्य-दृष्टि" का बदलाव एक संघर्ष का सूचक है और उसी का परिणाम है । जो रचनाकार वैचारिक स्तर पर बदलाव के साथ होते हैं या उससे सहानुभूति रखते हैं, वे मात्र वैचारिक दृष्टि बदल पाते हैं जो एकांगी या अपूर्ण "बदलाव" के कारण कालांतर में "विचारों" के ही विकास में रुकावट बनती है । सृजनात्मक स्तर पर बदलाव के साथ होने का प्रमाण कविताएं ही दे सकती हैं, जो "सृजनात्मक आचार" का प्रमाण है ।

सतही तौर पर बदली हुई दिखनेवाली कविता और सचमुच बदली हुई कविता में अंतर करना आवश्यक है । एक आत्म-परक या निजी निराशा को व्यक्त करनेवाली कविता किसी ललकारती

दहाड़ती कविता की तुलना में कहीं अधिक बदलाव का संकेतक होती है । भाषा, शिल्प, रस-बंध आदि के भीतर या पीछे वह नहीं भी हो सकता है, जिसकी आशा "सिंहद्वार" की भव्यता या जगमगाहट जगाती है ।

यह भी संभव है कि कुछ कविताओं का दुवारा सिर्फ किसी तरह भीतर जाने की अनुमति भर दें, "सिंहद्वार" तो कतई न हो और भीतर आपको एक भरी-पूरी और नितांत बदली हुई दुनियां मिल जाये ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कविता का तत्काल प्रभाव उसकी अर्थवत्ता का निर्णायक नहीं हो सकता । भव्यता का प्रदर्शन किसी भी व्यक्तित्व के खोखले पन का परिचायक है, इसी तरह "रचना" जब लय, अलंकार, नाद, बिम्ब, प्रतीक आदि के दुवारा जगमगाती ललचाती दिखायी दे तो पाठक को सावधान होने की आवश्यकता है । यदि ये सब गुण रचना का सहज स्वभाव हो तो इसका पता धीरे-धीरे ही चलेगा । घनिष्ठता बढ़ने पर । दलितों-शोषितों की स्थिति, पराधीनता की पीड़ा और उबल-पुबल के आह्वान को समारोह पूर्वक शब्द-बद्ध करती कविता का महत्व एक विशेष काल-खण्ड की अपेक्षा में ऐतिहासिक अधिक है किंतु यदि वे सौंदर्यबोधात्मक धरातल पर "वर्तमान" से, निश्चित ही राजनीतिक वर्तमान से भी, "प्रतिरोध" नहीं करती है तो हम उसे "वाम कविता" के हाशिए पर ही रखने को विवश होंगे ।

समाज में "व्यक्ति" की स्थिति के प्रसंग में हमने हर्बर्ट मारक्यूज के "सब कुछ निर्धारित होता है" -- के बाद भी व्यक्ति के उस मानवीय संघर्ष पर बल दिया था, जिससे वह अपनी चिंतित-गत सीमाओं को भी पार कर लेता है । "कविता" अपने सौंदर्यबोधात्मक अस्तित्व और साथ ही भाषिक होने के कारण स्पष्ट तौर पर इस मानवीय क्षमता का प्रमाण हो सकती है । भले ही सब कुछ साउत (Comp = General mode of production) द्वारा निर्धारित होता हो लेकिन मनुष्य अपने व्यवहार से उसे भी प्रभावित करता है । कवि का व्यवहार उसकी कविता है । देखा यह जाना है कि उस "व्यवहार" के भीतर और उसके द्वारा "प्रतिरोध" है या विरोध या समर्पण । यहीं से वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र की प्रस्तावना आरंभ होती है ।[28]

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध :

मनुष्य के व्यवहार से ही उसका व्यक्तित्व बनता है । किंतु उस व्यवहार का "अर्थ" समझना कठिन है । उसे विश्लेषण के द्वारा ही समझा जा सकता है ।[29]

---

28. साउत § सामान्य उत्पादन के तरीके § और साचि § सामान्य विचारधारा § को प्रस्तुत शोध प्रसंग में सामान्य राजनीतिक विवरण के अंतर्गत देखा जा रहा है ।

29. — "Man as constitutively, by his inexorable destiny, as a member of society, the etymological animal — ~~[illegible]~~ i.e. loaded with actions whose meanings have worn away and need to be recovered by analysis." — Discovering the present — Herold Rosenberg P. No 186

मनुष्य का "व्यवहार" मूलत: और सम्पूर्णत: "प्रतिरोध" होता है । अपने स्वभाव से ही उसका "प्रतिरोध" होना, मनुष्य को मनुष्य बनाता है । किंतु कई कारणों से, ऐसा भी होता है कि "प्रतिरोध" -- धर्मी स्वभाव "समर्पण" में बदल जाता है । "विरोध" भी अपनी अव-द्वंद्वात्मकता के कारण, एक अर्थ में समर्पण ही होता है ।

यह सत्य उसके साथ भी घटित होता है, जिसे हम "कवि" के नाम से जानते हैं । उसका जन्म होता है और उसे "हत्यारों और वेश्याओं" का सामना करना होता है ।[30] उसके जन्म से पहले ही यह संसार उसके लिए प्रतीक्षारत रहता है । अपनी समूची हिंसा के साथ और एक लड़ाई जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है । बोध, मैं - बोध, स्व बोध, आदि से लेकर एक विश्व-बोध तक को कवि प्राप्त करता है । इसी के अंतर्गत वह सौंदर्य-बोध भी आता है, जो "कवि" के "व्यवहार" = सृजन को निर्धारित करता है और बदले में स्वयं भी निर्धारित होता चलता है ।

परिवेश के साथ उसका सृजनात्मक सरोकार (= लड़ाई) एक भाषा, कुछ विश्वास, लय-बोध और कुछ उलझनें या मनोग्रस्तियां उपलब्ध कराता है और कविता लिखी जाती है । यदि किसी भी पड़ाव पर "लड़ाई" रुक गयी या सृजनात्मक सरोकार न रहा तो "प्रदत्त" या तो ज्यों का त्यों या फिर विकृत रूप में "रचना" या उसके एक अंश में प्रस्तुत होता है । कवि का यह सृजनात्मक सरोकार ही प्रस्तुत विवेचन में "प्रतिरोध" नाम से आया है ।

---

30. The Politics of Experience - R.D. Laing - Preface.

इस "प्रतिरोध" के लिए ऐतिहासिक स्थितियों से लेकर पारिवारिक-भौगोलिक स्थितियों तक कवि को दी जाती है। किस प्रकार दी जाती है ? इस प्रश्न क उत्तर विस्तार से दिया जा चुका है।

दी हुई स्थितियों से कवि ने क्या बनाया - उसके "प्रतिरोध" की परिणति के रूप में रचना सामने आती है। उस "प्रतिरोध" को, हम यहाँ सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध कहना चाहेंगे। यह "कथ्य" "रूप" विषय-वस्तु आदि के प्रति सृजनात्मक व्यवहार तो होता ही है, साथ ही उनकी जड़ों अर्थात् चित्ति (Psyche) तक से जुड़ता है।

वस्तुत: "कविता" से वह दी हुई स्थितियों को नकारता है और काल (Time) का विरोध करते हुए उसे अपने नई स्थितरित कर लेता है।[31]

हमने वाम कविता की शुरुआत के लिए अंतत: निराला और पंत की ओर देखने की बात कही है। उनकी दो आरंभिक कविताओं को सामने रखकर हम अपनी बात को स्पष्ट करेंगे -- निराला की कविता है "जूही की कली" --

"विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी --

---

31. "The poem is a device which produces anti-history even though this not be the poet's intention, the poetic process converts and converts the passage of time: the poem does not stop time — it contradicts and transfigures it"
— 'childrens of mire' — ocolorio po
— preface.

स्नेह-स्वप्न-मग्न -- अमल-कोमल तनु तरुणी
जूही की कली,
दृग बंद किये, शिथिल पत्रांक में ।[32]

उपर्युक्त पंक्तियों से शुरू होकर फिर कवि उस "पवन" की बात करते हैं, जो "दूर-देश" में था" उसे याद आती है और वह "नायिका" के पास पहुंच गया । समापन पंक्ति है -- "नम्रमुखी हंसी, खिली / खेल रंग प्यारे संग ।

पंत की कविता है --

"जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल,
मैं कहती थी मेरा मृदु मुख
शशि के कर खोलें शीतल ।

पर आंखें खुलते ही मैंने
अंधकार देखा -- सविकल
स्वर्ण दिशा को देख, सजल दृग
तुम्हें पुकारा हे उज्ज्वल ![33]

"जूही की कली" -- कब की रचना है, इस बारे में विवाद है । यह तो निश्चित है कि वह सन् 1916 की रचना नहीं है, यद्यपि निराला ने यही प्रचारित किया था । निराला की

---

(2) - विशाल" सम्पादक

32. रामविलास निराला - पृ. 48

33. वीणा - पंत - पृ. 141

साहित्य साधना [तीन] की भूमिका में रामविलास शर्मा ने इस ओर संकेत किया है ।

प्रस्तुत शोध प्रसंग में तद्विषयक उहापोह का कोई अवकाश नहीं है किंतु अपने विषय में सच्ची-झूठी लेकिन चमत्कार बातों का प्रचार प्रसार करवाना निराला की मनोरचना के बारे में तो पर्याप्त कहना ही है । "सरस्वती" में भेजना और उसका अस्वीकृत होना -- यदि ये सब निराला द्वारा प्रचारित-प्रसारित किंवदंतियां हैं । जिस प्रकार वसंत पंचमी" को उनका जन्म-दिन होने की किंवदंती । तो निराला के व्यक्तित्व में निहित "प्रभावित करने की इच्छा [Desire to impress] ही इनमें प्रकट होती है । इन सारी किंवदंतियों के साथ, फिर सन् 1923 में, "मतवाला" में अपने ही संपादन में, इसे प्रकाशित करना भी इसी ओर संकेत करता है ।

पंत की कविता 1918 की कविता है । इससे पहले "गिरजे का घण्टा" सरस्वती में अस्वीकृत हुई थी । इसे पंत ने श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास संशोधन के लिए भी भेजा था ।

निराला जी के जन्म के तीन वर्ष के बाद ही माता की मृत्यु हो गयी । पिता का कठोर स्वभाव था । अपने उद्धत स्वभाव और बंधनों से चिढ़ के कारण वे पिता से प्रायः पिटते थे । "मारते वक्त पिताजी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाह के बाद पाये हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं । मैं भी स्वभाव न बदल पाने के कारण मारखाने का आदी हो गया था ।

चार-पाँच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था और प्रहार की हद मालूम हो गयी थी ।[34]

चौदह वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ और आठ वर्षों तक के दाम्पत्य जीवन के सुख के बाद निराला जी के निरंकुश स्वभाव (मांसाहार न छोड़ पाना) के विरोध में पत्नी मायके गयी और वहीं उनका देहावसान हो गया । निराला की उम्र उस समय बाइस वर्ष की थी ।

पंत जी की माता का देहांत इनके जन्म के समय ही हो गया । उनका जन्म अल्मोड़ा जिले के कौसानी गाँव में हुआ । वहां प्राकृतिक सौंदर्य प्रचुर था । -- "एक प्रकार से प्रारंभ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारों ओर धूलि की ढेरी में अनजान बिखरे पड़े मिले हैं ।[35]

दोनों कवियों के बारे में इतनी जानकारी पा लेने के बाद इन दो कविताओं के बारे में चर्चा की जाय । दोनों कवियों को बचपन से ही "असुरक्षा" का सामना करना पड़ा । निराला का "अहं-बोध" निश्चित ही माँ के सान्निध्य में पनपा होगा । पंत को उससे वंचित होना पड़ा । निराला का जब विवाह हुआ तो उन्होंने "अकेलेपन" से उबरने के लिए एक ऐसा सहारा पाया, जो

---

34. निराला की साहित्य साधना - भाग-एक - रामविलास शर्मा पृ. 40।
35. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली -भाग-6 पृ. 193

जीवनभर उनके सौंदर्यबोधात्मक जीवन का आधार रहा । मनोहरा-देवी के निधन ने उन्हें दुगुना अकेला कर दिया । निराला की लगभग सारी कविताएं एक ऐसे कवि की कविताएं हैं, जो व्यक्ति स्तर पर दुगुना अकेला है ।

पंत मात्र असुरक्षित थे । अकेलापन उन्होंने नहीं जाना । उनके अंह-बोध के गठन के लिए मां नहीं थी । आलोचकों ने कहा है कि उन्होंने प्रकृति को ही माता का पद दे दिया । यह देना न तो सहज हो सकता है और न आसान । सच बात तो यह है कि "मां" ही मां हो सकती है और कोई नहीं । मां द्वारा प्यार किये जाने के अनुपात में ही व्यक्ति में प्रेम की क्षमता जागती है, पनपती है ।[36]

थोडे में कहा जाय तो यदि परिस्थितियां ही चेतना को निर्धारित करती है तो यहां, दोनों कवियों के प्रसंग में, परिस्थितियां सामान्य नहीं थी । स्पष्टत: अमानवीय परिस्थितियां थी । मां का प्रेम पाना प्रत्येक शिशु का मौलिक अधिकार है । यही उस अधिकार का हनन हुआ ।

इस स्थिति के प्रति दोनों कवियों ने अपने-अपने नई प्रतिरोध किया । पंत के बारे में लिखते हुए मुक्तिबोध ने पंत जी के व्यक्तित्व के सार्वजनिक और सक्रर्मक न होने के कारणों की छानबीन इस प्रकार की है -- " x x x पंत जी की वास्तवोन्मुखता की जितनी भी जो भी, प्रवृत्ति है, वह लालन-पालन, परिवार, वर्ग,

---

36. 'The art of loving' — Erich Fromm — p. 38-39

स्वयं के जीवनानुभव परिस्थिति आदि आदि से सीमित तो है ही, साथ ही वह मनोरचना से भी सीमित है । मुक्तिबोध का विचार है कि यदि "अस्तित्व की रक्षा" और "विकास के द्वन्द्वघोर संघर्ष" में पंत पड़ते तो यह "मनो रचना अधिकाधिक वास्तवोन्मुख हो सकती थी ।"[37]

यदि हम "यदि" का प्रयोग न करें तो पायेंगे कि "बोध" - संरचना के पहले ही पंत ने "अस्तित्व की रक्षा" के बुनियादी मोरचे पर अपने को पाया था । वहाँ अपने को बचाने के लिए उनका "निज" सदा के लिए "अनिज" हो गया । जो द्वंद्वात्मकता जगत की अपेक्षा में "निज" का गठन करती चलती है, वह जगत से पहले ही साक्षात्कार में अब द्वंद्वात्मक हो गयी । मुक्तिबोध ने इसे पहचाना है -- " x x x वास्तव का उनके अंत:करण से जो भी संबंध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है । वास्तव से उनका सम्बन्ध द्वंद्वात्मक, संघर्षात्मक नहीं रहा । x x x जीवन संघर्ष की, आपेक्षिक अल्पता ने तथा स्वाभाविक एकांतप्रियता ने, बाह्य वास्तव से पंत जी के संबंधों के आस पास एक गोल सीमा-रेखा खींच दी है । x x x उस सीमा के घेरे के भीतर, पंत जी ने वास्तव के प्रति जो प्रतिक्रियाएं की और उस वास्तव ने उन्हें जो संवेदनाएं प्रदान कीं, उनमें सहजता, मंजुलता तथा एकरैखिकता है, जटिलता नहीं, वक्र तिर्यक् रैखिकता नहीं, ग्रंथिलता नहीं । बगैर झगड़े के, वह सीधा-साधा, आमना-सामना है, परस्पर उन्मुखता है।[38]

---

37. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 449

38. - वही - पृ. 449-450

हम बल देकर कहना चाहेंगे कि यह स्थिति पंत जी की अपनी चुनी हुई नहीं है । यह उन्हें "प्रदत्त" है । जटिलता बचपन में, संवेदनाओं और में घुलती है । पंतजी का सार्थक काव्य इस "प्रदत्त" के कारण तो है ही किंतु इसके बावजूद भी है । मार्क्स ने कहा है -- "स्थितियों का निश्चित ही मानवीय होना चाहिए"[39] दुर्भाग्य से पंत जी के साथ ऐसा नहीं हुआ ।

संभवत: रामविलास जी नहीं जानते कि मुक्तिबोध की बीमारी का जो निदान उन्होंने शिज़ोफ्रेनिया किया, वह पंत और निराला दोनों पर लाग होता है । यों तो शिज़ (Schiz = Broken) का अर्थ होत है टूटा हुआ और फ्रेनोस (Phrenos = Soul or Heart) का अर्थ होता है आत्मा या हृदय ।[40] तो अर्थ होगा टूटे दिलवाला । यदि बेटसन (Bateson) की सर्वमान्य परिभाषा को जाय, जिसे प्रस्थान बिंदु बनाकर आरण्डी-लैंग का सारा लेखन और चिकित्सा शास्त्रीय प्रयोग शुरू होते हैं -- "शिज़ोफ्रेनियां मस्तिष्क की ऐसी अवस्था है, जिसकी जड़ें शैशव और बाद के चिपन की उन असंभव मांगों में होती हैं जो माता-पिता द्वारा उन रोगियों के सामने रखी गयी थी ।[41]

बिना मां की सहायता के, बोध से सौंदर्यबोध और विश्वबोध तक की यात्रा की मांग से और बड़ी मांग क्या होगी ? यदि

---

39. "circumstances must be humanly formed." Marx
Qtd. in 'False consciousness' - Joseph Gabel - P.231.

40. "The Politics of Experience'. R.D. Laing. P-107.

41. "Bateson described schizophrenia as a state of mind having its origins in the impossible demands placed by parents on people in infancy and early childhood." — 'R.D. Laing', Edgar Z. Friedenberg - P.17.

ऐसा पंत के साथ था तो निराला के साथ उस भयानक अकेलेपन का संकट था, जो माँ के अभाव से उपजा था. ध्यान यह भी दिया जाना चाहिए कि वे "इकलौते पुत्र" थे ।

अब यदि "जूही की कली" में घटनाओं की बहुलता और "तुलसीदास" की तरह "विरह" न सहने की अधीरता मिले तो यह सहज ही है ।

एक बात विचार करने लायक है । "जूही की कली" पर "छायावाद" पद को ध्यान में रखते हुए न जाने क्या-क्या लिखा गया है, किंतु यदि यह सच है कि इस कविता की पृष्ठ भूमि में मनोहरा देवी है ; उनकी स्मृति या उनके द्वारा मिली प्रेरणा ; तो इसे सहज ही निराला की आत्मपरक कविता कहा जा सकता है । इसमें "मेघदूत" के "यक्ष" और मानस-प्रणेता "तुलसी" की विरह-विषयक कथाओं का अपने पक्ष में इस्तेमाल किया गया है । सरस्वती में क्या और कैसा छपता है, यह वे अच्छी तरह जानते थे । इसीलिए इसे सरस्वती में भेजने और वहां से अस्वीकृत होने की किंवदंती का प्रचार-प्रसार करने में उन्हें कोई असुविधा नहीं हुई । पहले ही कहा जा चुका है कि निराला में "नियम-चेतना" के धरातल पर एक असामान्य उद्दण्डता घर कर चुकी थी । उस समय की नैतिक नियमों को माननेवाली सामान्य चेतना, जो निश्चित ही प्रदत्त-कोटि में आयेगी, निराला के लिए प्रतिरोध का विषय थी । द्विवेदी तो उस विषय के "प्रतीक" थे ।

पंत की कविता । स्पष्ट शब्दों में उन्होंने अपनी जन्मजात त्रासदी को रखा है । स्वयं को कलिका और माँ के अवसान

को अंधकार कहते हुए वे उस स्वर्ण दिशा को "सजल दृग" देखकर "तुम्हें" पुकारने लगे। "तुम" यहां "उपन्यास" उज्ज्वल है। अंधकार को हरनेवाला। कहना न होगा कि पंत जी का यह "तुम" सदा एक सुदूर स्वप्न रहा। चूंकि उनके "मैं-मैं" संबंध में ही फांक रह गयी थी, उन्होंने वस्तुओं के पक्ष में अपने को हटा लिया। मुक्तिबोध ने पंत को निरहंकारी कहा है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो पंत जी प्रेम-भावना (विषय विष्यी संबंध) को जान ही नहीं सके थे। न उन का "मैं" बन पाया और इसीलिए न उनका "तुम" सहानुभूति, सद्भावना, सद्विचार आदि अ सक्ति का स्थान नहीं ले सके। कविता की जडें "मैं" और फिर उसके द्वारा परिवेश में होती हैं। यहां त्रासदी है कि "मैं" नहीं, मात्र परिवेश है। निराला के पास विस्फोटक "मैं" था। और फिर जीवन भर जीवन-संघर्ष तो रहा ही। वे बदलते चले गये, बढ़ते चले गये जब कि पंत ने सिर्फ देखा, "मैं" ने नहीं, सिर्फ आंखों न देखा और कौसानी ने उनको इंद्रिय-बोध का प्रशिक्षण दिया था। उनकी कविता में जहां देखना-सुनना है, वहां जबर्दस्त गहराई है लेकिन जहां विचार आते हैं, वहां पीछे उनका "मैं" नहीं रहता और वे मात्र शब्द प्रतीत होते हैं। कई बार सुंदर शब्द भी किंतु जड़-हीन (मैं - हीन)।

इस प्रकार की अमानवीय परिस्थितियों के बावजूद यदि पंत ये आंखे" लिख सके हैं और निराला "राम की शक्ति पूजा" या "तुलसीदास" तो यह उनकी उस जबर्दस्त "प्रतिरोध-शक्ति" के चलते है, जिससे वे "दी हुई स्थितियों" को पार कर सकने में सफल हुए।

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध एक समग्र प्रतिरोध होता है और यदि पंत इसमें आंशिक रूप से ही सफल हो सके और निराला

का दुगुना । सरोज की मृत्यु के बाद इसे तिगुना भी कहा जा सकता है । अकेलापन बार-बार उभरता, तो हम फिर कहेंगे कि अपनी जीवन और उसमें घटी दुर्घटनाएं उनका चुनाव नहीं थी और वे कुछेक बार सफल हुए, यही क्या कम है ?

हिंदी वाम कविता के सौंदर्य शास्त्र की भूमिका स्वरूप ही पंत-निराला की उपर्युक्त दो कविताओं पर चर्चा की गयी है । सन् १९३६ के समय पंत "युगांत" तक पहुंच चुके थे और निराला "राम की शक्तिपूजा" तक[42]। दोनों ही कवियों में स्पष्ट और महत्वपूर्ण बदलाव मिलता है। इन दो वरिष्ठ कवियों के साथ और भी कई युवा कवि आ जुड़ते हैं । हमारे प्रस्तुत शोध का ध्येय यह है कि उन कविताओं के भीतर क्या हो रहा था और उन कविताओं के द्वारा क्या किया जा रहा था, इसकी पड़ताल करें । दूसरे शब्दों में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को कविता में देखें ।

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के कविता-गत संदर्भ :

यदि अन्य सारे तथ्यों को दर-किनार कर दें और मात्र इतना देखें कि "युगांत" का प्रकाशन सन् 36 में हुआ था और "राम की शक्ति पूजा" भी उसी वर्ष लिखी गयी थी[42] तो यह सौंदर्य बोधात्मक स्तर पर हो रहे बदलाव का स्पष्ट सूचक था । यह बदलाव यों ही नहीं हो जाता, सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक बदलाव की प्रभावगामिता का सूचक होता है ।

---

42. "यह कविता सन् १९३६ में लिखी गयी थी जैसा कि "अनामिका" में 23.10.36 को उल्लेख है । "जनवादी समीक्षा-चंचल चौहान पृ. 75

सन् 1920 से पहले ही वैयक्तिक चेतना के सौंदर्य-बोधात्मक प्रकटन प्राप्त होने लगे थे और निश्चित ही यह सुधारवाद का रास्ता छोड़कर विद्रोह की ओर चल पड़ने के लक्षण थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके पीछे पूंजीवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव था और इसलिए यह सामंती व्यवस्था के लिए टूट-फूट का कारण भी बनी। "वैयक्तिक संघर्ष ही आगे चलकर सामाजिक संघर्ष में बदल जाता है।[43]

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्वस्त ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिमताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीत राग, जड़ पुराचीन।"

x x x x x

"कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर -- पल्लव लाली।
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली।"[44]

यह कविता सन् 1934 में लिखी गयी थी। इससे 10 वर्ष पूर्व "परिवर्तन" को "तुम्ही चिरंतने" कहते हुए भी उसके आगे भयभीत, असहाय अनुभव कर रहे थे, यहां इस "पतझर" नामक कविता में आह्वान कर रहे हैं। आलोचकों ने कहा "युगांत में

---

43. हिंदी-उर्दू की प्रगतिशील कविता - असगरवजाहत -पृ.87।
44. तारापथ - पंत - पृ. सं. 117

पंत जी सौंदर्य-युग का अंत कर देते हैं। ‖ नगेन्द्र ‖ पंत जी ऐसा कुछ नहीं कर रहे थे। उनकी भाव चेतना निस्संदेह छटपटा रही थी। वे उस प्रदत्त "मनोग्रंथि" से उबरना चाह रहे थे जो आँसे झुलते ही "अंधकार के रूप में मिल गयी थी। "अंधकार" भी बाहर था और "जग" भी बाहर है। सम्बोधन में जो ऊष्मा-हीन स्थिति है, उसे छंद और नाद-संगीत भी छुपा नहीं पा रहे हैं। "जगत" और "तुम" कवि से इतर है, यह स्पष्ट है। एक दूरी रखने के बावजूद वे इच्छा के स्तर पर सक्रिय हो सके और यह "इच्छा" भीतर की ओर से बाहर की दिशा की ओर गतिमान होने की चेष्टा करे - यह कवि पंत के "व्यक्ति" की एक उपलब्धि थी। किंतु जैसा कि मुक्तिबोध ने लिखा है -- "जिस प्रकार पंत जी एक ओर एस्थीट हुए, उसी प्रकार, दूसरी ओर, पंत जी मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में आये।[45]

आगे मुक्तिबोध ने प्रसाद को "अन्यमनस्क" और उनकी तुलना में पंत को "तन्मनस्क" कहा है। -- "अन्यमनस्क वह होता है, जो अपने में खोया हुआ हो। अपने में गहरे अथाह खोये रहने का गंभीर सामर्थ्य जो प्रसाद में था, वह पंत में नहीं।"[46] वस्तुत: पंत के पास खोये रहने लायक "अपना" ~~मिला~~ गया ही नहीं। उनके पास "मैं" नहीं था और उन्होंने उसके अभाव की पूर्ति के लिए एक छद्म "मैं" की रचना कर ली थी। यदि "वास्तव की संवेदना में पंत ने अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाया, उसका कोई रासायनिक घोल तैयार नहीं किया, उसका कोई मन:पूर्वक संपादन संशोधन नहीं किया और फिर उनकी यथामति, यथावृत्ति यथा इच्छ।

---

45. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - 450
46. - वही - पृ. 450

व्याख्या और पुनर्व्याख्या नहीं करने बैठे और तदनंतर व्याख्याओं के कूटस्थ शीर्ष पर बैठकर उन संवेदनाओं की कांट-छांट करने का खटराग उन्होंने नहीं किया"[47] तो इसलिए कि वे ये सब कर ही नहीं सकते थे । उनके जीवन ने आरंभ में ही उनकी चेतना को निर्धारित कर दिया था । उस निर्धारित कर दी गयी "चेतना" के अंधकार को उन्होंने "स्वर्ण दिशा" और "उज्ज्वल" से लगातार कम करना चाहा । यह उनका सुरक्षा-तंत्र (defence mechanism) भी हो तो वह सृजनात्मक और सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर सक्रिय होकर एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण बना । कहना न होगा कि मार्क्सवाद और गांधीवाद ने उन पर इसी सुरक्षा-तंत्र के चलते प्रभाव डाला और अंततोगत्वा उन्हें लोकायतन की "आस्था" और "प्रीति" जैसे उनके निजी प्रत्ययों ने आकर्षित किया तो इसलिए कि वे प्रत्यय उनकी जिजीविषा से उपजे थे ।

वाम कविता के सौंदर्य स्थापना के आरंभ में ही पंत की चर्चा इसलिए आवश्यक थी कि वे चरम छोर पर थे । "मैं" - बोध से नितांत विच्छिन्न शब्दों का बाद में भी बाहुल्य रहा और कई सारे कवियों ने अपने-अपने सुरक्षा तंत्र के तहत् "आस्था" "विश्वास" "स्वप्न" "भविष्य" आदि की कई-कई बातें कहीं लेकिन पंत जैसी जिजीविषा के दृश्य फिर नहीं प्राप्त होते । एक घनघोर "शून्य" से उन्होंने अपना सौंदर्यबोधात्म जीवन तैयार किया । मार्क्स के कथन को याद करें तो मनुष्य अपना इतिहास

---

47. वही पृ.

दी हुई स्थितियों में ही बनता है तो पंत की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है । जन्मजात सत्ता मीमांसात्मक असुरक्षा और उसके चलते किसी भी तरह के बाहरी संघर्ष के लिए नितांत अयोग्य और जान-बूझकर (शायद इसलिए) विवाह न करना कि कोई "तुम" उनके सर्वथा निजी शैली के संघर्ष को अस्तव्यस्त कर देत । "सखि" "आली" के सम्बोधनों से आरंभ होती सौंदर्यबोधात्मक यात्रा में "तुम" (जो ठोस और सदेह हो) की आशा नहीं की जा सकती थी । यदि उनकी अनूठी जीवनी में यह घटना होती तो क्या होता ? निश्चित ही बहुत कुछ टूट-फूट होती किंतु उनके काव्य में एक सदेह "मैं" चाहे जितना घायल, लथपथ भले ही हो, अवश्य आता । तब संभवत: पंत की कविता में खुद "पंत" रह सकते । मात्र पीड़ा, आशा, इच्छा, स्वप्न नहीं रहते, उनका एक ठोस संदर्भ भी होता और उनका आश्रय एक "मैं" होता, जो सौभाग्य से "पंत" होते ।

पंत के काव्य-शिल्प को यदि उपर्युक्त विवेचन की पृष्ठ-भूमि में देखा जाय तो अधिक सत्य उजागर हो सकते हैं ।

सन् 36 के आसपास उनके शिल्प में एक अपूर्व निखार आता है । बाहर देखने का प्रयत्न उनकी पूर्व प्रशिक्षित दृष्टि को नयी सामर्थ्य देता है । जहां भी वे अपने देखने को और सुनने को निर्व्याज भाव से प्रस्तुत करते हैं, वहां उनके बिम्बों का प्रभाव अद्भुत है ।

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल
गंगा यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी ।

दैन्य जड़ित अपलक नत, चितवन
अधरों में चिर नीरव, रोदन
युग युग के तम से विषण्ण मन --
वह अपने घर में
प्रवासिनी ।"[48]

और फिर पंत जी के "विचार" आ जाते हैं और "नौका-विहार" की ही तरह, एक "विराट पार्श्वभूमि" (रेखा अवस्थी) के बावजूद पंत की यह कविता दयनीय रूप से असफल हो जाती है । यह विडम्बना ही है कि पंत जी विचारों के कवि होने के नितांत अनुपयुक्त थे (विचार "प्रदत्त" का नकार होता है - मार्क्स), और उन्होंने हमेशा वैसे ही कवि बनने की की । "चाम चेतना" के प्रसंग में हम कह सकते हैं कि पंत की आँखों और कानों ने उन वस्तुओं और घटनाओं को भी कुछ वर्षों तक देखा-सुना, जो उनसे "बाहर" ठोस सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में गतिशील थीं । निश्चित ही बहुत गहराई से देखा और सुना किंतु उनकी "चेतना" उन दृश्यों से अपने समग्र रूप में न जुड़ सकी । अंधकार-मय चेतना को "स्वर्ण-दिशा" की

---

48. ग्राम्या - पंत - पृ. 48

आवश्यकता थी, एक आस्था रूपी भ्रम की और निस्संदेह "वे आँखें" का किसान, "वह बुड्ढा" का बूढा, कहारों का "नृत्य" के कहार वगैरह कोई "स्वर्ण दिशा" देने में असमर्थ थे। रेखा अवस्थी ने उनकी "नारी" विषयक कविताओं का उल्लेख किया है।[49] उन कविताओं में पंत ने निस्संदेह "नारी" के बारे में सोचा है किंतु उनका सोच एक उतार-चढ़ाव वाले कथानक को गढ़कर जिस प्रकार निष्कर्षों पर पहुँचता है, वह शाब्दिक मात्र है इसलिए मानवीय ऊष्मा से रहित यांत्रिकता की अनुभूति देता है। कह जा सकता है कि पंत "वाम चेतना" के संदर्भ में मस्तिष्क-विहीन आँखो-कानों के कवि हैं। यह स्थिति क्या उन कवियों की तुलना में भयस्कर है जो ज्ञानेन्द्रियों से विहीन मस्तिष्क के कवि होते हैं? निश्चित ही, क्योंकि यहाँ कविता तो होती है, वहाँ मात्र पद्य होता है। यदि कविता होती भी है तो भाषा के स्तर पर, लय के स्तर पर और अलंकारों के स्तर पर। भावना और विचार के स्तर पर इस्तेमाल करता हुआ "चित्रण" होता है या फिर "उपदेश" या "आह्वान"। जहाँ अंतर्विरोधों से भरा आत्म-संघर्ष नहीं होता, वहाँ कविता सतही रह जाने को अभिशप्त होती है। पंत की कविताएं इसका एक चरम उदाहरण हो सकती है, किंतु वह अपने शून्य व्यक्तित्व (zero personality) को अतिक्रमित करने की सृजनात्मक चेष्टाओं का शब्द-बद्ध रूप होने के कारण महत्वपूर्ण बन सकी है, इसमें कोई संदेह नहीं।

पंत के साथ यदि संघर्ष से परे की स्थिति रही तो निराला के साथ संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा। अस्तित्व के

---

49. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ. 104

स्तर पर, आजीविका के स्तर पर और परिणामस्वरूप सौंदर्य-बोधात्मक स्तर पर भी वे सदा-सर्वदा प्रतिरोध* करते दिखायी देते हैं। अकेलापन और अवसाद उन्हें भी कम नहीं मिला। उनके स्व-बोध के साथ अवसादात्मकता अत्यधिक घुली-मिली है। अवसादात्मक स्व संसार के साथ द्वंद्वात्मक सम्बन्ध नहीं रख सकता। आचार के धरातल पर वह शुद्ध विषयी (subject) रह जाता है।[50]

वस्तुत: अवसाद ग्रस्तस्थिति, व्यक्ति को संसार में प्रतिद्वंद्वात्मक भूमिका में रखती है। यहीं पर सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध (Aesthetic Resistence) की महत्ता उजागर होती है। मनुष्य में निहित अनिवार्य द्वंद्वात्मकता के कारण ही वह सौंदर्य के नियमों के अनुसार आचरण करता है। अवसाद मनुष्य को उस द्वंद्वात्मकता से च्युत करता है। "सौंदर्यबोधात्मक संसार या सौंदर्यबोधात्मक आचार से च्युत सत्ता (Being) अद्वंद्वात्मक होती है।[51] कवि च्युत होना नहीं चाहता अथवा जिस सीमा तक उसका व्यक्तित्व कवि होगा, वह च्युत नहीं हो पायेगा। वह प्रतिरोध करेगा। इस प्रतिरोध का क्षेत्र मनोरचना या आभ्यंतर लोक या चित्ति है। इस प्रतिरोध की सौंदर्य बोधात्मकता के अनुपात से ही वह "कविता" में विजयी होगा। उसका एक व्यक्तित्व होगा। हम आबेल को उद्धृत कर चुके हैं कि "व्यक्तित्व एक द्वंद्वात्मक विजय है। "इस प्रसंग में बन्धन के निशा निर्मिति (1938) की चर्चा प्रासंगिक होगी। अपने घोषित "बुद्धि-विरोध" के बावजूद बन्धन

---

50. 'Melancholic has no praxis.' — 'False Consciousness', Joseph Gabel — P. 206.

51. Ibid. —

इस संग्रह की कविताओं में किसी सीमा तक "अनुभूति" को मूल्यवान अनुभूति बना सके हैं तो इसीलिए कि श्यामा की मृत्यु का "अवसाद" उनके सौंदर्यबोधात्मक जीवन के लिए, एक बड़ी चुनौती बनकर आया । बचने के लिए आवश्यक था कि "वह" उबर सके । उन्हें सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर जूझना पड़ा । वे विजयी हुए । मुक्तिबोध ने "यथार्थवाद" के सम्बन्ध में "निशा-निमंत्रण" की चर्चा करते हुए लिखा -- "उसमें जितनी उत्तमता से यथार्थ के प्रति भावनात्मक रिश्ते को दिग्दर्शन कराया गया है, वह हिंदी साहित्य जगत में दुर्लभ है । भावनाओं के लिए अंत:करण और उसकी कल्पना वृत्तियां ही काफी नहीं है बल्कि स्व-बाह्य संसार और उसकी निज पर प्रतिक्रियाओं की संघर्षात्मक भिन्नता का विस्तृत और अधिक उन्नत अंत:करण में परिवर्तन कर देना इष्ट है । यथार्थवाद का यही महत्व है । x x x बच्चन के लिए स्व-बाह्य कल्पना से अधिक महत्वपूर्ण है । x x x उनके साहित्य की उपज आत्म-चैतन्य से नहीं है । x x x भावनात्मक दृष्टि से जीवन के मूल्य पहचानने का यह प्रयास है ।[52]

मुक्तिबोध के सामने महादेवी का काव्य था । उनके दु:ख वाद को धर्म बना लेने की तुलना में बच्चन को देखा गया है । हम बल देकर कहेंगे कि ऐसा इसलिए हो सका कि वे इसमें नष्ट कर देने पर उतारू "अवसाद" से जूझ रहे थे । शिवदानसिंह चौहान ने "निशा निमंत्रण" में प्रगतिचेता दृष्टि होने की बात लिखी है ।[53]

---

52. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 281-282.

53. आलोचना 13 अप्रैल- जून, 70 - पृ. 85.

§1§ "कोई पार नदी के गाता ।
भंग निशा की नीरवता कर
इस देहाती गाने का स्वर
ककड़ी के खेतों से उठकर,
आता जमुना पर लहराता ।

x x x x x x

§2§ "रात-रात भर श्वान भूंकते
पार निशा के जब ध्वनि जाती
लौट उधर से प्रतिध्वनि आती,
समझ खड़े सम्बल प्रतिद्वंद्वी दे-दे अपने प्राण भूंकते ।

x x x x x x x x x

इसी तरह मेरे उर में भी असंतुष्ट अरमान भूंकते ।

x x x

§3§ "भाव-भरा उर शब्द न आते
पहुंच न उन तक आंसू पाते
आओ, तृण से शुष्क धरा पर अर्थ-सहित रेखाएं खींचें ।

x x x

§4§ "स्वप्न था मेरा भयंकर
धार से कुछ फासले पर
सित कफन की ओढ़ चादर
एक मुर्दा गा रहा था बैठकर जलती चिता पर ।

§5§ "अंतरिक्ष में आकुल-आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पंख नीड़ का खोज रहा है,
पिछड़ा पंछी एक अकेला ।

उपर्युक्त सारे काव्यांश "निशा-निमंत्रण" की कविताओं से लिये गये हैं । बच्चन की सौंदर्यबोधात्मक विजय के परिणामस्वरूप ही हम पाते हैं कि इस "अवसाद" परक अभिव्यक्ति में जैसे चौथे दशक का समाज, अपनी समूची नकारात्मक मनःस्थितियों को मुखर कर रहा है । यों बच्चन आरंभ से ही साम्प्रदायिकता, ब्राह्मण नैतिकता और सामाजिक विधि-निषेधों की खिल्ली उड़ाते रहे थे । किंतु एक अनुत्तरदायी अगंभीरता अथवा उच्छृंखलता हावी रहती थी । निशा-निमंत्रण" में "अवसाद" के सामने जीवन-रक्षा के लिए जूझने उनके सौंदर्यबोधात्मक जीवन के लिए अगंभीरता का किंचित भी अवकाश नहीं था । यों बच्चन की कविता के "भाषा" विषयक गुण के लिए शिवदानसिंह चौहान ने जो उनका "कायस्थ" होना बतलाया है, वह भी महत्त्वपूर्ण है । किंतु इसके लिए यह कह देना "यदि मानव प्रकृति, मानव सम्बन्धों के प्रति किसी दृष्टिकोण को ही कवि द्वारा समाजवादी विचारधारा के अंगीकार की कसौटी माना जाय तो पुरानी पीढ़ी के लोगों में बच्चन ही एक मात्र ऐसे कवि है, जो इस पर खरे उतरते हैं ।[54] मात्र अपना पक्ष उजागर करना है । कोई भी दृष्टिकोण, जो मात्र यह गुण रखता हो कि पारम्परिक दृष्टिकोणों से भिन्नता रखे, समाजवादी विचारधारा के अंतर्गत कैसे

---

54. आलोचना 13, अप्रैल-जून 1970 - पृ. 85

आ जायेगा ? मानव सम्बन्धों के प्रति कोई सचेत दृष्टि, या कोई नमूना, उनकी कविताओं में बिल्कुल नहीं है ।

बच्चन के लिए तो मात्र "निशा-निमंत्रण" में यह स्थिति आयी थी किंतु निराला के लिए हमेशा ही "अवसाद" से जूझना था । एक प्रक्रिया थी, जो उनके लिए निरंतर थी और वही उनकी कविता थी ।[55] निजवेस्तनी (Neizvestny) ने अपने और अपनी कला के बारे में बात करते हुए बताया था -- "मेरा युद्ध शैशव से ही आरंभ हो गया था और वह नहीं रुका । मुझे हमेशा यह अनुभूति होती है कि मैं अगली कतार में हूं । अब मैं ऐसी जगह पहुंच गया हूं, जहां मैं वस्तुत: अच्छा तभी अनुभव करता हूं, जब मैं दबाव में होता हूं ।[56]

प्रकारांतर से निराला भी अपने बारे में यही कहते । जितना विरोध, जितनी प्रताड़ना निराला को सहनी पड़ी, वह किसी को भी तोड़ने के लिए पर्याप्त होती । फिर भी निराला नहीं टूटे. उनकी जीवनी दुर्घटनाओं से पूरम्पूर रही और उनके लिए उनका युग भी ।

प्राय: यह माना जाता है कि "सन् 1937 तक निराला आभिजात्य सुरुचिशास्त्र के शिखर से जनवादी रुचियों और प्रगतिशील भावबोध की जमीन पर उतर आये । x x x 1936 तक निराला आभिजात्य सुरुचियों का कवि है जबकि 1937 से लेकर

---

55. "It (Poetry) is a process of the personality of the poet." — 'Stevens' qtd. in 'The Tradition of The New — Herald Rosenberg - P. 29.

56. 'Art and Revolution'; John Berger - P. 17.

1961 तक का निराला जनवादी भाव-बोध का कवि है । इसलिए "उपयुक्त यही होगा कि निराला काव्य को ही नहीं, पूरे निराला साहित्य को केवल दो व्यापक वर्गों में विभाजित किया जाय ।"[57]

जहाँ तक विभाजित करने की समस्या है, यह समझनेवाले की सुविधा पर निर्भर है । रामविलास शर्मा ने तीन चरणों में विभाजित करने की सलाह दी और नंद दुलारे वाजपेयी ने चार चरणों में किंतु यह मान लेना कि अमुक वर्ष एक ऐसी विभाजक रेखा खींचता है, कि पहले का कवि कोई दूसरा होता है और उसके बाद से कोई दूसरा बन जाता है, सरलीकृत समझ का ही प्रमाण होगा ।

सन् 36 के बाद के निराला वही हैं, जो पहले थे । उनमें कुछ परिवर्तन आये, वे बुनियादी भी थे किंतु उनके बीज आरंभ से ही प्राप्त होते हैं । मनोहरादेवी की प्रेरणा से उन्होंने हिंदी में लिखना शुरू किया था और वही प्रेरणा अंततक रही । सौंदर्य हो या प्रेम या फिर राजनीतिक व्यंग्य -- वह उनके सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की काव्यात्मक परिणति होता था न कि किसी वैचारिक दृष्टि के तहत कोई जिम्मेदारी स्वीकार करने के कारण । जो भी जिम्मेदारी निराला के कवि को स्वीकार होती वह सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर जाकर ही । राजनीति हो या समाज हो, उनके लिए कविता को आकर्षक या ललचाऊ "विषय" कभी नहीं रहा । उन्होंने राजनीतिक कविता लिखी हो या व्यंग्य-परक वह उनकी सौंदर्य-परक कविताओं की तरह ही, उनके सौंदर्यबोधात्मक मनोस्तर से ही उभरती थी ।[58] ऐसा 36 से पहले भी होता था और बाद में भी ।

---

57. पहल-21-दिसम्बर 1982-पृ.43 पर उद्धृत
58. "इतना आवश्यक कहा जायेगा कि निराला ने जितनी भी कविताएं लिखी हैं, वे सब उनकी अंतरंग प्रेरणा से उद्भूत हैं, नकि दायित्व चेतना से निःसृत ।" बृहत्त्रयी-विजय बहादुर सिंह-पृ.59

परिवेश के प्रति उनका सरोकार हमेशा सृजनात्मक होता था । उनकी ठेठ चित्रण परक कविताओं को देखेंगे तो कहीं प्रतीत नहीं होता कि "चित्रण" के लिए "विषय" का इस्तेमाल किया गया है । वे पूरी तरह से शामिल रहते हैं, कविता में, उसके शब्द-शब्द में और साथ ही अपने "विषय" में भी पूरी तरह से भागीदार रहते हैं । भागीदारी दृष्टि को निर्णायक रूप से बदलती है । "भागीदार ही सही दर्शक हो सकता है ।"[59] प्रमाण के लिए निराला की प्रारंभिक कविता " भिक्षुक" ली जा सकती है ।

"वह आता,
दो टूक कलेजे के करता पछताता,
पथ पर आता ।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने का - भूख मिटाने को
मुह फटी पुरानी झोली का फैलाता -
दो टूक कलेजे के करता
पछताता
पथ पर आता ।"[60]

इसे मात्र "चित्रण" कहना इसमें ओत-प्रोत समानुभूतियों को नहीं समझना है । इसमें सौंदर्य है, संगीत है, भिक्षुक है क्योंकि

---

59. "Only a participant can be a profound spectator." Trotsky - qtd. in "an article 'Literature of Revolution' by Norman Geras - New Left Review - 113-114, P.8.

60. अपरा - निराला - पृ. सं. 67

निराला है । हमने "बोहीम" की चर्चा के समय निराला की निरंकुशता और उच्छृंखलता की ओर संकेत किया था । सौंदर्य क्षणों में अर्थात् सृजन क्षणों में उस उच्छृंखलता का संतरण एक सधाव में हो जाता था । "प्रतिरोध" अथवा लड़ाई में सैनिक पूरी तरह से, एकाग्र होता है क्योंकि जीवन-मरण का प्रश्न होता है और निराला सौंदर्य के नियमों के अनुसार रचने लगते हैं । वे नियम जो "प्रदत्त" नहीं होते, लादे नहीं जा सकते, वे "सृजन" में से उगते, बढ़ते और रचते हैं । निराला की "नियम-चेतना" सही ढंग से प्राप्त नहीं हो सकी थी और कविता के लिए यह शुभ हुआ । "भिक्षुक" कविता के बाहर नहीं रहा । वह निराला के भीतर, "चिति" तक पैठ गया, आंतरिकीकृत हो गया और फिर अपने होने के द्वंद्वात्मक दृश्य" द्वारा उसने निराला से कविता लिखवाई । कहा जा सकता है कि ऐसी चित्रण-प्रधान कविताओं में निराला उसी तरह "विषय" के स्टेनो हो जाते थे, जैसे बाल्जाक बदाम फ्रांस का स्टेनो था । ऐसा सायास नहीं होता था । शुरुआत भले ही सायास हो, रचना-क्षणों में सायासता नहीं होती थी और इसलिए निराला की ऐसी कविताएं मांजी हुई, तैयार की हुई या पकायी हुई प्रतीत नहीं होती ।[61]

---

61. जिस अर्थ में सोचना, विचारना व्यक्ति के लिए अपने से "बाहर" की क्रिया होती है, किसी बाहरी दबाव में सोचना पड़ता है, वह "सोच" सौंदर्यबोधात्मक नहीं हो सकता । निराला सौंदर्यबोधात्मक क्षणों में अपने सारे खण्ड-खण्ड जीवन के साथ, सारे अंतर्विरोधों के साथ, अखण्ड होते हैं और इसलिए "रचना" पर सोच लदा हुआ नहीं प्रतीत होता । यदि कतिपय रचनाओं में ऐसा हुआ है तो इसलिए कि निराला उन सृजन क्षणों में "विषय" के साथ एक नहीं हो सके और आंतरिकीकृत न होने से विषय ने अलग से सोचने पर विवश कर दिया । निश्चित ही जागो फिर एक बा के कई अंश कविता से ज्यादा कविताई सोच हो गये हैं । जब रचनाकार अपने सृजन क्ष में होता है, तब तक सारा सोच न सिर्फ हो चुका होता है बल्कि सृजन-सामग्री का भी बन चुका होता है । उस समय रचनाकार के लिए सौंदर्यबोधात्मक लक्ष्य स्पष्ट होता सोच-विचार की अलग से नत्थी कर देने का अर्थ सौंदर्यबोधात्मक लक्ष्य को या तो अस्प होना होता है या फिर रचनाकार की तैयारी अपर्याप्त होती है-- "when one knows where are stands one is in a position to realise the importance of acting without thinking." The Grammar of Living' - David Cooper - P. 111.

इसी क्रम में वर्षों के बाद लिखी "वह तोड़ती पत्थर" के अंश देखे जा सकते हैं :-

"वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर

x x x

गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार
सामने तरु मालिका, अट्टालिका, प्राकार ।"[62]

"भिक्षुक" से इस कविता के कवि में अंतर कहां है ? गतिशील बिम्ब वहां भी थी, यहां भी है । पर नहीं, -- "देखकर कोई नहीं, देखा मुझे उस दृष्टि से, जो मार खा रोई नहीं ।" यहां पत्थर तोड़ती मजदूरनी ~~मुझे उस दृष्टि से, जो मार खा रोई नहीं ।~~ के साथ जो संवेदना-सम्बन्ध कवि के हैं, वे भिक्षुक से आगे के हैं, बदले हुए हैं पर हैं "भिक्षुक" का ही कवि, जो देख रहा है । सार्त्र ने चेतना को कर्म से एकमेक देखा था, उसका अर्थ यहां खुल सकता है । निराला का "देखना" जैसे निराला की मात्र आंखों का काम नहीं, बल्कि उनका समग्र अस्तित्व-व्यक्तित्व जैसे "देखना" "आंख" हो गया हो । सही है -- "तथाकथित कल्याणभावना से प्रेरित मतवादी की "उद्धारक दृष्टि" यहां नहीं है ।[63] हो भी नहीं सकती थी । यदि पंत का

---

62. राग विराग - सं. रामविलास शर्मा - पृ. 118-119
63. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी- पृ. 101

"देखना" और निराला का "देखना" एक साथ विमर्श का केन्द्र बनें तो नितांत विपरीत जीवन, इस सीमा तक कि "नस्ल" अलग-अलग प्रतीत होने लगें - सम्मुख आते हैं ।

सन् 35 में सरोज की मृत्यु हुई । यह तीसरी मौत थी । यदि माँ की मृत्यु ने निराला के जीवन में फाँक दी थी तो मनोहरा देवी की मृत्यु ने उन्हें दूसरी बार आमूल चूल अस्त-व्यस्त कर दिया था और सरोज के निधन ने उनकी जीवनी को पूरी तरह से ढँपा दिया था । हमने दुख और संघर्ष के अनुपात में सौंदर्य-दृष्टि के विकास की बात कही थी । बीसवीं शती के चौथे दशक में बहुत उथल-पुथल थी और रचनाकार उससे प्रभावित हो रहे थे किंतु निराला की स्थिति इस पूरे परिदृश्य में बेजोड़ थी । उनकी अपनी जीवनी में होनेवाली उथल-पुथल भी कम नहीं थी । लुकाच ने सर्वहारा और मध्यमवर्गीय व्यक्ति की भिन्न मीमांसात्मक स्थितियों में फर्क बताते हुए इसी पर बल दिया है कि "सर्वहारा" एक विशिष्ट स्थिति में होता है । उसे अमानवीय और संकीर्ण सीमाओं में रहना पड़ता है । वह बाहरी संसार को स्थिर, चिंतन की सामग्री के रूप में जान ही नहीं सकता क्योंकि वह अवकाश की स्थिति में नहीं होता । x x x बाहरी संसार को अपने चिंतन के विषय (object) के रूप में जानने से पहले ही वह स्वयं अपने को एक "विषय" के रूप में पाता है । x x x इस अलगाव की स्थिति में ही श्रमिक की शक्ति निहित है । x x x वह यथार्थता को एक प्रक्रिया के रूप में देख पाने में सक्षम होता है और मध्यवर्गीय संसार का वस्तुकरण (Reification) उसके लिए बेमानी होता है ।"[64]

---

64. Qtd. in 'Marxism and Form', Fredric Jamson - P. 188.

यदि श्रमिक की जगह "निराला" रख दें तो भी बात अधिकांशत: सच होगी । अस्तित्व-संघर्ष उन्हें इतना अवकाश ही नहीं दे रहा था कि वे बाहरी संसार पर विशुद्ध चिंतन कर सकते । इसी निरंतर संघर्ष में, लगातार उसके बीच रहने में ही, निराला की शक्ति निहित थी । तभी वे सरोज की याद में "सरोज-स्मृति" लिख सके । अलगाव की भयावह विभीषिका कि वे सरोज-स्मृति में खुद ही "विषय" थे ।

"धन्ये, मैं पिता निरर्थक था
कुछ भी तेरे हित कर न सका
x x x x
दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूं आज जो नहीं कही ।"[65]

फिर राम की शक्ति पूजा में भी वे ही "राम" के रूप में कह रहे थे --

"धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध ।

फिर भी,

"वह एक और मन रहा राम का जो न थका ।"

---

65. रामविलास - सं0 रामविलास शर्मा - पृ. 80-91।
नामवर सिंह ने "सरोज-स्मृति" को विश्व-साहित्य में अप्रतिम स्थान दिया है । ऐसा शोक-गीत किसी भाषा में नहीं मिलता । -- छायावाद - पृ.

हमने वाम सौंदर्यशास्त्र के संबंध में पहला लक्षण "प्रतिरोध" माना था और कविता के संबंध में उसे सौंदर्य बोधात्मक का विशेषण दिया था । उसका आदर्श उदाहरण निराला की कविताएं हैं । वे संघर्ष के "बारे में नहीं" है, वे "संघर्ष में से आयी हैं । "राम की शक्ति पूजा" के बारे में राम विलास शर्मा का मत है कि राम की विजय का चित्र कविता में उतना प्रभावशाली नही बन पड़ा है, जितना उनके संघर्ष का । "यह निराला के जीवन का अपना संघर्ष था । यह उनका सत्य था और इसके बावजूद वे "सरोज स्मृति" में सरोज के युवती होने का वर्णन "मालकोस ज्यों वीणा पर" कर रहे थे, उसकी सेज, माता के अभाव में रच रहे थे और अपने जीवन के बारे में लिख रहे थे -- "मैं खड़ा देखता रहा अपल । वह शर-क्षेप वह रण-कौशल ।" "राम की शक्ति पूजा" में जो संघर्ष की कविता है, लिख रहे थे :-

"ऐसे क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि-अच्युत

x x x

नयनों का नयनों से गोपन - प्रिय संभाषण
पलकों का नवपलकों पर प्रथमोत्थान - पतन ।"[66]

कोई सहृदय आलोचक यह कहने का साहस नही करेगा कि यह चित्र, संघर्ष के चित्र से कम प्रभावशाली है । निराला के काव्य का सौंदर्य उनके संघर्ष की सापेक्षता में ही समझा जा सकता

---

66. राग-विराग - सं0 रामविलास शर्मा - पृ. 92-104.

है । यदि राम की शक्ति पूजा का शिल्प-कौशल इतना सधा हुआ है कि अज्ञेय उसमें -- "लांग शाट, मीडियम शाट, क्लोज अप आदि दृश्य को निकट लाने की और उसके सहारे तनाव पैदा करने की सभी सिनेमाई युक्तियां मिल जायेंगी और उस काल की गति को नियंत्रित करने की स्लो-मोशन और फ्रीज तक के उदाहरण मिल जायेंगे" देखते हैं तो इसे भी निराला के संघर्ष की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है ।

सौंदर्यबोधात्मकता की स्थिति स्व-बोधात्मकता के बाद ही आती है और जब वही जान लेवा संघर्ष जारी हो तो "सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध" का चरित्र स्वयमेव उजागर हो जायेगा । प्रदत्त काव्य-परम्परा से उन्हें जो भी मिला, बिम्ब, प्रतीक, भाषा -- उन सबके प्रति उन्होंने सृजनात्मक प्रतिरोध किया और परिणामस्वरूप सही अर्थों में कविताएं लिखीं । व्यक्तिगत जीवन में वे टूटते चले गये, विक्षिप्त से हो गये लेकिन उनका सौंदर्यबोधात्मक जीवन न मात्र अक्षुण्ण रहा बल्कि लगातार अपने आचरण से वस्तुकरण की संभावना को ही निर्मूल करता रहा ।

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में "तुलसीदास" वनबेला आदि को देखा जा सकता है । 1935 के बाद उनमें निरंतर विस्तार मिलता है । व्यंग्य भी उनकी कविता में सम्मिलित हो जाता है । सन् 45 के लगभग जब अकाल और महंगाई का भयानक जोर था, जनता परेशान थी तो निराला ने कजली लिखी :-

"काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहर लाल ।
कैसे-कैसे नाग मंडराये, न आये वीर जवाहरलाल ।"[67]

---

67. राग विराग - सं. रामविलास शर्मा - पृ. 123

एक सतत प्रवहमान प्रक्रिया थी, कविता के जितने सौंदर्यबोधात्मक क्षेत्र निराला ने खोजे, वह उनकी सृजनात्मक भागीदारी की उपलब्धि थी । "कुकुरमुत्ता" 'राम की शक्ति पूजा' के कवि की ही रचना थी --

"कहीं का रोड़ा । कहीं का लिया पत्थर
टी·एस·इलियट ने जैसे दे मारा
पढ़नेवालों ने जिगर पर हाथ रखकर
कहा, कैसे लिखं दिया जहाँ सारा ।"[68]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग की दृष्टि से कहना होगा कि सन् 36 के बाद की कविता को "प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध" की कसौटी पर ही सबसे पहले कसना होगा । सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध ही कविता को "वाम" से जोड़ सकता है ।

दी हुई स्थितियों के प्रति यह प्रतिरोध ही था कि निराला ने 'देवी सरस्वती', 'महँगू महँगा रहा,' 'रानी और कानी' जैसी कविताएं लिखीं । कविता के जो और जितने उपादान हो सकते हैं, वे सब निराला के हाथों सँवरे । उन्होंने यह जीवन-नमूना सामने रखा कि एक अवसाद-ग्रस्त "स्व" और अकेलेपन के स्तर पर भी कैसे प्रतिरोध किया जा सकता है, सारी की सारी प्रदत्त स्थितियां प्रति-सौंदर्यबोधात्मक हों तो उन्हें भी अपने सौंदर्य-बोधात्मक आचार द्वारा कैसे रूपांतरित किया जा सकता है और कैसे अपने ही भीतर युग समाज और जीवन द्वारा प्रदत्त अँधेरे को लगातार पार किया जाता है । पंत के अंधकार और स्वर्ण-दिशा की

68· राग विराग - सं· रामविलास शर्मा - पृ· 129

तुलना में इस अंधकार और "सूर्य" को रखकर देखा जाय तो कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकले सकते हैं ।

"करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार
बहना जीवन के प्रखर-ज्वार में निश्चय ।
लड़ना विरोध से दृढ़-समर
रह लक्ष्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना, भिन्न भी देह, निज धर निःसहाय ।"[69]

निराला और पंत का इतना विस्तृत विवेचन इसलिए कि सही तौर पर सौंदर्य बोधात्मक दबाव का मापन तभी किया जा सकता है कि जब कोई रचनाकार अपने पूर्व संस्कारों में फेरबदल करने पर उतारू हो जाय ।

वह समय ऐसा था कि कविता संसार में युग की उथल-पुथल भरपूर हलचल मचा रही थी । "प्रदत्त" सौंदर्य बोधात्मक बिम्बों से प्रस्थान करने के प्रयत्न में प्रधात सौंदर्यशास्त्रीय नियमों (Aesthetics of Schock) की उद्भावना कविता में इस प्रकार हो रही थी ।

"इस विशाल सम्पन्न नगर के
हँसनेवाले राजमार्ग पर
आज सुबह मैंने देखी थी
एक विकृत-सी लाश पड़ी ।"[70]

---

69. तुलसी दास - निराला - पृ. 28
70. मानव - भगवतीचरण वर्मा - पृ. 34

मानसिक आघात देने का यह प्रयत्न एक ओर तो प्रदत्त सौंदर्य-दृष्टि को अपूर्ण सिद्ध करने के लिए था और दूसरी ओर प्रदत्त संस्कारों पर चोट करके अभिजात-रुचि के पाठकों को क्षुब्ध करने और इस तरह बदलने का लक्ष्य लेकर किया गया था। यह "प्रतिरोध" नहीं है । इस प्रकार के छुट-पुट प्रयत्न उस युग में बहुत हो रहे थे ।

"सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध" की कसौटी रूप में हम देख रहे हैं । निराला को उस युग और उसके बाद भी जूझते हम देख चुके हैं । यदि उनके आस-पास के कुछ और नाम देखें तो पायेंगे कि ऐसे भी महत्वपूर्ण कवि आये थे, जिन्हें स्वयं को बदलने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वे उसी युग में रचना-रत हुए थे ।

पहला नाम नागार्जुन का आता है फिर केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और शमशेर । लगभग सभी ने सन् 30 के आसपास लिखना शुरु किया था । वाम कविता के प्रसंग में महत्वपूर्ण हम उस सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को मान रहे हैं, जो अपने स्वभाव से ही द्वंद्वात्मक और सृजनात्मक होता है ।

कवियों की अपनी-अपनी जीवनियाँ थीं, अपने-अपने परिवार थे और ये अपने-अपने बचपन और उस सारे "प्रदत्त" के साथ अपने-अपने युग के चले आ रहे संघर्ष में ये उतर पड़े । यों सन् 36 में मुक्तिबोध ने भी लिखना शुरु कर दिया था । इतना विविध-रंगीन परिदृश्य था कि जैसे एक नया संसार प्रस्तुत हो रहा था । कविता के बीच में "गाँव" श्रमिक, किसान, राजनीति,

आत्म-संघर्ष और ऐसी आशा-निराशा आ रही थी, जो पहले की परम्परा में होती हुई भी युग-समाज और उसके बदले हुए रचनाकारों के कारण एक नया तेवर और तौर-तरीका लिये हुए थी ।

"अवसाद" के साथ सरोकार का चरित्र, सृजन का चरित्र और प्रतिरोध का चरित्र बदल चुका था । ऐसा ही प्रेम, सौंदर्य और विद्रोह के साथ था । नरेन्द्र शर्मा ने अपने नीरस जीवन के बारे में लिखा :--

"कुछ तो हो, हो दुर्घटना ही, मेरे इस नीरव जीवन में ।"

और यह पंक्ति आधुनिक युग की आंतरिक शून्यता को कवि द्वारा सर्व-प्रथम अनुभव करने की प्रमाण मानी गयी ।-- "बच्चन से उनकी वैयक्तिकता इस अर्थ में भिन्न है कि उनके भीतर मध्यवर्गीय व्यक्ति की विभक्त मनःस्थिति का बोध बहुत तीव्र है । x x x इस पंक्ति में जिस "नीरसता" की ओर संकेत किया गया है, वह केवल कवि के जीवन की ही नहीं, बल्कि उस पूरे दशक की विराट रिक्तता की सूचक है । x x x यह मात्र आकस्मिक संयोग नहीं है कि नरेन्द्र शर्मा की उपर्युक्त पंक्ति, जिसमें कवि ने अपने जीवन की नीरसता से ऊबकर किसी संभावित "दुर्घटना" का आह्वान किया है, दूसरे महायुद्ध से ठीक वर्ष-भर पहले, अर्थात् सन् 1938 में लिखी गयी थी ।[71]

---

71. आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब-विधान - केदारनाथ सिंह - पृ. 267-268

हम चौरी-चौरा और सन् 31 के गांधी - इर्विन समझौते के बारे में लिख चुके हैं । एक ओर "अवसाद" उस युग की मनोभूमि का अनिवार्य अंश था और दूसरी ओर जबर्दस्त, अवसाद के अनुपात में ही, "आनंद" और "ललकार" थी । बच्चन और दिनकर उसी युगीन अवसाद की प्रतिक्रिया में हाला में डूबकर सब कुछ भूल जाने और हर स्थिति हर दुश्मन से लड़ने को तैयार" दिखायी देते हैं । किंतु कई कवि अपनी सारी तीव्र निराशा और पराजय-बोध के प्रति अपने प्रतिरोध में ऐसी रचनाएं रच रहे थे, जिसमें कोई "बड़ी बात" बोलने का प्रयास न होकर मात्र अपनी और प्रकारांतर से मानवीय स्थिति का कोई अंश, अपने युग, अपनी जीवनी और अपनी परम्परा की सौंदर्यबोधात्मक सापेक्षता में रखकर, उसे फिर से रचने का प्रयास था । नरेन्द्र शर्मा के प्रेम-भावना परक गीतों को इसी संदर्भ में देखना होगा ।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जिस "अवसाद" की बात कही वह कुछ लेखकों - आलोचकों के लिए उस युग की एक मात्र पहचान है । "अंतर्विरोधों की तीव्रता" में "अवसाद" के साथ, उसी के अनुपात में, आनंद और आस्था भी होते हैं । कई विद्वानों के लिए वह काल मात्र दिवालियापन, रिक्तता, शून्यता आदि को सूचित करता है । लक्ष्मीकांत वर्मा, विजय देव नारायण साही, नामवर सिंह आदि द्वारा इस अवधारणा का सार्वभौम स्वीकार उस काल और उस काल के रचनाकारों के बारे में कुछ भी बताने से पूर्व इन विद्वानों के काल और इनके बारे में बतलाता है । इनके उद्धरण रोचक और महत्वपूर्ण होंगे । लक्ष्मीकांत वर्मा ने "हिंदी साहित्य के बीस वर्ष" नाम की

एक लेखमाला "कल्पना" में लिखी है ।

वे कहते हैं -- "ऐसा लगता था, जैसे प्रत्येक हिंदी लेखक जो सामाजिक यथार्थ के परम्परित के अनुसार नहीं लिख रहा है, वह कोई बहुत बड़ा पाप कर रहा है । पंत की "ग्राम्या" उसी संत्रस्त आत्महीनता की उपज है । निराला के "नये पत्ते" की अधिकांश कविताएं उसी के अंतर्गत आयेंगी । नरेंद्र शर्मा ने तो "लाल निशान" के पीछे अपनी प्रतिभा ही स्वाहा कर दी । ऐसा लगता था, जैसे प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थ टिनोपाल की डिबिया है, जिसमें धोल में रचना को धो लेने के बाद सफाई आ जाती है।"[72] इसी निष्कर्ष को किंतु अधिक तार्किक पद्धति से प्रतिपादित करते हुए साही इस "विराट रिक्तता" को बच्चन, भगवती चरण वर्मा के बीजगुप्त, प्रगतिवाद की घाँस, कामायनी और गोदान में देखते और दिखाते हैं ।[73] नामवरसिंह ने भी माना -- "वस्तुत: छायावादी नैतिक "विज़न" का जादू टूटने पर हृदय और बुद्धि के अलगाव के रूप में मन का जो विभाजन हुआ, उससे उत्पन्न रिक्तता और संकट की चुनौती 1938 के आसपास के सभी कवियों के सामने थी ।"[74]

वस्तुत: युग के अंतर्विरोध और सकारात्मक-नकारात्मक धाराओं के द्वंद्व को समझे बगैर मात्र अपने "पक्ष" को सही सिद्ध करने के लिए ऐसे निर्णय कथन दिये जाते हैं । वाम कविता के सौंदर्य-

---

72. कल्पना, जून 67, पृ. 281
73. नयी कविता, संयुक्तांक -5-6, 1960-61, पृ. 85.
74. कविता के नये प्रतिमान - नामवरसिंह - पृ. 91-92

शास्त्र की सीमा में जहां तक "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की कसौटी का प्रश्न है, वहां "रिक्तता" और "शून्यता" निराशा और पराजय" यदि एक ओर हैं तो उन से सृजनात्मक द्वंद्वात्मक सरोकार रखते रचनाकार भी हैं। रचनाकारों का मानस भी ऐसे द्वंद्व का रण-क्षेत्र है। जहां "परिवार" "बचपन" के प्रशिक्षण में, युग से और अपने से प्रतिरोध करते रचनाकार कहीं "ईरोज" (Eros) और थेनोटोस (Thenatos) के द्वंद्व को भी झेल रहे होते हैं। इन सब में युग, निर्णायक भूमिका निभाता है। किंतु युग कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं, वह सीधे-सीधे एक सामाजिक राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत होनेवाले, दो विपरीत शक्तियों के द्वंद्व का एक कालिक प्रत्यय है। "रिक्तता" और "संघर्ष" सापेक्ष होते हैं, और वे दोनों ही मानव-सापेक्ष हैं। उस युग के सामने "रिक्तता" ही नहीं, "सौंदर्य-दृष्टि को बदलने" व प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन में प्रेमचंद का भाषण] की चुनौती भी थी।

हमारे शोध प्रबंध का सरोकार उसी चुनौती और उसके स्वीकार से है। हम जानते हैं कि चुनौती के दुर्बल स्वीकार की, ऐसी रचनाएं भी लिखी गयीं और प्रगतिवाद के नाम पर प्रचारित प्रसारित की गयीं जो मात्र नारों का कवितांश बनाकर थीं। रूप के प्रश्न से हर रचनाकार को जूझना होता है। यह जूझना रूपवाद नहीं है। रूप की उपेक्षा का तात्पर्य हमारे लिये यह होगा कि "प्रतिरोध खण्डित है। रूपवादी आग्रह भी इसी श्रेणी में आयेगा।

वाम कविता के सौंदर्य शास्त्र के संदर्भ में हम रूप बनाम कथ्य का छद्म द्वंद्व नहीं खड़ा करना चाहते । "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के प्रत्यय में समग्र रचना आती है । अपने साथ रचनाकार के जीवन और युग को लेकर । यदि "प्रतिरोध" न होकर कविता की परम्परा में, परिदृश्य में, एक और कविता मात्र हो तो वह समर्पण है या, जैसा हम आगे देखेंगे, प्रदत्त को पूरी तरह से नकारनेवाला शून्यवादी "विरोध" होगा । सम्पूर्ण नकार और सम्पूर्ण स्वीकार -- ये दोनों प्रवृत्तियां प्रतिरोध को हानि पहुंचाती है । उसे खण्डित बनाती है ।

नरेन्द्र शर्मा के गीतों में, विशेषत: स्मृति, प्रणय आदि से जुड़े गीतों में हम निश्चित ही "विषय" से सृजनात्मक सरोकार पाते हैं । द्वंद्व पाते हैं । उनके राजनीतिक गीतों में अवश्य "विषय" अधिकांशत: चिपकाया हुआ लगता है । तब वे गीतांत अवद्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से, इकतरफा सरोकार रखते हुए, किसी स्थितिया घटना के बारे में लिखते हैं ।

वस्तुत: राजनीतिक और युग-यथार्थ आदि के बारे में लिखना इतना भर सूचित करेगा कि वैचारिक दबाव बढ़ रहा है जिसके तहत उस दबाव को अनुभव करके या फैशन के मुताबिक रचना ली गयी है । कोई आवश्यक नहीं कि राजनीति के बारे में लिखी गयी रचना राजनीतिक भी हो । बाहर से, बिना जीवन और सौंदर्यबोधात्मक भागीदारी के सिर्फ "बारे में" लिखना ही हो सकता है ।

इस संदर्भ में केदारनाथ अग्रवाल की "वसंती हवा" को देखा जा सकता है --

"हवा हूं, हवा
मैं वसंती हवा हूं ।
चढ़ी पेड़ महुआ
थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर,
चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा
किया कान में कू ।"[75]

यह कविता "हवा के बारे में" नहीं है । यह हवा की कविता है । "युग की गंगा" में ही स्वयं कवि ने इस शैली को "प्रकृति का बिंबात्मक चित्रण"[76] कहा है । प्रकृति के साथ हो या परिवेश (सामाजिक - राजनीतिक - आर्थिक) के साथ सारे सृजनात्मक सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का चरित्र बदला हुआ मिलता है । सारी शास्त्रीय संस्कृत परम्परा को आत्मसात कर कवि जब "हिमालय" को देखता है तो कालिदास का हिमालय नागार्जुन का हिमालय हो जाता है ।

"कहां गया धनपति कुबेर वह
कहां गयी उसकी वह अलका

---

75. फूल नहीं, रंग बोते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 21
76. युग की गंगा - केदारनाथ अग्रवाल - भूमिका ।

नहीं ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गंगा जल का
ढूंढा बहुत परंतु लगा क्या
मेघ दूत का पता कहीं पर,
कौन बताये वह छायामय
बरस पड़ा होगा न यहीं पर
जाने दो, वह कवि कल्पित है
मैंने तो भीषण जाड़ों में
नभचुम्बी कैलाश शीर्ष पर
महामेघ को झंझानिल से
गरज-गरज भिड़ते देखा है ।"[77]

"मैंने तो" का प्रयोग परे हिमालय को कालिदास के युग से नागार्जुन के युग के "भीषण जाड़ों" में ले आता है । भागीदारी का यह नया सौंदर्यबोधात्मक आयाम निराला से जुड़ता है ।

शमशेर तो सन् 39 में ही "निराला" के प्रति कविता में निराला को मार्गदर्शक-पद दे रहे थे --

"भूलकर जब राह - जब - जब राह .... भटका मैं"
तुम्हीं झलके, हे महाकवि,
सघनतम की आँख बन मेरे लिए ।

---

77. यह कविता सन् 1940 में सरस्वती में छपी थी । "नागार्जुन और उनका रचना संसार - पृ. 31.

78. आलोचना - 56-57 संयुक्तांक - जनवरी-जून 81 पृ. 43

श्याम कश्यप की बात सही है कि शमशेर निराला के रूप में हिंदी कविता की सबसे शक्तिशाली परम्परा से अपने को जोड़ रहे थे, यद्यपि एकदम भिन्न मिजाज और भिन्न अंदाजे-बयां के साथ ।[78] शमशेर इस तरह निराला से अपने को जोड़ना चाहते थे --

"हां तुम्हीं हो, एक मेरे कवि
जानता क्या मैं --
हृदय में भरकर तुम्हारी सांस ।
किस तरह गाता ।"[79]

शमशेर के काव्य को यदि उनके हृदय में भरी हुई निराला की सांस के रूप में देखा जाय तो उस सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की परम्परा का एक नया ही पक्ष उद्घाटित होगा ।

त्रिलोचन कह रहे थे --

"मुझ में जीवन की लय जागी
मैं धरती का हूं अनुरागी
जड़ी भूत करती थी मुझको
वह सम्पूर्ण निराशा त्यागी ।"[80]

तात्पर्य यह कि वाम कविता के प्रसंग में मिलनेवाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण चारों नाम निराला से जुड़ते हैं । वे कवि जो भी अपने को उनसे जोड़ते हैं -- । इनके बचपन में गांव था केवल

---

78. आलोचना-56-57 संयुक्तांक -जनवरी-जून,81 पृ. 43
79. उदिता - शमशेर बहादुर सिंह - पृ.
80. दलित्वे धरती - त्रिलोचन - पृ. ।।

शमशेर का देहरादून में जन्म हुआ था । इसलिए शमशेर सबसे अलग रहे, वे "निराला काव्य की सांस" हृदय में भरकर ही उनकी परम्परा से जुड सके थे । त्रिलोचन का परिवार, बचपन एक ग्रामीण परिवेश का सीधा-सादा परिवार और बचपन था । शायद इसीलिए उनकी कविता -- "अपनी ठोस जमीन और ठेठ भाषा से लगातार जुड़ी रही है ।[81] एक सरलता त्रिलोचन के जीवन-व्यक्तित्व और काव्य, का आधारभूत गुण है । शमशेर ने "त्रिलोचन" को "सरलता का आकाश" और "कठिन प्रकार में बंधी सरलता" कहा है । उस "सरलता" के प्रति प्रतिरोध ने त्रिलोचन की कविता को इतनी सरल गहराई दी कि "जटिलता" के शोर और अभिनंदन में वे प्राय: उपेक्षित रहे । त्रिलोचन के काव्य में -- "एक विशेष प्रकार की तटस्थता है । हिंदी की उत्तेजना-प्रिय रुचि को कदाचित यह अच्छा न लगे, परंतु जरा ध्यान से पढ़ने पर अभिव्यक्ति के पीछे किसी गहराई का अंदाज हो जाता है ।"[82]

---

81. दस्तावेज 13-14-अक्तूबर,81, केदारनाथ सिंह का लेख-पृ. 141

82. मुक्तिबोध रचनावली पांच - पृ. 383 - "यह उत्तेजना प्रियता ही एक प्रकार की सेंटिमेंटलिटी को उत्पन्न करती है, जिसमें भावना की गहराई, उसकी मंथर निश्चयपर्ण गति न रहकर मात्र क्षण-स्थायी उभार रहता है । कवि त्रिलोचन में इस सेंटिमेंटिलिटी का लेश मात्र भी नहीं है और न है हमेशा इमेजेज के सहारे चलने की गहरी प्रवृत्ति x x x उसके जीवन में अंतर्मुखता की ओर ले जानेवाला फर्स्टेशन कम है x x x इससे उसका व्यक्तित्व अन्य इसी श्रेणी के कवियों की अपेक्षा अधि सरल हो गया है । (वही) वस्तुत: त्रिलोचन का काव्य अपनी सरलता के कारण ही जटिलता पजकों के के लिए त्याज्य रहा है ।

केदारनाथ अग्रवाल भी गाँव के हैं । अभिजात घर में जन्म लेने पर भी स्थितियाँ कुछ ऐसी रही कि निम्न वर्ग के प्रति लगाव शुरू से ही रहा । "मैं कुलीन घराने में जन्मा जरूर लेकिन मुझे मेरी बतसिया कहारिन अपने घर उठा ले जाती थी । उसके यहाँ मैं बासी भात और मठ्ठा खाकर वहीं सो जाता था । अपने घर के पकवान मुझे अच्छे नहीं लगते थे । मैं घर के पकवान ले जाता था, तो उस मोहल्ले के बच्चों को बाँट देता था । वे लोग बेर तोड़ लाते थे और सूखी-सूखी रोटियाँ । तो ये चीज़े मैं प्रेम से खाता था । x x x देहात का वातावरण था । वहाँ चाहे, जितने पैसेवाले हो साधारण जिंदगी से सम्पर्क होता ही है । स्वभाव यदि इसी तरह हुआ, तो आभिजात्य से तुरंत मुक्ति मिल जाती है ।[83]

यह सच है कि "तुरंत मुक्ति" नहीं मिल पाती और केदारनाथ अग्रवाल के पास आभिजात्य रुचियों का स्पर्श प्राय: मिल जाता है किंतु रामविलास शर्मा और निराला के साहित्यिक सान्निध्य ने, अपने बचपन के सहज लगाव ने और वकालत के उनके पेशे ने, उन्हें श्रमिकों, किसानों और ग्रामीण सौंदर्य से जोड़े रखा । किंतु वह "जुड़ाव" था । वे एकमेक नहीं हो सके । किंतु उस जुड़ाव के कारण वे अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में "प्रदत्त" को सृजनात्मक स्तर पर ला ने में सफल हुए । यह दीगर बात है कि "प्रदत्त" गाँव, वंश, परिवार और बचपन ने, किसी भी अन्य कवि के "प्रदत्त" की की तरह ही, जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, वह उनके अपने "विषय" के साथ "रागात्मक सम्बन्ध के जुड़ाव को अलग से झलकाती रही । वे पूरे सृजनात्मक चरम पर भी "बारे में" रही ।

---

83. पूर्वग्रह 34, सितंबर-अक्तूबर 79, पृ. 12

स्पष्ट है कि शमशेर, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल का "प्रदत्त" उनके लिए न तो प्रतिरोधक रहा, न चुनौति और न भयावह । निराला के बाद हम नागार्जुन के "प्रदत्त" को इसी परम्परा में रख सकते हैं । पूरे काव्य-परिदृश्य में नागार्जुन अकेले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपने "बचपन और "परिवार" को धीरे-धीरे अपने काव्य-व्यक्तित्व को सकारात्मक हिस्सा बना लिया । "मुझे संघर्षशील जनता का विपन्न बहुलांश ही शक्ति प्रदान करता करता है ।"[84] यह वर्ग-च्युत होते और व्यापक होने का एक ऐसा तरीका था कि कवि का नकारात्मक प्रदत्त" हावी होने की शक्ति ही खो बैठा । सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध के प्रसंग में "प्रदत्त" का डंक ही तोड़ देना और फिर उन्मुख भाव से जनता के साथ हो जाने की यह मिसाल इतनी अनूठी है कि इसकी समानता ढूंढे नहीं मिलती । निराला अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध से "महाकवि" कहलाये किंतु नागार्जुन "जनकवि" है ।[85]

एक बहुत बड़ा बदलाव आ गया था । सौंदर्य-दृष्टि बदल गयी थी । रचनात्मक स्तर पर । सौंदर्यबोधात्सव स्तर पर किसी एक ही ओर, एकायामी ढंग से नहीं बदली । शमशेर बहादुर सिंह के "प्रदत्त" के साथ सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध का एक विशिष्ट चरित्र रहा । वे 40-41 में सीधे-सीधे "हंस" और प्रगतिवादियों के सम्पर्क में आये । चित्र-कला का प्रशिक्षण लिया । "मैंने देखा कि प्रक्रिया - रचना प्रक्रिया जो चित्र में है, वही रचना -

---

84. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुरसिंह - पृ. ।।

85. आलोचन -56-57, जनवरी-जून 1981 संपादकीय ।

प्रक्रिया कविता में भी काम आयेगी ।" शमशेर को अपना कविता लिखना "जुनून" लगता है । -- "साधना तो बहुत बड़ा शब्द है मैं उसको जुनून कहूंगा -- एक तरह का अपने को व्यक्त करने का जुनून । x x x किसी को दिखाने का कोई मतलब नहीं क्योंकि कोई मेरे जुनून को शेअर नहीं कर सकता था ।" उन्होंने शुरु से ही अपना एक आदर्श सूत्र सामने रखा -- "एक और भी सूत्र मेरे मन में काम करता रहा है -- गलत या सही -- पर वो सूत्र है पुराना और बहुत ही काम का । वो सूत्र यहह है कि कला उसे कहते हैं, जिसमें कम से कम उपादानों के साथ अधिक से अधिक प्रभाव पैदा किये जा सके ।"[86]

यह सब इसलिए कि शमशेर की कविता से ही पहले पहल ऐसी कविता मिलती शुरु होती है --

"बच्चे
धूल के- से खिले बीज काले
सुने फूल अनुपम,
धूप में हँसते
किरण-चिड़ियों-से मगन-मगन ।"[87]

प्रदत्त काव्य-परम्परा के साथ यह नया सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध था । अथवा ऐसा "प्रतिरोध" जो पूरी तरह से इतना सौंदर्यबोधात्मकथा कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था । "विषय" को देखा जा रहा था, उससे जुड़ाव हो रहा था, उससे एकमेक

---

86. साक्षात्कार 21, अगस्त 81 - में शमशेर बहादुर सिंह के वक्तव्य, "मैं, मेरा समय और रचना-प्रक्रिया"- पृ.55-56 ।
87. उदिता - शमशेर बहादुर सिंह - पृ.

हुआ जा रहा था पर मात्र कवि-दृष्टि से ही नहीं, साथ में चित्रकार की दृष्टि भी शामिल थी । उन्होंने "जुनून" कहा है, अपने कविता लेखन को उनकी 1942 की एक कविता से उनका "जुनून" जो एक खास किस्म का आत्म संघर्ष बनकर उनमें अक्सर आता रहा है, स्पष्ट किया जा सकता है --

"शिला का खून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं
सीढ़ियाँ भी बादलों की झूलती
टहनियों-सी ।
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना
सुतल था ।
आत्मा के कल्पतरु का पुं"[88]

अपने एक प्रसिद्ध निबंध "शमशेर" की "काव्यानुभूति की बनावट" में विजयदेव नारायण साही ने इस कविता की बिम्बात्मकता की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है । अपने मार्क्सवाद-विरोध के कारण साही ने इस कविता के प्रसंग में मार्क्सवाद (("यूरोपिया की अंतिम परिणति मार्क्सवाद है")) को अतियथार्थवाद (("यह एक तरह की निषेधात्मक यटोपिया है ।")) ।

---

88. शमशेर - सं0 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - पृ. 108

के विरोध में रखकर § "धन-बिम्बलोक के मुकाबले में ऋण-बिम्ब लोक है" § देखा है । बहुत गहराई से देखते हुए वे उस "अनुपस्थिति" के सिद्धांत पर पहुंचते हैं, जो उन्होंने पूरे प्रगतिवादी काल पर लागू किया था । -- "पूरी कविता के भीतर एक विशाल अनुपस्थिति की व्यंजना होती है । इस निषिद्ध यूटोपिया के पास पहुंचने पर बिम्ब अपनी बिंब लौकिकता खोने लगते हैं वे बिम्ब नहीं रह जाते, वे प्रतीक हो जाते हैं । ये प्रतीक किस के प्रतीक हैं ? ये प्रतीक हैं -- कुछ नहीं के । अक्षरश: कुछ नहीं के । यह पीड़ा की वह अवस्था है, जहां उस में से स्पृहा, उच्छवास, तड़प, बेचैनी सब कुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द एक जड़-चिकनी चट्टान की तरह जम जाता है । हाशिए की इस ऋण दिशा में भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्यु की ओर बढ़ती है । इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक क्षिप्त विक्षिप्तता की स्थिति है, जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है । घबरा-घबराकर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थ से यदि वापस लौटते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं । वह अपने होशो हवास की दुरुस्ती को बनाये रखने के लिए ही संघर्ष करते हैं ।[89]

इसमें कोई संदेह नहीं कि साही बहुत गहराई से हर चीज़, घटना और स्थिति को विश्लेषित करते थे । किंतु उनका "पक्ष" उन्हें द्वंद्वात्मकता से परहेज करने को उकसाता था । "मार्क्सवाद यूटोपिया की अंतिम परिणति है" इस कथन पर हमें कुछ नहीं कहना है । अद्यतन विवेचन साक्षी है कि ऐसा नहीं है । अतियथार्थवाद को भी साही ने इसी पक्ष से और कवि-दृष्टि

---

89. शमशेर - सं0 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - पृ. 341

से ही देखा है । कला के हाशिए पर विज्ञान के प्रवेश के साथ अतियथार्थवाद का उभार हुआ था । ब्रेतों [BRETON] को प्रसिद्ध कथन है "कला संसार को देखने के लिए खिड़की देती है ।[90] कोई भी कला, कोई भी कविता, कोई भी चित्र, कलाकार के बारे में कुछ न कुछ तो कहता ही है । कला बिना कुछ कहे, चाहे

---

90. "Inquiries into the fundamentals of aesthetics" — Stephen Morawski — p 312

यदि अतियथार्थवाद को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो यह समझने-समझाने की पारम्परिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह था । कहना न होगा कि बीसवीं शति का आरंभ उसमें रंगों-रेखाओं और अन्य सामग्री द्वारा विस्फोटक रूप से उपस्थित हुआ था । कविता पर उसका प्रभाव यह पड़ा था कि वह पहले तो भाषा अथवा काव्यात्मक अभिव्यक्ति की समस्या से नये तरीके से जूझता था और फिर बिना समझने के साधनों के समझ लिया जाना चाहता था । [The Social History of art — Arnold Hauser p. 222.] निश्चित ही एक तो इसलिए कि ~~कला~~ "साधन" वह सब नहीं समझा सकते थे, जो वह समझाना चाहता था और दूसरे "समझने" की क्रिया, सारी "ज्ञान-मीमांसा" ही दूषित हो चुकी थी । उसे बदलना आवश्यक था । इसके लिए आवश्यक था कि कला को उसके अनिवार्य तत्वों में घटा दिया जाय । क्योंकि "the impact of which will not be disturbed by secondary effects, painting is reduced to color music to rythem, poetry is to explanation." preserving the pressu एक प्रकार से वह अपने "तत्वों" से ही संदेश देना चाहता था । Herbert Rose मारक्यूज ने इस कला की प्रति-अलगाववादी [Anti-alienational] Gurg-p. प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए इसमें भविष्य के "यथार्थता सिद्धांत" के ~~साथ~~ सौंदर्यबोधात्मक रूपों के समझने की आशा की है । मारक्यूज के मत से भावी मानव सौंदर्य बोधात्मक प्राणी [Homo aestheticus] होगा "essay on liberation" Second chapter निश्चित ही प्रति अलगाववादी अतिरिक्त प्रयत्न के पीछे अलगाव का अतिरिक्त दबाव रहता है । यों तो कला सहज ही अलगाव को मिटानेवाली होती है । इस प्रकार पूंजीवाद की भयावहता का यह उदाहरण है ।

कलाकार के बारे में ही सही, कहती है । शमशेर की यह कविता भी कहती है । यद्यपि जितना "शब्दों" के द्वारा नहीं, उतना अनकहे के द्वारा/ पूरा का पूरा संदर्भ समझने के लिए पाठक का आह्वान करती है । उसे अपनी रचना-प्रक्रिया में शामिल होने के लिए बुलाती है । शामिल होने का मतलब यह नहीं कि नितांत भिन्न प्रकृतिक की और दस वर्षों बाद लिखी "अमन का राग" के साथ इसे रखकर देखें । ध्यान देने की बात यह है कि साही के लेख में पूरी कविता उद्धृत होते हुए भी अंतिम पंक्ति "आत्मा के कल्पतरु का ?" नहीं है । वह अंतिम पंक्ति, अपनी प्रश्न-वाचकता के साथ जो उपस्थिति दे सकती थी, उसे न रखकर "अनुपस्थिति" की शिकायत एक गैरवाजिब हरकत ही कही जायेगी । जड़ और कल्पतरु को साथ करके देखें और सीढ़ियां और चबूतरें को तो फिर अपारदर्शिता नहीं रह जाती । कुछ धुंधलापन जरूर रहता है किंतु उसे अपने-अपने पक्ष-ग्रहण के मुताबिक "आत्मा के कल्पतरु" का अर्थ लगा/कर अपने तर्क स्पष्ट किया जा सकता है ।

प्रस्तुत शोध- प्रसंग के संदर्भ में, "पक्ष" ग्रहण करते हुए यदि अर्थ लगाना हो तो तीनों बिम्बों की पृष्ठभूमि में स्थित संदर्भ का अनुमान करके, उसकी सापेक्षता में देखना होगा । साही यह भूल गये कि "आत्मा का कल्पतरु" अपने-आपमें "बिम्ब" नहीं है, प्रतीक ही है । "जड़" उसी कल्पतरु की है । "आत्मा" के प्रसंग में अब देह, व्यक्ति, व्यक्तित्व, अस्तित्व आदि "पद" सहज ही अर्थ" समझने की प्रक्रिया के हेतु उपयोग में लाये जा सकते हैं । "जड़" अगर पत्थर हो गयी हो तो कल्पतरु? उसका कल्पतरुत्व ? ध्यान रहे, वह कल्पतरु आत्मा का है, तो आत्मा ? और पूरी कविता "भूतकालिक" "थी" के तीन बार प्रयोग द्वारा बल देकर "भूतकाल" में रखी गयी

है । एक ऐसे व्यक्तित्व की सारी संभावनात्मक शक्तियाँ, जो अब सिर्फ दृश्य मात्र है क्योंकि उनके मूल में "पत्थर" = एक निर्जीविता है । "प्रश्न-वाचक" चिह्न के साथ उस व्यक्तित्व के मात्र विकासहीन दृश्य होकर रह जाने को फिर एक "अनिश्चय" दे दिया गया है । "कल्पतरु" के बारे में, आत्मा के बारे में यों भी निश्चित क्या कहा जा सकता है ? दोनों ही आकांक्षाओं-विश्वासों से उपजे प्रत्यय हैं ?

मुक्तिबोध ने शमशेर को "विशिष्ट का कवि" कहा है और प्रभाववादी चित्रकला की छाप उनकी ऐसी कविताओं पर बतलायी है । साही इन्हें सौंदर्य का कवि कहते हैं -- " x x x आज तक हिंदी में विशुद्ध सौंदर्य का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर है । और इस "आज तक" में हिंदी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूँ ।[91] यदि पूर्व-उद्धृत कविता की याद करें तो शमशेर ने "निराला की साँस अपने हृदय में भरी थी "और" जब वे भटकते हैं तो निराला सघन तम की आँख बन जाते हैं । हमने देखा कि निराला अस्तित्व संघर्ष के बीच भी "सौंदर्य" के कवि रहे थे । यदि शमशेर ने यह कविता लिखने से पहले ही "राम की शक्तिपूजा" पढ़ ली थी § और इसकी पर्याप्त संभावना है क्योंकि शमशेर बचपन से ही निराला काव्य पर मोहित रहे हैं § तो राम के सारे संघर्ष के बीच में उन्हें प्रेरणा देती सौंदर्य-स्मृतियों के काव्य-चित्रों ने उन्हें अवश्य ही प्रभावित किया होगा ।

९। शमशेर - सं० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - पृ० 25

प्रस्तुत शोध के प्रसंगों में कहें तो एक अनूठा सौंदर्य-बोध लेकर शमशेर हिंदी काव्य-दृश्य में प्रविष्ट हुए । उन पर लगाये गये "दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती "मुक्तिबोध के अनुसार "उस आदत को सूचित करते हैं, जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं ।[92]

इसका तात्पर्य यह कि शमशेर की कविताएं हिन्दी कविता को समझने की परम्परा के प्रति भी एक जबर्दस्त सृजनात्मक सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध थी ।

शमशेर के काव्य की विविधता भी विस्मयकारी है । "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध" के जितने पक्ष और जितने आयाम शमशेर का काव्य दिखलाता है, वह किसी एक कवि के लिए एक महान् उपलब्धि है ।

"शिलाका सुन पीती थी" के साथ की कविता "सीमेंट और नारियल" में आज की स्थिति में "लेखक" की स्थिति का

---

92. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 432 मुक्तिबोध ने "शिल्प की दृष्टि से शमशेर को हिंदी का अद्वितीय कवि माना है" । साथ ही कहा है -- "लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एककारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है । x x x शमशेर के सृजन प्रक्रियात्मक सेंसर्स काफी महत्वपूर्ण हैं । जो बातें वे नहीं कहते, वे संदर्भ की दृष्टि से प्रधान हैं । उनकी प्रधानता गोपन रखने के लिए संक्षेपीकरण की व्यवस्था है । -- - वही - पृ. 428 और 436.

अतियथार्थवादी चित्र है । यह कविता "शिला का खून पीती थी" की "सह-कविता" समझी जा सकती है - इसकी समापन पंक्ति है -- "जड़ों का भी बड़ा जाल / है चुका पत्थर ।" इसी तरह 'एक मौन', 'ये लहरें घेर लेती हैं', 'बोध' आदि कविताएं हैं तो दूसरी ओर इसी काल की गज़लें हैं, जिनमें ऐसे शेर भी हैं, जो मजदूर, आंदोलनों में उसी तरह घुल-मिल गये हैं, जैसे शंकर-शैलेन्द्र की पंक्तियां "रेल का चक्का जाम करो" या "हर जोर-जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है।"

एक शेर है सन् 1943 का, जो "मुक्तक" के शीर्षक से संकलन में प्रकाशित हुआ है --

"यह सलामी दोस्तों को है, मगर
मुट्ठियां तनती है दुश्मन के लिए ।"[93]

"बात बोलेगी" ॥ बात बोलेगी / हम नहीं / भेद खोलेगी / बात ही / ॥ "सूरज उगाया जाता" (सूरज / उगाया जाता / पूलों में / यदि हम / एक साथ / हंस पड़ते / ॥ "ये शाम है" जो 1944 की एक शाम को लाल झण्डों पर रोटियां टांगे मजदूरों के एक जुलूस पर ग्वालियर की सामंती सरकार द्वारा गोलियां बरसा देने पर लिखी गयी थी । यह कविता एक प्रसिद्ध शिव-स्तोत के छंद ॥ पंच चामर ॥ में लिखी गयी है । ॥ ये शाम है / कि आसमान खेत है पके हुए अनाज

---

93. कुछ और कविताएं - शमशेर बहादुर सिंह - पृ. 16।

का / लपक उठी लहू-भरी दरांतियां / कि जाग है । ‖ हमारे
दिल सुलगते हैं [लगी हो आग जंगल में कहीं जैसे/ हमारे दिल सुलगते हैं
x x x भूख लगती है हमें तब इंकलाब आता है ।
सरकारे पलटती हैं जहां हम दर्द से करवट बदलते हैं x x x हमारे
अपने नेता भूल जाते हैं हमें जब / भूल जाना है जमाना भी उन्हें,
हम भूल जाते हैं उन्हें खुद / और तब / इंकलाब आता है
उनके दौर को गुम करने । ‖ और फिर इसी क्रम में "वाम
वाम दिशा" ‖ वाम-वाम-वाम दिशा / समय साम्यवादी ‖

उपर्युक्त उद्धरणों की झलक से यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिरोधात्मकता की इतनी विविधता शमशेर काव्य में मिलती है कि सौंदर्य शास्त्र की दृष्टि से वे एक चुनौती से हो जाते हैं । शोध प्रसंग की अपनी सीमाओं के कारण यहां हम मात्र शमशेर की प्रारंभिक रचनाओं को ही उद्धृत कर सके हैं ।

प्रासंगिक होगा अगर हम यहां स्पष्ट कर दें कि सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध की दृष्टि से सारे उल्लेखनीय कवि आज भी रचनारत हैं और मात्र रचना-रत ही नहीं है बल्कि उनके प्रतिरोध के चरित्र में निरंतर विकास भी हो रहा है । ऐसे में हम अपने लिए नियत की हुई कालावधि के भीतर लिखी उनकी रचनाओं की झलक और उनमें निहित सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की ओर संकेत भर कर सकते हैं । सन् 50 तक की शमशेर की रचनाओं के बारे में चर्चा करते हुए हम उनकी उन कविताओं को नहीं भूल सकते, जो किसी व्यक्ति विशेष के लिए लिखी गयी है । वहां पर भी "प्रदत्त" विषय ‖ वह व्यक्ति ‖ के साथ उनका सृजनात्मक सरोकार कुछ इतना मौलिक होता है कि जैसे उस व्यक्ति का भीतर-बाहर सब उजागर हो जाता है , और शमशेर का उस व्यक्ति-विशेष के प्रति रागात्मक सम्बन्ध जैसे कविता के माध्यम

से पुनर्रचित हो जाता है । "माई" ‖ तरु गिरा / जो --
झुक गया था, गहन / छायाएं लिए ‖ वसंत-पंचमी की शाम 1948
‖ डूब जाती है, कहीं / जीवन में, वह / सरल शक्ति } --
" यह कविता सुभद्राकुमारी चौहान के निधन पर लिखी गयी थी । ‖
"याम" कवि से ‖ "छू नहीं सकती / सांस जिसे / वर्ण गीत
जिसे / किंतु मर्म ।" ‖

हमने वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में पहली कसौटी या लक्षण सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का रखा है । कोई भी कवि, अपनी प्रत्येक कविता में, प्रतिरोध-रत हो, यह संभव नहीं है । वह अपनी अधिकांश कविताओं में हो, यह हम रेखांकित के लिए पर्याप्त है । कई बार एक ही कविता में समग्रत: यह "प्रतिरोध" नहीं रह पाता । आरंभ की पंक्तियों में एक ऐसे बिम्ब या काव्यात्मक वक्तव्य से भेंट होती है कि "विषय" के साथ प्रतिरोधात्मक सरोकार उसमें झलकता है किंतु फिर "कवि" मात्र उस कविता को पूरी भर करता है । शमशेर की उपर्युक्त उद्धृत कविताओं में से कुछ की स्थिति यह भी है । इससे उनके "वाम कवित्व" के प्रसंग में एक महत्वपूर्ण कवि होने में अंतर नहीं पड़ता। चौथे दशक से ही उन्होंने सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर जो अपनी विजयों की झांकी ‖ अपने अंत:संघर्ष और बदलती हुई सामाजिक राजनीतिक - आर्थिक व्यवस्थाओं के चरित्र से जूझते हुए ‖ कविता के रूप में प्रस्तुत की है, वह वाम-सौंदर्य-दृष्टि की अनूठी परिणतियां हैं । उनके अंतर्विरोध उनसे "समर्पण" की कविताएं भी लिखवाते रहे हैं । ‖ जैसे "वाम - वाम दिशा" कविता का तीन-चौथाई अंश ‖ जिनमें मात्र प्रदत्त "विषय" का स्वीकार है और वे कविताएं या तो राजनीति के बारे में या फिर किसी और "विषय के बारे में" अधूरी कविता आसी

सूचनाएं मात्र रह गयीं । किंतु ऐसी कविताओं की संख्या नगण्य है । वस्तुत: वे मुक्तिबोध के शब्दों में -- "वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण करनेवाली कवि हैं । श्याम कश्यप ने शमशेर की ही पिकासो पर लिखी एक कविता पंक्ति, को उन की कविताओं के बारे में लागू किया है कि उनकी कविता "सदा एक नये समय की गर्म सांस होती है ।"[95]

त्रिलोचन की कविता के बारे में प्राय: कुछ भी कहना आलोचकों को कष्टकर लगता रहा है । यह आकस्मिक नहीं है कि डॉ० जनेश्वर वर्मा के "हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना" नामक महाकाय शोध ग्रंथ में त्रिलोचन का नाम नहीं है जबकि मुंशीराम शर्मा "सोम" और नीरज तक के नाम हैं । यदि नागार्जुन और शमशेर के नाम नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि जिस कालावधि को वह शोध-प्रबंध समेटता है, उसमें उनके संग्रह प्रकाशित नहीं हुए थे किंतु त्रिलोचन का धरती तो 1946 में प्रकाशित हो चुका था ।

---

94. मुक्तिबोध रचनावली - पांच पृ. 437

95. आलोचना - 56-58 - जनवरी-जून, 1981 - पृ. 61
शमशेर के बिम्ब-प्रयोगों के साथ ही उस बिम्बवादी प्रवृत्ति की शुरुआत हो जाती है, जो अंग्रेजी छोटी कविताओं को, "जापानी हाइकू" को आदर्श मानकर अज्ञेय के "अरी ओ करुणा प्रभामय" में ओतप्रोत है । 1939 में शमशेर इस प्रकार का गत्वर बिम्ब लिख रहे थे -- "सूना-सूना पथ है, उदास झरना / एक धुंधली बादल ईश्वर टिका हुआ / आसमान / जहां वह काली ~~लड़की~~ युवती / हंसी थी ।"

धरती के बारे में शमशेर ने लिखा --

"तुमने "धरती" का पद्य पढ़ा है ?
उसकी सहजता प्राण है ।"

यह सहजता ही वह कारण थी, जिससे "धरती" का पद्य पढ़ा नहीं गया । मुक्तिबोध ने पढ़ा और उन्होंने उसकी समीक्षा करते हुए आरंभ ही इस प्रकार किया -- "मुझे कहने दीजिए कि धरती & त्रिलोचन का काव्य-संग्रह & के गीतों का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है, जिनसे मात्र कव्य-सामर्थ्य ही नहीं प्रकट होत , वरन् जीवन के विस्तृत दायरे के विभिन्न भागों का काव्यात्मक आकलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है ।"[96]

त्रिलोचन ने अपनी इस क्षमता का श्रेय निराला को दिया है --

"मुझमें जितना बल था
अपनी राह चला
आंखों में रहे निराला
मानदंड मानव के तनके मनके, तो भी
पीस परिस्थितियों ने डाला
जो भी है, हो, आंखों की करुणा का यह शीतल पाला
मन को हरा नहीं करता है ।"[97]

---

96. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 378
97. कवि 59 । नंद किशोर नवल के लेख "शिला सिंधु का दुर्विनीत" नामक लेख में उद्धृत । पृ. 27

मुक्तिबोध ने भी इसे पहचाना -- "x x x भाषा के सुपरिष्कृत रूप और स्वर की गीतात्मकता के पीछे जो गीतात्मक भाव है, वह बुद्धि द्वारा काफी अनुशासित है। यह भी कदाचित निराला जी की एक विशेषता है, जो त्रिलोचन में भी मिलती है।"[98]

प्रस्तुत शोध प्रसंग की शब्दावली में कहें कि उन्होंने नितांत उथल-पुथलवाली वास्तविकता का "आंतरिकी करण" तो किया किंतु अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में इतने अनुशासित, संयत और सहज रहे कि उस "प्रतिरोध" का चरित्र समझने के लिए, उसे ध्यान से देखने की आवश्यकता है। "प्रतिरोध है और जबर्दस्त है -- "नयी कविता के उत्कर्ष-काल में भी प्रवाह पतित होने का खतरा उठाकर एक कवि धारा के विरुद्ध वाक्य-विन्यास की रक्षा के लिए आवाज बुलंद करता रहा, लेकिन उसकी आवाज न तब सुनी गयी और न अब . . . . वह कवि है "धरती" और "दिगंत" का रचनाकार त्रिलोचन x x x त्रिलोचन की "धरती" की सहजता का आधार है अटूट वाक्य-विन्यास, x x x उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसकी "ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।"[99]

"ध्वनि में क्रिया का भरी हुई होना और क्रिया में बल होना - बिना प्रतिरोध के संभव नहीं हो सकता। त्रिलोचन का सौंदर्यबोधात्मक - प्रतिरोध कुछ इस संकल्प में प्रकट होता है -- "लड़ता हुआ समाज, नई आशा-अभिलाषा / नये चित्र के साथ नई भी देता हूँ भाषा"

---

98. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 384.

99. नयी कविता के प्रतिमान - नामवर सिंह - पृ. 135

संभवत: इसलिए भी त्रिलोचन के "पद्य" को नहीं पढ़ा गया क्योंकि वे अपनी जगह "प्रतिरोध" में लगे रहे, किसी "वाम पंथी" दल के पास नहीं गये। दक्षिण पंथियों द्वारा पढ़े जाने का वह "पद्य" था नहीं। -- "मैं तो कभी कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं रहा। x x x मैं कभी उन लोगों के निकट भी नहीं गया।"[100] क्यों कि मैं न गाली दे सकता था इसलिए सुनना भी पसंद नहीं किया और वे पढ़े नहीं गये जबकि वे "हिन्दी भाषी अंचल की जातीय चेतना के कवि हैं।"[101]

वह कारण उनके सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का चरित्र है। परवर्ती निराला जब "महँगू महँगा रहा" जैसी कविताएं लिख रहे थे तो त्रिलोचन ने उनके इस नये कवि-रूप को "आंखों में बसा लिया था। अपनी कविता के बारे में उन्होंने कहा -- "मैं तुम से, तुम्हीं से बात किया करता हूं। और यह बात मेरी कविता है।"[102] इस कथन की तुलना भवानी प्रसाद मिश्र की इस पंक्ति से की जा सकती है -- "जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख।"[103] लेकिन अंतर है -- "भवानी प्रसाद मिश्र की भावनाओं में जो भव्य व्यापक औदार्य है, और जो गद्य का टेक्नीक है, वह त्रिलोचन में भी है, परंतु अधिक सधे हुए और संवारे हुए रूप में। शायद इस तटस्थता का कारण कवि पर निराला का प्रभाव हो।"[104]

---

100. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह - पृ. 39
101. आलोचना 56-57, 'राजेश जोशी का जब देखा तब जीवन देखा' नामक लेख - पृ. 68।
102. - वही - पृ. 69
103. भवानी प्रसाद मिश्र - विजय बहादुर सिंह - पृ. 14
104. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ. 384

उदाहरण लेकर चर्चा करना ठीक होगा --

"भस्मावृत लूकी-सा
मैं इस अंधकार में
पड़ा हुआ हूं
अपनी चेतनता की ज्वाला
परिसीमित,
उठकर ।
x x
अंधकार में देख रहा हूं
जीवन की बनती रेखाएं
आयें बाधाएं, सब आयें
पर न मिटेंगी किसी काल में,
ये बननेवाली रेखाएं ।[105]

अथवा,

"जब जिस छन मैं
हारा, हारा, हारा
मैंने तुम्हें पुकारा
तुम आये
मुसकाये
पूछा --
कमजोरी है ?
बोला - नहीं, नहीं है
किसने तुम से कहा कि मुझको कमज़ोरी है ।

---

105. धरती - त्रिलोचन - पृ. 90, 91

तुम सुनकर
मुसकाये
मुझको रहे देखते
मुझको मिला सहारा
जब जिस छन में
हारा, हारा, हारा ।"[105]

इन उदाहरणों को देखकर समझा जा सकता है कि सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोधक का यह चरित्र नितांत अलग है । उनका प्रतिरोध सीधे-सीधे, देखते ही नहीं दिख जाता । "उनकी कविता एक शांत गंभीर मैदानी नदी की तरह है, जिसमें उद्वेलन हमेशा कहीं बहुत गहरे होता है ।"[107]

जितने भी नये प्रतिमान गढे गये हैं, आधुनिक हिंदी कविता को समझने के लिए, वे त्रिलोचन की कविता के लिए न सिर्फ अपर्याप्त ठहरते हैं बल्कि किसी दूसरे काव्य-संसार के प्रतीत होते हैं । "असल में त्रिलोचन की कविता है और अपने सर्वोत्तम रूप में नागार्जुन की कविता भी है प्रचलित समकालीन कविता के समानांतर एक प्रति कविता की हैसियत रखती है और इसलिए इस बात की मांग भी करती है उसका मूल्यांकन करते समय आधुनिक कविता के प्रचलित मान-मूल्यों को लागू करने की जल्दी न की जाय । x x x इनके मूल्य कहीं बाहर नहीं, इनकी पूरी बनावट में निहित है -- बहुत कुछ लोहे की धार की तरह, जो लोहे में ही होती है ।[108]

---

106. धरती - त्रिलोचन - पृ. 42
107. दस्तावेज 13-14, अक्तूबर 81 - केदारनाथ सिंह का 'ताप के ताये हुए दिन' समीक्षा लेख - पृ. 144
108. - वही - पृ. 141-42

उपर्युक्त दोनों काव्यांशों को लिया जा सकता है । सीधे-सीधे आंतरिकीकृत "विषय" की ठीक वैसी ही पुनर्रचना है । कोई प्रतीक नहीं, कोई बिम्ब नहीं । "अंधकार" अगर प्रतीक-सा है भी तो उसका इतना सपाट प्रयोग है कि प्रतीक विधान की तथाकथित काव्यमयी गरिमा छू तक नहीं गयी है । वस्तुत: त्रिलोचन "विषय" या "वस्तु" को कविता के हित में बदल देने के पक्ष में कतई नहीं है । वे संस्कृत की काव्य-परम्परा और लोक-साहित्य दोनों में भीगे हुए कवि हैं । फिर "नये पत्ते" और "बेला" की कुछ कविताएं भी उनका मार्गदर्शन आरंभ से ही कर रही है । ऐसा सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध, जो कहीं से भी न तो सौंदर्य बोधात्मक प्रतीत न हो, और प्रतिरोध, त्रिलोचन को "वाम कविता" के प्रसंग में महत्वपूर्ण कवि बनाता है । प्रस्तुत अध्याय में "धरती" की चर्चा की जा रही है, जो उनका पहला ही संग्रह है । वस्तुत: प्रकृति, वस्तु-जगत और घटनाएं कवि के लिए बाहरी वास्तविकता है, वह उन्हें कोई बिम्ब या प्रतीक के रूप में न तो देखता है, वह उन्हें कोई बिम्ब या प्रतीक के रूप में न तो देखता है और न दिखाना चाहता है । अपवाद भी धरती की कुछ कविताएं हैं किंतु त्रिलोचन का मूलत: स्वभाव यही है ।

उद्धृत कविता या गीत में "आस्था" है किंतु अमूर्त कुछ नहीं रह पाता प्रेम जैसे कोमल मानवीय सम्बन्ध को बिना किसी सज्जापरक कलात्मकता के गीत में प्रस्तुत कर देना सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर अत्यधिक संयम की मांग करता है, जो त्रिलोचन में खूब है ।

यह प्रतिरोध भी अद्भुत है । गुस्सा नहीं, उत्तेजना नहीं, दिखावा नहीं, यहां तक कि सतह पर द्वंद्व भी नहीं और

फिर भी जो आस्था, विश्वास, संवेदना इन कविताओं में है, वे घनघोर संघर्ष की ही देन है । निराला में संघर्षों ने कुण्ठाएं उपजा दी थी, जो बढ़ते-बढ़ते विक्षिप्तता की सीमा में पहुंच गयी थी किंतु निराला से प्रभावित-प्रेरित होने के बाद भी त्रिलोचन की कविता में कुण्ठा मुक्त है ।

यही "अद्भुत सरलता" हिन्दी काव्य के पारम्परिक पाठक के लिए असुविधाजनक होती है । जटिलता के अभ्यस्त जन उस कविता से आत्मीयता स्थापित करने में असफल होते हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में कहा जा सकता है कि एक ओर शमशेर ने पाठक की समझ को चुनौती दी, तो उससे ठीक दूसरे छोर से त्रिलोचन ने चुनौती दी । कालांतर में कविता की "सपाट बयानी" को प्रतिमान बनाने की बात की गयी थी किंतु त्रिलोचनने बहुत पहले से ऐसी सपाट बयानी अपना ली थी कि जिसकी सपाटता अनुपम है । एक गीत है, जो निराला के "मैं अकेला / देखता हूं, आ रही है, मेरे दिवस की सांध्य-बेला" की भाव-भूमि पर है, किंतु अपनी "अभिव्यक्ति" के कारण नितांत भिन्न बन पड़ा है --

"आज मैं अकेला हूं
अकेले रहा नहीं जाता
रहा नहीं जाता।

जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह

धूल में
कि
फूल में
मिला है
तो
मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता ।

सुख आये दुख आये
दिन आये रात आये
फूल में
कि
धूल में
आये
जैसे जब आये
सुख-दुख एक भी
अकेले सहा नहीं जाता ।

चरण है चलता हूं
चलता हूं चलता हूं
फूल में
कि धूल में
चलाता
मन
चलता हूं
ओसी धार दिन की
अकेले बहा नहीं जाता ।*109

---

109. धरती - त्रिलोचन - पृ. 60-61.

इस शैली के, इस भाव भूमि के और प्रतिरोध के अपने जोखिम और खतरे होते हैं । गद्य और कविता के बीच "क्षुरस्य धारा" पर चलती हुई यह सपाटता सारे संयम, अनुशासन के बावजूद कई बार अपने आत्मीय पाठक की भी "आत्मीय" नहीं बन पाती । वह कविता के स्थान पर मात्र "सपाटता" ही प्रतीत होती है । किंतु छुटपुट ऐसी दुर्घटनाओं से त्रिलोचन का महत्व कम नहीं होता ।

क्लासिकी परम्परा और लोक-संस्कृति से जुड़े होने का एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने बरवै छंद का उपयोग अपनी अवधी रचनाओं में किया है "उसकी तुलना केवल क्लासिकी रचनाओं से की जा सकती है और वह आधुनिक भी है ।[110] शमशेर ने अपने इस वक्तव्य में हिन्दी में चल रहे फार्म बनाम कण्टेण्ट के बारे में उसी तरह कई महत्वपूर्ण बातें कही है, जो एक सही रचनाकार ही कह सकता है । फार्म को पुराना कहना या सामंती मानना कोई वर्षों तक स्वयोषित मार्क्सवादियों का ठर्रा रहा है । शमशेर कहते हैं -- "हम तुलसीदास के दोहे या चौपाई को ले लें या कबीर की वाणी को ले लें या सर्वेया को ले, घनाक्षरी को लेते और उसी साधना के साथ लोकि उन महान कवियों के कृतित्व में हमें मिलती है, हम उसका आधुनिक ढंग से प्रयोग करें । x x x जिस तरह से एक मजदूर जिसका अपने औजारों पर, अपने साधनों पर उसका अधिकार नहीं है, या तो अपने को जख्मी कर लेगा या अपने कारोबार में कोई खराबी पैदा कर लेगा, वह मशीन ठीक से नहीं चलेगी, उसी तरह से एक लेखक भी, अगर अपने साधनों

---

110. आलोचना -29 अप्रैल-जून, 74 पृ. 43

पर उसका अधिकार नहीं है तो उसी सीमा तक जिस सीमा तक उसका अधिकार नहीं है, खराबी पैदा करेगा । मैं समझता हूं कि इस दिशा में त्रिलोचन का काम बहुत आदरणीय है, बहुत प्रशंसनीय है ।"[11]

कहना न होगा कि त्रिलोचन का अपने औजारों पर, संवेदना, कल्पना, भावना अर्थात् कुल मिलाकर कविताई पर असाधारण अधिकार है । उनकी कविता का "वाम कविता" में अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के प्रति-मुखर स्वभाव के कारण विशिष्ट स्थान होगा, और वे उसके अधिकारी हैं ।

वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र के प्रसंग में केदारनाथ अग्रवाल का नाम शमशेर और त्रिलोचन से एक भिन्न किंतु भरा-पूरा संदर्भ जोड़ता है । वे बुंदेल खण्ड के हैं । वहां की मिट्टी और प्राकृतिक सौंदर्य को उन्होंने जी भर के अपनी कविताओं में उतारा है । किंतु केदार ने सही कहा है -- "x x x जितना सचेत और जागरूक, संवेदनशील वह रचनाकार होता है, जो जनता से आया है, उतना कोई और नहीं । x x x अपने बारे में कहता हूं कि मैं जीवन के माध्यम से नहीं, साहित्य के माध्यम से आया हूं । फिर मैंने जीवन का साहित्य पहचाना और जीवन की पहचान मार्क्सवाद ने करायी । मार्क्सवाद ने ही बताया कि जीवन क्या है, उसका उद्देश्य क्या है ।"[12]

---

11. आलोचना-29, अप्रेल-जून, 74 - पृ. 43
यह एक बड़ी सीमा तक शमशेर के लिए भी सच है । उन्होंने गजल और लोक गीत की रूप-विधाएं चुनी और उन पर अपने अधिकार का परिचय दिया ।
12. पूर्वग्रह 34, सितम्बर-अक्टूबर, 79 पृ. 8-10

उनके काव्य में निहित सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को समझने के लिए उपर्युक्त आत्म-स्वीकार बहुत ही महत्वपूर्ण है । दूसरी बात महत्वपूर्ण है, उनके लिए निराला काव्य का संदर्भ । -- "मुझे जितना निराला प्रभावित करते हैं, उनको पढ़ने के बाद जितना प्रभाव ग्रहण करता हूं -- उतना दूसरों से नहीं । एक-एक कविता को तौलता हूं उस वजन में । "क्योंकि "उनकी कविताएं बहुत अच्छी होती थी। उनकी मानसिकता कविता में कलात्मक होकर आती थी ।"।।2

निराला की उस कलात्मकता ने ही केदारनाथ अग्रवाल को उनका प्रशंसक बनाया । यह "कलात्मकता" का प्रत्यय केदार के अनुसार कैसा-क्या होगा ? एक दूसरे साक्षात्कार में वे कहते हैं -- " x x x कवि को लाजिमी नहीं है कि वह अपनी भाषा नोंकी-चूंची बना दें और सड़क और बाजार की संवेदन-शून्य काम चलाऊ भाषा का प्रयोग करें । x x x सड़क और बाज़ार की भाषा में साहित्य कदापि नहीं लिखा जा सकता । सड़क और बाजार की भाषा "सब्जी खरीदने" की भाषा है । गहने, कपड़े सिनेमा देखने की भाषा है । चाट खाकर स्वाद को व्यक्त करने की भाषा है । वह निश्चय ही आदमी की कलात्मक अभिव्यक्ति की भाषा नहीं है । मौजूदा फिल्मी गानों की भाषा साहित्यिक भाषा नहीं है । इसी प्रकार लोक गीतों की भाषा भी युगीन साहित्य की भाषा नहीं है ।"।।3

।।2. पूर्वग्रह-34, सितम्बर-अक्टूबर, 79 पृ. 8-10

।।3. उत्तर-शती-प्रवेशांक पृ. ।। इसी साक्षात्कार का एक और कथन ध्यातव्य है-- "कविता वही होगी, जिससे किसी विषय-वस्तु का सटीक प्रतिबिम्बन होगा और वह प्रतिबिम्बन उन शब्दों से संयोजित होगा, जो उस विषय वस्तु के वास्तविक और मानसिक रूपांतरण को संप्रेषणीय और बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करेंगे ।" सारा का सारा बल "कोशिश" पर दिया गया है ।

कलात्मकता-अकलात्मकता का यह आग्रह किसी टिप्पणी की दरकार नहीं रखता । इस "आग्रह" को लेकर भी वे नागार्जुन के शब्दों में "जन-मन के सजग चितेरे" हो सके हैं, यह केदारनाथ-काव्य के सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध को सूचित करता है । हमने रचनाकार की "जीवनी" और "बचपन" को महत्वपूर्ण माना है । विजेन्द्रनारायण सिंह के साक्ष्य से कहा जा सकता है कि भारतीय काव्य शास्त्र में यह कुंतक की देन है । -"कवेः कर्म काव्य" कहकर कुंतक ने काव्य सौंदर्य का उत्स कवि-कर्म में बताया है । विजेन्द्र नारायण सिंह के अनुसार "काव्य को कवि का कर्म मानना सौंदर्यानुभूति के मूल स्रोत ही ईंगित कर देना है । x x x रचना ही कवि का व्यापार है । यहां तक तो ठीक है लेकिन धीरे-धीरे कुंतक और विजेन्द्र-नारायण सिंह का बल "कर्म" से "कौशल" पर आ जाता है और फिर "प्रतिभा" पर । यद्यपि वे -- "प्रतिभा को सहजा के साथ आहार्या मानते हैं । "कवि का यह काव्यात्मक व्यक्तित्व आखिर क्या है ? x x x "इस का तात्पर्य रचना में अन्विति से है । तब यह स्थिर हुआ कि अन्विति जिस तरह प्राप्त होती है, वही काव्यात्मक व्यक्तित्व है ।" किंतु यह परस्पर विरोधी व्यक्तित्वों की लस्टम-पस्टम अन्विति नहीं है, बल्कि काव्यात्मक व्यक्तित्व की तात्त्विक अन्विति है ।" निष्कर्ष है-- इस प्रकार कुंतक ने समग्र सौंदर्य को कवि कौशल से उत्पन्न होने का कथन किया ।"[114]

मात्र समाज १ एक ठोस व्यवस्था और दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष को झेलता हुआ १ और सामाजिक अंतर्विरोध के द्वंद्वात्मक प्रत्यय को जोड़ दें तो "कवि-कर्म" "सामाजिक कर्म" हो जायेगा । तब "कौशल" से निसृत समाज-निरपेक्षता की ध्वनि का परिहार भी हो सकेगा ।

---

114. आलोचना : 10 जुलाई-सितम्बर 69, पृ. 26 से 36 तक ।

यह विवेचन केदारनाथ अग्रवाल के काव्य पर चर्चा के समय आवश्यक था क्योंकि वहाँ भी "कौशल" पर बल मिलता है । यों "कर्म" को सुंदर या सौंदर्य का स्रोत मानना "कुंतक और विजेन्द्र नारायण सिंह को, एक अर्थ में, वाम सौंदर्यशास्त्र से जोड़ता है ।

जीवन के माध्यम से न आकर साहित्य के माध्यम से आने की सारी समस्याएं केदार के काव्य में है । जहाँ वे सीधे-सीधे जीवन के माध्यम से पहुंचते हैं, वहाँ उनका काव्य सृजन के उच्चतम स्तरों पर पहुंचा है ।

§1§ "धन गरजे, जन गरजे
बंदी सागर को लख कातर
एक रोष से
धन गरजे, जन गरजे ।"[115]

§2§ "काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है
मारो मारो मारो हँसिया
पीटो पाटो पाटो धरती ।"[116]

---

115. पूल नहीं, रंग बोलते हैं -- केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 23
116. - वही - पृ. 75

§3§ "मैंने उसको
जब जब देखा
लोहा देखा
लोहा जैसा
तपते देखा
गलते देखा
ढलते देखा
मैंने उसको
गोली जैसा
चलते देखा ।"[117]

§4§ "छोटे हाथ सबेरा होते
लाल कमल से खिले उठते हैं
करनी करने को आतुर हो,
धूप हवा में हिल उठते हैं ।"[118]

यह सूची बहुत लंबी हो सकती है क्यों कि केदार खेतों मजदूरों, किसानों, गाँव के महाजन, केन नदी, बाँधे मुरेठा शीश । पर ✍ एक बीते के बराबर हरा ठिगना चना, चित्रकूट की अनगढ़ चौड़ी पहाड़ियाँ और उन पर चलते हुए अनगढ़ बेडौल यात्री, घर में एक हथौड़ा लेकर आनेवाले नवजात बालक आदि के पास सीधे जीवन के माध्यम से पहुँचते हैं । यदि इस पहुँचने में मार्क्सवाद और साहित्य आता है तो वह जीवन से होकर आता है । शायद इन्हीं कविताओं

---

117. फूल नहीं, रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 98
118. युग की गंगा - केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 16

को ध्यान में रखकर नागार्जुन ने लिखा -- "केन कूल की काली मिट्टी, " वह भी तुम हो । कालिंजर का चौड़ा सीना वह भी तुम हो । कुपित कृषक की टेढ़ी भौहें वह भी तुम हो । ग्राम वधू की मधुर सजल कजरारी चितवन वह भी तुम हो । पकी सुनहली फसलों की छवि छटा निराली वह भी तुम हो । लाठी लेकर काल रात्रि में करता जो उनकी रखवाली वह भी तुम हो ।"[119]

इसे अंतर्विरोध ही कहा जायेगा या फिर विडम्बना कि केदार "साहित्य" से होकर भी पहुंचना चाहते हैं । तब होता यह है कि कभी तो वे पहुंच जाते है जैसे "वह जन मारे नहीं मरेगा" "युग की गंगा" आदि कविताएं या फिर ऐसी पंक्तियां -- "उठ रही है क्रांति की ललकार / ज्यों मीनार / नमपरठ / "अथवा "गरम गरम हवा चली अशांत रेत से भरी / हरेक पांसुरी जली, कली न जी सकी, मरी / बबूल आप ही पला, हवा से वह न डर सका / कठोर जिंदगी चला, न जल सका, न मर सका " -- और कभी वे कहीं नहीं पहुंच पाते "न साहित्य तक" और न उस "विषय" तक जैसे "~~मांझी के रद्दा~~ पांजलो नोरुआ के बारे में लिखी कविता या ऐसी पंक्तियां -- "अधिकांश जनता का / रद्दी की टोकरी का जीवन है / संज्ञाहीन, अर्थहीन / बेकार, चिरेफटे टुकडों-सा पड़ा है ।"

केदार को कट्टर-दृष्टिकोण ने "समवादी" कहा है । वे समवादी नहीं हो सकते । उन्हें "सम" का आग्रह नहीं है । कई बार

---

119. कंक - 56-57-58 "समकालीन जनवादी कविता"
पृ. 69 पर शिवकुमार मिश्र द्वारा उद्धृत ।

कमी
~~कमी~~ सिर्फ यह रह जाती है कि उनकी स्म-विषयक चिंता या कोशिश रचना में घुली-मिली नहीं रहती और वह अलग से दिख जाती है । मूलत: उनका सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध ऐन्द्रिक बोध के स्तर का होता है । वे गीतात्मकता के कवि हैं । प्रतिरोधमें में जहां वे चारित्रता जज्ब होकर आयी है "मैंने उसको जब-जब देखा" "एक हथौड़ा वाला" आदि वहां बहुत बड़ी उपलब्धियां प्राप्त हो सकी है ।

हमने भौगोलिक की बात भी "जीवनी" के प्रसंग में लिखी थी । "केदार अपने परिवेश से सदा क्षुब्ध रहे हैं । बांदा के जीवन की एकरसता, मित्रों तथा परिचितों से लंबे समय तक कटा रहना, सरकारी वकील होने की अपनी अलग जिम्मेदारियां, जो जिंदा संघर्ष केदार अपनी ज़मीन से एक लंबे समय तक बनाये रहे उसका धीरे-धीरे कम होते जाना आदि बातें भी केदार की रचना में प्रविष्ट हुई ।[120] इसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उनकी रचनाओं में जहां एक ओर गतिमय प्रतिरोधात्मक बिम्ब है । "कंकर से बालकों ने । ताल को कंपा दिया । ताल को नहीं । अनंत काल को कंपा दिया / वहीं दूसरी ओर ऐसी रचनाओं की भरमार है, जो सन् 50 के बाद प्रकाशित होनेवाले लोक और आलोक (1957) में संग्रहित हुई हैं, जो "प्रदत्त" चिंतों के आगे सौंदर्यबोधात्मक समर्पण है ।

जिस सीमा तक वे सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध कर सके हैं, और वह सीमा बहुत दूर तक जाती है, वे निस्संदेह वामसौंदर्यशास्त्र के लिए एक महत्वपूर्ण कवि हैं । और जहां उन्होंने साहित्य से होकर जीवन

---

120. कंक - समकालीन जनवादी कविता अंक - पृ. 69-70

की ओर आने अथवा मार्क्सवाद से होकर साहित्य की ओर आने का प्रयास किया है बुरी तरह से असफल होते हैं -- "उनकी कविता अर्थात् वह कविता जो उनके अर्जित मुहावरे की कविता है और राजनैतिक कविता में एक स्थायी विभाजन या दूरी शुरू से आज तक कायम है । केदार जी अपनी अर्जित कलात्मकता और भाषा में ही नहीं वरन् अपनी दृष्टि की गहनता में भी राजनैतिक कविता को उतना पका तथा पचा नहीं पाते, जितना अन्य कविता को । ऐसी स्थिति में कविता सपाट होती है और शार्टकट के ज़रिए उसे पूरा कर दिया जाता है । राजनीतिक विसंगतियां, पूंजीवाद की धूर्तताएं और उसका आंतरिक जाल मुक्तिबोध की तरह यहां नहीं खुलता । राजेश जोशी के इस मत से सहमत होते हुए हम यही कह सकते हैं कि "जीवन" ही अंतत: कच्चा माल होता है और निर्णायक भी । अतएव साहित्य हो या मार्क्सवाद -- जीवन की ओर से ही, जीवन के भीतर से ही उन तक पहुंचा जा सकता है । "प्रदत्त" साहित्य हो या मार्क्सवाद -- उसके प्रति सृजनात्मक सरोकार अथवा प्रतिरोध न हो तो समर्पण की स्थिति आ जाती है और रचनाकार के लिए निश्चित ही यह सौंदर्यबोधात्मक समर्पण है । केदार का काव्य इस समर्पण और प्रतिरोध के विरोधाभास का उदाहरण है ।

नागार्जुन के काव्य के बारे में लिखना और वह भी उसके सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को आधार बनाकर, एक दुष्कर कार्य है । हमने पूर्व-परिचय में ही इस ओर संकेत किया है कि उन्होंने "प्रतिरोध" की ऐसी रण-नीति अपनायी है, जो मात्र अनूठी ही नहीं है बल्कि

पूरी तरह से कारगर भी है । यदि शमशेर का प्रतिरोध समग्रत: सौंदर्यबोधात्मक हो गया है, त्रिलोचन का समग्रत: सहज और केदार का कलात्मक तो नागार्जुन ने "प्रतिरोध" को समग्रता: जन के पक्ष में स्थानांतरित करके पहली बार ऐसा कुछ किया है कि उनके काव्य में एक विराट व्यापकता आ गयी है । ऐसी व्यापकता कि जो "होने" में ही सारी उपलब्ध परिभाषाओं के परे पहुंच जाय । सुंदर-असुंदर के सारे प्रत्यय उसमें बिला जाय । "प्रदत्त" को इस सीमा तक अपने पक्ष में कर लिया जाय, अपनी सृजनात्मकता का अंश बना लिया जाय कि उसकी अलग से कोई स्थिति नहीं रहे । प्रस्तुत शोध के प्रसंग में यह भी सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध ही है ।

नागार्जुन के बचपन और परिवार के बारे में प्राय: सब कुछ लिखा जा चुका है ।

"पैदा हुआ था मैं,
दीन-हीन अपठित किसी कृषक कुल में
आ रहा हूं पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
कवि । मैं रंक हूं दबी हुई दूब का
जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में
मेरा क्षुद्र व्यक्तित्व
शुद्ध है, सीमित है
आटा-दाल, नमक लकड़ी के जुगाड में ।"[122]

---

122. हिन्दी की मार्क्सवादी कविता -
सम्पन्न ठाकुर - पृ. 267 पर उद्धृत ।

यह स्थिति और पिता के प्रति प्रतिशोध की भावना ही नागार्जुन का "परिवार" (अंतरिकीकृत) थी । माँ की मृत्यु के लिए पिता को अपराधी मानते थे । भटकाव, संस्कृत-प्राकृत-पाली की शिक्षा, बौद्ध भिक्षु हो जाना और इन सबके बावजूद (या इन सबके कारण ही) सन् 41 में अपने मित्र की नन्हीं-सी गूँगी लड़की "जया" पर ऐसी कविता लिखना -- "वह बोल नहीं सकती / लेकिन उसकी भी अपनी भाषा है / काफी है सूझ-बूझ उसमें, सुख है, दुःख है, अभिलाषा है / x x x बन सकती है वह चित्रकार / लेख सकती है वह नाच सीख / जिससे न किसी पर पड़े भार ? जिससे न माँगनी पड़े भीख / लेकिन यह तो बस सपना है / चलता भी कुछ बस अपना है ?"[123]

संभव है कि यह अपने दारुण "प्रदत्त" परिवार और बचपन के प्रति एक प्रतिक्रिया हो । किंतु कितनी सृजनात्मक प्रतिक्रिया नागार्जुन का अपने विशिष्ट सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध एक नितांत नये प्रस्थान-बिंदु से शुरू हुआ था । "नागार्जुन का कवि हृदय पहले से ही ऐसे चरित्रों को लेकर व्यस्त रहा है । दुःख अभाव या पीड़ा की छाया जहाँ है, वहाँ उनकी कविता बिना बुलाये पहुँच जाती है ।[124] क्योंकि "नागार्जुन की कविता जिस मूल स्रोत से निकली है, उसमें जाये तो वहाँ तरंग होती है, पानी होता है, फेन होता है, गर्जन होता है, गर्जन-तर्जन, पछाड़ दहाड़, कहीं झरने का झरझर, कहीं सोने कल कल होती है वहाँ ।[125] रघुवीर सहाय ने इस कथन के उदाहरण

---

123. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह -पृ. 28 पर उद्धृत
124. - वही -
125. आलोचना 56-57, जनवरी-जून, 81
रघुवीर सहाय के लेख - पृ. 241

में नागार्जुन की सन 39 की एक कविता उद्धृत की है । "प्रणाम" शीर्षक से विशाल भारत के मई 39 अंक में छपी यह कविता उन चरित्रों के प्रति आदर व्यक्त करती है, जो तमाम इच्छाओं, संकल्पों, संघर्षों और साहस के बाद भी असफल और अनजाने रह जाते हैं। उस कविता के छपने के चालीस वर्ष बाद भी नागार्जुन यही कहते हैं -- "आपको हंसी तो नहीं आयेगी यदि मैं यह बतलाऊं कि अपने खेतों में अधिकतम आलू उपजानेवाले उस किसान के प्रति भी मैं अपना यह मस्तक उसी प्रकार झुका देता हूं जिस प्रकार वराह तिहिर और आर्कमिदीज, चरक और सुश्रुत के आगे झुका दिया करता हूं ? अपनी बगिया में सर्वोत्तम आम पैदा करनेवाले उस किसान के प्रति भी मैं अपनी आंतरिक श्रद्धा निवेदन करता हूं .....।"[126]

प्रस्तुत विवेचन के प्रसंग में यह कह देना आवश्यक है कि यों नागार्जुन सन् 35 से ही हिन्दी में प्रकाशित होते रहे हैं किंतु उनका पहला संग्रह "युगधारा" सन् 52 में प्रकाशित हुआ था अतः हमारे द्वारा शोध-सुविधा की दृष्टि से किये गये कालखण्ड के अनुसार उनका विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा । यहां हम उनकी वाम कविता के सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध के उस चरित्र की ओर संकेत भर करना चाहते हैं जो शमशेर, त्रिलोचन, केदार से एक विशिष्ट कोटि का अंतर रखता है । उस अंतर का स्वरूप है -- "विषय" के साथ एकमेक हो जाना ।" उनकी एक प्रसिद्ध कविता का अंश है --

"कालिदास सच-सच बतलाना
इंदुमति के मृत्यु शोक से
अज रोया या तुम रोये थे ?"

---

126. नागार्जुन का रचना संसार - विजयबहादुर सिंह - पृ. 12।

"कालिदास रोये थे या नहीं, यह हम नहीं जानते । लेकिन अपने "अजों" की ऐवज में नागार्जुन न सिर्फ रोते हैं बल्कि हंसने, व्यंग्य करते हुए, क्रुद्ध होते और दुखी-सुखी होते हैं ।"[127] "विषय-वस्तु के साथ यह भावनात्मक एकता निस्संदेह अपना इतिहास भूगोल रखती है । उनकी कविताओं में, सभी जगह एक हाड़-मांस का इंसान अपनी सजल आंखों से पाठक को ताकता मिलेगा । "इसके कारण की खोज में यदि जायें तो उनका जीवन ही कारण प्रतीत होगा । "प्रदत्त" और उसके प्रति प्रतिरोध में । समग्रत: / "वे बुनियादी रूप से घुमक्कड हैं । उन्हें बचपन में स्नेह नहीं मिला । शायद यही स्नेहाभाव उस घुमक्कडी का आधार बना । घुमक्कड किसी भी वस्तु, व्यक्ति या घटना से जुड़ता भी बहुत जल्द है और अलग भी उतनी ही जल्द हो जाता है । एक असहज अचम्भा, आत्मीयता, ऊब और समझदारी····· घुमक्कड के चरित्र की विशेषताएं होती हैं । किसी भी रचनाकार पर यह घुमक्कडी दो तरह के असर छोड़ती है । एक तो यह कि वह हर चीज़ पर एक उड़ताऊ नजर डाले और चलता-फिरता नजर आये । हमेशा "चलो, अब यहां से भी चले" भाव और सनातन ऊब का शिकार । दूसरा यह कि वह अतिरिक्त संवेदनशीलता से ग्रस्त हो जाये । जिस वस्तु या घटना या व्यक्ति पर लिखने बैठे, उसके प्रति घनघोर रूप से मोह-ग्रस्त हो जाये । कम से कम उन पलों में तो ।

x x x नागार्जुन की घुमक्कडी ने यह दूसरी तरह का असर ही उन पर छोड़ा है ।"[128]

---

127. "तीसरा सप्तक" सं० अशोक वाजपेयी "वेणुगोपाल का लेख" पद्धर की भूमिका - पृ० 112

128. - वही - पृ० 113-114 - ~~129~~-114

यह सब सच हो सकता है किंतु यह कह देना -- "अपनी गहरी विचार-दृष्टि से पाठक-श्रोता को विचलित कर दें, ऐसी एक भी कविता नागार्जुन ने लिखी हो, याद नहीं पड़ता ।[128] इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि या तो "याद" कमजोर है या फिर विचार दृष्टि को समूचे "सौंदर्यबोधात्मक" से अलग-थलग करके देखने की सलाह दी जा रही है । यदि "वैचारिक धरातल" देने की कोशिश से या ऐसी कविताई परिणति से पाठक श्रोता विचलित होते हैं तो उन्हें नागार्जुन की कविताओं की ओर नहीं, बल्कि उस काल के किसी भी ऐसे कवि की ओर देखना चाहिए जो ऐसी कोशिशों को ही "कविता" के नाम पर प्रस्तुत कर रहे थे ।

प्रस्तुत शोध में हमने शमशेर, त्रिलोचन और केदार की निराला-संबद्धता के अलग-अलग रूप देखे थे । शमशेर ने निराला की सांस = सौंदर्य को अपने हृदय में भरा, त्रिलोचन ने उनकी दृष्टि ली और केदार ने उनकी कलात्मकता से अपने को जोड़ा । किंतु नागार्जुन समग्र निराला (उनके अनुभव, उनकी चिंताएं) की अगली गढ़ी है "निराला और नागार्जुन अपने अनुभवों में कितने निकट हैं और अपनी चिंताओं में कितने आस-पास, कहने की जरूरत नहीं रह जाती । निराला नागार्जुन की पार्टी के सदस्य नहीं है किन्तु उनकी पीड़ा का कारण राजनीतिक और आर्थिक है । निराला प्रहार की गाली का इस्तेमाल बहुत कम करते हैं, लगभग नहीं के बराबर नागार्जुन इसमें सिद्धहस्त हैं । उनकी कविता अपनी गालियों का निर्माण भी कर लेती है ।"[130] विजयबहादुर सिंह ने नागार्जुन के साथ पर्याप्त समय

---

129. 114.

130. नागार्जुन का रचना संसार - विजयबहादुर सिंह - पृ. 46

बिताया है । वे उन्हीं से वार्तालाप के आधार पर लिखते हैं -- "नागार्जुन निराला को अपना काव्य गुरु मानते हैं ।131 वे शमशेर केदार, त्रिलोचन से इस अर्थ में भी भिन्न है कि उन्होंने निराला से "नियमों" की चेतना के "तोड़-परेड" को भी लिया है । जब कि ये उपर्युक्त कवि संस्कारवान हैं और जीवन तथा कविता में ऐसे ही बने रहना चाहते हैं । मर्यादाओं में बंधे और तार्किक परिनिष्ठता के अनुयायी बने रहकर जब शमशेर त्रिलोचन-केदार सेल केब पूरे नियमों को मानते हुए अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का चरित्र निश्चित करते हैं, तब ऐसे सारे नियमों को अपने ढंग से तहस-नहस करते या उनके परे जाते हुए नागार्जुन स्वीकार करते हैं -- "कि वे तो अब औघड़ नागार्जुन हैं और इसलिए उन्हें सुनने, कहने, गाली देने तथा चिढ़ने-चिढ़ाने की पूरी छूट मिल गयी है ।132

प्रस्तुत विवेचन में हमने बल देकर लिखा है कि हिंदी वाम कविता का विकास एक प्रक्रिया है । सन् 1857 से 1936 के बीच में "जूही की कली" के साथ प्रवेश करनेवाले निराला ने ही प्रदत्त के प्रति प्रतिरोधात्मक रवैये से पहली बार "वाम कविता" को संभव किया । नये पत्ते और बेला में वे जहां पहुंचे, वहां से आगे नागार्जुन को ही देखा जा सकता है । निराला का प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध, उनकी जीवनी के कारण उन्हें हर स्तर पर तोड़ता चला गया नागार्जुन ने अपनी जीवन की दुर्घटनाओं के साथ ऐसा सृजनात्मक सरोकार रखा कि "अवसाद" और "अकेलापन" आ ही नहीं पाया । ध्यान रहे कि

---

131. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिं - पृ. 68
132. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह - पृ. 72

निराला की तरह ही नागार्जुन की मां का देहांत भी हो गया, जब वे तीन-चार वर्ष के रहे होंगे । बचपन के नाम पर मात्र एक शब्द "वितृष्णा " वितृष्णा - उस का बचपन इस एक शब्द को समेटा जा सकता है ।[133]

नागार्जुन काव्य के पाठक प्रकृति सौंदर्य आदि से परिचित है किंतु उनके बचपन में यह सब कुछ नहीं था । मात्र थी -- वितृष्णा -- "ठक्कन (न गार्जुन) का बचपन ठुकराये जाने की यादों से भरा है । " x x x शायद ही किसी कवि की स्मृति में अपने गांव की इतनी गैर-रूमानी छवि हो, जितनी नागार्जुन के मन में है ।"[134]

ऐसा बचपन, ऐसा परिवार (पिता पर क्रोध, मां का अभाव) और शिक्षा ठेठ संस्कृत धर्मार्थ पाठशालाओं वाली । कविता, पांच रुपये इनाम जीतने की साधना और फिर जीवनी के नाम पर लगातार घुमक्कड़ी । परिवार, बचपन को हजारों-हजार ग्रंथियां देनी चाहिए थी -- ऐसी भी ढूंढे नहीं मिलती । घनघोर घुमक्कड़ी और वात्सल्य ऐसा कि "घर लौटकर पहले पुत्र शोभाकांत को देखा तो लिखा --

"तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान
मृतक में भी डाल देगी जान
धूलि-धूसर तुम्हारे ये गात ...
छोड़कर तालाब, मेरी झोपड़ी में खिल रहे जलजात ।

---

133. आलोचना - जनवरी-जून, 81 पृ. 9

134. आलोचना - 56-58 जन.-जून-81, मनोहर श्याम जोशी द्वारा साक्षात्कार - पृ. 217

यदि तुम्हारी माँ न माध्यम बनी होती आज
मैं न रक्ता देख
मैं न पाता जान
तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान ।
धन्य तुम, माँ भी तुम्हारा धन्य ।
चिर प्रवासी मैं इतर, मैं अन्य ।

x x x x

देखते तुम इधर कन सीमार
और होती जबकि आँखें चार
तब तुम्हारी दंतुरित मुस्कान
मुझे लगती बड़ी ही छविमन ।"[135]

हमने "परिवार" और "बचपन" के बारे में विस्तार से अन्यत्र लिखा है । जिस प्रकार त्रिलोचन की कविता की सहजता उसके सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को समझने के लिए एक चुनौती उपस्थित करती है और हमें उसमें मिलनेवाली आस्था के जरिए मालूम करना पड़ता है कि यह कोरी आस्था जब नहीं है तो अवश्य ही संघर्ष जनित आस्था होगी अर्थात् संघर्ष होगा ।

चार वर्ष की उम्र में माँ की मृत्यु और बचपन वितृष्णा और ठुकराये जाने की यादों से भरा । तो क्या "अलगाव" "अकेलापन और अवसाद फिर भी नहीं ? यह कैसे संभव है ?

---

135. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह - पृ. 29 पर उद्धृत ।

"चिंता" और "आशा" के बारे में हमारे द्वारा उद्धृत ब्लारु के विवेचन की याद करें तो संभवत: कुछ सहायता मिले । "बाबा के आसपास, उनके भीतर मौसम की वीरानी नहीं । उनकी आँखें भरपूर फसलें देखने की आदी हैं । वही नजारा उनका अपना भी । हरियाली सब्जे और सदाबहार गर्मजोशी ।"[136] हशमत उर्फ कृष्णा सोबती ने अपने साक्षात्कार में नागार्जुन की "जन्मजात सतर्कता और चौकन्नापन" की ओर भी संकेत किया है ।[137]

निराला के बचपन में "नियमों की चेतना" को पूरी तरह से विकसने का अवसर नहीं था । नागार्जुन के भी नहीं था । निराला की जीवनी में "मृत्यु" -- सभी दुर्घटनाएं बाद में भी घटती रहीं । मनोहरादेवी की मृत्यु, सरोज की मृत्यु । और उन्होंने "संस्थापरक - चेतना" प्राप्त नहीं की । नागार्जुन के साथ इस प्रकार की दुर्घटनाएं नहीं घटी किंतु वे संभवत: अपनी जन्मजात सतर्कता और चौकन्नेपन के कारण मनमौजी हो गये और इस प्रकार संस्थाओं से । परिवार, घर गाँव । संबंध न तोड़ने के बाद भी उस संस्थापरक चेतना
से बचे रहे, जो संस्थाओं के बीच में ही चलनेवाले व्यक्तित्व में पनपती है ।[138] और उसे पालतू या प्रति-विद्रोही बनाती है ।

---

136. आलोचना 56-57, जन-जून 81. पृ. 12

137. - वही - पृ. 229

138. एग्गर (Agger) ने इस संस्थापरक चेतना (institutional consciousness) को उन व्यक्तियों में देखा है जो पूरी तरह से विशेषीकृत और विभाजित सम्प्रेषणीय वातावरण (specialized and compartmentalized communicative environment) से निर्धारित होते हैं । यह सर्वाधिक छद्म चेतना होती है । वे लोग, जिनकी पहचान और "परिभाषा" दोनों ही सामाजिक संस्थाओं द्वारा गढ़ी जाती है ।" - Telos 38. P. 208.

परिवार का विवेचन करते हुए हमने अंतरिकीकृत "परिवार" की चर्चा की थी । "परिवार" ही परिवार के बारे में चेतना को निर्धारित करता है । सहज रूप से होना तो यह चाहिए था कि "वितृष्णा" ही पुनरुत्थादित हो । किंतु नागार्जुन ने उसके साथ या उसके प्रति ऐसा सृजनात्मक प्रतिरोध किया कि उसको "तृष्णा" में बदल दिया । -- "संदर्भ कोई भी हो, मर्यादा वह नहीं जो आप पर लागू है, मर्यादा असल में वह है, जो अपनी सोच और आजादी के बल पर आपने स्वयं अपने ऊपर लागू की है ।" -- यह कथन नागार्जुन का है और उनके सृजनात्मक प्रतिरोध का उत्स संकेत होता है -- "अगर इस बिरादरी से समझौता ही कर लेना हो तो अपने लिए एक नयी राह न गढ़ता ।"[139]

अलगाव का विलोम लगाव है । अकेलेपन का दुकेलापन अवसाद या विषाद का आनंद और उल्लास । नागार्जुन के प्रतिरोध का चरित्र यह है कि अलगाव को लगाव से काटो । अकेलेपन को दुकेलेपन से । अवसाद को आनंद से । इसमें कहीं कोई समझौता नहीं ।

प्रश्न फिर अस्तित्व संघर्ष का है । आर॰डी॰लैंग के चिकित्सालय का रोगी अपने को नेपोलियन समझते समझते नोपोलियन हो गया था । इसकी चर्चा की जा चुकी है। वैद्यनाथ मिसिर उर्फ ढक्कन का अवसाद, अकेलापन, दुख सबका सब वैदेह, यात्री और नागार्जुन तक आते आते रूपांतरित हो गया । स्वयमेव नहीं । सायास किया गया । यदि कोई जीवन ऐसा हो कि जिसे पूरा-पूरा "व्यवहार" का पर्याय समझा जाय तो वह जीवन नागार्जुन का होगा ।

139॰ आलोचना - 56-57, जन-जून, 81 पृ॰ 229 और 232॰

बहुत ही जबर्दस्त प्रतिरोधात्मक शक्ति है । नागार्जुन में सौंधा बोधात्मकता के स्तर पर भी । कुछ की ओर हम विवेचनपरक संकेत कर सकते हैं ।

प्रारंभ चेतना से करें । हमारे पूर्व- विवेचन की साक्षी में हम कह सकते हैं कि "बोध" सामाजिक-बोध है, संबंध बोध है और मैं-बोध पश्चातवर्ती सारे बोधों का आधार होता है । सौंदर्यबोध का भी ।

अब एक-एक बात ली जाय । नागार्जुन पिता के प्रति प्रतिहिंसा की भावना रखते थे क्योंकि "इन्होंने हमारी माँ को परेशान किया, हम इन्हें करेंगे ।" x x x आप इसीलिए गाँव से भागे ? हाँ ! " x x x ढक्कन को लगता है कि उसे अपनी माँ का पिता द्वारा निरंतर अपमान किये जाने की स्मृति है" x x x "कितृष्णा होती थी हमको, समझ गये ना ? चाची हमारी माता के लिए दो पैसों की दवा नहीं करने देती थी । हमको बराबर लगा कि पिता चाची के इशारों पर माता की उपेक्षा करते हैं ।"[140]

विस्तार में न जायें तो भी यह निश्चित है कि नागार्जुन की स्मृति में माता का चित्र "दुखिया" सार्द और पिता का "दुख देनेवाले का ।" नागार्जुन माँ के पक्ष में हैं और इसलिए पिता के प्रतिहिंसा की बात सोचते हैं । यह सब "प्रदत्त" है । नागार्जुन का चुनाव नहीं । किंतु नागार्जुन इस प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध करते

---

140. आलोचना 56-57, मनोहर श्याम जोशी के द्वारा लिया गया साक्षात्कार ।

हैं और "धरती" तथा किसानों, पीड़ितों, शोषितों अर्थात् जन के पक्षधर हो जाते हैं। स्मृति से माता का चित्र कभी नहीं टूटता। स्मृति और वह भी अवसादपूर्ण, नागार्जुन के लिए अवरोधात्मक अथवा प्रतिरोधात्मक बनाने वाली शक्ति भी हो सकती थी। नागार्जुन ने इस "प्रदत्त" असुंदर के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध किया। विस्तार ही सौंदर्य का लक्षण है और नागार्जुन के "बचपन" का "अवसाद, जो मनोग्रस्ति या कुण्ठा बन सकता था, उनका "लोक धर्म" बन गया "वर्ग" को हमने जन्म जात नहीं माना था। वह सीखा जाता है। दुखिया माँ और फिर लोक के बीच में उन्होंने जो वर्ग-चेतना प्राप्त की, वह सामंती ब्राह्मण-परिवार द्वारा प्रदत्त न होकर उनके द्वारा अपनाये गये परिवार "लोक" और उसके धर्म के आधार पर ही गतिशील हो सकती थी।

उन्होंने "संस्कृत" में कविता लिखने से प्रारंभ किया। निश्चित ही संस्कृत-काव्य कालिकी चरित्र का होता है। अर्थात् तथाकथित कालातीत" अथवा शाश्वत" होने के गुणों से परम्पर। नागार्जुन में इसके प्रति भी प्रतिरोध मिलता है और वे हिंदी के अकेले ऐसे कवि हो जाते हैं, जिन्होंने सर्वाधिक "तात्कालिक" या सामयिक घटनाओं पर कविताएं लिखी। संस्कृत काव्य से उन्होंने वर्जन लिया और फिर उसे अपने ढंग से प्रयोग किया। यह प्रदत्त शिक्षा के प्रति प्रतिरोध था। सन् 30 के बाद पश्चिम का सांस्कृतिक दबाव बढ़ रहा था। कविता में नयेपन, प्रयोगों की और अत्यधिक ध्यान और गुण-दृष्टि का बोलबाला हो रहा था। इसके प्रति प्रतिरोध कि नागार्जुन ने किसी विदेशी आंदोलन या कवि से प्रमाण नहीं लिया। तारसप्तक में अपने का बुलावा आया तो केदार

और त्रिलोचन के साथ मिलकर दो टूक इंकार कर दिया । यह स्पष्टत: उभरते आधुनिकतावादी आंदोलनों के प्रति ही प्रतिरोध था ।[14]

कविताओं की केन्द्रीय विषय-वस्तु "गांव बन रहा था । गांव की सुंदरता का वायवीय वर्णन-चित्रण आदि की भरमार थी । नागार्जुन ने इस के प्रति भी प्रतिरोध किया । उनके लिए गांव एक ठोस वास्तविकता थी । "प्रदत्त" स्थितियों का तकाजा तो यह था कि नागार्जुन गांव को याद करें नास्टेजिक अर्थात् लिखें और फिर उसकी प्रशंसा में कुलाबें भिड़ायें । इसके विपरीत नागार्जुन में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता ठोस गांव, उसकी ठोस कृषक-केन्द्रित जीवन-चर्या, उस जीवन-चर्या की समस्याएं आदि । तो यह भी नागार्जुन का एक ओर अपने "गांव" की स्मृति और दूसरी ओर तत्कालीन "कविताई गांवों" के प्रति प्रतिरोध था ।

सामान्य को विशेष करने की प्रवृत्ति उन दिनों बहुतयात से मिलती थी । नागार्जुन की कविताएं इसके प्रति भी प्रतिरोध करती है । इसी प्रकार "कविता" के लिए उदार से उदार दृष्टि के बावजूद, कुछ निषिद्ध विषय थे -- उन निषिद्ध विषयों पर ढेरों-ढेर कविताएं लिखी जा रही थी और नागार्जुन ने इस प्रवृत्ति के प्रति भी प्रतिरोध या कहें कि ठेठ सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध किया और उनकी कविताओं में विषयों की विविधता अपने आपमें शोध का विषय हो सकती है ।

---

14. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी - पृ. 217

निष्कर्ष रूप में कहें तो सौंदर्य बोधात्मक स्तर पर नागार्जुन ने अपनी जीवनी, कविता और उनसे जुड़े प्रत्येक प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध किया और उनका व्यक्तित्व उस प्रतिरोध में "विजय" प्राप्त होने की उद्घोषणा है ।

पिता के प्रति प्रतिहिंसा में गाँव से निकल जाने और फिर भी जुड़े रहने, संस्कृत-प्राकृत की क्लासिकी परम्परा को आत्मसात करने और फिर भी तात्कालिक कविताएँ लिखने, पारम्परिक छंद लिखने और उनमें आधुनिक भावों को लाने आदि में कई सारे अंतर्विरोध होंगे । नागार्जुन को इसकी परवा नहीं है । विष्णु खरे ने इस प्रसंग में वाल्ट व्हिटमेन को उद्धृत किया है ।[142]

वाम सौंदर्यशास्त्र को नागार्जुनके काव्य की कसौटी के लिए अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में "जन" जोड़ना ही होगा । ठीक तो यह होगा कि नागार्जुन काव्य के संदर्भ में जन और सौंदर्यबोधात्मक को अलग किया ही न जाय । जो एकदम निजी रचनाएँ प्रतीत होती है, उसमें भी "मैं" कोई विशिष्ट कोटि की ओर संकेत करनेवाला सर्वनाम नहीं है । वह सामान्य जन का सामान्य "मैं" ही है ।

---

142. आलोचना 56-57, जन. - जून,81 पृ. 21

विष्णु चंद्र शर्मा ने नागार्जुन पर लिखी एक कविता में उन्हें इस तरह पहचानवया है -- "अक्सर मैं बाबा को शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का पांच दरवाजा / खोले सहस्रनेत्र भारत वर्ष कहता हूं ।"[143]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में नागार्जुन का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि वे वर्ग, चेतना और व्यक्तित्व के रूपांतरण की एक जीवित मिसाल आप हैं । उनकी अच्छी बुरी, सपल-असपल कविताओं से एक विराट परिदृश्य की रचना होती है । सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध को जन के पक्ष में अर्थात् जन-संघर्ष के अंतर्गत लाकर वे अपनी मामूली से मामूली दिखनेवाली कविता से भी सौंदर्यबोधात्मकता प्रतिरोध का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं ।

हमने लिखा है कि सन् 35 में निराला व्यंग्य की ओर झुक गये थे । नागार्जुन में व्यंग्य आरंभ से ही मिलता है ।

छायावादी कवियों को लक्ष्य करके लिखी गयी एक कविता में व्यंग्य का यह तीखा सौंदर्य देखा जा सकता है ।

"गमन मराल का, चित्तवन चकोर की / कुहासा-सी भाषा सांझ की न भोर की / कलित कलकंठ, विकल वेदनामय गाना / पौरुष नदारद, स्त्रैण सवा सोलह आना / मृदु मसृण विधु वदनी छवि है / ढलते दिनमान का छायावादी कवि है ।"[144]

---

143. कवि - जुलाई-अगस्त, 78 पृ. 20

144. युगधारा - नागार्जुन, पृ. 28.

तत्सम शब्दों के सुपुट के साथ ऐसा प्रयोग, जिसमें "स्त्रेण" के सार्थ सवा सोलह आना मुहावरा रख देना और सामान्य दिखनेवाले इस रचना में छायावादी कविता के बारे में लागू हो सकने वाले लगभग सारे आक्षेपों का कविता बद्ध कर लेना नागार्जुन के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की एक झलक दिखाता है ।

देश को राजनीतिक आजादी मिलने के तुरंत बाद ही नागार्जुन ने लिखा --

"रामराज में अब की रावण नंगा होकर नाचा है ।
सूरत शक्ल वही है भैय्या बदला केवल ढाँचा है
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों
धरती माता के गालों पर कस कर पड़ा तमाचा है ।"[145]

नागार्जुन की इन कविताओं का सामाजिक चरित्र इसके मौखिक-धर्मी शिल्प के कारण अधिक व्यापक है। प्रभावशाली है । प्रभाव को हमने सौंदर्य कहा है । लिखित" के शहरी चरित्र के सम्मुख यह मौखिक का ग्रामीण चरित्र खड़ा है और नागार्जुन ने चौथे दशक से ही मौखिक परम्परा की कविताएं लिखकर शहर के पूंजीवादी साहित्यिक उत्पादन तंत्र को से जो घात प्रतिघात का संबंध कायम किया, वह वाम सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण आचरण है । इस आचरण की महत्ता को हम अगले विवेचनों में ही रेखांकित कर सकेंगे, जब साहित्यिक उत्पादन के तरीकों में, सामान्य उत्पादन के तरीकों की जटिलता के अनुपात से ही जटिलता आ गयी थी ।

---

145. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह - पृ. 34 पर उद्धृत ।

वाम सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का जो प्रतिमान हमने देखा है, व्यापक तौर पर शमशेर - त्रिलोचन - केदार नागार्जुन के काव्य को उसके संदर्भ में देखने के बाद उस काल के अन्य दर्जनों कवियों का अलग से विवेचन करना यहाँ अनावश्यक होगा । निश्चित है कि यह प्रतिरोध जीवन-समर्थक और द्वंद्वात्मक होने की शर्त को अपने में समाहित किये हुए है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी उद्देश्य विशेष के लिए रचा गया साहित्य उसी की अपेक्षा में देखा जाना चाहिए । शील, करण, शंकर शैलेन्द्र रामविलास शर्मा की अग्निया बेताल तथा निरंजन नामों से लिखी गयी कविताएँ एक आंदोलन विशेष या संगठन विशेष के लिए लिखी जानेवाली मौखिक चरित्र से युक्त कविताएँ हैं । उनका महत्व हम स्वीकार करते हैं । किंतु वह "विचारों" के प्रसार-प्रचार का तात्कालिक लक्ष्य रखने के कारण सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को राजनीति में घटा देना है । यह ऐसी कही मानी जानेवाली हर रचना पर लागू नहीं होता । शील के नाम से चिहुंकनेवाले मार्क्सवादी गैर मार्क्सवादी समीक्षक आलोचक सन् 34 की उनकी इस कविता को क्या कहेंगे --

"मुझको रोटी तुमको तिनका
है आधार यही जीवन का
चलो पेट भर लें चल करके दुखिया बैल - टूटेल
तक तक तक बैल।"[146]

---

146. लावा और फूल - शील - पृ. 168

इसी प्रकार --

"पानी सा प्रिय, स्वच्छ आग सी
निर्मल क्रांति पर्व सी पावन
हंसती हुई कृषक बाला सी
उगते खेतों की मनभावन
खिली हुई कली-सी पुलकित
उड़ते हुए भ्रमर-सी चंचल ।"147

शील के बारे में यह जानना आवश्यक है कि वे "अदत्त" के नाम पर घोर अभाव-ग्रस्त, निर्धन किसान परिवार और शिक्षा "संस्कृत और हिंदी" के सामान्य ज्ञान तक ही पा सके थे । सामाजिक स्थिति ही चेतना को निर्धारित करती है और "वर्ग" सीखा जाता है । शील ने बचपन में -- "पीड़ित किसान और उसके भरियल बैलों को देखकर तथा दूसरी ओर जमींदारों की हवेली में होनेवाली रासरंग को देखकर और साथ ही जमींदार के लठैत और कारिंदों को लगान वसूली के नाम पर निर्धन असहाय किसानों के घर का सारा सामान कुर्क करते और उसे मुर्गा बनाकर पीठ पर मनों का बोझ लादकर डंडे मारते देखकर -- शील का कोमल हृदय प्रतिहिंसा और विद्रोह की भावना से जल उठता ।"148

ऐसे में "लिखित "साहित्य की परम्परा से जुड़ना कितना कठिन था । फिर वे पहले एक राजनैतिक कार्यकर्ता थे ।

---

147. उदय पथ - शील - पृ. 42

148. ललित मोहन अवस्थी का उद्धरण । हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना में से उद्धृत ।

गोलियां चलते देखी है स्वयं लाठियों से आहत हुए हैं और जेल यात्राएं की हैं। हमने साहित्यिक उत्पादन के तरीकों = सहित उत के विवेचन के समय पूंजीवादी-तंत्र के अंतर्गत साहित्य उत्पादन उपभोग से खदेड दिये जानेवाले उन लोगों की चर्चा की थी, जिनके पास साहित्य उपभोग की जरूरी शर्तों में से एक भी नहीं होती। न अवकाश न आर्थिक स्रोत, न एकांत और रोशनी से युक्त घर और न शारीरिक - मानसिक- बौद्धिक स्वास्थ्य उन उपभोग से वंचित कर दिये गये बहु-संख्यक वर्ग के लिए जीवन समर्थन और आस्था-विश्वास, संघर्ष आदि का साहित्य लिखनेवाले 'शील' और उनके अन्य साथियों के लिए, वाम-सौंदर्यशास्त्र में विरोध नहीं हो सकता कहना मात्र यह है कि एक सही कोण वहां भी, उत्पादन-उपभोग की उस नुकीली स्थिति में भी, एक सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध हो सकती है। शमशेर, नागार्जुन और केदारने इसे कुछके रचनाओं में संभव किया है। शील और उनके जैसे लिखनेवालों कवि अपने प्रतिरोध को सौंदर्यबोधात्मक प्राय: नहीं बना सके। वह मानसिक बौद्धिक होकर रह गया। यह एक रचनाकार के लिए रचना के लिए असफलता की स्थिति।

राम विलास शर्मा के साथ ऐसा नहीं है। एक तो स्वयं उन्होंने अंगिया बेताल और "निरंजन" नाम रखकर लिखे गये साहित्य को "राम विलास शर्मा" से कभी नहीं जोड़ा और दूसरे वे उन रचनाओं में भी अपनी सारी तात्कालिकता के बावजूद "विषय" से एक तरफा सृजनात्मक अथवा अंत-र्द्वंद्वात्मक व्यवहार नहीं रखते थे। कुछ रचनाएं तो अपने "प्रयोग" अथवा सृजनात्मक प्रतिरोध के कारण सौंदर्यबोधात्मक सम्पन्नता आपसकी है।

विषय कोई "सर पदमत" है जो शक्तिमान पूंजीपति है ।
कविता है --

"खुली है थैली आओजी, नया तुम संघ बनाओ जी ।
मज़दूरों की सभा में रहना है बेकार ।
पुलिस और सरकार का सहो न अत्याचार ।
नया ही पंथ चला ओ जी ।"[149]

द्रष्टव्य है कि लोक-गीत की अत्यधिक प्रचलित शैली और व्यंग्य की धार उस "विषय" को पूंजीपतियों के प्रतीक में पदोन्नत कर रहे हैं । उनकी कुण्डलियां भी अपने उद्देश्य और विषय के साथ सौंदर्यबोधात्मक सरोकार रखने की यथोचित चेष्टा करती है ।

सन् 1938 में लिखित "सिलहार" कविता में तो वे "एक विलक्षण संवेदनात्मक आवृत्ति के साथ संबद्ध देश और काल से जुड़ते हैं :--

"परी हुई कटाई जब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुचा हुई
दोनो भरी पकी बालों वाले बढ़े
पूलों पर पूलों के लगे आरंभ है ।
x x x x

---

149. हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना -
जगेश्वर वर्मा - पृ. 422 पद उद्धृत ।

पटे अंगोछों में बच्चे असाय थे
ध्यान लगा लीला चमार है बीनते
खेत कटाई की मज़दूरी, इन्हीं ने
जोता-बोया, सींचा भी था खेत को ।"[150]

केदारनाथ सिंह ने इस कविता में व्यक्त सौंदर्य और यथार्थ की टकराहट का विवेचन इन शब्दों में किया है --

उपर की पंक्तियों में कटाई के ठीक बाद खेत का जो भरापूरा सौंदर्य होताहै, उसका वर्णन किया गया है । पर अंत तक आते-आते यह सारा सौंदर्य एक तिलमिला देनेवाली विडम्बना में बदल जाता है । -- यह कि जिन्होंने "जोता-बोया-सींचा" था उनकी मजदूरी है, कटाई के बाद खेत में बिखरे हुए दाने, जिन्हें वे बीन रहे हैं । यहां कला की दृष्टि से जो बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह यह कि इस पूरे वर्णन में कवि आभास यही दे रहा है कि वह अपनी ओर से जो जैसा है, उसको वैसा का वैसा रख देने के सिवाय कुछ नहीं कर रहा है । पर सचाई यह है कि वह बहुत महीन ढंग से धीरे-धीरे पाठक को एक खास बिंदु तक ले जाना चाहता है और इस तरह गहरे स्तर पर उसकी बंधी हुई सौंदर्यचेतना को विचलित या आंदोलित करना चाहता है ।[151]

रामविलास शर्मा की अधिकांश कविताओं में हम यह कला, अलग-अलग तरह से पाते हैं । उपर्युक्त "सिलहार" कविता

---

150. हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - जनेश्वर वर्मा पृ. 422 पर उद्धृत ।

151. आलोचना 56-57, जनवरी-जून, पृ. 131

"तार सप्तक" में संग्रहित है । "तार सप्तक" का नाम लिखते ही वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह इसके बारे में भी, भले ही संक्षिप्त में, विचार रखें । सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की दृष्टि से हमने अब तक जो कुछ भी कहा है, अगर तार सप्तक बाद की काव्य प्रवृत्तियों को न्यूनाधिक रूप से प्रभावित करने में सफल हुआ था तो क्या सन् 1943 में उसका प्रकाशित होना हमारे विवेचन के विरोध में जाता है ?

इस विषय पर कुछ भी कहने से पूर्व यह कह दें कि हमारे अद्यतन विवेचन की साक्षी में यह संभव ही नहीं है । सहसा या एकाएक कुछ नहीं होता । चौथे दशक में ही केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, नागार्जुन, नरेन्द्र शर्मा आदि कवि जो काव्यात्मक आचरण कर रहे थे, उसी का विकास तारसप्तक कथा यद्यपि उसे प्रयोगात्मकता की शुरुआत कहकर ऐश्वर्यीकृत किया गया । जो जीवंत परिवेश रचनाओं ने तैयार किया था, "तार सप्तक" उसी की उपज और एक अभिव्यक्ति है ।[152]

तार सप्तक के कम से कम पाँच कवि "सामाजिक यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति को अपनाकर चले थे तथा नवीन वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टि के प्रति भी आस्थावान थे ।[153] यह आवश्यक था कि तत्कालीन परिदृश्य में "साहित्येतर" का अनुपात अधिक था तो

---

152. कविता के नये प्रतिमान - नामवरसिंह - पृ. 87-88 अपने समय की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ "तार सप्तक" में मिल सकती हैं । "तार सप्तक एक नई काव्यात्मक क्रांति का अग्रधावक नहीं, बल्कि उसकी कुछ आरंभिक प्रवृत्तियों की सामूहिक अभिव्यक्ति मात्र है ।" केदारनाथ सिंह-आलोचना जुलाई-सित. 67 पृ. 122

153. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा - पृ. 10

"तार सप्तक" "साहित्य" पर ही ध्यान टिकाये रहा । नेमिचंद जैन का विश्वास है कि "सौंदर्य का आकर्षण "पलायन" की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता । x x x सौंदर्य की अनुभूति तो जीवंतता का, जीवन की स्वीकृति एक अत्यंत महत्वपूर्ण चिह्न है । " (वक्तव्य) " व्यक्ति गत चेतना के के उपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिससे एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है और उनके साथ ही उनके प्रति विद्रोह का स्वर जगता है । "अज्ञेय का वक्तव्य (तार सप्तक के प्रथम और अंतिम कवि के इन वक्तव्यों में तार सप्तक पूरा समाहित हो जाता है ।

अज्ञेय लगातार कई दिन और कई रात गांवों में घूम घूम कर किसान मार्च का संगठित करने में उन्होंने अपने को लगा दिया था । दिल्ली में वह मिले, तो उनका गला लगातार व्याख्यान देने की वजह से भारी हो गया था । "प्रभाकर माचवे जब इंदौर और अहमदाबाद के मिल मजदूरों में कई महीने काम करता रहा, तब उसकी कविता ने सामाजिक स्वर पाया । "रामविलास जी तो निराला से संबद्ध थे । उन्होंने निराला पर अपनी अमर कविता लिखी थी, जो तार सप्तक में ही संग्रहित है । गिरिजा कुमार माथुर की "मज्झर" की भूमिका निराला ने लिखी थी । भारत भूषण अग्रवाल घोषित का पू नेमिचंद्र जैन भी मुक्तबोध को आज निराला की परंपरा में ही देखा जाता है । तो तार सप्तक निराला की परम्परा में आता है । यद्यपि "काव्य-शिल्प" के प्रति अतिरिक्त सजगत के साथ । यों भी तार सप्तक जितना अपनी कविताओं की वजह से नहीं, उतना सम्पादकीय भूमिका और कवियों के वक्तव्य से जाना जाता है ।

यह एक ऐसा सामूहिक प्रयास था, जो अपनी पूर्ववर्ती काव्य-चेतना को प्रासंगिक और सार्थक बनाता है ।[154] प्रस्तुत प्रसंग में "सामूहिक" पर हम रा बलाघात होगा । काव्य-चेतना के प्रसंग में "सामूहिक" प्रयास अपने होने में ही एक जबर्दस्त सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध लिये हुए है ।

सामान्य रूप से हम उस काल के समस्त कवियों के सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध में एक असंतुष्टि, बेचैनी और क्षोभ पाते हैं । पूरी तरह से "समर्पण" के चिह्न कम ही हैं । तार सप्तक के प्रसंग में यह कि इन सात कवियों में से राम विलास शर्मा की कविता की चर्चा हम कर चुके हैं । "परिवार" "बचपन" आदि के स्तर पर उनका "प्रदत्त" किसी प्रकार का दारुण चरित्र नहीं रखता । ठेठ किसानी वातावरण का रूप उनकी कविताओं में आया है । तार सप्तक के अन्य कवियों में अज्ञेय और मुक्तिबोध महत्वपूर्ण है । अज्ञेय को "प्रदत्त" एक संतुष्ट सुरक्षा के रूप में मिला । असुरक्षा, उत्पीड़न, दुख आदि के कारण अज्ञेय के काव्य में "सौंदर्यात्मक प्रतिरोध" का जो रूप हो सकता था, यह कल्पना की ही बात है। उस प्रदत्त सुरक्षा के प्रति जहाँ तक वे प्रतिरोध कर सकने में सफल हुए, वहाँ

---

154. तार सप्तक के कवि - कृष्णलाल - पृ. 76 " x x x निश्चित स्थान दिलवाने में सातों के वक्तव्य तथा स्वयं सम्पादक की संपादकीय भूमिका का हाथ निश्चित ही अधिक रहा है । "वस्तुतः 47 से पूर्व यथार्थ और समाजवाद के प्रति आकर्षण एक सामूहिक भावना थी । "प्रयोग" प्रयोगवाद और तार सप्तक का सम्बंध बाद में जोड़ा गया है । - नयी कविता और अस्तित्ववाद -- रामविलास शर्मा - पृ. 28

तक वे राजनीतिक वर्तमान के प्रति भी सक्रिय हस्तक्षेप करते दिखायी दिये थे किंतु बाद में उनका प्रतिरोध मात्र कलात्मक होकर रह गया। सुरक्षित कलात्मकता एक अभिजात वस्तु रक्षात्मक के प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध करने में वे एक नयी अभिजात सुरक्षा ही तैयार कर सके -- यह या तो उस "प्रदत्त" की उस शक्ति की ओर संकेत करती है, जिससे जूझने में अंतत: अज्ञेय को "समर्पण" का रास्ता अपनाना पड़ा। अथवा उनके प्रतिरोध को व्यक्ति केन्द्रित से विस्तार की ओर न होकर संकीर्णता की ओर से होने का अभिशाप भुगतना पड़ा। जो भी हो, वाम कविता के प्रसंग में वे उस काल में युग और अपने तत्कालीन प्रतिरोध के कारण कुछ काव्य-प्रक्रियाएं ऐसी लिखने में अवश्य ही सफल हुए, जो एक सीमा तक सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध तक भी पहुंच सकी।

मुक्तिबोध की कविता के बारेमें ऐसी स्थिति नहीं है। "वह परिवार से टूटे हुए और उससे अटूट रूप से जुड़े हुए थे। x x x परिस्थितियां प्रतिकूल थी और मन ही नहीं, तन की शक्ति भी पूरी तरह साथ न देती थी।" x x x उनका आत्म संघर्ष औरों से विकट था। अंतर्विरोध हर व्यक्ति में होता है किंतु मुक्तिबोध में यह अंतर्विरोध इतना तीव्र हो गया था कि उसने विघटन का रूप ले लिया था। x x x अंतर्विरोधों को समझने, विवेक और मनोबल से उन्हें दूर करने का वह प्रयत्न बराबर करते रहे। x x x अहंकार की मात्रा उनमें निराला से कुछ ही कम थी।"[155]

---

155. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा - पृ. 23

हिन्दी वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में मुक्तिबोध का नाम पर्याप्त महत्वपूर्ण है । हमने नागार्जुन को निराला की अगली कड़ी माना है । मुक्तिबोध भी निराला से जुड़ते हैं । किस निराला से ? कैसे ? जो निराला नये-पत्ते, बेला में व्यंग्य कर सकते थे, उससे नहीं । बल्कि निराला के उस रूप से, जो राम विलास जी की निराला पर लिखी कविता का सहारा लें तो

— "पथ में रुग्ण वन्य जंतुओं का रोदन कराल ।
एकाकी पन के साथी हैं वे बल अकाल ।

x x x x

पैरों में कठिन बिवाई कटती नहीं डगर
आँखों में आँसू, दुख से खुलते नहीं अधर ।"[156]

नागार्जुन ने सारे "प्रदत्त" को, उसकी दासता को, उसकी कटुता को "अपने प्रतिरोधात्मक क्षेत्र से बाहर खदेड़ दिया । इसके लिए वे "बाहर" आ गये । अपने से बाहर । घुला दिया अपने को जन में मुक्तिबोध कभी भी बाहर नहीं आ सके । वे "दासता-प्रदत्त" के आमने-सामने रहे । पीठ तक नहीं फेरी । खुली छाती किये, खड़े रहे । कहा जा सकता है कि एक निराला ये भी थे :—

"लेकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर

x x x x

---

156. तार सप्तक - सं० अज्ञेय - पृ० 233

क्षीण का न छीना कभी अन्न
मैं लखन सकावे हग विपन्न

x x x x

एक साथ जब शतघात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुल तूर्ण
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप, वह रण कौशल

अथवा --

भग्न तन, स्मरणमन
जीवन विषण्ण वन
क्षीण क्षण-क्षण देह,
जीर्ण सज्जित गेह
घिर गये हैं मेघ
प्रलय के प्रवर्षण

अथवा -

निविड़ विपिन, पथ अराल
भरे हिंस्र जंतुव्या ।-157

और इस "निराला" का दास न केदार में है, न त्रिलोचन और न शमशेर में ही । नागार्जुन तो हो ही नहीं सकते । इस निराला की

---

157. राग-विराग - सं० रामविलास शर्मा -
पृ. 80, 81, 178, 174

अगली कड़ी के रूप में मुक्तिबोध ही है । कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण निराला की अगली कड़ी कोई नहीं है । व्यंग्य फक्कड़पन और मौज मजा की कविताओं का अगला चरण नागार्जुन में है तो आत्म-संघर्ष, निराशा और फिर उबरने की चेष्टाओंवाली कविताओं का अगला चरण मुक्तिबोध है । कहा जा सकता है कि निराला की अगली कड़ी जिस सीमा तक नागार्जुन है, उसी सीमा तक मुक्तिबोध भी । इस बात की ओर स्पष्ट संकेत लल्लन राय ने किया है । निराला और मुक्तिबोध की स्थिति को उनके युगों की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में देखकर वे इस मत तक पहुंचे । यों तो ऐसा कोई कवि-रचनाकार नहीं होता, जो अपने युग से, उसकी सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के बीच में रहकर भी निर्लिप्त बना रहे । निराला और मुक्तिबोध के भीतर, अपने से परे पहुंचने की एक दुर्दांत चेष्टा दीख पड़ती है । ये दोनों ही अपने युग के साहित्यिक परिदृश्य में अजनबी से रहे । "x x x निराला को समकालीनों का कोप भाजन पड़ा और मुक्तिबोध अपने समसामयिकों के बीच उपेक्षित रहे । लेकिन वास्तविकता यह थी कि समीक्षा के छायावादी मानदण्ड जिस प्रकार निराला के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुए, उसी प्रकार प्रगतिवाद और नयी कविता की समीक्षा के नव-निर्मित कटघरे में मुक्तिबोध "फिट" नहीं हो पाये ।"158

यहां लल्लन राय को वृथा अपराध-बोध का शिकार नहीं बनना चाहिए था कि वे कहीं एक कवि को दूसरे से बड़ा या छोटा तो सिद्ध नहीं कर रहे । यह तो जानी-बूझी बात है कि "दोनों अपने-अपने युग की उपज थे, दोनों की अपनी युगीन सीमाएं

---

158. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता - लल्लन राय पृ. 12

थी । "निराला के व्यक्तिवाद का स्वरूप भी स्पष्ट है, मुक्तिबोध स्पष्टत: एक विचारधारा से लैस दिखायी देते हैं । किंतु जैसा लल्लनराय ने सकलदीप सिंह को उद्धृत किया है -- "निराला की परम्परा आज की युगीन परिस्थितियों में कौन-सा रूप लेगी, इसे मुक्तिबोध के काव्य में देखा जा सकता है । [159] यों सकलदीप सिंह के कथन में सरलीकरण है । महँगू महँगा रहा, रानी और कानी आदि कविताओं का विकास किसी भी स्थिति में मुक्तिबोध में नहीं होता । वह विकास नागार्जुन में ही लक्षित किया जा सकता है । "पानिहारिन" तेल की पकौड़ी के निराला यदि आज की युगीन परिस्थितियों में होते तो नागार्जुन होने और आत्म-संघर्षपूर्ण कविताओं के निराला, मुक्तिबोध होते । यह प्रस्तुत शोध के संदर्भ में सत्य के निकट है ।

मुक्तिबोध स्वयं को निराला के कितने निकट पाते थे, इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त है कि + उन्होंने पंत और प्रसाद पर लिखा, निराला पर नहीं । महादेवी और निराला, दोनों पर ही उनकी टिप्पणियाँ मिलती है । महादेवी के प्रति नापसंदगी और निराला के प्रति पसंदगी को दर्शाते हुए । मात्र पसंदगी ही नहीं उन्हें बहुत सम्मान देते हुए "धरती" के विमोचन पर लिखा और उनकी "तटस्थ" तथा गीतात्मक भाव के बुद्धि द्वारा अनुशासित होने की प्रशंसा करते हुए इसे निराला का प्रभाव माना । पंत जी के बारे में लिखा तो पहले पहले जीवन अनुभव की सुपन्नता की दृष्टि के लिए उनका उल्लेख प्रसाद और महादेवी के साथ किया । उल्लेखनीय

---

159. मुक्तिबोध का साहित्य - विवेक और उनकी कविता
लल्लन राय पृ. 18

है कि मह देवी का उल्लेख कोष्ठक में है और "भी" के साथ । फिर प्रगतिमूलक संघर्ष और स्थिति-रक्षा के संघर्ष का अंतर बनाते हुए लिखा "स्थिति रक्षा के संघर्ष में जीवन शक्ति का अपव्यय होता है । निराला का संघर्ष स्थिति रक्षा का संघर्ष ।" फिर प्रसाद जी का उल्लेख किया कि उनका संघर्ष भी इसी प्रकार का है । अंतिम अनुच्छेद में उन्होंने प्रसाद और महादेवी को जनता के साथ न आ पाने के लिए नकारा । निराला के लिए लिखा -- "केवल निराला जी संघर्षानुभवों द्वारा आज की जनस्थिति की ओर उन्मुख हुए । "फिर पंत जी को भी ऐतिहासिक अनुभूति द्वारा जनता के साथ बताते हुए मुक्तिबोध फिर बलाघातपूर्वक कहते हैं "निराला जी के अतिरिक्त ।"[160]

यह विवेचन इसलिए कि यदि निराला को मुक्तिबोध उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त मानते थे तो उन पर क्यों नहीं लिखा ? ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध निराला को बहुत ज्यादा आदर देते थे । "धरती" की समीक्षा 1946 में प्रकाशित हुई थी और पंत जी पर लेख 1960 में । चौदह वर्षों का अंतराल किंतु आदर "प्रशंसा" में कहीं कोई अंतर नहीं । यहाँ तक कि इन दो लेखों के अलावा निराला का कहीं नाम नहीं । यह भी ध्यान देने तथ्य है कि 1960 में, पंत पर लिखे लेख में वे निराला को जीवन संघर्ष के संदर्भ में याद करते हैं । अपने 63 में लिखित आत्म वक्तव्य में वे अपने अस्तित्व संघर्ष की बात करते हैं । दोनों वाक्यों को ज़रा आमने सामने रखा जाय ।

---

160. मुक्तिबोध रचनावली - पाँच
पृ. 450 और 455

§1§ प्रगतिमूलक और प्रगतिकारक संघर्ष और होते है, स्थिति रक्षा के संघर्ष में जीवन-शक्ति का अपव्यय होता है निराला का संघर्ष स्थिति रक्षा का संघर्ष है ।

§2§ "x x x साधारण श्रेणी में रहनेवाले हम लोगों को अस्तित्व संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होता है ।

स्पष्ट ही दोनों वाक्यों का संबंध प्रत्यक्ष हो जाता है । संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध अपने को निराला के साथ या निकट पाते थे ।

यहाँ विस्तृत विवेचन का अवकाश नहीं फिर भी कहा जा सकता है प्रदत्त के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के प्रसंग में मुक्तिबोध की चेष्टाएँ "हार्दिक स्नेह" से परिचालित थीं । अभेदकर सोनी को एक पत्र में मुक्तिबोध ने अपने "अजनबी" होने का हवाला दिया है । जहाँ के मूल निवासी, मातृभाषा कौन-सी और रहना कहाँ ? विरोधाभास ही विरोधाभास प्रदत्त "घर" के प्रति एवं प्रदत्त अवयव के प्रति उपलब्ध सामग्री § जो निश्चित ही अपर्याप्त है । भी मुक्तिबोध को एक विशिष्ट स्थिति में दिखलाती है । शरच्चंद्र मुक्तिबोध ने अपने संस्मरण में प्राय: नकारात्मकताओं पर बल दिया है ।

रामविलास जी के अध्ययन से हमें इंकार नहीं करना चाहिए । मुक्तिबोध निस्संदेह विरोधाभासों को जीवन के हर स्तर पर जी रहे थे । किंतु वे पाँण-पण से उससे उबरने के लिए जूझ रहे थे । संघर्षों में वे निराला को आदर्श मानते थे किंतु फंतासी की

विरासत उन्होंने प्रसाद से ली । अपनी लंबी कविताओं की प्रवाहमयता में वे फिर निराला की याद दिलाते हैं । चिंतन के स्तर पर वे मार्क्सवाद को अपना रहे थे । हमने प्रस्तुत प्रसंग में एक स्थल पर उनके समूचे लेखन को "उन के अस्तित्व संघर्ष का सौंदर्यबोधात्मक प्रतिफलन कहा था । यहाँ वे फिर निराला से जुड़ते हैं, जिनका सारा लेखन तो नहीं किंतु महत्वपूर्ण लेखन तो इसी कोटि में आयेगा । अर्थोपार्जन का संघर्ष भी उन्हें निराला के निकट लाता था । इसे विडम्बना के सिवाय और क्या कहा जायेगा कि राम विलास शर्मा जो निराला के सर्वाधिक सहृदय और पक्षधर आलोचक रहे हैं, मुक्तिबोध के विरोध में खड़े होते हैं । उनके शिजोफ्रेनिया का निदान करने लगते हैं । यों हम कह चुके हैं कि यह निदान अपने आप में कुछ भी सिद्ध नहीं करता । रामविलास जी ने इस के लिए बहुत परिश्रम किया है जेम्स सी कोलमेन की असामान्य मनोविज्ञान विषय की पुस्तक का सहारा लिया । यद्यपि यह नहीं पता चल पाता कि वे मुक्तिबोध पर कुछ लिख रहे हैं या नामवर द्वारा प्रशंसित "मुक्तिबोध" पर । विस्मय की बात है कि उन्होंने मुक्तिबोध के बारे में जो भी कुछ कहा है, उसमें नामवर सिंह को सुनाने की चेष्टा मुखरित हुई है । यद्यपि रामविलास शर्मा जानते हैं -- "मुक्तिबोध का साहित्य उस व्यक्ति का साहित्य है, जो जीवन की अनिवार्य विकृतियों के बीच निरंतर अपने विवेक के अनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण में प्रयत्नशील रहता है । " x x x इस स्थिति में मुक्तिबोध के पेचीदा व्यक्तित्व को पहचानने, उनके अंतर्विरोधों का विश्लेषण करने और उनके सकारात्मक पक्ष को आत्मसात करने से कविता के नये विकास में सहायता मिलेगी । " क्योंकि

"मुक्तिबोध की कविता असुरक्षित जीवन की कविता है । उसमें भावबोध की अस्थिरता और विचारों की उलझन भी है । लेकिन यह सब किसमें नहीं है ? इसीलिए भी उनकी कविता में सीखने और समझने के लिए बहुत कुछ है -- खास तौर से कवियों को लिए ।"[16]

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रसंग के लिए एक जटिल स्थिति है । रामविलासजी ने बातें अधिकांशतः सही कही है । उनका टोन और उनके निष्कर्ष अवश्य आपत्तिजनक हैं । मुक्तिबोध के प्रदत्त "परिवार" के बारे में शरच्चंद्र मुक्तिबोध द्वारा दी गयी जानकारी पर भी संदेह करने का कोई कारण नहीं । उनकी मानसिक बौद्धिक स्थिति के बारे में मित्रों के संस्मरण भी सही है फिर ? हम तो प्रस्तुत शोध में मुक्तिबोध को निराला की दूसरी अगली कड़ी के रूप में देख रहे हैं ।

मुक्तिबोध द्वारा महसूस की जाती "असुरक्षा" उनकी जद्दो-जेहद आदि एक पुराना सत्य है । फ्रेंच आदि के साक्ष्य से हम बतला चुके हैं कि वह एक सामाजिक राजनीतिक समस्या है । ऐसे में मुक्तिबोध का सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध अतीव महत्व का हो जाता है । वह असुरक्षा, वह विरोधाभास, वह तथाकथित श्रिजोफ्रेनिया, वह टूटन और वह क्षोभ, सबका सब "प्रदत्त" है, और उसके प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की, प्रदत्त के प्रति जो सकारात्मक सृजनात्मक सरोकार रहा है, उसकी प्रशंसा रामविलास जी ने भी की है । यों उनने समीक्षकों के उस वास्तविक जीवन के बारे में दुनिया जानते थो, मुक्तिबोध के साहित्य से ही, प्रश्न शर्त बतलाया था, जिसमें से और जिसके बारे में साहित्य का सृजन होता है । कहना

16. नयी कविता और अस्तित्ववाद -- रामविलास शर्मा

हो गा कि रामविलास शर्मा उस हड़कम्पी जीवन के बारे में अधिक से अधिक सूचनाएं जम कर सकते हैं ; जो उन्होंने की हैं ; और उस पर सालि से नजारा देखते हुए टिप्पणियां जड़ सकते हैं, जो उन्होंने जड़ी है । उस जीवन के भीगकर या उसके साथ समानुभूति के स्तर पर एमात्म स्थापित करके फिर उसका मूल्यांकन करना -- इस प्रक्रिया से न तो रामविल स जी गुज़र सकते थे और न वे गुजर ही हैं । इसे संयोग ही कह सकते हैं कि राम विलास जी ने मुक्त बाध के निराला के प्रति आदर को नहीं देखा । यह हमारे शोध के लिए आवश्यक है कि हम मुक्तबोध के "प्रदत्त" के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रगति से दोचार हो ।

उनकी पहली कविता 4 सितम्बर 1935 को माधव कॉलेज की पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । उन्होंने 39 में घरवालों की इच्छा के विरुद्ध विवाह किया । उसके बाद की उपलब्ध कविताओं में एक गुणात्मक अंतर दिखायी देता है । यों एक द्वंद्व और निजता आरंभ से अंत तक उनके काव्य में मिलती है । उनकी प्रत्येक कविता प्रतिरोध है । उनके आंतरिकीकृत हो चुके "प्रदत्त" से । एक वार्ता-लाप में रामविलास शर्मा ने प्रस्तुत शोधार्थी से कहा -- "चाहे चंबल की घाटी हो, या कोई मैदान, वह मुक्तबोध के दिमाग के भीतर है ।" वस्तु-परक वर्णन मुक्तबोध में लगभग नहीं है । अपने से बृहत्तर होने का प्रयत्न । अस्वयं होने का प्रयत्न । सौंदर्य अनुभव करने का प्रयत्न सबके सब आत्मीय व आंतरिकीकृत होकर जहां अनुकूलता का संचार करते हैं, अनात्मीय ; घटना-दृश्य या आतंकभय आदि भाव ; प्रतिकूलता का । नागार्जुन में अपार वैविध्य है । मुक्तबोध में जैसे एक ही कविता ।

"वह मित्र का मुख
ज्यों अतल आत्मा हमारी बन गयी
साक्षात् निज सुख ।

x x x x x x x x

पितृ-मन की स्नेह-सीमा का जहाँ है अंत
छलछल मातृ-उर के क्षेम-दर्शन के परे जो लोक
पत्नी के समर्पण-देश की गोधूलि संध्या के क्षितिज के पार ।

यह कविता 1940-42 की है --

"ये हरे वृक्ष
सहचर मित्रों से हैं सहस्त्र डालें प्रसार
ये आलिंगन-उत्सुक बाहें पत्नी हजार ।"[162]

यह कविता 1944-48 की है । यों 1945 में लिखी "बबूल" कविता बतलाती है । "वर्णन" के भी कवि हैं । इस काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध कविता है -- "मुझे पुकारती हुई पुकार-" रामविलास जी ने इसमें रहस्यावाद देखा है । यह एक तरह से अंत:जागरण की कविता है । रहस्यानुभव को रहस्यावाद से अलग करके देखना होगा । "तिमिर-दिवर में पड़ी "अशांत" नागिनी को रामविलास जी ने कुण्डलिनी बतलाया है । यह चेतना का भी प्रतीक हो सकती है । इस कविता में निराला की कुछ श्रेष्ठ कविताओं का सा भाषा प्रवाह मिलता है ।

---

162. मुक्तिबोध रचनावली : एक - पृ. 79, 108

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का एक तीव्र किंतु निजी और गहरा नमूना मुक्ति बोध के काव्य को, वाम कविता के सौंदर्य-शास्त्र के प्रसंग में महत्वपूर्ण बनाता है ।

सौंदर्यात्मक प्रतिरोध की कसौटी पर खरी उतरना तो जब अब तक के विवेच्य कवियों की भी सारी कविताओं का कठिन है और ये न केवल उस काल (1936 - 50) के बल्कि अनंतर श्रेष्ठ कोटि में गिने जाते रहे हैं । वस्तुत: उस काल में राजनीतिक वर्तमान को मनोग्रसित बनाकर लिखने वाले कवियों की बाढ सी आ गयी थी । इस कविता की विशेषता "चीत्कार-फूत्कार" हुआ करती थी । शील के प्रसंग में लिखते हुए हम इस पर अपनी टिप्पणी दे चुके हैं । राम विलास शर्मा ने उस काल की एक ऐसी कविता का उद्धरण देकर -- "जागो ओ किसानों आज / जागो ओ मजूरो आज / बागी के तड़पते गीत / भूखी अग्नि धुआंधार /" -- लिखा -- यह "प्रगतिशील" शैली उन कवियों की देन है, जो अचानक प्रलय, ताण्डवऔर हुंकार से देश-विदेशहीन हो, समूचे ब्रह्माण्ड को भस्म कर देना चाहते हैं । यह बात आज मार कर देखी जा सकती है कि जो कवि किसानों मजदरों से जितना ही दूर होता है, उतना ही उन्हें वह जगाने के लिए हुंकार और धुआंधार की ध्वनि ज्यादा करता है । दरअसल किसान मजदूर कवीश्वर के "बुदाय" की तरह बहरे नहीं है कि उन्हें जगाने के लिए इतनी जोर से बांग देने की जरूरत पड़े । "उधर चीन हुंकार उठा" और "वह भारत फुंकार उठा- "इस तरह की पंक्तियों को हम प्रगतिशील कविता की अच्छी-खासी पैरोडी मान सकते हैं ।"[163]

---

163. नयी कविता और अस्तित्वाद - रामविलास शर्मा - पृ. 29 वस्तुत: यह लेख उन्होंने हंस में 49 में लिखा था । रामविलास शर्मा आरंभ से ही इस बात को जान गये थे कि "साहित्य में विषय वस्तु ही सब कुछ नहीं है ।"

दो विपरीत धाराओं के संघर्ष की बात बार-बार कही गयी है । यह "दो" का विभाजन मात्र समझने के लिए है क्योंकि प्रत्येक धारा के भीतर भी यह संघर्ष चला करता है । मौलिक चरित्र की कविताओं में भी कई बार विषय-वस्तु और रूप दोनों के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में संतुलित ढंग से प्रयोग में लाया जाता है । ऐसी कुछ कविताओं का उल्लेख किया जा चुका है । शंकर शैलेंद्र की "तू जिंदा है" नामक कविता, रामविलास शर्मा की आल्हा शैली में "किसान जागा, जमींदार भागा", आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । प्रकृतवादी वर्णन के धरातल पर नवीन, अंचल, भगवतीचरण वर्मा ने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की चेष्टा की किंतु स्पष्ट ही वे एकांगी सफलता ही प्राप्त कर सके । उस काल के परिदृश्य के बारे में नामवर सिंह का यह कथन सही प्रतीत होता है -- "प्रयोगवाद की कटी छंटी नव कविता के मुकाबले प्रगतिशील कविताएं प्राय: अनगढ़, बेतरतीब उगी हुई घासों और फूलों की वनस्थली प्रतीत होती है । लेकिन उनके उस जंगलीपन में भी आकर्षण है ।[164] दो विपरीत धाराओं के संघर्ष में निश्चित ही प्रतिरोधात्मक स्वभाव की धारा को ही समर्थन दिया जाना चाहिए । भले ही उसमें सौंदर्यबोधात्मकता खंडित हो । यह एक प्रक्रिया है और इसमें महत्व उसके प्रक्रिया होने का है । "समर्पण" के कवि अथवा प्रति-प्रतिरोध के चितेरे "प्रक्रियातत्व" को नकारते हैं । यह एक अवरुद्धात्मक स्थिति है ।

---

164. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - नामवर सिंह - पृ. 111

निष्कर्ष रूप में कहा जाय तो विवेच्यकाल के काव्य-परिदृश्य में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की स्थिति आमतौर पर मिलती है । प्रत्येक युग की तरह । किंतु राजनीति और काव्य का सौंदर्य-उत्स (कवि-कर्म) स्तर पर एक हो जाना पहली बार हुआ है । निराला में यह अत्यधिक है । सृजनात्मकता किसी भी वस्तुकरण के विरोध में होती है । उसे निरस्त करती है । इस प्रक्रिया को सर्वाधिक प्रभावी ढंग से निराला में ही देखा जा सकता है । निराला के समग्र सौंदर्य-बोधात्मक संसार में से एक-एक तत्व को अपनाकर पाँच कवि आगे बढ़ते हैं । उन पाँचों कवियों को मिलाकर ही निराला की परम्परा समग्रता प्राप्त करती है । सौंदर्य को शमशेर ने कवि दृष्टि को त्रिलोचन ने, ऐन्द्रिक कलात्मकता को केदार ने, व्यंग्य, फक्कड़पन और एक निरंकुश काव्य-व्यवहार को नागार्जुन ने तथा आत्म-संघर्ष को मुक्तिबोध ने । इस अपनाये जाने का यांत्रिक अर्थ न लिया जाय । दो और दो चार होते हैं- की दृष्टि से परम्परा को नहीं समझा जा सकता । हम सविस्तर विवेचन कर चुके हैं कि ये पाँचों कवि निराला से कैसा जुड़ाव अनुभव करते हैं । हम भी अपने शोध-भूमि के अनुसार "पक्ष" ग्रहण करते हुए इस नैरंतर्य को स्वीकार कर रहे हैं । सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में राजनीति के जुड़ने की जो प्रक्रिया भारतेन्दु से आरंभ हुई थी, वह इन कवियों में एक स्पष्ट रूप ले लेती है ।

सौंदर्यबोधात्मक देह :

"प्रतिरोध" की चर्चा में ऐतिहासिकता और जीवन-समर्थन के प्रत्ययों को पृष्ठभूमि में रखकर ही विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। जीवन-समर्थन का प्रत्यय अपनी सार्थकता तक पहुँचने के लिए "देह" के स्वीकार पर निर्भर है। "देह" के इंकार पर भाववादी दर्शन टिका हुआ है। वाम सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत हम देह-सौंदर्य को नकार नहीं सकते। किंतु सौंदर्य प्रभाव है। देखा यह जाना चाहिए कि उस प्रभाव का चरित्र क्या है? सामंती चरित्र देह को, विशेषत: नारी देह को उपभोग सामग्री के रूप में देखता है। वहाँ नारी देह का स्वीकार, उसके सौंदर्य का स्वीकार भी "उपभोग" पर निर्भर है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बीच उपभोक्ता उपभोग उपभोग्या की प्रधानता रहती है।

वाम-विमर्श के अंतर्गत "देह" के बारे में लिख दिया गया है। मार्क्यूज ने सौंदर्यबोधात्मक मनुष्य की अवधारणा रखी है। देह के प्रति कुण्ठा-हीन नवीन के बिना यह असंभव है। वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में यह देखा जाना आवश्यक है कि "देह" देह-सम्बन्ध के चित्रण में कोई वर्जना तो सक्रिय नहीं है? उसी प्रकार वर्जना की प्रतिक्रिया में "विस्फोट" भी प्राय: अमानवीय ही होगा। उस काल में ऐसी रचनाएँ प्राय: लिखी जा रही थीं कि जिन्हें रचनाकार और कतिपय पाठक भी प्रगतिवादी समझ रहे थे और जो कुल मिल कर देह का अवमूल्यन अर्थात् मनुष्य का अवमूल्यन कर रही थी।

प्राय: होता यह रहा है कि देह सम्बन्धों का स्वीकार अस्वीकार मात्र आवेगात्मक धरातल की माँग करे । समाज का प्रभु= दक्षिण वर्ग को ब्र नियम इस बारे में बना दें, वे ही मानवीय होते थे ।

देह-सम्बन्धों का महत्व राजनीतिक है । जिस स्तर पर कविता राजनीति से जुड़ती है, उस सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर ही देह-सम्बन्ध भी जुड़ते हैं । जिस प्रकार कला-दृष्टि, साहित्य दृष्टि अंतत: राजनीतिक दृष्टि है, उसी प्रकार देह दृष्टि भी अंतत: राजनीतिक है ।

जब हिंदी वाम कविता के प्रथम उत्कर्ष काल में इस भूमिका के साथ, हम "देह" को देखना चाहते हैं तो पता चलता है कि अधिकांश जागरूकता राजनीतिक- आर्थिक - सामाजिक वर्तमान के प्रति है, नैतिक वर्तमान के प्रति कोई गहरा विचार दृष्टि का परिचय नहीं मिलता । वहाँ एक ओर तो बिहार के रमण जैसे कवि हुए, "जिन्होंने संभोग के हर उपकरण का नगर रूप प्रस्तुत कर काफी प्रसिद्ध पायी" और दूसरी ओर उनकी ओर से आँख मूँद लेने अथवा भर्त्सना करनेवाले रचनाकार थे । नारी देह के प्रति सदियों से चली आती एक विचार दृष्टि का ही यह प्रतिफल था । "निषिद्ध" और "पूज्य" के बीच अथवा "कुछ नहीं" और "सब कुछ" के अतिवादी छोरों के बीच कोई संतुलित स्थिति नहीं मिलती । अपवाद स्वरूप ही कुछ रचनाएं प्राप्त होती हैं ।

निस्संदेह निराला का नाम हम फिर इस प्रसंग में लेना चाहेंगे । "वाम दृष्टि" यौन को, देह को और नारी/पुरुष को किस प्रकार अपनाती है, यह देखने के लिए उनकी रचनाएं ही एक प्रस्थान बिंदु है । अपनी पहली ही रचना से उन्होंने "देह" और मांसल सौंदर्य के प्रति अपनी दृष्टि स्पष्ट कर दी । "प्रदत्त" के प्रति सृजनात्मक सरोकार ही रचना को ढालना है । नैतिक "प्रदत्त" के प्रसंग में निराला सौभाग्यशाली थे । पहले तो उनकी नियमों की चेतना " रूढिबद्धता की दिशा की ओर न बढ़ सकी और दूसरे "मां" के अभाव से अकेले और बिगड़ैल हो गये । निराला को मनोहरा देवी जैसी साथिन मिली । युवावस्था से पूर्व का स्त्री-सान्निध्य हमेशा के लिए निराला की रचनाओं पर अपनी छाप छोड़ गया । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के प्रसंग में लादी गयी कल्पनाओं का वहां कोई अस्तित्व नहीं था । मनोहरा देवी का सान्निध्य मात्र स्त्री अथवा उसकी देह का सान्निध्य ही नहीं था बल्कि "प्रेम" के अपने गहरे अर्थों में ही सान्निध्य था । निराला ने, अपने अकेले निरंकुश, नियम-विरोधी जीवन में यौन-संसर्ग को प्रेम के धरातल पर लिया था निराला की रचनाओं में प्राय: मिलनेवाले यौन-चित्रों का प्रगाढ़ रस से आत्मीय होने का यही कारण हो सकता है ।

"देह" का जितना संबंध यौन से है, उतना ही प्रेम से । निराला ने "प्रेम" को व्यक्तित्व की पूर्णता माना है । -- "सुख का दिन डूबे, डूब जाय / तुम से न सहज मन ऊब जाय अथवा "कुछ न हुआ, न हो / मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल / पास तुम रहो ।" निश्चित ही उनका दुर्घटनाओं से भरा जीवन ही इसके पीछे है । इसी "पूर्णता" मानने के क्रम में वे प्रेम के यौन परक सुखके चित्र भी उकेरते हैं । यहां उनकी दृष्टि दृष्टि "प्रदत्त"

साहित्यिक परम्परा को स्वीकार नहीं करती । दूधनाथसिंह के शब्दों में -- "इस तरह के चित्रण मुझे पारम्परिक उतने नहीं लगे, बल्कि इस तरह के गीत पढ़ते हुए मुझे हेनरी मिलर के उपन्यास "ट्रापिक आफ कैंसर" के कुछ स्थलों की याद आयी ।" ट्रापिक आफ कैंसर की याद दूधनाथ को इसलिए आयी है कि "बावजूद अपनी सारी नग्नता के, वह मन पर कोई अश्लील प्रभाव नहीं छोड़ता । इसी को मिलाने " दूसरे बाइबिल" की संज्ञा दी है ।

"निराला और मिलर में अंतर यही है कि मिलर उस आत्म-तोष की उपलब्धि मानसिक तनावहीनता तथा शारीरिक विश्रांति तक मानते है', जब कि निराला उसमें एक अजीब-सी पवित्रता और निष्कामता की अनुभूति से अपने को मुक्त महसूस करते हैं मानसिक तनावहीनता एक प्रकार की दैहिक प्रतिक्रिया ही है, कुल मिलाकर, जबकि आत्म-मुक्ति उससे पाया हुआ नैतिक मूल्य है ।"[165]

प्रस्तुत शोध के प्रसंग में हम इस स्थिति को दूसरी पदावली में व्यक्त करना चाहेंगे । प्रत्येक "महत्वपूर्ण अनुभव" किसी ने किसी स्तर पर यौन सुख के पूर्ण अनुभव से जुड़ता है । सौंदर्यानुभव की यौन-अनुभवों से समानता के बारे में पूर्व ही संकेत किया जा चुका है । ऐसा प्रत्येक अनुभव जो व्यक्ति को "बृहत्तर" करे, जो है, उससे ज्यादा करे - अपने मूल में सौंदर्यानुभव और यौनानुभव से जुड़ता ही है । किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसे महत्वपूर्ण अनुभव

---

165. निराला : आत्महंता आस्था - दूधनाथसिंह - पृ. पृ. 44-45

हो सकते हैं तो समाज-व्यवस्था के बदलने के क्रम में भी ऐसे महत्व-पूर्ण अनुभव, होते हैं। ऐसे अनुभव "प्रदत्त" चेतना स्थिति के प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध करेंगे ही । परिणामस्वरूप एक नयी चेतना के बनने की संभावना शक्तिशाली होती है । "यह किसी भी प्रभावशाली कला-विधा और साथ ही क्रांतिकारी सार्थकता की केन्द्रीय प्रेरणा है । सारी पूर्व-सुरक्षा और उसके उपायों को नकारने या उनके प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध करने -- "प्रस्तुत शोध की पदावली प्रयुक्त करें तो ! से ही क्रांतिकारी कृत्यों की ओर यात्रा शुरू होती है ।"166

तन्मय भावस्था की स्थिति आवश्यक है चाहे क्रांति हो या यौन-क्रिया । यह तन्मयावस्था प्रशिक्षण से ही सही तौर पर प्राप्त होती है । आत्म प्रशिक्षण । इस प्रकार यौन-चरम राजनीतिक रूप से महत्व प्राप्त कर लेता है । पूर्व क्रांति संदर्भ में यौन-चरम को देखें तो पता चलता है कि दमनकारी अवरोधों को नष्ट करने में वह सफल होता है । ये अवरोध एक क्रांति को नष्ट कर सकते हैं अगर वह क्रांति, सिद्धांत-चेतनाओं द्वारा मात्र अर्थशास्त्र वाद पर आधारित हो अथवा मात्र उत्पादन-सम्बन्धों अथवा उसके साधनों को बदलते ही रूप कुछ अपने आप बदल जायेंगे ।" इस भोले विश्वास पर आधारित हो । यौन-क्षेत्र में यदि सतही तौर पर किसी समाज-व्यवस्था में छूट दी जाती है और यौन-उच्छृंखलता को मानवीय उदारता के नाम से बढ़ावा दिया जाता है तो गहराई

---

166. The Grammar of Living - David Cooper - P. 39.

से एक दमन-प्रक्रिया शुरु होती है । एक ऐसी दमन प्रक्रिया, जो सतही नहीं होगी । यौन-चरम की उत्तेजना का दमन होता है । मनुष्य से, ब्यौरे से उसका यौन-उत्तेजन तक छीन लिया जाता है, उसका दमन कर दिया जाता है । तथाकथित यौन-मुक्त समाज में एक पक्षीय मैथुन को प्रेम समझ लिया जाता है जो बहुत बड़ा दमन है । क्योंकि मनुष्य मात्र यौन-विषय (sex object) हो जाता है ।"[167]

दूधनाथ ने जिसे आत्म-मुक्ति कहा है वह यौन-अनुभवों के क्षेत्र को राजनीतिक से जोड़ने का बहुत बड़ा सूत्र है । देह-सुख को तिरस्कृत करना यदि एक प्रतिक्रिय वाद राजनीति है तो उसका यांत्रिक समारोह । उच्छृंखलता, पुरुष-केन्द्रित यौन-मुक्तता । उससे अधिक बड़ी प्रतिक्रियावादी राजनीति है । स्त्री पुरुष देह सम्बन्ध को "तन्मयावस्था" (Orgasm) तक पहुंचना ही चाहिए जो मात्र मैथुन से नहीं पहुंचा जा सकता ।

"मुंद पलक प्रिय की शैया पर
रखते ही पग, उर धर धर धर
कांप उठा वन में तरु मर्मर
चली पवन पगली ।"[168]

---

167. "Removal of superficial repressive barriers by the liberalization of sexual mores may make for an easy-going promiscuity that makes a far deeper repression. — The repression of orgasmic ecstasy which differentiate making love from fucking, in which each is reduced to a sexual object." Ibid. P. 40

168. सुमित्रानन्दन पन्त : सं. नगेन्द्र और हरदयाल - पृ. 186.

यदि संभोग का उपर्युक्त चित्रण सांकेतिक ढंग से और कलात्मक है तो "यह सांकेतिकता किसी मानसिक संकोच की उपज नहीं है । वह पूरी कविता के शिल्प और उसके सौंदर्य पक्ष की मांग है ।"[169] अपनी पहली कविता "जूही की कली" में "गोरे कपोल मसलने" को बेलाग चित्रण करनेवाले से वृथा संकोच की उम्मीद की भी नहीं जा सकती । संभोग का यह दूसरा चित्र अपनी अनुपम मानवीय श्रेष्ठता के कारण अद्वितीय है --

"स्पर्श से लाजलगी,
अलक-पलक में छिपी-छलक
उर से नव-राग जगी ।

चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु-विध सुख छल
कभी हास, फिर त्रास, सांस बल
उर-सारता उमगी ।

प्रेम-वचन से उठा नयन-नव
विधु-चितवन, मन में मधु कलरव
मौन-पान करती अधरासव
कण्ठ लगी उरगी ।

---

169. निराला : एक आत्महंता आस्था - दधनाथ सिंह पृ.

मधुन स्नेह के येह प्रस्तर
बरस गये रस-निर्झर झर-झर
उगा अमर-अंकुर उर भीतर
संसृति भीति-भगी । "170

"अमर प्रेम का अंकुर उगने" और "संसृति भीति-भगने" के सर पर ही हम संभोग को, स्त्री-पुरुषदेह-संबंध को वाम कवि का दे सौंदर्यश स्त्र में समाज बदलने की क्रांतिकारी प्रक्रिया से जोड़ना चाहते हैं । यह सच है कि प्रस्तुत चित्र में पुरुष-भागीदार की सक्रियता को पृष्ठभूमि में इस प्रकार रखा गया है कि वह अपने "प्रियत्व" में कुछ श्रेष्ठ प्रतीत हो । किंतु एक तो पूरा चित्र स्त्री-पक्ष से है और "उरगी" आदि "उत्तेजना" को प्रकट करनेवाले पद हैं न कि स्त्री-भागीदार को हीन बताने की मंशा और अंतिम छंद में व्यक्तित्व की पूर्णता अथवा आत्म-मुक्ति का प्रतिपादन करके निराला अपनी निजी और भारतीय दोनों ही दृष्टियों में बेजोड़ है । कहना न होगा कि निराला के अलावा समूची हिंदी कविता में ऐसा संभोग चित्र नहीं है जो उदात्त भी हो और छद्म पवित्रता या यौन-वीरता का प्रदर्शन भी नकारे ।

हम अंत देकर कहना चाहेंगे कि "पनिहारिन" की वह नायिका ‖ कोयल-सी काली, अरे / चाल नहीं उसकी मतवाली ‖ या "रानी और कानी" की रानी ‖ चेचक के दाग, काली,

---

170. निराला रचनावली - सं० नंदकिशोर नवल - पृ० 206

नकचिढ़ी, गंज सर, एक आँख काना ! में निराला अपनी गहरी मानवीय दृष्टि और क्रांति कारित के साथ इस बात का प्रमाण देते हैं कि वे "प्रेम" और "देह" के प्रति कैसा भाव रखते हैं। यह भी सच है कि काव्य-आभिजात्य अथवा काव्य में देह और प्रेम के प्रति दक्षिण दृष्टि के छद्म को भी वे नष्ट कर देना चाहते हैं तो यह भी उन्हें हमारे ही पक्ष में करना है। उन्होंने "नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे, खेली होली।" जैसे "फाग" भी लिखे हैं। वह तोड़ती पत्थर में मजदूरनी की देह भी है जो स्वस्थ है और "बंधी" है। खजोहरा" और "स्फटिक शिला" को लेकर यह प्रयत्न अवश्य किया गया कि निराला पर अश्लीलता आदि के आरोप लगाये जाय। "खजोहरा" में तो रवीन्द्र की "विजयिनी" के उल्लेख से स्पष्ट ही आभिजात्य की खिल्ली उड़ायी गयी है। स्फटिक-शिला में "खुले उठे हुए उरोजों पर बड़ी की निगाह /। चोच जैसे जयंत की, नहीं जैसे कोई चाह देखने की मुझे और / वैसे भरे दिव्य स्तन, हैं ये कितने कठोर।" में नारी देह का स्वस्थ स्वीकार है। "स्तनों" का वर्णन या उन्हें देखना - बिना संदर्भ के इस को निंदा कट्टरवादी दृष्टि ही हो सकती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निराला के काव्य में सभोग और देह-सौंदर्य वर्णन में "देह" इस प्रकार आ सकी है कि बर्नार्ट शा के भावी सौंदर्यबोधात्मक प्राणी (Aesthetic animal) की परिभाषा के अनुसार सौंदर्यबोधात्मक देह कही जा सके।

यों नारी देह के बारे में "वर्जना" का विरोध पंत में भी मिलता है। किंतु वहाँ फिर "बारे में" वर्णन है। "अरुण अधरों" का पल्लव प्रांत। मोतियों सा हिलता हिमहास" आदि में पंत की कल्पना स्पष्ट दूर-खड़ी होकर वर्णन कर रही है। यहाँ तक कि संभोग के वर्णन में भी मात्र "वर्णन" है --

"तु मुग्ध थी, अति भावप्रवण
उलसे थे अमियों से उरोज
चंचल प्रवाल, हंसमुख उदार
मैं सलज, तुम्हें था रहा खोज।

x x x x

तुमने अधरों पर धरे अधर
मैंने कोमल वपु भरा गोद
था आत्म समर्पण सरल मधुर
मिल गये सहज मानस मोद।"[171]

पंत निराला का अंतर यहाँ स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार --

"खींचती उबलती पंक, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
छिपते से गुप्त रस भरे कलश
जल छलकाती - रस बरसाती
बल खाती वह घर को जाती।"[172]

---

171. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली - भाग-2 - पृ. 17-18.
172. - वही - पृ. 134

सौंदर्य में भीगकर वर्णन करना और बात होती है। यहां तो पंत का कवि "दर्शक" मात्र है। पूर्व-विवेचन में यह बताया जा चुका है कि पंत की इस स्थिति की क्या मनोभूमि है? यहां कहा जा सकता है कि हमारे इस विवेचन में वे "देह" के प्रति सौंदर्य-बोधात्मक सरोकार सृजनात्मक स्तर पर नहीं रख सके हैं। यों विचार-स्तर पर वे अवश्य ही प्रयत्न करते पाये जाते हैं कि नारी देह को मानव-देह से घटाकर न देखा जाय।

-- योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित।"[173]

शून्य व्यक्तित्व (Zero Personality) की यह भी महत्वपूर्ण उपलब्धि कही जायेगी। पंत नारी को द्वंद्वात्मक धरातल पर देख नहीं सकते थे -- कम से कम नारी देह को।

निराला के नर-नारी संबंध के सामने उस काल के अन्य कवियों को देखें तो नवीन, बच्चन, अंचल, भगवती चरण वर्मा आदि में एक प्रदर्शनात्मक समारोह दिखायी देता है। अपनी इच्छाओं, वासनाओं को मुक्त रूप में, संभवतः प्रगतिशील समझ कर, वे जिस प्रकार रखते हैं, उसमें नारी "काम-विषय" (Sex-Object) घटकर रह जाती है। नारी के प्रति सहानुभूति और शुभ कामना ऐसी --

---

173. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली - भाग-2 पृ. 167

"माता बनी दूध भर आया, किंतु न भरता पापी पेट ।
जननी बनकर भी पशुओं के आगे नग्न सकेंगी लेट ?

अथवा

क्रांति का तूफान जब विश्व को दिलायेगा
ये बाजार की असंस्कृता निर्लज्जा नारियां
जो कि न यानिमात्र रहकर बनेंगी प्रदीप्त
उगलेंगी ज्वालामुखी ।"[174]

इन्हीं पंक्तियों के कवि अंचल ने "किसी का यौवन लूटने" की घोषणा भी की । यद्यपि उनकी कुछ कविताओं में वे "नारी" को शोषण सापेक्ष स्थिति में देखने में निर्विवाद रूप से सफल हुए हैं । विशेषतः 'शोषिता' नामक कविता में । नरेन्द्र शर्मा भी वहीं-कहीं सभोग का अकुण्ठ चित्र प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं --

"विजय की प्यासी, लचकती, धनकती शक्तिशरीर !
ऐसी देह !
पैठने को वीर प्रियतम के अंधेरे वक्ष में
प्रणय पीड़ा घोर !
ऐसी देह !"[175]

---

174. किरण बेला - अंचल - पृ. 55 - 73
175. पलाशवन - नरेन्द्र शर्मा - पृ. 13

उपर्युक्त बिम्ब की ऐन्द्रिक तीव्रता "देह" संबंधी बदली हुई दृष्टि को उजागर कर सकने में पूरी तरह से सफल हुई है । उनकी प्रसिद्ध कविता "बटन होल" भी उल्लेखनीय है ।

किंतु यह मानना होगा कि उस परे परिदृश्य में नैतिक वाम" के दर्शन कम ही होते हैं । कहीं प्रकृतवाद झलकता है तो कहीं नितांत पुरुष उच्छृंखल दृष्टि ।

शमशेर ने निराला के "सौंदर्य" से अपने को जोड़ा था । देह, नर-नारी सम्बन्ध और प्रेम को लेकर उनके यहाँ एक स्वस्थ और "प्रदत्त" नैतिक के प्रति सृजनात्मक स्तर पर प्रतिरोध के कारण "सौंदर्यबोधात्मक देह" तक के भावचित्र मिलते हैं । वे भाव-चित्र शमशेर की उस दृष्टि को अभिव्यक्त करते हैं जिसमें "देह" को घटाया नहीं जाता । एक बिम्ब सन् १९३९ का है --
"सुना-सुना पथ है, उदास झरना / एक धुंधरी बादल रेखा
पर्दिका हुआ आसमान / जहाँ वह काली युवती / हँसी थी / [176]

"काली युवती" और उसका "हँसना" अपनी बिम्बात्मकता को शक्ति तो देते ही हैं किंतु उस "सौंदर्य" को पहचाननेवाली शमशेर की दृष्टि को भी बतलाते हैं । "नदी से वे लाल गेहुएँ तलवे / मालिश से चिकने हैं ।"

---

176. कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह - पृ. १३०

"देह" के प्रति उनकी अकुण्ठ दृष्टि के प्रमाण में "एक मुद्रा से लगता को भी उद्धृत किया जा सकता है --

-- सुंदर !
उठाओ
निजवक्ष
और - कस - उभर ।"[177]

इस गीत में "संभोग" चित्र है किंतु देह-सौंदर्य को प्रेम सापेक्षता में इतनी अनूठी विविध से प्रस्तुत करना इस बात का प्रमाण है कि सचमुच शमशेर ने निराला की सांस को अपने हृदय में भरा है। ऐसे दर्जियों उदाहरण अपनी मूर्तता-अमूर्तता में उनकी अ कविताओं में बिखरे पड़े हैं।

त्रिलोचन में "देह" के अलग से कोई विशिष्ट चित्र या वर्णन तो नहीं मिलते किंतु उनके प्रेम-गीतों में जिस सहजता से मिलता है -- "मुझे जगत जीवन का प्रेमी बना रहा है प्यार तुम्हारा / "वह उनकी वर्जना-हीन दृष्टि उजागर करने को पर्याप्त है।

विस्तृत विवेचन का अवकाश न रहने पर भी हम इतना कह सकते हैं कि त्रिलोचन की कविता की ही तरह उनकी देह दृष्टि नर-नारी संबंध और प्रेम-विषयक उनका रुझान सहज है और इस सहज के पीछे नारी देह को मानवीय देह मान लेना ही प्रमुख है। प्रेम गीतों में मिलनेवाली सहज ताजगी हमारे द्वारा प्रतिपादित "तन्मयता" के प्रशिक्षण की ही परिणति हो सकती है।

---

177. कुछ और कविताएँ - शमशेर - पृ. 58

केदारनाथ अग्रवाल के पास भरपूर मांसल स्थान है । कवि (पुरुष) अपने उत्साह और अपनी सक्रियता से कहीं सामंती अवशेषों का परिचय भी देता है । वे "वासना" और "देह" को स्वीकार इस प्रकार करते हैं कि पाठक को स्पष्ट पता चल जाय कि वे स्वीकार कर रहे हैं । पंत जी का ग्राम्या वाला रूप, जो अपने सारे प्रगति-विषयक दृष्टिकोण के बावजूद इस तथ्य का स्पष्ट संकेतक था कि कवि प्रयास कर रहा है । वैचारिक स्तर पर । जैसे उस प्रयास को अलग से पहचाना जा सकता है, वैसे ही केदारनाथ अग्रवाल के सांसल देह संबंधी चित्रों की ऐन्द्रिकता के पार अगर झांका जाय तो लग जाता है कि वहां तक जीवन है, वहां तक तो चित्र मांसलता सहज है किंतु विचार के प्रवेश होते ही प्राय: अलग से देखा जा सकता है । वे प्रखर इंद्रिय बोध के कवि हैं । "नींद" के बादल" की कविताओं के बारे में यह ज्यादा सच है । "फिर भी उन्होंने अपनी कविताओं" से इस बात का परिचय तो दिया ही कि वे इस ओर जागरूक हैं ।

(1) "तरु में प्रेम-विचार, लता में
पुलक, वासना भार री ।
हम तुम दोनों को मद-विह्वल
चुंबन का अधिकार है ।"178

---

178. केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 122

§2§ प्यारी । जल में चाँद चमकता
सरिता के हृतल पर अपना सिर धर हँसता ।
अपने वक्ष स्थल पर जिस पर वस्त्र न टिकता
मुझको भी रहने दो, अपना सिर धर हँसता ।"179

जहाँ तक "देह" और उससे जुड़े यौन-आयामों को कविता में उपमाओं आदि के रूप में गूँथने का प्रश्न है -- वे ताज़गी का परिचय दे सके हैं --

"भूल सकता मैं नहीं
वे कुछ खुले दिन
ओठ से चुम गये
उजले धुले दिन
जो तुम्हारे साथ बीते
रस भरे दिन
बावरे दिन
दीप की लौ से
गरम दिन ।"180

इन पंक्तियों की काव्यात्मकता से इंकार नहीं किया जा सकता किंतु देह ? हमें कहना ही पड़ेगा कि जिस सौंदर्य-बोधात्मक देह का प्रत्यक्ष हम रख रहे हैं, उसकी कसौटी पर त्रिलोचन शमशेर - नागार्जुन के मुकाबले केदार कहीं पीछे हैं । वे "नारी देह" को उपभोग्या स्तर पर न रखकर उसे सहज, मानवीय बना सके हैं किंतु यह बना सकना अलग से दिखता है और उनके पास क्रांति §सामाजिक राजनीतिक आर्थिक § की तैयारी करती देह, तन्मयता

---

179. केदारनाथ अग्रवाल 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' - पृ. 122.
180. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 57

से शक्ति पती देह ऐसे देह संबंध जो अपने आप में, जगत जीवन का प्रेमी - त्रिलोचन, बनाने की सामर्थ्य रखते हों -- नहीं है । वे लोक-जीवन से ऊष्मा ग्रहण करके ऐसे आकर्षक गीत लिख सकते हैं -- मांझीन बजाओ वंशी मेरा मन डोलता । मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता । "।8।

किंतु वे अपने श्रेष्ठ रूप में यही है और यहीं तक पहुंच सकते हैं । एक स्थिर सामाजिक स्थिति ने उनकी चेतना को निर्धारित किया है और उसके प्रति समूचे सृजनात्मक प्रतिरोध के बावजूद वे "बोध" के मूल को, "आभ्यंतर लोक" की निर्धारित स्थिति को नहीं बदल सके हैं यह सच है ।

राजनीतिक तक किताबों और साहित्य से नहीं पहुंचा जा सकता, वहां तक जीवन के माध्यम से पहुंचा जा सकता है । "प्रेम" और "देह" के बारे में भी यह सच है । अधिक से अधिक उनके रूमानी रूझान को स्वस्थ कहा जा सकता है ।

मुक्तिबोध के बारे में स्थिति अत्यधिक असमंजस पूर्ण है । प्रेम, देह-संबंध के बारे में वे क्या सोचते हैं, यह उर्वशी-विवाद में उनके विचारों द्वारा स्पष्ट हो गया है । किंतु कविता के प्रसंग में वे इस कदर जान लेवा आत्म-संघर्ष में व्यस्त रहे कि हमें यह कहना पड़ेगा कि उनके समूचे काव्य में देह, नारी, देह-सम्बन्धों के प्रति कोई उल्लेखनीय उदाहरण नहीं मिला । हमारा अनुमान है, "जब

।8।. फूल नहीं, रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 25

प्रश्न चिह्न बौखला उठे "नामक कविता तथा अन्य उपलब्ध गद्य-लेखन के आधार पर कि वे आंतरिक कुल "परिवार" की शर्तों पर पारिवारिक थे। कम से कम वे इस आधार पर "परिवार" से अलग नहीं थे। सन् 1937 की 11 नवंबर की डायरी से तो वे नारी और देह संबंधों के प्रतिबिम्ब मध्यम वर्गीय कुण्ठाओं से ग्रस्त दिखायी देते हैं।

मुक्तिबोध के साहित्य में प्रेम का वैचारिक आधार मिलता है। जिस सत्तामीमांसक असुरक्षा (ontological insecurity) से वे त्रस्त दिखायी पड़ते हैं, उसके पीछे उनका ऐसा अकेलापन दिखायी पड़ता है, जो चाहे जिस वजह से हो। हो सकता है कि रामविलास जी का विश्लेषण ही सही हो। किंतु वह उनकी मनोरचना का अनिवार्य अंग था। मुक्तिबोध की रचनाओं से यह तो झलकता है कि वे व्यक्ति, परिवार, समाज आदि आदि से प्रेम करते हैं किंतु कहीं यह नहीं झलकता कि वे प्रेम पा रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ? इनका विश्लेषण हमारा विषय नहीं। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि "सौंदर्यबोधात्मक देह" तो दूर, उनकी कविताओं में दीगर विधाओं की बात यहां अप्रासंगिक होगी। एक भरी-पूरी, ठोस, जीवित मानव देह "मनु" को छोड़कर तक नहीं मिलती। नारी देह स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में एक तनावपूर्ण मौन और जैसे एक खण्ड-खण्ड व्यक्ति कि जिसका सर्वाधिक शक्तिशाली एक ही अंग है, दिमाग। "प्रदत्त" परिवार के बारे में जो भी जानकारियां उपलब्ध है, उससे कहा जा सकता है कि वे सचमुच ही ऐसा जीवन जी रहे थे, संभवत: जो सम्भवत: प्रदत्त था अर्थात् उनका चुनाव नहीं था, जिसमें वह सब कुछ था, जो उनकी कविताओं में नकारात्मक

शक्तियों के रूप में मिलता है । मनु क्या सचमुच ही मुक्तिबोध को अपने पास लगा ? राम विलास जी ने मुक्तिबोध द्वारा मनु के विश्लेषण -- ऐसा आत्मग्रस्त निबिड़ आत्म विश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयों की ओर ले जाता है, मनु की विशेषता है -- "को मुक्तिबोध पर ही लागू किय है ।[182]

हम कह चुके हैं कि निराला में भी जबर्दस्त आत्मा संघर्ष था । उससे उबरने की कोशिश भी यहाँ तक तो मुक्तिबोध निराला से जुड़ते हैं । लेकिन उसके बाद ? निराला तो और भी बहुत कुछ थे । उनकी कविताओं में संघर्ष है तो उनसे उबरने की प्रक्रिया भी । "मुक्तिबोध की कविताओं को उनके व्यक्तित्व से अलग रख कर देखना संभव नहीं है ।"[183] निराला की कई महत्वपूर्ण कविताओं के साथ ऐसा ही है । किंतु एक जगह रख जाना पड़ता है । कुछ तो है ? मुक्तिबोधके व्यक्तित्व में जो "पेचीदा" है । मुक्तिबोध ने स्वयं कई बार लिखा है । मित्रों ने लिखा है राम विलास जी ने लिखा है । किसी एक का लिखा हुआ पूरा सच न हो, लेकिन उनका, उनके भाई का, मित्रों का और रामविलास जी के लिखे हुए को मिलाकर एक चित्र ऐसा बनता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनके साहित्य में ; विशेषत: काव्य - साहित्य में "प्रेम-तन्मयता" की स्थिति, नारी की भरी-पूरी देह, स्त्री-पुरुष सम्बंध आदि का न मिलना सहज है क्योंकि वे उस "तन्मयता" को नहीं पा सके थे, जो शक्ति देता है । वे लगातार अकेले होते चले गये - निजी स्तर पर और विचारों में वे एकसाथ होने के पक्षपाती

---

182. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ.

183. - वही - पृ.

थे । उनके जैसे व्यक्तित्व का परिचय मिलता है, वह द्वंद्वात्मक विजय का परिचायक नहीं हो सकता है वहां तो लड़ाई जारी है और हमेशा भीतर लड़नेवाला व्यक्ति न तो ठोस, तन्मय, गहन प्रेम कर सकता है और पा सकता है । इससे मुक्तिबोध का महत्व हमारे लिए बढ़ जाता है कि वे "परिवार" के बाहर सिर्फ अपने दिमाग को ले जा सके । निष्कर्ष यह है कि मुक्तिबोध के साहित्य में सौंदर्यबोधात्मक देह तक पहुंचने के कोई लक्षण, कोई जीवन- समर्थक नारी देह का विचार नहीं प्रतीक नहीं, फंतासी नहीं का नहीं मिलती । मुक्तिबोध की जवनी, बचपन आदि के बारे में कुछ बातें और पता चलेंगी, तब अधिक अधिकार के साथ कहा जा सकेगा। वे निराला के आत्म-संघर्ष, विभाजित व्यक्तित्व अंश के अगली कड़ी के रूप में है । राम विलास शर्मा ने लिखा है -- "विभाजित व्यक्ति की वेदना मुक्तिबोध की अपनी अकेली वेदना नहीं थी । निराला उस नरक वास से अच्छी तरह परिचित थे । x x x निराला अपने जीवन में जो नित मृत्यु-लीला देख रहे थे, उसे बहुत सधी निगाह से मुक्तिबोध ने भी देखा था ।"[184]

निराला के पास व्यक्तित्व-विभाजन के पश्चात् भी एक अखण्ड व्यक्तित्व था, जो यौन-चरम (Orgasm) के चित्र प्रस्तुत कर सकता था । अफसोस कि योंही मुक्तिबोध का व्यक्तित्व द्वंद्वग्रस्त और फिर वह विभाजित व्यक्तित्व के किसी भी हिस्से में फाग लिखने, शरारतें करने और मुसीबतों के आगे अजेय खड़े रहने का माद्दा नहीं था । निराला के अंतर्विरोधों, विरोधाभासों और सृजनात्मक

---

184. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ.

विडम्बनाओं को हम मुक्तिबोध में देखते हैं । ऐसे व्यक्तित्व से हमें स्वस्थ, मांसल, क्रांति के लिए प्रशिक्षित करते, सामाजिकता को महसूसते किसी देह-सम्बन्ध, प्रेम या यौन-चरम की मांग करनी भी नहीं चाहिए ।

मुक्तिबोध से ठीक विपरीत प्रतीत होते नागार्जुन है । "मुक्तिबोध की समस्या थी -- कविता में कहने की आदत नहीं है, पर कह दूं, अंतिमान समाज चल नहीं सकता । नागार्जुन की स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है । उन्हें सीधी से सीधी बात और कई बार एकदम कविता न लगनेवाली बात को भी कविता में कहने की आदत है और खूब है । यह इन दोनों कवियों के मानसिक गठन का बुनियादी अंतर है ।[185]

सौंदर्यबोधात्मक देह के प्रसंग में भी यह सच है । यों तो निराला और बाद में उनके दाय को लेकर बढ़नेवाले पांचों कवियों ने -- "मुक्तिबोध को छोड़कर अपने-अपने ढंग से देह को स्वीकार किया है और शमशेर - त्रिलोचन तो देह के प्रति सौंदर्य-बोधात्मक स्तर पर भी पहुंच सके हैं किंतु नागार्जुन में जो "स्वीकार है, वह त्रिलोचन की तरह ही दिखायी नहीं देता लेकिन इतना उद्दाम, इतना मांसल और इतना उदात्त कि नागार्जुन का, प्रशिक्षण भी संभवतः किसी सीमा तक उसकी सापेक्षता में हुआ होगा, यह अनुमान स्वाभाविक है ।

प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध की उनकी जो नागार्जुनीय रण-नीति है, उसकी एक झलक हम देख चुके हैं । यहां आवश्यक है

---

185. आलोचना 56-57, जनवरी-जून 81, "खतरनाक ढंग से कवि होने का साहस -- केदारनाथ सिंह - पृ. 15

कि हम उनके जीवन से एक घटना की चर्चा करें । इस घटना को मनोहर श्याम जोशी और कृष्णा सोबती ने क्रमश: साक्षात्कारों में लिखी है । प्रमुखता हम कृष्णा सोबती के "साक्षात्कार" को देखेंगे --

"हमने पण्डिताइन से कहा -- देखो, यहां जितने दिन हो, आंखें खुली रखो, नजारे देखो और अपना जनम सफल करो ।"

अपराजिता न समझी । पूछा -- "क्या मतलब ?"

मतलब यह भलीमानस कि यहां दखने तुम्हें इतने खूबसरत नौजवान मिलेंगे कि आंखे तृप्त होंगी और जी की भूख उतर जायेगी ।

अपराजिता कोपकर बैठी -- क्या कहते हो ! अरे, मति ठिकाने है क्या ?

मेरी तो बराबर है पर तुम्हार दिमाग में ही खलल है । पंजाबनों को नहाते देखो। गोरे-चिट्टे पिण्डों को यह कैसे मलमल के नहाती हैं । ऐसे दिव्य दृश्य देखने को तुम्हें और कहां नसीब होंगे ?

पत्नी मौन बनी घूरती रही । रात को बड़ी गंभीरता से बोली -- "मेरे दिल में डर उठता है । याद है न एक बार सौतेली मां ने तुमसे शिकायत कर दी थी कि मैं खुले में बर्फ़ नदी में नहाई थी । उस पर तुमने जो रुद्र रूप धारण किया था, एक तो वह थे तुम और एक यह आज हो तुम ! किसी ने तंत्र-मंत्र तो नहीं कर दिया ?

हमने प्यार से चपत दी -- कब की पुरानी बात कर रही हो । इंसान का अच्छा तो हर दिन बदलत है । हर सुबह नया होता है ।

ऐसा ! तो देखते रहो पंजाबनों को । सेंकते रहो अपनी आंखें । कुछ है भी इनमें ? घोड़े के मानिन्द चलती है अकड़कर .....

मैं ने छेड़ छाड़ की -- यहां आकर मेरे तो दिमाग के दरवाजे पट सब खुल गये हैं ।

क्यों नहीं ! तभी तो ललचाये जा रही है वह साटन की औरतें तुम्हारी । अरे, बदन में कहीं कोई लचक, कोई घुमाव है जो उन पर मस्त हो रहे हो ।

मैं और छेड़ता ।

यहां अपराजिता के बारे में एक बात कहूंगा । हम दोनों में लगातार एक अजीब तरह का अघोषित समझौता रहा । अपनी लंबी यात्रा में उसे दूर-पास से, आमने-सामने और गहरी बारीकी से भी देखता हूं तो एक ही तस्वीर उभरती है -- हम पर अड़ने वाली एक निडर व्यक्तित्व की मालिक ।"[186]

विजयबहादुर सिंह की पुस्तक में यही घटना इस प्रकार है -- "लुधियाना में वैसे नहीं कवि का डेरा था, वहीं पड़ोस में एक हाईस्कूल भी था । नागार्जुन ठीक स्कूल के टाइम पर अपने कमरे की रेलिंग पर खड़े हो जाते और स्कूल जाती तरुणियों को देखा करते । मन में सोचते -- अगर ये तरुणियां इन की आंखों को अच्छी लगती हैं तो उनकी आंखों को तरुण क्यों नहीं भायेंगे ? तो हम उनको भी रेलिंग पर लाकर खड़ा कर देते और कहते -- देखो तुम भी ।

---

186. आलोचना

एकाध रोज तो मन रखने के खयाल से अपराजिता देवी साथ देती रही पर जल्द ही उन्होंने इसमें अपनी अरुचि प्रदर्शित कर दी -- जितनी देर में हम इन्हें देखेंगे, उतने में तो चावल चुन लेंगे। तो हमने कहा -- "हम कहीं जाते है तो आँखों को यह सब अच्छा लगता है। तुम को भी अच्छा लगना चाहिए। समुज्ज्वल सौंदर्य किसे अच्छा नहीं लगता और नहीं लगता तो सीखना चाहिए। भई। वो बहुत डरी इस बात पर और तीन-चार दिन काफी संकुचित रही। मैंने जब तह कीकात की तो कहा -- तुमको अब हो क्या गया है। शादी हुई-हुई थी और मैं नदी में नहाने गयी थी। तो सौतेली सास की झठी चुगली पर तुमने मुझे दो तमाचा मारा था कि वहाँ कुछ नौजवान सीटी बजा-बजा कर चक्कर काट रहे थे और मैं छाती मल मल कर नहा रही थी। उस समय तुम्हारा पौरुषत्व फुंकार रहा था। वो ही तुम हो न? और अब तुमको क्या हो गया है कि कह रहे हो-- देखो, इन सुंदर लड़कों को अपनी आँखों।" तब मुझे लगा कि यही हमारी कमजोरी है इतने बरसों बाद भी अपराजिता देवी को ग्राम्य कन्या के रूप में पाकर।"

पर यह विचार तब भी मन को कुरेदता कि मैं तो अपनी आँखों की भूख मिटा लेता हूँ, यह वैसे रह जाती है? यही सोचता अपने छात्रों में से जो तीन-चार मुंहलगे किस्म के थे, उन्हें घर पर बुलाता बिठाता। चाय पिलाता और उससे कहता कि इनके लिए पकौड़ बनाओ। और उनके साथ छोड़ देता घण्टा दो घण्टा यह सोचते हुए कि इनके साथ बात करेगी तो मन थोड़ा हलका होगा। x x x

---

187. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह - पृ.

आखिर मिलने-जुलने, देखन-सुनने से भी तो आदमी में एक परिष्कृत और उदार सौंदर्य-बोध पनपता है ।"187

उपर्युक्त संस्मरण को पूरा उद्धृत इसलिए किया गया कि इससे हमें उस "प्रतिरोध" की थोड़ी समझ मिल सकती है, जो नागार्जुन अपने प्रदत्त के प्रति कर रहे थे। उपर्युक्त उद्धरण के परिप्रेक्ष्य में अब देखें तो नागार्जुन के पास हमें ढेरों ऐसी रचनाएं मिल जायेंगी, जो अपनी मानवीय दृष्टि की मिसाल आप है । "पाषाणी" में उन्होंने अहल्या का चरित्र उठाया है । "भिक्षुणी" कविता में भिक्षुणी बौद्ध धर्म के संघवाद से पीड़ित है किंतु उसमें नारी की सहज प्रेम भावना है । भगवान बुद्ध के सुंदर रूप को देखकर वह सोचती है -- "कितना कोमल है तुम्हारा यह मुखड । काया यह तुम्हारी कितनी सुडौल है । भले ही कुछ दिन सुलभ रहे जिसको तुम्हारा यह बाहुपाश । अंकुरित यौवना धन्य वह यशोधरा ! "भिक्षुणी अपने अस्वाभाविक जीवन से त्राण चाहती है -- "कोई एक होता, जिसको वह अपना समझती । भूल मातृत्व को मिटा देता वह ।"188

"तुम्हारी वह दंतुरित मुस्कान" कविता में "यदि तुम्हारी माँ न माध्यम बनी होती आज" पंक्ति में उस स्वीकार को कहीं गहरे में देखा जा सकता है, जो पौन को मानवीय, उदात्त गरिमा देता है ।

रागात्मक स्मृति का यह रूप -- "सांध्य नभ में पश्चिमांत समान । लालिमा का जब अरुण आख्यान । सुना करना

---

188. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह - पृ.

मैं सुमुखि उस काल । याद आता है तुम्हारा सिंदूर । तिलकित भाल ।"189

"तुम नहीं हो पास मैं तो तरसता हूं
प्यार के दो बोल सुनने के लिए
एक की ही दस अंगुलियां नहीं है काफी
रेशमी परितृप्तियों का जाल बुनने के लिए ।"190
पास ही सोई पड़ी श्लथ कुंतला
प्रेयसी की थपथपाई पीठ
जग गई तो दिखाकर तारे दो-चार
कहा मैंने पकड़ उसका हाथ
दो घड़ी का हमारा इनका रहा है साथ
हो रहे विदा, गादो सुमुखि एक विहान ।"191

नागार्जुन की प्रेम कविताओं में, देह, नर-नारी संबंध अथवा यौन-संकेत सब घुल-मिल जाते हैं । कहा जा चुका है कि नागार्जुन ने एक ऐसी रणनीति अपनायी है "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध की कि "प्रदत्त" होती ही नहीं पता । नागार्जुन के पास जीवन ही जीवन है । केदार साहित्य से माध्यम से जीवनतक पहुंचे हैं और इसीलिए फांक रह गयी । इनने कहा कि जीवन से ही पहुंचा जा सकता है -- कहीं भी साहित्य तक हो या राजनीति तक किन्तु नागार्जुन में यह है कि वे जीवन के माध्यम से ही पहुंचते हैं कहीं भी और जिस तक पहुंचते हैं -- साहित्य हो या राजनीति या फिर देह और यौनिकता-उसे जीवन में ही बदल देते हैं । सामूहिक

---

189. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह पृ.
190. - वही -
191. - वही -

और व्यक्तिगत को कोई भेद नहीं रह जाता । उनकी प्रेम कविताएं, उनकी देह परक कविताएं और उनकी कविताओं में मिलनेवाले यौन-संकेत सब "काल" (Time) को जीवन में बदलकर और निज को तथा परायों को एकमेक करके ऐसे सार्वभौम "जीवन" में बदल जाते हैं, जहां "शाश्वत" जैसे प्रत्यय को अलग से आरोपित करने का कोई कारण नहीं रहता । एक विशिष्ट तथ्य यह है कि नागार्जुन के काव्य साहित्य पर कोई किताबी प्रतिमान नहीं लागू किये जा सकते ।

हमने "परिवार" द्वारा पृथक्करण की शिक्षा की बात की थी। नागार्जुन ने ऐसी सारी शिक्षा को अपने "जीवन" के पक्ष में कर लिया है । सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जमीन, भारतीयता और जातीय स्मृति भी उनकी कविताओं में अनिवार्य रूप से आती है किंतु अपनी शर्तों पर नहीं, नागार्जुन की शर्तों पर । उनके प्रेम में कोई भी नायक नहीं है -- स्पष्टतः नागार्जुन है, जीवंत व्यक्तित्व वाले नागार्जुन और फिर ये कविताएं किसी की भी हो जाती है ।

सौंदर्यबोधात्मक देह के प्रसंग में नागार्जुन की कविताओं को देखें तो प्रतीत होता है कि शमशेर की तरह ही उनकी कविताओं में सौंदर्य-बोध और देह-बोध एकमेक हुए हैं किंतु शमशेर से एकदम विपरीत ये बोध बिम्ब प्रतीक, अमूर्तता आदि से दूर है । इतना ठोस और जीवंत है सब कुछ कि "वर्णन" या "चित्रण" तक नहीं प्रतीत होता जैसे जीवन का एक देश, पूरे जीवन का प्रतिनिधित्व कर रहा है । यों इच्छाएं हैं, वादे हैं और "तन्मयता" से प्रारंभ की है -- आज तेरी गोद में यह शीश रखकर । क्या कहूं कितना कि जो विश्राम पाया ।"

कहीं कहा नहीं है नागार्जुन ने कि प्यार ही उनको "जगत जीवन" का प्रेमी बना रहा है किंतु इसके बावजूद कि उनकी कविताओं में "जगत-जीवन" और "प्यार" को अलग करके नहीं देखा जा सकता पर "प्यार" की एक स्पष्टत: निर्णायक भूमिका है ।

"कर गई चाक
तिमिर का सीना
जोत की फाँक
यह तुम थी
तिक्खी सी रही रग रग
झुलस गया अंग-अंग
बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझर
उलंग अलगुज-सा खड़ा रहा अनार
अचानक उभरी डालों की संधि में
छरहरी टहनी
पोर पोर में गसे थे टसे
यह तुम थी ।"[192]

इस बल देकर कहना चाहेंगे कि अपनी समग्रता में ये कविताएँ अपनी प्रेरणा में जिस तरह की "देह" को पाती है, वही सौंदर्यबोधात्मक देह है । बिना चरम-चरम (orgasm) के यह भाव-चित्र प्रस्तुत हो ही नहीं सकता था । ध्यान देने की बात यह है कि नागार्जुन में स्थिर या जड़ कुछ भी नहीं है । "प्यार"

---

192. वही ।

यदि "जगत-जीवन" को प्रेमी बनाता है तो यह कोई अद्वन्द्वात्मक एक तरफा प्रक्रिया नहीं है बल्कि जगत जीवन भी "प्रेम" को निर्धारित कर रहा है । उपर्युक्त उद्धृत संस्मरणों में प्रेम और जगत-जीवन के "प्रदत्त" रूप को अपने पक्ष में करने, उनके ढाँचे को तोड़ते नागार्जुन को हम देख चुके हैं । उनके काव्य में एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है, प्रेम और जगत-जीवन के बीच । उनके जीवन की तरह ही । सूक्ष्म सौंदर्य भावना का कहीं कोई आग्रह नहीं फिर भी कौन कहेगा कि "सूक्ष्मता" नहीं है इनमें -- हाड-मांस की बनी हुई, नर-नारी देहों में जीवन-रसी सूक्ष्मता जिस प्रकार रहती है- उसी तरह यहाँ भी कविता के भीतर "सूक्ष्मता" है । कविता से अलग कोई "तथ्य" के रूप में नहीं --

"झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गयी रीढ़

महसूस हुई बाँहों को
पीछे से किसी नार की सहज उष्ण निराबुलसाँसे
कौंधी कहीं चितवन
रँग गये कहीं किसी के होठ
निगाहों के जरिए जादू घुसा अंदर

x x x

रग-रग में दौड़ गयी बिजली
तन गयी रीढ़ ।"[193]

---

193. वही

इन कविताओं का "सौंदर्य" बाह्य-आंतरिक में बाँटकर नहीं देखा जा सकता । एक महत्वपूर्ण अनुभव, जो जीवन को बदल देता है, निश्चित ही अपनी ऊर्जा में सौंदर्यानुभव और यौनानुभव से अलग नहीं होता "यौन" मूलत: स्पर्श है, स्पर्शानुभव है और "झुकी पीठ" का "तन गयी रीढ" में बदलना, "निगाहों के जरिए जादू घुसा अंदर" वही है, जिसे हमने पूर्व -क्रांति के परिप्रेक्ष्य में देखने को कहा था। बुद्धि से परे जहाँ जीवन-ऊर्जा है, जिजीविषा है, और अदम्य जगत-ललक है, वहाँ "यौन" ही पहुंच सकता है, और "निर्धारित चेतना" को बदल सकता है । यदि नागार्जुन वर्गच्युत हो सके हैं तो दूसरे कारणों के साथ उनके प्रेम, देह, या यौन अनुभवों का भी इससे महत्वपूर्ण योगदान है, यह कहने के लिए उनकी कविताएं पर्याप्त है ।

यौन चरम की अनुपस्थिति और राजनीतिक प्रतिक्रियावादिता का गहरा संबंध होता है और नागार्जुन की क्रांतिकारिता के पीछे इसे, कविताओं के माध्यम से जानना जरूरी है । शमशेर की "देह चेतन " अपने यौन-परक पक्ष में भी सौंदर्यबोधात्मक भूमि पर रहने का प्रयास करती है, त्रिलोचन अपनी "सहजता" के कारण उसका निरूपण नहीं कर सके, वह उनकी कविताओं की पृष्ठभूमि में, सूत्रधार की तरह सक्रिय रही, केदार में "यौन" से शक्ति पाने या यौनानुभव का ऐसा रूप जो "प्रेम" का चरित्र आमूल बदल देता हो , कहीं नहीं मिलता, मुक्तिबोध का काव्य ऐसी किसी भी अनुभूति के के लिए ललक मात्र बनाता कर रह जाता है जबकि नागार्जुन की कविता में "देह" प्रेम और यौन के साथ घुले-मिलकर जीवन को बदल सकने की शक्ति का प्रमाण देते हैं ।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हम जिस "सौंदर्यबोधात्मक देह" का प्रत्यय कसौटी के रूप में रख रहे हैं, वह नागार्जुन की कविताओं के लिए एक मात्र कसौटी है । यह भी कि नागार्जुन के काव्य में मिलनेवाली "सौंदर्य बोधात्मक" देह ही "आदर्श" है । ये दोनों बातें नहीं है । नागार्जुन की कविताओं के लिए पहला प्रतिमान सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का ही होगा, जिसने उन्हें जन-कवि बनाया । किंतु "सौंदर्यबोधात्मक देह" और सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध" के प्रतिमानों के प्रसंग में वैसी दरार नागार्जुन के काव्य में नहीं है, जैसे उदाहरण के लिए, मुक्ति बोध के काव्य में है ।

कोई भी व्यक्ति दी हुई स्थितियों और दिये हुए संबंधों से ही अपनी स्थितियां और संबंध गढता है । नागार्जुन के पास जो "प्रदत्त" है, वह चाहे जितना परिवर्तित होकर या रूपांतरित होकर उनके काव्य और जीवन में रह गया हो -- वह है अवश्य । और वह कच्चा माल नकारात्मक गुणोंवाला था । विवाह के ऐन बाद नदी में नहाने की झूठी शिकायत पर नागार्जुन ने पत्नी को पीटा था । उनमें प्रतिहिंसा थी । पलायन था । इन सबसे, इनके प्रति प्रतिरोध से, नागार्जुन का व्यक्तित्व और उनकी कविताएं उपजी है । उन्हें सर्वांगपूर्ण मान लेना उस कच्चे माल को भी एक अर्थ में स्वीकार करना होगा । "झुकी पीठ" को "हथेली का स्पर्श" मिलता है तो "रीढ तनती है" -- यह पीठ झुकती क्यों है ? कवि / नायक / में शैशव बद्ध मूल तो नहीं है ? "देह" का मात्र ऊर्जा-दायी रूप ही एक मात्र पक्ष नहीं है । प्रेम में सहारा दिया

भी जाता है । नागार्जुन के काव्य में "नारी" देह का ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि यह पता चले "दोनों ने एक-दूसरे को ऊर्जा दी । "वर्षों तक पत्नी और पूरी ग्रहस्थी का तिरस्कार करने के लिए घोर ग्लानि, घर की याद और स्थिर शांत जीवन की इच्छा, इन दोनों कविताओं में पूरी शक्ति से व्यक्त हुई" -- यह आदर्श स्थिति तो नहीं है । नागार्जुन का "प्रदत्त" परिवार और चिपन, घुनक्कड़ी और उससे उपजी ग्लानि, ये सब इतना भर कहने की अनुमति देते हैं कि "प्रक्रिया" में नागार्जुन औरों की तुलना में अधिक आगे है । उन्होंने "प्रदत्त" को अपने आचार (= praxis) से या कह लीजिए सौंदर्यबोधात्मक आचार से बदला है, ऐसा बदला है कि "प्रदत्त" की छायाएं दूढे नहीं मिलती फिर भी उसे मिटाया नहीं है और "निहित तत्व" के रूप में वह है । ऐसे में "मां" का अभाव" चाहे जितनी कुशलता के साथ "पत्नी" के चित्र में व्यक्त हुआ हो, अभाव अभाव ही है । एक लिखी जा रही कविता में, शायद पहली बार पत्नी का एक पक्ष कविता में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्वयं को "हमार पगलवा" कहलाया है । इस प्रकार अपनी समूची सौंदर्यबोधात्मकता के बावजूद नारी देह का एकांगी और अधूरा पक्ष ही आ सका है । कवि के लिए वह क्या है ? जोत की फांक । कवि उसके लिए ? हमार पगलवा स्थिति का रूप जैसा है, उससे यही कहा जा सकता है कि "प्रदत्त" की इस भूमिका को नागार्जुन जैसा जबर्दस्त व्यक्तित्व "द्वंद्वात्मक विजय ही व्यक्तित्व है" भी नहीं मिटा सका ।

निष्कर्ष यह कि अपनी सारी सीमाओं के बावजूद नागार्जुन काव्य का देह-रूपान हमारे प्रतिमानों के अधिक अनुकूल

है । यों यदि एक परिदृश्य बनता है तो -- मुक्तिबोध को छोड़कर शेष कवियों के काव्य से जुड़कर वाम सौंदर्यशास्त्र के अनुकूल "देह दर्शन" (Body vision) नागार्जुन काव्य ही बनाता है ।

सौंदर्य बोधात्मक काल और यूटोपिया :

काल (Time) चेतना के बारे में कुछ संकेत पूर्व में दिये जा चुके हैं । "बोध" के गठन के साथ ही काल-बोध जुड जाता है । परवर्ती विकास चेतना, कल्पना आदि में काल-बोध की अनिवार्य भूमिका रहती है । चित्त को काल से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता ।[188] अस्तित्ववाद में, विशेषत: हीडेगरने इसे बलपूर्वक पहचाना और कहा कि "सत्य ऐतिहासिक होता है" । वस्तुत: सत्ता (being) को काल के रूप में ही सम्झा जा सकता है ।[189]

किंतु काल, जैसा भी हम उससे अर्थ लेते हैं कोई निरपेक्ष, या स्वायत्त स्थिति नहीं है । वह मानव सापेक्ष है और चूंकि मानव समाज-सापेक्ष है अतएव काल भी सामाजिक होता है । काल-दृष्टि को भी सामाजिक स्थिति ही निर्धारित करती है । प्रदत्त सामाजिक स्थिति और उससे निर्धारित होते अस्तित्व (being) के बीच एक द्वंद्वात्मक सरोकार होता है और "काल" रचना होता है । सार्त्र

---

188. "Time is The life of The Mind." False Consciousness, Joseph Gabel, P. 253

189. "For Heidegger, Truth is historical, for Gademe says being itself is Time." Ibid. 103.

और ब्लारू का "वर्तमान" संबंधी दृष्टिकोण हम दे चुके हैं। वह अपने आपमें कुछ नहीं है। भविष्योन्मुखता में ही वर्तमान की स्थिति है। नागार्जुन ने एक साक्षात्कार में ऐतरेय, ब्राह्मण से एक श्लोक उद्धृत किया है-- "परिमितं वैवभूतम / अपरिमितं भव्यम।" अतीत परिमित भविष्य अपरिमित होता है। अतीत का मूल्य वहीं तक है, जहां तक हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक हो सके। सो दोस्त हशमत, हमें अपनी दृष्टि बदलनी है। सोच की दिशा बदलनी है। पीछे से आगे की ओर देखना है।"[189]

स्पष्ट है कि दृष्टि बदली जा सकने लायक है, बदली जानी चाहिए और बदली जा सकती है। उस दृष्टि का स्वरूप है -- पीछे की ओर देखना। हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु युग से ही वर्तमान के भविष्योन्मुख होने के लक्षण प्राप्त होने लगते हैं। वाम कविता का आरंभ ही काल-दृष्टि के परिवर्तन से हुआ। किंतु परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि वह इस तरह नया हो गया है कि पुराना छूट जाय। पुराना कभी नहीं छूटता। स्वयं नागार्जुन ने अपने कथन को ऐतरेय ब्राह्मण से संपुटित किया है, जो स्थूल अर्थ में पुरानी किताब कही जा सकती है।

हमें फिर से कहना पड़ेगा कि प्रतिरोध, सृजनात्मक सरोकार या सृजनात्मक प्रतिरोध ही श्रेयस्कर है। अतीत केन्द्रित कालदर्शन के प्रति प्रतिक्रिया दो तरह से हो सकती है। वर्तमान केन्द्रित और भविष्य केन्द्रित। वर्तमान जो कुछ नहीं है। "कुछ

---

189. आलोचना - 56-57 पृ. 235

नहीं" को केन्द्र कैसे बनाया जा सकता है ? वह तो अनुभव की वस्तु है । सृजन एवं सौंदर्यबोध इसी अर्थमें "काल" का खण्डन करता है । कालानुभव का भी यही चरित्र है ।

विस्तार में गये बिना हम यह कह सकते हैं कि जैसे प्रत्येक युग में "मूल्य" बदलते हैं, वैसे ही भूत, वर्तमान, भविष्य भी । क्योंकि यह सामजिक-राजनीतिक आर्थिक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में जन्म लेते, विकसते और सृजन करते मनुष्य के मस्तिष्क का एक विशिष्ट उत्पाद है । "काल प्रवाह, काल-स्थायित्व, शाश्वत, तात्कालिक आदि विषयों पर धीर-गंभीर चर्चाएं प्राप्त होती है और उनमें कुछ ऐसा ज्वर रहता है, जैसे "काल" मनुष्य निरपेक्ष एक ऐसी सत्ता है, जो सर्वशक्तिमान है । देखते न देखते उसकी व्याख्या धार्मिक या आध्यात्मिक शैली अपना लेती है । चिंता से बचने की यह एक सुरक्षा तकनीक ही तो है । सन् 1983 में भी काल और सृजन पर परिचर्चा आयोजित करते हुए निर्मल वर्मा कहते है -- "शायद इस विषय को चुनने के पीछे कहीं हमारे भीतर एक त्रास मौजूदा था -- इतिहास और समय के प्रति मस ।"[189] प्रस्तुत शोध प्रसंग में हमने भी काल-बोध के साथ मृत्यु भय की संबद्धता का उल्लेख किया है । किंतु निर्मल वर्मा उस काल के त्रास के बचाव के लिए "परम और शाश्वत सत्य को काल और इतिहास के विरोध में रखते हैं और विकल्प को चुनने की सलाह देते हैं ।"[190]

---

189. आलोचना - 56-57 पृ. 235

190. पूर्व ग्रह -54 जन-फर. 83 पृ. 6

प्रश्न चिंता से बचाव का है । सांतत्व अथवा मृत्यु के सामने अनंतत्व या अमरता को रखना । यों स्पष्ट है कि "सृजन" में निहित प्रति-मृत्यु संतुष्ट नहीं कर पा रही है । इस असंतोष की प्रतीति के पीछे वही आधारभूत मनोभूमि है, जो कभी आदिम मानव को कर्मकाण्ड की ओर ले गयी थी । इस चिंतन में एक सृजनेतर दबाव काम कर रहा है । एक प्रतीति, जो बीसवीं शती के भयावह राजनीतिक काल की देन है । किंतु "काल की प्रतीति, गति की उन्मुखता अथवा प्रतिमुखता की प्रतीति है । उन्मुखता की प्रतीति से भविष्य का और प्रतिमुखता से अतीत का बोध होता है । संत आगुस्तीन की सुविधाजनक परिभाषा में उन्मुखता प्रतीक्षा या अपेक्षा है और प्रतिमुखता स्मृति है ।"[19]

"बोध" किस तरह एक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि, प्रशिक्षण है, इसकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है । उपर्युक्त उद्धरण में, प्रयुक्त शब्दावली में, "प्रतीक्षा बनाम स्मृति" की समस्या है । स्मृति पर बल देने का प्रयत्न पिछले दिनों अत्यधिक हुआ है । नागार्जुन के द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण को उद्धृत करने में यही तो है कि "स्मृति" परिमित होती है । "परमतत्व हो या परम सत्य" यदि प्रतिमुखता की प्रतीति हो तो प्रस्तुत शोध का पक्ष-प्रतीक्षा या अपेक्षा है । इन शब्दों में ध्वनित निष्क्रियता का परिहार करते हुए । ये शब्द "अज्ञेय" के काल-चिंतन के स्वभाव के अनुकूल है । हमारे यहां तो "स्मृति" को भी भविष्योन्मुख होना चाहिए । यों "स्मृति" को प्रतीक्षा से अलग नहीं किया जा

---

19. संवत्सर - अज्ञेय - पृ. 19।

सकता । प्रत्येक कलाकृति उन दोनों के विलयन का ही तो प्रमाण है । फिर क्या है कि स्मृति-केन्द्रित त्रास का हल "परमतत्व" या "कालातीत आयाम" ढूंढा जाता है । अज्ञेय की महत्वपूर्ण कृति "संवत्सर" अपने पारदर्शी विश्लेषण के बावजूद यदि अंतत: कहीं नहीं पहुंचाती तो मात्र इसीलिए कि वे द्वंद्व को अपनी दृष्टि में समाहित नहीं करते । प्रतीक्षा और स्मृति का द्वंद्व, कालातीतता और कालबद्धता का द्वंद्व तथा भविष्य और अतीत का द्वंद्व -- । यह अकारण आकस्मिक नहीं है कि कलाकार अथवा कला चिंतक कला से बाहर जाकर चिंतन करने लगे हैं और फिर भी "बाहर" उन्हें सब कुछ अमूर्त दिखायी पड़ रहा है ।

स्मृति अपने आप में ही केन्द्र हो तो वह अद्वंद्वात्मकता की उदाहरण होगी । उसे भविष्य या प्रतीक्षा के द्वंद्व में ही देखना होगा । निश्चित ही आचरण के धरातल पर । कला का क्षण "तन्मयता" का क्षण होता है किंतु उस "तन्मयता" को भी प्रशिक्षित किया जा सकता है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है । सब कुछ "दृष्टि" पर निर्भर है, जो अंतत: सामाजिक - राजनीतिक दृष्टि है । निर्मल वर्मा और अज्ञेय का "परम तत्व" या कालातीत आयाम इस अर्थ में राजनीतिक प्रत्यय है । "काल" के विषय में चिंतन करने की दिशा में निश्चित ही बड़ी उलझने हैं । काल निश्चित ही एक समूचे शोध का विषय हो सकता है ।

"काल-बोध" अंतत: बोध है -- के सरलीकरण की सहायता से ही हम संक्षिप्त रूप में उसको प्रस्तुत शोध के संदर्भ में विवेचित करेंगे । सामान्यत: कार्य-कारण के संबंध में संबद्धता के

के अनुमान से ही "काल" का प्रत्यय, उत्पादित हुआ ।जिजीविषा के लिए आवश्यक था कि फिर "समय" की अवधारणा बनें । व्यक्ति को नियंत्रित और निर्धारित करनेवाले "काल" प्रत्यय को उतने ही आयाम हो सकते हैं, जितने मानव-मस्तिष्क गढ़ता चले । हमने राजनैतिक वर्तमान, आर्थिक वर्तमान आदि की बात की ही है । जिसे आज "इतिहास" समझा जाता है, वह भी मनुष्य का रचा हुआ "प्रत्यय" है । सनातन या कालातीत के आगे तो मात्र समर्पित हुआ जा सकता है। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि "इतिहास" या "समय" की पकड में न आनेवाले अबूझ प्रवाह-प्रतीति के प्रति उत्सुकता अथवा उत्कण्ठा समाप्त हुई हो । "इतिहास" या "समय" की अवधारणा की अपर्याप्तता सदैव स्पष्ट रही । कलानुभव और सौंदर्यानुभव में "इतिहास" और "समय" से परे एक "कालातीत" का ही तो साक्षात्कार होता है । अपने से "बृहत्तर" होने, अस्वयं होने, तन्मय होने आदि सौंदर्यानुभवों में काल-बोध का लोप हो जाता है । कहा जा सकता है कि सौंदर्य-बोध, काल-बोध को नकारता है । इसी नकार को "कालातीत" के बोध की संज्ञा दी जा सकती है ।

काल-बोध के साथ ही मृत्यु भय की चर्चा की जा चुकी है । काल-बोध के लुप्त होने का अथवा कालातीत का अनुभव, इस अर्थ में मृत्यु भय से मुक्ति का अनुभव भी है । ऐसा प्रत्येक अनुभव शक्ति देता है क्योंकि भय-मुक्ति समग्र जीवन को पुनर्नवीकरण करती है । संपत्ति केन्द्रित भाव-बोध, चिंताएं और चिंतनाएं भी "काल-बोध से जुड़ी है और कलानुभव उनसे भी मुक्ति देता है ।

यह सब एक प्रशिक्षण है । जिस प्रकार पावलव के कुत्ते प्रशिक्षित हुए थे, उसी प्रकार काल-बोध तथा सौंदर्यबोध के संदर्भ में भी व्यक्ति, समाज परिवार शिक्षा आदि द्वारा प्रशिक्षित होता है । जिस प्रकार अन्य प्रदत्त-प्रशिक्षणों के प्रति उसे प्रतिरोध करना होता है, उसी प्रकार सौंदर्यबोधात्मक प्रशिक्षणों से भी क्योंकि वे "क्रांति" परिवर्तन आदि के संदर्भ में आवश्यक पुनर्नवीकरण नहीं सिखाते । प्रयत्न तो यह होता है कि उस "कालातीत" का अनुभव ही व्यक्ति न कर सके, जो उसे निर्भीक बनाकर क्रांति की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे सकता हो ।

चाहे राजनीतिक काल हो या सामाजिक काल - ये खण्डशः बोध में ही यथास्थितिवाद को बनाये रख सकते हैं । ये अपने में प्रवाह या प्रक्रिया का संकेत भी नहीं देते । भविष्योन्मुखता के रूप में वर्तमान को देखना एक सौंदर्यबोधात्मक "दृष्टि" है । सुविधा के लिए बनाये गये काल-खण्डों के पार देखने की शक्ति "कालातीत" का अनुभव ही दे सकता है । जो सौंदर्यानुभव है ।

यहीं हम प्रस्तुत शोध के अंतर्गत सौंदर्यबोधात्मक काल (Aesthetic Time) की अवधारणा प्रस्तुत करना चाहेंगे । इतिहास राजनीतिक, समाज-दर्शन आदि अनुशासन एक विशेष उत्पादन संबंध-परक व्यवस्था का औचित्य प्रतिपादन करने के निमित्त रचे जाते हैं । इनके आधार पर रचित या स्थिर काल की सीमाएं भी वही "व्यवस्था" होती है । अतीत वर्तमान भविष्य के पारस्परिक संबंधों को भी वही निर्धारित करती है । दूसरे शब्दों में, कहा जाय तो कोई "व्यवस्था" यह नहीं चाहती कि सौंदर्य का अनुभव संभव हो अतएव वहां भी साहित्य-संस्कृति के संस्थाबद्ध रूप "सौंदर्य" को निर्धारित करते हैं । कहना न होगा कि निर्धारित

सौंदर्यबोध "बृहत्तर" "अस्वर्य" आदि प्रतीतियां देने में अक्षम होता है ।

इसीलिए आवश्यक है कि "काल" को सौंदर्यबोधात्मक आयाम दिया जाय । "वर्तमान" की भविष्योन्मुखता को पहचानने के लिए पहले "कालातीत" का बोध आवश्यक है । "इतिहास" को भी फिर इसी "बोध" के निर्देशन में लिखा जा सकता है । "परिवर्तनों" क्रांतियों "और संघर्षों" का मानवीय महत्व भी तभी समझा और रेखांकित किया जा सकता है । इतिहास लेखन उस सौंदर्य-बोध से प्रेरित होकर ही लिखा जाना चाहिए जो मृत्यु-भय को निरस्त करके क्रांतियों का महत्व उद्घाटित करना हो । यों प्राय: इतिहास के नाम पर जो मिलता है वह तो -- "इतिहास केवल एक चक्की रह गया है जिसमें अतीत को निर्विवेक ढंग से पीसा जा रहा है और वह पिसा न कच्चा माल है एक अनिवार्य भविष्य के निर्माण के लिए 2"[192] इस उद्धरण में "निर्विवेक" और "अनिवार्य भविष्य" महत्व पूर्ण पद हैं और ऐसा ही अन्य संस्थाबद्ध अनुशासनों में भी हो रहा है । संस्थाएं अन्य अवधारणाओं की तरह "काल" को भी वस्तु-कृत करती है' "सौंदर्य सृजन और छंद से जुड़े होने के कारण स्वभाव से ही वस्तुकरण को समाप्त कर देता है ।

"प्रत्यय" भी मानव-रचना होते हैं । "चेतना" को "कर्म" से जोड़ते हुए कहा जा सकता है कि "प्रत्यय" मानव कर्म से उपजते हैं । ऐसे में "काल" के संस्था-बद्ध आयामों को पुन: प्रक्रिया" बनाने के लिए आवश्यक है कि वे आयाम "सृजन" और "सौंदर्य" के स्तर पर पुनर्निर्मित

---

192. संवत्सर - अज्ञेय - पृ. 63 पर उद्धृत

हो/राजनीतिक ऐतिहासिक - आर्थिक - सामाजिक, सांस्कृतिक नैतिक आदि "काल" अपने वस्तुकृत रूप से मुक्त तभी हो सकते हैं, जब वे सृजन के स्तर पर फिर से रच जायें। वर्तमान को भविष्योन्मुखी देखने के लिए सौंदर्य-दृष्टि आवश्यक है। काल के सभी आयामों को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर रचे जाने से ही क्रांतिकारी परिवर्तन संभव होते हैं। अतीत और वर्तमान, प्राक-भविष्य के रूप में देखे जाने के लिए एक सौंदर्य दृष्टि पर निर्भर है। काल-खण्डों (अतीत वर्तमान भविष्य) का परस्परिक संबंध भी पूरी तरह से "निर्धारित" होता है। "बोध" को प्रभावित करनेवाले तत्व (समाज-व्यवस्था, राज्य) उन संबंधों के बोध को प्रभावित करते हैं।

तो आवश्यक है कि "कालातीत" का सौंदर्य अर्थात् सृजन का अनुभव किया जाय ताकि संस्थाबद्ध कर दिये गये वस्तु-कृत काल को "मुक्त" किया जा सके। यहाँ प्रासंगिक होगा अगर हम यह कहें कि फ्रायड ने अवचेतन और इदम (Id) में काल-शून्यता मानी थी।[193]

यौन-चरम (Orgasm) के क्षण में भी काल-शून्यता होती है और जीवन के पुनर्नवीकरण में उसका बड़ा महत्व माना गया है।[194] सौंदर्य क्षण या कोई भी महत्वपूर्ण अनुभव (डेविड कूपर के मत को याद करते हुए) "कालातीत" की अनुभूति से साक्षात्कार करता है। राजनीतिक युग में यदि "राजनीति" को संस्थाबद्ध रूप से न लिया जाय और उसे "कालातीत" के अनुभव से जोड़ा जाय तो वह सौंदर्यबोधात्मक राजनीति हो जायेगी।

---

193. "The events of the unconsciousness system are timeless, they are not ordered in Time, are not changed by the passage of time, have no relation whatsoever to Time." सिग्मंड फ्रायड, न्यू इंट्रोडक्टरी लेक्चर्स, पृ. 70 (उद्धृत)। "In the Id there is nothing corresponding to the idea of Time." Ibid.

194. "Orgasm is a timeless moment in which an excess of vitality (body) generates death (no mind as opposed to the sense of mind as 'head' hegemony that subjugates and

हमारे मत को "सौंदर्यवाद" कहकर नकारा जा सकता है। किंतु एकाधिक बार हम स्पष्ट कर चुके हैं कि "वाद" का संबंध हमेशा "संस्था" से होता है और "सौंदर्य" संस्था को नकारता है। निष्कर्ष यह कि काल के संस्थाबद्ध स्मों को मुक्त करने के लिए एक सृजनात्मक आयाम "सौंदर्यबोधात्मक काल की अवधारणा रखनी ही पड़ेगी।

साहित्य के संबंध में यहां अनिवार्यत: भविष्य-बोध और "यथार्थ बोध के मुद्दे उभरते हैं। विशेषत: कविता-विधा को ही हमें ध्यान में रखता है। --

§1§ "राजनीति क्या है ? विष्टा है, मल है
साहित्य क्या है ? गंगा का जल है।
दिखाने के और दांत, खाने के और ....
आपतो अमलेंदुजी ठहरे सैर सपाटे के सिर मौर
जातिवाद डंडा है, राजनीति है मथनी।
करनी अलग है, अलग है कथनी
खाते हैं "गुड़" गुलगुले से रखेंगे परहेज
भारी करामाती लगते हैं आप तो।"

-- नागार्जुन

§2§ "जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी-पासी चमार तेली
खोलेंगे अंधेरे, का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।"

-- निराला।

would annihilate lower body centers on The way To renewed life" The Grammar of living, David Cooper, P41

§3§ "घिर गया है समय का रथ कहीं ।
लालिमा से मढ़ गया है राग ।
भावना की तुंग लहरें
पंथ अपना, अंत अपना जान
रोलती है मुक्ति के उद्गार ।

-- शमशेर

§4§ अपुष्प-पत्र, वक्र-श्याम झाड़-झंखाओं-घिरे असंख्य
भग्न निश्चयों - सृष्टि विचार-स्वप्न भाव के
मुझे दिखे
अपूर्त सत्य की क्षुधित
अपूर्ण यत्न का तृषित
अपूर्त जीवनानुभूति प्राणमूर्ति की समस्त भग्नता दिखी
§ कराह भर उठा प्रसार प्राण का सहज §

-- मुक्तिबोध

§5§ "बीबी बच्चे घर की माया
सबकी दुनियादारी तज के
सूरज डूबे छुट्टी पा के
जिन्दा रहने से उकता के
जैतूने बेहद उरा पी
बे होशी में मर के सोया
खून पसीने से जो पाया
वह कड़वे पानी में खोया ।

-- केदारनाथ अग्रवाल

§5§ जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
उसकी ललकारों में से ललकार एक हो
उसकी अमित भुजाओं में दो भुजा तुम्हारी
चरणों में दो चरण तुम्हारे
आँखों में दो आँख तुम्हारी
तो निश्चय समाज-जीवन को तुम प्रतीक हो

-- त्रिलोचन

"काल" संबंधी विवेचन की पूर्व-भूमिका के साथ यदि इन कविताओं को देखा जाय तो क्या परिणाम उपलब्ध होते हैं ? इन सारे उदाहरणों में "यथार्थ" "भविष्य" और उनके साथ सौंदर्य-बोधात्मक सरोकारों का निदर्शन होता है। नागार्जुन, पाठक या श्रोता को किसी अमलेंदुजी" के बारे में बतलाते हुए उसे ही "आप" कहकर संबोधित कर रहे हैं। "व्यंग्य" के पीछे वितृष्णा रहती। याद करें कि "नागार्जुन का बचपन एक ही शब्द में समेटा जा सकता है - वितृष्णा।" -- नागार्जुन के व्यंग्य के पीछे यदि एक शक्ति दिखायी देती है तो क्या इस तथ्य का इसमें कोई योगदान है ? यह तो स्पष्ट है कि कवि द्वारा संबोध्य अमलेंदुजी एक ही साथ हमारे वर्तमान में है लेकिन चूंकि हमारे वर्तमान में कोई सचमुच के "अमलेंदुजी" नहीं है, इसलिए वे एक विशिष्ट "अमलेंदुजी" है। राजनीति बनाम साहित्य के छद्म -विवाद को यहाँ एक सौंदर्यबोध त्मक आयाम दिया गया है। अमलेंदुजी कवि के कविताई वर्तमान में एक प्रतीक तो बनकर आते ही हैं, वे वर्तमान की निरंतरता (Present-continuous) को भी

संभव करते हैं । कवि सीधे-सीधे अमलेंदुजी से बात कर रहा है । राजनीति, साहित्य, जातिवाद आदि को व्यंग्यात्मक रूप से परिभाषित करते हुए "कवि लोक प्रचलित मुहावरे, कहावतें आदि भी प्रयुक्त करता है । प्रश्न यह उठता है कि "अमलेंदुजी" के बारे में यह कविता यथार्थ चित्रण कर रही है या नहीं ? वह "यथार्थ" कैसा है ? क्या चित्रण के माध्यम से कवि कुछ और भी कहना चाहता है या क्या कविता कुछ और भी कह रही है ?

यथार्थ को हम मनुष्य निरपेक्ष रूप से नहीं जान सकते । ऐसे किसी वस्तु जगत से हमारा कोई सरोकार नहीं है, जो मनुष्य से स्वतंत्र होकर रह सकता है । यथार्थ जो भी है, वह मनुष्य से संबंध की सापेक्षता में ही है । अब यदि मनुष्य की सामाजिक स्थिति बदल रही है तो उसकी चेतना भी बदलेगी और निश्चित ही उसके संबंध और उनका बोध भी ।[194]

यदि विशुद्ध साहित्य के पक्ष में दिये जानेवाले तर्कों और वास्तविक स्थिति को कवि बच्चे लाल के रूप में प्रयुक्त करता है तो यह देखने की बात है कि कवि ने किस प्रकार रूपबंध की आयोजना की है ? प्रथम दो पंक्तियाँ राजनीति और साहित्य की परिभाषाएं हैं । वे परस्पर निर्भर हैं । परिवक्तावादी साहित्य दृष्टि के लिए अभद्र से लगते शब्द प्रयोग स्थिति को पूरी तरह से अपने पक्ष में कर लेते हैं । "अमलेन्दुजी" कवि द्वारा संबोध्य होते हुए भी इस कविता के पाठक या श्रोता नहीं है । दूसरे शब्दों में, कवि के आगे पाठक के रूप में अमलेन्दुजी का वर्ग नहीं है । नागार्जुन के आगे अपने पाठकों की

---

194. Prison Note Book - Gramsci, Antonion
P. 446.

तस्वीर साफ है -- "आम जनता से मेरा मतलब बौद्धिक स्तर पर दर्जा चार तक पढ़ी हुई जनता से है । आर्थिक स्तर पर जो दोनों जून की रोटी खा लेती हो । उसके लिए किया गया कवि कर्म ।[195]

उपर्युक्त कविताँश में जितने भी कथन हैं, वे आप बोल-चाल के हैं । फिर भी कविता में, "स्थिति" में प्रकृतवादी रुझान नहीं है । कवि का उपहास-धर्मी स्वर कविता के "वर्तमान" को न तो अतीत की ओर मुड़ने देता है और न अपने आपमें सीमित करने देता है । जब खुले तरीके से किसी विसंगति का उपहास किया जाता है तो उस उपहास में "स्थिति" का भविष्य झलकता है । शासक विचारधारा में सूक्ष्म-अमूर्त और उदात्तशब्दावली का बाहुल्य होता है और उनके सामने

---

195. नागार्जुन और उनका रचना संसार - विजय बहादुर सिंह पृ. 173 वस्तुत: नागार्जुन ने बादल को घिरते देखा है- "जैसी कविताएं भी लिखी हैं किंतु वे इस ओर आगरुक हैं कि शिक्षा से वंचित जन इसका आनंद नहीं ले सकते हैं । मेरी रचनाएं भी ऐसी होती हैं, जिन्हें आप विदग्धजनों की कह सकते हैं । बादल को घिरते देखा है, कालिदास जैसी लेकिन शिक्षा का अनुपात कभी इतना नहीं होगा कि सब के सब कालिदास के मेघदूत का आनंद ले सकें। इसलिए हमारे युग के कवि को मोटे मुद्दों को लेकर भी कविता लिखनी होगी । मेरे लिए भूख अभी तो स्थायी भाव है । जब तक है, तब तक मुंह कैसे फेरा जा सकता है इस ओर से अब अगर आपको जन सामान्य तक पहुंचना है, तो कविता की स्थिति रंजकता पर भी विचार करना होगा । मुगालता छोड़ना होगा कि आपकी हीगे अच्छी, आपका हलवा अच्छा । मानता हूं कि एक ही कड़छी से सब नहीं चलाया जा सकता पर कुछ भावों को अगर जनता तक पहुंचाना हो तो तुकों का, संगीत का, राग का सहारा लेना पड़ सकता है । भाषा की नाटकीयता भी हमारा साथ दे सकती है ।

विष्ठा, मल, डंडा आदि शब्दों को रखना एक प्रतिपक्ष की कार्रवाई है । मुक्त हास्य अपने आपमें प्रतिपक्ष होता है । बख्तिन के विवेचन को स्मरण करें तो यह निष्कर्ष और भी अधिक सही प्रतीत होगा कि नागार्जुन ही अकेले ऐसे कवि हैं जो "हास्य" को सृजनात्मक प्रतिरोध के लिए कारगर ढंग से प्रयोग करते हैं । बख्तिन ने हास्य को "जन की सामाजिक चेतना" कहा था ।[196]

पूंजीवादी तंत्र में शहर-केन्द्रित साहित्य-वितरण के प्रसंग में हमने लिखित पर बल देकर एक वर्ग को साहित्य में खंड दने की बात लिखी थी । उन तक मौखिक से ही पहुंचा जा सकता है । नागार्जुन की यह या ऐसी कविताएं लिखित के अभिजात को वाचिक से काटती हुई एक सार्थक द्वंद्व खड़ा करती है और सोद्देश्य "हास्य" के माध्यम से वर्तमान को भविष्योन्मुखता में पहचानती है । "यथार्थ" को "वाद" से बांधकर उसे यांत्रिक ढंग से "आलोचनात्मक यथार्थ वाद और "समाजवादी यथार्थवाद" जैसे खानों में बांट देने की प्रवृत्ति ने रचना-संसार को बहुत ही हानि पहुंचायी है । नागार्जुन की बादल को घिरते देखा है और ऐसा व्यंग्य कविताएं क्या एक-दूसरे की विरोधी हैं ? क्या एक असमर्थ है और दूसरी यथार्थ ? "काल" के ऐतिहासिक आयाम में, ठोस सामाजिक व्यवस्था में और उसमें कवि और उसकी रचनाओं को रखकर विश्लेषणात्मक ढंग से देखने पर ही सही निष्कर्षों तक पहुंचा जा सकता है । इस ओर संकेत किया जा चुका है कि यथार्थवाद संबंधी विमर्श प्राय: उपन्यास विधा पर केन्द्रित रहा है । कविता के संदर्भ में उस बहस को ज्यों का त्यों लागू नहीं

---

196. पहले अध्याय "वाद विमर्श" में देह संबंधी विवेचन ।

किया जा सकता । ब्रेख्त - लुकाच विवाद भी कविता को उदाहरण नहीं बनाता । फिर भी उक्त बहस से हम इतना तो जानते ही हैं "यथार्थ" कोई "जड़" वस्तु नहीं है । यदि सृजनात्मक प्रतिरोध का अवलंब रहे तो अतीत और वर्तमान को प्राक् भविष्य के रूप में देखना संभव बन होगा नयी विष्यवस्तु जब साहित्य में आयेगी तो "रूप" ज्यों के त्यों नहीं रह सकते । "यथार्थ" हमेशा ही मानव-यथार्थ है और मानव एक प्रक्रिया है तो यथार्थ निश्चित ही एक प्रक्रिया होगा । उसके चित्रण के मानदण्ड उम्र से ले दे नहीं जा सकते । नागार्जुन की कविताओं में यथार्थ जीवन का जो चित्रण या वर्णन है, वह "बारे में" दूर से देखा हुआ नहीं प्रतीत होता । किसी "अमलेंदु" को सामने खड़ा करके, उससे नाटकीय संवाद और एक उपहास-स्वर के द्वारा "वर्तमान" को काव्यात्मक कथानक में रूपांतरित कर देना ही "सौंदर्य-बोधात्मक" काल है । सौंदर्य प्रभाव है । कविता में जीवन की पुनर्रचना ही नहीं होती, "काल" की भी होती है । उसकी प्रभावकारी पुनर्रचना ही "काल" का सौंदर्य बोधात्मक आयाम होगा । सामाजिक-राजनीतिक आर्थिक "काल" को कविता में सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण के द्वारा ही, समूचे कविता के प्रभावशाली होने का सहयोग बनना पड़ेगा । वह "यथा तथ्य" नहीं रह सकता ।

निराला की उपर्युक्त कविता को इस प्रसंग में देखें तो बात और भी साफ होगी । कविता में "आज" (आज अमीरों की हवेली) शब्द कैलेण्डर का आज नहीं है । वह कवि की इच्छा, कामना, विश्वास और विचारों का "आज" है । कविता में दो बातें "यथार्थ" और "काल" को लेकर ध्यान देने योग्य हैं । कवि "जल्द-जल्द" और "आओ-आओ के साथ "आज" को रखकर एक "विश्वास" की रचना

कर रहा है । "हवेली" पाठशाला और अँधेरे का ताला" -- जहाँ उस "आज" को क्रांतिकारी "आज" या युग बना रहे हैं, वहीं कवि अ से मसीहा बना हुआ नहीं है, वह शामिल है । "ऐसा है" के स्थान पर "ऐसा हो सकता है" अथवा "ऐसा होना चाहिए" का चित्रण भी "यथार्थ" ही है । उपर्युक्त कविता से कहीं अधिक "कुकुरमुत्ता" में निराला का काल-बोध और यथार्थ-बोध का सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण मिलता है । "कुकुरमुत्ता" के प्रकाशन के साथ ही यह निश्चित हो गया था कि कवि की अलग-अलग रहनेवाली "भूमिका" अब बदल रही है । "एक थे नवाब" की बाल कथा शैली में शुरू होती वह कविता "व्यंग्य" की शर्तों पर, विसंगति का चित्रण करते हुए "काल" का इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि जैसे राम की शक्ति पूजा के कवि ने सिनेमाई कला के मोनाज, जक्स्टापोजिशन आदि भी औजार की तरह इस्तेमाल करने चाहे हों । निष्कर्ष यह कि "काल" को रचना में किस प्रकार पुनर्रचित किया जाता है ? यही "यथार्थवाद" और राजनीतिक सोद्देश्यवाद की समस्या है । प्रस्तुत प्रसंग में हम कहना चाहेंगे कि प्रदत्त विषय और "काल" के साथ एक सृजनात्मक प्रतिरोध के अंतर्गत कविता में "विषय" (= जीवन) की पुनर्रचना के साथ साथ काल की भी पुनर्रचना होती है । उस पुनर्रचित काल को हम सौंदर्यबोधात्मक काल की संज्ञा देते हैं । यह काल अपने इस रूप में प्रभावशाली होता है । काल का प्रभावशाली होना निश्चित ही उसके भविष्योन्मुखी होने पर निर्भर करता है । आवश्यक नहीं है कि कवि इसकी स्पष्ट घोषणा करें । नागार्जुन की "अकाल और उसके बाद" कविता में भविष्य की कोई बात नहीं की गयी है फिर भी उसमें व्यक्त उपहास यथास्थितिवाद के विरोध में जाता है । कविता के सौंदर्यबोधात्मक काल में "भविष्य" के संकेत पहचानने की कोई सरल विधि नहीं है । प्राय: सुनहरे भविष्य की

घोषणा करनेवाली रचनाओं में तो "काल" की पुनर्रचना नहीं हो पाती । सौंदर्यबोधात्मक काल न हो तो रचना का "काल" यथा-तथ्यवादी ही रहेगा। यह मात्र शिल्प की समस्या नहीं है । कवि की जीवन दृष्टि ही काल की पुनर्रचना करने में सक्षम होती है । अतीत और वर्तमान की पुनर्रचना भी निस्संदेह उस भविष्योन्मुखता (= यूटोपिया) की ओर संकेत करती है, जो प्रक्रिया की दिशा है ।

शुद्ध "वर्तमान" की पुनर्रचना प्रतीत होती है, शमशेर की उद्धृत पंक्तियाँ किंतु उसमें आया हुआ "है" यथातथ्यवादी नहीं है । पहले एक बिम्ब और उसके माध्यम से भविष्य की ओर संकेत लेकिन कहीं भी कुछ मुखर नहीं । "काल" का यह सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण जिसमें मात्र एक बिम्ब हो और फिर उस बिम्ब के साथ संदेश परक संकेतों को गूंथ दिया जाय । सागर-संध्या का यह चित्रण काल-बोध के सौंदर्य बोध में विलयन का अपूर्व उदाहरण है ।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि नागार्जुन और निराला में "वर्णन" की बहुलता है जबकि शमशेर एक चित्र प्रस्तुत कर देते हैं । उस चित्र के सौंदर्य = प्रभाव को "मुक्ति" से जोड़ देते हैं । मुक्तिबोध के साथ तो ऐसा है कि जैसे सब कुछ को आतरिकीकृत कर लिया गया हो और अंत में ही भाषा बद्ध किया गया हो । भावना, अनुभूति विचार, निश्चय आदि को एक उजाड़ दृश्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है । "काल" की वास्तविक स्थिति नहीं है । एक रिपोर्ट के रूप में जो भी प्रस्तुत किया जा रहा है, वह कवि के भीतर घटित हुआ है । मुक्तिबोध अपने भीतर एक गहरी दुविधा का अनुभव करते हैं । वह

दुविधा मात्र निजी नहीं है । जिस विचारधारात्मक द्वंद्व के बीच वे होते थे, वह सारा का सारा उनकी रचनाओं में चला आता था । वस्तुत: "विषय" के साथ मुक्तिबोध का व्यवहार विशिष्ट था । वे "विषय" की समूची जटिलताओं को आत्मसात कर लेते थे । कहा जा सकता है कि उनका रचना-संसार सीधे-सीधे उस अवचेतन से जुड़ता था, जहां एक तो छात्र या प्रगढ की गुंज इश नहीं रह पाती और दूसरे "काल भी अपनी कालिकता खो देता है । मुक्तिबोध की कविताएं वस्तुत: एक प्रक्रिया है और काल भी वहां एक प्रक्रिया है । अतीत, वर्तमान और भविष्य का यों विलयन हो जाता है कि मात्र भविष्य बचता है । उनकी कविता में अतीत, वर्तमान का रस भविष्योन्मुख नहीं होता बल्कि वह "भविष्य" ही होता है । उपर्युक्त कविता सन् 47 में प्रकाशित हुई थी और मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष, उनकी छटपटाहट और आस्था इसमें मुखर हुई थी । इस मुखरता के अनुपात से ही उनकी कविताओं में भविष्य अथवा यूटोपियात्मकता प्रबल रूप में आयी है ।

काल बोध के अथवा सौंदर्य बोधात्मक काल के संदर्भ में यदि त्रिलोचन और केदार को देखें तो बात स्पष्ट होती है । केदार तो सीधे-सीधे "चैतू" की कहानी लिखते हैं और उस कहानी के माध्यम से स्वयमेव ही "चैतू" जैसों की विडम्बना उभर आती है । "काल" को चैतू के काल में रूपांतरित करके वे उद्दिष्ट प्रभाव प्राप्त कर लेते हैं । केदारनाथ अग्रवाल में आत्म-संघर्ष का प्राप्त न होना उनकी ऐसी कविताओं के लिए अत्यधिक लाभदायी होता है । त्रिलोचन भी उद्धृत काव्यांश में "यदि" के प्रयोग द्वारा काल के सौंदर्यबोधात्मक रूप को स्पष्ट करते हैं ।

"काल" बोध के अनुपात में ही चिंता का प्राबल्य होता है। चिंता का जितना मुखर और तीव्र रूप मुक्तिबोध में मिलता है, वह अन्य कवियों में उतना ही कम है। मुक्तिबोध की कविताओं में चिंता का विस्फोटक रूप है। इसी कारण "काल" भी विस्फोट रूप में ही आता है। निराला में जो काल-संबंधी चतुराई मिलती है, मुक्तिबोध की कविता में इसके लिए कोई अवकाश नहीं है। सौंदर्य बोधात्मक काल की दृष्टि से नागार्जुन निराला, शमशेर और मुक्तिबोध ही अपने विविध आयामों में उपयोगी ठहरते हैं। त्रिलोचन और केदारन में "काल" का कवि कविता में एकायामी रूपांतरण होता है। संभवत: इसीलिए केदार अपनी सफल कविताओं में जीवन के चित्र प्रस्तुत करने के नाते उल्लेखनीय है। ऐन्द्रिक बोध का संसार उनके लिए सहज है। अन्य कई कविताओं में अ-निजी "वस्तु" के प्रति वे सहृदय चित्रण तक ही रुक जाते हैं।

"काल" पर अधिकार पाना ही "यथार्थ" के प्रति कवि के संबंध को निर्धारित करता है। अपनी सफल कविता में कवि वस्तुत: "काल-चित्रण" ही सही ढंग से करता है अर्थात् सौंदर्यबोधात्मक काल की सृष्टि करता है।

उपर्युक्त कविताओं के माध्यम से मात्र आरंभिक संकेत ही दिये जा सके हैं। संक्षेप में कहें तो वर्तमान और अतीत को प्राक्-भविष्य के रूप में रखकर ही कवि अपनी कविता को सार्थक बनाता है और उसके लिए आवश्यक होता है कि वह वस्तु या विषय के बाह्यकाल को कविता में सौंदर्यबोधात्मक कला में रूपांतरित करें।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत प्रसंग में पहले ही यह कहा जा चुका है कि "वाम" संबंधी विवेचन ही, विशिष्ट ढंग से वाम कविता के प्रतिमानों का निर्धारण करेगा । सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध, सौंदर्यबोधात्मक देह और सौंदर्यबोधात्मक काल ये तीन ही निर्णायक प्रतिमान होंगे । प्रतिरोध में सृजनात्मक द्वंद्वात्मक व जीवन समर्थक के गुण अन्तर्निहित हैं । उसी प्रकार "काल" में ऐतिहासिकता तथा यूटोपिया के प्रत्यय अंतर्निहित होंगे । सम बनाम कथ्य, सपाटबयानी, प्रामाणिकता, काव्य-भाषा, बिम्ब, प्रतीक, विसंगति, विडम्बना आदि सारे प्रत्यय और विवाद इन तीनों में समेटे जा सकते हैं ।

वस्तुत: सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध ही प्रमुख प्रतिमान होगा। प्रदत्त वस्तु, प्रदत्त शैली, प्रदत्त भाषा, और प्रदत्त परिवेश के प्रति यह प्रतिरोध ही रचना की मूल्यवत्ता का संकेतक होगा । सौंदर्यबोधात्मक देह और काल तो उस "प्रतिमान" को ही पुष्ट करने के लिए है । कला, कलाकृति और कलाकार को इस प्रतिरोध के आधार पर देखना ही उन्हें समाज और युग की सापेक्षता में सही स्थान दे पायेगा ।

निराला, शमशेर, केदार, किशोरन, नागार्जुन और मुक्तिबोध में से किसी को कम करके आंकना गलत होगा । अपने-अपने परिवार, बचपन, परिवेश और स्थिति (ऐतिहासिक - भौगोलिक आर्थिक आदि) के मुताबिक ही उनकी यात्राएं और प्रस्थान

बिंदु तय होंगे । यह कोई निजी मामला भी नहीं है । सामान्य उत्पादन के तरीकों के अंतर्गत ही साहित्यिक उत्पादन के तरीके निर्धारित होते हैं । मौखिक या लिखित का निर्णय भी सामाजिक स्थिति द्वारा ही किया जाता है । ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हम एक अमूर्त और लचकीले प्रतिमान की सिफारिश कर रहे हैं । किंतु प्रतिरोध अमूर्त नहीं हो सकता । फिर उसे द्वंद्वात्मक, जीवन समर्थक और सृजनात्मक से जोड़कर हम उसे "वाम" के पक्ष में पूरी तरह से सक्रिय कर रहे हैं ।

हिंदी वाम कविता के सौंदर्यशास्त्र के प्रथम उत्कर्ष की अवधि हमने सन् 1950 तक ही रखी थी । मोटे तौर पर कहें तो इस विषय के आस पास से हालत बदल गयी थी । जिन प्रतिमानों के बाबत हमने लिखा है, क्या उन पर परवर्ती रचनाएं खरी उतरती है ? इसका उत्तर द्वितीय उत्कर्ष संबंधी विवेचन के अंतर्गत ही दिया जा सकेगा ।

o
o
o
o
o
o
o
o
o
o
o

खण्ड : दो

o
o
o
o
o

हिंदी वाम-कविता का सौंदर्यशास्त्र : द्वितीय उत्कर्ष (1950-1967)

हिंदी वाम कविता का सौंदर्य शास्त्र : द्वितीय उत्कर्ष
1950-1967

प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत हमने प्रथम उत्कर्ष का काल सन् 1936 से 1950 तक स्वीकार किया है। निराला, पंत, शमशेर, केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन और मुक्तिबोध की कतिपय रचनाओं की पड़ताल भी इस प्रसंग में की है। द्वितीय महायुद्ध के आस-पास तार सप्तक का प्रकाशन हुआ था तो उससे पूर्व की प्रवृत्तियों का एक सामूहिक निदर्शन का स्वरूप उजागर हुआ था। सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध, सौंदर्य बोधात्मक ह्रास देह और सौंदर्य बोधात्मक काल की तीन कसौटियाँ भी हमने निर्धारित की थी। उस काल-खण्ड के बारे में यह कहा जा सकता है कि दो विपरीत शक्तियों का संघर्ष बहुत ही स्पष्ट दिखायी दे रहा था। घटनाएँ, उनकी व्याख्याएँ, निष्कर्ष और उनकी युग-सापेक्षता को समझने के लिए एक ओर सन् 22 से शुरू होते मोहभंग [गांधी और चौरी चौरा काण्ड] की गाथा था तो दूसरी ओर अपने विभिन्न रूपों में "स्वतंत्रता" के लिए किया जाने वाला संघर्ष था। काँग्रेस द्वारा समाजवादी शब्दावली का स्वीकार जहाँ युग के दबाव का द्योतक था, वहीं एक अवसरवाद और छद्म के आरंभ का भी। देश में घटती घटनाओं की तीव्रता और उनकी दिशा ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ती शक्तियों को एक सामान्य मनोभूमि पर ला खड़ा किया था। काँग्रेस और गांधी जी की कार्यनीति ऐसी स्थिति में भी अस्पष्ट थी। प्रसिद्ध अगस्त प्रस्ताव की अव्यावहारिकता के अंतर्गत बिना सोचे-समझे संघर्ष शुरू करने का आवाहन किया गया। नेता गिरफ़्तार हो गये और जन-आक्रोश इस तरह भड़का कि एक ओर रेल्वे स्टेशन, पोस्ट आफ़िस और सरकारी इमारतें जलायी गयीं और दूसरी ओर सरकार की ओर से जबर्दस्त दमन हुआ। जिसे आज अगस्त क्रांति के नाम से जाना जाता है, उसके लिए काँग्रेस नहीं, ब्रिटिश शासक जिम्मेदार थे।[1]

---

1. भारत का मुक्ति संग्राम - अयोध्या सिंह - पृ-715 से 719।
महात्मा गांधी ने स्पष्ट कहा "लगता है कि काँग्रेस ने नेताओं की एक

सन् 47 के सत्ता-हस्तांतरण के पूर्व हड़तालों-जनसंघर्षों और नौ-सेना विद्रोह का ऐतिहासिक महत्व है । महंगाई दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही थी । दमन अमानवीय सीमाओं को भी पार कर गया था । तेलंगाना, पुन्नप्रा-वायालार और तेभागा के अतिरिक्त भी पूरे देश में किसान, संघर्ष कर रहे थे । फिर बंटवारा स्वीकार किया गया । "जब हमने मुल्क पर बँटवारे के ठीक पहले और बाद में नज़र दौड़ायी तो हमने देखा कि मंज़ूरी सिर्फ़ काँग्रेस महा समिति के प्रस्ताव में और मुस्लिम लीग के रजिस्टर पर थी । हिन्दुस्तानी की जनता ने बटवारा मंज़ूर न किया था । दरअसल उसके दिल और रूह इस ख्याल के ही खिलाफ़ बगावत करते थे ।"[2] परिणाम स्वरूप 600000 लोग सिर्फ पंजाब में मारे गये । 1,40,00,000 लोग शरणार्थी बनें । 1,00,000 युवतियों का अपहरण किया गया, बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन किया गया या उन्हें नीलाम कर दिया गया ।[3]

यदि मात्र पंजाब के ये आँकड़े हैं तो बंगाल के मिलादेने पर निश्चित ही आँकड़े दुगुने होंगे । मिली हुई आज़ादी के बारे में गांधी जी के विचार यह थे कि "यह सोता सूख चुका है ।" सन् 48 में 26 जनवरी के दिन उन्होंने कहा --"आज 26 जनवरी है । स्वतंत्रता दिवस है, यह समारोह करना उस समय तक बिल्कुल उपयुक्त था, जब तक हम उस आज़ादी के लिए लड़ रहे थे, जिसे हमने न देखा था, न हाथ में लिया था । पर अब हम इसे हाथ में लेकर देख चुके हैं और ऐसा लगता है कि हमारा भ्रम टूट गया है । कम से कम मेरा तो टूट गया है, आपका भले ही न टूटा हो ।"[4] एक ओर साम्प्रदायिक उन्माद था और दूसरी ओर अपने अनुयायियों की

तरफ़ से गिरफ्तारी ने लोगों को गुस्से से इतना पागल बना दिया कि वे आत्म नियंत्रण खो बैठे । मुझे लगता है कि जो भी तोड़ फोड़ हुई है, उसके लिए सरकार जिम्मेदार है, काँग्रेस नहीं ।" यहाँ तक कि काँग्रेस के संयुक्त वक्तव्य में -"कोई भी आंदोलन आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी या गांधी जी द्वारा आरंभ न किया गया था ।" [वही] बाद में काँग्रेस ने सारा श्रेय ले लिया ।

सत्ता लोलुपता थी । अंतर्विरोधों से भरा जीवन-दर्शन किस प्रकार पराजय बोध का शिकार बनता है, इसका उदाहरण गांधी जी का जीवन था । महायुद्ध और गांधी जी की हिमालय जैसी भूलों ने सर्वाधिक त्रस्त मध्यवर्ग को ही किया । निश्चित ही यह साहित्य के लिए कोई आदर्श स्थिति नहीं थी । सन् 47 के बाद न तो साम्राज्यवादी पूंजी और सामंत-जमींदार वर्ग की लूट-खसोट को समाप्त किया गया और न राज्य-सत्ता का इस्तेमाल मज़दूरों-किसानों और मध्यवर्ग के अत्थान के लिए किया गया ।

हमने सन 1936 में लेखकों के एक जुट होकर सामूहिक सौंदर्य-बोधात्मक कार्रवाई की बात लिखी है । वह सामूहिक कार्रवाई भी निश्चित ही अंतर्विरोधों से भरी हुई थी । प्रगतिशील लेखक संघ के तत्कालीन घोषणा पत्र में कुछ ऐसा विश्वास प्रकट होता है कि जैसे मात्र इच्छा से ही कोई साहित्यकार प्रगतिशील हो सकता है । समाज की क्रांतिकारी शक्तियों अर्थात् मज़दूरों-किसानों से जुड़ने की बात तो की गयी पर यह भुला दिया गया कि लेखकों की वर्गीय रुचियाँ भी होती हैं और वे यदि सायास न बदली जाय तो घातक रूप ले सकती हैं । प्रस्तुत शोध-प्रसंग की पदावली प्रयुक्त करें तो उक्त संगठन से जुड़े कोई भी दो साहित्यकारों के अपने-अपने परिवार और बचपन के प्रशिक्षण से इतना अंतर पड़ सकता है कि एक ही समस्या पर एक ही ढंग से सोचते हुए भी वे दोनों अलग-अलग चरित्र और कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत कर सकते थे । सन् 1936 में बने इस प्रगतिशील लेखक संघ के कालांतर में हुए बिखराव को समझने के लिए यह तथ्य याद रखना आवश्यक है । राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव ने जो एकता लायी थी, वह बहुत ही दुर्बल सिद्ध हुई । ज्यों ही सत्ता का हस्तांतरण हुआ त्यों ही उस अस्थायी एकता की दुर्बलता प्रत्यक्ष हो गयी । ई.एम.एस ने इस स्थिति को इस प्रकार शब्द बद्ध किया है -"प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना के एक दशक बाद ही, देश में एक बहुत बड़ा राजनीतिक परिवर्तन आ गया । हमारा इशारा 1947 के सत्ता हस्तांतरण की ओर है । राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान अस्तित्व

---

2. वही पृ 781
3. वही पृ- 782

आई एकता, जिसने प्रगतिशील लेखकों की श्रेणी को भी प्रभावित किया था, अब एक जबर्दस्त झटके से टूट गयी ।"[5] × × × "परिणाम यह हुआ कि उग्र विवाद की स्थिति उपस्थित हो गयी । एक ओर साम्यवादी थे और दूसरी ओर गैर-साम्यवादी । --"नतीजा यह हुआ कि 1947 में सत्ता प्राप्त होने के दो वर्षों के अंदर-अंदर ही "प्रगतिशील लेखक संघ" अपने संगठनों जैसे इप्टा और अन्य सांस्कृतिक संगठनों के साथ अपने को जिंदा बनाये रखने में असमर्थ हो गया ।"[6]

यह विवाद आवश्यक था क्योंकि झूठी एकता को बनाये रखकर किसी सार्थक परिणाम तक पहुँचने की आशा नहीं की जा सकती थी । संगठन से जुड़े गैर-साम्यवादी लेखकों के लिए सत्ता-हस्तांतरण का अर्थ एक लक्ष्य की प्राप्ति था । वे आस्था, आशा और प्रसन्नता से सराबोर हो गये थे । उनके लिए संघर्ष समाप्त हो गया था और राष्ट्र का उत्थान हो रहा था । दूसरी ओर साम्यवादी लेखकों के लिए यह आज़ादी झूठी थी । उनकी लड़ाई का नया अध्याय शुरू हो रहा था । उस नये अध्याय में सबसे पहले तो यह हुआ कि साम्यवादी लेखकों में ही कार्य नीति को लेकर घनघोर विवाद शुरू हो गये । सन 1949 के भिवण्डी सम्मेलन के बाद से ही स्पष्टत: दो खेमें हो गये ।[7] एक ओर हठवादिता थी और दूसरी ओर व्यापक उदारता । सत्ता के हस्तांतरण के बाद से ही नयी सरकार ने दमन का शस्त्र अपना लिया था । ऐसे में भारतीय बुद्धिजीवियों का समाजवाद बेंचुल बदल कर मात्र अवसरवाद रह गया । "सन 45-46 में कांग्रेसी नेताओं ने जबर्दस्त कम्युनिस्ट विरोधी अभियान चलाया । पंत के हुलमुल होने का यही समय था । नवीन, दिनकर आदि जो समाजवाद के साथ थे, अब राष्ट्रवाद के साथ हो गये थे । भारतीय बुद्धिजीवियों के समाजवादी की परख सन् 48 के बाद ही होनी थी, उससे पहले मुख्य लड़ाई अँग्रेज से थी, भारतीय पूंजी

---

4. गांधी जी और उनकावाद ई.एम.एस नंबुदिरीपाद पृ-93 पर उद्धृत ।
5. कला साहित्य और संस्कृति ई.एम.एस. नम्बुदिरीपाद पृ-5।
6. --वही-- पृ-6।

पतियों से नहीं । पर हिन्दी के अनेक प्रगतिशील कवि और लेखक सन् 47 के पहले तो उग्र समाजवादी थ, सन् 47 के बाद जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने का समय आया, तब वे सरकार या पूंजीपतियों के संस्थानों से चिपक गए ।"[8] राम विलास शर्मा का यह मूल्यांकन वस्तुत: उस संदर्भ की ओर संकेत करता है, जिसके अंतर्गत ऊपर की पंक्तियों में "संकीर्णता" और "उदारता" जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है । वस्तुत: "सुधारवाद" और "संकीर्णता वाद" को संदर्भों से काटकर नहीं देखा जा सकता । उस काल में रामविलास शर्मा ही हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री थे । उनका कहना है कि वे कोई व्यक्तिगत तौर पर नीति निर्धारित नहीं करते थे बल्कि संघ के सभी सदस्यों के साथ विमर्श के पश्चात ही नीति निर्धारित हुई थी ।[9]

इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि सन् 1946 से 1951 तक के बीच में चलनेवाला तेलंगाना सशस्त्र संग्राम भी उस काल के अंतर्विरोधों पर पर्याप्त रोशनी डालता है । पी.सी जोशी, बी.टी. रणदिवे, सी. राजेश्वर राव और अजय घोष जैसे अलग-अलग और विपरीत रंगों के महा मंत्री बनते चले गये और तेलंगाने का संग्राम चलता रहा । आंध्र प्रदेश के साम्यवादियों ने पहली बार क्रांति का भारतीय मुहावरा ढो जा था और इसके लिए उन्होंने माओ का रास्ता स्वीकार किया था । साम्यवादी दल ने आंध्र के साम्यवादी 4 सदस्यों की इस नीति को स्वीकार नहीं किया और माओ को मार्क्सवाद के लिए कसौटी और स्रोत मानने से इंकार कर दिया । सन् 64 और 68 के साम्यवादी विभाजन की पृष्ठभूमि इस प्रकार सन् 46 में ही आंध्रा में तैयार हो गयी थी । भारतीय स्थितियों के नहीं पहचानने के कारण साम्यवादी दल ने 47 के सत्ता हस्तांतरण को भी नहीं समझाया और "मास्को" के निर्देशों का अंध भक्ति पूर्वक पालन करते रहे थे । फिर अवसरवाद भी उन पर हावी हो गया और वे उसके कारण मास्को-नीति

---

7. कंक - सितं-फर - 80 । "प्रगतिशील आंदोलन के अध्ययन की जरूरत" नामक लेख । ले0 सुधीरापचौड़ी पृ-31 से 38

8. निराला की साहित्य साधन - रामविलास शर्मा पृ- 563

9. कथा - 3 पृ-76

के विरुद्ध हो गये । साम्यवादी दलों की आंध्रा के प्रति बदलती नीतियों ने भावी विभाजनों और नक्सलबाड़ी विद्रोही की भूमिका तभी तैयार करदी[10] ।

उपर्युक्त सामाजिक-सांस्कृतिक राजनीतिक स्थिति की अस्पष्टता और अनिश्चय-पूर्ण स्थिति ने स्पष्टतः उस पथ को तैयार करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, जिससे "शीतयुद्ध" ने प्रवेश किया ।

प्रथम उत्कर्ष के अंतर्गत आये "प्रतिरोध" प्रत्यय को सही तरीके से इसी दौर के संदर्भ में समझा जा सकता है । वस्तुतः वाम कविता और उसके सौंदर्यशास्त्र की सही परीक्षा इसी काल में होनी थी और वह हुई थी । उसे अंतर्धारा के रूप में सक्रिय रहकर वर्षों तक अपने को अक्षुण्ण रखना था और उसने रखा इसीलिए सन् 67 के बाद का नया या पुनः वामपंथी उभार संभव हो सका ।

शीतयुद्ध बनाम कविता : एक सौंदर्यबोधात्मक द्वंद्व

द्वितीय महायुद्ध काल के समूल्य-गत द्वंद्वों की झलक हम देख ही चुके हैं । उसके बाद सत्ता-हस्तांतरण को लेकर उन दो विपरीत धाराओं का उल्लेख हम कर चुके हैं, जो एक ओर आस्था विकास के गीतों में केन्द्रित थी तो दूसरी ओर लड़ाई के नये दौर में प्रवेश की सूचना थी । यह भी कहना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि सन् 47 में स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं थी । प्रगतिशील लेखक संघ के एक घटक (गैर साम्यवादी) के बारे में ही यह कहा जा सकता है । साम्यवादी और सह यात्री (Fellow Travellers) बराबर इस तथ्य के प्रति जागरूक रहे कि —"पंद्रह अगस्त को मिली हुई आजादी से जनता को धोखा हुआ । अब आये दिन होने वाली घटनाएँ आंखों में उंगली डालकर हमें इस "आजादी" की नग्न वास्तविकता का

---

10. Indian communism. Split within a split Mohan Ram P.2-41

मोहनराम ने तेलंगाने को "येनान" कहा है और "माओवाद" का आगमन वहीं से माना है ।

दिग्दर्शन करा रही हैं ।" [हंस अप्रैल, 48 का संपादकीय - अमृतराय][11] नागार्जुन ने भी हंस के उसी अंक में लिखा - " औजी अमरीकी जोंकें, देसी जोंकें एक हुई । नेताओं की नीयत बदली भारत माता टेक हुई । × × × कामज़ की आजादी मिलती ले लो दो-दो आने में ।" सन 47, सितंबर में ही अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ, इलाहाबाद के अधिवेशन के घोषणा पत्र में कहा गया --"हम जानते हैं कि दो सौ साल की साम्राज्य-वादी गुलामी की विरासत एक दिन में खत्म नहीं हो सकती । देश में ऐसी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हैं, जो स्वतंत्र भारत में जनता के अभ्युत्थान को अपने लिए सबसे बड़ा संकट समझती हैं । × × × प्रगतिशील लेखक इस बात का बीड़ा उठाये हैं कि निरंतर और संगठित प्रयोग से इन तमाम शक्तियों का विरोध करेंगे । उनके प्रभाव से क्या साहित्य और संस्कृति का विनाश करनेवाली जो प्रवृत्तियाँ फिर सिर उठा रही हैं और जो जनता में विद्वेष और निराशा की भावनाएँ भर कर उस मध्ययुग की ओर ढेल देना चाहती हैं, इन सब प्रवृत्तियों का भी हम डट कर सामना करेंगे ।"[12] मई, 1949 के भिवण्डी अधिवेशन के घोषणा पत्र में और भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया "अगस्त, 1947 के बाद भारतीय जनता की स्वाधीनता की लड़ाई एक नये दौर में दाखिल हुई है । भारतीय पूंजीपति वर्ग, जो राष्ट्रीय आंदोलन के काल में सदा साम्राज्यवाद से समझौता किया करता था, अब खुले आम उसका गठबंधन साम्राज्यवाद से हो गया है ।"[13]

ऐसी स्थिति में यह कथन सही नहीं प्रतीत होता - 1947 में भारत को स्वाधीनता मिलने के साथ काव्य का ऐतिहासिक संदर्भ बदल चुका था । आज़ादी के आरंभिक तीन-चार वर्ष भारी उथल-पुथल के थे । × × × परिवर्तन की प्रकृति को ठीक-ठीक पहचानना और पहचान कर उसके साथ अपनी संगति बैठाना आसान न था ।"

---

11. अंक- 48, सितम्बर-अक्तूबर, 80 में सुरेश पचौरी के लेख प्रगतिशील आन्दोलन के अध्ययन की जरूरत में उद्धृत पृ-31. ध्यातव्य है कि प्रगतिशील लेखक संघ में ये जो दृष्टिकोणों के भेद उभर कर आये थे, वे अंततः यही दर्शाते हैं कि सन 36 में आरंभ हुई सामूहिक कार्रवाई में "वर्गीय दृष्टि" गत भेदों पर

ठीक-ठीक पहचान तो लिया गया था किंतु वास्तविक युद्ध के समाप्त होने के साथ ही "शीतयुद्ध" आरंभ हो गया था । प्रस्तुत शोध प्रसंग में हमने बल देकर कहा है कि सामान्य उत्पादन के तरीकों ‖साउत‖ और सामान्य विचारधारा ‖साविध‖ से काटकर साहित्यिक उत्पादन के तरीकों ‖साहित्उत‖ और सौंदर्य बोधात्मक विचारधारा ‖सौविध‖ को नहीं देखा जा सकता । लेखक को केन्द्र में रखकर स्थिति को आँकने का प्रयत्न जो अलग-अलग दृष्टिकोणों से विजयदेवं, नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा और नामवर सिंह ने किये हैं, वह अपनी पूरी महीनता के बावजूद अब द्वंद्वात्मक दृष्टि का सूचक है । रचनाकार और बुद्धिजीवी भी सामान्य व्यक्ति की तरह ऐतिहासिक सामाजिक स्थितियों से अनुकूलित होता है । सन् 47 से 51-52 तक के समय को उसकी समग्रता में देखकर ही उस के साहित्य काल के बारे में कुछ कहा जा सकता है ।

सत्ता-हस्तांतरण के तुरंत बाद ही सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर शीतयुद्ध की सक्रियता दिखायी देती है । सरकार द्वारा दमन तीव्र हो गया था और बुर्जुआ प्रेस ने हमला बोल दिया था । प्रगतिशील लेखक संघ के नेतृत्व ने भी ऐसी स्थिति में कुछ वैसी ही गल्तियाँ की, जिस प्रकार साम्यवादी दल का नेतृत्व कर रहा था । संघर्ष के दौरान गल्तियाँ होना स्वाभाविक है । सत्ता-~~हस्तांतरण~~ हस्तांतरण के चरित्र को न समझने के कारण गल्तियाँ हुई किंतु "सामूहिक कार्रवाई" का जो आरंभ 1936 में हुआ, वह यदि विघटित होता हुआ दिखायी देता है तो सारा अपराध किसी एक समूह या व्यक्ति के मत्थे मढ़ देना कहीं नहीं पहुँचाता । केवल "कल्पना" से संघर्षों का पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता । चाहे जितना वैज्ञानिक आधार उस पूर्वानुमान का हो, किंतु उस आधार की एक सीमा होती है ।[15]

पर ध्यान नहीं दिया गया था ।

12. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - रेखा अवस्थी पृ-320

13. —वही— पृ-321-322

14. कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह पृ- 95-96.

राजनीतिक काल में हस्तक्षेप और परिवर्तन के उद्देश्य से साम्यवादी दल की स्थापना हुई थी और तब से यदि उसका इतिहास "संघर्षों" का रहा है तो उसी अनुपात में ही "गल्तियों" का भी रहा । यह एक तथ्य है कि साम्यवादी दल की उत्पत्ति अपने चरित्र के लिए "पश्चिम" पर आधारित थी । सन् 1947 से पूर्व यदि भारत, राजनीतिक रूप से ब्रिटिश उपनिवेश था तो साम्यवादी दल भी ब्रिटिश साम्यवादी दल से उसी तरह जुड़ा था । उसी के माध्यम से वह रूस से जुड़ता था । मोहन राम ने स्पष्ट शब्दों में यह बताया है कि सन् 1946 से पूर्व साम्यवादी दल ने अपनी ज़मीन से जुड़कर अपनी एशियाई सच्चाई (Asian reality) को पहचाना हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता ।[16] तेलंगाने के सशस्त्र संग्राम को ही यह श्रेय दिया जा सकता है कि उसने किसान केन्द्रित समस्याओं को अपने तौर पर पहचाना । यह तथ्य सर्व विदित है कि रूस के सक्रिय हस्ताक्षेप से ही तेलंगाना संग्राम को रोका गया । अक्तूबर 51 में गोपालन द्वारा संग्राम को स्थगित करने की घोषणा के साथ ही साम्यवादी दल ने नेहरू सरकार के साथ सहयोग का शस्त्र अपनाया और संसदीय चुनावों की राजनीति के साथ तालमेल बिठाया । सन् 1964 के विभाजन तक साम्यवादी दलों में सही नीति सम्बन्धी विवाद ही प्रमुख रहा ।

---

15. "असल में "वैज्ञानिक रूप से "सिर्फ संघर्ष को कल्पित किया जा सकता है, संघर्ष के सजीव(concrete) क्षणों को नहीं । संघर्ष के सजीव क्षण विरोधी शक्तियों के सतत आंदोलन का परिणाम होते हैं, जिन्हें निर्धारित मात्रा में घटाया नहीं जा सकता । कारण कि इन क्षणों में यात्रा लगातार गुप्त में बदल रही होती है ।" - ग्राम्शी - उत्तर गाथा - अप्रैल-जून 83 में मनमोहन द्वारा "जनवाद के हमारे दौर में यथार्थवाद का मसला" नामक लेख में उद्धृत पृ-31

16. "Distinctively western in origin, the communist movement in Pre-Indefendence India was a colonial adjunct of the commuist party of Great Britain which in turn was suborned to Moscow .XX The CPI had very little Asian character to it and had set its

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि विश्व फलक पर बड़ी शक्तियों द्वारा लड़े जा रहे "शीतयुद्ध" का पर्याप्त प्रभाव भारतीय स्थितियों पर पड़ रहा था और ऐसे में "साहित्य" निरपेक्ष नहीं रह सकता था । नव रोमनवाद की लहर में अंतर्विरोध दब गये । नामवरसिंह के मन से यह "भ्रम" भी ऐतिहासिक महत्व का था क्यों कि ---"कभी कभी "भ्रम" भी काव्य में रचनाशीलता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है ।"[17]

कहा जा चुका है कि नेहरू 35-36 की कांग्रेस सरकारों से अपने असंतोष को प्रकट कर चुके थे । बाद में स्थितियों को गिरते हुए, गांधी जी को पराजय-बोध से ग्रस्त होते हुए और "आज़ादी" को छलावा सिद्ध होते हुए उन्होंने न देखा हो, ऐसा बात नहीं । यह भी नहीं माना जा सकता कि बुद्धिजीवियों और उनके प्रतिनिधि-प्रतीक नेहरू की बौद्धिक क्षमताएँ सन 48 के बाद क्षीण हो गयी हो । वस्तुत: सब कुछ जानते हुए भी उस युग के अनिश्चय के दबाव ने उन्हें इतना था दिया था और गांधी जी की मृत्यु ने उन्हें इतना शून्य से भर दिया था कि वे ऐश्वर्यी-कृत (glorified) आत्म-छलावे में मुग्ध होकर वैसे रहना चाहते थे ।[18]

---

sight an a classical working class revolution. Led by petit bourgeios intellectanl and directed from London and Moscow The party wnt through a Welter of confusion over the strategy and tectics of the Indian revolution, reflected in its weird tactical zigzags throughout. It was not until after 1946 when the movement was over 20years old , that any part of the CPI came close to the Asian reality of discovered a strategy of its own " Indian commnuism split within a p split - Mohan Ram P97

17. कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह पृ-97

उस काल में अगर हम आशा और विश्वास के गीत सुनते हैं तो वे वस्तुतः उस खोखली आशा और झूठे विश्वास को ही व्यक्त करते हैं, जो कांग्रेस सरकार पूरे देश में जगाने पर उतारू थी । पंचवर्षीय योजनाओं की शुरुआत कुछ इतने ताम-झाम से हुई कि आर्थिक क्रांति की संभावना साकार होने लगी । ऐसा प्रतीत होने लगा कि अगर पंचवर्षीय योजनाएँ निजी क्षेत्र को विकसित करने और उन पर सरकारी-क्षेत्र और सहकारी क्षेत्रों का नियंत्रण रखने के अपने लक्ष्य में सफल हो गयी तो भारत सम्पूर्ण विश्व में हो रही तकनीकी-औद्योगिक क्रांति में सम्मिलित हो जायेगा । रहस्य तो तब उद्घाटित हुआ, जब मोनोपोली कमीशन (1965) और इजारी कमीशन (1967) की रपट आयी और पता चला कि कुल मिलाकर आर्थिक क्षेत्र में एकाधिकार ही बढ़ा है और इससे पूरे राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक जीवन के लिए संकट की घड़ी आ गयी है । इजारी कमीशन की रपट में तो शासकीय तंत्र और मंत्री-मंडल के भ्रष्टाचारों की ऐसी पोल खोली गयी थी कि यह कहना अधिक सही होगा कि सन् 51 के आसपास किसी नेहरू-युग या "नये युग" के आरंभ होने के बजाय एक "भ्रष्टाचार-युग" का आरंभ हुआ हो । यहाँ यह स्मरण करना उपयोगी होगा कि सन् 52 में स्वीकृत की गयी "राष्ट्रीय औद्योगिक नीति" में यह आश्वासन दिया गया था कि आर्थिक इजारेदारी नहीं बढ़ने दी जायेगी । किंतु "औद्योगिक लाइसेंस" के तथाकथित अंकुश के बावजूद पहले आम चुनाव के आसपास ही इजारेदार घरानों, उच्च-अधिकारियों और राजनैतिक दलों का एक त्रिगुट या तिगड्डा स्थापित हो गया था । पूंजीवाद का यह जबर्दस्त अंतर्विरोध था कि औद्योगिक

---

18. वस्तुतः सन 47 से पूर्व "स्वतंत्रता" प्राप्ति का मूल्य, जीवन का अंग नहीं बन सका था । वह "प्रदत्त" था । ज्यों ही सत्ता हस्तांतरण हुआ, "स्वतंत्रता" प्राप्ति का भ्रम पालना, सुविधाजनक लगने लगा । फिर आश्वासन और घोषणा पत्रों के शब्द तो थे ही ऐसे कि भविष्य एक दम सुनहरा दिखायी देने लगे ।

19. आधुनिकता और आधुनिकीकरण - रमेशकुंतल मेघ पृ-110 पर उद्धृत

स्थिति पिछड़ी रही और एकाधिकार स्थापित होता चला गया । मुद्रा स्फीति, बढ़ती हुई आर्थिक विषमता आदि इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं कि सन 47 के बाद की प्रशासन तंत्र का उपनिवेश-परक ढंग ही यथावत रहा । इसस्थिति पर रोज़ालक्ज़म बर्ग का यह कथन उचित ही लागू हो सकता है - "प्रजातंत्र वह लंगोटी है, जिससे पूंजीवादी तानाशाही का नंगापन ढँका रहता है ।"[19] यदि उस तथाकथित "नेहरू युग" के उत्तरार्द्ध में हम आम जनता को आत्म निर्वासित स्थिति में उदासीनता में डूबा हुआ पाते हैं तो यह सहज ही थी था ।

प्रश्न उठ सकता है कि जो लोग सन 47 से पूर्व स्वतंत्रता सेनानी थे और जिनकी बलिदान-भावना में रत्ती भर भी संदेह नहीं किया जा सकता ; वे क्या करने लगे थे या उन्हें क्या हो गया था ? समाजशास्त्रियों ने बताया है कि जब भी कहीं क्रांति अवरुद्ध हो जाती है तो व्यवस्था में पहुँचे हुए लोग कठमुल्ला अथवा बगुला-भगत बन जाते हैं । यह ऐसी ही स्थिति थी, जैसी प्रसिद्ध बल्गारियन कहानीकार हिस्टो स्मिरनेस्की ने अपनी एक बहुचर्चित कहानी में बतलाया है । उस कहानी का नायक जनता की शिकायत करने स्वर्ग जाता है और रास्ते में शैतान को आँख, कान और जीभ बतौर रिश्वत दे देता है ।

सभी जानते हैं कि सन् 47 के सत्ता-हस्तांतरण के बाद धीरे-धीरे "न्याय" की अपेक्षा "स्थिरता" [स्थिर सरकार] को ऊँचा मूल्य माना गया । राजनीतिक स्थिरता की महत्वाकांक्षाओं ने आर्थिक प्रगति को पीछे धकेल देने में भी कोई झिझक नहीं दिखायी । यहाँ यह ध्यान नहीं रखा गया कि "स्थिरता" को न्याय और आर्थिक प्रगति से काटकर नहीं देखा जा सकता । सामयिक तौर पर "स्थिरता" का छलावा भले ही खड़ा हो जाय । इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि "स्थिरता" की आड़ लेकर धर्म, भाषा, जाति, प्रांत, राष्ट्र आदि के माध्यम से प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ मज़बूती पकड़लेती है ।

ऐसी स्थिति में विश्व-साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच विश्व-स्तर पर शीत-युद्ध चल रहा था और भारत तथा उसका साहित्य भी उसकी गिरफ्त में आ चुका था । यहाँ यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि "शीत-युद्ध" में प्रकट तौर पर बहुत कम लड़ाई होती है । यहाँ तक कि इस ओर या उस ओर "पक्ष" ग्रहण करते जन भी नहीं जानपाते कि वे वस्तुत: "शीत-युद्ध" के योद्धा की भूमिका निभा रहे हैं । स्टीफ़ेन स्पेण्डर का यह बरबस-के-बाद जानना कि एनकाउण्टर में सी आइ ए ने धन लगाया है और जानने के बाद संपादक-पद से त्याग पत्र देना इस का एक प्रसिद्ध उदाहरण है । इस जानकारी के पहले अपनी सारी ईमानदारी और प्रामाणिक वैचारिकता के बावजूद स्टीफ़ेन स्पेण्डर "शीत-युद्ध" के एक अदना मोहरा भर थे । हिंदी के संदर्भ में भी न तो इलाचंद्र जोशी को बेईमान कहा जा सकता है और न अज्ञेय या परिमल के किसी सदस्य को । फिर भी वे उन सारे मुद्दों पर प्रतिक्रियावादी शक्तियों का साथ दे रहे थे, जो प्रगति और क्रांति से जुड़ते हैं । दो विपरीत शक्तियों के द्वंद्व में यह बात भी महत्व पूर्ण है कि किसी भी एक शक्ति से जुड़ेक व्यक्ति या समूह में भी अंतर्विरोध होते हैं । बचपन और परिवार के माध्यम से युग और काल अपने-अपने ढंग से व्यक्तित्व के साथ सरोकार रखते हैं । लक्ष्मीकांत वर्मा ने सन 67 में लिखित अपनी लेख माला "हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष" के आरंभ में ही अपनी पीढ़ी के 42 में किशोरवस्था में होने को रेखांकित किया है । यह ध्यातव्य है कि सन 42 के आस-पास जो किशोर थे अर्थात सन 25 के आसपास जिनका जन्म हुआ था, वे एक तीव्र विरोधाभास में जीने को विवश थे । लक्ष्मीकांत वर्मा की उसलेखमाला की विशिष्ट बात यह है कि स्पिरिट में वे पूरी तरह से ईमानदार हैं । सन 47 के बाद के भ्रष्टाचार और अवसरवाद का जो बोल-बाला हुआ, उस पर उन्होंने सही ढंग से बात की है । उनका यह निष्कर्ष सही है कि "सन 45 तक भारत के प्राय: सभी नये और पुराने लेखक किसी न किसी रूप में प्रगतिशील साहित्य आंदोलन से संबद्ध थे ।"[20] और यह भी

---

20. कल्पना 184 मई, 67 पृ-15

"जब राजनीति से नैतिकता का लोप हो जाता है और वह केवल सुविधाओं के आधार पर नैतिकता की व्याख्या करने लगती है तो मूल्यों में जो संक्रमण की स्थिति पैदा होती है - मुझे लगता है, वह युग सन 1948 से ही प्रारंभ होता है।"[21] इसके बाद वे "परिमल" से जुड़े होने के कारण प्रगतिशील लेखक संघ को निशाना बनाते हैं। पूरी समग्रता में न देख वे प्रगतिशील लेखक संघ बनाम परिमल के द्वंद्व को अद्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं और सीधे-सीधे किसी एक पक्ष को अपना सब कुछ मानने लगते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ और परिमल को दो विपरीत दृष्टियों का प्रतिनिधि मानना और स्वयं को "परिमल" से एकदम जोड़ देना - उस लेखमाला को भी अंततः शीतयुद्धीय कारवाई में घटो देता है। प्रस्तुत शोध प्रसंग की दृष्टि में प्रदत्त के साथ द्वंद्वात्मक सरोकार न रखने या न रख सकने के कारण ही ऐसा हो पाता है। प्रगतिशील लेखक संघ के नेतृत्व से गलतियाँ हुई थी, यह हम कह चुके हैं किंतु लक्ष्मीकांत वर्मा उन गलतियों को अपनी भावाकुल शब्दावली में बढ़ा-चढ़ा कर कहने में यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि "परिमल" से कोई गलती नहीं हुई थी या हो ही नहीं सकती थी। यही "परिमल" का पक्ष स्पष्ट हो जाता है। पूरी ईमानदारी के बावजूद "प्रदत्त" के आगे सम्पूर्ण समर्पण किया जा सकता है, इसकी मिसाल "परिमल" है।

वस्तुतः प्रदत्त काल या इतिहास की वस्तु-कृत (reified) सतह के परे देखपाना या न देख पाना भी सामाजिक राजनीतिक आदि स्थितियों द्वारा ही निर्धारित होता है।[22] निष्कर्ष के बतौर लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैं —"कहने का सारांश यह कि जिस पीढ़ी के हम लोग हैं, उसने इन्हीं विरोधाभासों में अपना जीवन बिताया है। कथनी और करनी में सामंजस्य हीं नहीं है। यदि है तो निहित स्वार्थों के लिए।"[23] इस कथन

---

21. कल्पना 184, मई, 67 पृ-17

22. Marxism and form - Fredric Jamson
किसी भी युग में जो दो विपरीत शक्तियाँ द्वंद्वरत होती है, वे पूरी तरह से प्रदत्त सामाजिक-राजनीतिक-ऐतिहासिक स्थितियों की सापेक्षता में ही संभव हो पाती है।

का सारा बल लेखक के जाने या अनजाने "पीढ़ी" पर है और इसने फ्रेडिरिक जेम्सन के ज़ोला-बाल्ज़ाक विवाद में प्रयुक्त "ऐतिहासिक भाग्य" (Historical Luck) पद-युग्म की चर्चा की थी, वही यहाँ भी लागू हो सकता है । यह भी उस पीढ़ी का चुनाव नहीं था कि दूसरा महायुद्ध हुआ और दुनिया के नक्शे पर बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये । ब्रिटेन दुर्बल हो गया तो अमरीका सबसे बड़े-बड़े बकिंघमबर्ग साम्राज्यवादी देश के रूप में उभरा । संभवत: इसका कारण यह था कि जहाँ ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि दूसरे साम्राज्यवादी देश युद्ध के मैदान बने हुए थे, वहीं अमरीका इतनी दूर था कि उसके कल-कारखाने एकदम सुरक्षित रूप से बचे रह गये ।

युद्ध से बदली हुई व्यवस्था में कुछ बातें और हुई । एक ओर तो औपनिवेशिक व्यवस्था समाप्त हो रही थी और दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था के विकास की संभावनाएँ प्रकट होने लगी थी । ऐसी स्थितियों में शीतयुद्ध शुरू किया गया । "इस शीतयुद्ध की नीति की खुली घोषणा - 5 मार्च 1946 के भाषण में अमरीका के फल्टन शहर में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री चर्चिल ने अमरीका के उपराष्ट्रपति ट्रूमेन के साथ सलाह मशविरे के बाद की ।"[24] अप्रैल 1949 में नाटो की स्थापना हुई ।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर के इस परिदृश्य का राष्ट्रीय और प्रांतीय स्वरूप भी बना । सन 47 के बाद ही सच्चे प्रगतिशील व्यक्तियों और प्रगतिवादी आंदोलन की छिछालेदर होने लगी । ऐतिहासिक-सामाजिक आवश्यकता तो यह थी कि भारतीय जनता को मोह ग्रस्तता से उबारा जाता, समाज में व्याप्त अन्याय को प्रकट किया जाता किंतु शीतयुद्ध के साहित्यिक आयाम के कारण इसे ठीक विरुद्ध लक्ष्यों के लिए सक्रियता दिखायी पड़ती है । यदि उस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों को देखा जाय तो सरकार और

---

23. कल्पना - 185 - जून 67 पृ- 49

24. मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया - अशोक चक्रधर पृ-18 उसी भाषण में "लौह पट" (Iron curtain) का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया । अर्थात रूस और उसके साथ समाजवादी देशों पर हमला करने के लिए उनकी स्थितियों

साहित्य में एक समानुपात दिखायी देता है --

1. वास्तविकता को प्रकट करने के बजाय उसे छुपाने की कोशिश
2. व्यक्तित्व के समग्र विकास के बजाय उसे नष्ट करना
3. सार्थक लक्ष्यों तक ले जा सकने वाली समस्याओं से कतराना ।

उपर्युक्त विवेचन साक्षी है कि जहाँ कांग्रेस सन 30 से ही वास्तविकता को छुपाने की कोशिश कर रही थी, वहाँ साहित्य भी, अधिकांशत: और सन् 47 के बाद विशेषत: यही करने के रास्ते पर चल पड़ा था ।

एक ओर तो तथाकथित आज़ादी के प्रचार प्रसार ने प्रकटत: उस असंतोष को शांत करने की भूमिका निभायी जो चौथे दशक में प्रगतिशील लेखक संघ के निर्माण का कारण बना । कतिपय रचनाकारों के लिए एक आस्था-युग शुरू हो गया था । दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शीतयुद्ध का प्रचार-प्रसार इस प्रकार हुआ कि सन 50 में बर्लिन में एक सम्मेलन "कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम" नाम से हुआ जहाँ स्पष्टत: समाजवाद के विरोध की बात की गयी । उसी के अनुकरण में, बंबई में भी "कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम की स्थापना हुई । उसके नेता अज्ञेय थे । मुक्तिबोध द्वारा सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण पर ज़ोर देना इसलिए महत्वपूर्ण है कि उन्होंने देखा कि "सामाजिक संघर्ष" और आंतरिक संघर्ष को काट कर अलग-अलग देखा जा रहा है । कुंठा, निराशा, बेचैनी आदि भावनाएँ अपने आप में कभी भी घातक नहीं होती लेकिन उन्हें व्यापक सामाजिक संदर्भों में जोड़ कर ही देखा जाना चाहिए । यदि ऐसा न हो तो वे आत्मग्रस्तता का उदाहरण मात्र बनकर रह जाती है । उस आत्मग्रस्तता के प्रचार-प्रसार के कारण एक "जड़ी भूत सौंदर्याभिरुचि" का निर्माण होने लगा । कविता में एक खास काट के बिम्ब, भाव, बिम्ब और शब्द ही स्वीकृति और प्रशंसा पाने लगे ।[25]

की विकृत व्याख्या के साथ प्रचार-प्रसार हो ।

25. मुक्तिबोध रचनावली पाँच पृ-339 । मुक्तिबोध ने अपनी गहरी सामाजिक दृष्टि के कारण तथाकथित साहित्यिक सिद्धांतों के पीछे सक्रिय "शीतयुद्ध" और वर्ग-रुचियों को देखलिया था । उच्च मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग के भेद पर बल इसी प्रसंग में महत्वपूर्ण है ।

मुक्तिबोध ने इस आंदोलन के पीछे सक्रिय शीतयुद्ध और वर्ग रुचि को स्पष्ट प्र परिलक्षित किया । "इस संकुचित व्यक्तिवाद में शीतयुद्ध के उद्देश्य छिपे थे ।" आधुनिक भाव बोध तथा लघु मानव के सिद्धांत इस प्रकार रचे गये कि इन में "उन उत्पीड़नकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है, जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूंजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं, तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है जिन्हें हम जनता कहते हैं , शोषित वर्ग कहते हैं । यहाँ तक कि इस आधुनिक भाव-बोध में उस देश-निर्माण का स्वप्न भी नहीं है, जिसके अंतर्गत हमारे यहाँ औद्योगीकरण हो रहा है, न उस देश निर्माण का जब कि गरीब-अमीर खेमे ही नहीं ।"[26] मुक्तिबोध ने उस काल के सिद्धांतों "के आसपास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धांतों में शीतयुद्ध की छाप ।" देख कर ही लिखा था × × × "सन् 51-52 के अनंतर, साहित्य-क्षेत्र से विशेष कर काव्य-क्षेत्र से, प्रगतिवादी विचार-धारा को खदेड़ कर बाहर करने के लिए नयी कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध की गोलंदाज़ी की गयी थी ।"[27] कलाकार की मुक्तिका, कला की राजनीति से मुक्ति, अर्थ की लय, विशिष्ट सौंदर्यानुभूति का सिद्धांत, लघुमानववादी मान्यताएँ, क्षणवाद, अनुभूति की प्रामाणिकता, भोगा हुआ यथार्थ आदि शब्दावली से सराबोर सिद्धांत हवा में उछाले गये । साहित्यिक-सामाजिक राजनीतिक वर्तमान में किसी सृजनात्मक हस्तक्षेप की कोई मंशा दिखायी नहीं दे रही थी ।

उस काल के परिदृश्य में "यह साफ़-साफ़ दिखायी देने लगा कि लेखकों के मस्तिष्कों पर, उन के मन-प्राणों पर, अधिकार जमाने के लिए लड़ाई लड़ी जा रही है, अर्थात भिन्न प्रकार की जीवन-व्याख्या उन के हृदय में, मूलबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है ।"[28] निश्चित ही यह शीतयुद्ध के प्रचार और परिणामस्वरूप हुआ कि "हिन्दी में ऐसे समीक्षक-विचारक भी

---

26. वही । ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मुक्तिबोध इस की इन आपत्तियों का हम प्रस्तुत ग्रंथ की पदावली के अंतर्गत मिथ्या अथवा खण्डित काल-बोध की समस्या कह सकते हैं । वर्तमान और भविष्य (यूटोपिया) का अभाव ही इस आधुनिक भावबोध में निहित था ।

सामने आये, जिन्होंने केवल प्रगतिवादी समीक्षकों की भूलों का फायदा उठाया, वरन वे साहित्य में ऐसी विचारधारा का विकास करने लगे, जिसका उद्देश्य लेखक को उस वास्तविक जीवन संघर्ष में प्राप्त जीवन-मूल्यों को हटाकर सम्पूर्ण व्यक्ति केन्द्री बना देना था ।[29] विडम्बना यह थी कि तथाकथित प्रगतिवादी समीक्षक भी इस शीतयुद्ध की चपेट में इस तरह आ गये थ कि तरह-तरह के सेंसर्स लगाकर "प्रगतिशील साहित्य का" गला घोंटने में कोई कसर नहीं रखी ।

प्रस्तुत विवेचन के अंतर्गत उपर्युक्त चर्चा के अनंतर अब यह कहा जा सकता है कि प्रमुखत: साहित्येतर और इसीलिए गौणत: साहित्यिक कारणों से दो सौंदर्यबोधात्मक प्रवृत्तियों में द्वंद्व हो रहा था । एक कलाओं और साहित्य को अलग-थलग करने के पक्ष में थी और निस्संदेह यह शीत-युद्ध के जनक साम्राज्यवादी देशों के पक्ष में थी और दूसरी ओर साहित्यिक कृति को समग्र रूप में (सामाजिक-राजनीतिक आदि से सम्बद्ध) देखने का सृजनात्मक प्रयत्न था । निस्संदेह मुक्तिबोध का अकेला नाम है, जो चीज़ों, घटनाओं को स्पष्टत: देख पा रहा था । सन 1947 से अथवा विशेषत: सन 50 से जो एक धुंधलका छाया था वह सन 1967 तक नहीं मिट सका । यदि सन 60 के बाद किसिम-किसिम के आंदोलन मिलते हैं तो वे उसी शीत युद्धीय प्रभाव की चरम परिणति थी । "मुक्तिबोध के विश्लेषण से स्पष्ट है कि 1951 से 1959 तक तथा संभवत: उसके बाद भी नयी कविता के विकास की रेखा में जो वक्रता दिखायी पड़ती है उसका एक कारण तो शिक्षित मध्यवर्ग का "अवसरवाद" है और दूसरा कारण साम्यवाद-विरोधी "शीतयुद्ध" की पाश्चात्य विचारधारा का दुहरा सांस्कृतिक प्रभाव ।"[30]

नामवरसिंह के इस कथन में हम संभवत: की जगह "निश्चित ही" रखना चाहेंगे क्योंकि 1959 तक जो "शीतयुद्ध" की गोलबन्दी" हुई थी, उसके

---

27. -वही- पृ-331

28. -वही- पृ- 159

29. -वही- पृ-156. वस्तुत: मुक्तिबोध ने "प्रगतिवाद" और "नयी कविता" दोनों को द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से देखा है और इस प्रकार वे अपने विचारों में

द्वारा ध्वस्त मानस का प्रदर्शन ही अकविता आदि में मिलता है । सन 62 के युद्ध ने "मोहक आदर्शों" और "खोखले काव्यात्मक शब्दों" को उघाड़ कर रख दिया और एकाएक चारों ओर जो "भ्रम" का प्रसार हुआ, उसी से "अकविता" या उस जैसे बहुरंगी आंदोलनों की प्रदर्शनी लगी । वस्तुत: सन 47 से ही वह दौर शुरू होता है, जिसमें सारे सिद्धांतों की दुर्गति होती है । "1947-67 का दौर एक ऐसा दौर था जिसमें एक अजूबे काव्य शास्त्र की सृष्टि हमारे आलोचना साहित्य में हुई । जीवन, समाज, मनुष्य के संदर्भ में साहित्य के जिन सवालों को अभी तक हल किया गया था, इस दौर में उसे एक बारगी ही नकार दिया गया । × × × यथार्थ और साहित्य के रिश्तों के बीच से उठने वाले सवालों को छोड़ पूरी बहस रचनकार व्यक्ति, उसके विशिष्ट अनुभव, अनुभवों की प्रामाणिकता, प्रामाणिकता की कसौटी, भोग, भोग के तन्मय क्षण और उस क्षण की परिभाषा के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगी । इसी मंथन से कुछ पारिभाषिक शब्द उछलकर आये जो इस नये आंदोलन के नारे बने और बाद में साहित्यिक द्वंद्व के मानदंड ।"[3] सन 47 से 67 तक का दौर ऐसा था कि धीरे-धीरे वे सारे नाम पृष्ठभूमि में चले गये, जो समाज और राजनीति से अनिवार्य जुड़ाव को देख-दिखा रहे थे । नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, शील आदि कई ऐसे रचनाकार थे, जो बराबर लिख रहे थे और संघर्ष कर रहे थे । रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, चंद्रवती सिंह आदि कई चिंतक-विचारक अपने-अपने ढंग से शीतयुद्धीय विचारधारा से संघर्ष कर रहे थे किंतु एक तो इन संघर्ष करनेवालों के अपने अंतर्विरोध इतने तीव्र थे कि वे या तो आत्म-संघर्ष नहीं कर पा रहे थे या फिर यांत्रिक समझ का परिचय दे रहे थे । यदि कभी ऐसे प्रयत्न हुए भी कि जिनसे "वर्तमान" और अतीत को भविष्योन्मुखी देखा जाय तो वे सफल नहीं हो सके । नयी कविता से अलग होकर

प्रदत्त प्रगतिवाद और प्रदत्त नयी कविता के प्रति सृजनात्मक प्रतिरोध कर सके हैं । न अंध-विरोध और न अंध-समर्पण

30. कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह पृ- 98.

प्रगतिशील दृष्टि अपनाने के क्रम में "वसुधा" और "कृति" जैसी पत्रिकाओं का महत्व स्पष्ट है । ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति किसी सीमा तक निर्णायक हो सकती है - इस का प्रमाण "कृति" है । "नयी कविता" के शीतयुद्धीय सिद्धांतों और प्रगतिवाद की कठमुल्ला अवधारणाओं से असहमति जताते हुए उसने "नव-लेखन" संज्ञा को अपनाया । जिन श्रीकांतवर्मा ने यह लिखा - "प्रगतिवादोत्तर काल की एक सैनिक प्रवृत्ति की साहित्यिक संस्था के भाष्यकारों ने, स्वयं को, समकालीन रचना की बहुविध महत्वाकांक्षाओं की "धुरी" जतलाते हुए,,प्रमाणित कर दिया कि "युग" अंधा हो या न हो, "युग" के भाष्यकार अवश्य अंधे हो सकते हैं ।"[32] वे ही किस प्रकार अनास्था हताशा आदि के गायक बन गये यह सब जानते हैं । यह निश्चित है कि 42 के आसपास किशोर या नव-युवावस्था तक पहुँचने वाले रचनाकार बाद में उस तरह से जिजीविषा-धर्मी प्रतिरोधात्मक दृष्टि नहीं रख सके, जैसी उनसे पूर्व नागार्जुन-केदार आदि की पीढ़ी को प्राप्त हुई था फिर 50 के बाद किशोर होने वाले रचनाकारों में मिलती है ।

गांधी जी द्वारा 42 के सम्पूर्ण आंदोलन को अस्वीकार करना तत्कालीन युवा अथवा किशोर रचनाकार के लिए बहुत बड़ा धक्का था । एक समर्पण या एक विरोध-इन दो अतिवादी दृष्टियों में ही वे रचनाकार झूलते रहे जो कुल मिलाकर विवशता और विडम्बनाओं से ही साक्षात्कार कर सके ।

सन् 47 से 67 तक के दौरे में प्रगतिशील साहित्य को हाशियपुर ही रहना पड़ा । चर्चा या बहस जिन सवालों और मुद्दों पर हो रही थी, वे उन कृतियों, पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा उठाये जाते थे जो युग के दबाव में आकर प्रगति-विरोधी "शीत-युद्ध" के औजारों के रूप में प्रकाशित हो रहे रही थी । दूसरा सप्तक, नयी कविता पत्रिका "परिमल" आदि का बोल-बाला था ।

---

31. साहित्य के बुनियादी सरोकार - कर्णसिंह चौहान पृ- 94

32. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-33 पर उद्धृत

अगर कहा जाय कि दो विपरीत प्रवृत्तियों के संघर्ष ने एक नया पड़ाव तय कर लिया था तो कोई अनुचित नहीं होगा । नयी कविता का सारा आंदोलन यदि ऐसे नेताओं के हाथ में था, जो प्रगतिवाद के शत्रु थे तो उन्हीं में, दूसरा सप्तक और "नयी कविता" पत्रिका में शमशेर हरिनारायण व्यास, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र आदि कई कवि अपने अपने ढंग से उन शीतयुद्धीय प्रवृत्तियों से जूझ रहे थे । नागार्जुन के संग्रह इसी दौर में प्रकाशित हुए थे ।

किंतु "सन 54-55 के आसपास तो तरुण कवियों के बीच चर्चा का विषय हो गया था कि कौन कवि किस सप्तक में लिया जायेगा । कवि-गण अपनी और दूसरों की आधुनिकता, सार्थकता और सफलता, कवि होना या न होना सभी कुछ सप्तकों में शामिल होने, न होने से आँकने लगे थे । यह परिस्थिति का त्यगत मूल्यों और रुचियों में एक विचित्र प्रकार की भ्रष्टता और संकीर्णता की शुरुआत थी । सप्तक एक बड़े ही अवांछित प्रकार के साहित्यिक संरक्षण के साधन और प्रतीक बन रहे थे ।"[33]

यह स्थिति भी और दूसरी ओर साहित्येतर कारण भी थे - जैसे सरकारी दमन, प्रतिष्ठित प्रगतिशील पत्रिकाओं का बंद हो जाना, "आलोचना" का संपादन शिवदानसिंह चौहान के हाथों से लेकर भारती-साही आदि को सौंप दिया जाना आदि ।

एक ऐसी मनोभूमि की रचना हो गयी थी कि योरोप की द्वितीय महायुद्धोत्तर विचार धाराएँ प्रभावित करने लगी । काफ्का, सार्त्र, कामू आदि को उनके जातीय संदर्भों से काटकर अपनाने का फ़ैशन चल पड़ा ।

वस्तुत: जब वास्तविकता छुपायी जाती है तो जिससे छुपायी जाती है, उसके व्यक्तित्व के विघटन की ही यह कोशिश होती है । प्रस्तुत शोध प्रसंग की पदावली में कहें तो एक युगीन असमंजस, भटकाव और अवद्वंद्वात्मक विघटित जगत को यों आंतरिकी कृत कर लिया गया कि "यथार्थ" अथवा

---

33. बदलते परिप्रेक्ष्य - नेमीचंद्र जैन पृ- 157.

काल बोध पूरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट हो गया । नयी कविता अथवा तदनंतर उपजे अकविता आदि किसिम-किसिम के आंदोलनों से एक निस्सहाय नकारात्मकता" ही प्रस्तुत होती दिखायी पड़ती है ।

प्रस्तुत विवेचन के अंतर्गत यह स्मरण करना प्रासंगिक होगा कि सन 68 की फरवरी में कल्पना पत्रिका ने "समकालीन कविता" पर एक परिचर्चा आयोजित की थी, जिसमें पूछे गये प्रश्न इस बात के सूचक हैं कि "साहित्यिक वर्तमान" के प्रति एक जागरूकता बढ़ रही है । गंगाप्रसाद विमल ने उस परिचर्चा में भाग लेते हुए लिखा "× × × कविता रचना एक ऐसे दौर से गुज़र रही है, जिसमें वह रचनात्मक संकट के अलावा अपनी "संज्ञा" का महत्व भी खो रही है । इसमें कोई झूठ नहीं कि कविता की लोक-प्रियता कम ही नहीं हुई है बल्कि धीरे-धीरे उसका "प्रियता" भी खत्म होती गयी है । × × × जो कविता रूढ़ि बनती जा रही है चाहे वह नयी कविता हो या उसके बाद की धारा - वह धीरे-धीरे मर रही है और उसके अनुकरण में लिखी जा रही आज की कविता "समकालीन कविता"नहीं है ।"[36]

एक दूसरे चर्चाकार श्री गोपेन्द्र तिवारी ने सन 60-62 की बदली हुई परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए बताया कि उस समय "सौंदर्यवादी धारणाओं को काफ़ी ठेस पहुंची और उनकी आशाओं के इंद्र धनुष टूट-टूक हो गये । × × × लेकिन इसी कारण उसे पूर्ववर्ती धारा से पृथक नहीं माना जा सकता । अत एव समकालीन कविता "नयी कविता" का विस्तार या प्रलंबन मानी जा सकती है ।"[35]

सुरेन्द्र चौधरी ने कहा - "आंदोलन के रूप में नयी कविता का मंच लगभग खाली हो गया है । × × × पिछले सात वर्षों से "नयी कविता" या तो घिसट कर चल रही थी या फिर दूसरे सवालों से टकराकर ज़िंदा रहने के प्रयत्न में थी । स्पष्ट है कि "नयी कविता" का आंदोलन वाला रूप समय के परिवर्तनों से कदम मिला कर चल नहीं पा रहा था और उसका स्वर,

---

34. कल्पना फरवरी 62 - पृ-6।
35. " " पृ-9।
36. " " पृ-27-28

स्थिर होता हुआ, मूल स्वर से धीरे-धीरे पिछड़ रहा था । × × × नयी कविता आंदोलन के रूप में बिखर गयी किंतु इससे उसकी मृत्यु की घोषणा कर हम निश्चिंत नहीं हो सकते । समकालीन कविता के भीतर एक धारा निश्चित रूप से "नयी कविता" के मूल स्वर के आसपास चक्कर काट रही है ।[36]

यों अगर मनुष्य अपना भविष्य दी हुई स्थितियों में ही बनाता है तो साहित्य के लिए भी यही सच है । एक ओर-सामाजिक रूमानी दृष्टि कविता के साथ हमेशा ही लगी रही । वस्तुतः कविता का, विशेषतः आधुनिक कविता का कोई काल ऐसा नहीं रहा, जब कई सारी प्रवृत्तियाँ एक साथ सक्रिय न रही हो । एक प्रवृत्ति प्रमुख होती है जबकि अन्य गौण स्तर पर उससे जुड़ी रहती है । वाचिक, लिखित, वितरण-तंत्र, प्रकाशन-तंत्र आदि का इनमें निर्णायक योगदान होता है ।

सन् 47 से सन् 67 तक में महत्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य जगत में परिवर्तन-कामी प्रवृत्तियों के सक्रिय होने के बावजूद उस सक्रियता को पीछे धकेलकर एक निष्क्रिय साहित्य दर्शन में एकाधिकार स्थापित कर लिया था ।

हम लिख चुके हैं कि जिससे वास्तविकता छुपायी जाती है, उसके व्यक्तित्व-विघटन की यह कोशिश होती है । सन 35 के आसपास जन्म लेनेवाले साहित्यकारों को किशोरावस्था में ही एक अवास्तविकता से साक्षात्कार करना पड़ा । और जब तक उन्होंने जाना, तब तक बहुत देर हो चुकी थी । आवश्यकता यह होता है कि वास्तविकता को देखकर उससे एक सही सम्बन्ध अर्थात मूल्य-सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय । यही ~~स्वस्थ~~ व्यक्तित्व [=द्वंद्वात्मक विजय] तभी बन पाता है । लेकिन यह तभी संभव होता है कि "प्रदत्त" के साथ प्रतिरोध [सृजनात्मक-द्वंद्वात्मक-जीवन समर्थक] हो । सन् 47 के आसपास एक युग-व्यापी षड्यंत्र ही "प्रदत्त" के ~~सकारात्मक-प्रतिसंबंध-सृजनात्मक~~ रूप में लिया जा सकता है । कहना न होगा कि तथाकथित अकविता या किसिम किसिम के आंदोलन उसका विरोध कर रहे थे

---

34. कल्पना फरवरी 62 पृ-6।

जब कि नयी कविता के "परिमल" या उसके सहयोगियों ने समर्पण किया था । प्रस्तुत शोध प्रसंग में सौंदर्य बोधात्मक विरोध और समर्पण - दोनों से ही असहमति प्रकट की गयी है । नयी कविता में भी यह स्पष्ट है कि दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ सक्रिय थी । सौंदर्यबोधात्मक समर्पण वाले "लघुमानव" वादी कवि थे तो मुक्तिबोध, हरिनारायण व्यास और भवानी प्रसाद भाई जैसे अपनी-अपनी सीमाओं में प्रतिरोध करते कवि थे । यहाँ तक कि दोनों ही खेमों के एक-एक कवि में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ अलग-अलग समय पर उभरती दिखायी देती हैं । यहाँ तक कि एक ही कविता में भी । इसीलिए किसी कवि को किसी एक प्रवृत्ति से नत्थी कर देना एक अवद्वंद्वात्मक दृष्टिकोण ही परिचायक होगा । कहा जा चुका है कि मनुष्य एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है और इसीलिए एक कवि भी । उसकी कविता भी । उस कविता के साथ होने वाले सरोकार भी । सन् 60 के बाद सन् 67 तक जो नाम-करणों का घमासान छिड़ा हुआ था, वह केवल "संज्ञा" परिवर्तन को ही विरोध का पर्याय समझ रहा था । जिस रूमानी दृष्टि से रूमानियत का विरोध हो रहा था, वह हास्यास्पद परिणतियों तक पहुँच कर "विरोध" के रूमानीयन को उजागर कर रही थी । वस्तुतः सार्त्र के एक कथन का सहारा लेकर कहा जा सकता है कि रूमान विरोध उन लोगों की रूमानियत है जो अपनी रूमानियत के लिए लज्जित होते रहते हैं ।[37] सन् 54 की डायरी लिखते हुए जब शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा --"प्रयोगवाद नर्वस ब्रेक डाउन का आर्ट है । या तो उससे पैदा होता है या उस तरफ ले जाता है ।"[38] तो यह याद करना भी आवश्यक है --"प्रयोगवाद की शुरूआत "तार सप्तक" से नहीं होती, उसकी शुरूआत होती है सन 47 में प्रतीक से । × × × "प्रयोग वाद शब्द की ज़रूरत तब हुई जब प्रगतिवाद के विरोध में एक नये वाद को स्थापित करना ज़रूरी हुआ ।"[39]

---

35. कल्पना - फरवरी 62 - पृ- 9।

36. " - " पृ- 28।

37. "Materialism is the subjectivity of those who are ashamed of their own subjectivity" Sartre qurted by Fredric Jamson in Marxism and form on P. 62

पहले प्रयोगवाद और नयी कविता को एक ही माना गया । सन 54 में लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा "प्रयोगवादी जिसे हम नयी कविता भी कहते हैं ।"[40] सन 56 तक नयी कविता इतनी प्रमुख हो गयी कि "उस की आस्था में प्रगति और अपने नये मार्ग को प्रशस्त करने के लिए किया गया प्रयत्न प्रयोग" कहा जाने लगा ।"[41]

निश्चित है कि शमशेर के सम्मुख प्रयोग वाद के नाम पर कतिपय विघटित व्यक्तित्व वाले कवियों की कविताएँ रही होगी । शमशेर की यह विशिष्टता है कि वे जब भी कविता के बारे में बात करते हैं, अपनी कविता को अवश्य ही शामिल कर लेते हैं । किंतु इसी कृत्य [=प्रतिरोध] से वे अपने व्यक्तित्व को विघटित नहीं होने देते । विघटन के संकट को पहचानने से ही व्यक्तित्व-सुरक्षा के प्रयत्नों की शुरुआत होती है । ऐसे भी कवि-रचनाकार होते हैं, जो पहचानकर, फिर उसे ही लिखते हैं और इस क्रम में विघटित होते ही चले जाते हैं,। उनका लिखना उन्हीं के लिए वास्तविकता को छुपाने या दबाने का [illegible] कारण या साधन बनने लगा । कम से कम अपने लिखने से तो निबट रहना ही चाहिए लेखक को लेकिन इस स्थिति में वह अपने लेखन से भी कटजाता है ।"[42]

वास्तविकता छुपायी जा रही थी और इससे व्यक्तित्व का विघटन हो रहा था तो सार्थक समस्याओं से कतराना अगर युग प्रवृत्ति हो जाय तो क्या आश्चर्य ?

"मुक्तिबोध स्वयं "नयी कविता" के भीतर के कवि थे । वे जानते थे कि "नयी कविता के क्षेत्र में भी, दो दल तैयार हो रहे हैं - एक दल वह है जो उच्च-मध्यवर्ग का अंग है, दूसरे वे हैं जो निचले गरीब मध्य वर्ग से सम्बन्धित है । उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में वरन् साहित्य सम्बन्धी उनके सिद्धांतों में भी परिलक्षित होता है ।[43]

---

38. शमशेर - सं० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना / मलयज पृ-131
39. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-27-28
40. --वही-- पृ- 31

कुल मिलाकर यह कि सन् 30-31 से जो छद्म, कांग्रेस ने शुरू किया था, वह 47 के बाद से पूरी तरह हावी हो गया। सन् 47 से 67 तक एक द्वंद्व परिलक्षित होता है, जो निश्चित ही शिक्षित मध्यवर्ग के अवसरवाद तथा साम्यवाद विरोधी "शीतयुद्ध" के प्रभाव की देन ही था। इस सौंदर्य-बोधात्मक द्वंद्व में, समर्पण और विरोध के उभार थे और "प्रतिरोध" पृष्ठभूमि में था तभी सन 62 का भारत-चीन युद्ध हुआ। जैसे एकाएक शब्दों के सारे चमकदार लबादे एक साथ गिर पड़े। खोखलेपन की भयानक वास्तविकता सामने आ गयी। सन् 64 में "राजनीति" में नेहरू का निधन होता है तो कविता में "मुक्तिबोध" का। मुक्तिबोध के साहित्य की ओर ध्यान जाता है। उनके साहित्य के मूल्यांकन की चेष्टा होती है। इस प्रकार जो उच्च मध्यवर्गीय रुचि के अनुकूल सौंदर्य-ग्रस्त रुझान पनप रहा था, वह टूट गया और एक बारगी एक अराजक विक्षोभ फूट पड़ा। फिर राजकमल चौधरी की मौत हुई जिसने उस रूमानी अराजक मध्यवर्ग मानस की भयावह परिणति को सामने रखा।[44]

---

41. आलोचना - 17 जनवरी 56 पृ-31

42. लिखना एक सौंदर्यबोधात्मक आचरण (Aesthetic Praxis) के रूप में विस्तारक या अतिक्रमणशील होता है। वह लेखक वस्तु-जगत की सत्यता को पहचान कर "यथार्थ" कहता है और उसे भाषा में अनुवादित या प्रस्तुत करके प्रेषण करता है। सृजन सम्बन्ध की नींव "कला-सृजन के तीन क्षणों" में शब्द-बद्धता से पहले ही पड़ चुकी होती। सन् 47 से 67 तक की कालावधि में सृजन-सम्बन्धों की संभावना ही धीरे-धीरे खत्म होने लगी थी।

43. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच पृ- 191-192. मुक्तिबोध ने इस तथ्य को कई बार अलग-अलग शब्दावली में अभिव्यक्त किया है —"हिंदी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक, उच्च-मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न-मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यांतरीकरण ये दो वर्ग करते जा रहे हैं, उसमें बड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी है। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक

यह कहना गलत होगा कि सन 60 के बाद पाया जाने वाला सारा साहित्यिक विक्षोभ मात्र उच्छृंखलता था । नयी कविता ने जो साहित्यिक परिदृश्य तैयार किया था, उसके अंतर्विरोधों का सामने आजाना ही सन 60 के बाद के साहित्यिक परिदृश्य की विशिष्टता थी —"अकविता अंतर्विरोधों की अन्वेषक कविता है । इसे पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्तियों से अलग संदर्भ में समझना होगा, क्योंकि यह विच्छेद की द्योतक प्रक्रिया है ।[45] यह आकस्मिक नहीं है कि "अकविता" पर चर्चा करते समय श्यामपरमार उसे निराला और मुक्तिबोध से जोड़ रहे थे । "गद्य जीवन संग्राम की भाषा है" कभी निरालाने कहा था । अकविता उसी गद्य की ओर जा रही है जिसमें आज की मन: स्थिति उपयुक्त बैठती है ।"[46] यह आवश्यक है कि सन् 60 के बाद के सौंदर्यबोधात्मक विरोध और समरूपता को हम एक प्रक्रिया के रूप में देखें । यदि "विरूप" को "सुंदर" देखा जा रहा था तो यह भी प्रक्रिया के चलते ही था जो यों तो अपने बीज जुगुप्सा को स्थायी भाव-मानकर बीभत्स रस की कल्पना में भी ढूंढ सकता है किंतु विशेषत: निराला की परवर्ती कविताओं में विरूप या कुरूप का सौंदर्य पर्याप्त मिलता है । संदर्भ से जोड़कर देखने में "विसंगतियों" की अपनी प्रक्रिया-धार्मिता के कारण उनमें भी पर्याप्त संगति दिखायी दे सकती है । "अकविता की नियति अवेरेशन की नियति नहीं, बल्कि विकृत सम्बन्धों की नियति है ।"[47]

रूपों में प्रस्तुत हो रही है ।" —वही— पृ-214-215

44. हमने "ऐतिहासिक भाग" की बात कही है । सन 35 में सरोज की मृत्यु और निराला के विक्षिप्त दौर की शुरुआत तथा उसी के आसपास मुक्तिबोध के लेखन का शुरू होना यदि किसी और इशारा करते हैं तो 61 में निराला की मृत्यु और 64 में मुक्तिबोध की मृत्यु ने "कवियों" की स्थिति को नग्न रूप में सामने रखा । एक अंध-विरोध, जो तमाशा बनके रह गया राजकमल की की मृत्यु में अपनी परिणति को पहुंच जाता है ।

45. अकविता और कला संदर्भ – श्यामपरमार पृ-1

46. " " पृ-241

47. " "

अकविता की भाषा को उस युग के संदर्भों से काट कर नहीं देखा जा सकता । "ओरांग उटांग" की विषय-वस्तु जिस परिवेश की ओर संकेत करती है, उसकी भाषा "अकविता" की भाषा ही हो सकती थी । यह आकस्मिक नहीं है कि सन 67 के बाद के सारेगुप्तात्मक परिवर्तनों के बावजूद "भाषा" का संस्कारी या अभिजात रूप प्राय: दुर्लभ हो गया है ।

कहा जा चुका है कि दो विपरीत शक्तियों का द्वंद्व किसी युग की अनिवार्य पहचान है तो किसी व्यक्ति अथवा किसी प्रवृत्तिगत आंदोलन की भी । -

उपर्युक्त ~~कथन~~ (35201) में महत्वपूर्ण "पद" "विकृत-सम्बन्ध" है । पूर्व विवेचन में "संबंध-बोध" की व्याख्या विस्तार से की जा चुकी है । वस्तु-जगत के साथ, मैं के साथ और इसीलिए "तुम" के साथ सम्बन्ध-बोध का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना बहुत पूर्व से आरंभ हो चुका था । सन 60 के बाद उसकी मुखर अभिव्यक्ति हुई । कटा हुआ होना, अकेला होना या निराश होना कोई ऐसी मानव स्थितियाँ नहीं हैं, जिसके लिए किसी काव्य-धारा की भर्त्सना की जाय ।

हम बल देकर कह चुके हैं कि जिन स्थितियों का चुनाव नहीं किया जा सकता, जो प्रदत्त होती हैं, उनके लिए किसी व्यक्ति, रचनाकार, या काव्य-प्रवृत्ति को दोषी ठहराना "समझता" से काटकर देखना है । देखा तो यह जाना चाहिए कि उसप्रदत्त के प्रति सरोकार का स्वरूप और उसका चरित्र कैसा है ? यदि "असुरक्षा" प्रदत्त हो (जो होती ही है) तो ~~उसका चरित्र कैसा है~~ उसके साथ "समर्पण-सम्बन्ध" का अर्थ होगा कि स्थूल रूप से जीवन धारण और जीवन-रक्षा के लिए यथास्थितिवादी कायरता में गर्क हो जाना । "अकविता" में श्याम परमार की सारी कविताओं को जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं के साथ रख दिया जाना इसीलिए संभव हो सका कि अपने-अपने खेमों के पक्ष-ग्रहण से "अकविता" की नकारात्मक प्रवृत्तियों और अनुत्तरदायी घोषणाओं को अवलंब माना गया । उसमें भी दो विपरीत धाराओं का संघर्ष रह सकता है, यह नहीं सोचा गया । यह सच है कि

"विकृत सम्बन्धों की नियति" (=प्रदत्त) के प्रति तथाकथित अकविता और उस काल-खण्ड के "किसिम-किसिम के आंदोलनों का सरोकार मात्र समर्पण या विरोध (दोनों का चरित्र एक ही होता है क्योंकि दोनों ही अद्वंद्वात्मक दृष्टि के परिचायक होते हैं) का रहा और अधिकांश रचनाएँ एकायामी और अद्वंद्वात्मक दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करती है । किंतु ऐसा तो न्यूनाधिक रूप से प्राय: प्राप्त होता रहा है । वह अंतर्धारा, जो राजकमल चौधरी से "मुक्ति-प्रसंग" लिखवा सकती है, या सौमित्र मोहन से "लुकमान अली उसे युग, समाज, सामान्य उत्पादन के तरीकों से जोड़कर ही देखा जाना चाहिए ।

"शीतयुद्ध" के सारे विवेचनों में यह तथ्य निर्विवाद रूप से माना जाता है कि सह "साम्यवाद-विरोध" से शुरू हुआ था । किंतु कालांतर में तथाकथित साम्यवादी देशों के अपने अंतर्विरोध और उनके बीच का शीतयुद्ध भी विश्व-फलक पर प्रभावकारी रहा, यह भुला दिया जाता है ।

तेलंगाने का सशस्त्र संग्राम रूस की मर्जी से रोका गया और भारत-चीन सीमा विवाद का पूरा परिदृश्य रूस-चीन सीमा विवाद पर निर्भर रहा । निश्चित ही रूस-चीन के बीच विवाद मात्र "सीमा" का ही नहीं था । विचार धारा, राजनीतिक वर्तमान और अतीत की व्याख्या तथा भविष्य के बारे में आचरण को चरित्र आदि कई बुनियादी मतभेद थे । "सीमा" विवाद तो निमित्त था । इसी प्रकार भारत-चीन सीमा विवाद में भी "सीमा" मात्र निमित्त ही रह गयी । एशिया में शक्ति-संतुलन की समस्या की ओर से आँखें नहीं मूंदी जा सकती । यह आकस्मिक नहीं है कि साम्यवादी दल के विभाजन की रूपरेखा यदि मास्को में तैयार हुई थी तो भार सरकार ने भी एक विशिष्ट पक्ष के नेताओं को गिरफ्तार करके भारतीय साम्यवादी दल (CPI) को सहायता पहुंचाई थी ।"[48] साम्यवादी-विश्व में नेतृत्व के, प्रश्न पर भी रूस-चीन का संघर्ष था और इसे शीतयुद्ध का प्रताप ही समझना चाहिए कि भारत-चीन

युद्ध में चीन की निंदा करने वाले अपने को शुद्ध राष्ट्रवादी समझते रहे जबकि उन्हें नेहरू सरकार के माध्यम से रूस का पूरा प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था । दूसरे शब्दों में, चीन की निंदा करनेवाले रूस के हाथों में खेल रहे थे और रूस की निंदा करनेवाले चीन की शीतयुद्ध नीति को सहायता पहुंचा रहे थे । जब ऐसी स्थिति हो कि व्यक्ति अपने हर कार्य से किसी न किसी अर्थ में शीतयुद्ध को गति दे रहा हो ताकि इसीलिए तो रचना-जगत को उससे काट कर नहीं देखा जा सकता ।

तो निश्चित ही जब दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष की बात की जाती है तो विश्व व्यापी शीतयुद्ध भी उसमें आ जुड़ता है । सौंदर्यबोधात्मक द्वंद्व भी उस शीतयुद्ध से इस अर्थ में जुड़ता है कि साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों पर विवाद, किसी न किसी स्तर पर, किसी सक्रिय राजनीतिक शक्ति को ही मज़बूत करता है ।

सन 1950 के बाद का "काल-बोध" अनिवार्यत: शीतयुद्ध से संबद्ध होगा । "यथार्थ" के चित्रण की समस्या से इस तथ्य का बड़ा सम्बन्ध है । प्रस्तुत विवेचन की शब्दावली में, उस शीत-युद्धीय जटिलता को आंतरिकीकृत करने रचनाकार के लिए उस "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध करना एक अतीव दुष्कर आचरण है । सन 50 से विशिष्टत: जो "प्रतिरोध" रूप प्राप्त होता है, वह निस्संदेह उससे पूर्व के प्रतिरोध रूपों से अपेक्षाकृत जटिल, विविध आयामी और द्वंद्वात्मक गहराइयों को लिये हुए होगा ।

48. 'Soviet support to the Nehru Government on the Indo-China border issue, largely conditioned by the implications of the Sino-Soviet border dispute, provided the right group in the CPI the political alibi for branding the Left group 'Pro-Peking'. The Government in turn helped the process of the split by imprisoning those opposed to the right group. The October-November, 1962 border dispute provided the occasion for the arrests. 'Indian Communism : Split within a Split - Mohan Ram P.209.

इसी विवेचन के आलोक में हम कवि, कविता, काव्यांदोलन तथा उनसे जुड़े प्रश्नों के सौंदर्यबोधात्मक चरित्र को परख सकते हैं । फिर से स्मरण करें कि कविद्ध कविता और उनसे जुड़े आचरण एक प्रक्रिया है तो यथार्थ और काल भी एक प्रक्रिया है । उस प्रक्रिया पर एक चर्चा की चेष्टा, उसके सौंदर्य बोधात्मक सार को देखना ही सन् 1950 से 1967 तक के कालखण्ड का वाम-सौंदर्यशास्त्र होगा ।[49]

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के शीतयुद्ध-गत संदर्भ

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही शीतयुद्ध की शुरूआत की बात हम लिख चुके हैं । सन 47 के हस्तांतरण के समय सार्थक रूप से रचना-रत कवियों में कई वय-समूह थे । सन् 40-42 के आसपास जिनकी जीवन दृष्टि किसी सीमा तक वयस्कता प्राप्त कर चुकी थी, उन्होंने तो शीतयुद्ध के दौरान भी अपनी लीक नहीं छोड़ी लेकिन जो नितांत अवयस्क थे, वे बड़ी सीमा तक दिग्भ्रमित हो गये ।-"गांधी जी ने जेल से निकल कर 42 के "सम्पूर्ण आंदोलन को अस्वीकार कर दिया ।" नतीजा यह कि उस समय ही लक्ष्मीकांत वर्मा की पीढ़ी को "इतना मनोवैज्ञानिक धक्का लगा कि समूचा संदर्भ ही जैसे हाथ से छूट गया था ।" (कल्पना - मार्च-अप्रैल 67)[50]

रामविलास जी द्वारा उद्धृत उपर्युक्त कथन 42 में युवा होती पीढ़ी के बारे में बहुत कुछ कहता है । —"सन 42 में लक्ष्मीकांत वर्मा बीस वर्ष के थे । इस उम्र में जो " मनोवैज्ञानिक" धक्के लगते हैं, उनका जिंदगी भर बना रहता है ।"[51]

---

49. शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि सामाजिक यथार्थ किसी गोदाम में रखा कोई तैयार माल नहीं है, जो इस बात की राह देख रहा हो कि खरीददार लेखक आयें, उसे खरीदे और अपने लेखन के माध्यम से उसका व्यापार करें ।

इस प्रकार आज का सौंदर्यबोधात्मक काल अथवा यथार्थ - अनिवार्यतः शीतयुद्ध से जुड़ता है और आज की विषय-वस्तु और रूप-विधाओं के चुनाव पर इस तथ्य का निर्णायक प्रभाव है ।

द्वितीय अध्याय में हमने योरोप और विशेषत: जुर्मनी में मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास के बारे में लिखते हुए ~~लक्षकर्क~~ तायाथ्कि किस तरह युद्ध के आसन्न संकट के समय बेंजामिन, अडोर्नो, ब्रेख्त, ब्लाख आदि सौंदर्य-प्रश्नों से जूझ रहे थे। इसी प्रकार सन 47 के बाद भारत में भी सौंदर्य-सम्बन्धी विवेचना के सार्थक प्रयत्न होने लगे थे। सितंबर 47 में, हंस में लिखते हुए रामविलास शर्मा ने कहा "प्रगतिशील साहित्य तथा प्रगतिशील है, जब साहित्य भी हो। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है - तो सिर्फ़ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।"[52] सन् 48 में ही शिवदान सिंह चौहान ने इस तथ्य पर ज़ोर देते बल दिया कि "रचयिता की सृजन चेष्टा में सामाजिक जीवन के साथ उसकी सौंदर्य मूलक प्रवृत्ति भी अपेक्षित है। बल्कि इनका सही सामंजस्य ही उसकी प्रगतिशीलता का निकष है।" कहना न होगा कि, नयी कविता के कलावादी युद्धों के केन्द्र में आने के बावजूद "सामाजिक और सौंदर्य" की लगातार विवेचना होती रही। सन् 50 के बाद लगातार सौंदर्य-बोधशास्त्रीय विवेचन होता रहा है। यदि व्यावहारिक क्षेत्र की बात करें तो मुक्तिबोध की "कामायनी : एक पुनिर्विचार" को विशिष्ट देन कहा जायेगा।

यदि वैचारिक स्तर पर प्रगतिशील चिंतकों ने लगातार अपनी सक्रियता बनाये रखी तो रचना के स्तर पर भी इस ओर चेष्टा बराबर मिलती रही है। संकट-बोध के अनुपात से ही चिंता, अनिश्चय और थकान व्याप्ती है तो जिजीविषा भी अपने स्वाभाविक तर्क के सहारे से उसी अनुपात में आनंद और सौंदर्य से संपृक्त होती है। यदि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व आसन्न संकट की छाया तले योरोप में मार्क्सीय सौंदर्य-चिंतन का विकास

---

50. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-48
51. --वही--
52. आलोचना - स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक -। पृष्ठांक 33 जून 65 चंद्रभूषण तिवारी के लेख "प्रगतिवादी समीक्षा : सीमा और संभावना" में उद्धृत पृ-125

दिखायी पड़ता है तो भारत में भी हम 50 से बहुत गहरे स्तर पर सौंदर्य बोधात्मक संघर्ष की स्थिति देखते हैं । कई सारे प्रलोभन थे, छद्म समस्याएँ थीं, बढ़ती हुई व्यावसायिकता थी और सर्वाधिक घातक शीतयुद्धीय प्रभाव थे तथा इन सब के बीच राजनीतिक-आर्थिक सांस्कृतिक साहित्यिक आदि "वर्तमान" से जूझती, उसे भविष्योन्मुखता में देखती कविताएँ थीं ।

भवानी प्रसाद मिश्र ने "गीत फ़रोश" लिखा -

जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ
मैं किसिम किसिम के गीत बेचता हूँ ।[53]

इस कविता का कई कारणों से अत्यधिक महत्व है । हम इसे अपने प्रतिमान सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के संदर्भ में विशेषत: रखना चाहेंगे ।

समग्रत: देखा जाय तो सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध के अनगिन आयाम हो सकते हैं । अगर शिल्प और कथ्य पर पारम्परिक भेद-दृष्टि न लागू की जाय तो वह उक्त प्रतिरोध के अंतर्गत ही समाहित हो जाते हैं । वस्तुत: प्रतिरोध उस "दृष्टि" के प्रति होता है, जो राजनैतिक सांस्कृतिक आदि कई रूपों से संदर्भित होती है । जो प्रदत्त होती है ।

उपर्युक्त कविता में आर्थिक वर्तमान के बढ़ते हुए दबाव के प्रति अथवा साहित्यिक व्यावसायिकता के प्रति प्रतिरोध है । सम्पूर्ण विश्व-फलक पर इस प्रकार के प्रतिरोध की बानगी देखी जा सकती है । व्यावसायिकता के साहित्यिक आयाम की पहली झलक अमरीकी परिप्रेक्ष्य में प्राप्त होती है । प्रभाकर माचवे ने उक्त "विषय" के संदर्भ में तीन रचनाएँ उद्धृत की है । "कलात्मक सृजन का निमित्त" विषय तीनों रचनाओं में एक है । पहली कविता सन 1915 में प्रकाशित हुई थी । लिखी उससे भी पूर्व गयी थी क्यों कि प्रभाकर माचवे ने कवि की जीवनावधि सन् 1878-1914 बतलायी है । कवि है : एडिलेड क्रेप्सी । माचवे द्वारा हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है -

---

53. भवानी प्रसाद मिश्र - विजय बहादुर सिंह पृ-36।

"मेरे गीत बिकाऊ है, हुज़ूरे आला ।
मेरी प्रार्थना है आप खरीदें ।
यह है जो नायिका का आँसू जीतेगा ।
यह है जो उसे उल्लसित करेगा
यह है जो तुम्हारी प्रेमिका को आकर्षित करेगा
एक दिन और हमेशा ।

ओह नहीं, वह नहीं खरीदेगा ।
मेरे गीत बिकाऊ है, मधुर बाला ।
मेरी प्रार्थना है तुम खरीदो ।
यह तुम्हें लिलिथ का प्रेम सिखायेगा
और यह हेलेन का ज्ञान
और यह तुम्हारे सुनहरी बालों को सुनहरी रखेगा
और यह तुम्हारी नीली आँखें नीली
मधुर बाला, तुम खरीदो
अगर मेरे पास उतने पैसे होते मैं जितना मैं बोलता हूँ

मैं फेरी नहीं लगाता मेरी गीत बिकाऊ है
मैं फेरी नहीं लगाता मेरे गीत बिकाऊ है ।[54]

ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उपर्युक्त रचना का शीर्षक वेंडर्स सांग (विक्रेता का गीत) है और इसे भी "गीत फ़रोश" के साथ रखकर देखा जा सकता है । "गीत फरोश" की रचना सन 48 की है । बीच में एक कविता पंत की याद की जा सकती है । अप्रैल 1927 को लिखी हुई । "लायी हूँ फेलों का हास/ लोगी मोल, लोगी मोल ? सरलतुहिन वनका उल्लास/ लोगी मोल, लोगी मोल ?" [55]

---

54. कल्पना 107 मार्च, 60, पृ- 2-3 पर उद्धृत
55. गुंजन - सुमित्रानंदन पंत पृ-75

व्यावसायिकता के दबाव के प्रति पंत की प्रतिक्रिया "प्रतिरोध" की नहीं है । एक कटु प्रदत्त को मधुर बनाकर एक सुरक्षा तकनीक (डिफेंस मेकेनिज्म) का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । यह "विषय" के साथ समंजन है । प्रतिरोध नहीं । इसे हम प्रस्तुत प्रसंग में सौंदर्यबोधात्मक समर्पण कहेंगे किंतु यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि ऐसा हम प्रदत्त "विषय" के प्रसंग में कह रहे हैं । अभिव्यक्ति-स्तर पर प्रदत्त अभिव्यक्ति-रूपों के प्रति कवि ने सृजनात्मक सरोकार रखा है । कहीं व्यावसायिकता का भयावह दबाव और कहीं "मालिन" और उसकी खरीददार नायिका । हमने शून्य व्यक्तित्व की बात कही है । किसी भी प्रकार के दबाव को महसूस ने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए आवश्यक है कि "बोध" (=सम्बन्ध बोध) की निर्मिति पूरी हो । शिल्प-गत नवीनता और कसाव यदि "विषय" के साथ या उसके कारण अपना स्वरूप प्राप्त कर सके हो तो रचना की सीमाओं में एक सम्पूर्णता आ पाती है । पंत अपने काव्याचारण में "विषय" को चाक्षुष या श्रव्य शर्तों पर अपनाते है । बिम्बों में नयापन होता है किंतु वह नयापन संदर्भ विहीनता से अभिशप्त होता है ।

सन 1948 में "गीत परोश" में पहली बार बढ़ते हुए व्यावसायिक दबाव को अभिव्यक्ति मिली । आरंभ ही "जी हाँ हुज़ूर" से करने के कारण भवानी भाई "लोगी मोल" के विरोधाभास से बच सके हैं । एक ओर "व्यंग्य" दूसरी ओर संताप शैली और तीसरी ओर भाषा तथा भावों की सहजता - इन सबने मिलकर इस रचना को ऐतिहासिक महत्व दिया है । प्रसंगवश यहीं "पूंजीवादी विश्व-जगत के सर्व-ग्रासी चरित्र की बात आवश्यक है क्यों कि सन 47 के बाद की स्थिति यह है कि "यह कैसा वक्त है/ कि किसी को बुरी बात कहो / तो भी वह बुरा नहीं मानता " (कीर्ति चौधरी) ।[56]

शीतयुद्धीय मानसिकता के समानांतर यह बढ़ी हुई संवेदन हीनता "सौंदर्यबोध" के प्रसंग में निर्णायक महत्व रखती है । यह "रचना" भी

---

56. "तीसरा सप्तक" सं० अज्ञेय पृ- 58 । नामवरसिंह ने इस पंक्ति को अधिक ज्ञानोदय में प्रकाशित "नयी कविता पर क्षण भर नामक लेखमाला में केन्द्रीय महत्व दिया था ।

खरीददारों में, कवि सम्मेलनों आदि में पर्याप्त लोक प्रिय है और उपभोग-प्रधान नई संस्कृति रूपों द्वारा आत्मसात करली गयी है । सन् 47 अथवा 50 के बाद यह स्थिति अपनी दारुण परिणति को पहुँच गयी है । जिस प्रकार पूर्व-युग में यूतोपियात्मक चिंतन समूची क्रांति-ऊर्जा को निष्क्रिय इच्छा-पूर्तियों और काल्पनिक संतुष्टियों में घटा दिया करता था, उसी प्रकार आज व्यवस्था (राजनीतिक और सामाजिक) अपने विरोध को भी अपने प्रतिबिम्ब में ढाल देती है । "विरोध" बिनाय "उत्पीड़ित" के स्व-ज्ञान के और कुछ नहीं हो पाता ।

हमारा राजनीतिक-सामाजिक काल अपने शक्तिशाली अंतर्विरोधों के चलते कलाकृतियों को सहज ही आत्मसात कर लेता है । यदि निर्दिष्ट व्यवहार को अपनाया जाये तो फिर चाहे वह कितना ही क्रांतिकारी क्यों न प्रतीत हो ; उसके माध्यम से व्यवस्था की शक्ति ही प्रकट होती है । पंत की उपर्युक्त कविता और निराला की "हारता रहा हूँ मैं स्वार्थ-समर" को साथ रखकर देखें तो बात और उजागर होती है ।

व्यावसायिकता के दबाव और शीत युद्ध दोनों की चर्चा मुक्तिबोध ने की है । यों देखा जाय तो आत्म सात करने की अद्भुत शक्ति भारत में पहले से ही रही है । गौतम बुद्ध, कपिल आदि को अवतार बना कर अपने पक्ष में तोड़ लेने की कहानी प्राय: सभी जानते हैं ।

जब प्रत्येक "विरोध" को डंक-हीन करके आत्मसात कर लिया जाता है तो "प्रतिरोध" का चरित्र भी उसी अनुपात से बदल जाना चाहिए । यूतोपियात्मकता का प्रवेश यहीं आवश्यकता होता है ।[57]

---

57. हर्बर्ट मारक्यूज़ ने व्यावहारिक चिंतन के विरोध में यूतोपियात्मक चिंतन की सिफारिश इसीलिए की है । इस "संसार" से अलग, गुणात्मक रूप से भिन्न और श्रेष्ठतर कोई और संसार भी हो सकता है, उसकी आशा और विश्वास बिना यूतोपिया के संभव नहीं । वस्तुत: प्रस्तुत शोध प्रसंग में वर्णित "प्रतिरोध" को हम बिना यूतोपियात्मकता के संपृक्त किये बिना ही नहीं सकते । विस्तार के लिए Marxism and Form - Fredric Jameson P.111.

उपर्युक्त तीनों कविताओं में प्रकट होती व्यावसायिकता के ही एक आयाम को मुक्तिबोध ने व्यक्ति के "व्यवसायीकरण" कहा था । पंत की यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया के बारे में हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं । उनके लिए "बोध" ही अत्यधिक फीको वाला था । यथार्थ " जो "कथ्य" होता है अथवा अंततः कथ्य ही हो सकता है, उनके लिए मृदु, कोमल, भाव-प्रवण आदि के लिए कच्चामाल मात्र है । मलयज छायावादी कविता की इस न्यूनता को रेखांकित करते हुए भी पंत के प्रसंग में गलती कर बैठते हैं । प्रसाद और महादेवी की तुलना में, पंत के काव्य में उन्हें "दुख भोगने वाला हाड़-मांस का आदमी" दिखायी देता है । यद्यपि वे जानते हैं कि "पंत का दुख एक वयस्क मन का दुख न होकर एक शिशु मन अथवा किशोर मन का अपरिपक्व दुख है ।"[58]

शीतयुद्ध के संदर्भ में "व्यावसायिकता" का यह उल्लेख हमें इसलिए आवश्यक प्रतीत हुआ है कि साहित्य में विश्व मानवकी अवधारणा की बात हम लिख चुके हैं । यदि "विश्व में चल रहे राजनैतिक शीत-युद्ध की साहित्यिक शाखा"[59] की कार्रवाइयों के फलस्वरूप एक ओर कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये तो दूसरी ओर एक विशेष समूह द्वारा, लगभग संगठित रूप से एक ऐसा वातावरण तैयार किया गया, कि समूचे काव्य चिंतन को "नयी व्यक्तिवादी पश्चिमी भूमिका" मिल गयी । भवानी भाई की उपर्युक्त कविता में सृजन के स्तर पर, जिन व्यावसायिक मूल्यों के वर्चस्व पर व्यंग्य किया गया है ; वह एक मूल्यहीनता की ओर संकेत करता है ।

---

58. कविता से साक्षात्कार - मलयज पृ- ।।. "छायावादी कवियों ने दुख को बहुत सरल बना दिया है, क्यों कि दुख उनके अस्तित्व को चुनौती नहीं देता था, उन्हें तोड़ता नहीं था, बस थोड़ा और मृदु, थोड़ा और कोमल, थोड़ा और भाव-प्रवण बना देता था । इसीलिए छायावादी कविता में दुख का संगीत तो खूब मिलता है पर उस दुख को भोगनेवाले हाड़-मांस के मनुष्य की असली तस्वीर नहीं दिखायी देती ।" ।वही।

59. मुक्तिबोध रचनावली - पांच - पृ-331.

यों तो राजनीतिक वर्तमान में अन्तर्लेख की शुरुआत से ही हम एक मूल्य-शून्यता की स्थिति को समानांतर सक्रिय पाते हैं किंतु वह बढ़ती हुई औद्योगिकता के दबाव का प्रत्यक्ष परिणाम था। किंतु सन् 1922 की उस "दरार" के बाद से, जिसे हमने चौरी चौरा काण्ड के प्रसंग में रेखांकित किया है, यह मूल्य-शून्यता की मानसिकता क्रमशः बढ़ती गयी है। सचेत प्रगतिशील आचरणों (Praxis) द्वारा प्रतिरोध करने वालों रचनाकारों को छोड़ दें तो समर्पण-धर्मा और विरोध धर्मा - दोनों ही प्रकार के "मानव" पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं। चौथे दशक में ही हम उस खालीपन और "रिक्ति" को पर्याप्त पाते हैं, जिसको "परिमल" से जुड़े साही, लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे व्याख्याकारों ने अत्यधिक ऐश्वर्यीकृत किया है। दूसरे महायुद्ध के बाद यह स्थिति दारुणता की सीमाओं को भी पार कर गयी और हम पाते हैं कि भवानी भाई "सृजन" के बाज़ार में छोड़े हो जाने को रेखांकित करते हुए हिन्दी परिदृश्य में पहली बार इस ओर स्पष्ट संकेत करने के श्रेय के अधिकारी बनते हैं।

सन् 42 में युवाहोती पीढ़ी के बारे में भी हम लिख चुके हैं। हताशाएँ, क्षोभ, ग्लानियाँ आदि भाव-स्थितियाँ शाश्वत और निरपेक्ष रूप से रचनाओं में प्रवेश कर गयी। इसी काल में अस्तित्ववादी प्रभाव की बात भी चर्चा का विषय बनी। "वस्तुतः किसी विचारधारा या भावधारा का प्रभाव किसी व्यक्ति या समुदाय पर तभी पड़ता है, जब वह उसके जीवन के अधिक निकट या अनुकूल लगती है।"[60]

मुक्तिबोध ने "धरती" की समीक्षा लिखते हुए "हिन्दी की उत्तेजना प्रिय रुचि" की बात लिखी है। यह उत्तेजना-प्रिय रुचि उसी विश्व-मानव को प्रस्तुत करती है जो हमारे पूर्व-विवेचन के अनुसार अपने अवकाश काल को अधिकाधिक उत्तेजना से, बिना कोई प्रयास किये भरना, चाहता है।" हम बल देकर कहना चाहेंगे कि शीत युद्ध और व्यावसायिकता का सम्मिलन इसी बनते हुए भारतीय विश्व-मानव के प्रसंग में होता है।

---

60. मुक्तिबोध का साहित्य-विवेक और उनकी कविता - डॉ० लक्ष्मन राय पृ-77.

मुक्तिबोध ने आभ्यंतर लोक में दुस्थिति की बात लिखी है। हम उस दुस्थिति को तब तक नहीं पूरी तरह से नहीं समझ सकते, जब तक एक कवि का ऐसा उदाहरण सामने न रखें, जो उस "दुस्थिति" का शिकार बन गया हो।

यह ध्यातव्य है कि भले ही मुक्तिबोध ने उस "दुस्थिति" की चर्चा की हो, वे उसके शिकार नहीं बन सके थे। हमने उनके साहित्य को "अस्तित्व-संघर्ष का सौंदर्य-बोधात्मक प्रकटन" कहा है। केन्द्र में "संघर्ष" है। "मुक्तिबोध का साहित्य उस व्यक्ति का साहित्य है, जो जीवन की अनिवार्य विवशताओं के बीच निरंतर अपने विवेक के अनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण में प्रयत्नशील रहता है।"[61]

ऐसी प्रत्येक स्थिति मुक्तिबोध को उपलब्ध थी कि वे संघर्ष से विमुख हो जाते। "उनका आत्म संघर्ष औरों से विकट था। xx xअंतर्विरोध इतना तीव्र हो गया था कि उसने विघटन का रूप ले लिया था।[62] x x x उनका व्यक्तित्व उन्मूलित कोटि का था। उन्हीं के शब्दों में -"उन्मूलित व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का व्यक्तित्व होता है - मैं भी एक विशेष अर्थ में उन्मूलित हो हूँ। मातृभाषा मराठी, रहनेवाला मालवे का। किंतु, मुझे एक देश से दूसरे प्रदेश, एक प्रांत से दूसरे प्रांत भागना पड़ा। परिणामतः प्रत्येक प्रदेश में जो तत्स्थानीय जनता है, लोग है, उनकी भाषा तथा रीति-नीति भिन्न होने तथा उनसे घुलने-मिलने के विशेष अवसर न मिलने के कारण, केवल नौकरी पेशा मध्यवर्ग, का ही मैं भाग रहा आया, उस प्रदेश के वातावरण का अंग नहीं बना।" इस कथन के तुरंत बाद उन्होंने अकेले पन (Loneliness) की प्रचण्डता का प्रश्न उठाया है, हालाँकि उसे सामान्यीकृत कर दिया है। आधुनिकतावादी (Modernist) की समस्या को उठाने के लिए तात्कालिक यह आधार नहीं प्राप्त होता।[63] नेमिचंद जैन को लिखे पत्रों में भी प्रायः ऐसे संकेत हैं कि उनके आत्म संघर्ष की तीव्रता का पता चलता है। किंतु यह एक तथ्य है कि यदि "संघर्ष" में विजयी होने का कोई लक्ष्य नहीं मिलता तो पराजित होने या संघर्ष रोक देने का भी कोई क्षण कभी नहीं आया। शीत

---

61. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-23।

युद्ध व व्यावसायिकता दोनों से एक साथ जूझने की काव्य गाथा ही मुक्ति बोध की कविता है ।

इसके बरक्स श्रीकांतवर्मा का उदाहरण लिया जा सकता है । शीतयुद्धीय साहित्य तथा अन्य स्थितियों ने ही ने हिन्दी कविता की सर्वाधिक क्षति "भटका मेघ" के श्रीकांत को "जलसाघर" तक पहुँचाकर की है ।

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के शीतयुद्ध गत संदर्भों के ये दो छोर है - मुक्तिबोध और श्रीकांत वर्मा । यह भी महत्त्वपूर्ण संयोग है कि भटका मेघ (1957) के कवि का मुक्तिबोध से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । वह संग्रह मुक्तिबोध को समर्पित था और मुक्तिबोध ने उस संग्रह की कविताओं में एक लड़ाकू-पन (Militant quality) भी पाया था ।[64] उन्हें श्रीकांत वर्मा की कविताएँ पसंद थी । प्रभोदवर्मा को उन्होंने लिखा -"श्रीकांत को अभी (Recohition) मिलनी बाकी है । (ऐसा मेरा अपना ख्याल है) इसलिए फिलहाल उसकी पैरवी और बकालत आवश्यक है ।"[65] यह सन 58 का परिदृश्य था। सन 56 में तो वे श्रीकांत को, भारती को प्रतिक्रियावादी कहते हुए उसे "दाना दुश्मनों" बता रहे थे अर्थात प्रकारांतर से श्रीकांत को "अपनी ओर" मान रहे थे । श्रीकांत थे भी ! लेकिन छत्तीस गढ़ से दिल्ली आना - अर्थात शीतयुद्ध की साहित्यिक शाखा के रूबरू होना कितना घातक हुआ, यह बाद का इतिहास साक्षी है ! श्रीकांत के दिल्ली-प्रवास की स्थितियों का किंचित परिचय यदि एक ओर दूधनाथ सिंह की कविता "कृष्णकांत की खोज में" से तथा शानरंजन की कहानी "बहिर्गमन" से मिलता है तो दूसरी ओर उनके मित्रों के संस्मरण भी इसकी पुष्टि करते हैं । स्वयं मुक्तिबोध ने भी दिल्ली में श्रीकांत की परेशानियों की ओर संकेत किया है । " यह मैं जानता हूँ कि आपके सामने मुसीबतें तरह-तरह की दस्तबस्ता हाज़िर होती है रोज सुबह और मुश्किल है कि करिए क्या साहिबकी जाये, क्या सेवा की जाये ।

---

62. वही पृ-22. "अंतर्विरोधों का समझने, विवेक और मनोबल से उन्हें दूर करने का प्रयत्न वह बराबर करते रहे ।" पृ- 23.
63. मुक्तिबोध रचनावली छह अग्नेष्का सोनी को लिखे एक पत्र से पृ-373.

लेकिन चूंकि आप ही ने उन्हें अपने तक आने की इजाजत दी है, इसलिए अब आप ही उनसे सेवा लीजिए ।"[66]

मुक्तिबोध का पूरा विश्वास श्रीकांतवर्मा पर टिका था । नागपुर के मित्रों में सर्वाधिक विश्वास (काव्य-सम्बन्धी) मेरा आप ही पर रहा, यह कहने की जरूरत नहीं ।"[67]

एकाएक एक लेख छपता है, कल्पना, सितम्बर 63 में । श्रीकांत वर्मा का लिखा हुआ । "राजनीतिक कार्यकर्ताओं का साहित्य" शीर्षक से । शिवदान सिंह चौहान के विरोध में क्योंकि उन्होंने लिखा था - "प्रतिक्रिया की शक्तियाँ इस बीच संगठित प्रचार द्वारा मनुष्य की सभी उदात्त भावनाओं, मुक्तिकामी आकांक्षाओं, चेतना-विकासी जीवन-मूल्यों और उच्चतर सामाजिक और नैतिक जीवन की संभावनाओं के प्रति लेखकों और बुद्धिजीवियों में घोर अनास्था का भाव पैदा करने में संलग्न रही है । यह प्रयत्न शीतयुद्ध की राजनीति का अंग होने के कारण एक अंतर्राष्ट्रीय षड्यंत्र का स्वरूप ले चुका है[68]।

ध्यान देने योग्य तथ्य है कि श्री चौहान ने ऐसी कोई बात नहीं कही थी जो अधिक तार्किक और सुविचारित ढंग से मुक्तिबोध नहीं कह रहे थे । शीतयुद्ध की चर्चा अधिक कारगर रूप में मुक्तिबोध ने ही की थी । कल्पना में प्रकाशित उक्त लेख समूचे तौर पर मुक्तिबोध द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के खण्डन का प्रयास था । ऐसा क्यों कर हो सका ? मुक्तिबोध जिन-जिन "पदों" का पक्षधरत्व करते थे, उन्हें श्रीकांत वर्मा उधेड़ रहे थे ।

मुक्तिबोध ने उस लेख को पढ़ा । "कल्पना में आपका लेख भी ध्यान से पढ़ गया । हृदय के बहुत तीव्र आवेग से आपने उसे लिखा था ।" फिर वे श्रीकांत वर्मा के उसी लेख के समानांतर छपी और उसी मनोभूमिकी, तेवर में छपी कविता का उल्लेख करते हैं । इसके बाद वे जो भी लिखते हैं, उसमें उक्त लेख और उक्त कविता - दोनों को पढ़ने के बाद की प्रतिक्रिया आवेगात्मक

---

64. मुक्तिबोध रचनावली - छह । श्रीकांत वर्मा को लिखे गये पत्र पृ-338
65. -वही- पृ-361 । प्रमोद वर्मा को लिखा गया पत्र ।
66. -वही- पृ-348 । श्रीकांत वर्मा को लिखा गया पत्र
67. -वही- पृ-353 । 68. आलोचना 27 जुलाई 63 । पृ-34

स्तर पर और आत्मीयता पूर्वक व्यक्त हुई है । वे उन रचनाओं में व्यक्त "दर्द" की बात करते हैं फिर "सिर्फ दर्द ही दर्द होता तो शायद सोचने को मजबूर न होना पड़ता । उसमें एक भयानक निराशा का स्वर था ।" मुक्तिबोध की श्रीकांत विषयक चिंता कितनी तीव्र थी, इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि वे उक्त कविता ‖और प्रकारांतर से उस लेख को‖ को "एक विशेष मनः स्थिति की बात" कहने के बाद लिखते हैं - "छत्तीस गढ़ का यह मेरा प्यारा कवि क्या का क्या हो गया । ‖आज के जीवन की चिंता सताने लगी ‖ उस छत्तीस गढ़ में, जहाँ मुझे मेरे प्यारे छोटे-छोटे लोग मिले, जिन्होंने मुझे बाहों में समेट लिया × × × में उन्हीं के कारण आप सबके कारण हाँ आपके कारण, मनुष्यता में विश्वास खो नहीं पाता - में सैद्धांतिक बात नहीं कहा रहा हूँ । उस छत्तीसगढ़ का मैं ऋणी हूँ, जिसने मुझे और मेरे बाल-बच्चों को शांति पूर्वक जीने का क्षेत्र दिया । उस छत्तीस गढ़ की भूमि ने जो अत्यंत प्रतिभाशाली पुत्र पैदा किया, वह दिल्ली जाकर इतना अधिक विषद्-ग्रस्त हो गया कि दुःख होता है ।[69]

श्रीकांत की नयी रचनाओं से मुक्तिबोध "दंग" थे, व्यथित थे, विचलित थे लेकिन नहीं चाहते थे "कि ऐसी हालत में आप रहें" । मुक्तिबोध श्रीकांत की रचनाओं में बढ़ती हुई व्यंग्यात्मक कटुता की बात करते हैं (Cynicism) और बाद में, एक अपूर्ण पत्र में, अपना सर्वाधिक विश्वास श्रीकांत वर्मा पर बताते हुए (Cynicism) को आज की वस्तुस्थिति के प्रति एक अतिरेक पूर्ण प्रतिक्रिया कहते हैं, जो "सुविचारित नहीं है । यदि यह व्यापक जीवन-निरीक्षण और समृद्ध-चिंतन के फल स्वरूप होती तो और ही चीज़ होती । किंतु, मुझे पक्का विश्वास है कि वे लोग अधिकाधिक अर्थात वैविध्यपूर्ण अनुभव सम्पन्नता के साथ ही साथ उसे त्याग देंगे । उन्हें त्यागना होगा । जिंदगी उन्हें इस बात के लिए मजबूर करेगी ।"[68] स्पष्ट है कि मुक्तिबोध प्रकारांतर से यह श्रीकांत के लिए लिख रहे थे । यह नहीं पता कि इन के उत्तर में श्रीकांत वर्मा ने उन्हें क्या लिखा ? किंतु जो भी लिखा यह "अत्यंत महत्वपूर्ण

---

69. मुक्तिबोध रचनावली : छः पृ- 352 । श्रीकांत वर्मा के नाम पत्र

था । मुझे पक्का विश्वास है कि आप अपने अनुभवों को तटस्थ भाव से शब्द-बद्ध करेंगे तो साधारण जनों के जीवन को आप मूर्तिमान कर डालेंगे ।"[69]

एक दुखद विडम्बना ही थी कि जिन दिनों श्रीकांत वर्मा ने "बहिर्गमन" किया, दिल्ली आये, उन दिनों वह "सौंदर्यबोधात्मक सामूहिक कारवाई" जो 1936 में आरंभ हुई थी, पूरी तरह से अस्त-व्यस्त थी जब कि शीतयुद्ध के बुर्ज से गोलंदाजी" जारी थी । जब तक श्रीकांतवर्मा दिल्ली नहीं गये थे, तब तक तो वे यह लिख रहे थे -

जिस पृथ्वी से जन्मा/ उसे भुला हूँ / यह कैसे संभव है ? / पानी की जड़ है पृथ्वी में / बादल तो केवल पल्लव है / मुझमें अंतर्द्वन्द्व छिड़ा है / मुझे क्षमा करना कवि मैं ।/ तुमने जो दिखलाया मैंने / उससे कुछ ज्यादा देखा है / मैंने सदियों को मनुष्य की आँखों में देखा है /"[70]

भटका मेघ [1957] संग्रह की कविताओं में दायित्व-बोध और लगाव तथा एक सार्थक अंतर्द्वन्द्व की भरपूर उपस्थिति है । छत्तीसगढ़ का "अत्यंत प्रतिभाशाली पुत्र" [मुक्तिबोध" दिल्ली गया और वहाँ उसने देखा - दिल्ली जीवन का हर क्षण ऐसे काफ्काई थीम की सृष्टि करता है । कौन, कब एक्सीडेण्ट का शिकार होकर कुत्ते की मौत न मारा जायेगा, कब शराब के जरिये आपको धोखा देकर आपसे पैसे ऐंठ लेगा, कब सिफारिश भिड़ा कर कोई प्रतिष्ठित पुरस्कार हासिल कर लेगा या दुनियाँ की सैर करने निकल पड़ेगा ? कुछ भी तो नहीं कहा जा सकता ?"[71]

जब ज्ञानरंजन को ऐसा लगता है - "मुझे दिल्ली में कई बार नौकरियाँ मिली लेकिन वहाँ मैंने अपने जाने की जरूरत नहीं समझी × × × मेरे पास तो दिल्लीवालों की जिंदगी की सारी झूठ साफ़ते स्पष्ट हैं × × × दिल्ली में गत चौदह वर्षों से जो लोग मार्क्सवादी और क्रांतिकारी बने हैं और रत्ती भर भी कुछ नहीं कर रहे हैं, वे वामपंथ के प्रति कितनी बड़ी साजिश के शिकार हैं, वह इस देश का आगामी इतिहास प्रमाणित करेगा ।[72]

---

70. समकालीन कविता - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी पृ- 174 से उद्धृत
71. पहल 4 में प्रकाशित वेणुगोपाल का "रद्द पर कुल्हाड़ी मारते हुए" नामक लेख । पृ- 89-90.
72. पहल 1 मई 1974 - ज्ञानरंजन का विनयकांत के नाम पत्र ।

जानरंजन ने आगे लिखा - "क्यों कि दिल्ली का स्वादिष्ट खून इन्हें लग गया है।" किंतु यह कहना ज्यादा सही होगा कि श्रीकांत वर्मा जैसे कवि दिल्ली की "साजिश" के शिकार हुए तो "खून इनका स्वादिष्ट खून दिल्ली को लग गया है। वह इन्हें जकड़े हुए है और गले पर दाँत गड़ाये हुए हैं। मैं अपने कई प्यारे दोस्तों को जानता हूँ, जिनमें न तो प्रतिभा की कोई कमी है और न ज्ञान की। फिर भी उसमें से एक के शब्द हैं - "मैं जो कुछ भी सोचता हूँ, उसमें अस्सी प्रतिशत औरतों के बारे में और काफ़ी कुछ नौकरी और पैसे के बारे में" वह दोस्त मार्क्सवादी है। तेज़ है लेकिन दिल्ली में है और घुट रहा है। x x x जिस दिल्ली में बस में सवार होने के लिए जान की बाज़ी लगानी पड़ती है, वहाँ एक अतिरिक्त जड़ता घर नहीं करेगी तो और क्या होगा ?[73]

उपर्युक्त पंक्तियाँ सौमित्र मोहन के लिए लिखी गयी हैं किंतु अधिकांश दिल्लीवासी कवियों पर पूरी तरह से लागू होती हैं। जब तथा कथित उग्र वामपंथियों- मार्क्सवादियों की "दिल्ली इस तरह ऐसी-तैसी" करती हो तो छत्तीसगढ़ का प्यारा प्रतिभाशाली पुत्र क्या करता ?

दिल्ली पर लिखते हुए मनोहर श्याम जोशी ने बताया है कि किस प्रकार निर्मल वर्मा ने काफ़ी हाउस में श्रीकांत वर्मा से कहा था - "तुम कुछ पढ़े होते तो तुम से बात भी करते" आदि।

यदि ऐसे में "बहुत बेमालूम तरीके से "श्रीकांत के मन में घुसती हुई किताब ने, उन्हें आत्मानुभव की व्यापक ज़मीन से काटा" और "इस कटाव की सूचनाएँ "माया दर्पण" में ही मिलने लगती है।"[74]

सन 50-67 के समय की सबसे बड़ी काव्य-दुर्घटना श्रीकांत वर्मा को "भटका मेघ" से भटक जाना है। यदि आज "अँधेरे से अँधेरे में" के निबंधों में श्रीकांत वर्मा ~~यदि आज~~ व्यक्ति-स्वातंत्र्य" को एक सर्वोच्च मूल्य का पद

---

73. तेवर-4 जनवरी 75 -नेपुगोपाल का "जड़ पर कुल्हाड़ी मारते हुए" नामक लेख पृ-85-86
74. पूर्वाग्रह - 34, सितंबर-अक्तूबर, 79 प्रभात कुमार त्रिपाठी का श्रीकांत वर्मा की कविता नामक लेख पृ-43.

देते दिखाई पड़ते और पूंजीवाद तथा समाजवाद; दोनों से एक साथ लड़ते हुए व्यक्ति की कविता को तर्कातीत अथवा तर्कातीतता से भी आगे जाने की बात करते हैं तो यह उसी "किताब" की वजह से है, जो उनके दिमाग को घेरे कर बैठ गयी है और जिसके आगे जीवन तथा उसके अनुभवों की भी कोई कीमत नहीं रह गयी है। ऐसा क्यों कर हुआ ? किसी एक कारण से नहीं ; कई सारे कारण है। एक ओर वह "सामाजिक स्थिति ; जिसमें श्रीकांत ने अपने को घुड़-दौड़ में शामिल होने के लिए विवश पाया। अर्ध-सामंतवादी अर्ध-पूंजीवादी भारतीय समाज में कवि-टूटते-टूटते क्षणीय और नष्ट-भ्रष्ट हो जाने को अभिशप्त है।[75] इस "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध की हमारी मांग को तथाकथित व्यावहारिक विवेक, पात्रता से भी वंचित करना चाहेगा। हमने यूटोपियात्मक ऊर्जा से स्मृक्ति की आवश्यकता पर इसीलिए बल दिया है।

एक बात और भी है। जब श्रीकांत जैसे कवि अपने को "बाहर" कर दिया गया पाते हैं और "दबाव" ग्रस-ग्रस हो जाता है तो किसी भी क्षण वह शुरुआत हो सकती है, जिससे बचने के लिए ही निराला और मुक्तिबोध का सारा संघर्ष था। नष्ट होने से बचने के लिए भ्रष्ट हो जाना। चिंता से बचने के लिए क्रुद्ध से बतराना। इस "भ्रष्ट" होने की शुरुआत में ही मुक्ति बोध ने "सिनिसिज्म" के मुद्दे पर पत्र-व्यवहार किया था। "सिनिसिज्म" अपने आप में नहीं समझा जा सकता। उसे राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक स्रोतों में ही देखना होगा।

निराला का आत्म संघर्ष तथाकथित विक्षिप्तता तक पहुँचकर भी उनके सौंदर्यबोधात्मक जीवन [=सृजन] को न तो नष्ट ही कर पाया और न भ्रष्ट ही जब कि मुक्तिबोध का सौंदर्य बोधात्मक जीवन स्पष्ट तौर पर नष्ट होने और भ्रष्ट होने के कगारों से जूझते हुए ही संभव हो सका। [हमने उनके संघर्ष को उनके अस्तित्व-संघर्ष के सौंदर्यबोधात्मक प्रकटन होने की बात लिखी है] और यदि वह नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो सका तो भी युद्ध-रत मनोस्थिति के

---

75. Both Capitalist and Poet become darker figures first tragic than pitiful and finally vid ous.' Cristofer Cadwall quoted in तेवर -4 के वेणुगोपाल के चढ़ पर कुल्हाड़ी मारते हुए नामक लेख से पृ-90

कारण निरंतर अनिश्चित रहा । यदि एक यूटोपियात्मक चेतना से संपृक्त न होती तो निश्चित ही वे पराजित हो जाते ।

निराला में संघर्ष और पराजय-बोध के साथ आनंद और दैहिक सुख के उद्दाम-चित्र मिलते हैं जबकि मुक्तिबोध में जहाँ सायास स्तर पर पराजय-बोध से बचा गया है, वहीं एक यूटोपियात्मक आशा-चेतना का अवलम्ब सदा ही उन्हें संभाले रहा । इस बोध स्तर पर या ज्यादा सही होगा चिति स्तर पर चलते संघर्ष (मुक्तिबोध के शब्दों में आभ्यंतर लोक) ने उन्हें उद्दाम आनंद के पास नहीं पहुंचने दिया ।

श्रीकांत मुक्तिबोध की जीवन-ऊर्जा से लैस थे । परिणामस्वरूप वे भ्रष्ट होने से बच न सके । श्रीकांत निराला की नकारात्मकताओं की परम्परा में आते हैं ।

राजकमल चौधरी या अकविता के कवियों की तुलना में श्रीकांत वर्मा का उदाहरण अधिक सार्थक है क्योंकि वह मारक होती व्यवस्था के खतरों को पूरी तरह से प्रस्तुत करता है । निराला और मुक्तिबोध ने अपने ~~मानसिक~~ मानसिक और दैहिक स्वास्थ्य की कीमत पर अपने सौंदर्यबोधात्मक जीवन को बचाये रखा जबकि श्रीकांतवर्मा ने सौंदर्यबोधात्मक स्वास्थ्य की बलि देकर अपने को बचाना चाहा । उनकी कविताओं में व्यक्त "सिनिसिज्म" भी उसी अर्थ में "भाषा" है, जिस अर्थ में धूमिल आज से "मानसिक रोग या विक्षिप्तता को भाषा कहा है । इसका कारण "मुझे लगता रहा है कि श्रीकांत के यहाँ नयी स्तर पर क्रियाशील कोई गहरी यूटोपिया नहीं है[76]।"

एक अर्थ में निराला-मुक्तिबोध-श्रीकांत- तीनों में "बोध" की संरचना में ही फाँक मिलती है । यदि मुक्तिबोध में "अहंकार की मात्रा उनमें निराला से कुछ कम ही थी"।[77] रहे थी तो श्रीकांत में "आहत अहं" के नाटकीय विस्फोट से हुए "द्वंद्व" के अतिरिक्त और कुछ कम ही बच पाया है ।

---

76. पूर्वग्रह 34 सित-अक्तू 79, प्रभात कुमार त्रिपाठी के "श्रीकांत वर्मा की कविता" नामक लेख पृ-44

77. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-23

यह आकस्मिक लेकिन महत्वपूर्ण संयोग है कि जहाँ सन् 67 में एक स्तर पर दायित्व-बोध से जुड़ते काव्य-सृजन के "चिह्न स्पष्ट तौर पर उभरने लगते हैं, वहीं श्रीकांत के दोनों संग्रहों "दिनारंभ", "माया-दर्पण" का प्रकाशन वर्ष भी यही है । इसे "ऐतिहासिक भाग्य" ही कहा जायेगा कि श्रीकांत दिल्ली गये ।"मैं आपकी परिस्थिति जानता हूँ । बड़ा अच्छा किया जो विलास पुरसे खिसके । आप प्रखर यशस्वी और कीर्तिमान होंगे" - मुक्तिबोध 75। फिर उनके काव्य-गुरु मुक्तिबोध का निधन हुआ । इसके बावजूद उन्हें किसी सीमा तक लोहिया रोके रहे । श्रीकांत उनके अंतरंग मित्रों में से थे । उनकी मृत्यु के बाद फिर श्रीकांत को "जलसाघर" तक पहुँचने से कोई नहीं रोक सका । वे तो स्वयं को रोकने में अक्षम ही थे क्यों कि "सिनिसिज्म" को अपने सौंदर्यबोधात्मक जीवन का अंग बनाने के बाद उसकी आशा नहीं की जा सकती थी ।

आभ्यांतर लोक में दुस्थिति (मुक्तिबोध) के संकट के रूबरू होकर किस रचनाकार ने क्या प्रतिरोध-विरोध समर्पण किया, इसी की गाथा को सन 50-67 के कालावधि का साहित्य प्रस्तुत करता है । "छत्तीसगढ़ के प्रतिभाशाली पुत्र "श्रीकांत के काव्य की विरोध समर्पण की कारुणिक गाथा को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है ।

भ्रष्ट होने की शुरुआत को देखे बिना, उसके ब्रोसों को जाँच-परखे बिना और समग्र परिदृश्य में उसकी अवस्थिति को देखे बिना मात्र "भ्रष्ट को कोसने और उसकी निंदा करने में एकांगी अथवा अवरोधात्मक प्रवृत्ति ही प्रकट होती है । क्रांतिकारियों के जीवन में भ्रष्टाचार के प्रवेश की पड़ताल करते हुए चे गुएरा ने दिन-प्रतिदिन के घोलन्मेशन की बात कही है । यदि एक दिन किसी कमजोर क्षण में क्रांतिकारी अपने बच्चों को फटे जूता पहने देखे या घरवालों को बुनियादी जरूरतों से वंचित देखें तो भावी भ्रष्टाचार की शुरुआत हो सकती है ।[78]

---

78. Letter to Carols Quijino - Man and Socialism in Cuba - Cheguevara - Collected in Vencemos - John Garr
79. The anatomy of Human distrinctiveness - Eric Fromm P.6
80. Ibid .

इस प्रसंग में आवश्यक है कि हम मिलग्राम और जिम्बार्डो (Milgram and Zimbardo) द्वारा किये गये उन प्रयोगों को याद करें, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को असहनीय परिस्थितियों में डालकर उसके व्यक्तित्व को अमानवीकरण का शिकार बनाया जा सकता है। यहाँ तक कि असहनीय और "अमानवीय स्थितियाँ" [मानवीय] मनुष्यों को उनकी नैतिकता, विश्वासों और मूल्यों के विरुद्ध आचरण करने को भी बाध्य कर देती है।[79] कवि का आचरण कविता होती है और श्रीकांत उसमें यही करने लगते हैं।

एरिक फ्रॉम ने यातनागृहों से सम्बन्धित फिल्टलर (Filtler) के संस्मरणों के आधार पर प्रतिपादित किया है कि व्यक्तिगत मूल्य और निजी नैतिकता भले ही वातावरण और उसके प्रभाव में कोई अंतर नहीं ला सकते किंतु उसके प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया में निश्चत ही बड़ा अंतर उपस्थित करते हैं। असह्य रूप से अमानवीय स्थितियों में सामान्य व्यक्ति मूल्य-मूढ़ हो तो पराजय स्वीकार कर लेता है जब कि मूल्य युक्त मनुष्य अपराजित रहता है। बी. बीटलहीम (B. Bettelaheim) ने इसीलिए हिटलर के यातनागृहों में धार्मिक और राजनीतिक मूल्यों से युक्त कैदियों की अत्याचारों के प्रति प्रतिक्रिया में, सामान्य व्यक्तियों से गुणात्मक अंतर दिखाया है।[80]

यदि सन् 50 के बाद कुछ कवियों में आक्रामकता की बढ़ोत्तरी दीखती है या फिर सब कुछ से कहीं दूर भाग जाने की प्रवृत्ति तो ये दोनों रुझान वस्तुतः एक ही है। जहाँ एक ओर आक्रामकता जीवशास्त्रीय स्तर पर प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया है 'Biologcial adaptive defencive action'[81] वहीं कई बार पलायन भी आक्रामकता बन जाता है। यों जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से पलायन संघर्ष की तुलना में अधिक कारगर तरीका है स्व-रक्षा का[82]।

---

81. The anatomy of Human distructiveness - Eric Fromm P.96

82. Ibid P.97

वस्तुत: 50 के बाद के कवि के लिए "करो या मरो" की स्थिति थी । उसका समूचा सृजनात्मक जीवन संकट में घिर गया था । अपने सहज, प्राकृतिक निवास से हटा दिये जाने पर चाहे कोई जानवर ही क्यों न हो, वह असुरक्षा-ग्रस्त होकर आक्रामक बन जाता है ।

जब स्वाधीनता-संग्राम अथवा आंदोलन का युग था तो सहज ही चरम मूल्य के रूप में देश की राजनीतिक स्वाधीनता का मुद्दा था । सत्ता-हस्तांतरण के साथ ही अधिकांश के लिए चरम-मूल्य का स्थान रिक्त हो गया । चरम मूल्य ही मूल्य-सरणि को निर्धारित कर-क करता है । रिक्त स्थान पर यों तो कई सोखते नारों और शब्दों ने अपना अधिकार प्रकट किया किंतु हम पाते हैं कि कुल मिलाकर "चरम मूल्य" भी द्वितीय महायुद्धोत्तर स्थितियों (-शीतयुद्धीय) द्वारा निर्धारित होने लगे ।

प्रत्येक युग में, न केवल ऊपरी स्तर पर बल्कि बहुत गहरे और जटिल रूपों में दो विपरीत शक्तियों का संघर्ष जारी रहता है और सन 50 के बाद एकाएक प्रगति-विरोधी शक्तियों का वर्चस्व दिखायी पड़ता है । सन् 50 के आसपास "महायुद्ध के अनंतर" समूचे विश्व-फलक पर परिवर्तन की संभावना जागती है और उसी अनुपात में "प्रतिगामी शक्तियाँ यथावत् रखने को बड़ा प्रतिरोध खड़ा करती है ।"[83]

रचनाकार पाता है कि प्रदत्त शीतयुद्धीय स्थितियों में उसे प्रतिगामी शक्तियों द्वारा "बड़ा प्रतिरोध" भी प्राप्त होता है । सब कुछ को यथावत रखने के लिए । सृजन "दुनिया को बदलने वाली चीज़" (ब्रेख्त) के रूप में देखा है । प्रतिगामी शक्तियों का प्रतिरोध सृजन के विरोध में सक्रिय होता है ।

इस प्रदत्त प्रतिरोध के प्रति "प्रतिरोध" की स्थिति ही मुख्यत: शीत युद्धीय संदर्भों में रचनाकार की सृजन-स्थिति रही है । यों तो प्रत्येक

---

83. पल 16 - जून 1981 "समकालीन लेखन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न" नामक लेख, विजेन्द्र द्वारा लिखित पृ-35

युग में प्रतिगामी शक्तियाँ परिवर्तनकारी शक्तियों का विरोध करती ही रही हैं किंतु शीतयुद्धीय स्थितियों में इस विरोध के साथ-साथ उन्हें दिग्भ्रमित करने की चेष्टाएँ भी की जाती हैं। विजेन्द्र ने अनेक छल और छद्म वेषों में सक्रिय "इस प्रतिगामी प्रतिरोध के कई रूपों को यों दिखाया है" - "एक तो सीधे-सीधे उन अग्रगामी शक्तियों पर आक्रमण करना जो सामाजिक परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया को आगे बढ़ा रही हैं। दूसरे, उन शक्तियों को दिग्भ्रमित करने के लिए उन्हीं के मुहावरे में प्रतिगामी कथ्य की अभिव्यक्ति करना। तीसरे, अग्रगामी कथ्य को ढकने के लिए एक आकर्षक और छद्मवेशी मुहावरे का प्रयोग। चौथे, सामाजिक यथार्थ को विकृत करने की कोशिशें। सौंदर्यशास्त्र की भाषा में चाहें तो इसे "रूपवाद" का खतरा भी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त विकृत साधनों के माध्यम से अग्रगामी रचनाकारों में घुस पैठ कर उन्हें विभाजित करने की चालाक प्रवृत्ति भी मुखर है और जब-तब मानवीय स्वतंत्रता की माँग को लेकर नये विवाद उठाये जाते हैं और उन्हें भारतीय संस्कृति की समृद्धि तथा रक्षा के विवादों से जोड़ दिया जाता है। कहना न होगा कि अनेक अग्रगामी लेखक उपर्युक्त खतरों का शिकार हुए हैं। होते होते बचे हैं या आगे हो सकते हैं।"[84]

उपर्युक्त विवेचन में विजेन्द्र द्वारा दर्शाये गये प्रतिगामी प्रतिरोध के सारे रूप हमारे विवेच्य काल-खण्ड (1950-1967) में न्यूनाधिक रूप से सक्रिय दिखायी पड़ते हैं।

इस प्रकार प्रतिरोध के प्रति प्रतिरोध की सार्थकता के लिए आवश्यक होता है कि "रचना में अंतर्निहित अनेक जटिलताओं को समझने और सुलझाने के लिए रचना के बाहर जाना पड़े। रचनाकार को यह जानना चाहिए कि --"जो लोग रचना में अंतर्निहित अनेक जटिलताओं को रचना के दायरे में ही सुलझाना चाहते हैं, वे रचना को उसकी प्राणदायिनी शक्ति से काटते हैं। क्यों कि रचना जिस अनिवार्य क्षण से बनती है, वह अपने मूलरूप में रचना से बाहर और स्वतंत्र है।"[85]

---

84. वही पृ-36
85. वही

यह जानकर ही कोई रचनाकार "अपने समय के चरित्र की जटिलताएँ, अपनी जातीय सजीवपरम्पराएँ, अपने देश के भूगोल का छोर और उसके पीछे सक्रिय प्रकृति के अटल नियम तथा इतिहास के गर्भ में जीवित परस्पर विरोधी शक्तियों के वेग" को पहचान सकता है और तभी प्रतिगामी प्रतिरोध के प्रति अपने प्रगतिकामी द्वंद्वात्मक व सृजनात्मक प्रतिरोध को जारी रख सकता है।

विपरीत शक्तियों का द्वंद्व यायवी नहीं होता। उसका एक ठोस भौतिक आधार होता है। सामान्य उत्पादन के तरीकों में ही उनकी जड़े होती हैं। प्रतिगामी और प्रगतिकामी शक्तियाँ मूलत: भौतिक शक्तियाँ होती हैं।

जब कोई रचना या सृजन इस द्वंद्व में भागीदार होता है तो उस संकल्प के चलते ही यह संभव हो पाता है, जो अपने चरित्र से ही यूटोपियात्मक होता है और इसीलिए किसी भी "वर्तमान" में हस्तक्षेप करके उसे भविष्योन्मुख बनाते हुए वस्तुत: सौंदर्यबोधात्मक काल की सृष्टि करता है। ऐसा मात्र "राजनीतिक वर्तमान" के लिए ही सच हो, ऐसा नहीं है। काल और "समय" के किसी भी आयाम की सौंदर्यबोधात्मक पुनर्रचना द्वारा यह संभव होता है। सौंदर्यबोध "बृहत्तर" का बोध है, यह हम लिख चुके हैं। काल-बोध के सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण के लिए भी यही सच है। अतीत, वर्तमान और भविष्य नामक काल-प्रत्ययों को "बृहत्तर" करके अनुभव करना उस चेतना के चलते ही संभव हो पाता है, जिसे हमने "वाम-चेतना" कहके निरूपित किया है।

शीतयुद्ध और बढ़ती हुई व्यावसायिकता "बृहत्तर" के अनुभव को असंभव करने का षड्यंत्र रचती है। दूसरे शब्दों में प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध की सृजनात्मकता व द्वंद्वात्मकता की संभावना पर कुठाराघात करती है। "अवसाद" और एक संदर्भ-च्युत आशा (alimeted hope) की विविध परिणतियों के रूप में आक्रामकता, पलायन, कुण्ठा, निराशा आदि का उभार जहाँ एक ओर बढ़ती हुई असुरक्षा-चिंता के परिदृश्य में सुरक्षा-तकनीक का निदर्शन होता है वहीं दूसरी ओर विश्व-मानव का क्रमश: विकास है।

सन 43 के लगभग ही "उत्तेजना-प्रिया रुचि" के वर्चस्व की बात मुक्तिबोध ने, त्रिलोचन की धरती की समीक्षा करते हुए की थी । बाद में यह "रुचि" बढ़ती ही चली गयी और उसीके अनुपात में उस "रचना" का बाहुल्य भी होता चला गया, जो स्पष्टत: शीत-युद्ध की देन थी । इसी लिए उस "अजूबे काव्यशास्त्र" की रचना हो सकी, जिसके "व्यक्ति" के महत्व पर अतिरिक्त बल था ।

सारांश में सन 50 से 67 तक के काल-खण्ड में हम इसीलिए काव्य-क्षेत्र में सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध के शीतयुद्धगत संदर्भों की निरंतर बढ़ोत्तरी देखते हैं, जिसके कारण अन्य घातक दुर्घटनाओं के साथ-साथ भटका मेथ का कवि : 'जलसा घर' की ओर चल पड़ता है ।

शीत युद्ध बनाम सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध : कविता गत संदर्भ

शीतयुद्ध के साहित्यिक आयामों पर विस्तार से विवेचन करने का यहाँ अवकाश नहीं । जिस तरह वास्तविक युद्ध जन-संहार करता है और परिणामस्वरूप मानवीय मूल्य-संसार को तहस-नहस कर देता है, उसी प्रकार शीत-युद्ध जन-मानस का संहार करता है और मूल्य-स्रोतों को ही अवरुद्ध कर देना चाहता है । जिस प्रकार सामरिक उपकरणों में उत्तरोत्तर मारकता विकसित होती गयी है और व्यापक जन संहार के लिए सक्षम बमों, मिसाइलों और रासायनिक युद्ध की संभावनाओं ने द्वितीय महायुद्धोत्तर संसार को अपनी जकड़ में ले रखा है, उसी तरह शीत-युद्ध भी प्रचार-प्रसार के साधनों में होती हुई वैज्ञानिक प्रगति को अपने पक्ष में इस्तेमाल करने के कारण मानवता पर अर्थात उन सारी विशेषताओं पर जो मानव को पशु से पृथक् करती है ; संकट बनकर मँडरा रहा है ।

कविता का स्रोत मनुष्य का सौंदर्य बोधात्मक जीवन होता है, जो समग्र जीवन का मानवीय आयाम है । कविता को मनुष्य की मातृ भाषा कहे जाने के पीछे यही तथ्य सक्रिय है ।[86] मातृभाषा ही मनुष्य होने की प्रक्रिया को प्रारंभ करती है । "मनुष्य" को एक प्रक्रिया के रूप में देखने का सुझाव ही प्रस्तुत शोध प्रसंग की मूल उपपत्ति है । जीवन एक प्रक्रिया है और

उसके प्रक्रिया बने रहने में सहयोगी होना ही "सृजन" का चरित्र है। इस जीवन-प्रक्रिया के कारण ही काल-बोध के साथ अनिवार्यतः संबद्ध चिंता और मृत्यु-भय से, कालातीत के अनुभव द्वारा अर्थात कलानुभव-सौंदर्यानुभव के माध्यम से बचा जा सकता है। सृजनात्मक व द्वंद्वात्मक प्रक्रिया जीवन को सदा भविष्योन्मुख रखती है। दूसरे शब्दों में, सौंदर्यानुभव ही जीवन के प्रक्रिया होने की पहचान होता है।

विवेच्य काल-खण्ड में उक्त प्रक्रिया को रोकने या उसकी द्वंद्वात्मकता [=सृजनात्मकता] को वस्तु-वृत करने के प्रयत्न यदि तीव्र होते दिखायी देते हैं तो सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध भी उसी अनुपात में विविध आयामी हो जाते हैं। सृजन से लेकर प्रसारण-संप्रेषण तक प्रतिरोध सक्रिय होता है। "कृति" के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि किस प्रकार उसे मुक्तिबोध का सहयोग प्राप्त था, वे "उसे अधिकाधिक प्रगतिशील" बनाना चाहते थे। "सुधा" का प्रकाशन भी छठे दशक के उत्तरार्द्ध में ही हुआ। इस प्रसंग में विष्णु चंद्र शर्मा द्वारा सम्पादित "कवि" का विशेष महत्व है।

"कवि"पत्रिका के महत्व को कई आधारों पर समझा जा सकता है। बढ़ती हुई व्यावसायिकता के दौर में प्रकाशन-प्रसारण के क्षेत्र में यह सौंदर्य-बोधात्मक हस्तक्षेप उस समय ऐतिहासिक महत्ता प्राप्त करलेता है, जब हम यह जानते हैं -- " x x x विष्णु चंद्र शर्मा को नागरी प्रचारिणी सभा में 120 रुपये महीने की नौकरी मिली ही लगी थी कि उन्होंने "कवि" निकालना शुरू किया। प्रतिमास 80 रुपये खर्च करके एक फ़र्मा याने 16 पेज की पत्रिका निकालते थे। x x x वह सच्चे अर्थों में लघु पत्रिका थी, उसे निकालकर विष्णु चंद्र शर्मा ने अपने को या अपने मित्रों को छपाने की कोशिश नहीं की थी।"[87]

"कवि" की एक विशिष्टता यह भी थी कि वह "रचना" प्रधान लघु-पत्रिका थी। जब कि प्रायः यह होता रहा है कि लघु-पत्रिकाओं ने आलोचना-प्रधान होने का रास्ता ही अधिकांशतः अपनाया है। सृजनात्मक

---

86. 'Poetry is the mother-tongue of man kind' Hamman
कविताँतर - जगदीश गुप्त पृ- 9 पर उद्धृत

87. पल्लव। विश्वनाथ त्रिपाठी का "नयी धान पंथी पत्रिकाएँ और उनकी भूमिका" नामक लेख पृ-96

साहित्य और उसके विवेचन पर अपने को एकाग्र न करके व्यवहार-च्युत सिद्धांतों पर बहस-मुबाहसा एक जड़-शाब्दिकता का शिकार होता ही है ।

इसके पश्चात सन 1962 से 1967 तक के समय में हम लघु-पत्रिकाओं की बाढ़ देखते हैं । यह आकस्मिक नहीं है कि प्रत्येक नयी लघु पत्रिका एक नये आंदोलन का उद्घोष भी हुआ करती थी । एक सस्ती उत्तेजना, प्रदर्शन-प्रियता, फैशन-परक सर्व निषेधात्मकता आदि की विपुलता उस सिनिसिज्म की ओर ही संकेत करती है, जिसका उल्लेख श्रीकांतवर्मा को लिखे गये मुक्तिबोध के पत्रों में प्राप्त होता है । वस्तुत: कृति, वसुधा, कवि आदि लघु पत्रिकाओं के बाद निषेध-वादी लघु-पत्रिकाओं की बाढ़ इसी ओर संकेत करती है कि कैसे प्रत्येक विरोध को "व्यवस्था" आत्मसात कर लेना चाहती है या फिर उसे एक हास्यास्पद बनाकर हानि रहित कर देती है ।

पूर्व में भवानी भाई और पंत की कविताओं के उदाहरण से "व्यावसायिकता" और पूंजीवादी मण्डी के साहित्य में प्रवेश की बात कही गयी है । इस प्रसंग में सन 66 में रचित नागार्जुन की कविता "लोगे मोल" पंत की कविता "लोगी मोल" (सन 27) की पैरोडी-सी प्रतीत होती हुई भी अपनी प्रभावगामिता अर्थात् सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोधात्मकता में महत्वपूर्ण है ।

कविता इस प्रकार है -

लोगे मोल ?
लोगे मोल ?
यहाँ नहीं लज्जा का योग
भीख मांगने का है रोग
पेट बेचते हैं हम लोग
लोगे मोल ?
लोगे मोल ?

बेचेंगे हम सेवाग्राम
सस्ता है गांधी का नाम
रघुपति राघव राजाराम
लोगे मोल ?
लोगो मोल ?

आज़ादी के नीचे बाल
संविधान की झीनी झाल
बेशर्मी की गहरी दाल
लोगे मोल ?
लोगो मोल ? [89]

उपर्युक्त कविता के संदर्भ में ध्यातव्य यही है कि यह भावनी भाई की "गीत फरोश" की "गीत" बेचने सम्बन्धवाली स्थिति के मूल स्रोतों तक जाती है और अपेक्षाकृत व्यापक राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक परिदृश्य को अपना निशाना बनाती है। दूसरे शब्दों में उस समूचे परिदृश्य को, जिसका मात्र एक अंश ही साहित्यिक व्यावसायिकता है।

बिम्ब सम्बन्धी विमर्श पर्याप्त किया जा चुका है। यहाँ प्रसंग वश यह कहना आवश्यक है कि अभिजात रुचि और सतही यांत्रिक रुचियों ने प्रायः नागार्जुन की कविता को भोंडी और फूहड़ कहा है। एक वार्तालाप के दौरान रमेशचंद्र शाह ने तो उनकी कविताओं में विकास और परिष्कार दोनों ही स्थितियाँ नहीं मानी। प्रकारांतर से नागार्जुन-काव्य को बिम्ब-काव्य ही माना जाता है। किंतु बिम्ब-सम्बन्धी विवेचन में हम कुछ और जोड़ना चाहेंगे।

बिम्ब की आलोचना भी बिम्ब ही होती है या हो सकती है। हेराल्ड रोज़नबर्ग ने कहा ही है -"बिम्ब के अध्ययन के बजाय बिम्ब आलोचकों का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण होगा।"[88]

---

88. हजार हजार बाँहोंवाली - नागार्जुन पृ-१४४ 144.
89. The tradition of the New - Herald Rosenburg P.261

पूंजीवादी मण्डी के बीच में खड़ी हुई कविता के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को समझना कोई सरल काम नहीं है । बिद् होने से विरोध या नकार कहीं नहीं बहुँचाता । वहाँ भी एक सृजनात्मक अथवा सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की आवश्यकता होती है । संकेत किया जा चुका है कि "गीत फ़रोश" कवि सम्मेलनों (खरीददारों और फ़रोशों का जमघट) में पर्याप्त लोक प्रिय मानी जाती है । नागार्जुन भी कवि सम्मेलनों में लोक प्रिय है -"कवि सम्मेलनों में बहुत जमते हैं हम । समझ गये ना ? बहुत विकट काम है, कवि सम्मेलन में कविता सुनाना । बड़े-बड़ों को, तुम्हारा, क्या कहते हैं, हूट कर दिया जाता है । हम कभी हूट नहीं हुए । हर तरह का माल रखता हूँ, हमारे पास । यह नहीं जमेगा, वह जमेगा । काका-मामा सब की छुट्टी कर देते हैं हम कवि सम्मेलनों में समझ गये ना । पहले पब्लिक की पसंद की चीज़ सुनाते हैं, फिर अपनी ।"[90]

मण्डी के प्रति, क्रय-विक्रय के प्रति, अर्थात बिद् के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध दो ही तरह से किया जा सकता है । वे-अदब एक तो उससे अपने को अलग करते हुए अर्थात क्रय-विक्रय की शर्तों का ध्वंस करके अपने स्वरूप को कुछ ऐसा बनाते हुए कि क्रय-विक्रय का व्यावसायिक आयाम ही पूरी तरह से लुप्त हो जाय । यों इस में भी दो संकट प्रमुख हैं । एक तो रचना प्रति व्यावसायिक होने के फेर में इस सीमा तक आरदर्शी अथवा अकैडमीय हो जाये कि एक अजूबा-मात्र बनकर रह जाये या फिर पूंजीवादी मण्डी प्रति व्यावसायिक बला को भी ऊँचे भाव खरीदने-बेचने लगे, जैसा चित्रकला के क्षेत्र में अति यथार्थवादी, अमूर्तवादी या अब एक्शन पेंटिंग (Action-Painting) बड़ल्ले से बिकी हो रही है तो प्रति उपन्यास (Anti-novel) के प्रवर्तक ऐलेन-गिरा भी भरपूर रायल्टी पाते हैं ।

89. The tradition of the new -Herld Rosenblum

90. आलोचना 56-57 जनवरी-जून 81, पृ-71

दूसरी तरह का सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध - मण्डी के बीचोबीच रहकर, क्रय-विक्रय को एक अनिवार्य तथ्य की तरह स्वीकार करके और इसके बावजूद प्रति व्यावसायिक चरित्र से युक्त कथ्य-शिल्प यहाँ तक कि समूची संरचना ही प्रस्तुत करके संभव होता है । वस्तुत: यह एक रुग्ण पूंजीवादी प्रवृत्ति ही है कि सच्चा कलाकार अनिवार्यत: अभाव-ग्रस्त, भूखा और सदा पीड़ित ही होता है । दूसरे शब्दों में, उसे ऐसा होना चाहिए या वह ऐसा होकर ही सच्चा कलाकार हो पाता है ।

भारत में तो एक मिथक ही प्रचलित है कि लक्ष्मी और सरस्वती में बैर है, कि कवि सरस्वती-पुत्र होता है अतएव अनिवार्यत: निर्धनी भी। लक्ष्मी-पूजक जन, संपन्नता की ओर बढ़ते हुए चाहते हैं कि कलाकार की विपन्नता पर जब-तब आँसू बहा सके । "एक निश्चित सामाजिक स्तर अथवा एक वर्ग-विशेष की ही ऐसी चाहना होती है ।"[89]

इस स्थिति को "नियम" मानकर कलाकार भी स्वयं को निर्धनता के साथअनिवार्यत: जोड़ कर देखते हैं । नेरुदा ने कहा है -"ये अदृश्य नियम कवि को विवश करते हैं कि वह टूटी फूटी झोपड़ी फटे हुए जूते, अस्पताल और मुरदाघर तक पहुँचे । ऐसा होता हर कोई प्रसन्न होता है, हर एक का समय अच्छा कटता है, जिसमें वे कवि की हालत पर कुछेक आँसू भी बहा लेते हैं ।"[92]

एक विपन्न कवि पूंजीवाद की प्रसन्नता का कारण होता है । महान सृजनात्मकता को अनिवार्यत: अभावों और आर्थिक कष्टों से जोड़कर देखने में पूंजीवाद और कलाकार के विषम सम्बन्धों की ही पुष्टि होती है । हिन्दी कविता के संदर्भ में हम प्राय: इस दृष्टिकोण का वर्चस्व पाते हैं । तथाकथित अकविता के समय में तो हम पतनोन्मुख जीवन और पीड़ा को कविता लिखने के लिए तक आवश्यक नुस्खे के रूप में निर्धारित होता हुआ देखते हैं ।

---

91. Memorirs - Pablo Neruda - P .262
92. Ibid

नेरूदा ने होल्डरलीन(Holderlin) आर्थर रिम्बो (Arthur Rimbaud) गेरार्द द नर्वल(Grad deNerval) आदि के नाम गिनाते हुए सही कहा है कि कवि को भी खुश रहने का पूरा अधिकार है, विशेषत: तब तक, जब तक कि वह अपने देशवासियों की खुशी के लिए की जानेवाली लड़ाई से पूरी तरह जुड़ा हो ।

वस्तुत: नेरूदा स्वयं एक संपन्न और प्रसन्न कवि था । आलोचकों द्वारा इस संपन्नता को निशान बनाये जाने पर उसने सही कहा है कि उन्हें [आलोचकों को] इससे गर्वित होना चाहिए कि कवि अपने ईमानदार श्रम से, कविता से, एक अच्छे स्तर का जीवन-निर्वाह कर पा रहा है ।[93]

प्रस्तुत चर्चा नागार्जुन की कविता "तोंगे मोल" से प्रेरित है । व्यावसायिकता को लेकर नागार्जुन को कभी कोई भ्रम नहीं रहा । वे जन-सामान्य [दर्जा चारतक पढ़ी और दोनो जून की रोटी जुटा लेने वाली जनता] तक पहुँचना चाहते हैं और जनसामान्य तक पहुँचना है तो कविता की स्थिति-रंजकता पर भी विचार करना होगा ।" वे अच्छी तरह जानते हैं कि "फार्म की उपेक्षा नहीं होना चाहिए । वे ~~चैलेंज~~ तो यहाँ तक कहते हैं -"अगर हिप्पी कवि गिटार पर अपनी कविता चौराहे पर गा सकता है तो मैं क्यों नहीं ?" [94] वे जन-समूह को "प्रसन्न" देखकर यह भी कह सकते हैं "आप लोग ही हमारे मालिक हैं । हम आप लोगों के लिए ही लिखते हैं । अगर आप कहें तो हम घुटने खोलकर नाचने लगें ।"[95]

इस प्रसंग में "लिखित" और "वाचिक" वाले साहित्य रूपों की याद जरूरी है । यदि आज ऐसा परिदृश्य है कि अधिकांश जन कविता की की उपेक्षा करते हैं तो इसीलिए कि अधिकांश कविता जन की उपेक्षा करती है ।[96]

---

93. " To the critics who seem to begrudge poets a better standerd of living , I suggest that they should be proud that bookss are printed, sold , and fulfill their mission of giving critics nothing to think about they should be happy that writers are remunerated and that some at least are able to makee a loving from their honest labour." Ibid P.163

प्रभाव ही सौंदर्य है और वाचिक रूप वाली कविता का तीव्र प्रभाव होता है। "भाषा का बुनियादी स्वभाव बोलना और सुनना है। जब कि कविता भाषा में ढलती हुई भी निरंतर लिपि बन्दी जा रही है। यह एक प्रकार की दुर्घटना है। लिपि एक चाक्षुष माध्यम है। ज्यादातर यांत्रिक।"[97]

बोली जाने वाली भाषा बोलनेवाले के समूची व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है। यदि पाठक और कवि के सीधे और सहज सम्बन्धों में एक पूंजीवादी किस्म की सम्बन्ध बोधात्मकता प्रवेश कर गयी हो तो इसीलिए कि कविता का मात्र लिपिबद्ध होकर रह्जाना उसे विक्रय के योग्य बनाता है। आज यह दृश्य आम है कि कविता-संग्रह आलमारियों में सजाये जाकर व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदाहरण मात्र रह्जाते हैं।

दूसरे छोर पर कवि-सम्मेलन है। वहाँ भी स्थिति अधिकतर विकृत ही होती रही है। कविताओं के रिकार्ड बनते हैं। एक पूंजीवादी कर्मकाण्ड की तरह कवि सम्मेलनों का निर्वाह होता है। सामान्य उत्पादन के तरीकों से ही साहित्यिक उत्पादन के तरीके निर्धारित होते हैं। उपभोक्ता संस्कृति में कविता लगातार उपभोग्य चिंज के रूप में बदलती जा रही है। विद्रूवातावरण में कविता वक्त काटने का एक जरिया बनकर रह्जाने को अभिशप्त है। प्रसार प्रचार साधनों की व्यापक बढ़ोत्तरी ने कविता के चरित्र को अनिवार्यतः प्रभावित किया है। सारांश यह कि कवि सम्मेलन बाज़ारू हो गये हैं।

नागार्जुन उस मंच से कविता पढ़ने में कोई झिझक नहीं रखते। अलग-अलग श्रोता-समूहों के लिए अलग-अलग कविताएँ (=माल) रखते हैं "x x x उनकी कएक कविता दूसरे पाठ स्थल के वक्त नहीं पढ़ी जाती। मसलन जब वे अल्प साक्षर श्रोताओं के बीच काव्य-पाठ शुरू करते हैं, तब उनके चुनाव में पहला

94. नागार्जुन और उसका रचना संसार - विजय बहादुर सिंह पृ- 173
95. तीसरा सप्तक - सं० अशोक वाजपेयी -वेणुगोपाल के लेख "पक्षधर की भूमिका" से उद्धृत पृ-115

नंबर "पाँच पूत भारत माता के" जैसी कविता का रहा है। इसमें गणित के अंकों के अवरोह के साथ अर्थ का आरोह सुनायी देने लगता है। विश्व-विद्यालयों की गोष्ठियों में वे प्राय: अपनी सुलगिन कविता "बादल को घिरते देखा है" जरूर सुनाते हैं। और ऐसी कविताएँ वहाँ क्या से जाते हैं, जो राजनीतिक तौर पर बेहद उघड़ी और नंगी होती है। वहाँ वे "तो फिर क्या हुआ" और "सौंदर्य प्रतियोगिता" जैसी व्यंग्य कविताएँ सुनाते हैं या फिर "मंत्र"। गंभीर रसज्ञजनों के बीच नागार्जुन अपनी क्लात्मक कविताओं की बानगी पेश करते हैं और ताजा कविताएँ सुनाकर उपस्थित श्रोताओं को अपनी निरंतर सजगता और सक्रियता की सूचना भी देते हैं।"[98]

नागार्जुन कविता का मात्र "पाठ" ही नहीं करते "पुलकित" होकर पंक्तियों को दुहराते हुए चुटकी बजाते और नाचते भी हैं। उनका यह विश्वास है कि इससे कविता की अर्थ-बढोत्तरी ही नहीं होती, वह एक "दर्शन" भी बन जाती है।"[99]

व्यावसायिकता के प्रति बाबा नागार्जुन इतने सचेत है कि वे "रायल्टी-वसूली की चिंता में कहते हैं -"यहाँ से पैसे वसूलें तो दोबारा धान डलवा आयें गाँव में, फिर निश्चिंत निकल जाएँ घुमक्कड़ी पर।"[100]

मनोहर श्याम जोशी ने ठीक ही कहा है और बाबा को उद्धृत किया है --"शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार हो, जो लेखन और जीविका में, सृजन और अर्जन में इतना सीधा सम्बन्ध जोड़ता हो और डंके की चोट "खण्ड काव्य लिख रहे हैं आज कल। थोड़ा पौराणिक-क्लासिक ऐसा थीम हो तो खण्ड काव्य झट कोई में लग जाता है। उपन्यास भी हम छोटा ही लिखते हैं। वृहद उपन्यास में संकट है। आकार बड़ा होगा तो कीमत भी ज्यादा होगी। कहाँ से खरीदेगा विद्यार्थी?"[101] बाबा नागार्जुन यह भी सूचना दे सकते हैं --"अब हमने ऐसा कर लिया है मनोहर श्याम, काव्य-

96. " Mostpeople ignore most poetry because most poetry ignores most people - Adrian Mitchell quoted in poetry and politics - Arnold Kettle P.54

97. नागार्जुन और उसका रचना संसार - विजय बहादुर सिंह पृ-155

पाठ का सौ रुपया लेते हैं । गोष्ठी के लिए है यह - "समझ गये ना ? कवि सम्मेलन के लिए नहीं । वहाँ तो वही लेते हैं, पहले वाला । काव्य-प्रेमिकाओं की गोष्ठी में पढ़ने के लिए सौ रखा है । ज्यादा रखेंगे तो वे लोग लायेंगे कहाँ से । जहाँ भी हमें जाना होता है, पहले से लिख देते हैं किसी चेला को । कालेज-कालेज में तीन चार काव्य-पाठ गोष्ठी करवाओं । तीन-चार सौ रुपया हो जाता है इस तरह से । बहुत है ।[102]

प्रस्तुत शोध-प्रसंग में हमने "प्रतिरोध" पर बलाघात दिया है । बढ़ती हुई व्यावसायिकता, उत्तेजना-प्रिय रुचियाँ, किंचित् वातावरण आदि के ऐन बीच में नागार्जुन पूरे चौकन्ने पनके के साथ काव्य की वाचिक परम्परा का इस्तेमाल कर रहे हैं । जितना यह सच है -"नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौंदर्य के संतुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी हल कर पाये हैं ।"[103] उतना ही यह भी कि व्यावसायिकता और सृजन के बीच के द्वंद्व को भी उन्होंने पूरी सफलता के साथ हल किया है ।

वे इसीलिए स्पष्टत: जानते हैं और कहते हैं "जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ ? जन कवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ ?[104] उनका जन कवि होना इस अर्थ में और महत्वपूर्ण है कि आज "लिपिबद्ध कविताओं के कवियों ने जनता को चंद लटके बाजों या गवैयों के भरोसे छोड़ दिया है । ऐसे में आवश्यक है कि परिवर्तन कामी साहित्यकार अपने मध्यवर्गीय खोल से बाहर आयें और "जनता" को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर प्रशिक्षित करें ।

करुणा और व्यंग्य ये-दो प्रधान भाव उनकी कविताओं में ओत-प्रोत हैं । हम पूर्व में संकेत कर आये हैं कि पिता के प्रति प्रतिहिंसा (बाद में वितृष्णा) और माँ के प्रति सहानुभूति (बाद में करुणा) ने उनके बचपन में ही उनके सृजन-संसार की भूमिका तैयार कर दी थी । इन्हीं दो दोनों भावनाओं से लैस होकर उनकी कविता "प्रदत्त" से सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध करती है ।

---

98. -वही- पृ- 157
99. -वही- पृ-157-158
100. आलोचना 56-57 जन-जून 81 पृ- 8.

यदि हम पाते हैं कि समूचे शीतयुद्धीय परिदृश्य में नागार्जुन अपनी चौकन्नी काव्य चेतना को लगातार धार देते रहे तो इसमें विस्मय की कोई बात नहीं ।

हमने पूर्व में ही उन्हें "निराला" की परम्परा में विवेचित किया है । उन्होंने सन 50 में लिखा भी -"महामहिम, तुम्हीं मूर्ति, यशोधन/ तुम से ही पोते आए हैं हम उद्बोधन उद्बोधन/प्रतिभा की यह कनी लिखी है / तुम से ही चेतना मिली है" लेकिन साथ ही नागार्जुन इस तथ्य के प्रति सचेत भी है -"हायरे हाय / तुम्हारी चर्चा भी बन रही आज व्यवसाय ।"[105]

वस्तुत: नागार्जुन के व्यंग्य की विश्वसनीयता का आधार है, उनका आत्म-व्यंग्य । -"जितनेनिर्मम नागार्जुन दूसरों के प्रति हैं, उससे किसी तरह कम निर्मम अपने प्रति नहीं है ।"[106]

इस व्यंग्य और करुणा से सम्मिश्रित ही उनका प्रदत्त बोध है । अपने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में "जनकवि नागार्जुन की जीवंतता काव्योपयोगी विषयों के चयन से लेकर काव्य-रूपों के सृजन की विविधता तक में प्रकट हुई । × × × प्रयोगवादियों ने तो प्रयोग का नारा भर दिया था, वस्तुत: अकेले नागार्जुन ने कविता के रूप विधान में जितने प्रयोग किये हैं, सारे प्रयोगवादी मिला कर भी उसका दसमांश कर दिखाने में असमर्थ साबित हुए हैं ।"[107]

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को एकायामी मात्र बनाये रखना एक न्यूनता ही कही जायेगी । संस्कृत छंदों से लेकर लोक धुनों तक का प्रयोग उसी लोक धर्म के कारण संभव हो सका है, जिसके कारण नागार्जुन "जनकवि" बने हैं ।

उदाहरण देने हों तो कोई सीमा निश्चित करनी पड़ेगी । प्रत्येक काव्य-रूप और विधा के दर्जियों उदाहरण मिल जायेंगे । ऐसे उदाहरण जो सारी शीतयुद्धीय गोलाबंदी को निष्फल करते हुए सृजन-प्रक्रिया से प्रकाशन प्रसारण तक में प्रदत्त के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध करते हैं । योगिराज

101. -वही- पृ-98।

102. वही

[सन् 50] नामक कविता के संदर्भ में पंत काव्य को याद किया जाय और इन पंक्तियों को देखा जाय - "भूतपूर्व अति उष्ण किंतु अब चंदनशीतल/देश भक्त थे कभी आज तो "शून्यवाद" के चरम भक्त हो । / योगिराज हो, अनासक्त हो । / x x x चिदानंद की रोचक मंदिरा बाँट रहे हो । खूब रचा है चक्रव्यूह अध्यात्मकवाद का / नियति नटी के गुह्य कथन से लेस तुम्हारे चेला-चाटी / शान्ति-पाठ करते फिरते हैं / विप्लव के क्षेत्रों में / जय जय हे योगेन्द्र / खोल रखा है, वाह बुद्धि सत्या का बढ़िया केन्द्र / x x x हम न तुम्हारे बहकावे में आ सकते हैं x x x हम तक नहीं पटक सकती है, गुरु, तुम्हारी छाया / स्वप्निल कला कुमारों को ही खींच रही है, गुरु, तुम्हारी माया / x x x जय-जय हे आजाद हिन्द के पोप ।"[108]

इस व्यंग्य की मार से ऐसा कोई भी व्यक्तित्व नहीं बच पाया है, जो कहीं किसी घातक विरोधाभास का शिकार हो । काफ्री हाउस में बहस करते तथा कथित प्रबुद्ध कलाकार - " विष्ठा से भी कई गुना अधिक दुर्गंधमये / तुम्हारे कलाकार का नाइकीय टेबुल-टॉक ।।"[109]

सन 45 में लिखित "गांधी" में श्रद्धा के अतिरेक के ऐन बीच में भी वह कह सकते हैं —"देखा बिड़ला की कोठी का वह महाद्वार / तैनात वहाँ थी स्वयं सेवकों की कतार / हे धन कुबेर के अतिथि. . . नहीं, हे जन नायक ।"[109] पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि "चितकबरा" के प्रति सृजनात्मक प्रतिशोध ने ही उन्हें एक सफल व्यंग्य कवि बनाया है । सत्ता हस्तांतरण ठीक एक वर्ष बाद लिख रहे थे " आज ही तुम मिल गये थे दुश्मनों से गुनहगारों से / छोड़कर संघर्ष का पथ /भूल कर अंतिम विजय की घोषणाएँ /रोक कर सेवा छुरा तुम सर्वहारा जनगणों की पीठ में / लड़खड़ा कर गिर पड़े आज ही के रोज़ / रेशमी, तीन रंगे मखमली गलीचे पर / तख्त ए ताऊस पर ।[110] सन 48 में ही लिखित कई कविताएँ इस बात की साक्षी हैं कि नागार्जुन की चौकन्नी काव्य चेतना आज़ादी के छलावे में कतई नहीं आयी थी ।

---

103. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ- 141
104. खून खून बोलो बाली - नागार्जुन पृ- 142
105. -वही- पृ- 25
106. आलोचना 56-57, संपादकीय पृ-3।
107. -वही- पृ-5

"सच न बोलना", लाल भवानी [कागज़ की आजादी मिलती ले तो दो-दो आने में] साथी सच्चिदानंद भारद्वाज आदि कविताएँ इसकी साक्षी हैं।

शीतयुद्ध के साहित्यिक आयाम के अंतर्गत व्यावसायिक और लोकप्रियता के विरोध के नाम पर विशुद्ध साहित्य और उसके प्रश्न थे। नयी कविता का अधिकांश इनसे आप्लावित था। ऐसे में नागार्जुन का "प्रतिहिंसा" भाव उनसे ऐसी कविताएँ लिखवाता रहा, जो अपनी गालियों का निर्माण कर लेती है। श्रीकांत वर्मा की ये पंक्तियाँ -"मगर खबरदार/ मुझे कवि मत कहो / मैं कविता नहीं हूँ कविताएँ / ईजाद करता हूँ / गाली / फिर उसे बुदबुदाता हूँ।"[113] जहाँ मुक्त मिलाकर एक निजी क्षोभ को अभिव्यक्त करती हैं और बाद की कहानी इस बात की साक्षी देती है कि यह स्वयं कवि के विरुद्ध गयी थी। इस आत्म घातिनी गाली से सर्वथा विपरीत चरित्र नागार्जुन की गाली-युक्त कविता का था -

"अंदर [illegible] प्रीति भोज के टेबुल, बाहर घिरी कनाते
धन-पिशाच मुस्काते हैं, खुश के करते हैं बातें
रणगुल्ले पर के नेही हैं, ग़रीबों पर खुरपेच
चाउ पर है बरफ मलाई नेफा पर है लेप
चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन के दोने
चहक रहे हैं अंदर ये लक्ष्मी के पुत्र सलोने
क्लाशुआम हुई इनके, कविताधानी भरती है
सौ-सौ की मेहनत इन की मुस्कानों पर मरती है।"[114]

अभिप्राय अथवा प्रकारांतर से दक्षिण संस्कृति प्रति नागार्जुन का खिल्ली-भाव कविता में ढलकर सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को एक नया ही आयाम देता है। 'बाकी बच गया अंडा' नामक कविता उस से हास्य

108. खीर-खीर बिलौंवांसी = नागार्जुन पृ-19-20
109. -वही- पृ-22.
110. -वही- पृ-29.
111. -वही- पृ-44
112. नागार्जुन और उनका रचना संसार पृ-46.

व्यंग्य की प्रतीत होती है किंतु स्वाधीनता संग्राम से लेकर सत्ता हस्तांतरण के बाद तक का करुण और विडम्बनापूर्ण इतिहास इसमें अंकित हुआ है। एक अन्य स्तर पर भद्र-पुरुष की महिलाओं पर किये गये व्यंग्य को देखा जा सका है। जहाँ "डबल एम.ए मिसेज गुप्ता.../नचाकर कमल पत्री नेत्र . . . आइस्क्रीम खिलाती है यानी पेश करती है, लेकिन / रोककर हाथ / सुनता रहा मैं मिसेज गुप्ता की बात।" औरमिसेज गुप्ता की केम्ब्रिज के आखिरी साल में पढ़ती बेटी के लिए ऑटोग्राफ - कविता का बेहद शोक है ....लिख दीजिएगा वही / पाँखें सुनहरी झुलसायी की एमे / रोता रहा चुल्हा, चक्की थी उदास / याद तो होगी न ? /" रामविलास जी ने इस कविता को उद्धृत करते हुए सही टिप्पणी की है -"उस कविता का यहाँ इस ढंग से वीरेंद्र याद का किया जाना ही महिला की भद्र संस्कृति पर करारा व्यंग्य बन बन जाता है।"[115]

वस्तुत: सन 1950 में तेलंगाने के सशस्त्र विद्रोह की प्रेरणा से लिया गया यह निर्णय ही उनके सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की पहचान है -

> कलाधर या रचयिता होना नहीं पर्याप्त है
> पक्ष धर की भूमिका धारण करो
> विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पड़ेगा।"[116]

यह पक्षधरता ही उनके प्रतिरोध का एक विशिष्ट और सार्थक चरित्र देती रही है। शीतयुद्ध की साहित्यिक शाखाओं द्वारा प्रचारित प्रसारित कुण्ठा, संत्रास, अस्तित्व के तथा कथित मूल भूत प्रश्न आदि का कोई प्रवेश उनके रचना-संसार में नहीं हो पाया तो इसी "पक्ष धरता" के कारण ही।

नागार्जुन की रचना-प्रक्रिया की चर्चा भी यहाँ की जा सकती है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता का अंश है —

---

111. वही - पृ-44
112. नागार्जुन और उनका रचना संसार पृ- 46
113. मार्क्सदर्पण श्रीकांत वर्मा पृ-51
114. नागार्जुन और उनका रचना संसार पृ-46
115. नयी कविता और अस्तित्व वाद रामविलास शर्मा -पृ- 147
116. तालाब की मछलियाँ - नागार्जुन पृ-67

"कालिदास सच-सच बतलाना
इंदुमति के मृत्युशोक से
अजरोया या तुम रोये थे।"

इन पंक्तियों पर वेणुगोपाल की टिप्पणी इ यों है - "कालिदास रोये थे या नहीं, यह हम नहीं जानते। लेकिन अपने "अजों" की ऐवज़ में नागार्जुन न सिर्फ रोते हैं बल्कि हँसते, व्यंग करते, क्रुद्ध होते और दुखी-सुखी होते हैं।"[117]

इसी कारण नागार्जुन की "पक्षधरता" काव्य-विषय के साथ भावनात्मक एकीकरण के स्तर पर अनूठा ही चरित्र अपनाती है। एक गहरे स्तर पर गीतात्मकता भी इसीलिए उन की रचनाओं में सक्रिय दिखायी देती है। जहाँ उन्होंने गीत लिखे हैं, वे पूरी तरह से सफल हुए हैं - 'फूलेकदंब,' 'घन-कुरंग,' 'मेघ बजे' आदि गीतों का उल्लेख किया जा सकता है। एक बानगी देखी जा सकती है, जिसमें ध्वन्यात्मकता की प्रभावगामिता का अनुभव अद्भुत है --

"धिन धिन धा धमक धमक
मेघ बजे
दामिनी यह गयी दमक
मेघ बजे
दादुर का कण्ठ खुला
मेघ बजे
धरती का हृदय धुला
मेघ बजे
पंक बना हरिचंदन
मेघ बजे
हलका है अभिनंदन
मेघ बजे
धिन धिन धा..... [118]

---

117. तीसरा साक्ष्य सं० अशोक वाजपेयी - वेणुगोपाल का "पक्षधर की भूमिका" नामक लेख पृ- 112

बारह मात्राओं के इस छंद में मेघ के बजने को जिस तरह चित्रित किया गया है, वह प्रदत्त गीत-विधा में बहु कुछ जोड़ता है ।

व्यंग्य और करुणा ही नागार्जुन के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की प्रेरक भावनाएँ हैं । "लाल भवानी" जैसी कविताओं में ये "लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तेलंगाने में" जैसी स्वागत-धर्मी पंक्तियाँ लिखते हैं तो इसकी पृष्ठभूमि में भी वही करुणा और व्यंग्य भावनाएँ सक्रिय रहती हैं ।

एक कविता है "सौदा" [सन् 53][1] । संभवत: प्रकाशकों द्वारा किये जाते कवियों के शोषण पर यह एकमात्र हिन्दी कविता है । कविता के खलनायक "पब्लिशर मिस्टर ओसवाल" प्रगतिशील पुस्तकें छापते हैं । कविता में चित्रित कवि "मंजुघोष" संभवत: स्वयं नागार्जुन है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जहाँ शोषण है, अन्याय है, दुख है, पीड़ा है, संघर्ष है अर्थात भारतीय "जन" है , वहाँ नागार्जुन है । शीतयुद्ध और उसके समानांतर विकसिती व्यावसायिकता अनिवार्यत: "जन" विरोधी होती है । अत: जन की पक्षधरता स्वयं ने वही शीतयुद्ध स्थितियों के प्रति प्रतिरोध में संलग्न कर देती है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में बार-बार दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष की बात को गयी है । निश्चित ही एक "जन" की पक्षधर प्रगतिशील शक्तिय होती है और दूसरी जन-विरोधी । इन शक्तियों की अपनी संरचना भी कई-कई तहों वाली जटिलता लिये होती है । सामाजिक आर्थिक राजनीतिक आदि से संपृक्त "व्यवस्था" ही उन शक्तियों का रूप निर्धारण करती है । सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध के लिए विश्व दृष्टि के विकास की अनिवार्यता होती है और क्षिति से लेकर ब्रह्माण्ड तक-एक मात्र जिजीविषा ही है जो स्वबोध से सौंदर्यबोध तक की मानवीय यात्रा को संभव करती है । जनका पक्षधर होना भी जिजीविषा के निमी से सामूहिक

---

[1] अब तुमने कहा था - नागार्जुन पृ-88.

हो जाने का सूचक है । यूतोपियात्मकता का प्रत्यय भी यहाँ महत्वपूर्ण है ।

यदि यह कहा जाय कि नागार्जुन ने रचनात्मकता के प्रत्येक स्तर पर शीतयुद्धीय स्थितियों के प्रति प्रतिरोध किया है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । यह सच है कि "नागार्जुन की अनेक कविताओं में थोड़ा उबड़-खाबड़-पन है । कलात्मक खुरदुरापन नहीं - लिखने में कहीं ऊँचाई, कहीं गिरावट ।"[119] नागार्जुन को इसकी कोई अनावश्यक चिंता भी नहीं ।

सन 66 में शासन की बंदूक शीर्षक से नागार्जुन ने पाँच दोहे लिखे । ये दोहे इस तथ्य के सूचक हैं कि कवि किस प्रकार एक पुराने कहे जाने वाले फार्म को अपने राजनीतिक "दर्शन"(Political vision) के लिए उपयोग में लाता है । यों दोहों के राजनीतिक इस्तेमाल की कतिपय बानगियाँ अन्य कवियों के काव्य में भी प्राप्त होती है किंतु नागार्जुन के ये दोहे "कथ्य" के रूप बनने के सफल उदाहरण की तरह प्रस्तुत किये जा सकते हैं । बिम्ब विधान की विराटता और करुणा तथा व्यंग्य की मिली-जुली शक्ति से एक उदात्त प्रभाव (=सौंदर्य) की व्यंजना इन दोहों को अतिरिक्त महत्व देती है ।

खड़ी हो गयी चाँप कर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट सी शासन की बंदूक

× × ×

जली ठूंठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक
बाल ने बाँका कर सकी शासन की बंदूक ।[120]

ये दोहे नागार्जुन की कविता (=सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध) के सारे चारित्रिक गुणों को पूरी शक्तिमत्ता के साथ सम्मुख रखते हैं -

---

119. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ- 149
120. तुमने कहा था - नागार्जुन पृ- 46

"दमन के लिए शासन बहुत सी बन्दूकें इस्तेमाल करता है । नागार्जुन ने उन सबको मिलाकर एक बड़ी बंदूक बनादी है, जो नभ में विपुल विराट-सी छागयी है । नीचे क्षुब्ध जनता का समूह है, जिसे उन्होंने संक्षेप में कंकालों की हूक कह कर मूर्तिमान कर दिया है । चित्रण सौंदर्य का यह कौशल अन्य कवियों के राजनीतिक दोहों में नहीं है । आखिरी दोहे में (जली ठूंठ पर) दमन की निरर्थकता और जनता की विजय में विश्वास एक सादे प्रतीक द्वारा - किंतु बहुत ही प्रभावशाली ढंग से -व्यक्त हुआ है । × × ठूँठ जल गया है लेकिन उस पर भी कोयल बैठक कर कूक जाती है । "बालन बाँका कर सके" का परिचित मुहावरा पूरी हेकड़ी से बंदूक को अंगूठा दिखाता है ।"[121]

यहाँ इन दोहों के प्रसंग में हम उस पूर्व विवेचन की याद करना चाहेंगे, जिसमें हमने "भीतर से" और "बारे में" की चर्चा की थी । राजनीति के बारे में लिखी जानेवाली कविताओं और राजनीतिक कविताओं के बीच में अंतर करना आवश्यक है ।

कतिपय कविताएँ राजनीतिक विषयों को छूती है लेकिन मात्र इसी से उन्हें न तो राजनीतिक कविताएँ कहा जा सकता है और न राजनीति के बारे में लिखी गयी कविता ही । ध्यातव्य है कि यहाँ राजनीति केवल को "किसी दल-विशेष की चुनावी राजनीति" के अर्थ में नहीं देखा जा रहा है । अर्नाल्ड केटल (Arnold Kettle) का अनुसरण करते हुए हम कविता के संदर्भ में "राजनीति" का अर्थ इस प्रकार करेंगे - (अ) राजनीतिक कविता "जन" और उसकी स्थितियों संभावनाओं से जुड़ती है (आ) वह "परिवर्तन कामना" को मात्र अभिव्यक्त नहीं करती अपितु "परिवर्तन" से स्वयं ही जुड़ती है (इ) राजनैतिक कवि अपने को समूह (समाज देश आदि) का अंग समझता है और सचेत रूप से यह प्रयत्न करता है कि वह कला या कविता के नाम पर समूह से अपने को अलग न करे और (ई) राजनैतिक कविता में करुणा का होना आवश्यक है ।[122]

---

121. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-142

122. Poetry and politics - Arnold Kettle - P. 61.

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम बल देकर कहना चाहेंगे कि किसी भी राजनीतिक कविता को एक निश्चित ऐतिहासिक-राजनीतिक स्थिति या "वर्तमान" की एक काव्य प्रतिक्रिया मात्र नहीं होना चाहिए । यह सच है कि वह फिर भी अपने से इतर "वर्तमान" के आधार पर ही या उसे ही सौंदर्यबोधात्मक काल में बदलेगी ।

यह आवश्यक है कि राजनीतिके बारे में लिखी जाने वाली कविता पाठक या श्रोता के राजनीतिक - सामाजिक बोध का विस्तार करे । "राजनीति" एक सामाजिक अस्तित्व को स्थिति से जुड़ी है । जिस अर्थ में अरस्तू ने मनुष्य को राजनीतिक प्राणी (Political animal) कहा था, उसी अर्थ में "राजनीति" का सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण संभव है । सत्ता-हस्तांतरण (सन 47) के पश्चात "राजनीति" के नाम पर जो शक्ति-संघर्ष का घृण्य प्रदर्शन प्राप्त होता है ; सही राजनीतिक कविता या राजनीति के बारे में लिखी जानेवाली कविता निश्चित ही इस तथ्य के प्रति सचेत और चौकन्नी रहेगी ।

नागार्जुन के उपर्युक्त दोहों को हम मात्र राजनीतिक दोहे नहीं कह सकते । "शासन की बंदूक" के विरोध में "कंकालों की हूक" और "कोकिला की कूक" को रख कर नागार्जुन अपनी "पक्षधरता" को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर उजागर करते हैं । एक राजनीतिक कार्रवाई और रुझान को व्यक्त करती हुई यह बिम्बात्मक संरचना इन दोहों को "प्रतिबद्ध" से आगे "पक्षधर दोहे" सिद्ध व करती है ।

कहना न होगा कि नागार्जुन की अधिकांश सफल रचनाएँ इसी कोटि कोटि में आयेगी । यहाँ तक कि शुद्ध अराजनीतिक प्रतीत होनेवाली "अकाल और उसके बाद" जैसी कविता भी विश्लेषण के बाद कवि के में की प्रत्येक पंक्ति में भागीदारी (Involventent) के चरित्र को देखते हुए राजनीतिक कविता ही कही जायेगी । निश्चित ही राजनीति का अर्थ समाज (राजनीतिक समाज) में मनुष्य की स्थिति है ।

पाठक या श्रोता को राजनीति के बारे में जानकारी देने वाली, उसके राजनीतिक बोध को विस्तार देनेवाली और उसे राजनीतिक स्तर पर मुनासिब कार्रवाई के लिए प्रेरित करनेवाली इस प्रकार ये तीन प्रकार की राजनीतिक कविताएँ हो सकती हैं। इन्हें (1) राजनीति के बारे में लिखी गयी कविता (2) राजनीतिक कविता और (3) राजनीतिक पक्षधरता की कविता कहा जा सकता है। निश्चित ही ये तीनों प्रकार की कविताएँ शीतयुद्धीय प्रतिक्रियावादी स्थितियों के प्रति सृजनात्मक स्तर पर (=सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर) प्रतिरोध करती है। ये तीनों भेद यांत्रिक दृष्टि से नहीं देखे जाने चाहिए।

वस्तुत: भेद-दृष्टि मात्र समझने की सुविधा के चलते हैं। प्रदत्त स्थितियों (साहित्यिक-राजनीतिक-सामाजिक आदि) के प्रति प्रतिरोध करती हुई कविता अनिवार्यत: राजनीति संपृक्त होगी। यदि 'गांधी,' 'लक्ष्मी,' 'बताऊँ,' 'आइजन हॉवर' 'साथी स्टालिन,' 'जोमोकेन्याता' आदि कविताएँ "राजनीति के बारे में सही जानकारी देनेवाली कविताएँ हैं, तो 'बताऊँ,' 'अनुदान,' 'आओ,' 'तुम को भलीभांति पहचान गये हम,' 'तिकड़म के ताऊ,' 'पुलिस अफ़सर,' 'नेहरू,' 'झण्डा,' 'नवादा,' 'संशय में पड़गये' 'तथागत,' 'बीते तरह साल,' 'भाई भले मुरार की जी,' 'कंचनमृग,' 'तुम रह जाओ दस साल और,' 'तुमने कहा था,' 'आए दिन बहार के' आदि कई कविताएँ राजनीतिक बोध को विस्तार देने वाली कविताएँ हैं। 'शासन की बंदूक,' 'कर दो वमन,' 'नाहक ही डर गयी हुजूर,' 'यह तो था बीमार,' आदि कई कविताएँ पक्षधर राजनीति की कविताएँ होगी।"

शीतयुद्ध एक राजनीतिक चरित्र से युक्त तथ्य है और इसीलिए उसके प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का चरित्र अनिवार्यतया राजनीतिक होगा। सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं का साक्षात्कार करनेवाली कविता भी यदि अपने जिजीविषा-परक उद्देश्य के प्रति सचेत हो तो वह राजनीतिक ही कही जायेगी। ध्यान यह रखा जाना चाहिए कि जीवन अथवा जिजीविषा - विरोधी राजनीति का कोई औस्तित्व नहीं होता। सच या वह गलत राजनीति होती है।

सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध का स्वरूप भी बदलती स्थितियों में बदलता है । यदि किसी युग-विशेष में एक विशिष्ट कोटि की प्रतिरोध शैली प्रमुखता प्राप्त कर लेती है तो इसीलिए कि साहित्यिक उत्पादन के तरीके किसी भी स्थिति में सामान्य उत्पादन के तरीकों को निरस्त नहीं कर सकते । कवि की व्यक्तिगत मंशा निर्णायक नहीं होती । "परिवेश विशेष" में ही वे ऐसा करते है (जैसा भी वे करते हैं) क्यों कि वह वे अपने परिवेश (युग) में "प्रतिबद्ध और सीमित होते हैं ।[123]

नागार्जुन की कतिपय रचनाओं के उल्लेख के साथ यदि हम मुक्तिबोध की रचनाओं को रखें तो संभवत: हमारी बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी । ऊपरी तौर पर यह प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध की रचनाओं से नागार्जुन की रचनाओं में कहीं कोई साम्य नहीं है 9 किंतु अंतर्वस्तु के स्तर पर अथवा सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के स्तर पर वे परस्पर जुड़ती हैं ।

समाज (जो अनिवार्य तथा राजनीतिक है) के बीच में, मनुष्य की स्थिति के बारे में, मुक्तिबोध की कविताओं में गहरे और विश्वसनीय चित्र मिलते हैं । यदि उनकी अधिकांश रचनाएँ सामाजिक द्वंद्वों के अंत: संघर्षात्मक आयामों का चित्रण करने के पश्चात कोई भविष्य गत समाधान सुझाती ही है तो यह तथ्य उन्हें और महत्वपूर्ण बनाता है । उनकी कविताओं द्वारा सुझाया गया समाधान, कविता के भीतर से विकसता है, न कि आरोपित होता है । उस "निजी स्तर पर सक्रिय यूतोपिया" के कारण ही मुक्तिबोध की कविताएँ अंत:- संघर्षों के चित्रण के उपरांत एक समाधान-परक निष्कर्ष दे पाती है, जिसके न होने की शिकायत प्रभात कुमार त्रिपाठी ने श्रीकांत वर्मा के प्रसंग में की थी ।[124]

इस चर्चा में मुक्तिबोध की कोई भी कविता ली जा सकती है । उनकी प्राय: प्रत्येक कविता में उनकी कला दृष्टि उनकी जीवन-दृष्टि (या विश्व दृष्टि) से पृथक नहीं हुई है । अत: वह राजनीतिक दृष्टि भी है ।

---

123. साहित्य और राजनीति - सं० कुअँरपाल सिंह - एंगेल्स के "कला का आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकार" नामक लेख पृ- 4

एक अपेक्षा कृत अख्यात कविता "जिंदगी का रास्ता" को उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है । कविता का आरंभ यों होता है ---

"रास्ते के शोरगुल औ" धूल के
छोटे-छोटे बादलों से घिर कर ग़मीन हो
किंतु निज मस्तक में चलते हुए चक्र-से
भावों में विलीन हो
अपने काम पर से घर लौटते हुए
रामू, घिरी सांझ के सुदूर तम
गंदे किनारे पर
मिलके काले धुएँ के बल खाते बादलों को देखता हुआ
बढ़ाता हुआ पैर, वे करता है
धूल-भरा रास्ता ।"

कविता की शुरुआत में एक "रामू" है, जो "व्यर्थ" गये सारे दिन के लिए "सोचता" है । यह "सोचना" ही रामू को "स्वयं का पुनर्बोध" कराता है और --

"बीसवीं सदी के इस पचासवें चरण के प्रयास में
जन-जन के दमन के काले अंधकार बीच,
गगन में उठते गरीबों के हाहाकार बीच,
रामू के सोये हुए हृदय को
अवरुद्ध जीवन को अचानक किसी ने
सत्य की शक्ति दी,
और हिम्मत की राह दी
पूंजीवादी झूठ के विराट अत्याचार बीच ।"[125]

---

124. अपने एक विख्यात निबंध "सौंदर्यशास्त्र : मार्क्सवादी अवधारणा" में ई.एम.एस नम्बुदिरीपाद ने उन कृतियों को "सौंदर्यात्मक मूल्य" से लैस न माना है, जिनमें सुझाये गये समाधान कृतिम हो । समाधानों को "चारों ओर के यथार्थ के प्रभाव से प्राप्त अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत होना चाहिए । इसी स्थिति में वह समाधान सौंदर्य बोधात्मक स्तर पर ।फिर

125.

ऐसा मुक्तिबोध की प्राय: प्रत्येक कविता में होता है यद्यपि अलग-अलग शब्दों में । विशेष कर जिन कविताओं को मुक्तिबोध ने अपने जीवन में प्रकाशित करा लिया था अर्थात् जो अंतिम रूप से लिख ली गयी थी ; उनमें तो यह "युतोपिया" निश्चित ही सक्रिय रहा है ।

सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध "निश्चित ही "कथ्य" के स्तर पर होता है, जो इसीलिए "रूप" में और परिणामस्वरूप शिल्प, शैली आदि में प्रतिफलित होता है । समाज में व्यक्ति के अंत: संघर्ष को, "सोच" को और एक समाधान तक पहुँचने के अंतस्तर्क को "कथ्य" के स्तर पर स्वीकार कर के ही मुक्तिबोध अपनी कविताओं को उस प्रकार संभव कर सके थे, जिस प्रकार वे हमें प्राप्त होती है । इस स्थिति में अंधेरा, सिन्धु, दुहरी-तिहरी प्रकृति प्रतीक मयता आदि उस "कथ्य" के कारण ही प्रस्तुत होती है । मुक्तिबोध जिस "समाधान" के प्रति उन्मुख थे, वह समूचे शीत-युद्ध के विरुद्ध जाता है । यह समाधान राजनीतिक होते हुए भी सृजनात्मक है और काव्यात्मक स्तर पर आकर, सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का उदाहरण बनता है । एक "आत्म-निर्देश" (Auto- suggestion) ही मुक्तिबोध की कविताओं का समापन-अंश होता है । चाहे "हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर" हो जो "प्रकट होकर विकट हो जाने" वाला हो ।[126] अथवा "अरुण कमल" को लाने के लिए "झील के हिम-शीत सुनील जल में "धँसने" की बात हो [125] सब जगह एक आत्म निर्देश है । प्रस्तुत शोध प्रसंग में मुक्तिबोध के साहित्यकों अस्तित्व-संघर्ष का सौंदर्यशास्त्रीय प्रकटन कहा गया है । संघर्षरत व्यक्ति के उद्गार "संघर्ष" के संदर्भ में ही समझे जा सकते हैं । वे जिस गहरे अर्थ में स्वांत: सुखाय होते हैं ; उसी अर्थ में मुक्तिबोध की कविताएँ स्वांत: सुखाय है । अगर —

कहते हैं लोग-बाग बेकार है मेहनत तुम्हारी सब
कविताएँ रद्दी हैं ।
भाषा है लचर उस में लोचती है ही नहीं "[127] आदि

वह बिम्बात्मक स्तर पर हो या किसी और विशिष्ट रूप-शैली के माध्यम से। सम्प्रेषित हो सकेगा । नम्बुदिरीपाद के उपर्युक्त लेख के लिए साहित्य और राजनीतिक [illegible] पाल सिंह, पृ-59-60 । वस्तुत: "कविमता" जहाँ भी

तो सच ही है । मुक्तिबोध की कविताओं का पाठक यदि "संघर्ष" रत हुआ तो ही वह, उसके अर्थ को ग्रहण कर पायेगा ; वरना साहित्यिक बहसों में तो मुक्तिबोध की कविताएँ अनर्थ की शिकार होती ही रही हैं ।

यदि उपर्युक्त "जिन्दगी का रास्ता" नामक कविता के उद्धरणों में "अंधकार, हाहाकार, अत्याचार में अत्यानुप्रास का विधान प्राप्त होता है तो यह उस अंतर्वस्तु= राम्र ‡=कवि‡ का सोच = सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का ही रूप-गत विकास है । मुक्तिबोध किस प्रकार समग्र बाह्य ‡राजनीतिक-सामाजिक‡ को आंतरिकी कृत कर लिया करते थे, इसकी चर्चा पूर्व में हो चुकी है । यह उनकी अधिकांश कविताओं के रूप-बंध के निर्धारण के प्रसंग में सच है । बाहर से भीतर की ओर यात्रा के पश्चात ही यथार्थ कविता के रूप में भीतर से बाहर की ओर यात्रा करता था । इस क्रम में वह पूरी तरह से मुक्तिबोध का "निजी यथार्थ" बन जाता था । यदि वह फिर भी जटिल, कई परतों वाला और दुरूह प्रतीत होता है तो भीतर की ओर यात्रा करने वाले यथार्थ को ही इस का श्रेय जाता है । यथार्थ का अनुभव होता है । अनुभव से पहले बोध की स्थिति होती है । बोध के प्रसंग में हम उसकी जटिल संरचना के बारे में विस्तृत चर्चा कर चुके हैं । परिवार, बचपन, शिक्षा आदि के माध्यमों से कवि ‡यहाँ मुक्तिबोध‡ एक विशिष्ट और अद्वितीय अनुभव-शक्ति प्राप्त करता है और उसी शक्ति के सहारे मुक्तिबोध बाह्य का आंतरिकीकरण करते थे । यहाँ "सब कुछ" जो मुक्तिबोध का साहित्य है, द्वंद्वात्मकता पर बिना बल दिये समझ में नहीं आ सकता । मुक्तिबोध को विशिष्ट पारिवारिक, भाषिक और कालिक स्थिति ने ही तो उस "मैं" की रचना की थी, जो यथार्थ का अनुभव करता था । अनुभव करते समय व्यक्ति नितांत अकेला होता है । दूसरे शब्दों में बाहर से भीतर की ओर यात्रा अद्वितीय होती है किंतु

होगी, वहाँ सौंदर्यबोधात्मक स्तर की चर्चा ⁄ का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । इसीलिए जहाँ "समाधान" या "विचारधारा" आरोपित होगी, वहाँ कृत्रिमता रहेगी ही ।

125 मुक्तिबोध रचनावली - 2, 'जिन्दगी का रास्ता' नामक कविता - 8

126. मुक्तिबोध रचनावली - 2, "अँधेरे में" नामक कविता, पृ-380-429

"व्यवहार करते वक़्त"[128] वह सामाजिक हो जाती है । इस "अकेले-पन और सामाजिकता के बीच के द्वंद्व में ही भाषा और साहित्य की परम्पराएँ और समकालीन स्थितियाँ आती है । अस्तित्ववादी क्षेत्र में प्रवेश किये बिना भी यह जाना जा सकता है कि व्यक्ति के अनुभव ही उसे निर्धारित करते हैं । "उसकी चिति (मुक्ति बोध के शब्दों में "आभ्यंतर लोक") मूलत: अनुभव है ।

आर.डी.लैंग के साक्ष्य से प्रमोद वर्मा ने कहा -"हम एक ही साथ दो दुनियाँ में रहते हैं । आदमी की भीतरी दुनियाँ को लैंग, स्व और पर, चेतन और जड़, कल्पना, स्वप्न और फैण्टेसी, को अनुभवन करने को व्यक्तिगत मुहावरा कहते हैं । लेकिन जैसे जैसे हम सभ्य होते जा रहे हैं, यह काम और भी मुश्किल होता जा रहा है । आज की दुनिया में अपने और दूसरों के अनुभवों को नष्ट करना ही काफ़ी नहीं माना जाता - आदमी को इसका अभ्यस्त बनाकर छद्म को सत्य समझने का पाठ भी सिखाया जाता है । × × × अनुभव को विरोध आदमी को व्यक्ति कितना रहने देगा ? व्यक्ति न रहा तो व्यक्तिगत मुहावरा भला कैसे जीवित रह सकता है ?"[129]

मुक्तिबोध ने जब "आभ्यंतर लोक में दुस्थिति" उत्पन्न हो जाने की बात व्यावसायिकता के संदर्भ में की थी तो प्रकारांतर से अनुभव प्रक्रिया को विवाक्त करने पूंजीवादी तंत्र की ही निंदा की थी । मुक्तिबोध ने स्वयं भी रचना-प्रक्रिया की बात कही है । हम यहाँ बल देकर कहना चाहेंगे कि काव्य सृजन की प्रक्रिया में बाहरी यथार्थ को, वस्तुगत अनुभवों को भीतर की ओर यात्रा होती है और कविता में ढलकर वे ही अनुभव बाहर आते हैं । ऐसे में आवश्यक है कि वह कविता - कवि के विश्व परिदृश्य के रूप में देखी जाये । उसे समझने के लिए हमें कवि के पास जाना पड़ेगा । रचना में निहित कवि के पास और रचना से इतर भी । इसके बिना हम नहीं समझ पायेंगे कि "कवि की, यथार्थ जीवन की जानकारी कितनी गहरी और

---

126. मुक्तिबोध रचनावली-2, "अँधेरे में" नामक कविता पृ-380
127. मुक्तिबोध रचनावली-1 कहते हैं लोग बाग नामक कविता पृ-257
128. लैंग के साक्ष्य से प्रमोद वर्मा ने लिखा - अनुभव करते वक्त हम नितांत अकेले होते हैं लेकिन व्यवहार करते वक्त पूरी तरह सामाजिक ।" व्यवहार को हम आचरण (Praxis) कहेंगे ।

मुकम्मल है ? वह "मौजूद अंतर्विरोधों को कितना पहचानता है ? उसकी विकसनशील और ह्रासमान प्रवृत्तियों की उसे कितनी पहचान है ? वह उससे से कौन से विषयों का चुनाव करता है ? उस विषय वस्तु के भीतर उसकी कितनी पैठ है ? उसे वह अपनी सृजन क्षमता से किस रूप में ढालता है ? विषय के प्रस्तुतीकरण के लिए वह कौन सी नयी जमीन तोड़ता है ? अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए उसमें कितनी कल्पना क्षमता है ? इसके लिए वह भाषा, संपदा का कितना समर्थ उपयोग करता है ?[130]

उपर्युक्त सारे प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम होकर ही वाम-सौंदर्यशास्त्र अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकेगा । इसी हेतु प्रस्तुत शोध-चर्चा में "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध" को प्रतिमान-पद दिया गया है । "बोध" संरचना से लेकर विश्व-बोध तक की यात्रा के चरित्र को समझने का प्रयत्न किया गया है । अत्यधिक सीमाओं और यथेष्ट ज्ञान के बावजूद "आधुनिकतम विकसित ज्ञान-विज्ञान के औजारों, अनेक पद्धतियों, दृष्टि" आदि का आवश्यकतानुसार उपयोग करने का प्रयत्न किया गया है ।

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतेन्दु युग से ही "राजनीतिक काल" में हस्तक्षेप की प्रवृत्ति और भविष्योन्मुख (यूटोपिया) उत्कण्ठा मिलने लगती है । एक यूटोपिया "निजी स्तर पर सक्रिय रखने के लिए" मात्र मंशा काम नहीं आती । सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ, (निश्चित ही जो प्रदत्त होती हैं) उनके अंतर्गत परिवार, शिक्षा जैसी संस्थाएँ और उनके माध्यम से निर्धारित होता हुआ बचपन-ये सब प्रदत्त होते हैं और यदि मनुष्य जो एक प्रक्रिया है, यदि अपनी जीवन-प्रक्रिया की सक्रियता को निरंतर बनाये रखता है तो निश्चित ही क्रमशः अधिकाधिक "मनुष्य" होते हुए, यथार्थ के साथ अपने सम्बन्धों को सौंदर्य बोधात्मक रूप दे पता है और आचरण के द्वारा उन्हें अभिव्यक्त भी कर सक्ता पाता है ।

---

129. आचरण ही "सामाजिकता" का पहला सोपान है । 'प्रश्न / जो समुद्र है'- मध्य प्रदेश साहित्य परिषद द्वारा आयोजित संवाद, 23 और 24 मार्च, 1980. प्रमोद वर्मा का आलेख, रचना और पाठक बदलते हुए रिश्ते में सम्प्रेषण की समस्या ।

129--वही-- . 130. कविता का नया सौंदर्यशास्त्र नामक कर्ण सिंह चौहान का आलेख ।

शीत युद्ध उस के समानांतर विकसती व्यावसायिकता, पूंजीवादी तंत्र की बढ़ती हुई शक्ति और [भारतीय संदर्भ में] सामंती अवशेष - ये सब के सब सृजन= सौंदर्य को अवरुद्ध करना चाहते हैं । इस अर्थ में प्रत्येक सृजनात्मक आचरण अनिवार्यतया राजनीतिक चरित्र से युक्त होता है । उस अनिवार्यत: प्राप्त होते राजनीतिक चरित्र के साथ "प्रतिरोध" सम्बन्धी जागरूकता जुड़ कर ही [विश्व-दृष्टि के विकास सम्बन्धी आचरण आदि से] उसका वाम-रूपांतरण करती है ।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में ही हम मुक्तिबोध की कविताओं का संदर्भ समझ पायेंगे । कला और इसलिए कविता भी - अपनी प्रकृति से ही चुनाव होती है । यह चुनाव जिस कला-दृष्टि = जीवन -दृष्टि के अंतर्गत किया जाता है, उसी को मुक्तिबोध ने राजनीतिक दृष्टि से समीकृत किया था । सन् 1950-67 के समय को, शीतयुद्धीय संदर्भों में देख कर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बड़ी शक्तियों का सारा प्रयत्न राजनीतिक दृष्टि को अपने हित में निर्धारित करना था और इस क्रम में कला दृष्टि भी स्वयमेव निर्धारित की जा रही थी ।[132]

नागार्जुन ने अपनी कला-दृष्टि के अंतर्गत जो "चुनाव" किये विषय वस्तु, भाषा, छंद आदि के संबंध में, वे निश्चित ही उनकी राजनीतिक दृष्टि को भी सूचित करता है । जन की पक्षधर की भूमिका उन्होंने सायास स्वीकार की है । मुक्तिबोध के साथ भी ऐसा ही है यद्यपि सर्वथा भिन्न रूप में ।

---

131. प्रत्येक राजनीति [चाहे वह हमारे शोध प्रसंग के अनुसार, अरस्तू के साक्ष्य से समाज में मनुष्य के होने के चरित्र से जुड़ी हो या फिर चुनाव केन्द्रित सत्ता-संघर्ष हो] मनुष्य की सत्ता (Being) तक पहुँचना चाहती है, चिति तक को निर्धारित करना चाहती है । इस प्रकार अस्तित्व संघर्ष बेहद जटिल रूपों वाला है । "सृजन" मनुष्य की निरंतर विजय को ही प्रस्तुत करता है । शीतयुद्ध उस "सृजन" को अपने पक्ष में, अर्थात् वाम के विरुद्ध करना चाहता है । मुक्तिबोध या अन्य कवियों का महत्व इस बात में है कि वे "सृजन" को वाम बनाये रख सके ।

काव्य-जीवन के आरंभ में ही मुक्तिबोध ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था "यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असंतोष रहा और है । मानसिक द्वंद्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है । × × × मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूँढने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति है । उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थिति में छिपा है ।" इस जीवन-स्थिति के बावजूद युग संधि-काल में कार्यकर्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा गलत साबित करना ही पड़ेगा ।"[132]

यह मानसिक द्वंद्व, असंतोष और फिर भी अपना पथ ढूंढने वाले बेचैन मन की अभिव्यक्ति रूपी कविताएँ - ये सब बिना युगीन संदर्भों के समझी नहीं जा सकती । "अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे" बोलनेवाले मुक्तिबोध के "प्रदत्त" (परिवार, शिक्षा, बचपन, रामविलास जी के अनुसार शिजोफ्रेनिक स्थिति आदि) को समझ कर ही उनके इस सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध का महत्व समझा जा सकता है ।

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता ।
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातंत्र्य व्यक्ति का बादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को ।[133]

आदत न होने पर भी कहने की इस "विवशता" की अनुभूति को जहाँ उनके उस "बद्धमूल द्वंद्व" में समझा जा सकता है (। राम विलास शर्मा का प्रयत्न कुछ ऐसा ही रहा है) वहीं पथ ढूंढने वाले बेचैन मन की अभिव्यक्ति में भी । यों विशिष्ट बोध के वे एक महत्वपूर्ण ही कवि थे और सामान्य बोध (सामाजिक बोध) के वे पक्षधर थे । नागार्जुन के बारे में यह सच है -

---

132. तार सप्तक - सं० अज्ञेय - पृ- 43
133. मुक्तिबोध रचनावली 2, पृ-383.

"समकालीन कविता के इतिहास में नागार्जुन का एक बहुत बड़ा अवदान यह माना जायेगा कि उन्होंने पुनः कविता की दिशा को विशिष्ट बोध से सामान्य बोध की तरफ मोड़ने का प्रयास किया । इसी प्रयास के चलते उनकी कविता के उस क्रांतिकारी चरित्र का निर्माण हुआ है जिसके हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं ।"[134] तो मुक्ति बोध ठीक इसके विपरीत है । वे कविता में ऐसी बात नहीं कहना चाहते, जो कविता के चरित्र के अनुसार ढल न सकती हो । जब कि नागार्जुन को "सीधी से सीधी बात और कई बार, एक दम कविता न लगने वाली बात को भी कविता में कहने की आदत है और खूब है । यह इन दोनों कवियों के मानसिक गठन का बुनियादी अंतर है ।[135]

इस बुनियादी अंतर के बावजूद ये दोनों कवि अपने श्रेष्ठ काव्यांशों में पूरी तरह से, धाम-चेतना-संपन्न कवि है । नागार्जुन ने प्रत्येक प्रकार के द्वंद्व को "एक विलक्षण रचनात्मक संतुलन" में बदल दिया है । निश्चित ही "कवि कर्म की यह एक ऐसी सफलता है, जिसमें वे लगभग अद्वितीय है ।"[136] हम रामविलासजी के साक्ष्य से पहले भी इस ओर संकेत कर चुके हैं । उन्होंने स्वयं को "तरल आवेगों वाला, अतिभावुक, हृदय धर्मी" जैसा कवि कहा है । " वे कविता को दूसरे छोर से पकड़ते हैं यानी "हृदय" की ओर से ।"[137] मुक्तिबोध कविताओं में निरंतर सोचते चलते हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे "दिमाग की ओर से पकड़ते हैं ।

यदि नागार्जुन किसी सद्य-घटित घटना या किसी ताजा राजनीतिक प्रसंग को लेकर ऐसी कविताएँ लिखते हैं, जिन्हें तात्कालिक कविताएँ कहा जा सकता है तो मुक्तिबोध को भी"काल-बद्ध कवि" कहा गया है । यद्यपि "यह काल बद्धता उनकी कोई सीमा नहीं, बल्कि एक ऐसी विलक्षण ऊर्जा है, जो अपने समय के प्रति गहरी रागात्मक संपृक्ति से पैदा होती है ।[138] केदारनाथ सिंह के अनुसार तो मुक्तिबोध की कविताओं को तिथियों से अलग करके पढ़ा ही नहीं जा सकता - "ऐसी स्थिति में इन कविताओं को तिथियों से अलग करके पढ़ना वैसा ही है जैसे पिकासो के विविध काल के चित्रों को गड्डमड्ड करके एक जगह रख

दिया जाये और दर्शक से अपेक्षा की जाये कि वह गुएर्निका जैसे चित्र के सम्पूर्ण अर्थ को आत्मसात करलेगा । इस अर्थ में पिकासो और मुक्तिबोध की नियति एक जैसी है - दोनों की जड़े अपने समकालीन इतिहास में गहराई तक धँसी हुई है । वे श्रेष्ठ या वरेण्य होने की क्षमता वहाँ से अर्जित करते हैं, जहाँ वे सबसे अधिक काल बद्ध होते हैं ।"[139]

इस प्रकार मुक्तिबोध की कविताओं का लब्धामाल वही है, जो नागार्जुन का है । अंतर यह है कि नागार्जुन को कविता में कहने की आदत है और मुक्तिबोध को नहीं । और इसलिए वे "अनुभूति के यथार्थ क्षेत्र से कतराते नहीं, बल्कि अपने तक और भावना के बुदाल से अनुभव की कड़ी धरती को लगातार गहरे [140] खोदते जाते हैं ।

इसी प्रसंग में, मुक्तिबोध के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को समझने के लिए आवश्यक है कि काव्य-शिल्प की संक्षिप्त चर्चा हो । यद्यपि मुक्तिबोध ने माना था "वस्तु-तत्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है । अतएव मुख्यतः हमारे लिए वस्तु-तत्व प्रधान हो जाता है ।[141] किंतु "अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए" संघर्ष करने पर भी उनका पर्याप्त बल रहा है । शमशेर पर लिखते हुए उन्होंने आरंभ में ही प्रश्न उठाया "काव्य व्यक्तित्व के भीतर की वह कौन सी-सक्रिय आवश्यकता है, जिसने अपनी अभिव्यक्ति के शिल्प का विकास किया ?"[142] आगे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है "शिल्प का विकास काव्य-व्यक्तित्व से, अटूट रूप से जुड़ा हुआ है और उस शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, भाव और अभाव सामर्थ्य और कमजोरी, ज्ञान और भ्रम, सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं ।"[143]

---

134. आलोचना 56-57, जनवरी-जून 81, केदारनाथ सिंह का लेख "तरतीब ढंग से कवि होने का साक्ष्य" पृ-154.

135. - वही -

136. -वही- पृ-164.

137. -वही-

138. पूर्वग्रह 39-40 जुलाई-अक्तूबर, 80 केदारनाथ सिंह का लेख - कालबद्ध

मुक्तिबोध के काव्य के प्रसंग में भी यही सच है । इतिहास को कविता में बदल देने के क्रम में मुक्तिबोध अगर फैंटासी की रचना भी करते हैं तो वह कामायनी की तरह किसी स्वर्णिम अतीत में नहीं बल्कि ठोस सामाजिक-राजनीतिक वर्तमान से मुठभेड़ करने में ही विकसित होती है ।

मुक्तिबोध के काव्य में शिल्प का चरित्र पूरी तरह से उनके व्यक्तित्व से एकमेक होकर विकसता है । वे शिल्प और रूप के प्रति अतिरिक्त सजग थे । -"कैसी मेहनत से लफ्ज़ों, बल्कि महीनों वे अपनी लंबी कविता के टुकड़ों को धीरे-धीरे चिंतन और कल्पना की ऊर्जा से पुष्ट करते, जोड़ते-बढ़ाते और उसकी अंतर्योजना को दृढ़ करते जाते । उनका शिल्प एक ऊँची इमारत को उठाने वाले मेमार का शिल्प था । वह इमारत अनेक पुश्तों, चौखियों और बुर्जियों से सुदृढ़ किया हुआ कोई छोटा-मोटा किला होती थी, महल या मकबरा या मंदिर नहीं ।[144]

शमशेर के इस कथन से स्पष्ट है कि विषय वस्तु का चुनाव अपने आप ही "रूप" का विकास नहीं करलेता है, उसके लिए सतत प्रयत्न और अभ्यास की आवश्यकता होती है । वस्तुतः जिस प्रकार "सामाजिक स्थिति ही चेतना को निर्धारित करती है" - में एक नियतिवाद का प्रवेश हो गया और अर्ध-द्वंद्वात्मक व्याख्याओं द्वारा एकांगी निष्कर्ष सामने आये ; उसी प्रकार रूप-वादियों के विरुद्ध वस्तु-वादियों ने "वस्तु" पर एकांगी बल डालते हुए गलत प्रतिक्रिया का उदाहरण ही प्रस्तुत किया ।

"वस्तु" का चुनाव कोई अंतिम कृत्य नहीं होता । चुनाचास्की ने स्पष्ट तौर पर बताया है कि "रूप" मात्र कथ्य द्वारा ही निर्धारित नहीं होता, बल्कि मनोवैज्ञानिक विचार-प्रक्रियाओं, वार्तालापों अर्थात् प्रदत्त वर्ग (अथवा प्रस्तुत शोध प्रसंग की शब्दावली में कहें तो प्रदत्त ॥ वर्ग-प्रशिक्षण)

और पदार्थमय" पृ-30
139. -वही-
140. चाँद का मुँह टेढ़ा है, भूमिका, शमशेर पृ-19.
141. मुक्तिबोध रचनावली-पाँच पृ-29।
142. वही पृ. 428

प्रदत्त समाज द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक जीवन स्तर जड़ अतीत या नये के लिए संघर्ष आदि - की "रूप" पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं । "रूप" को भी युग ही निर्धारित करता है ।[145] यह हमेशा ही नहीं होता कि "रूप" वस्तु की सहायता करें ; वह बाधक भी हो सकता है । वह वस्तु से कटा हुआ भी हो सकता है । लुनाचार्स्की ने इस कटे हुए होने का कारण कवि-कलाकार की वर्गीय स्थिति में देखा है । जब वर्गीय प्रवृत्तियाँ, रचना में प्रकट होती हो और वे "कथ्य" से बचाव चाहती हो तो एक ऐसे रूप का चुनाव कर वाती है ; जो "वस्तु" का विकास न होकर उसके लिए बाधा होती है ।[146]

मुक्तिबोध की काव्य-स्थिति और उनके सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध को समझने के लिए आवश्यक है कि हम याद करें - वे अपने आपको अजनबी (Alienated)अनुभव करते थे । अपने मराठी भाषी होने और हिन्दी में लिखने के विरोधाभास की बात उन्होंने स्वयं ही अज्ञेय को लिखी थी । जब लुकाच तक "निर्वासन" की स्थिति के कारण अपनी भाषा जर्मन की जीवंतता का निर्वाह नहीं कर सके तो मुक्तिबोध से यह आशा करना निश्चित ही गलत होगा[147] । केदारनाथ सिंह ने "मुक्तिबोध की भाषा का अजनबीपन" कह कर इसी ओर संकेत किया है । " घर में मराठी और कविता में हिन्दी, यह एक ऐसा भाषिक द्वंद्व था, जो मुक्तिबोध के कवि-कर्म को उनके अन्य समकालीनों की तुलना में अधिक-चुनौतीपूर्ण बना देता है । इस अंतराल को पाटने के लिए कोई सीधा रचनात्मक उपाय मुक्तिबोध के पास नहीं था - शायद किसी भी रचनाकार के पास हो ही नहीं सकता ।"[148]

---

143. -वही- पृ-429

144. -सात सप्तक के कवि : काव्य शिल्प के मान डा० कृष्णलाल - शमशेर का कथन पृ- 100.

145. "The form of a given work is in fact determined not merely by its content but also by other elements . The psychological thought processes and conversations , What one might call the 'style' of living of a given class (or class groups which have influced the work), the general level of the material culture of a given society, the influence of its neighbours , the in

जिस अँराल को पाटने का कोई उपाय नहीं हो सक्ता, उसके प्रति एक सृजनात्मक सरोकार ही आवश्यक होता है । मुक्तिबोध यही करते हैं । "परिणामत: उनकी घर की भाषा आर कविता की भाषा का द्वंद्व उनकी पूरी कविता की बनावट में एक अजीब-सा रचनात्मक अजनबीपन पैदा करता है । यह अजनबीपन उनकी कविता में हिन्दी के परिचित शब्द-समूह और पूरे वाक्य-विन्यास को अनेक झटके देता है ।"[149]

यहाँ तात्पर्य इतना ही कि वस्तु और रूप, दोंनों स्तरों पर मुक्तिबोध का सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध सक्रिय था । वे हर स्तर पर संघर्ष रत थे । "उनके आत्म-संघर्ष के अनेक स्तर है । एक स्तर है निम्नवर्ग की भूमि को छोड़ कर सर्व हारा वर्ग से तादात्म्य स्थापित करने का । दूसरा स्तर है, मन के दुस्वप्नों, पाप बोध, मृत्यु चिंतन, असामान्य, मानसिक स्थिति से निकल कर स्वयं को और संसार को वस्तुगत रूप से देखने का । तीसरा स्तर है अपनी काव्य कला को निरंतर विकसित करने का ।"[150]

यह आकस्मिक ही नहीं है कि मणि कौल ने मुक्तिबोध पर फिल्म बनायी तो ~~सबसबसे~~ नाम रखा "सतह से उठता हुआ आदमी ।" मलयज के शब्दों में "सतह सामान्य मनुष्य का संघर्षमय जीवन और उसकी विडम्बना है : वह सड़क जो हिन्दुस्तान के हर कस्बे और शहर के बीच से गुज़रती है । सतह का बोध हिन्दुस्तान के मर्मस्थल का बोध है । आधे सुख आधे दु:ख के दो पाटों के बीच पिसने की नीच ट्रेजडी [उंचा उठानेवाली ट्रेजेडी नहीं] से घिरा जन समूह । सतह का आदमी ही हिन्दुस्तान का औसत आदमी है । × × × सतह के आयाम ऊँचाई और गहराई से बड़े हैं । पास्क्ल ने

---

ertia of the past or the strining for reuovalion , which can mani-fest it self in all of life's aspects -- all this can affect the form , can act as a subsidiary facter defining it "
- - On literature and Art A. Lunacharsky. P.121

146. Ibid .

कहा था :(Mediocrity is humanity) × × × मुक्तिबोध का आदमी यही औसत आदमी है और उसे अपनी सतह से लगाव है । ध्यान रहे, वह आदमी है और उसे अपनी सतह से लगाव है । ध्यान रहे, वह आदमी सतह से छिटक कर अपनी वर्ग सीमा को पार कर उसके बाहर नहीं जाता, वह सिर्फ उससे ऊपर उठना है, उसी का रहते हुए । वह अपने क्लास को डेज़र्ट नहीं करता क्योंकि उसकी शक्ति वही है । क्यों कि उसका संघर्ष वही है - संघर्ष आगे, बढ़ने की एक अंधी होड़ नहीं, किन्हीं मूल्यों को साथ लेकर जूझने की कोशिश ।"[151]

यहाँ मुक्तिबोध के उस सौंदर्यानुभव को याद किया जा सकता है, जिसमें व्यक्ति अपने से बृहत्तर होता है, अस्वयं होता है । ध्यातव्य है कि अपने को या स्वयं को नकार कर नहीं बल्कि उन्हीं की वजह से । हमने नागार्जुन के बरक्स "दिमाग़" से यथार्थ को पकड़ने की बात लिखी है । सन् '58 में श्रीकांत वर्मा को एक पत्र में उन्होंने विचार और सोच के महत्वपूर्ण लिखा था ।[152] जिस सांस्कृतिक दल दल में हमारा जन-मानस फँसा हुआ है, उससे उबरने की यही सूरत है । विचार-जीवन अनुभूति से उद्भूत पर उससे स्वतंत्र - मानव संभावना का नया गणित है ।"[153]

विचार प्रदत्त का नकार है अथवा : प्रस्तुत प्रसंग की शब्दावली में, प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध है । इस अर्थ में, "प्रदत्त" के लिए विचार एक जानदार और खतरनाक वस्तु हैं क्योंकि प्रदत्त की जड़ता को विचार एक चुनौती देता है । प्रदत्त इसीलिए विचार का विरोधी होता है । वह अपने बचाव और विचार पर प्रत्याक्रमण के लिए एक प्रति-विचार की रचना करता है । "मुक्तिबोध के यहाँ यह प्रति विचार फ़ेण्टेसी है, दुस्वप्न है ।"[154]

---

147. Language and silence - George Steiner- Quoted in marxism and form - Fredric Jamson . P. 160

148. पूर्वाग्रह 39-40, जुलाई-अक्तूबर 1980, केदारनाथ सिंह का पूर्वोक्त लेख पृ-34

इस प्रकार मुक्तिबोध के लिए फैण्टेसी भी "प्रदत्त" है अथवा प्रदत्त" (वर्ग प्रशिक्षण) का प्रति विचार है । मुक्तिबोध के सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध का अनुठापन इसी बिंदुपर सर्वाधिक उजागर होता है ।[155]

मुक्तिबोध की फैण्टेसी पारम्परिक अर्थों में फैण्टेसी नहीं कही जा सकती । जिस प्रकार उनकी "कविताओं को उनके व्यक्तित्व से अलग रख कर देखना संभव नहीं है,[156] उसी प्रकार उन कविताओं की शिल्प-रूप-गत विशेषताओं को भी । पहले ही संकेत किया जा चुका है कि मुक्तिबोध की फंतासी अतीत-मूलक न होकर "वर्तमान" से सीधी मुठभेड़ में उपजती है । फैण्टेसी और दुस्वप्न ही वे तथ्य है, जिससे रामविलास जी ने शिजोफ्रेनिया का निदान किया था । प्रदत्त "परिवेश अत्यंत प्रतिकूल, मनशिथिल ।"[157] यह कहना सचमुच ही गलत है कि इस के पीछे राम विलास शर्मा का कोई व्यक्ति-गत राग-द्वेष होगा । "मुक्तिबोध और रामविलास शर्मा के मध्य आखिर क्यों यह विरोध-भाव इस प्रकार का टकराव (व्यक्तिगत नहीं, समाजगत) पैदा क्यों हुआ और उसका स्वरूप क्या है ? इस विरोध का प्रमुख कारण दोनों की साहित्य और काव्य सम्बन्धी धारणाओं की भिन्नता ही प्रतीत होती है ।"[158]

इस के विस्तार में गये बिना हम यह कहना चाहेंगे कि मुक्तिबोध ने इस स्तर पर भी संघर्ष किया है । शीतयुद्ध के बुर्ज से गोलंदाजी करती नयी कविता की शिल्पगत उपलब्धियों का मुक्तिबोध ने अपने ढंग से सार्थक उपयोग किया है । " इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने नयी कविता के समूचे तंत्र को, उस के अभेद्य-दुर्ग को भीतर से तोड़ा है - उसी की प्रतीक योजना, उस के बिम्ब बिम्ब-विधान, उसकी मिथक-रचना और रूपक-व्यवस्था द्वारा निर्मित दृढ़ प्राचीर को तोड़ते हुए, जनवादी चेतना के लिए उसका द्वार खोल दिया है ।[159]

---

149. -वही-

150. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-23।

151. पूर्वाग्रह 43, मार्च-अप्रेल, 81, मलयज का "सतह से ऊपर उठाती रचना" नामक लेख पृ-5.

152. श्रीकांत वर्मा के दिल्ली जानेपर संभवत: मुक्तिबोध का पहला पत्र ।

फैण्टेसी का प्रयोग भी मुक्तिबोध को नयी कविता और कामायनी दोनों के प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोधी सिद्ध करता है। नयी कविता की कलात्मक उपलब्धियों तथा कामायनी के शिल्प-तंत्र का अपनी कविताओं के हित में प्रयोग करते हुए मुक्तिबोध वस्तुत: विरोध या निषेध तथा समर्पण के बजाय उनके प्रति सृजनात्मक-सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध का रुख ही अपनाते हैं। "निषेध का निषेध" की मार्क्सवादी समझ के तहत निषेध का सही उपयोग करते हुए मुक्तिबोध ने प्रसाद की फैण्टेसी को, जो उनके यहाँ सिर के बल खड़ी थी उसे, पाँवों के बल खड़ा कर दिया है।"[160]

फैण्टेसी वह रचना-शिल्प है, जो बुर्जुआ समाज के सौंदर्य बोध का बुनियादी अंग है।[161] पहले हमने लूनाचार्स्की के साक्ष्य से "अरूप" के निर्धारण में "वस्तु" के अतिरिक्त अन्य तत्वों की भूमिका की भी बात की थी। इन तत्वों में "वर्ग" भी एक है। अशोक चक्र धरने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है "मुक्तिबोध अपनी पूरी जनवादी समझ के होते, एक ऐसे समाज के मध्यवर्ग के अंग थे, जिसमें पूर्ण बुर्जुआ विकास की संभावनाएँ अवरुद्ध होकर जनवादी विकास की संभावनाओं में परिणत हो गयी हैं, यही कारण है कि मुक्तिबोध फैण्टेसी का इस्तेमाल करते हुए भी इस रचना-शिल्प को बुर्जुआ शिल्प के घेरे से निकाल कर लाते हैं।"[162]

यदि खण्डनीय मान्यता को सही रूप में न रखा जाय तो "पाठक उसका बौद्धिक आकलन नहीं कर पाता। इसी स्थिति के लिए मुक्तिबोध की टिप्पणी है -"नतीजा यह होता है कि We start talking at each other rather than talking to each other. हमारे यहाँ बौद्धिक संस्कृति के अभाव का मूल कारण ही यह है कि ....
We try to play upon the feelingsof the people, try to play upon their instincts, etc. rather than, appealing to their intellectual sense. It is this that causes the trouble. We must make think and too, independently.

मुक्तिबोध रचनावली-6 पृ-335-336

वस्तुत: फैण्टसी का पारम्परिक अर्थ "यथार्थ से विलगता" का मुक्तिबोध के लिए कोई महत्व नहीं है । "मुक्तिबोध की फैण्टेसी यथार्थ जगत से पलायन करने या दूर चले जाने का परिणाम नहीं है, क्योंकि उनके लिए फैण्टेसी यथार्थवाद के तीव्र आघात द्वारा ही प्रस्तुत होती है ।"[163] फैण्टेसी को भले ही मुक्तिबोध प्रदत्त या "सतह" या अनुभूति द्वारा पाते हो किंतु वे पूरे सचेत होकर उसका इस्तेमाल करते हैं । अशोक चक्र धर ने मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया पर विस्तार से विचार किया है । लल्लन राय ने भी मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता" में इस चर्चा को पर्याप्त रूप से आगे बढाया है ।

प्रस्तुत प्रसंग में हमें इतना जानना पर्याप्त है कि मुक्तिबोध वस्तु और शिल्प के चुनाव के प्रश्न को लेकर नितांत आश्वस्त हो ; ऐसा कतई नहीं है । वे पूरी जागरूकता के साथ कई-कई तरीके, अपनाते हैं । कभी वे कर्ता और वस्तु पक्ष के बीच अंतर्सम्बन्धों में नाटकीयता की अंतर्सृष्टि करते हैं या कभी वे सीधे संबोधनों का इस्तेमाल करते हुए प्रतीकों और लक्षणाओं का प्रयोग करते हैं ।"[164]

कुल मिलाकर प्रदत्त रचना-शिल्पों (प्रतीक और बिम्ब, वर्णनात्मक और लाक्षणिकता, आत्म कथन और वस्तु-जगत चित्रण) के अंतर्विरोधों को वे तिरोहित कर देते हैं । यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मुक्तिबोध ने प्राय: सभी उन सभी रूप-तत्वों का प्रयोग किया है, जो अब बुर्जुआ काव्य-शास्त्रों में गौरवशाली स्थान पर आसीन किये जाते हैं । यहाँ हम कहना चाहेंगे कि शीतयुद्ध की साहित्यिक शाखा का प्रचार विभाग जिन कला-तत्वों का खूब खूब प्रचार करना चाहता है, करता रहता है, उस सभी का मुक्तिबोध ने उन कविताओं के हित में इस्तेमाल किया है, जो शीतयुद्ध के आकाओं के विरोध में जाती हैं ।

---

153. पूर्वग्रह - 43, मार्च-अप्रेल, 81 मलयज का पूर्वोक्त लेख पृ-7

164. - वही - पृ-8

155. मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में बद्धमूल द्वंद्व का यह भी एक आयाम है । वे विचार को अनुभूति से ऊपर उठने का माध्यम बनाना चाहते हैं ।

भाववादी शिल्प को जीवन की पुनर्रचना के लिए इस्तेमाल करना ही मुक्तिबोध की विजय है । मुक्तिबोध के लिए रचना-कर्म उनके अस्तित्व संघर्ष का एक अंग था । इसलिए बिम्ब, प्रतीक, फेण्टेसी, संबोधन, वर्णन, आत्मकथन, विश्लेषण[165] आदि सारे तरीके उनकी कविताओं में रूढ़िबद्ध या बने बनाये रूप में न आकर, एक-दूसरे को काटते हुए से आते हैं । उनके लिए सारे रूप विधान का ताना-बाना संवेदनात्मक उद्देश्यों के हित के लिए हैं ।

एक अपेक्षाकृत अख्यात कविता "देश कीर्ति के नितम्ब इठलाते" को लिया जा सकता है —

देश कीर्ति के नितम्ब इठलाते
लालच ने पुकार की
पीड़ा भरी हुंकार की,
लोभ-ईर्ष्या, तब रंगीन
उड़ंछू पंख पसार कर
उन्हीं नितम्बों पर जा बैठे
उनका रंग उभारकर
नितम्ब बढ़ते गये - प्रतिष्ठा के महत्व के सार थे ।[166]

यह अपेक्षाकृत छोटी कविता है फिर भी इससे मुक्तिबोध की सौंदर्यबोधात्मक चेतना-प्रक्रिया का परिचय मिल सकता है । प्रतीक, बिम्ब, वर्णन, उद्बोधन आदि सभी जैसे एक-दूसरे को काटकर आगे निकलते हुए कविता को संभव करते हैं । यह कविता उन कविताओं में से एक है, जिनमें

विचार बनाम अनुभूति के इस द्वंद्व में मुक्तिबोध विचार के पक्षधर बने रहना चाहते हैं जब कि अनुभूति उनका साथ नहीं छोड़ती । एक तरह से अनुभूति "प्रदत्त" रूपी है और विचार प्रतिरोध-रूपी । विडम्बना यह है कि विचार के लिए भी अनुभूति अथवा प्रदत्त, प्रति-विचार का ताना-बाना, फेण्टेसी के रूप में, देता है । इस प्रकार मुक्तिबोध के लिए आवश्यक होता है कि वे फेण्टेसी के प्रति भी प्रतिरोध करें ।

156. नयी कविता और अस्तित्ववाद - राम विलास शर्मा पृ-205

मुक्तिबोध ने "लाक्षणिक शिल्प" का सफलतापूर्व प्रयोग किया है । वस्तुत: जब मुक्तिबोध के पास वस्तु-तत्व के नाम पर ऐसे जीवनानुभव होते हैं, जो लाक्षणिक शिल्प में अभिव्यक्त हो सकते हो तो मुक्तिबोध - बिम्बों और लाक्षणिक शब्द विन्यास के द्वारा वस्तुपक्ष का विस्तृत विवरण करते हैं ।

यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि मुक्तिबोध ऐसे कवि थे, जिनके लिए अपनी किसी भी विकास-स्थिति से संतोष प्राप्त होता, हो ऐसा नहीं था । उनकी प्रत्येक कविता जहाँ दूसरी कविता की पूरक है, वहीं उसको काटती भी है । वे हमेशा "बृहत्तर" (To be more) होना चाहते थे । इसीलिए उनकी कविताओं में फैण्टेसी के स्वरूप और उसकी प्रकृति तक में एक रूपता नहीं मिलती । "वे कभी अपने जीवन-तथ्यों को सुदूर अतीत के साथ संबद्ध कर, फैण्टेसी को स्वतंत्र दिक्काल देते हुए वर्तमान से एक आकर्षक दूरी पैदा करते हैं ; तो कभी उसे वर्तमान के ही किन्हीं अन्य तथ्यों या भिन्न स्थितियों के साथ संबद्ध कर मात्र स्थानगत या भूगोल गत दूरी पैदा कर एक नये रहस्य लोक की सृष्टि करते हैं ।[167]

अगर उद्धृत कविता में शब्द-प्रयोग और वर्णन कुछ ऐसा है कि सुपरिचित नागरिक परिवेश के साथ इसकी सीधी संगति नहीं बैठ सकती । कुछ अटपटापन है । संभवत: यह अटपटापन एक तो उस भाषिक अंतराल के चलते हैं, जिसे मुक्तिबोध पाट नहीं सके थे और परिणामस्वरूप एक सृजनात्मक अजनबीपन, उनकी कविताओं की स्थायी पहचान बन गया था । "उड़ंछू पंख पसार कर" - जैसा प्रयोग किसी हिन्दी भाषी के लिए असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य ही है । यह अपेक्षाकृत छोटी कविता है । "पता नहीं" नामक कविता पर विचार करते हुए अशोक चक्र धर ने मुक्तिबोध की छोटी कविताओं के बारे में लिखा है " × × × उनकी छोटी कविताओं को बिना बड़ी कविताओं की मदद के समग्रता में समझ पाना संभव नहीं हो पाता ।

---

157. नयी कविता और अस्तित्ववाद - राम विलास शर्मा पृ-205
158. मुक्तिबोध साहित्य विवेक और उनकी कविता - लल्लन राय पृ-25।
159. -वही - पृ-252
160. -वही- पृ-254-55

कभी तो ये छोटी कविताएँ स्वयं में किसी बड़ी कविता का हिस्सा मालूम पड़ती है और कभी यह होता है कि किन्हीं दो लंबी कविताओं के अलग-अलग कथ्यांश एक छोटी कविता के रूप में जगह बना लेते हैं।"[168]

स्वयं अशोक चक्र धर ने "पता नहीं" कविता को "अँधेरे में" और "मेरे सहचर मित्र" कविताओं के उपकथ्यों के रूप में या पूरक कविता के रूप में देखा है। वस्तुतः मुक्तिबोध के पास उस प्रकार की छोटी कविताएँ मिल ही नहीं सकती, जो उनसे इतर प्रत्येक महत्वपूर्ण कवि के पास बहुतायत से मिलती है। "आधुनिक जीवन की उलझी हुई परिस्थितियों और जटिल संवेदनाओं के संदर्भ में परम्परागत काव्य माध्य अपर्याप्त सिद्ध हुआ। उसे पुरोन रूप विधान में अभिव्यक्त करना संभव न रहा। . . . . अभिव्यक्ति की इस समस्या से जूझने के दौरान ही ऐसे काव्य-माध्य की तलाश शुरू हुई, जिसमें नये जीवन विधान का संगीत हो और जो परम्परागत रूप विधान की रूढियों से मुक्त भी हो, जिसमें नयी रूप के साक्षात्कार की क्षमता हो और जो आधुनिक परिस्थिति और संवदना द्वारा पुष्ट और प्रमाणित भी हो। उस तलाश के सिल सिले में ही लंबी कविता का नाटकीय विधान उभरकर सामने आया।"[169]

यों मुक्तिबोध की लंबी कविताएँ अन्य कवियों की लंबी कविताओं से, हर स्तर पर अलग है। जहाँ अन्य कवि छोटी कविताएँ भी लिख सकते थे और कभी-कभार लंबी कविता लिखते थे, वहीं मुक्तिबोध लंबी कविता ही लिख पाते थे। "× × × मैं छोटी कविता लिख नहीं पाता और जो छोटी होती है, वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती है। और इस प्रकार की न मालूम कितनी ही कविताएँ मैंने अधूरी लिखकर छोड दी है। उन्हें खत्म करने की कला मुझे नहीं आती। यही मेरी ट्रेजेडी है।[170]

---

161. मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया - अशो चक्र धर पृ-78.
162. -वही-
163. -वही-
164. -वही- पृ- 175
165. -वही- पृ-90 वे शिल्प को कतई छूट नहीं देते। भाववादी शिल्प भाव पर ही टिका रहना चाहता है और मुक्तिबोध उसे भौतिक

वस्तुत: कविता हो या कहानी या फिर आलोचना मुक्तिबोध का लक्ष्य "बृहत्तर" है । यहीं निजी स्तर पर सक्रिय "यूटोपिया" की बात आती है । मलयज ने सही पहचाना है — "फैण्टेसी वह सर्जनात्मक छलांग है, जिसके द्वारा मुक्तिबोध इस अनंत रूप अनुभव और वस्तु व्यापार मय जगत के केन्द्र में पहुँचना और उसकी सारी ऊर्जा को , सारे द्वंद्व को, उसकी सारी समस्याओं और प्रेरणाओं को नये रचनाक्रम में पुनर्सृजित करना चाहते हैं ।[171]

वे छोटी कविता नहीं लिख सकते थे क्यों कि "प्रदत्त" से [उनका जो भी प्रदत्त था] प्रतिरोध का वे कोई काम चलाऊ शार्ट कट नहीं चाहते थे । "जतना" कहानी का चुन्नु एकाएक अपनी समस्या का समाधान पाता है -"वह अपने कामों से, दुनिया से रिश्ते जोड़े, न कि सिर्फ दिल के उड़ते हुए टुकड़ों से ।"[172]

मुक्तिबोध उसी अर्थ में अभिव्यक्ति के खतरे उठाते हुए लंबी कविताएँ लिख रहे थे, जिस अर्थ में हमने वाम कविता को परिभाषित करने के प्रयत्न में उसे "आचरण की कविता" (Poetry of praxis) कहा था । चेतना और कर्म को अनिवार्यत: एक भी हमने माना था । मुक्तिबोध की काव्य चेतना ही काव्य कर्म है जो समग्र रूप में राजनीतिक-सामाजिक नैतिक भी है ।[173]

मुक्तिबोध की एक कविता है, जो "कवितांश" नामक खण्ड में छापी गयी है यद्यपि उसे पूरी कविता न मानने के पीछे कोई सुस्पष्ट कारण नहीं है । नाम है "भूमिका" ।.

आधार पर टिकाते हैं । मुक्तिबोध का सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध यही प्रमुख रूप से उजागर होता है ।

166. मुक्तिबोध रचनावली । पृ-313
167. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता - लल्लन राय पृ-25
168. मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया - अशोक चक्रधर पृ-153
169. लंबी कविताओं का रचना - विधान सं० नरेन्द्र मोहन पृ-1
170. मुक्तिबोध रचनावली 4 पृ-170
171. पूर्वग्रह 43 मार्च-अप्रेल 81 पृ-9.
172 - मुक्तिबोध रचनावली भाग-187

"अगर मेरी कविताएँ पसंद नहीं
उन्हें जला दो
अगर उसका लोहा पसंद नहीं,
उसे गला दो,
अगर उसकी आग बुरी लगती है
दबा डालो,
इस तरह बला टालो ।।
लेकिन याद रखो
वह लोहा खेतों में तीखा तलवारों का जंगल बन सकेगा
मेरे नाम से नहीं, किसी और नाम से सही ;
और वह आग बार-बार चूल्हे में सपनों सी जागेगी
सिगड़ी में खयालों-सी भड़केगी, दिल में दमकेगी
मेरे नाम से नहीं किसी और नाम से सही
लेकिन मैं वहाँ रहूँगा
तुम्हारे सपनों में आऊँगा,
सताऊँगा
खिल खिलाऊँगा
खड़ा रहूँगा
तुम्हारी छाती पर अड़ा रहूँगा
× × × ××× × ××
मेरे कविताएँ यदि बिगड़ती हैं बिगड़ जायँ
उनमें प्राण वायु मिश्रित खनिजों का समुदाय
मिट्टी में मिले हुए
अपने इस कटे पिटे चेहरे को लिये हुए
कहाँ जायँ, कहाँ जायँ . . . .[174]

---

173. मुक्तिबोध के अनुसार " कलाकार की प्रवृत्ति राजनीतिज्ञ या दार्शनिक की प्रवृत्ति नहीं है और वह राजनीतिक क्षेत्रों में भी जिन आदर्शों को लेकर जाता है, वे हृदय के अपरिसीम विस्तार के आवेश से जुड़े रहने के कारण कलात्मक ही होते हैं । " पूर्वग्रह 39-40 जुलाई अक्तूबर 80 में प्रमोद वर्मा

वस्तुत: कविता में कहने की आदत न होने पर भी अपनी वैचारिक पक्षधरता के दबाव में कई बार मुक्तिबोध ने "कविता में" वह सब कुछ कहा है, जो फैंटेसी से पूर्व ही, या उसके बावजूद उनके विचारों का उत्स रहा है। यों तो फैण्टेसी ही उनके "रचनानुभव का प्रोटो-टाइप है, उसका प्राक् रूप है - वह मूल जहाँ से आशयों एवं अर्थों का स्फोट होता है।"[175]

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन हमें मुक्तिबोध के काव्य को, उस शीतयुद्धीय परिप्रेक्ष्य में समग्रत: देखने का पूरा आधार देता है, जो द्वितीय महा युद्धोत्तर काल-खण्ड (सन '67 तक) का प्रमुख चरित्र रहा है। व्याव-सायिकता और सृजन-सौंदर्य को भटकाने वाले अथवा अवरुद्ध करनेवाले साहित्यिक सिद्धांतों से आचरण के स्तर पर जूझती उनकी कविताएँ उद्देश्य-गत जागरूकता के साथ सारे बुर्जुआ अथवा भाववादी काव्य-शिल्प रूपों को उपयोग करती हैं और जहाँ वे सफल होती हैं, वहाँ वे "अपने कथ्य की रक्षा में यह एक बड़ी चुनौती को एक समर्थ जवाब था और सह सच भी है कि मुक्तिबोध ब्र के नाम पर बड़े-बड़े नामधारी शीतयुद्ध के पुराने तीरंदाजों को साँप सूंघ जाता है।"[176]

ध्यान देने की बात यह है कि मुक्तिबोध के समय या युग में राजनीतिक स्थिति ठीक वैसी ही नहीं थी, जैसी आज है। यदि "यथार्थ वादी कथ्य को भाववादी शिल्प में" कहने की उनकी कोई विवशता थी और नतीजे में उनकी रचना-प्रक्रिया सारे कथ्य को दुरूह जटिल बनाती-सी लगती है तो हमें यह भी याद रखना चाहिए कि वे कुल मिलाकर उस युग में रचना-रत थे जब "प्रगतिवाद का अपनी सपाट बयानी और सीधे पन के लिए कोरा प्रचार होने के आरोप सहने पड़ रहे थे। शीतयुद्धीय साहित्यिक राजनीति यहाँ की उच्च सांस्कृतिक भूमि पर पैर जमा चुकी थी और प्रगतिवाद एकाएक मरणासन्न दिखाई देने लगा था।"[177]

का लेख "एक प्रदीर्घ कविता का प्रास्ताविक" पृ-37. निश्चित ही इसी बिंदु पर राजनीति कला से मिलती है और सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण के द्वारा प्रस्तुत शोध की शब्दावली में, "वाम" होती है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि "रूप" विषयक प्रयोग भी अधिकांशत: युग द्वारा निर्धारित होते हैं । यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सीधे-सरल और यहाँ तक कि छंदोमय सहज सम्प्रेषणीय ढंग से कविता में कहने की आदत न होने के बावजूद, बहुत कुछ कह देने वाले मुक्तिबोध सन 1967 के बाद भी उसी भाववादी शिल्प विधान से जुड़े रहते । वे सन 67 से पहले के दौर के ऐसे अकेले कलाकार-योद्धा थे, जो काव्य आचरण के स्तर पर "कथ्य" की रक्षा के लिए जूझ रहे थे । इसके लिए उन्हें और उनकी कविताओं को क्या-क्या नहीं सहना पड़ा, उसका संकेत "लोग-बाग कहते हैं" या "भूमिका जैसी कविताओं से स्पष्ट है ।"

सन् 40-42 के आसापास "तन्मयता के बाद" नामक कविता "उनके बाद की कविताओं के प्रसंग में कथ्य और शिल्प के स्तर पर ऐसी पहली कविता थी, जिसमें वे पूरी तरह से जागरूक थे । मुक्तिबोध रचनावली के संपादक को प्राप्त और अब तक अप्रकाशित वह कविता पूरी तरह से पूर्ववर्ती काव्य-धारा से सम्बन्ध-विच्छेद न करने पर भी अपना अलग चरित्र बनाती दीख पड़ती है । कविता के साथ एक टिप्पणी भी कवि द्वारा पूर्व में ही जोड़ी गयी है -"बुर्जुआ विचारधारा में भावनात्मक चमक एकाकारिता के क्षण अपने आप में अंतिम और, वैसे ही, लोभनीय माने गये हैं । परंतु जीवन-प्रवाह का छंद इसके विपरीत जाता है । प्रत्येक तन्मय क्षण भावी कार्य-प्रवाह की शक्ति को तैयार करने वाले मूल केन्द्र हैं ।"[178]

उपर्युक्त कविता से लेकर उनकी अंतिम कविता (मुक्तिबोध रचनावली के संपादक के अनुसार) "चम्बल की घाटी में" तक वह "संघर्ष" मिलता है जो आत्म-संघर्ष और मूल में अस्तित्व संघर्ष होते हुए भी सदैव राजनैतिक चरित्र से युक्त रहा । सन 59 में, श्रीकांत वर्मा के किसी लेख पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने पत्र लिखा -"राजनैतिक स्वर, जो

---

174. मुक्तिबोध रचनावली - 2 पृ-470-471.
175. सतपथ पूर्वग्रह 43, मार्च-अप्रेल 81, पृ-91
176. मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया अशोक चक्रधर पृ- 166.
177. -वही-

मेरे काव्य को रूप देती रही है ।"[179] यों"चम्बल की घाटी" भी मुक्तिबोध की आंतरिकीकृत "चम्बल की घाटी ही है" कोई वास्तविक नहीं । दस्यु-पराक्रम/शोषण पाप का परम्परा-क्रम/वक्षासीन है, / जिसके कि होने में गहन अंशदान/स्वयं तुम्हारा । । / इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है,/ मुक्ति न तुमको । / याद रखो / कभी अकेले में मुक्ति न मिलती / यदि वह है तो सब के ही साथ है /"[180]

इन पंक्तियों का आत्म-निर्देशात्मक स्तर स्वयमेव उजागर है । वस्तुत: कथ्य को तुरंत - फुरंत कह देना मुक्तिबोध के स्वभाव में ही नहीं था । वे उसकी जटिलता को तह-दर-तह खोलते थे । इसीलिए उनका प्रत्येक कविता एक साथ किसी अंश में, राजनीति के बारे में सही सूचनाएँ देने का प्रयत्न करती है तो किसी अंश में राजनीतिक बोध का विस्तार करती है और कहीं "बर्शे तय करो / किस ओर हो तुम, अब / सुनहले ऊर्ध्व आसन के / दबाने पक्ष में, अथवा / कहीं उससे टुटी-टूटी / अँधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन / कहाँ हो तुम ? ।"[179] कहती हुई राजनीतिक-आचरण के लिए प्रेरित करती है ।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने जीवन के प्रत्येक स्तर पर संघर्ष करते हुए उसे सौंदर्यबोधात्मक परिणतियों तक पहुँचाया है । इसीलिए यह संभव हो पाया है -"मुक्तिबोध की रचना के साथ चलने में हमेशा हम आगे बढ़ जाते हैं और रचना पीछे रह जाती है । हर बड़ी रचना ऐसा ही करती है ।"[182]

यह भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि कई ऐसी कविताएँ भी मुक्तिबोध-काव्य में प्राप्त होती है, जिनमें एक ठेठ देसी पन है, जो प्रेमचंद की याद दिलाता है । "इसी बेलगाड़ी को" "घरने पुराने पड़ गये" (संभवत: अपूर्ण) ऐसी कविताओं के कई अंशों को इस प्रसंग में उद्धृत किया जा सकता है । यह अकारण नहीं है कि केदारनाथ सिंह को ये कविताएँ पढ़कर प्रेमचंद की कहानियों का परिवेश मूर्त होता हुआ जान पड़ा - "इन कविताओं का परिवेश बहुत कुछ प्रेमचंद की कहानियों जैसा ही, जिसमें गाड़ी

---

178. मुक्तिबोध रचनावली-1- पृ-77.
179. मुक्तिबोध रचनावली 6 पृ-341.
180. मुक्तिबोध रचनावली 2 पृ-459

घसीटते किसान हैं, कपड़े फचीटते धोबी हैं, भड़ाह मांजते बच्चे हैं, राहों के अंशांत पीपल और बेर के झाड़ हैं, जरायम पेशा कबीले हैं और इन सब के केन्द्र में एक लंगोट धारी दुबला हिन्दुस्तान है ।"[183]

सूरज के वंशधर [रचनाकाल 21-1-1951] नामक कविता के कई अंश गलत-सही राजनीति की भविष्योन्मुख समझ को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर प्रकट करते हैं —

बीसवीं सदी के सन इक्यावन के साल में
जिंदगी की धज्जियों की पताकाएँ बंदरंग
लहराती हुई आज
क्रोध भरे गहरे इशारों से राह बतलाती है
कि जहाँ से गुज़रीं हैं, अब भी गुज़र रही
बस्तियाँ उजाड़ती हुई
शोध्य की सत्ताएँ ।।
जिंदगी के बोलते हुए बड़े-बड़े खण्डहर
जरायमपेशा उन कबीलों की भाषा व भाव समझाते हैं
कि जिनके खिलाफ, अरे, विद्रोही ज्वाला के
धधकते अंगरों को देखते, निहारते
जो फैले हैं जिन्दगी की राहों में चौराहों में सभी ओर
देखते उस आरक्त किरणों के नूर को
कि चमक रहा है जो
व रास्ते पर चलते हुए गृह हीन
बालकों की स्त्रियों की निगाहों में
कि भावी की बाँहों में
व गृह हीन विद्रोही वर्तमान काल होकर समाज ।
मेरे सह-अनुभवी हज़ारों साथियों के हाथों में
मानवीय संताप की ज्वालाओं के अवलम्ब थमाजा ।।

---

181. मुक्तिबोध रचनावली -2 पृ- 258. चकमक की चिनगारियाँ
182. पूर्वग्रह - 43 मार्च-अप्रैल 81 पृ-11
183. पूर्वग्रह 39-40 जुलाई-अक्तूबर 80 पृ-311

देख ले कि बस्ती के झोपड़ों में लगा आग
नम चुम्बी ज्वालाओं के गंध की प्रकाश में
पढ़ी जा रही है आज
अध्यात्मकी संहिताएँ
राजनीति-ग्रंथ और रोमांस के उपन्यास
गाँवों को जलती हुई
नम चुम्बी ज्वाला के प्रकाश में
भारतीय संस्कृति-विकास किया जा रहा
शोषण के भयानक जबड़ों ने फूँक मार ख
झोपड़ियाँ गिरा दीं व मकान ढहा दिये
झुलसी हुई पुरानी धुलकी हुई रुई के
टुकड़ों सी उड़ती है
मनुष्य के साँवले समूहों की जिंदगी ।
सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
पुरुष उबासता —
धरे हुए टोकरियों में बिल खते बच्चों को
नारियाँ सँवारतीं —
बची-खुची जिन्दगी के कराहते पलों को
सूखी हुई जाँघों की लम्बी-लम्बी अस्थियों
घिसाता हुआ चलता है
लंगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान
रास्ते पर बिखरे हुए
चावल के दानों को बीनता है लपककर
मेरा यह साँवला इकहरा हिन्दुस्तान
सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
रोते हुए बच्चों के कंधे पर बिठाये हुए
जिंदगी को ढोता है बहादुर हिन्दुस्तान

अपने ही पुत्र के मृत प्रेत को उठाये हुए साँवले हाथों में
श्मशान की ओर जाता
दिल में बिलखता हुआ
विचारों का भावों का तूफ़ानी समुंदर हिन्दुस्तान
बेहद के मैदानों में दर्द भरे कण्ठ से गाता है
मानव की पुकार का वह वेदना में
बल खाता अभिप्राय हिन्दुस्तान
साँवली त्वचा से ढँको हुई छाती की
अस्थियों के पंजर में पाले हुए
प्रकाश का शतदल
कि भावी के सपनों की ज्योति को संभाले हुए
मारता है हथौड़ा
यह क्रांति का कारीगर कि वज्रकाय हिन्दुस्तान ।[184]

इस कविता के इतने दीर्घकाय अंश को उद्धृत करने के पीछे हमारा यह अभिप्राय है कि एक तो नागार्जुन की तरह मुक्तिबोध भी तथाकथित आजादी (जिसे हमने सत्ता-हस्तांतरण कहा है) के नकारात्मक संदर्भों से पूरी तरह परिचित थे और दूसरे आत्मबद्ध संघर्ष को बृहत्तर आयाम देने में कई बार तत्पर हुए थे और सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध को समग्रतः प्रस्तुत कर सके थे । वे अच्छी तरह जानते थे कि आदमी सतह से ऊपर तब तक नहीं उठ सकता, जब तक वह यह कर्म के स्तर पर नहीं जान लेता -

ज़माने ने नगर के कंधे पर हाथ रख
कह दिया साफ़-साफ़
पैरों के नखों से या डण्डे की नोक से
धरती की धूल में भी रेखाएँ खींच कर
तसवीरें बनती हैं
बशर्ते कि ज़िंदगी केवल चित्र सी
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो ।[185]

निम्नोक्त पंक्तियाँ भी मुक्तिबोध को नागार्जुन के "शासन की बंदूक" शीर्षक दोहों से पर्याप्त सार्थक ढंग से संबद्ध करती हैं --

"द्वंद्व स्थिति में स्थापित यह
मेरा वज़नदार लोहा
लाल-लाल
उन भयंकर अग्नि-क्रियाओं में
उबलता तेज़ ढकेला जाकर
पिघलते हुए दमकते हुए
तेजः पुंज गहन अनुभव को छोटा-सा दोहा बनता है ।"[186]

वह दोहा इस कविता (रचना काल 58-59) के सात-आठ वर्षों बाद नागार्जुन- द्वारा (खड़ी हो गयी है चाँप कर कंकालों की हूक । नभ में विपुल विराट-सी शासन की बंदूक" आदि) लिखा गया । मुक्तिबोध के लिए कविता "भीतर का रेडियम" है ; "जिस बाहर और भीतर की सारी चुनौतियों के विरुद्ध संभाले रखने का कठिन दायित्व कवि के ऊपर है । कविता के लिए - विशेषतः आज की कविता के लिए "भीतर का रेडियम" एक अत्यंत सार-गर्भित बिम्ब है और जो कवि कला को जीवन-संघर्ष को केन्द्र में रखकर देखने का साहस रखता है भीतर के रेडियम की आँच वही महसूस कर सकता है ।"[187]

मैंने चोरी-चोरी भीतर का रेडियम संभाल रखा है ।"[188]
क्या उपर्युक्त पंक्ति के साथ ही मायकोवास्की की काव्य पंक्ति याद नहीं आती है — "कविता करना रेडियम निकालने की तरह है ।"[189].

वस्तुतः मुक्तिबोध के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की विशेषता ही यह है कि वे अपनी विशिष्टताओं और न्यूनताओं में, प्रत्येक क्षण जागरूक

---

184. मुक्तिबोध रचनावली । पृ-266-267. यह भी ध्यातव्य है कि कविता के अंत में कवि के क्रांति से एकमेक हो जाने बात करता है - नहीं जान पाता कि छूकर मुझे मुझमें ~~समा गयी~~ समा गयी कि / उसमें समा गया मैं । सुनहली काँपती-सी सिर्फ एक लहर रह जाती है । कि जिसे क्रांति कहते हैं / कि कहते हैं, जन क्रांति ।"

185. मुक्तिबोध रचनावली -2 में चाँद का मुँह टेढ़ा है "नामक कविता पृ-310

मिलते हैं । यदि प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध करने में वे कहीं असफल होते भी हैं युग-प्रभाव अथवा "अजनबी" होने की स्थिति के कारण, तो उसकी ओर से आँखें नहीं मूंदते । वे अपने आपको प्रेमचंद का भक्त कहते थे । इस भक्ति के पीछे माँ को प्रेरणादायी गुरु मानकर वे कहते हैं - " × × × यदि मैं, माँ और प्रेमचंद की केवल वेदना ही ग्रहण न कर, उनके चारित्रिक गुण भी सीखता, उनकी दृढ़ता, आत्म-संयम और अटलता को प्राप्त करता, आत्म केन्द्रित प्रवृत्ति नष्ट कर देता और उन्हीं के मनो जगत की विशेषताओं को आत्मसात करता, तो शायद, शायद मैं अधिक योग्य पात्र होता । माँ मेरी गुरु थी अवश्य, किंतु, मैं उनका शायद योग्य शिष्य न था । अगर होता तो कदाचित अधिक श्रेष्ठ साहित्यिक होता, केवल प्रयोगवादी कवि बनकर न रह आता । × × × जब कभी मैं प्रेमचंद के बारे में सोचता हूँ, मुझे अपने जीवन का ख्याल आ जाता है । × × × में आत्म-विश्लेषण में डूब जाता हूँ । आत्म विश्लेषण की मनःस्थिति बहुत बुरी चीज़ है । × × × प्रेमचंद की विशाल छाया में बैठकर आत्म-विश्लेषण की मनःस्थिति मुझे बड़ अजीब ख्यालों में डूबो देती है । लगता कि आज व्यक्ति पहले जैसा ही जीवन-संघर्ष में तत्पर है, किंतु अब वह अधिक आत्म-केन्द्रित और आत्म-ग्रस्त हो गया है । मानो कि इन दिनों वह समाज-परिवर्तन की समाजवाद की, वैज्ञानिक विकास की, योजनाबद्ध कार्य की, अधिक बात करता है । किंतु एक चरित्र के रूप में एक पात्र के रूप में, वह सघन और निबिड़ आत्म-केन्द्रित होता जा रहा है । माना कि आज वह अधिक सुशिक्षित-प्रशिक्षित है, और अनेक पुराण-पंथी विचारों को त्याग चुका है, तथा जीवन-जगत से अधिक सचेत और सचेष्ट है किंतु मानो ये सब बातें, ये सारी योग्यताएँ, ये सारी स्पृहणीय विशेषताएँ, उसे अधिकाधिक स्वयं-ग्रस्त बनाती गयी है ।[190]

---

186. मुक्तिबोध रचनावली-2 ओ अप्रस्तुत श्रोता नामक कविता पृ-105
187. पूर्वग्रह 39-40 जुलाई-अक्तूबर 80 , पृ-310
188. मुक्तिबोध रचनावली-2, ओ अप्रस्तुत श्रोता नामक कविता पृ-105.
189. आलोचना 9, अप्रैल-जून पृ-62.
190. मुक्तिबोध रचनावली-5, "मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया नामक लेख पृ-425-426

उपर्युक्त उद्धरण इस तथ्य को पुष्ट करता है कि शरतचंद्र मुक्तिबोध के साक्ष्य से रामविलास जी ने जो मुक्तिबोध के उलझे हुए व्यक्तित्व आदि की बातें बार-बार रहस्योद्घाटन शैली मे लिखी हैं, वे स्वयं मुक्तिबोध द्वारा भी लिखी जा चुकी थी । जिस "व्यक्ति" की चर्चा ऊपर की गयी है, वह स्वयं मुक्तिबोध है ।

पूर्व में हमने "बचपन" का महत्त्व बतलाया है । वयस्कता की जड़े बचपन में ही गहराई से धँसी रहती है । वे बहुत लाड़-प्यार में पले थे । "बड़े भय्या बहुत लाड़-प्यार में पले थे । पहले दो लड़के गुज़र जाने से माता-पिता उनको आँख से ओझल नहीं होने देते थे । भाई साहब बड़े जिद्दी बन गये थे और रोया करते ।"[191] एक तरफ़ "भावुक, अंतर्मुख, सरल और उदार" बनाता हुआ यह बचपन तो साथ ही आत्म केन्द्रित, जिद्दी और अहम्मन्य भी । फिर "अव्यावहारिक" तो होना ही था । रही-सही कसर इस स्थिति [=प्रदत्त] के प्रति "प्रतिरोध" ने पूरी कर दी । --"लेकिन मेरी प्यारी श्रद्धास्पदा माँ यह कभी न जान सकी कि वह किशोर हृदय में किस भीषण क्रांति का बीज बो रही है, कि वह भावात्मक क्रांति अपने पुत्र को किस "उचित-अनुचित" मार्ग पर ले जायेगी, कि वह किस प्रकार अवसरवादी दुनिया के गणित से पुत्र को वंचित रख कर, उसके परिस्थिति-सामंजस्य को असंभव बना देगी ।"[192]

उन्हें निरंतर सुनना पड़ा - अपनों से और स्वयं से भी -

"सफल जीवन बिताने में हुए असमर्थ तुम ।
तरक्की के गोल-गोल
घुमावदार चक्करदार
ऊपर बढ़ते हुए जीने पर चढ़ने की
चढ़ते ही जाने की
उन्नति के बारे में
तुम्हारी ही ज़हरीली
उपेक्षा के कारण, निरर्थक तुम, व्यर्थ तुम ।।[193]

उपर्युक्त कविता में व्यक्त क्षोभ सृजनात्मक स्तर पर प्रस्तुत होकर यदि तुलसीदास के "धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जो तहा कोहू काउ" कथन की याद दिलाता हो तो यह सहज ही है । "अहंकार समझोया / सुपीरियारिटी काम्प्लेक्स/अथवा कुछ ऐसा ही / चाहो तो मान लो/लेकिन सच है यह / जीवन की तथा कथित/सफलता को पाने की / हम को फुरसत नहीं / खाली नहीं हम लोग /"[194]

उपर्युक्त उद्धरण, साक्ष्य और विवेचन-विश्लेषण इस तथ्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त है कि नागार्जुन और मुक्तिबोध इन दोनों ही कवियों ने शीतयुद्धीय साहित्यिक परिदृश्य में काव्याचरण के धरातल पर अपने को प्रतिरोध-रत रखा । यदि नागार्जुन में अपर वैविध्य मिलता है तो रचनावली के प्रकाशन के बाद मुक्तिबोध में भी "वैविध्य" की कोई कमी नहीं मिलती । यों सामान्य उत्पादन के तरीकों और सामान्य विचार धारा के अंतर्गत होते हुए भी जीवनी और युग के विशिष्ट निजी संदर्भों ने दोनों के कृतित्व को पृथक-पृथक चरित्र दिया, जो सहज-स्वाभाविक था । व्यावसायिकता, संचार-प्रसार साधनों की तथाकथित उन्नति, साहित्य से राजनीति और सामाजिकता को दूर रखने की सैद्धांतिक राजनीति आदि से दोनों ही जूझते रहे ।

किंतु एक अंतर हमें रेखांकित करना ही होगा । आत्म रक्षा के स्तर पर जूझते हुए मुक्तिबोध अधिक प्रासंगिक होंगे । नागार्जुन ने अपने अनूठे घुमक्कड-जीवन में संस्था-चेतना (Institutional consciousness) आदि को परे कर दिया । पूर्व में हम कह चुके हैं कि उन्होंने प्रदत्त का ढंक ही तोड़ दिया । नागार्जुन की रचना-प्रक्रिया को अपनाने के लिए सामान्यतः एक जीवन पर्याप्त प्रतीत नहीं होता । इसी प्रकार ठक्कन का "नागार्जुन" में ऐसा रूपांतरण (जो आर डी लैंग के स्वयं को नेपोलियन कहलाने वाले रोगी को मात कर दें) भी सहज संभव नहीं । --"बहुत दिनों के बाद /अब की मैंने

---

190 मुक्तिबोध रचनावली-5, मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया नामक लेख पृ-425-426

191. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-204 पर उद्धृत

192. मुक्तिबोध रचनावली -5, पृ-425

जी भर तालें मरवाना आया / गन्ने चूसे जी भर / बहुत दिनों के बाद "[195] जैसी पंक्तियाँ लिखने के लिए पालि-प्राकृत अपभ्रंश-संस्कृत आदि का प्रकाण्ड विद्वान, बौद्ध आचार्य भी होना पड़ता है, यह एक अद्वितीय जीवन की ही सौंदर्यबोधात्मक परिणति हो सकती है / मुक्तिबोध की मातृ भाषा मराठी थी और उन्हें आजीविका आदि के लिए एक प्रांत से दूसरे प्रांत भागना पड़ा । प्रस्तुत शोध प्रसंग में हमने आन्नेशका सोनी के नाम उनके पत्र को उद्धृत किया हैं, जिसमें उन्होंने अपने उन्मूलित व्यक्तित्व के बारे में कहा है । वैसी ही, समान स्थितियों में, नागार्जुन के साथ ऐसा नहीं होता है । वे सहज भाव से यह कह सकते हैं —"ऐसा होता है कि स्थायित्व में आजीविका के स्रोत का बहुत बड़ा हाथ होता है । हमने नौकरी की हो नहीं, तब स्थायी गृहस्थी कैसे होती ? × × घुमक्कड होने का यह मतलब नहीं है कि हम घरेलू किस्म आदमी नहीं है । जहाँ रहते हैं वहाँ हमारा घर ही होता हैं । समझ गये ना ? नितांत मने पारिवारिक दृष्टिकोण है हमारा ।"[196]

नागार्जुन ने मैथिली में भी खूब मन से लिखा - "तुम हमारी मैथिली कविताएँ पढ़ो तब, तुम्हें मालूम होगा, हम कौन है और अपनी धरती के बारे में क्या लिखते हैं ।"[197]

यह अंतर रचना-संसार को भी निर्धारित करता रहा है । नागार्जुन के ऐतिहासिक भाग्य (Historical luck) को श्रेय दें कि उन्हें ऐसी अनूठी जिंदगी जीने को मिली या उन्होंने "प्रदत्त" का ऐसा योजनाबद्ध प्रतिरोध किया कि सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर भी "ठक्कन" का कहीं नामो-निशान न रहा । जो भी हो, नागार्जुन का व्यक्तित्व एक ऐसी "द्वंद्वात्मक विजय" को प्रस्तुत करता है, जो हर हाल में असाधारण है । इसीलिए नागार्जुन असाधारण है । इसके बावजूद कि "हम मात्र यही है गाँव-देहात के आदमी और इससे ज्यादा कुछ होना भी नहीं चाहते ।"[198]

---

193. मुक्तिबोध रचनावली-2 "कहने दो उन्हें जो यह कहते है" नामक कविता पृ-312
194. -वही- पृ-318
195. आलोचना 56-57, जनवरी 81 पृ-228 पर उद्धृत
196. " पृ-225.
197. " पृ-227. 198. —वही—

मुक्तिबोध ने मराठी में कोई कविता लिखी हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता । उन्हें हमने निराला के "आत्म संघर्ष" का उत्तराधिकारी कहा था --

"मेरा सिर गरम है
इसीलिए भरम है ।
सपनों में चलता है आलोचन,
विचारों के चित्रों की अवलि में चिंतन,
निजत्व - भाप है बेचैन,
क्या कहूँ किससे कहूँ,
कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन ?.[199]

कहना न होगा कि निराला के परवर्ती युग में यह "आत्म-संघर्ष अपने तीव्र- मंद रूपों में सामान्य परिदृश्य की पहचान है । उस "आत्म-संघर्ष" का साहित्यिक इस्तेमाल भी कम नहीं हुआ है । किंतु मुक्तिबोध "आत्म परकता और वस्तु परकता की साहित्यिक शब्दावली की अपर्याप्तता सिद्ध करते हुए, मनोहरदृश्य, ही चीज़ को अपनी आत्मकथा का जरूरी हिस्सा बना लेते हैं ।"[200]

यही मुक्तिबोध अपने प्रतिरोध में, उस प्रक्रिया में, पाठक के पास आ जाते हैं । साथ ही -"यह भी आकस्मिक ही नहीं है कि मुक्तिबोध अपराध में अपना हिस्सा भर नहीं तलाशते, बार-बार, एक तेज पुंज कर्मठ व्यक्ति भी तलाशते हैं ; उनका कवि, उस व्यक्ति से एकाकार होने के लिए अपनी तमाम रचनात्मक शक्ति लगा देता है । जाहिर है कि मुक्तिबोध का आत्मालोचन, एक साहित्यिक-कर्म या मध्यवर्गीय-व्यक्ति को दिखावटी ग्लानि भर नहीं है ।"[201]

मुक्तिबोध के साहित्य को प्रस्तुत प्रसंग में अस्तित्व संघर्ष का सौंदर्यशास्त्रीय प्रकटन" एकाधिक बार कहा है । नागार्जुन में एक जानकार और सिद्ध कवि हमेशा रहता है, जो पाठक के प्रति पूरी तरह सम्प्रेषणीय होते हुए भी एक सूक्ष्म दूरी का निर्वाह अवश्य ही करना चाहता है । अगर ठक्कन उनकी कविताओं में रहता तो संभवत: ऐसा नहीं होता । इस अर्थ

---

199. मुक्तिबोध रचनावली -2, अँधेरे में नामक कविता पृ-364

में नागार्जुन "प्रक्रिया" रूप से बहुत आगे के सफलता के कवि है । इसीलिए वे जन कवि है । मुक्तिबोध में "सृजनशीलता की अनिवार्य शर्त के रूप में जो प्राणशक्ति (नामवरसिंह) थीं, उसी को निरंतर खोजते और पाते चलने का संघर्ष, मुक्तिबोध का नितांत अपना संघर्ष था । उनके अनुभव का इतिहास अथवा उसकी प्रक्रिया ही उनका साहित्य था । अगर मुक्तिबोध निराशा की नयी दकियानूसी में शामिल नहीं हुए (अशोक वाजपेयी) तो इसलिए कि वे "निराशा की नयी दकियानूसी में इसलिए भी शामिल नहीं हो सकते थे कि इस का विश्वव्यापी प्रचार करनेवाली पश्चिमी राजनीति के साम्राज्यवादी चरित्र से वे परिचित थे । इसलिए भी कि उन्होंने जिस "जन" के साथ रहकर अपनी कविता को जन-चरित्री बनाया था, वह "जन" मध्यवर्ग के सुविधा भोगी संसार की बहस का विषय मात्र नहीं था ।"[202]

"कथ्य" के स्तर पर और सौंदर्य बोधात्मक अंतर्वस्तु के स्तर पर नागार्जुन और मुक्तिबोध पर्याप्त निकट थे । उनकी कविताओं में आयी हुई जगहें और लोग उनके लिए कविताई उपयोग के लिए "कच्चा माल" मात्र नहीं थे । "वे उनके अपने सगे थे । संगेमन की यह भावना मुक्तिबोध के लिए भावुकता की फुरफरी मात्र नहीं थी । मार्क्सवादी-विचार धारा उनके लिए अपने अस्तित्व की जरूरत थी । उससे उन्हें अपने अनुभव के आत्म-विस्तार की दिशा मिली थी ।"[203]

इस स्तर पर आकर मुक्तिबोध का जीवन-दर्शन (मार्क्सवाद) सौंदर्य-दर्शन हो जाता है और हम कह सकते हैं कि निराला के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध को आगे बढ़ाने वाले इन दोनों कवियों ने उस शीत-युद्ध से ग्रस्त काल में "कथ्य" को बचाये रखने में अपने-अपने ढंग से महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । जो अंतर है, वह नितांत भिन्न दो जीवनियों और उनकी सौंदर्यबोधात्मक परिणतियों का अंतर है । यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प के प्रसंग में, डॉ० रामविलास शर्मा को निराला की याद आती है "मुक्तिबोध की छंद योजना, उनके भाषण कौशल पर बहुत जगह निराला की छाप दिखायी देती है ।"[204]

---

200. रचना के साथ, प्रभात कुमार त्रिपाठी, पृ-75
201. -वही-

प्रेमचंद और निराला के प्रभाव के सहारे प्रसाद के प्रभाव (फेण्टेसी) को सृजनात्मक छलांग में बदल कर मुक्तिबोध "मनुष्य के प्रति अपने विश्वास को, अंतर्जगत में, उसके जन्म की और उसे जिलाये रखने की जद्दो जेहद को पूरी यातना के साथ कहते हैं।"[205] इस प्रकार नागार्जुन महान कवि सिद्ध होते है और मुक्तिबोध उनकी पूर्ववती प्रक्रिया के।

कहना न होगा कि हमने द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को ही अपना "पक्ष" कहा है। इस प्रकार इन दोनों कवियों की कविताएँ वाम कविता =आचरण की कविता को, निराला के परवर्ती काल में, विशेषत: सन 67 तक, मज़बूत बनाते चलती है।

नागार्जुन और मुक्तिबोध दोनों ही गीतात्मक संवेदना के कवि है क्योंकि उनका "मैं" पंक्ति-पंक्ति का प्रेरक और फिर उनमें सक्रिय रहता है रचनाओं के प्रकाशन के बाद इतना तो कहा ही जा सकता है कि "चाँद का मुँह टेढ़ा है" से जो एकायामी किस्म का चरित्र की मुक्तिबोधी कविताओं का उभरा था; वह अपर्याप्त था। मुक्तिबोध का ठेठ देसीपन इन पंक्तियों में व्यक्त होता है --

जी हाँ, इसलिए
न मेरी उन से बनती है
जो काली शेरवानी की खोल में
सिर्फ दीवाल हैं
न उन से, जो जब्बे की पोल में
तार टपकाती हुई खाल हैं,
सिर्फ एक मनहूस
बदमिज़ाज बवाल हैं।[206]

---

202. -वही- पृ-78-79
203. वही
204. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-23।
205. रचना के साथ - प्रभात कुमार त्रिपाठी पृ-79-80.

झरने पुराने पड़ गये
उनकी उपमा अब कोई नहीं देता
शायद धोबी दें
जो वहाँ कपड़े फचीटते हैं
या किसान
जो उसमें फँसी हुई गाड़ी घसीटते हैं
लेकिन वे सभ्य नहीं हैं
इसीलिए झरने की उपमा अब लभ्य नहीं है ।[207]

× × ×

जीवन के अपने करघे पर / प्राणों का सूत लिये बुनकर /
बुन रहे मस्त मौला कबीर/जन-जन के लिए नूतन चादर/
इन बेहद के मैदानों में /
दुर्दान्त ऐतिहासिक स्पन्दन/के लाल रक्त से लिखते तुलसीदास आज /
अपनी पीड़ा की रामायण ।" [208]

इस प्रकार के दर्जियों उदाहरण दिये जा सकते हैं । न जातीय बिम्बों-प्रतीकों की कमी है, न नाटकीयता या प्रवाह मयी भाषा की और सब की सब "बेचैनमन की अभिव्यक्ति" से जुड़ कर उसे प्रभावशाली बनाती हुई । एक अंतर्कथा, अँधेरे में या ऐसी ही अन्य सुख्यात कविताओं (चकमक की चिनगारियाँ, अंत:करण का आयतन आदि के साथ अब तो उन कविताओं को भी देखा जा सकता है, जो "रचनावली" में पहली बार प्रकाशित हुई हैं - जैसे - नहीं चाहिए मुझे हवेली" घर की तुलसी, ज़माने का चेहरा, सही हूँ या गलत आदि ।

---

206. मुक्तिबोध रचनावली -2, हर चीज़ जब अपनी" नामक कविता पृ-249
207. -वही- "झरने पुराने पड़ गये" नामक कविता पृ-190
208. -वही- एक प्रदीर्घ कविता शीर्षक से प्रकाशित पृ-336 इस कविता के आरंभ में दी गयी टिप्पणी न सिर्फ इस कविता के बारे में बल्कि मुक्तिबोध की समूची काव्य प्रक्रिया के बारे में बहुत कुछ कहती है - "1954 से 1962 तक लिखी जाती रही इस कविता की रचना और प्रकाशन की यात्रा अपने आप में एक तिलिस्म है । इसके इस मौजूद सम्पूर्ण रूप में चार स्वतंत्र

मुक्तिबोध के कृति-साहित्य को वाम-दृष्टि से देखने पर एक ही तथ्य अखरने वाला प्रतीत होता है और वहाँ "प्रतिरोध" जैसा भी नहीं मिलता । आंतरिकीकृत बाह्य के स्तर पर प्रतिरोध रत होते ~~होते~~ होते हुए भी उसीके एक अंश "परिवार" को वह जसका तस स्वीकार करते हैं । वैचारिक स्तर पर वे परिवार-संस्था के अर्ध-सामंतवादी अर्ध-पूंजीवादी रूप के प्रति किस प्रकार सजग रहे, यह हम देख चुके हैं ; किंतु सृजन-स्तर पर वे उसके प्रति सम्पूर्ण-स्वीकार का रुझान अपनाते हैं ।

यह सही है कि "× × × वे कलाकार की सामाजिक चेतना का सामाजिक विकास आवश्यक मानते हैं । सामाजिक जीवन का केन्द्र बिन्दु परिवार है, अत: सामाजिक चेतना के विकास के लिए वे पारिवारिक जीवन को आवश्यक मानते हैं ।"[209]

इससे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जीवन; जो अनिवार्यत: सामाजिक होता है ;क केन्द्र परिवार होता है । चेतना को हमने आरंभ से ही, बोध-स्तर से ही, सामाजिक माना है तो उसका कारण "परिवार" ही होता है । लेकिन जिसे हमने "सम्मोहन" कहा था ।आर. डी लैंग के साक्ष्य से । क्या उसे भी ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय ?

मुक्तिबोध ने पारिवारिक जीवन को अभिशाप नहीं माना जबकि सारे कारण उपस्थित थे । वे सर्व-सामान्य की सी जिंदगी, जो दुखों से भरी होती है, ही जीते रहे । वस्तुत: इसे इस प्रकार देखा जाना चाहिए कि मुक्तिबोध की "बोध" संरचना में, "परिवार" संस्था पूरी तरह से घुल-मिल गयी थी । यदि सुविधा के लिए विभाजन किया जाय कि शिशु

लगनेवाली और उसी प्रकार प्रकाशित होनवाली कविताएँ समाहित हैं "एक प्रदीर्घ कविता का प्रास्ताविक" इस नगरी में, "डूबता चाँद कब डूबेगा" और "कल जो हमने चर्चा की थी" । × × × यद्यपि यह पूरी कविता अपने समग्र रूप में एक ही पाण्डुलिपि में कवि के हस्ताक्षर में उपलब्ध है ।"

209. मुक्तिबोध का साहित्य-विवेक और उनकी कविता - तल्लन राय
पृ- 27

को "प्रदत्त" के रूप में दो ही "बोध" प्राप्त होते हैं -(1) संवेदनात्मक लगाव और (2) संवेदनात्मक अलगाव । निराला और नागार्जुन का शैशव मातृ-विहीन रहा । मुक्तिबोध को इसके विपरीत भरपूर मानवीय स्थितियाँ मिली । माता-पिता दोनों के ही प्रति वे संवेदनात्मक लगाव से ओतप्रोत थे । "बाहर अर्दली संभालने और घर पर नानी.....पिता जी रियासती पुलिस सबइंसपेक्टर थे, यानी गाँव के राजा थे । इसलिए भाई साहब की खुशामद सब जगह होती थी । जब वे कुछ बड़े हुए, तक उन्हें बाबू साहब कहकर पुकारने की माँ ने आज्ञा दे दी । × × × जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया, बौद्धिक और तटस्थ नहीं थी, तीव्र भावनात्मक होती थी.... ऐसी आत्मलीन प्रवृत्ति, मनकी ऐसी उड़ान, और निजी परिस्थिति के सम्बन्ध में ऐसा गहरा अज्ञान कि उस का पल्ला वार लगते ही भाई साहब का व्यक्तित्व दुखी नजर आने लगा । × × × वे अपने मूड के शिकार थे और उन पर रोक लगाने वाले हर व्यक्ति को उस क्षण के लिए दुश्मन मानते थे × × × अनेक तरह के संदेह और संशय उनके मन को ग्रस्ती किये रहते थे । उनकी आत्यंतिक भावुकता भी कभी कभी उनकी दृष्टि बदल देती थी...[210]

शरच्चंद्र मुक्तिबोध का उपर्युक्त संस्मरणांश इस तथ्य को सूचित करता है कि "बोध" अथवा "मैं-बोध" के सार पर वे "लगाव" ही पा सके थे । संस्था-चेतना के प्रति वे आलोचनात्मक रुख इसीलिए नहीं अपना सके । यह सच है कि माता-पिता को गाली देना, विघटित परिवारों से अलग होने के नाम पर सारे समाज और सामाजिक जीवन से अपने को काट लेना आदि प्रवृत्तियाँ नयी कविता और बाद के कवियों में बहुतायत से मिलती है ।

वाम-दृष्टि प्रतिरोध की सिफारिश करती है । निश्चित ही "प्रदत्त" परिवार के प्रति सरोकार सृजनात्मक प्रतिरोध का होना चाहिए । नयी कविता और बाद में अकवितावालों ने अंध-विरोध (भर्त्सना, निंदा, गाली निकालना आदि) का जो रास्ता अपनाया, वह निस्संदेह अव-

---

210. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा पृ-204 - 205 पर उद्धृत ।

द्वंद्वात्मकीकृत सम्बन्ध का सूचक था । किंतु भावुक दृष्टि से उसे ऐश्वर्यीकृत (Glorified) करना अंध-समर्थन ही कहा जायेगा । "साहित्यिक की डायरी में यंत्र-तंत्र वैचारिक स्तर पर उक्त संस्था के प्रति आलोचनात्मक विचार व्यक्त करते हुए भी अनुभूति-भावना के स्तर पर वे कभी प्रश्न-चिह्न नहीं लगाते । इससे विपरीत वे सिफारिश करते हैं - "अधिकतर लेखकों में नितांत वैयक्तिक स्तर पर वैकल्य भावना है, जिसका कारण संभवत: यह है कि वे विवाहहीन हैं - या जिनकी औरत मर गयी है - या बाल-बच्चेदार नहीं हैं × × × इन महोदयों के जीवन में जिसे पारिवारिक सुख कहा जाता है, वह नहीं है । × × × इस प्रकार वे सिर्फ अपने लिए रह रहे हैं । × × × इनका "आधुनिक मानव" पारिवारिक व्यक्ति नहीं होता । × × ×

"पारिवारिक व्यक्ति" को "हर कदम पर समाज के दर्शन होते हैं ।"[211] नयी कविता के तथाकथित "अद्वितीय" व्यक्ति की स्थापना के पीछे सक्रिय शीतयुद्धीय दृष्टि ही मुक्तिबोध के ऐसे कथन की प्रेरणा रही है ।

किंतु प्रस्तुत शोध प्रसंग में "परिवार" का वर्तमान रूप आंतरिकीकृत होकर कितना घातक हो सकता है, उसकी विवेचना हो चुकी है । माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी और अन्य प्रदत्त पारम्परिक पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति क्या सृजनात्मक सरोकार रखा गया है - यह महत्वपूर्ण है । "पिता मेरे" और "पित: तुम्हारी आती है याद जब" कविताओं में "पिता" का पारिवारिक रूप नहीं उभरता बल्कि मुक्तिबोध के आंतरिकीकृत "पिता" का गौरवशाली छवि इस सीमा तक ज्वाजल्यमान होकर उभरती है कि कहीं अन्यत्र कहा गया "पिता जी देवता है, माँ मेरी गुरु है "[212] कथन साकार होता है । माँ का अवश्य ही सृजनात्मक रूपांतरण मुक्तिबोध में मिलता है । विशेषत: "एक अंतर्कथा" में अग्नि के काष्ठ / होती माँ" के रूप में । यदि मुक्तिबोध की कविता पाठक के रागात्मक संसार पर अत्यधिक प्रभाव डालने में (-सौंदर्यबोधात्मक) सक्षम हो सकी है तो इसका श्रेय "माँ" के साथ उनके आत्मीय सम्बन्धों को दिया जाना चाहिए ।

मुझमें दुविधा
पर माँ की आज्ञा से समिधा
एकत्र कर रहा हूँ
× × ×
आगे-आगे माँ
पीछे मैं,
उसकी दृढ़ पीठ ज़रा-सी झुक
घुन लेती डण्ठल, पल भर रुक
× × ×
सपने से जगकर पाता हूँ सामने वहीं
बरगद के तने-सरीखी वह अत्यंत कठिन
दृढ़ पीठ अग्रगामी माँ की
युग-युग अनुभव का नेतृत्व
आगे-आगे
मैं अनुव्रत हूँ ।"

सही वक्त पर माँ की छवि डाँटती भी है -

"तब देव अब जिप्सी भी
केवल जीवन-कर्तव्यों का
पालन न हो सके इसीलिए
निज को बहकाया करता है ।
चल इधर, बीन रख दी टहनी
सूखी डालें,
भूरे डण्ठल,
पहचान अग्नि के अधिष्ठान
जा पहुँच स्वयं के मित्रों में
कर ग्रहण अग्नि-भिक्षा
लोगों से पड़ोसियों से मिल ।"[213]

---

211. मुक्तिबोध रचनावली - 4 पृ- 166-167
212. " - 5 पृ-425

माँ और पिता के प्रति उनके आत्मीय सम्बन्धों के रूप "अँधेरे में" जैसी कविता में उपमा-रूपक के धरातल पर भी प्राप्त होते हैं

"लोकहित-पिता को घर से निकाल दिया,
जन-मन-करुणा-सी माँ को हकाल दिया ।[214]

"परिवार" आंतरिकीकृत होकर ही व्यक्ति के भावी पारिवारिक जीवन को निर्धारित करता है । मुक्तिबोध की त्रासदी इस अर्थ में निराला और नागार्जुन से भिन्न रही कि वे बचपन के नाम पर "प्रेम" [पारिवारिक] को ही याद कर सकते थे जबकि नागार्जुन को "ठक्कन की वितृष्णा" और निराला को "पिता द्वारा पिटाई" ही याद आती थी । बाद के सौंदर्य बोधात्मक जीवन में परिवार का कितना महत्व रहा, इसके लिए मुक्तिबोध की जब प्रश्न-चिह्न बोलता उठे नामक कविता को देखा जा सकता है । वैचारिक स्तर पर "परिवार" नामक संस्था के घातक रूप को जानते हुए भी सृजन के स्तर पर उसे ऐश्वर्यीकृत रूप में स्वीकार, यदि एक विरोधाभास को प्रकट करता है तो उसे परिवार को कोसते कवियों के प्रति प्रतिरोध में भी देखा जाना चाहिए । यों "प्रदत्त" परिवार" को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर पुनर्रचित करके उन्होंने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का एक उदाहरण तो प्रस्तुत किया ही ।

संस्थाबद्ध चेतना के सम्बन्ध में किया गया पूर्व-विवेचन यह प्रश्न पूछने का अवसर और आधार भी देता ही है कि क्या मुक्तिबोध के अस्तित्व-संघर्ष-सौंदर्यबोधात्मक संघर्ष में "प्रदत्त" परिवार ने आंतरिकीकृत रूप में नकारात्मक भूमिका नहीं निभायी ? संभवत: उत्तर "हाँ" में प्राप्त हो किंतु जिस करुणा के लिए हम मुक्तिबोध के काव्य को अधिक निकट पाते हैं, वह उक्त परिवार द्वारा ही प्रदत्त थी ।

---

213. मुक्तिबोध रचनावली - 2 "एक अंतर्कथा" नामक कविता पृ-153-159
214. -वही- "अँधेरे में" नामक कविता पृ-363.

यों नयी कविता के परिवार-निंदक युग के बीच मुक्तिबोध का परिवार-समर्थन तत्कालीन शीतयुद्ध के प्रति प्रतिरोध था । यह भी भरपूर संभावना है कि लगभग शिजोफ्रेनिया की स्थिति में जीते हुए मुक्तिबोध के लिए आंतरिकीकृत पारिवारिक सम्बन्ध मनोचिकित्सा-धर्मी रहे हों ।

निष्कर्षत: हम मुक्तिबोध को संस्थाबद्ध चेतना के सिलसिले में नागार्जुन से अलग स्थिति में पाते हुए भी सौंदर्यबोधात्मक परिणतियों में उनके निकट पाते हैं क्यों कि "करुणा" की भावना दोनों के काव्य की प्रमुख चारित्रिक विशिष्टता है और वह "करुणा" को नष्ट करनेवाली साम्राज्यवादी-पूंजीवादी शक्तियों के प्रतिक्रोध-व्यंग्य में बदल कर उन करुणा वानों को भी अपना निशाना बनाती है, जो मानव-मात्र के प्रति "करुणा" की अमूर्त और वर्ग-बोध-विहीन भावना के प्रचारक होते हैं ।

एक अतिरिक्त विस्तार से नागार्जुन और मुक्तिबोध के रचनागत संदर्भों का सर्वेक्षण करलेने के पश्चात प्रस्तुत शोध-प्रसंग की दृष्टि से अन्य रचनाकारों का पृथक-पृथक् विवेचन स्वयमेव अर्थ हीन सिद्ध हो जाता है । जिन आधारों पर उक्त दोनों को विवेचित विश्लेषित किया गया है, वे ही अन्य रचनाकारों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं । नामोल्लेख की परंपरा का हम इस शोध के लिए कोई औचित्य नहीं समझते । पूर्व अध्याय में विवेचित तीन महत्वपूर्ण कवियों की चर्चा करते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि पिष्ट पेषण न हो । वे तीन कवि है - शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल ।

सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध के संदर्भ में शमशेर बहादुर सिंह के काव्य को जाँचने परखने के लिए जाब बातें आवश्यक हो सकती हैं, उनमें से कुछ को हम पूर्व-अध्याय में प्रस्तुत कर चुके हैं । यहाँ इतना हम जोड़ना चाहेंगे कि उनके काव्य ने उस "विस्मय" को कभी विस्मृत नहीं किया, जो मनुष्य के इस पृथ्वी पर होने की स्थिति से अनिवार्यत: जुड़कर जिस प्रकार कला को संभव करता है, उसी प्रकार राजनीति को भी । मेराज्ञी के साक्ष्य

से "राजनीति को कला" हम कह चुके हैं । उस "विस्मय" के पीछे अर्थात कला और राजनीति की पृष्ठ भूमि में सक्रिय "इंद्रिय-बोध" के महत्व को या तो नहीं पहचान कर या उसके यांत्रिक ढंग के स्पष्टीकरण के प्रयत्न में कई-कई महानुभाव बुरी तरह से असफल हुए हैं और कहना न होगा कि इस दयनीय असफलता के दृश्य आज भी देखने को मिलते हैं ।

बहुत पहले मुक्तिबोध ने लिखा था — "लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एक कारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है । अभी तक पाठकों और आलोचकों की आत्म-चेतना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे अपने जीवन में प्राप्त विभिन्न भावना-प्रसंगों के अंतर्गत स्वयं द्वारा भोगी गयी संवेदनाओं के विभिन्न उलझे हुए रूप, गुण और प्रभाव पहचान पाये ।"[215]

यह यदि सन 58 से पूर्व सच था [शमशेर - मेरी दृष्टि में नामक लेख से यह उद्धरण लिया गया है, जो "कृति" में अक्तूबर 58 को प्रकाशित हुआ था ।] तो आज उससे कहीं अधिक सच है । प्रस्तुत शोध प्रसंग में आलोचक को "भोगा हुआ होना चाहिए" आदि कहा जा चुका है । शमशेर के "कथ्य" से दूरी होने के कारण ही इस प्रकार के कथन कहे जा सकते हैं —"आश्चर्यजनक नहीं कि - शमशेर जिन कारणों से "आदर्श" और "विशेष" कहे जा रहे हैं, वे विकसित होकर मुक्तिबोध के विरोध का मार्ग प्रशस्त करें और शमशेर बहादुर सिंह अंततः मुक्तिबोध एवं उनकी परम्परा के विरुद्ध एक चालू तर्क के रूप में अपना दुर्भाग्यपूर्ण अंत देखें । × × × शमशेर एक ऐसे अभागे हैं, जिन पर दोस्तों तक ने आक्रमण नहीं किया । उनकी भूलों और भटकावों को तार्किक संगति प्रदान करने के लिए सिद्धांतों को सिद्धांत हीनता की सीमा तक लोचदार बनाया गया । उनके जाम और ठस जोड़ों को लेहा कहकर गौरवान्वित किया गया और भावुक शमशेर आत्ममुग्ध अवसान की ओर लुढ़कते गये । एक सादा सवाल कभी पूछा मित्रों ने शमशेर से कि - कौन हैं आपकी कविताओं के पाठक ? इतने

---

215. मुक्तिबोध रचनावली -5 पृ-434.

ऊँचे सिंहासन से इतनी नर्म और मीठी गोलियाँ किसे बाँट रहे हैं आप ? × × × शमशेर मुक्तिबोध के प्रयत्न को पीछे धकेलते हैं × × × वे नागार्जुन और त्रिलोचन के समक्ष एक निरंकुश व्यवधान की तरह उपस्थित होते हैं :"[214]

आलोचना में अब-द्वंद्वात्मक दृष्टि किस सीमा तक घपले कर सकती है, इसका एक उदाहरण ही उपर्युक्त उद्धरणों जैसे दसियों उद्धरणों से भरा-पूरा, विजयकांत का लेख सिद्ध होता है । कहाँ तो मुक्तिबोध कह रहे थे -- "सच तो यह है कि शमशेर के पास जादूई की मिया गिरी नहीं है, वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण है । × × × शमशेर का काव्य एकदम खरा है, अपने विशेष गुणों के कारण मौलिक है, अपने शिल्प के कारण अद्वतीय है और ये ही बातें उन्हें श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती है ।"[215] और कहाँ विजयेकांत शमशेर के विरुद्ध उन्हीं को खड़ा कर रहे हैं ।

एक अन्य स्थल पर मुक्तिबोध ने एक भिन्न संदर्भ में लिखा - "शैली व्यक्तित्व का प्रकाश है, जो उसकी स्वाभाविकता को सिद्ध करती है । × × × जो कवि अपने भाव-विचारों के लिए अपनी स्वयं की शैली पा लेता है, [illegible] सिद्ध कवि है ।"[218]

एक संघर्ष की बात हमने मुक्तिबोध के संदर्भ में की है - एक भिन्न चरित्र के किंतु उतने ही महत्वपूर्ण संघर्ष के दर्शन हमें "शमशेर में मिलते हैं । सन 51 में प्रकाशित "दूसरा सप्तक" में कह रहे थे -"कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज़ नहीं हो सकती और इतिहास आज इन संघर्षों का साथ दे रहा है ।"[219] उसी वक्तव्य में वे नागार्जुन की कविताओं में "अपने स्वर का योग देना" पाने की बात लिखते हैं । आपने लिए और सामान्यत: कवियों के लिए वे आवश्यक समझते हैं -"अपने चारों तरफ़ की ज़िंदगी में दिलचस्पी लेना, उसको ठीक-ठीक यानी वैज्ञानिक आधार पर हमारे नज़दीक यह वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है समझना

---

215. मुक्तिबोध रचनावली पाँच पृ-434
216. अर्थात -6, "कलावादी पुनरुत्थान के प्रसंग में शमशेर से साक्षात्कार" नामक लेख विजयकांत पृ-5-6 और 17
217. मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ-437

और अनुभूति और अपने अनुभव को इसी समझ और जानकारी से सुधारकर सुलझा कर स्पष्ट करके, पुष्ट करके अपनी कला-भावना को जगाना ।[220]

किंतु इससे अधिक महत्वपूर्ण और विचारोत्तेजक वक्तव्य है - "कवि का कर्म अपनी भावनाओं में, अपनी प्रेरणाओं में, अपने आंतरिक संस्कारों में, समाज सत्य के मर्म को ढालना - उसमें अपने को पाना है, और उस पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है, जहाँ तक वह कर सकता हो । मैं जितना महत्व ऐसी अभिव्यक्ति को देता हूँ - कवि के जीने मात्र के लिए मैं उसे जितना महत्व-पूर्ण समझता हूँ - उतना उसके प्रकाशन को नहीं । कला के प्रकाशन को वास्तव में मैं कोई महत्व नहीं देता ।[221]

शमशेर के लिए, कला, कलाकार की निजी होकर ही कालांतर में औरों की हो सकती है - "अगर वह सच्ची है, कला- पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ओर से । वह अपने-आप प्रकाशित होगी । और कवि के लिए, वह सदैव कहीं न कहीं प्रकाशित है । अगर वह सच्ची कला है, पुष्ट कला है ।"[222]

श्रीकांत वर्मा ने शमशेर और मुक्तिबोध को "हिन्दी कविता के दो छोर" कहा है । उनके अनुसार "फिर भी दोनों के व्यक्तित्व में कुछ समानताएँ हैं । दोनों को कुछ ऐसी चीज़ों, आकारों, धारणाओं से मोह हैं जो अपनी स्थिति के कारण उनके रचना-संसार का अंग नहीं बन सकती । × × × मुक्तिबोध जो नहीं थे वह होना चाहते थे । मगर उन्हें इस बात का एहसास था कि वे वह नहीं हैं जो वह होना चाहते हैं । शमशेर के विषय में निश्चय के साथ यह बातें नहीं ~~कीजें~~ कहीं जा सकती कि उन्हें इस बात का एहसास है कि वह नहीं है जो वह होना चाहते हैं ।"[223]

---

218. वही, "मध्य प्रदेश की कहन शैली" नामक अपूर्ण लेख । पृ-420 । याद करना प्रासंगिक होगा कि "घिर गयी है समय की रथ कहीं / लालिमा से मढ़ गया है राग ।" पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए राम विलास शर्मा ने उन्हें सिद्ध कवि कहा था । नयी कविता और अस्तित्ववाद पृ-91

219. दूसरा सप्तक सं० अज्ञेय, पृ-84-85

220. —वही— 88

221. कुछ और कविताएँ - शमशेर - भूमिका पृ-5। 222. वही

P.T.O.

किसी कवि की कविता पर कुछ कहना, कहने वाले के जीवन-दर्शन (राजनैतिक दर्शन भी) की भी अभिव्यक्ति होता है। "अपने से बृहत्तर" होने में ही सौंदर्यानुभूति को परखने की बात मुक्तिबोध ने की है। यदि कवि एक प्रक्रिया है (जो कि वह है ही) तो "है" और "होना चाहता है" को अंतिम कथन के अथवा स्थिर रूप में व्यक्त करने के क्या अर्थ? यदि दूसरा सप्तक से उद्धृत कथन शमशेर की "कामना" को व्यक्त करता है तो यह कहना कि "अपनी काव्य-कृतियाँ मुझे दर-असल सामाजिक दृष्टि से कुछ बहुत मूल्यवान नहीं लगती। उनकी वास्तविक सामाजिक उपयोगिता मेरे लिए एक प्रश्न-चिह्न-सा ही रही है, कितना ही धुंधला सही।"[224] यों फिर इसी वक्तव्य का समान इस कथन के साथ होता है - "काव्यकला-समेत जीवन के सारे व्यापार एक लीला ही है - और यह लीला मनुष्य के सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिये निरंतर संघर्ष की ही लीला है।"[225]

एक स्वाभाविक संकोच और नम्रता को अवश्य ही यह कथन व्यक्त करता है किंतु एक और वातावरण का यह दबाव भी रहा — × × × पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में कविता के सामाजिक मूल्य की ऐसी धारणा विकसित हुई है, जो सामाजिक संघर्ष में कविता की हिस्सेदारी की बहुत सीमित और स्थूल परिभाषा करती है और अगर किसी कविता में तथाकथित सामाजिकता का सीधे सीधे दीखने और समझ में आनेवाला साक्ष्य न हो तो उसकी सामाजिक उपयोगिता मानने से इंकार करती है।"[226]

एक तो "सामाजिक" की अवधारणा को यांत्रिक ढंग से देखने और लागू करने का आग्रह इस सीमा तक मिलता रहा है - विशेषतः मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की अधूरी समझ के कारण कि शमशेर जैसे कवि एक अपराध-बोध या संशय-बोध से वृथा ही ग्रस्त रहते हैं। जीवन के लिए उपयोगी होने को बस करके आँकना और स्थूल ढंग से सामाजिक-राजनीतिक उपयोग को बढ़ा-चढ़ा कर आँकना एक तो खंडित दृष्टि का सूचक है और

---

226. पूर्वग्रह 12-13, जनवरी-अप्रैल, 76, "तीसरे संसार की जरूरत" नामक लेख - अशोकवाजपेयी पृ-9. इस लेख में अशोक वाजपेयी ने बड़ी कुशलता से कविता - विशेषतः शमशेर की कविता के संदर्भ में - कविता के सामाजिक

दूसरे, उसी विवादी परिदृश्य द्वारा ज़ब्ब कर लिया जाना है, जो छद्म विवादों के माध्यम से सही मुद्दों को पीछे धकेलता रहता है । शमशेर की "कविता अपनी अवधारणा में चित्रकला है और अपने प्रभाव में संगीत है । उसे केवल कविता कहना उसकी उपलब्धियों को छोटा करना है ।[227] दूसरे सप्तक के अपने वक्तव्य में ही शमशेर ने बल देकर कहा था —"ललित कलाएँ काफ़ी एक दूसरे में समोई हुई हैं । तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता - इन सब में, बहुत कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोल कर कुछ छिपाकर कही जाती है । मगर इनके ये अलग-अलग ढंग दरअसल एक दूसरे से ऐसे अलग-अलग नहीं है, जैसे कि अमरीका और ब्रह्मदेश से लगते हैं ।"[228]

इसके साथ ही "कवि को जाती दिलचस्पियाँ, दूसरी भाषाओं के ज्ञान" आदि की ज़रूरत बताते हुए उन्होंने लिखा है - "भाषा और कला के रूपों का कोई पार नहीं है । हम-आप ही अगर अपने दिल और नज़र का दायरा तंग न करलें तो देखें कि हम सबकी मिली-जुली जिंदगी में कला के रूपों का खजाना हर तरह बेहिसाब बिखरा चला गया है । सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-दिन होता रहता है । अब यह हम पर हैं, खास तौर से कवियों पर, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अंदर बुला सकते हैं ।"[229]

सच है कि शमशेर की कविता "जीवन का समारोह" करती है । "हँस" काल को याद करते हुए शमशेर ने "उदिता" की भूमिका में लिखा है - "उस ज़माने में मैंने अपनी घोर वैयक्तिक अतार्किक भावुकता, रोमानी आदर्शवाद आदि से रचनात्मक संघर्ष शुरू कर दिया था और मार्क्सवादी मॉडल प्रबल रूप से मुझे अपनी ओर खींच रहे थे ।"[230]

उपयोग को भाषा, लय, जीवनछवियों और प्रतीक व्यवस्था पर आधारित करते, उस मूल्य-दृष्टि को उसकी आमनवीय प्रामाणिकता में जीवन बनाये रखने का कार्य-भार भी संभालने से जोड़ कर देखा है, जो बुनियादी रूप से जीवन-दृष्टि (Life vision) होती है ।

227. —वही- श्रीकांतवर्मा का लेख पृ-81

शमशेर की कविता को इसी "रचनात्मक संघर्ष" के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। शमशेर की अपने "कवि कलाकार" से शिकायत या "मैंने कभी कोशिश नहीं की, कि मेरी चीजें छपें या लोग उन्हें पढ़ें ही पढ़ें" अथवा अगर मेरी वाणी में इंसान का दर्द है - छोटा-सा ही दर्द सही, मगर सच्चा दर्द - भावुकता, ललक, आकांक्षा, तड़प और आशा, कभी घोर रूप से निराशा भी लिये हुए, कभी उदासी, कभी-कभी उल्लास भी —— एक प्रेमी कवि-कलाकार, एक मध्यवर्गी भावुक नागरिक का, जो मार्क्सवाद से रोशनी भी ले रहा है और सांस्कृतिक और धार्मिक विविध-परम्पराओं में अपनी नैसर्गिक शक्ति और ऊर्जा के स्रोत भी (अपनी सीमा में अपनी शक्ति भर) तलाश कर रहा है : एक ऐसा व्यक्ति जिसको सभी देशों, सभी धर्मों और सभी भाषाओं और साहित्यों से प्यार है और सबसे अपने दिल को जोड़ता है (प्रेम की भावुकता ने जो बीज बोया, वह मैं देखता हूँ अकारथ नहीं गया ; क्योंकि पूरी मनुष्य जाति से प्रेम, युद्ध से नफ़रत और शांति की समस्याओं से दिलचस्पी - ये सब बातें उसी से धीरे-धीरे मेरे अंदर पैदा हुई। [231]

कठिनाई यह कि मात्र साहित्य के घेरे में बद्ध पाठक - आलोचक उस रचनात्मक संघर्ष को देखने तक में अक्षम सिद्ध होता रहा है।

श्यामल कश्यप ने सही तौर पर शमशेर के मार्क्सवाद को "ओढ़ा हुआ बताने वाले" बुर्जुआ आलोचकों और उन्हें "रूपवादी" कहनेवाले कठमुल्ला मार्क्सवादी आलोचकों की भ्रांतधारणाओं का पर्दाफाश किया है। अपनी रचनाओं की "सामाजिक उपयोगिता" पर खेद करते शमशेर वस्तुत: ऐसी भ्रांत धारणाओं के प्रभाव में होते हैं। " शमशेर की सभी कविताएँ उनके विश्व-दृष्टि कोण से सम्पृक्त और उनके काव्य-संसार का अंग है, चाहे वे किसी भी दौर की और चाहे किसी भी शैली में लिखी हुई क्यों न हो। उन्हें इससे काटकर उन पर अलग से विचार नहीं किया जा सकता है।" [232]

---

228. दूसरा सप्तक सं० अज्ञेय पृ- 87.
229. दूसरा सप्तक सं० " पृ- 87-88
230. उदिता - शमशेर - भूमिका
231. वही

"कला" के शमशेर इस प्रकार परिभाषित करते हैं - "संगीत की धारा / मोड़ देती है शमशेर की धार / × × × कला सबसे बड़ा संघर्ष बन जाती है / मनुष्य की आत्माका / प्रेमका केवल कितना विशाल हो जाता है / आकाश जितना / और केवल उसी के दूसरे अर्थ सौंदर्य हो जाते हैं । मनुष्य की आत्मा में । / × × × युद्ध को सबसे अधिक भय संगीत से है । [क्यों कि वह कहीं न कहीं अटामिक पिस्कोट को / वश में कर लेता है] /[233]

लूनाचार्स्की (Lunacharsky) ने भी तो कहा है - संगीत और क्रांति गहराई से सम्बन्धित होती हैं ।"[234]

जिस अर्थ में संगीत की क्रांति के लिए उपयोगिता हो सकती है, जीवन के लिए उपयोगिता हो सकती है, उसी अर्थ में शमशेर की कविताएँ उपयोगी है । यों "उपयोगितावाद" दूर तक पूंजीवाद स्थूल दृष्टि को ही व्यक्त करता है ।

जिंदगी को "समग्र" रूप में प्यार करनेवाले कवि को कैसे सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी कहा जा सकता है ? "शमशेर जी की तरह जिंदगी को भरपूर प्यार करने वाले कवि और उसके लिए प्राण-पन से संघर्ष करनेवाले कवि कम हैं । शमशेर जी का प्रेम और सौंदर्य उनके संघर्षों से छूंछा नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे उनका संघर्ष भी प्रेम और सौंदर्य के मानवीय मूल्यों की रक्षा के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा है । कला इस ऐतिहासिक संघर्ष का एक नाजुक क्षेत्र है ।"[235]

प्रस्तुत शोध प्रसंग के संदर्भ में हम शीतयुद्ध का परिप्रेक्ष्य ले रहे हैं । निश्चित है कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ कभी नहीं चाहेंगी कि व्यक्ति "जिंदगी" से प्रेम और सौंदर्य के स्तर पर जुड़े क्यों कि "जिजीविषा" का

---

232. आलोचना 56-57, श्यामकश्यप का शमशेर की कविता विकास की तीन मंजिलें "नामक लेख" पृ-50.

233. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह पृ-44-45

234 Music and revolution are deeply related -Lunacharsky - quoted in Marxist - Leninist Aesthetics and life - by G.Yermed.1 Kuli Kova and A. Zis P.269.

सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण संभव हो जाय तो व्यक्ति "वर्तमान" को भविष्योन्मुख रूप में अवश्य देखेगा और फलतः सामूहिक कार्रवाई = क्रांति से जुड़ेगा । यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस नाजुक मोरचे पर लड़ती हुई और उस लड़ाई को अभिव्यक्ति देती हुई शमशेर की कविताएँ शीतयुद्ध के प्रति बहुत गहराई से, सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध करती है ।

अपने "जीवन" (सामाजिक-राजनीतिक आदि) को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर जीते हुए शमशेर "क्रोध" और व्यंग्य के कवि नहीं हो सकते थे । यदि "क्रोध" हो तो भी वह अपनी प्रेरणा "करुणा" के स्तर पर ही व्यक्त होता है । "सत्यमवजयते" जैसी कविताओं की समग्र असफलता इसी के चलते हैं कि शमशेर की यह कविता "क्रोध" व्यक्त करना चाहती है । —"हमारे होंठ अस्सी करोड़ गुना बल से / भिंच गये हैं / वर्ना जाने क्या क्या चबाडा लेंगे ।"[236]

श्रीकांत वर्मा की टिप्पणी सही है —"जिन्हें संबोधित कर यह कविता लिखी गयी है, वे इसे पढ़कर मात्र इतनी ही टिप्पणी करेंगे - "शमशेर का गुस्सा सर आँखों पर ।"[237]

जिस ऐतिहासिक संघर्ष के कला-रूपी नाजुक मोरचे पर शमशेर लड़ रहे हैं, वह आंतरिकीकृत होकर शमशेर का निजी संघर्ष भी बन गया है । "अपराध-बोध उसी का लक्षण है । यों परिवार-बचपन और मध्यवर्ग से के संदर्भ में अपराधबोध स्वाभाविक ही है क्यों कि एक सही वयस्कता को पाने के रास्ते में यह अर्ध सामंतवादी अर्ध-पूंजीवादी व्यवस्था, निश्चित ही (परिवार के माध्यम से) रोड़े खड़े करती है । लेकिन क्या इस स्थिति का निष्क्रिय स्वीकार श्रेयस्कर होगा । "यदि कोई कवि या लेखक घटनाक्रम को बदल सकने में असमर्थ है तो उसे स्थिति को स्वीकार करना चाहिए ।"[238]

---

235. आलोचना 56-57, पृ-58.

236. चुका भी हैं नहीं मैं - शमशेर बहादुरि सिंह - पृ- 39. यह कविता भारत चीन युद्ध पर लिखी गयी है । वास्तविक युद्ध के पीछे सक्रिय राजनीतिक दाँव-पेंचों को न समझकर, इस द्वारा संचालित शीतयुद्ध का शिकार हो जाना भी इस कविता से सिद्ध होता है ।

सृजन कर्म में भण्डी के प्रवेश की बात की जा चुकी है । कि-वातावरण में यों भी शमशेर की रचना-प्रक्रिया सहज ही "प्रतिरोध-धर्मी है । एक यूतोपिया निजी स्तर पर उनके यहाँ भी सक्रिय है । "मैडोल रहा हूँ जहाँ / वहाँ / एक जहान जैसे डोल रहा है / अरे / उसे प्रकाशन नहीं चाहिए - नहीं, कतई नहीं / . . . . बड़ी से बड़ी कृति यहाँ तो / कोई बड़ा ही कीमती इश्तहार है / आदमी कोई आधुनिक बाज़ार है जितना ही बड़ा आर्टिस्ट जो है / उतना ही बड़ा पत्रकार है /" आगे शमशेर इस व्यावसायिक दुनियाँ का सौंदर्यबोधात्मक अतिक्रमण इस प्रकार करते हैं -मेरी दुनिया सहज ही इनसे दूर-पर कहीं गुम हो गयी है । / वहाँ अभी बस्तियाँ नहीं बसायी गयीं / वहाँ अभी बस्तियाँ नहीं बसायी गयीं / × × × वहाँ सब कुछ सब कुछ निवारण है / जो, जो कुछ है, वही है ।[240]

जो है और जो होना चाहिए का द्वंद्व उनके भीतर तीव्र है । यह द्वंद्व रचनात्मक धरातल पर लगातार सक्रिय रहा है । कहना न होगा कि शमशेर ने उसे सायास सक्रिय रखा है । इस सायास आचरण के पीछे एक आस्था है / वह आस्था इतनी गहरी और दृढ़ है कि संभवत: चिति तक की संरचना को निर्धारित कर चुकी है । ठक्कन का नागार्जुन में रूपांतरण जैसा न हो, तो भी "जीवन" का विशुद्ध सौंदर्य बोधात्मक जीवन में ढल जाना कोई कम महत्वपूर्ण घटना नहीं होती । सच्ची कला "दिलों को मोह लेती है, खूब भूरख बना देती है ।[241] यहाँ "भूरख" किसी हीन अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि "प्रति-समझदार" का द्योतक है । ऐसे प्रबुद्ध समझदार लोग, जिन्होंने हमारी दुनिया को यातना गृह में बदल दिया है । ऐसी यातना जो नींद में "चित्र" बन कर उभरती है ।"नींद में ही हमार यातना खूब चित्र बनती है / ओह / उस कैसे समझें / सरल और दुरूह हमारा दुख बच्चों - सा ही है ।। उसी कविता में "नदियों में अनुभव का ताप लिखता हुआ है / उस पर मुरदों की छाया-सी/कोई चील उतर रही है । × × यहाँ से शांति के गलवारे बहुत दूर हैं . . . . बहुत दूर हैं ।"[242]

---

237. पूर्वग्रह - 12-13 जनवरी-अप्रैल, 76, श्रीकांत वर्मा का लेख पृ-6.

238. -वही-

रूप का आग्रह या नितांत सपाट-पन को दृयोतक करती इतिवृत्तात्मकता भी शमशेर की कुछ रचनाओं में मिलती हैं लेकिन उन "कुछ" रचनाओं के आधार पर निर्णय देना या उन्हें रूपवादी आदि कहदेना उसी आलोचकीय प्रवृत्ति को पुष्टित करेगा, जिसकी घातकता को प्रगतिवादी दौर में अनुभव किया जा चुका है। यों यह भी संभव है कि कतिपय रचनाएँ इसलिए भी लिखी गयी हो कि उनके द्वारा इस बात की छानबीन की जा रही हो " कि अपने अनुभव-जगत को विविध शिल्पों में बाँधने पर उन्हें उसके कितने अंशों की कुर्बानी देनी होगी बहुत संभव है कि शमशेर ऐसा कुछ भी न कर रहे हों, बल्कि महज़ रियाज कर रहे हो। आखिर उस्तादों को भी समय-समय पर रियाज की जरूरत पड़ती है। फिर शमशेर तो गायक हैं।"[243]

यों "आन का राग" शांति के ही लिए, आकाश दागामा बाजे आदि कविताओं में मिलनेवाली इतिवृत्तात्मकता की सौंदर्यबोधात्मक शक्ति से इंकार नहीं किया जा सकता। यह कह देना - "उन्हें यह काम अली सरदार जाफ़री (एशिया जाग उठा) के लिए छोड़ देना चाहिए"[244] (श्रीकांत वर्मा) एक ऐसा अनुत्तरदायित्वपूर्ण कथन है, जो एक ओर तो शमशेर की इन कविताओं को अवमूल्यित करके देखता है और दूसरी ओर सरदार जाफ़री को भी "मामूली" में घटाता है। एक सरलीकृत दृष्टि ही संदर्भ से काट कर उन उद्‌बोधनात्मक कविताओं को मामूली सिद्ध करने की चेष्टा करती है, जो अपनी सफलता में क्लासिकी ऊँचाइयों को छूनेवाली होती हैं।[245]

दूसरा सप्तक से उद्धृत व उनके वक्तव्य से स्पष्ट था कि वे ललित कलाओं को खानों में बाँटकर, एक-दूसरे से काटकर देखने के पक्ष में नहीं है। "लौट आ, ओ धार" और "यादें" का रचना-विधान देख कर क्या गायकी का "आलाप" याद नहीं आता है? स्वरों का विलंबित गति में फैलाया जाना -

---

239. निषेध कर देने के आग्रह के पीछे श्रीकांत वर्मा की अपनी, सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर घटित त्रासदी, सक्रिय प्रतीत होती है। "अनुभव न हो रहा हो मगर देखने की ललक औसत से कुछ अधिक हो तो आँखें मूंद लेना बेहतर नहीं? वही पृ-7।

"लौट आ ओ धार
टूट मत ओ सांझ के पत्थर
हृदयपर
[मैं समय की एक लम्बी आह
मैंने लम्बी आह]
लौट आ, ओ फूल की पंखड़ी
फिर
फूल में ल गजा
चूमता है धूल का फूल
कोई, हाय ।[244]

उपर्युक्त कविता में निश्चित ही इस का प्रभाव है । इस कविता के प्रसंग में नरेन्द्र वशिष्ठ को रामायण का एक श्लोक, टेनीसन की एक रचना और एज़रापाउण्ड की एक काव्य-पंक्ति को याद करते हुए बतलाते हैं कि किस प्रकार "भाव-भूमि" के स्तर पर शमशेर इन कवियों से सृजनात्मक सम्बन्ध बनाते हैं —

गतं गतं नैव नु सन्निवर्तते,
जलं नदी नाच नृपा वयौनवरम् ।

x x x

The Tender grace of the day
that is dead
will never come back to me

x x x

The fallen blossom back
to its branch . 247

यह कविता निश्चित ही "नास्टोल्जिया" और निराशा को अपनी लय-संवेदना में ढालती है । यदि यह कविता अपनी सांगीतिक रचना-विधान के लिए अप्रतिम उदाहरण मानी जा सकती है, तो "अवसाद" के प्रति अपने द्वंद्वात्मक प्रतिरोध [=सौंदर्यबोधात्मक] के कारण भी । निषेध

---

240. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह "गोया वो" नामक कविता पृ-28-29.

का निषेध" (नकारात्मक निषेधात्मक "अवसाद" का सृजनात्मक निषेध) इस कविता को (या ऐसी अन्य कविताओं को) कवि की द्वंद्वात्मक विजय की सूचिका बनाता है ।[248] बहुत पहले लिखी "नशा" नामक कविता (रचना काल 1941) में तो बीच में "आलाप" शीर्षक से एक क्षेपक नुमा अंश भी जोड़ा गया था ।[249] नृत्य का प्रभाव "एक मुद्रासे" जैसी कविताओं में लक्ष्य किया जा सकता है । नाटकीय गति तो उनकी अधिकांश कविताओं में ढूंढी जा सकती । इस प्रकार कुछ प्रमुखत: भले ही वे प्रभाववादी और प्रतीकवादी चित्र-कला-विषयक आंदोलनों के प्रभाव में रहे हो, किंतु- अन्यान्य शैलियाँ भी पर्याप्त प्राप्त प्राप्त होती है । नरेन्द्र वसिष्ठ ने "कत्थई गुलाब" में जापान की "वश" शैली, होली : रंग और दिशाएँ" में एब्सट्रेक्ट शैली देशी है । "एक पीली शाम" और "एक नीला आइना बेठोस" में तो एक साथ कई शैलियों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है ।[250]

"अभिव्यक्ति" के खतरों को भरपूर उठाते हुए शमशेर बड़े ही मौन भाव से "गढ़ो" और मठों को ध्वस्त करते रहे हैं । उनकी रचनाओं के प्रति आलोचकीय सरोकार रखने आये रचनानुभवों (=सौंदर्यानुभवों) को पहचानने के लिए जो परिष्कृत और सौंदर्यबोधात्मक संघर्षों से जूझता जीवन चाहिए ; वह अभी तो दुर्लभ ही कहा जायेगा । जिस विडम्बना के शिकार शमशेर हुए -- × × × जिन पत्रिकाओं में देना चाहता था, या जिनके

---

241. इनके पास अपने शमशेर बहादुर सिंह - कलानामक कविता पृ-44.
242. -वही- एक आदर्श लहरों के पार पृ-59.
243. पूर्वग्रह 12-13 श्रीकांत वर्मा का लेख पृ-8.
244. -वही-
245. आलोचना में "श्याम कश्यप" और अलग मुक्तिबोध आदि की राय यही है ।
246. कुछ और कविताएँ - शमशेर बहादुरि सिंह पृ- 40
247. शमशेर की कविता - नरेन्द्र वसिष्ठ पृ-88 पर उद्धृत

लिए मैं लिखना चाहता था, वे स्वभावत: कुछ कहना चाहिए प्रगतिशील किस्म की थी । लेकिन उन्होंने कभी परवाह नहीं की मेरी कविता की आम तौर पर । सिवाय खास टॉपिक पर अगर मैं लिखूँ और खास तरह से कुछ लिखूँ । और जिन लोगोंने मेरी कविता छापनी चाही, उनका दृष्टिकोण कुछ ऐसा था कि उससे मुझे कोई खास हमदर्दी नहीं थी । लेकिन चूंकि उनके यहाँ कलात्मक रचना का मान था, या समझ थी, मैंने उनके यहाँ चीज़ें दी ।[251] वहअब भी हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में व्याप्त है । शमशेर को वस्तु से कभी पूर्णत: स्वतंत्र नहीं माना और रूप-वैचित्र्य रूपवाद नहीं है । रूपवाद वहाँ होता है, जहाँ रूप ही कविता का निर्धारक तत्व होता है । शमशेर में खास प्रकार की वस्तु का आग्रह शुरू से रहा है, इसलिए हम उन्हें रूपवादी नहीं कह सकते ।"[252]

हमने "आस्था" की बात लिखी है । वह आस्था ही शमशेर की जीवन-दृष्टि (Life vision) को सौंदर्य-दृष्टि (Aesthetic Vision) से एकमेक करती है । उषा जैसी कविताओं का प्रभाव [=सौंदर्य] कवि को "जीवन का पक्षधर सिद्ध करते हैं" :-

---

248. "A sad or difficult poem tells is not only that the experience was painful or terrible but that the poet survived and trumphed over it for one can not write a poem while in a depress n or with drawl state (Nor of course , if one ceases to exist). To have lived to write the poem is / part of the emergence ~~lived to write~~--From and trumph over difficulty , and to have gone on existing " - The quest for love - David Halbrook P-

249. उदिता - शमशेर बहादुर सिंह पृ-85. "यादें" कविता के लिए स्वयं शमशेर ने कहा -"मुझे यह हार्टिंग-सी लगती है, जैसे कि एक नोस्टेल्जिया और एक म्यूज़िक, प्यारे म्यूज़िक शब्दों में अपने ढंग से " पूर्वाग्रह 12-13 पृ-13

"प्रात न भया बहुत नीला शख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिलगरा से लाल केसर से
कि जैसे छुए गए हो
× × ×
और.....
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है ।[253]

ऐसी कविताओं को पढ़कर ही शमशेर का वह वक्तव्य काव्यात्मक चरितार्थता प्राप्त करता हुआ लगता है "सुंदरता का अवतार हमारे सामने.....हुआ सकते हैं । यह स्पष्टत: इस तथ्य की ओर इशारा करता है कि शमशेर सौंदर्य को परिवर्तनशील और गत्यात्मक मानते हैं अर्थात "प्रक्रिया" । उपर्युक्त कविता में आये जातीय प्रतीकों और बिम्बों तथा इस की भाषा-संवेदना उसे ऐन्द्रिक-बोध का प्रमाण है, जो शमशेर को विशिष्ट कवि का पद देता है । ऋग्वेद के उषा-स्तवन से इसे संबद्धकर के देखें तो ज्ञात होगा कि वहाँ उषा-सौंदर्य "स्थिर" है जबकि शमशेर ने जीवन से जुड़े बिम्बों को, उषा का गतिमय चित्र खींचने के लिए इस्तेमाल करके, निराला की "संध्या-सुंदरी" की परम्परा का ही विकास किया है । "अंतर केवल यह है कि निराला के यहाँ गति और वातावरण का आभास स्वर के आरोह-अवरोह से दिया जाता है, जब कि शमशेर के यहाँ मुख्यत: रंगों के शेड्स से ।"[254]

---

250. शमशेर की कविता - नरेन्द्र वसिष्ठ पृ-24-25.
251. पूर्वाग्रह 12-13 पृ-14.
252. आलोचना 56-57. "संकीर्णता और उदारता" के छोर" नामक लेख नंदकिशोर नवल पृ-96.

यह बात नहीं है कि "शमशेर केवल मूड्स के कवि हो, किसी "विज़न" के नहीं ।[255] हाँ, यह सच है कि "वह" "विजन" कोई -वर्ल्ड-विजड(World- Vision) न होकर सौंदर्य-दृष्टि(Aesthetic Vision) है । शमशेर में जिस द्विधा की बात आलोचकों ने कई बार कही है, वह इसलिए है कि प्राय: उनकी राजनीतिक दृष्टि (Political vision) उनकी सौंदर्य-दृष्टि(Aesthetic vision) से अलग-अलग दिखायी देती है । विश्व-दृष्टि (World vision) एक प्रक्रिया है और जो निश्चित ही मैं-बोध से "सौंदर्य-बोध तक की यात्रा के दौरान संपन्न होती रहती है ।

एक तथ्य ध्यातव्य है कि जब प्रस्तुत शोध प्रसंग में "प्रक्रिया" या "यात्रा" या "विकास" आदि पदों का कथन होता है तो उसे एक रेखीय (Unilinear) नहीं मानना चाहिए । ये सारे पद समझने की सुविधा के हेतु प्रयुक्त हुए हैं, यों "मैं-बोध" "विश्व-बोध और सौंदर्य-बोध" तथा इन से निसृत "दृष्टि" अपनी संरचना में अत्यधिक जटिल तो है ही और साथ में निरंतर गतिशील हैं तथा इसलिए भूतकालीन वर्तमान कालीन क्रियापदों का प्रयोग मात्र व्याकरणिक सीमाओं के कारण है । इस प्रकार शमशेर के काव्य के संदर्भ में जब "द्विधा" की बात कही जा रही है तो इसे यांत्रिक ढंग से ग्राह्य नहीं किया जाना चाहिए ।

वस्तुत: शमशेर इंद्रिय-बोध [253]स्मरण करते हुए "सौंदर्य-बोध मूलत: इन्द्रियबोध होता है ।"[254] के कवि हैं । चित्र कला के प्रशिक्षण ने उन्हें चाक्षुष-समृद्धि दी तो पंत-काव्य से भी उन्होंने बहुत कुछ दाय ग्राह्य किया । शमशेर के काव्य-चरित्र को समझने के लिए एक रोचक उदाहरण और देना चाहेंगे । सन 43 में उन्होंने एक कविता लिखी थी - "ये लहरें घेर लेती हैं " :-

---

253. शमशेर - सं० सर्वेश्वरदयाल सक्सेना मलयज पृ-103.
254. " " की कविता - नरेन्द्र वशिष्ठ पृ-67
255. शमशेर सं० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - "शमशेर और आधुनिक कविता" नामक मलयज का लेख पृ-40

"ये लहरें घेर लेती हैं
ये लहरें.....
उभर कर अर्द्ध द्वितीया
टूट जाता है ....."[256]

फिर ज्ञानोदय के सितम्बर 60 के अंक में एक कविता प्रकाशित हुई थी - "कत्थई गुलाब दबाये हुए हैं" - उसमें वे उत्कट प्रेम-पगे क्षणों के बीच सन्निधान (Juxtaposition) के लिए उपर्युक्त पंक्तियों को

"किसका होगा यह पद/ किस कवि-मन का / किस सरि-तट पर सुना ? / [257]

प्रयुक्त करते हैं । यदि उपर्युक्त कविता में एक अवसाद-स्थिति की सौंदर्य-छवि है तो वे उसे आदर्श की तरह कत्थई गुलाब के तन-छन्द के विरोध में रख देते हैं । वस्तुत: शमशेर समूची प्रक्रिया को "सौंदर्य से सौंदर्य तक" की बना देते हैं । इस बनाने की सीमाएँ - संभावनाएँ ही उनके काव्य की विशेषताएँ -न्यूनताएँ हैं । मुक्तिबोध के साथ रखकर देखें तो शमशेर के काव्य-चरित्र का स्वरूप पूरी तरह से उजागर होता है । समूचे बाह्य को (निश्चित ही इंद्रिय-बोध के माध्यम से) आंतरिकीकृत करके उसे आत्म-संघर्ष (या अस्तित्व-संघर्ष) के लिए कच्चा-माल (पूर्व-पक्ष और उत्तरपक्ष अथवा स्व-पक्ष और विरोधी पक्ष के रूप में) बनाते हुए मुक्तिबोध अपनी प्रत्येक कविता से "समाज में मनुष्य की स्थिति" का बखान करते हैं और इस प्रकार किसी न किसी सीमा में या तो राजनीतिक जानकारी देते हैं या राजनीतिक बोध का विस्तार करते हैं या फिर इन दोनों के साथ-साथ पक्षधर बनने की प्रेरणा देते हैं । इसके नितांत विपरीत शमशेर की इनी-गिनी रचनाएँ और कतिपय पंक्तियाँ ही ऐसी कही जा सकती हैं, जिनमें किसी सीमा तक राजनीति के बारे में जानकारी या राजनीतिक बोध-आदि की झलक (मात्र झलक ही) मिलता है । उनके यहाँ राजनीति भी सौंदर्य की शर्त पर ही कविता में आती हैं, जैसे "लेकर सीधा राना" जीवन की कमान, बंगाल का काल आदि । जहाँ यह शर्त नहीं निभायी जाती, वहाँ शमशेर की कविता न तो राजनीतिक रह पाती है और न सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर "कविता" ही । जहाँ यह राजनीति का सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण हो जाता है, वहाँ अवश्य ही

"[illegible]" नाविक विद्रोहियों पर बमबारी" आदि कविताएँ लिखी

जिन्हें गाइए - शमशेर बहादुर सिंह पृ- 71.

जाती है । फिर भी इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि राजनीतिक "वर्तमान" में हस्तक्षेप की मंशा के बावजूद उनकी कविताएँ, अपने श्रेष्ठ रूप में सौंदर्य-बोध का ही विस्तार करती है । चूंकि यह जीवन की समग्र समृद्धि के लिए एक महत्वपूर्ण बुनियादी आचरण है और राजनीतिक बोध या पक्षधरता के लिए किसी सीमा तक सहायक ही होता है, अतएव शमशेर सौंदर्य के कवि होने में भी अपने सफल काव्य-स्तरों पर, वाम दृष्टि (Left- Vision)अपना सके हैं । इस तथ्य को यों भी कहा जा सकता है कि जीवन के सौंदर्य के चितेरे होने के कारण वे स्वयमेव ही प्रति दक्षिण विश्व-बोध के कवि हो जाते हैं । सौंदर्य को परिवर्तनशील और क्रांतिकामी मानना के कारण ही वे ऐसी जीवन-आस्था अपना सके हैं, जिसके तहत वे पूंजीवादी साहित्यिक उत्पादन के तरीकों और वितरण-संस्थाओं से निरपेक्ष रह सके हैं । सम्प्रेषण के "प्रदत्त" तरीकों के प्रति भी उन्होंने सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध किया है ।

यहाँ प्रसंगवश शमशेर के उर्दू-काव्यभाषा के संस्कारों की ओर संकेत किया जा सकता है । वे पहले ऐसे कवि है :"जिन्होंने हिन्दी पाठकों को गजल के सही रूप से परिचित कराया ।"[258] मीर, गालिब, इकबाल, फानी आदि के प्रभाव को लेकर सृजनात्मक आचरण भी शमशेर के काव्य-युग के संदर्भ में किसी सीमा तक "अभिव्यक्ति के खतरे" उठाना ही था । हाली को उन्होंने अपना पहला गुरु माना ।[259] एक साथ गज़ल, कित्ता, गीत, कविता आदि कई रूप-विधानों को अपनाते हुए वे प्रस्तुत: अपने कथ्य-पक्ष के विस्तार का ही पता देते रहे हैं । आस-पास से कहीं गहरे में जुड़े होकर ही वे उस कथ्या (आत्म-दया नहीं) मयी आस्था को पासके हैं, जो उनके सौंदर्य-बोध से अभिन्न होकर हिन्दी कविता के परिदृश्य में उन्हें श्रेष्ठ यहाँ तक कि "अपवाद" होने का श्रेय देती है ।[260]

---

258. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह पृ- 18.

258. शमशेर की कविता - नरेन्द्र वसिष्ठ पृ-59.

259. पूर्वग्रह - 12, 13 जनवरी-अप्रैल, 76 पृ-18. × × × मुझे अपनी कविता की डगर पर ले जाने में जिन गुरु जनों ने, जिन गाइडस ने जिन ग्रेट गाइडस ने मेरा हाथ पकड़ा, अंगुली पकड़ी, उनमें से सबसे

1. ओ मेरे घर
ओ हे मेरी पृथ्वी
साँस के एवज़ तूने क्या दिया मुझे
– ओ मेरी माँ ?
× × ×
इंसान के आँखोटे में डालकर मुझे
सब कुछ तो दे दिया ;
जब मुझे मेरे कवि का बीज दिया कटु-तिक्त
फिर एक ही जन्म में और क्या-क्या
चाहिए ।[261]

2. थम् एक ठोस रोशनी का,
सुबह औ "शाम को संभाले,
सहारा है मेरे
साँसों की सुदीर्घ व्योम छत का ।
× × ×
मगर मेरे लिए
एक ठोस थम् ही
अनगिनत रोशनियों का
– बहुत
काफ़ी ;
युगों तक के लिए ।[262]

शब्दों और पंक्तियों के बीच अंतराल का सर्वाधिक सार्थक प्रयोग भी शमशेर ने ही किया है । अभिव्यक्ति-रूपों में एक रूढ़ि या यांत्रिकता भी निश्चित ही सृजन-विरोधिनी होती है । प्रेरणा (जो निश्चित ही जीवन से प्राप्त होती है) की ऊर्जा का क्षीण हो जाना ही यांत्रिक काव्य-रूढ़ियों के

पल्ले, में समझता हूँ, मौलाना हाली थे । हाली उनकी मुक़द्दम-ए-शेरो-शायरी हमने हाईस्कूल के आसपास कहीं पढ़ी थी ।"

260. "शमशेर की कविता नियम नहीं, अपवाद है ।" श्रीकांत वर्मा, -वही- पृ-9।.

माध्यम से सूचित होता है । "रूप"- वाही आग्रह भी कई बार उक्त "रूढ़ी" या यांत्रिकता का शिकार बनाते हैं । संवेदनात्मक उद्देश्य कुछ और रहता है और कविता का "सम्प्रेष्य" कुछ और बन जाता है । शमशेर बहादुर सिंह के रचना-संसार की श्रेष्ठता इसमें भी है कि एक लंबे रचनात्मक संघर्ष के बाद प्राप्त शिल्प-शैली उनके कथ्य (जीवन-प्रक्रिया में निहित" सौंदर्य") को समूची जटिलता के साथ सम्प्रेष्य बनाती है । उस रूप-विधान की विविधता के पीछे एक कठोर आत्मानुशासन है ।[263]

पूर्व में कहा जा चुका है कि रचना का, सौंदर्य का निर्धारण अंततोगत्वा "जीवन" ही करता है । कच्चे माल के रूप में युग-सापेक्ष (सामाजिक आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था आदि) "रूप" में "कथ्य" और शैली-शिल्प में "चुनाव" को निर्धारित करता हुआ तथा बाद में भी उसके सम्प्रेषण को काल-बद्ध अथवा कालातीत होने में निर्णायक भूमिका निभाता हुआ । इस स्थिति में "जीवन" के समारोह को, सौंदर्यबोधात्मक आयाम को और सारभूत सौंदर्य को "कथ्य" के रूप में चुनते शमशेर निस्संदेह अपनी कविताओं की सार्थकता में "वाम कविता" (=आचरण कविता = (Poetry of Praxis)( ) को समृद्ध करते हैं । उन्होंने अपने काव्याचरण से अभिव्यक्ति के खतरे भी उठाये हैं, मठ और गढ़ भी तोड़े हैं और जीवन-सौंदर्य को भरपूर उकेरा भी है ।

---

261. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह पृ- 19-20.

262. -वही- पृ-51.

263. × × × अतः उस पर उसके आत्मानुशासन का निखार और आज है । यह स्थिति वर्तमान काव्य-संदर्भ में भविष्य की संभावनाएँ (और साहसिक यात्राएँ भी) उतनी चाहे व्यक्त न करे, एक गंभीर संवेदनशील व्यक्तित्व की काव्यानुभूति का एक ऐसा संश्लिष्ट रूप अवश्य प्रस्तुत करती है, जिसमें विस्तार की अपेक्षा गहराई है, एकान्विति है, और एक ऐसा सघन काव्य-वातावरण है, जो कवि का अपना है, और ठीक उसकी पकड़ में भी है । "शमशेर, सं० सर्वेश्वरदयाल सक्सेना-मलयज, "शमशेर और आधुनिक कविता नामक "मलयज" का लेख पृ-50

हमारे उपर्युक्त विवेचन पर आधारित निष्कर्षों को प्रमाणित करने के लिए शमशेर की दसियों कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं। हम यहाँ पर कुल तीन कविताएँ उद्धृत कर रहे हैं, जो हमारे (या किसी भी पाठक-आलोचक के) निष्कर्षों का अतिक्रमण करके सौंदर्य और श्रम के धरातल पर जीवन के प्रति अपनी पक्षधरता को प्रमाणित करती है। अंत में कहा जा सकता है कि शमशेर बहादुर सिंह की कविताएँ या तो सौंदर्य के बारे में सही और गहरी जानकारी देती है या पाठक के सौंदर्य-बोध को विस्तृत करती हैं या फिर सौंदर्य बोधात्मक पक्षधरता के लिए प्रेरणा देती है। इस प्रकार वे यदि अपनी सीमाओं अथवा न्यूनताओं के कारण राजनीतिक और सामाजिक कविताएँ नहीं हो सकी हैं तो अपनी संभावनाओं और विशिष्टताओं में वे निश्चय ही सौंदर्यबोधात्मक कविताएँ हो सकी हैं। अतएव शमशेर सचमुच ही "सौंदर्य" के समर्थ कवि सिद्ध होते हैं।

1. एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता पूरब से
पच्छिम को एक कदम से नापता बढ़ रहा है।
कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने-छूने को हैं
जिनसे घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है।
अपनी शाम को सुबह में मिलाता हुआ
फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे मख़्ल उलझा रहे हैं ?[264]

उपर्युक्त कविता में प्रकृति को अपने श्रम से जीतता हुआ मनुष्य एक विराट् बिम्ब के माध्यम से उकेरा गया है। जैसे शमशेर एक नया मिथक गढ़ रहे हो - नये मनुष्य का। फिर भी वह मानव अति-मानव कतई नहीं है क्योंकि "दो बादलों के तार" उसे उलझा रहे हैं और कवि सिर्फ "क्यों ?" पूछता हुआ विस्मित, आकुल और बेचैन है।

---

264. कुछ और कविताएँ - शमशेर बहादुर सिंह पृ- 7.

2. मेरे समय को एक काश की तरह काट दिया गया है ।

× × ×

कवि एक बड़ा-सा तोता है, जैसे कि मैं ।
जिसे उसके संरक्षक पालते हैं ।
कई होते हैं वो ।

× × ×

शतरंज का एक खाना है
जिस में तुम मुझे ऊपर उठाकर रखते हो
हवा में कुछ देर अंगूठे और अंगुलियों के बीच
अनिश्चय में थामे हुए
जिस समय मैं समझता हूँ कि यह
मेरी कल्पनाशीलता का लोक है
मगर जो वास्तव में एक बारीक काट है
रुके हुए सांस की ।[265]

उपर्युक्त कविता में बीच के अंतराल स्वयं कवि के दिये हुए हैं जैसे तीन टुकड़ों में विभक्त कविता हो । काश की तरह काट दिये जाने को जैसे काव्याचरण से चरितार्थ करते हुए । कला पर अपनी पकड़ मज़बूत करती हुई पूंजीवादी मण्डी के व्यापारी, जो संस्कृति-प्रेमी संरक्षकों की भूमिका में कलाकारों को पालते है, इस कविता में "कव्य" है । तथाकथित कल्पनाशीलता का लोक भी सत्ता-वर्ग द्वारा ही निर्धारित होता है । समूचे व्यावसायिक तंत्र की कला-सम्बन्धी उदारता अथवा संस्कृति-प्रेम की पोले खोलती यह कविता निश्चित ही कवि के सामाजिक रूप से सचेतन होने का प्रमाण है । इस स्थिति में उन्हें रूपवादी कहने वाले तो ग़लत, ग़लत सिद्ध होते ही है ; उनके समकालीन कवि केदारनाथ अग्रवाल की ये काव्य-टिप्पणियाँ भी ग़लत मूल्यांकन का उदाहरण प्रस्तुत करती है :-

---

265. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह पृ-41
266. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ-183

शमशेर - मेरा दोस्त ।
चलता चला जा रहा है अकेला
कंधे पर लिये नदी
मूंड पर धरे नाव ।
× × ×
वहाँ उस आईने में खड़ा है मेरा दोस्त -शमशेर ।.
उम्र-कैद का अकेला अपराधी
बाहर न निकलने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ ।[266]

शमशेर का अकेलापन "कुंठाजनित नहीं है । यह सामाजिक संघर्ष में देर तक और दूर तक हिस्सा लेने के बाद पैदा होता है । × × × जिन्होंने सामाजिक कर्म को नहीं पहचाना, उनका अकेलापन किताबी ही रहेगा ।"[267] इसी प्रकार समाज से कटे हुए होने ‡आईने में खड़े होने" या "उम्र-कैद का अपराधी होने‡ की भी कोई बात नहीं है । उर्दू उद्धृत कवताओं तथा अमन का राग, आकाश दमामा बाजे, बंगाल का अकाल आदि कविताएँ "आईने में खड़ा" कवि नहीं लिख सकता । सारांश में कहा जाय तो सौंदर्य बोधात्मक स्तर पर सक्रिय होकर भी शमशेर सामाजिक चेतना से विहीन हो, ऐसा कतई नहीं है । कवि को पालनेवाले संरक्षकों की अपेक्षा में अपने कवि व "में" को तोता कहना और "कल्पनाशीलता के लोक" को रुके हुए साँस की कोट कहना" शमशेर को नागार्जुन-मुक्तिबोध-की पंक्ति में बिठाता है । "नींद के तंग आकाशों की जमी हुई" या "तीनो तरफ़ का सपाट कोना" जैसी कविताएँ उस आदिम विस्मय से उपजती है, जो कवि को अनिवार्यत: शिशुवत् सुंदर और सरल बनाता है । शमशेर इस संसार के बीच श्रम के ज़रिए अपने लिए जगह बनाते और अपना संसार गढ़ते मनुष्य को भली भांति जानते पहचानते हैं ।

उस मनुष्य के लिए उनका सृजन मात्र सहानुभूति परक होकर ही नहीं रह गया बल्कि उसके श्रम-रत रूपकों एक विराट बिम्बात्मक ‡एक आदमी दो पहाड़ों को" से तुलना की जा सकती है । देते हुए भी वे उस की नींद के

267. श्रीकांत वर्मा 5पूर्वाग्रह 12-13, जनवरी-अप्रैल 76 पृ-9.

लिए चिंति है । नींद को श्रम के अनंतर आना ही चाहिए । फिर भी वह नहीं आती । अगर आती भी है तो क्षुधा से भरी और अँधेरों को लानेवाली । आश्चर्य है कि शमशेर के इस पक्ष की ओर से आँखें मूंद कर उन दो-चार रचनाओं को कोसा गया, जो या तो कमज़ोर थी या फिर शमशेर की रचनाओं की प्रमुख अंतर्धारा में कहीं नहीं उँटती थीं । पिकासो के एक संस्मरण के आधार पर कहें तो प्रत्येक कलाकार कुछ नक़ली कलाकृतियाँ भी बनाता है । तात्पर्य मात्र इतना कि किसी भी रचनाकार की वे रचनाएँ, जिनमें उसका समग्र सौंदर्य बोधात्मक प्रकटन न हो सका हो ; मूल्यांकन का आधार नहीं बनायी जानी चाहिए । मूल्यांकन श्रेष्ठ के आधार पर ही होना चाहिए, निकृष्ट के आधार पर नहीं । शमशेर ने ऐसी कविता भी लिखी है --

संसार के चक्के पर हैं दो हाथ
दो हाथ : पूरक, पश्चिम :
आँखें
दोनों देखती एक-साथ
यह एक ही दृश्य ।

हृदय गूंगा नहीं ।
फेफड़े
दोनों काम करते
संग-संग, समान-रूप ।

शरीर लड़े जा रहा, लड़े जा रहा है ।
हृदय होम हो रहा है ।
धरती के मनुष्य सा.....
निरंतर निरंतर ।

उसे
मीठी
नींद कब

आयेगी
वह नींद
जो मीठी सुबह का
उजाला लाये ।
चतुर्दिक
समान रूप
उजाला ।[268]

और ऐसी कविता वही लिख सकता है, जिसने अपनी मीत देकर "कविता" को पाया हो । "वह हिंदी की उन थोड़ी सी विभूतियों में से हैं, जिन्होंने कविता को इस लायक बनाया है कि वह कविता कहला सके । दधीचि की तरह उन्होंने अपने हाड़-मांस को गलाकर कविता के एक अपराजेय शिल्प की रचना की है ।"[269] इसे समझने के लिए "योग (रचनाकाल 5-2-58) प्रभात और "सूर्यास्त" इन तीन कविताओं को साथ रखकर देखा जा सकता है । "योग" में "सूर्य मेरी पुतलियों में स्नान करता / केश-वन में झिलमिला कर डूब जाता / स्वप्न-सा निस्तेज-गात चेतन कुमार/कमलतल में खिले सर के / हीर्णासन से / जागरण की चेतना से मैं नहा उठ्ठा ।"[270] इन पंक्तियों से आरंभ होता है । "सूर्यास्त" में -"सूर्य मेरी अस्थियों के मौन में डूबा ।"[271] यह पहली पंक्ति है तथा प्रभात में "जागरण की चेतना से मैं नहा उठ्ठा । सूर्य मेरी पुतलियों में स्नान करता ।"[272] ये पहली पंक्तियाँ है । इन तीनों कविताओं का आरंभ मिलता-जुलता है : इससे यह सिद्ध होता है कि शमशेर "प्रकट संसार को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए उसके वास्तव रूप के अंकन की मश्क"[273] बहुत करते हैं ।

सारांशत: निष्कर्ष यह कि जीवन-सौंदर्य की पक्षधर कविताओं के कवि शमशेर बहादुरि सिंह का काव्याचरण पूरी तरह से शीतयुद्धीय साहित्यिक शाखाओं के विरोध में जाता था । इस विरोध की जटिलता के कारण इसे समझना कठिन है किंतु एक बार समझ लेने पर शमशेर की रचनाएँ अपने आप खुलते लगती हैं । वे अस्पष्ट और दुरूह नहीं है, मात्र जटिल हैं । "एक नीला

---

268. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह पृ-37-38

दरिया बरस रहा" जैसी कविताओं का कवि वह सब अभिव्यक्त कर सका है, जिस अभिव्यक्त किया ही नहीं जा सकता । यदि पूछा जाय कि ऐसा उन्होंने क्या अभिव्यक्त किया तो वे "रिंबो के-से अभिमान और विनम्रता के साथ यही कह सकते हैं " मैन सौंदर्य को लिखा । मैंने जीवन को लिखा ।रिंबोने लिखा था --"मैंने मौन को लिखा । मैंने रात को लिखा । जो अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता था, उसे मैंने अभिव्यक्त किया ।"।[274]

सौंदर्य को और जीवन को लिखनेवाला कवि- शमशेर निश्चित ही शीतयुद्धीय नीतियों को निरस्त करके ही सृजन को संभव कर सका है ।

शमशेर ने अपने कवि-मित्रों और आत्मीयों को लेकर बहुत कविताएँ लिखी हैं । शायद इतनी अधिक कवि अकेले हैं इस क्षेत्र में । एक जगह इस के बारे में वे अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वे कुछ पाना चाहते हैं । किसी पर लिखते हुए वे पहले ही यह अध्ययन कर लेते हैं कि उस व्यक्ति के संघर्ष का स्वरूप क्या है और वह क्यों है ? उसकी जीवन दृष्टि क्या है ?[275] इस स्थिति में यदि शमशेर ने त्रिलोचन पर कई कविताएँ लिखी होतो इसका यही कारण होगा कि त्रिलोचन में ऐसा बहुत कुछ है, जिसे शमशेर सीखना चाहते हो । "त्रिलोचन को" ।रचना काल सन् 1941। नामक कविता में शमशेर संघर्षों में उनके साथ रहना चाहते हैं ; एकमेक हो जाना चाहते हैं । -"आज/सत्ता का शैथिल्य, सर्वहारा की सत्ता/ अपर मूल्यों का दिग्दर्शन/ संघर्षों में / अपने और तुम्हारे संघर्षों में / आज, त्रिलोचन/ × × × हम-तुम बन जायें वह मौन / जिसका अंतर कर्म-राग है । हम-तुम पास रहें जैसे दो चरण/ एकरास्ते पर गतिशील ।"[276] इन पंक्तियों के सोलह वर्ष बाद ।सन् 1957। वे सानेट और त्रिलोचन को एक साथ "कठिन प्रकार में बंधी सरलता" कहते हुए भीतर की दुख को चट्टानों को तोड़कर आंतरिक सत्य की निधियाँ ले आने के प्रश्न-संदर्भ में देखते हैं ।[277]

---

269. पूर्वाग्रह 12-13 श्रीकांत वर्मा का लेख पृ-7.
270. चुका भी हूँ नहीं मैं - शमशेर बहादुर सिंह पृ- 16.
271. -वही- पृ-23
272. -वही- पृ-63.

एक और कविता है -"सारनाथ की एक शामा" । यह कविता भी "त्रिलोचन के लिए" है । कविता पूरी तरह से मैत्री को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर फिर से रचती है । जटिल प्रतीक-विधान की भूल भुलैयाँ अत्यधिक हैं किंतु जहाँ सीधे-सीधे त्रिलोचन को अपने (कवि के) संदर्भ में देखा गया है ; प्रस्तु चर्चा में वही अंश महत्वपूर्ण है । --"शब्द का परिष्कार / स्वयं दिशा है / वही मेरी आत्मा हो / आधी दूर तक / जब भी / तू बहुत दूर है बहुत आगे / त्रिलोचना / वह कोलाहल जो कोंपलों में भरा है । सुनकर / तू विक्षुब्ध हो हो-जाता/क्या उपनिषदों का शोर/ उसे दबापाता / × × × तुझे केवल मैं जानता हूँ ।"[278]

शमशेर जैसे सिद्ध कवि द्वारा लिखी हुई इन कविताओं से हम यह तो आशा करते ही हैं कि वे "त्रिलोचन" को अंत: बाह्य रूप से समग्रता में हमारे सामने रखेंगी । केवल मैं जानता हूँ कहने के पीछे जो आत्म विश्वास है, वह भी अकारण नहीं हो सकता । शमशेर ने "संघर्ष" "सरलता" और "शब्द का परिष्कार" इन तीन विचार-बिंदुओं पर जल दिया है । एक सामान्यीकरण के सहारे तो यह भी कहा जा सकता है कि ये सारे तत्व किसी सार्थक कवि में नहीं प्राप्त होते ? यही त्रिलोचन की विशिष्टता निहित है ।

पूर्व अध्याय में "त्रिलोचन की सहजता और सरलता की चर्चा पर्याप्त हो चुकी है । यह "विशिष्टता" वस्तुत: किसी भी प्रकार की ऐसी "विशिष्टता" को सामान्य जन के औसतपन में घुला देने से प्राप्त होती है, जो "कवि" को समाज से काटकर अकेला करदेती है ।

---

273. पूर्वग्रह 12-13, "अमूर्तकला" नामक लेख, से० शमशेर बहादुर सिंह - पृ-5। "इससे कौन इनकार करेगा कि प्रकृत संसार को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए उसके वास्तव रूप के अंकन की मश्क बहुत जरूरी है और उपयोगी है "

274. पूर्वग्रह 12-13, श्रीकांत वर्मा द्वारा उद्धृत पृ-7-8.

275. -वही- पृ-17

276. इस कविता से यह भी पता चलता है कि शमशेर और त्रिलोचन कहीं कितने अभिन्न हैं । वे कर्म के धरातल पर जुड़ना चाहते हैं --"××××किंतु भविष्य जिसका/अपना कर्म कठिनतम/अपना स्वप्न मधुरतम/अपना धैर्य अतुल/जिसका राग/ अपना जीवन/अपना मरण/अपना सब कुछ आज/" - चुका भी हूँ नहीं मैं - शमशेर प-81-82.

अपनी ज़मीन से जुड़ने की बात प्राय: की जाती है । पेड़, जड़ों के माध्यम से ही ज़मीन से जुड़ता है और जीवन-रस प्राप्त करता है । इसमें किसी प्रकार का वृथा गौरव-मान नहीं ; यह एक सहज स्थिति है । तटस्थता और संपृक्ति को एक साथ निभानेवाली प्रौढ़ता "याथार्थ की बहु सच्चाईयों से दो-चार होने रहने से ही प्राप्त होती है । जिसे "शब्द का परिष्कार" कह कर त्रिलोचन ने विशेषीकृत किया है, वह "औसत भारतीय जन की अचूक व्यावहारिक प्रतिभा" ही है, जो "प्रकृति" और जीवन के सूक्ष्म सटीक ब्योरों में, ठेठ भाषा-प्रयोग में, और जीवन के घटित को छोटे-छोटे सजीव पात्रों की सृष्टि कर नाटकीय यथार्थ में बदल देने की पीछे सक्रिय रही है ।[279] औसत भारतीय व्यक्ति अपनी इस व्यावहारिक प्रतिभा के कारण सहज ही अपनी स्थिति को जानता है । अपनी शक्ति और दुर्बलता, इच्छाएँ जो अव्यावहारिक महत्वाकांक्षाओं में कभी रूपांतरित नहीं होती और प्रतिकूल स्थितियों से जूझते हुए, टूटते हुए भी एक ओर कभी पराजय को स्वीकार न करना और साथ ही किसी भी सीमा तक दुखों और यातनाओं को सहते चले जाने का अकूत धैर्य - इन सारी विशेषताओं के चलते ही वह औसतपन प्राप्त होता है । मुक्तिबोध के संदर्भ में इसे ही "सतह" कहा गया था । यहाँ यह ध्यातव्य है कि "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध का प्रतिमान मानते हुए यह आवश्यक है कि "प्रदत्त" के महत्व को न भूला जाय । सौंदर्यानुभव के लिए स्वयं से बृहत्तर या "अस्वयं" हो जाने की अनुभूति की बात मुक्तिबोध ने की थी । इस अनुभूति के लिए "स्वयं" का महत्व कितना है । यह कहने की आवश्यकता नहीं । "स्वयं" को नकारा नहीं जा सकता । "स्व" को स्वीकार करके ही सही सौंदर्यानुभूति संभव होती है । इस स्वीकार से पहले आवश्यक है कि "स्व" रहे, "स्व-बोध" रहे और उसके प्रति एक चयस्त सरोकार रहे ।

---

277. कुछ और कविताएँ - शमशेर पृ-11 "सीधी चोट लगाऊँ, उन को डाऊँ बरबस्त । घाऊँ ऊपर । अपने अंदर ऐसा ही । प्रण / लिये हुए हैं शायद सॉनेट और त्रिलोचन ।"

278. चुका भी हूँ नहीं मैं - शमशेर पृ-खंड 21-22

279. कविता से साक्षात्कार - मलयज पृ-63

निश्चित है कि वह "स्व" स्वयमेव उपलब्ध नहीं होता । उसकी पहचान करनी पड़ती है । त्रिलोचन के लिए वही पहचान "भारतीयता" है । एक मर्यादा - जो त्रिलोचन के काव्य पक्ष के चुनाव से लेकर उनके शिल्प विधान में सक्रिय होती है, इसी भारतीयता के चलते है । चाहे जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति हो रही हो या किसी कोमल सम्बन्ध की स्वर कभी अशांत नहीं होता क्षुब्ध हुआ । आस्था, करुणा, दृढ़ता और सहजता - ये सारे गुण उस भारतीयता के कारण है, जो किसी भी भारतीय का "स्व" है । ऐतिहासिक, भौगोलिक और राजनीतिक "स्थिति" को व्यक्त करता हुआ । —"पथ का वह रजकण हूँ जिस पर छाप पगों की / यहाँ-वहाँ हैं, मूक कहानी सुख दुखों की ।"[280] यह कथन किसी किताबी दर्शन का प्रभाव नहीं है, बल्कि इसी धरती की उपज है "जिससे अपने अस्तित्व के गहन रागात्मक स्तरों पर वह आदमी अब भी सम्पृक्त है ।"[281]

जब "विशिष्टता" और "जटिलता" कविता के युग-सत्य कहे जा रहे हो, तब मानवीय संपन्नता, गहनता, व्यापकता, संपन्न आदि को काव्य साधनाका लक्ष्य बनाना ही त्रिलोचन का "सौंदर्यबोधात्मक" प्रतिरोध कहा जायेगा । उनके पास किसी तरह की उत्तेजना नहीं है ; बल्कि एक विश्वसनीयता है । नये के पीछे दौड़ने वाली आधुनिकतावादी आपाधापी का त्रिलोचन के काव्य संसार के में कोई स्थान नहीं है । "उन की काव्य अनुभूतियाँ सरल है (जाट नहीं) जैसे आकाश, जैसे नींद की इच्छाएँ" (शमशेर) । सरल और सबकी । थोड़ को बढ़ाकर और बड़े को घटाकर रूपेमाती बाजा, कवि की दृष्टि में मूल्य "नवीन ऐयारी" है, छल अभिनय कौशल ।"[282]

शमशेर और मुक्तिबोध के विपरीत त्रिलोचन की कविता में कहीं भी संशय या विधा का भाव नहीं है । परिणामस्वरूप उनकी कविता में निश्चय अनिश्चय के बीच द्वन्द्व, धक्का और तनाव-ग्रस्त स्वर नहीं है । इससे वही मर्यादा उजागर होती है, जो कवि को संयम नियंत्रण में रखती है । सृजनात्मक ऊर्जा कभी अनियंत्रित होकर बह निकली हो ; ऐसा त्रिलोचन के प्रसंग में कभी नहीं

---

280. दिगंत - त्रिलोचन पृ- .
281. कविता के साक्षात्कार - मलयज पृ-64.
282. -वही-

हुआ । एक "नियंत्रण" ऐसा कि जो कई बार भले ही क्लासिकी ऊँचाइयाँ छूने छू लेता हो ; किंतु अपनी अतिरिक्त तराश के कारण पाठक का सारा ध्यान रूप-शिल्प पर ही टिकाये रखता है । कहा जा सकता है कि यह इसलिए होता है कि त्रिलोचन अनुभूति को कच्चे रूप में, अनगढ़ रूप में कभी नहीं रखते । आवेगों का घात-प्रतिघात, फूट पड़ने को व्याकुल संवेदनाएँ तथा उबलती हुई भावनाएँ त्रिलोचन के यहाँ कहीं नहीं है । आधुनिक मानस की उत्तेजना प्रियता के परिदृश्य में इसीलिए उनकी कविता ध्यानाकर्षक नहीं लगती । न केवल सहृदय और वयस्क अथवा परिपक्व पाठक की माँग उनकी कविता करती है बल्कि वह यह भी चाहती है कि पाठक की आश्वस्त मनःस्थिति हो । वह आराम से रचना की एक-एक बुनावट को देखे, सराहे और आनंद लें ।

तनाव, आक्रोश, दुस्साहस आदि "पद" और उनसे व्यक्त होती भावनाएँ त्रिलोचन की कविताओं के लिए नितांत अप्रासंगिक है । लोक जीवन से जुड़े कवि के लिए ऐसा होना स्वाभाविक है । उनकी रचना-प्रक्रिया में कोई पेंच नहीं है । किसी तनाव से छुटकारा पाने में उनकी "रचना" नहीं उपजती बल्कि अपने और लोक-जीवन में कुछ खोजने, कुछ पाने और उसे सम्प्रेषित करने के क्रम में ही वह संभव होती है ।

संभवतः काव्य-संयम के इस अनूठे गुण ने ही त्रिलोचन के सॉनेट जैसे विदेशी छंद को अपनाने की प्रेरणा दी हो । सन 1950 के आसपास त्रिलोचन ने सॉनेट चुना । यों ही वे अनुभूति के ताप को सघन करके व्यक्त करनेवाले कवि हैं । उन्हें सॉनेट जैसा वह छंद अपने अनुकूल इसलिए लगा होगा कि "वह एक संश्लिष्ट और थोड़ा बड़ा काव्य रूप है । लय की गति का धीमा होना, सॉनेट का सार गुण है । अन्य छोटे गीतों से वह इस मायने में भिन्न है । गंभीरता, विचारशील भाव, अनुभूति की सघन एकाग्रता और कसी हुई भाषा के साथ ही चौदह पंक्तियों का अनुशासन, ये सारी बातें जो एक सॉनेट की विशिष्टता है, त्रिलोचन की मनोभूमि के लिए बहुत अनुकूल थी ।[283]

---

283. आलोचना 56-57, जनवरी-जून 81, राजेश जोशी का "जब देखा तब जीवन देखा" - नामक लेख पृ-72

वस्तुत: सॉनेट का रूप सदा ही सम्बोधनात्मक रहा है । त्रिलोचन की कविता का भी यह चारित्रिक गुण रहा है कि वह यथा संभव वार्तालाप-शैली ही अपनाती है ।

तुलसी चतु:शती के अवसर पर जब कई विद्वान नाना तरीकों और शैलियों में उनका विश्लेषण कर रहे थे तब त्रिलोचन का एक ही समस्या आकुल कर रही थी : तुलसी की रचना-प्रक्रिया की प्रासंगिकता । स्वयं कवि के अनुसार भी उनकी मनोभूमि तुलसी के अधिक निकट है । निश्चित ही समय और परिस्थितियों की सापेक्षता में उपजी भिन्नताओं के साथ ।

> तुलसी और त्रिलोचन में अंतर जो झलके
> वे कालांतर के कारण हैं । देश वही है,
> लेकिन तुलसी ने जब-जब बात कही है
> उसे समझना होगा संदर्भों में बल के ।[284]

इसीलिए तुलसी के "लोक मंगल" लक्ष्य की ओर उन्मुख होने पर भी उन्हें किसी "राम" की आवश्यकता नहीं है । मात्र "लोक" ही पर्याप्त है । उसका मंगल भी वह स्वयं ही कर सकता है । मात्र उसे पहचानवाने की आवश्यकता है । रचनाकार उस ओर संकेत मात्र कर सकता है ।

यों निराशा-अकेलापन और ऊब आदि भी उनमें मिलती हैं किंतु वे मात्र इतना ही दर्शाती हैं कि वे अपने समूचे संयम और मर्यादा के साथ भी गहराई से मानवीय है ।

> एक विरोधाभास त्रिलोचन है । मैं उसका
> रंग-ढंग देखता रहा हूँ, बात कुछ नई
> नहीं मिली है । घोर निराशा में भी मुसका
> कर बोला, कुछ बात नहीं है अभी तो कई

---

284. ताप के ताये हुए दिन - त्रिलोचन पृ-49.
285. वही- पृ-47
286. वही- पृ-25

और तमाशे में देखूँगा । मेरी छाती
वज्र की बनी है, प्रहार हो, फिर प्रहार हो
बस न कहूँगा । अधीरता है मुझे न भाती ;
दुख की चट्टी नहीं का स्वाभाविक उतार हो ।[285]

निश्चित ही यह धैर्य इस प्रकार की ऊब और निराशा को अधिक जड़ पकड़ने नहीं देती ।

मौन के सागर में
गहरे-गहरे
निशिवासर डूब रहा हूँ

जीवन की
जो उपाधियाँ हैं
उनसे मनही मन ऊब रहा हूँ ।[286]

कथ्य और शिल्प के अभिन्न होने की बात प्रसंगानुसार कई बार लिखी जा चुकी है । उनकी कविता को "व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र के बीच में शब्द और शब्द के अंतर्गत अर्थों की यात्रा"[287] (विष्णुचंद्र शर्मा) कहा गया है । वस्तुत: त्रिलोचन हिन्दी-भाषी प्रदेशों के जातीय मूलों (जीवन और भाषा के) से गहरे जुड़े हैं । वे बोल-चाल की भाषा और साहित्यिक भाषा का इस प्रकार मिलाने में सिद्ध हस्त हैं कि एक ठेर भारतीय पहचान जहाँ उनके कथ्य से उभरती है, वहीं उनकी भाषा भी अन्य समकालीन कवियों से अलग-अलग किंतु अपने आंचलिक तथा तत्सम चरित्र को एक साथ उजागर करती हुई जीवन से अपने सम्बन्धों को ही पुष्ट करती है ।

शब्दों से कभी कभी काम नहीं चलता ।
जीवन को देखा है
यहाँ कुछ और
वहाँ कुछ और
इसी तरह यहाँ वहाँ

हर दम कुछ और
कोई एक ढंग सदा काम नहीं करता

तुम को भी चाहूँ तो
छूकर तरंग
पकड़ रहूँ संग
कितने दिन कहाँ कहाँ
रख पाँगा रंग
अपना भी मन चाहा रूप नहीं बनता ।[288]

बातों-सी भाषा और धरती से जुड़ी सरल शैली ने उनकी कविता को एक कथा-आयाम भी दिया है । कई कविताओं में उन्होंने छोटी प्रभावशाली कहानियों को गूंथा है । कविता के भीतर सरल भाषा में प्रेमचंद की परम्परा को याद दिलाने वाली भिन्न, विशिष्ट चरित्र रचता है बल्कि शीतुपढीय परिप्रेक्ष्य में, व्यावसायिकता के गर्त में गिरती कहानी-विधा को किसी सीमा तक सही पथ-निर्देश भी करता है ।

उपर्युक्त विवरण-विवेचन की पृष्ठभूमि में हम पूर्व-अध्याय में किये जा चुके विवेचन-विश्लेष्य की याद करें तो स्पष्ट होगा कि त्रिलोचन का "सृजन" अपनी ठोस ज़मीन और उसकी भाषा से जुड़े होने के कारण पश्चिम की आधुनिक-कविता से प्रशिक्षित और आंतकित आलोचकों के लिए अधिकांशतः उपेक्षणीय यही रहा । एक औपचारिकता के तहत कभी प्रयत्न भी किया गया सरलीकृत आधार तलाश लिये गये और "मेहंदी और चांदनी" जैसे सॉनेट [वर्षा-सी कर - भरी हवा, मेहँदी की मुँह महँ / जो करता है, मैं अंजलि भर-भर पीजाऊँ ।"] उद्धृत कर दिये गये । पर यह कभी नहीं सोचा गया कि "कविता" को लेकर जो एक रूढ़ या यांत्रिक किस्म की अवधारणा, तथाकथित आधुनिक साहित्य के पठन-पाठन से, हमारे दिमागों में घर कर गयी थी ; त्रिलोचन की कविता उसके आगे एक प्रश्न बन कर खड़ी हो ती है । कविता ढल जाता है और त्रिलोचन उसे तोड़ते हैं । नागार्जुन मुक्तिबोध और शमशेर की तरह ।

289. -वही- पृ-51.

त्रिलोचन का एक सॉनेट है --"अपनाही घर / महल खड़ा करने की इच्छा है शब्दों का / जिस में सब रह सके रम सकें लेकिन साँचा / ईंट बनाने का मिला नहीं है, अब्दों का / समय लग गया, केवल काम चलाऊ ढाँचा / किसी तरह तैयार किया है सब की बोली / ढोली लाग-लपेट, टेक, भाषा, मुहावरा / भाव, आचरण, इंगित, विशेषता फिर भोली / भूली इच्छाएँ, इतिहास विश्वका, बिखरा / हुआ रूप-सौंदर्य भूमिका, स्वर की धारा / विविध तरंग-भंग भरती लहराती गाती / चिल्लाती, झकझोरती फिर मनुष्य आवारा । गूंगे, असभ्य, सभ्य, शहराती या देहाती / सबके लिए निमंत्रण है अपना बनजाने / और पधारे इसको अपना ही घर माने ।"[289]

केदारनाथ सिंह ने सही विश्लेषण किया है - "मैं यहाँ "साँचा" शब्द को रेखांकित करना चाहूँगा, क्यों कि साँचा यहाँ वास्तव उस बड़ी वास्तविकता की ओर इशारा कर रहा है जो शब्दों से, बाहर है । × × × कवि के भीतर यह तीखा अहसास है कि शब्दों का ऐसा महल बनाने के लिए, जिस में सब रह सके, और रम सके, मानवीय सम्बन्धों का सारा ढाँचा बदलना होगा । त्रिलोचन की कविता इसी बुनियादी चिंता से पैदा होने वाली कविता है ।"[290]

त्रिलोचन के सम्बन्ध में निराला की कला-दृष्टि के दाय को पहले ही याद किया गया है । सत्ता-मीमांसा को छूते हुए कई सवाल जब त्रिलोचन के यहाँ काव्य-रूप लेते हैं तो निराला के अंतिम दिनों के गीतों की याद आये बिना नहीं रहतीं । "× × × निराला और त्रिलोचन के बीच जो पूर्वापर सम्बन्ध है, उसके ऐतिहासिक आधार को ठीक-ठीक समझे बिना त्रिलोचन के काव्य की पूरी बनावट को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता[291]।"

इसीलिए उनकी चर्चा इतनी कम हुई और प्रगतिवादी आलोचकों ने भी प्रायः नामोल्लेख या दो-चार पंक्तियों से अधिक का दायित्व नहीं निभाया । मुक्तिबोध द्वारा "धरती" की समीक्षा का इसीलिए अत्यधिक

---

287. शब्द - त्रिलोचन - फ्लैप पर प्रकाशित टिप्पणी
288. तापके तापे हुए दिन - त्रि त्रिलोचन पृ-43.
289. --वही-- 51.

महत्व है । वस्तुत: उत्तेजनाप्रिय साहित्यिक रुचियों के लिए त्रिलोचन की गहरी प्रगतिशीलता संदिग्ध थी । "बिना जोर से बोले, बिना आँख उलीचे, पक्षधरता संकेत की दम्भ भरी घोषणा किये बिना, कैसे कोई गहरी विचलन भरी बात कह सकता है,[292] यह त्रिलोचन की कविताएँ पढ़कर जाना जा सकता है । कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की प्रगतिशीलता भी तात्कालीन प्रदत्त प्रगतिशीलता (शोर शराबे, ललकारों और चीखों और शिकायतों से भरी) के प्रति एक प्रतिरोध थी । त्रिलोचन के लिए किसी भी सही कवि के लिए प्रगतिशीलता या क्रांति कोई शाब्दिक और अमूर्त जीवन-दर्शन नहीं होती - वह जीवन जीने इस प्रक्रिया में "बृहत्तर" होने और "इस होने" की राह में आते रोड़ों को हटाने में होती छटपटाहट, मेहनत और यातना होती है ।

यदि त्रिलोचन ने सॉनेट जैसे मंद लय के छंद को अपनाया तो उसे जस का तस प्रयुक्त नहीं किया । सौंदर्योद्धारक प्रतिरोध से युक्त कवि चरित्र से वे कभी च्युत नहीं हुए । अँग्रेजी प्रभाव से आये इस छंद को रोला के मात्रिक छंद में ढालकर उसे हिन्दी कविता को अपनी निजीलय के साथ बिठादेना कोई कम महत्वपूर्ण सृजनात्मक कार्य नहीं था । यों "रोला" का चयन भी त्रिलोचन की हिन्दी भाषा की गहरी पहचान का प्रमाण देता है ।

जब शोकयुद्धीय प्रभाव से साहित्य में कई जटिल और घुमावदार रूप-विधानों का बोलबाला था तो त्रिलोचन का "वस्तु" का वस्तुरूप में वर्णन करने का प्रयास एक ऐतिहासिक महत्व का संकल्प ही कहा जायेगा । एक साथ लोक-कविता, क्लासिकी कविता और प्रेमचंद के कथा-साहित्य से जुड़ती हुई यह वर्णन-मूलक तथ्य परक शैली ने एमरी और केट्स की कुछ कविताओं की परम्परा में है ।

कविताई से जुड़े सारे प्रलोभनों को परे रखकर तथा कथाव्यात्मक हो जाने का खतरा उठाते हुए "वर्णन" का सधा इस्तेमाल त्रिलोचन की कई कविताओं की विशिष्टता रही है ।

---

290. दस्तावेज 13-14, केदारनाथ सिंह का लेख पृ-142
291. -वही- पृ-143
292. पूर्वग्रह - 39-40, सोमदत्त का लेख "जब कि वे लोकार्क हो सकते थे पृ-53.

त्रिलोचन के सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहचान है, यह पद्धति या शैली । जब सामान्य उत्पादन के तरीकों तक को तकनीक - विज्ञान तंत्र प्रभावित-निर्धारित कर रहा हो और साहित्यिक उत्पादन के तरीकों को, अनिवार्यत: अपने स्वरूप को बनाना-बिगाड़ना पड़ रहा हो तब सूक्ष्म, विशिष्ट जटिल कला-शिल्पों की ओर ध्यान न देकर शुद्ध वर्णनात्मका की अपनी कथा-वाचन पद्धति का अवलंब लेना एक जोखिम का काम था किंतु त्रिलोचन ने वह जोखिम उठायी और वर्षों तक हाशिए पर धकेले जा कर, मात्र पृष्ठभूमि में बने रहकर अपनी साधना की कीमत भी चुकायी । कथा-परक लंबी कविताओं को छोड़ दें भी दें तो कई कविताएँ यह बताने के लिए पर्याप्त है कि शीतयुद्ध की साहित्यिक शासा की पूरी सक्रियता के इन बीच में त्रिलोचन अपनी विशिष्ट वर्णन-ग्र शैली, सहजता और कभी कभार उसमें व्यंग्य का पुट देकर उस मानव की पक्षधरता में रचनाएँ रचते रहे, जो करुणा और प्रेम का केन्द्र, औसत भारतीय आदमी है ।

यह सच है कि बुद्धि का अतिरिक्त अनुशासन अथवा समय जैसे कई बार अखरता है, इसी तरह यह भी राजनीति के बारे में, राजनीतिक बोध और राजनीतिक पक्षधरता की कविताओं का उनके काव्य-संसार में कोई स्थान नहीं है । वे सीधे-सीधे उस मामूली आदमी के बारे में बताते हैं, जो अपने आने में ही भारतीयता का प्रतीक होता है, उसी के बोध का विस्तार करते हैं और उसी की पक्षधरता की प्रेरणा देते हैं । वह मामूली भारतीय आदमी जिस प्रकार क्लासिकीय और लोक परम्पराओं का मिला-जुला उत्तराधिकारी है ; त्रिलोचन की कविताएँ भी उसी का अनुसरण करती हैं - वे अपनी धरती से जुड़ने में ही अपने प्रतिरोध को संभव करती है —

1. नदी ने कहा था : मुझे बांधो
मनुष्य ने सुना और
तैर कर धारा को पार किया ।

नदी ने कहा था : मुझे बांधो
मनुष्य ने सुना और

सपरिवार धारा को
नाव से पार किया ।

नदीने कहा था : मुझे बांधो
मनुष्य ने सुना और
आखिर उसे बांध लिया
बांध कर नदी को
मनुष्य दुह रहा है
अब वह कामधेनु है ।[293]

प्रकृति पर मनुष्य की अद्यतन विजय-गाथा को एक छोटी-सी कविता में इस प्रकार समेट देना त्रिलोचन को एक सिद्ध कवि के रूप में प्रस्तुत करता है —

11. कितने ही ये शब्द, बिठाया, कहा - बड़े हो
तुम्हीं लोग- यह बात और पहले पा जाता
तो क्या होता रूप और ही कुछ आ जाता
जीवन मेरे पास आज तुम जहाँ खड़े हो
वहाँ तुम्हें पहचान चाहिए, तभी बड़े हो
ममता का मृदु मर्म दिखाए, यदि गा जाता
सभी तुम्हारे अन्य तो वह छा जाता
जन कर सब का सत्य, उसी के लिए लड़े हो ।
बोले मुझसे शब्द - यहाँ से वहाँ, वहाँ से
और वहाँ तक मौन तरंगित हम चलते हैं ;
यह अपार आकाश हमारा अपना घर है
हम जीवन के शूल फूल सब कहाँ कहाँ से
कहाँ कहाँ चुपचाप डालते हैं, जलते हैं
तभी अदम्य प्रकाश विश्वजीवन का वर है ।[294]

---

293. ताप के तारा हुए दिन त्रिलोचन पृ-13

उपर्युक्त कविता त्रिलोचन की उद्‌बोधनात्मक-संबोधनात्मक शैली का प्रतिनिधि करते हुए सॉनेट पर उनके अधिकार को भी सूचित करती हैं । "शब्द-" त्रिलोचन के लिए मात्र भाषा-गत संपत्ति नहीं होते । वे सुखी-दुखी मानव होते हैं । "शब्द को ब्रह्म" माननेवाली परम्परा भी उनमें इस प्रकार गूंजती है —

॥१. बड़े-बड़े शब्दों में बड़ी-बड़ी बातों को
कहने की आदत औरों में है, पर मेरा
ढर्रा अलग पथा है । ढोलों के पातों को
थाती की मर्यादा देकर पक्का घेरा
तोड़ दिया ।"[295]

इस प्रकर त्रिलोचन ठेठ भारतीय चरित्र के सहारे साम्राज्यवादी शक्तियों को मंशा को विफल करते रहे । सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का यह रूप "लड़ते हैं" मगर हाथ में तलवार नहीं" को चरितार्थ करता हुआ अपनी सरलता और सहजता में अनुपम है । प्रभावगामिता की विशिष्टता ही इसकी सफलता का प्रमाण है । निराला के दाय के संदर्भ में हमने "दृष्टि" की बात कही थी । त्रिलोचन की वह "दृष्टि" ही उनके प्रतिरोध का आधार रही है । कुंठा, हताशा जैसी भावनाओं को आस्था में घुलाते हुए वे संयुलित विवेक से काव्य चरण में संलग्न रहे । "शब्द" के परिष्कार से प्राप्त दिशा उन्हें जन की ओर उन्मुख किये रही और वे "शब्द" और "जन" को एकमेक करते हुए काव्याचरण के धरातल पर सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में रत रहे । अधिकांशत: वे सफल हुए हैं । जहाँ वे असफल हुए, वहाँ उनका अत्यधिक आत्म-संयम और बुद्धि का वर्चस्व ही कारण रहा । किंतु शीतयुद्ध की गोलंदाजी उनके काव्य-व्यक्तित्व का कुछ भी न बिगाड़ सकी ।

नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर और त्रिलोचन के रचना-गत प्रतिरोध-संदर्भों के विस्तृत विवेचन के समय यथावसर वे सारे मुद्दे उभर कर आये हैं ; जिनके सहारे यह प्रमाणित हो चुका है कि शीतयुद्ध को तथाकथित

---

294. शब्द - त्रिलोचन पृ-
295. इस जनपद का कवि हूँ पृ-

शाखा चूंकि नकारवादी भावनाओं को सृजन के स्तर पर अथवा सौंदर्यबोधात्मक रूप में प्रस्तुत करके "प्रतिरोध" को या तो विवेक-हीन विरोध में ढालना चाहती है या फिर कायरता-युक्त समर्पण में । ऐसे में हमारा निष्कर्ष यह है कि जीवन को स्वीकार करने की प्रवृत्ति अपने सृजनात्मक रूपांतरण में निश्चित ही "शीतयुद्ध" के प्रति प्रतिरोध करेगी । जीवन को अमूर्त रूप में ले न देख कर युग-सापेक्षता में देखा जाना चाहिए । इसी संदर्भ में रूमानी भावनाओं का महत्व होता है । कोई भी शुरुआत रूमानी ही होती है, वह तो बाद में युग के कटु यथार्थ से टकरा कर वयस्क होती है । अर्धसामंतवादी अर्धपूंजीवादी व्यवस्था में पूर्ण वयस्कता तो एक आदर्श मॉडल के रूप में ही कल्पित की जा सकती है किंतु सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर उस आदर्श को छूना संभव होता है । सृजन की यह शक्ति होती है कि वह अपने श्रेष्ठ क्षणों में किसी भी "दुई" या दरार को पाट देती है और अखण्ड रूप में उस सौंदर्य-रूपी वयस्कता को प्रस्तुत करती है, जो यथार्थ के साथ सृजनात्मक सरोकार से ही निष्पन्न हो पाती है ।

केदारनाथ अग्रवाल निश्चित ही जीवन-स्वीकार के कवि हैं । इंद्रिय-बोध के स्तर पर उन्होंने प्रकृति को अपनाया । अपनी रचना-प्रक्रिया को उन्होंने, "बाहर से आये ज्ञान के साथ भीतर के ज्ञान को गुम्फित होने" के आधार पर समझाया है ।[296] प्रस्तुत शोध-प्रसंग में यह समझ हमारे कोई अधिक काम की नहीं है । उनका इस तरह का गद्य मात्र उनकी मंशा को प्रकट करता है । वे "जीवन", बचपन-परिवार-वर्ग-आजीविका आदि से जहाँ पहुँचे हैं ; वहाँ कला-शिल्प का वर्चस्व मिलेगा । —"इसीलिए बाहर आयी कविता को मंजी होना चाहिए । उसका रूप-निखार, उसका शिल्प उसे अधिक काल तक जीवित रखता है । × × × मेरी कविताओं में शिल्प का सौंदर्य मिलेगा । वह सौंदर्य उसके स्थापत्य के शिल्प का सौंदर्य है ।"[297]

---

296. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ-4।
297. —वही— पृ-ब 5.

केदारनाथ अग्रवाल का गद्य प्रायः आत्मश्लाघा से भरपूर रहा है। रोसा इसलिए हो सका कि वे अपनी रचनाओं को लेकर अत्यधिक आत्म-सजग हैं। यह आत्म-सजगता ही उनकी कविताओं को "प्रभाववादी" घेरे से निकलने नहीं देती। वे "देखते हैं"। आँखों द्वारा दिखने यथार्थ को ही उन्होंने सौंदर्यबोधात्मक रूप दिया है। दूसरे शब्दों में, उस ह चाक्षुष यथार्थ ने ही ह स्वयं को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर प्रकट किया है। वे कहते भी है --"मैंने प्रकृति को चित्र के रूप में देखा है। उसके सम्पर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है; उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौंदर्य है। ध्वनियों की धारा है। कहीं-कहीं क्लासिकीय अभिव्यक्ति है।"[298]

हम पूर्व में बता चुके हैं कि केदार ने निराला को कला कारिता का दाय प्रदान किया। उनके सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध का परिचय उनके गद्य से कतई नहीं मिल पाता। यह सही है — "मैं इसे भी वैज्ञानिक नहीं समझता कि काव्य का मूल्यांकन - या पुनर्मुल्यांकन - केवल कथ्य या शिल्प या कलात्मकता के आधार पर किया जाय और उसके सामाजिक या राजनयिक प्रभाव को दरकिनार कर दिया जाय और कृति को केवल कृति की एकमात्र इकाई के रूप में देखा जाय। × × × मैं इसे वैज्ञानिक नहीं समझता कि काव्य वस्तुवत्ता से आदमी के इतिहास से उसके कार्य कलाप से - उसके द्वंद्व से - उसके सुख-दुख से - उसके विचार और चिंतन से उसकी भाषा से - उसकी सामाजिकता और राजनीति से - काटकर, केवल उसके (काव्य के) अपने आदिम धरातलपर, समझा और परखा जाय।"[299]

प्रस्तुत शोध प्रसंग में भी समझने और परखने की यही नीति अपनायी गयी है। केदारनाथ अग्रवाल की वस्तुवत्ता "जीवन-आस्था" है। "इस जीवन-आस्था का पक्का चरण है, जीवन के प्रति, समग्र जीवन के प्रति स्वीकार भाव जिसका जैविक-ऐंद्रिय स्तर है यह जीने मात्र की संयत उद्दाम-वासना, जो ऐसे इंद्र धनुषी रूपों में यहाँ (केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में) चित्रित हुई है।"[300]

---

298. —वही—
299. समय समय पर - केदारनाथ अग्रवाल पृ- 5.

केदारनाथ अग्रवाल के सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध का यही स्वरूप है - जीवन के स्वीकार का कलात्मक चित्रण । एक कविता है - "चील्ह" (रचनाकाल सन् 24 मार्च, 1958) -

चील्ह
दबाये है
पंजों में
मेरे दिल को
हरी घास पर
खुली हवा में
जिसे धूप में
मैंने रक्खा ।" [301]

उपर्युक्त छोटी कविता में "दिल" को केन्द्र में रखकर जिस द्वंद्व की सृष्टि हुई है, वह केदारनाथ अग्रवाल के काव्य संसार की प्रमुख चारित्रिक विशिष्टता-प्रकृति-सौंदर्य और उसकी अपेक्षा में मानव-सौंदर्य- को प्रकट करती है । हरी घास, खुली हवा और धूप ही उनके दिल के रहने की जगह है । उपर्युक्त कविता में आये "खुली हवा" के संदर्भ में हम "बसंत हवा" ("हवा हूँ, हवा, मैं बसंती हवा हूँ") [302] कविता को याद कर सकते हैं । "धूप" तो केदारनाथ अग्रवाल के काव्य-संसार में इतने रूपों और इतनी छवियों में मिलती है कि उनके जीवन की चाह या जीवनी-शक्ति की प्रतीक बन जाती है । कभी धूप शंकर के जटाजूट पर नभ से गंगा की तरह उतरती है ("धूप का गीत") [303] कभी वह खरगोश की तरह पलंग पर बैठती है, जिसे छू कर कवि को जीने का ज्ञान हो जाता है ("धूप नहीं, यह / बैठा है खरगोश पलंगपर / उजला, / रोएँदार, मुलायम / इसको छूकर / ज्ञान हो गया है जीने का / फिर से मुझको ।/") [304] यहाँ तक कि "प्रिया" का आना भी धूप जैसा ही है ("हमारी नुम । / आज धूप जैसे ही आयी /") [305] और कभी वह मैं के में आयी बेटी की तरह मगन है ("धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने / मैके में आयी बेटी की तरह मगन है ।") [306]

---

300. आधुनिक हिन्दी कविता - सं० जगदीश चतुर्वेदी - अमृतराय का लेख
पृ-80.

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं के प्रसंग में प्रसिद्ध रूसी सौंदर्यशास्त्री चर्नीशेव्स्की का एक कथन प्रासंगिक होगा -"सुंदर हम उस वस्तु को कहेंगे, जिसमें हम जीवन का वांछनीय रूप देखते हैं । × × × वही वस्तु सुंदर है, जिसमें हम जीवन का वांछनीय रूप देखते हैं ।"[307] इस तरह केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध विशिष्ट महत्व प्राप्त कर लेता है । वह जीवन को स्वीकार करता है और जीवन ही तो अपने पूर्ण और संवेदनशील रूप में "सुंदर" होता है । जो कहीं भी, किसी भी स्तर पर जीवन को हानि पहुँचाता है, वह असुंदर होगा । वे तो यहाँ तक कहते हैं —

हाथ जो,
चट्टान को
तोड़े नहीं
वह टूट जाये ;
लोहे को
मोड़े नहीं
सौ तार को
जोड़े नहीं
वह टूट जाये ।"[308]

जीवन आस्था के साथ संबद्ध "संघर्ष" भी उनका अनिवार्य "कथ्य" है । × × × केदार की कविता में निष्क्रिय जनता चित्रण हो या सक्रिय जन का, उसमें निराशा का वर्णन हो या आशा का, उसकी अंतर्वस्तु हमेशा एक होती है - संघर्ष ।"[309] यह निश्चित है कि "जीवन-आस्था" और "संघर्ष" जिस काव्य संसार का अनिवार्य "कथ्य" हो, उसे रूपवादी नहीं कहा जा सकता ।

---

301. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ-50.
302. " पृ- 20.
303. " पृ-32
304. " पृ-50
305. " पृ-52
306. " पृ-63

शमशेर के साथ ही केदारनाथ अग्रवाल को "अल्पवादी" कहा-सुना जाता रहा है। शमशेर के प्रसंग में जो कहा जा चुका है, उसे फिर से यहाँ दुहराया जा सकता है कि रूपवाद कभी खास "वस्तु" का आग्रह नहीं करता क्योंकि उसके लिए अंतिम निर्णायक महत्व "रूप" को होता है। एक प्रगतिशील "वस्तु" का आग्रह हमेशा ही केदार में रहा है।

अपनी विशिष्ट जीवनी के कारण एक कबीर-नुमा अपराधबोध भी उनमें यदा-कदा मिलता रहा है।—

"मैंने खोला बंद कोठरी के किवाड़ का पल्ला / बरसों बाद, सुनी मैंने जड़ लकड़ी की चर्र-मर्र/खोला धमीने / कोई निकलेगा महान वहाँ भीतर से / जिसे देखकर प्रमुदित हो जाऊँगा मैं / किंतु है मुझे खेद / कि वह निकला था एक बौना /मेरी मुखाकृति का / और मैं लजा गया अपने से।"[310]

किंतु इस तरह की रचनाएँ इनी-गिनी ही हैं। वरना केदार तो "बहुधे खुश गया हूँ मैं / धूप में धान के खेत की तरह हर्ष से हरा-भरा / भीतर लहरा-लहरा /"[311] ऐसी अनुभूतियों के कवि है। इसी कारण उनमें एक अभिमान की सीमाओं को छूता-आत्म-विश्वास भी है - हम/बड़े नहीं / फिर भी बड़े हैं / इसलिए कि / लोग जहाँ गिर पड़े हैं / हम वहाँ तने खड़े हैं / द्वंद्व की लड़ाई भी / साहस से लड़े हैं / न दुख से डरे / सुख से मरे हैं / काल की मार में / जहाँ दूसरे डरे हैं / हम वहाँ अब भी / हरे-भरे हैं /"[312]

जब चहुँ दिशि क्षिप्त-वातावरण हो तो ऐसी कविताएँ अपने स्वभाव से ही प्रतिरोधात्मक होंगी। " मैंने उसको/जब-जब देखा / लोहा देखा / लोहा जैसा / तपते देखा / गलते देखा ढलते देखा / मैंने उसको /गोली जैसा /चलते देखा /"[313] यह कविता लिखने के लिए जिस मानस की अपेक्षा होती है, वह पूरी मज़बूती के साथ केदार के पास है।

---

307. आलोचना 56-57, नंदकिशोर नवल का लेख पृ-62 पर उद्धृत

308. केदारनाथ अग्रवाल पृ-65

309. —वही—

310. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ-176

"आँख" भी एक प्रक्रिया है । वह "मानवीय आँख" बनने के लिए एक प्रशिक्षण में से गुज़रती रहती है । अत: जब कोई आँख उपर्युक्त कविता में आये उस को देखती है, तो मात्र इसी कृत्य से अपनी चयनात्मक प्रतिरोधात्मक को प्रकट कर देती है । एक स्वाभिमान भी इसी के चलते हैं । जब एक छद्म-अस्तित्ववादी चेतना का गुणगान किसी भी प्रदर्शन-प्रियता को मात कर रहा हो तब इस प्रकार का स्वाभिमान निश्चित ही सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के प्रतिमान पर खरा उतरेगा - "जी के काम/ किये जीने में / सम्प्रति/सांग लिये सीने में / रुचि को रचना / रची मरम से / बांध / नहीं बाँधे / कुकरम के 314 इसी प्रकार --"देखें दाँव / पेंतरे झेले / खायी मार / मोर के मुँह की / आँख न फूटी / मत्त गयंदी पदाघात से / कमर न टूटी / नरम जीभ से × हमने / दिग्गज-पर्वत / ठेले /"315

निश्चित ही ये कविताएँ "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध करती है और यह प्रतिरोध सौंदर्यबोधात्मक स्तर का है । वर्णन, गति और उनसे संयुक्त बिम्ब-प्रतीक आदि जब गाँव, खेत, धूप आदि को प्रकट करते हैं, तो केदार की कलम "तल्लीन आँख" बन जाती है और पूरी भागीदारी के साथ बारीक से बारीक पहलुओं को अउजागर करती है । गाँव का महा जन हो, या हथौड़े का गीत या फिर ऐसी कविताएँ —

1. "कंठ से नहीं / अब पाँव से निकलता है संगीत / हाथ से उमड़ता है संगीत / अवश्यंभावी है / नाश पर निर्माण की जीत ।"316
2. ऐसा भी हुआ है कभी / कि सूर्य मरा पैदा हुआ है सवेरे/ और आदमियों ने फिर भी / अंधकार को ललकारा है / कि वह भाग गया है / दुम दबाये हुए कुत्ते की तरह ।"317

---

311. पंख और पतवार - केदारनाथ अग्रवाल पृ- 28.
312. --वही-- पृ-47
313. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ-98. यह ध्यान देने की बात है कि केदार की कविता आँख ने इस तरह के जीवन को कईबार देखा है और चित्रित किया है । ये इंद्रिय-बोध की दृष्टि से "पंत" की

3. सबसे आगे/ हम हैं / पाँव दुखाने में ; सबसे पीछे /
हम हैं / पाँव पुजाने में / सबसे ऊपर / हमें हैं /
व्योम झुकाने में / सबसे नीचे / हम हैं / नींव उठाने में /"[318]

इस प्रकार "हम हैं वहाँ" रोटी के पैदा होते ही, हम नरहेंगे, लेखक की स्वतंत्रता, उदास दिन आदि कई कविताओं को कवि की "जीवन-आस्था" और "संघर्ष" विषयक वस्तु-सत्ता के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है ।

किंतु हमने लिखा कि शीतयुद्ध एक राजनीतिक गूंजों-अनुगूंजों वाला "पद" है और उसके संदर्भ में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का चरित्र भी अनिवार्य तथा स्पष्ट तौर पर राजनीति युक्त होगा । शमशेर त्रिलोचन और केदार उसी अर्थ में राजनीतिक कविताएँ लिखते हैं, जिस अर्थ में पूर्व में अरस्तू का "मनुष्य राजनीतिक प्राणी है" कथन उद्धृत किया गया है । स्पष्ट ही इस में अतिव्याप्ति है । मुक्तिबोध और नागार्जुन के संदर्भ में निश्चित ही राजनीतिक सक्रियता या कर्म (Political Praxis) की चर्चा उनकी कविताओं की रचना-प्रक्रिया को समझने में मदद देती है । जब कि यदि शमशेर अथवा केदार ने कभी इस प्रकार की कविताएँ लिखीं तो यह उनके कविता संसार में कोई नियम नहीं, अपवाद ही कहा जायेगा । इनके यहाँ सामाजिक मनुष्य, एक विशेषीकृत अर्थ में ही "राजनीतिक" समझा जा सकता है । इस तर्क के अनुसार कि आज मनुष्य अनिवार्यता "राजनीतिक" होगा ही । वह इस तथ्य से अपनी मंशा के कारण नहीं बल्कि अपनी युगीन स्थिति के कारण जुड़ने को बाध्य है ।

शीतयुद्ध के संदर्भ में, पूरी तरह से सचेत होकर कवि कर्म तो केवल मुक्तिबोध ने ही संपन्न किया जब कि नागार्जुन का काव्य-संसार सहज

परंपरा में आयेंगे पर उसमें निहित प्रगतिशीलता उन्हें एक प्रतिरोध-सा कवि बनाती है ।

314. पंख और पतवार - केदारनाथ अग्रवाल पृ-
315. —वही—
316. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ-186

अपने स्वभाव के चलते, राजनीतिक प्रतिरोध का उदाहरण बनता है । कहा जा सकता है कि शमशेर की कुछ कविताएँ स्पष्ट रूप में उनके साथ जुड़ी हैं । यों शीतयुद्ध की साहित्यिक परिणतियों और घातक मंशाओं के विरुद्ध अपनी-अपनी जीवनियों के अनुसार अलग-अलग प्रतिरोध धर्मी चरित्र का निर्वाह करते हुए शमशेर, त्रिलोचन और केदार-नागार्जुन और मुक्तिबोध के साथ ही खड़े होते हैं । निष्कर्षतः प्रथम उत्कर्ष (सन 36-50) में विवेचित ये कवि द्वितीय उत्कर्ष (सन 50-67) में भी आधार भूत महत्व रखते हैं । शीतयुद्ध के माध्यम से कारगर होती साम्राज्यवादी शक्तियों की साहित्यिक दार्शनिक मंशाओं का यदि नागार्जुन अपनी जन-धर्मी का रयित्री प्रतिभा के द्वारा प्रतिरोध करते हैं तो मुक्तिबोध आत्म-संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष से एकमेक करके शीतयुद्धीय प्रभावों की काट करते हैं । शमशेर की कविताओं का सौंदर्यबोधात्मक मनुष्य (Aesthetic man) त्रिलोचन का औसत भारतीय और केदार का जीवन-आस्था और संघर्ष के लिए प्राकृतिक-सौंदर्य से शक्ति खींचता हुआ दर्शक-कवि ; निश्चित ही शीतयुद्धीय कारणों से अमानवीकृत होते संसार के बरक्स जीवन-ऊष्मा और सौंदर्य से भरपूर मानवीय संसार को खड़ा करते हैं और अंततोगत्वा यदि सन 67 के बाद फिर वाम-पंथी उभार का रचनात्मक परिदृश्य दिखायी देता है तो इसका बहुत कुछ श्रेय सन 50 के आसपास से प्रभाव कारी होते शीतयुद्ध की गोलंदोजी से तनिक भी विचलित न होते, इन कवियों के रचना-कर्म को ही दिया जाना चाहिए ।

प्रथम उत्कर्ष में विवेचित कवियों में "शील" भी इस द्वितीय उत्कर्ष के काल-खण्ड में निरंतर सक्रिय रहे हैं । फिर भी यदि उनकी सक्रियता का एक गलत मूल्यांकन किया जाता रहा है तो वह इसलिए कि एक ओर-जन आंदोलनों में उनकी सक्रिय भागीदारी रही है और फलस्वरूप समय-असमय जेल प्रवास भी जारी रहा ; दूसरी ओर वे नाटक-विधा से अपने रचनात्मक सरो-

---

317. —वही- पृ- 182

318. —वही- पृ- 119

319. कंक-समकालीन जनवादी कविता -अंक -शिवकुमार मिश्र का लेख पृ-72.

कारों के कारण पृथ्वी-थियेटर्स से जुड़े रहे । फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में-उनकी में यह महत्वपूर्ण है कि "जन संघर्षों में शील की सक्रिय भागीदारी ने उनकी कविता को तेजस्वी बनाया है और उसे ऐसे अनुभवों तथा विचारों से समृद्ध किया है, जो संघर्षरत जन समाज की आकांक्षाओं का सही प्रतिबिम्ब है ।"[319] वे अनुभव और विचार साहित्यिक प्रगतिशील किताबों से प्राप्त ऐसी दृष्टिके लिए नितांत "पराये" सिद्ध होते हैं, जो "जन संघर्ष" का जाप करते हुए भी साहित्य से ही नज़ारा करना चाहती है । नंद किशोर नवल मार्क्सवादी आलोचना की विश्वसनीयता को बनाये रखने के लिए आवश्यक समझते हैं कि शील की गिनती उपर्युक्त पाँचों कवियों के साथ न की जाय । "काव्य-विवेक से नितांत शून्य व्यक्ति ही शील को उक्त कवियों के साथ गिनती योग्य समझ सकता है ।"[320]

प्रथम उत्कर्ष के विवेचन के दौरान हम कहा चुके हैं कि शहर-केन्द्रित साहित्यिक उत्पादन-वितरण की संस्थाओं के पूंजीवादी चरित्र ने एक बड़ी जन-संख्या को साहित्यिक क्षेत्र से बाहर खदेड़ दिया है । लिखित मांग पर भरोसा करके बैठ जानेवाले साहित्यकार अपने सारे प्रगतिशील विचारों के बावजूद इस "खदेड़े जाने के षड्यंत्र में सम्मिलित रहते हैं । इस स्थिति में शील सीधे नागार्जुन से जुड़ते हैं । न तो कविता (काव्य-शिल्प) के और न काव्य लक्ष्यों के स्तर पर कोई दुर्बलता या भटकाव उनके यहाँ मिलता है । उस खदेड़ी गयी विराट जनता के लिए जो न तो साहित्यिक आस्वादन के लिए पर्याप्त अवकाश पाती है न प्रकाश, स्थान आदि रूपों में निश्चित ही सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का नया और सार्थक आयाम प्रस्तुत करती है । इस प्रकार मुक्तिबोध और शमशेर की इच्छाओं का काव्य (पोस्टर ही कविता है" मुक्तिबोध / और नागार्जुन के स्वर में योगदान देने का संकल्प करते शमशेर) शील में प्रतिफलित हुआ है । हज़ारों की भीड़ में अपने काव्य-पाठ से ओज की लहरें उठाते शील, निश्चित ही उपर्युक्त पाँचों के साथ हैं और विशेषत: नागार्जुन के । "नागार्जुन के बाद जन कवि का सही चरित्र हमें शील में दिखायी पड़ता है ।"[321] इन दोनों

---

320. आलोचना 56-57 नंदकिशोर नवल का लेख पृ-97.

321. (युग कंक - समकालीन जनवादी कविता अंक - शिवकुमार मिश्र का लेख पृ-72.

कवियों ने जब साथ-साथ काव्य पाठ किया है तो श्रोता-समूह को एक अद्वितीय अनुभव हुआ है ।[322] साहित्येतर कारणों से अर्थात जन-संघर्ष में सक्रिय भागीदार के परिणाम स्वरूप यदि वे इने-गिने स्थलों पर ही श्रेष्ठ हो सके हैं तो उनके मूल्यांकन का आधार वे स्थल ही होंगे । और फिर शील में "कथ्य" के रूप में आनेवाला मानव मात्र राजनीतिक (स्थूल अर्थ में) ही हो, ऐसा नहीं है ।

मानवता और उसके जीवन का उल्लास भाव से समारोह शील की कविताओं का भी विशिष्ट चरित्र रहा है । " × × × शील अपने उल्लास-भाव के कारण विशिष्ट है । यात्राओं के बीच गुजरते-बनते जीवनानुभवों से अपनी धरती के भूगोल को रूप देते जीवन-वास्तव के संधान में लीन दिखायी पड़ते है ।"[323] याद आयी मालवा की भूमि तन्वंगी/ नदी, पर्वत घाटियों की का धनी पहने /ढालता है सांध्य सूरज - नित्य सोने के कलश / × × × दिखी मालव-गीत की वह सुघर-गोरी--/बाजरे का खेत, शुभ्रमवान, धनुषाकार-गोपा /गोफने में भरे मालव गीत, गा/सुग्गे ह उड़ातो ।"[324] इन पंक्तियों की काव्यात्मकता से क्या वे किताबी प्रगतिशीलता से ओतप्रोत आलोचक इंकार कर सकते हैं । यों साहित्य में भी अफ़वाहों का बाज़ार गर्म होता है और किसी रचनाकार पर चिप्पी चिपकाते हुए आलोचक अपने अध्ययन-विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों से परिचालित होने के बजाय प्राय: उन्हीं अफ़वाहों के असर में आकर वह दुष्कर्म करते हैं । "नारेबाज कवि" के रूप में शील को पहचनवाना भी उसी दुष्कर्म का एक उदाहरण है ।

---

322. शिवकुमार मिश्र ने एक ऐसा संस्मरण लिखा है, जिसके अनुसार नागार्जुन और शील ने एक ही रचना का (नागार्जुन की "संत विनोबा मांगे दान" कविता" सम्मिलित पाठ किया था । "प्रदत्त" साहित्यिक आस्वादन की रूढ़ियों के प्रति भी सृजनात्मक सरोकार आवश्यक हैं और लिखित के अभिजात चरित्र को तोड़ती "शील" की मौखिक चरित्र युक्त कविता का महत्व इसलिए अत्यधिक है ।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि यदि किसी रचनाकार ने इनी-गिनी ही श्रेष्ठ रचनाएँ लिखीं हो और उसके पास निकृष्ट रचनाओं का भण्डार हो तो भी मूल्यांकन उन्हीं चंद श्रेष्ठ रचनाओं के आधार पर होगा । संख्या-बल का महत्व जनतंत्र के लिए चाहे जितना हो किंतु काव्य-संसार में तो गुणवत्ता ही देखी जानी चाहिए । -"जून में पड़ी कंखड़ी की तरह, चुभते हैं विकल्पों के सार्थ । सूरज पे झपटते हैं चमगादड़, रातों को भला क्यों नींद आये ।"[325] ऐसी पंक्तियों को क्या नारेबाजी कहकर नकारा जा सकता है ? यह सच है कि "कोमल मानवीय संवेदनाओं से लेकर जन-संघर्षों में तपी प्रखर अनुभूतियों तक शील की कविता का प्रसार है ।"[326] मंचीय कविता कहकर नाक-भौं सिकोड़ने वाले आलोचकों की अभिजातोन्मुख प्रवृत्ति के बारे में यहाँ कहने का अवकाश नहीं है । निष्कर्षतः हम यही कहना चाहेंगे कि शीतयुद्ध की साहित्यिक शाखाओं द्वारा प्रचारित-प्रसारित जन-विरोधी सिद्धांतों-वादों को शील अपने काव्याचरण द्वारा निरस्त करते हैं । कर्म-विरोधी शब्द का परिहार मात्र "कर्म" हो कर सकता है । "शब्द" को कर्म से काट कर देखना और उसे ही "कर्म" घोषित करना चाहे जितने चमकदार सिद्धांतों में लपेटकर प्रस्तुत किया जाये ; उस श्रम-रूपी कर्म के लिए घातक ही सिद्ध होता है, जो साहित्य-क्षेत्र से खेद की गयी जनता का जीवन-निर्धारक होता है । यह आकस्मिक नहीं है कि शील ने अपने नये काव्य-संग्रह का नामकरण "कर्मवाची शब्द हैं ये : किया है । वे "कर्मवाची शब्द" ही शील की कविता का समूचा रूप-विधान निर्धारित करते हैं । उनके इस "सवाल" को क्या मंचीय कविता या नारेबाजी कहकर नकारा जा सकता है - "पीछे पड़ा अतीत प्रगति में बाधक है / आगे खड़ा विषाद कष्ट किंतु परिवेश नहीं / नौकरशाह विषाक्त विषमता के रक्षक / शोषण के परिणाम जन्म लेते हैं तस्कर/पूंजीवादी खेत देख लो बिन पैसे / नेता संत महंत फरी कैसे-कैसे / लूट रहे सामंत पुलिस की छाया में / बैंक किसका है राज तिजारत किसकी है / किसका यह सिद्धांत सियासत किस की है / पतनोन्मुखी विकास, शरारत किसी की है ।"[327]

---

323. सप्रेषण - परम्परा और समकालीन कविता - पर केन्द्रित अंक - जीवन सिंह का लेख पृ-45.
324. —वही— पृ-13.

हमारा उत्तर निस्संदेह नकारात्मक होगा । समग्रता में देखने पर कवि के संवेदनात्मक उद्देश्य की ओर से कैसे आँखें मूंदी जा सकती है ? निश्चित नहीं "शील" का यह उद्देश्य कभी नहीं रहा कि ऊँचे किस्म की होने के गौरव से गौरवान्वित साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकों-लेखकों को वे संतोष दें । हमारे प्रस्तुत विवेचनके अंतर्गत वे निस्संदेह सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध के कवि सिद्ध होते हैं, यद्यपि इस प्रसंग में गिनी जा सकने योग्य रचनाएँ उनके पास कम ही हैं । कहा जा चुका है कि इस स्थिति के पीछे जनांदोलनों में भाग लेना, जेल-प्रवास आदि कई साहित्येतर किंतु रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से महत्वपूर्ण कारण रहे हैं ।

पूर्व में कहा जा चुका है कि युग में दो विपरीत शक्तियाँ परस्पर संघर्ष-रत रहती है । इसी प्रकार व्यक्ति में भी । इसलिए यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि ये पाँच-छह कवि ही उस समूचे परिदृश्य में महत्वपूर्ण थे तथा अन्य महत्व हीन । कवि-व्यक्तित्व को हमने युग से ऊपर नहीं माना है । वह युग को ही अभिव्यक्त करता है और जब उसे क्रांत दृष्टा आदि कहा जाता है तो यह भी युग और उसके बीच के घात-प्रतिघात पर ही एक विशिष्ट टिप्पणी होती है । युग का तथाकथित अतिक्रमण भी उस युग के कारण ही संभव हो पाता है ।

कवि-व्यक्तित्व भी एक द्वंद्वात्मक संघर्ष का परिणाम होता है । "कविता की भाषा यथा संभव बोल-चालके करीब हो" - वर्डस्वर्थ के इस उक्ति कथन को अपना आदर्श बनाने वाले भवानी प्रसाद मिश्र का उल्लेख हम व्यावसायिकता के प्रसंग में कर चुके हैं । इसी प्रकार "×× × मैंने अपनी कविता में प्रायः वही लिखा है, जो मेरी ठीक पकड़ में आ गया है । दूर की कौड़ी लाने की महत्वाकांक्षा भी मैंने कभी नहीं की ।"[328] ऐसा आदर्श रखने वाले भवानीप्रसाद मिश्र की यह सादगी और सहजता का सौंदर्यबोधात्मक चरित्र

---

325. जनवादी कवि और प्रतिबद्ध कविताएँ - सं० स्वामी शरण स्वामी पृ-50.

326. वंक - समकालीन जनवादी कविता अंक पृ-73. वस्तुतः मंच को जो विकृत रूप इन दिनों प्राप्त होता है, उसके सामाजिक-आर्थिक कारण हैं । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावसायिकता प्रवेश कर रही है और प्रत्येक मूल्यवत्ता को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है, तो मंच का "उद्योग" बन जाना एक सहज-स्थिति है ।

भी शीतयुद्ध के प्रति प्रतिरोध की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है । बोलचाल की भाषा को आदर्श मानना ही इस बात का प्रमाण है कि "उनका लिखना पाठकों के लिए उतना नहीं रहा जितना कि श्रोताओं के लिए । कवि की यह आकांक्षा नहीं कि उसका लिखा हुआ सिर्फ़ कागज के पन्नों पर रह जाए । "मैं जो लिखता हूँ उसे जब बोलकर देखता हूँ और बोली उसमें बजती नहीं है तो मैं पंक्तियों को घिसाता-घुलाता हूँ । बोल-चाल, हिन्दी की मेरी ताक़त है ।"[329]

इस प्रकार "भाषा" की तुलना में बोली को प्राथमिकता देना भवानी भाई के काव्य-चरित्र को उजागर करता है । यदि उन्हें "हल्के-फुल्के पन" का कवि कहन कर चलताऊ ढंग के उल्लेख का पात्र बना दिया गया तो इसी लिए कि बंधी-बंधाई [प्रदत्त] आस्वाद-प्रक्रिया से पर्याप्त भिन्न ठहरते हैं । व्यंग्य -" मैं असभ्य हूँ क्यों कि खुले नंगे पाँवों चलता हूँ । मैं असभ्य हूँ क्यों कि धूल की गोदी में पलता हूँ / मैं असभ्य हूँ क्यों कि चीरकर धरती धान उगाता हूँ । मैं असभ्य हूँ क्यों कि ढोल पर बहुत जोर से गाता हूँ / × × × आप सभ्य हैं, क्यों कि धान से भरी आपकी कोठी / आप सभ्य हैं क्यों कि जार से पढ़ पाते हैं पोथी / आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े स्वयं बने हैं / आप सभ्य हैं क्यों कि जबड़े खून सने हैं /"[330] अथवा - "भई, सूरज ! जरा इस [illegible] आदमी को जगाओ ! वक्त पर जगाओ / नहीं तो जब बेवक्त जागेगा यह / तो जो आगे कतल गये हैं / उन्हें पाने / घबरा के भागेगा यह /"[331] तथा इसी क्रम में "निरापद कोई नहीं है", दरिंदा, किस मुँह से, आदि कविताएँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है । संबोधन के कवि होने के कारण उद्बोधनात्मक कविताएँ उनके पास भर पूर है । जिन्हें "राष्ट्रीय" कहा जा सके, जो समाज में मनुष्य की बिगड़ती हुई स्थिति के प्रति अपनी चिंता को व्यक्त करती है और वह ललकार कर श्रोता पाठक को याद दिलाये कि वह आदमी है ; ये सारे गुण भवानी मिश्र उसकी ओर से आँखें मूंद लेना साहित्य-मूल्यों की रक्षा की दृष्टि से कोई श्रेयस्कर आचरण नहीं कहा जा सकता । [illegible] शील और नागार्जुन ने कभी ऐसा साहित्यिक-आभिजात्य नहीं अपनाया । इस परंपरा में आज रमेशरंजक, शलभश्रीरामसिंह, माहेश्वर तिवारी, अशोक चक्रधर आदि के नाम आते हैं । वे न तो साहित्यिक मूल्यांकन में दुर्बल ठहरते हैं और न मंच पर ही छूट होते हैं ।

प्रसाद मिश्र की कविताओं का प्रतिरोधात्मक चरित्र बढ़ते हैं । विजय बहादुर सिंह ने उन्हें "पुरुषार्थ" का कवि कहा है । "कहना होगा कि निराला के बाद पौरुष का यह अकेला कवि है । × × × × पौरुष एक समूची संस्कृति है ; उद्‌बोधन और आक्रोश उनकी धाराएँ मात्र । पौरुष सबसे पहले अपने तईं चरितार्थ होता है ।"[332]

भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं का शीतयुद्धीय राजनीति के प्रसंग में यही महत्व है कि वे भारतीय जीवन और समाज पर केन्द्रित रहते हैं । जटिलता के विरोध में सरलता को लाकर वे जीवन का ही पक्ष लेते हैं । मुक्तिबोध ने उन्हें "सिद्ध" कवि कहा है । सरलता को इतनी सहजता के साथ सिद्ध कर लेना कोई मामूली बात नहीं । बिना किसी छद्म के जीवन से साक्षात्कार करते हुए भवानी प्रसाद मिश्र निश्चित ही बुनियादी रूप से उन प्रवृत्तियों को मज़बूत करते हैं, जो कला जनित औदार्य के नाते पाठक-श्रोता के अनुभवों में बिना किसी कठिनाई के घुल जाती है । जब वे कहते हैं[333] घटनाएँ / हम तक आयें / इससे अच्छा है / कि हम /घटनाओं तक / जायें /" तो अर्थों से कहीं आगे एक उद्‌बोधनात्मक प्रभाव (=सौंदर्य) की सृष्टि होती है ।

उन्होंने कालांतर में ऐसी भी कविताएँ लिखी हैं, जो कल पढ़ने लायक नहीं हो सकती । किंतु भवानी भाई को इसकी कभी चिंता नहीं रही । वे निस्पृह भाव से "अबाध ठीक बात / कही जा सकती है । केवल अबाध ठीक कविता में / वही कहने के लिए जिंदगी जीता रहा ।[334]

जीवन में और उसकी कविता में अदम्य आस्था रखने वाले कवि अपनी सरलता, आदार्य, करुणा, उद्‌बोधन और व्यंग्य से निश्चित ही सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध का चरित्र रखते हैं

:327- लाखा अमर झूल शीत पृ- 36

328. दूसरा सप्तक - सं० अज्ञेय पृ-7।

329. भवानी प्रसाद मिश्र - विजय बहादुर सिंह पृ-14.

330. —वही— पृ-28-29

331. —वही- पृ-42

332. —वही- पृ-21

फिर भी नागार्जुन-शील आदि के मुकाबले भवानी भाई का गांधीवाद कई ऐसे घपले खड़े करता है कि उनका कविता-संसार भी खंडित होता है । नागार्जुन से उनके विषय में पूछने पर उनका उत्तर था — "गांधी वादी कवित वधिक केन्द्रित होने को बाध्य हैं । भवानी भाई इस के परम उदाहरण हैं । इस लिए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और बनियों दोनों को प्रिय हैं । उनका मानवतावाद शोषण का उतना तीखा विरोध नहीं कर सकता । × × × हम से यह होता नहीं कि "मन क भी दहाड़ता रहे और मुस्कुराते भी रहें । "आलोचनात्मक रुख मन में हो और पूँछ होकर पहुँच जाउँ यह नेता लोग करते हैं । हमसे नहीं होता ।"[335]

वांछित तटस्थता के अभाव की बात मुक्तिबोध ने की है । एक अमूर्तता भी उनकी कमज़ोरी रही है । संभवत: यह उस गांधीवादी दर्शन के कारण है, जो एक "भारतीयता" की अपनी अवधारणा को धुरी बनाता है । ऐसी भारतीयता, जिसके विस्तार और गतिका कोई ओर-छोर नहीं ।"[336]

उपर्युक्त स्थिति से जुड़ी अनिवार्य न्यूनताओं के बावजूद "भवानी भाई की कविताएँ ....चुनौतियों का करारा जवाब देने की कोशिश कर रही हैं । न वे कभी हार मानने वाली हैं और न उन्हें विचलित ही किया जा सकता है ।"[337] ऐसी दृढ़ और अपराजित कविताओं को हम नागार्जुन-मुक्तिबोध आदि के साथ यदि एक पंक्ति में नहीं खड़े बिठा सकते तो क्या हुआ ? यह भी तो सच है कि जीवन-समर्थक होने के नाते वे उनकी विरोधी भी नहीं हो सकती । अपनी सामग्री, वस्तु, रूप और प्रभाव में उनकी सह्योगिनी ही सिद्ध होती है ।

न्यूनाधिक रूप से यह तथ्य कई अन्य कवियों के लिए भी सच है । हरिनारायण व्यास ने अपने वक्तव्य में कहा था --"भाषा जीवन और समाज का एक प्रबल शस्त्र है, किंतु उसे जीवन से अलग होकर नहीं, जीवन में ही रहना है ।

---

333. वही

334. आलोचना की पहली किताब - विष्णु खरे पृ-66.

335. नागार्जुन का रचना संसार - विजय बहादुर सिंह पृ-172

यदि कविता की भाषा दुर्बोध रही तो उसका कर्म - अर्थात लड़ने में मनुष्य का सहायक होना अधूरा ही रह जाता है । इसलिए ग्राम-गीतों के शब्द और लय मुझे प्रिय हैं ।"[338] रघुवीर सहाय ने शमशेर बहादुर सिंह के कथन को बराबर याद रखने की बात कही -"शमशेर बहादुरि सिंह का यह कहना मुझे बार-बार याद रहेगा कि जिंदगी में तीन चीज़ों की बड़ी जरूरत है : आक्सीजन मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल, जो हम जनता में देखते हैं । रघुवीर सहाय भाषा के बारे में भी यही राय रखते हैं -"भाषा को भी साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है ।"[339]

"दूसरा सप्तक"में हरिनारायण व्यास और रघुवीर सहाय आरंभ कर रहे थे । कालांतर में अवश्य इनकी कविताएँ वह प्रौढ़ता प्राप्त कर सकीं थी कि उन्हें सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध के चरित्र से युक्त कहा जा सकता है । सन 67 में "आत्महत्या के विरुद्ध" प्रकाशित हुआ था, जिसमें रघुवीर सहाय अपने प्रतिरोध को एक ऐसी सौंदर्यबोधात्मक ऊँचाई दे सके थे कि ये पंक्तियाँ सदा के लिए अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण स्मरणीय हो गयी - "इन टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर एक कायर टूटेगा टूट / मेरे मन टूट एक बार सही तरह / अच्छी तरह टूट मन झूठ मूठ अब मत रूठ / × × × दर्द दर्द मैंने कहा क्या अब नहीं होगा । हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द /"[340] रघुवीर सहाय ने लिखा है -"कविता वस्तुओं के अंदर से निकले, वस्तुओं को छूकर निकले जाये × × × "लेखक को यह अनुभव करना चाहिए कि शैली में किया हुआ कोई भी प्रयोग विचार वस्तु के दिलो-दिमाग में उतरने के तरीकों पर निर्भर रहेगा और ज़रूरी है कि वह अपनी अनुभूति को उसी प्रकार सुधारे ताकि कविता भी वैसी जानदार हो सके जैसे कवि वास्तविकताएँ हैं ; जिन से वह कविता की प्रेरणा लेता है ।"[341]

वस्तुओं को बहाना या निमित्त बनाकर उन का इस्तेमाल करने के बजाय उन्हें उनकी समग्रता में सारे अंतर्विरोधों के साथ ग्रहण करना ही वह कारण रही है कि उनकी कविताओं को "साहित्यिक अर्थ में साहित्यिक कविताएँ नहीं माना गया । अपनी सफल और श्रेष्ठ रचनाओं में रघुवीर सहाय "एक साथ

---

336. भवानी प्रसाद मिश्र : विजय बहादुर सिंह पृ-22

337. --वही--

वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कई-कई प्रसंगों में अर्थ विकीर्ण करने लगते हैं। "ऐसे कुछ स्थलों पर रघुवीर सहाय ने शब्द को जितना अर्थवान बनाया है; संभवत: उतना किसी एक स्वातंत्र्योत्तर कवि ने नहीं।"[342]

राजनीति के संदर्भ में भी सच है कि उनकी श्रेष्ठ कविताएँ "राजनीति" को छूकर नहीं रह जाती और न दूर से उसका वर्णन करती है बल्कि उसके भीतर से निकलती हैं और पाठक के राजनीतिक बोध का विस्तार करती हैं। उन्होंने एक स्थल पर स्पष्टत: कहा है "राज्य और व्यक्ति के संबंध को अधिकाधिक समझना आधुनिक संवेदना की शर्त है। इस शर्त से कतराना मनुष्य मनुष्य की आज की अवस्था को मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर मानकर चलने के बराबर है। वैसा मान लें तो फिर कुछ रचने को रह ही नहीं जाता ----सत्ता और वाणी का द्वंद्व तीव्रतर होता जा रहा है और संस्थानों की वृद्धि, जो संगठित समाज में अनिवार्य है, सत्ता को वाणी के मुकाबले अधिकाधिक शक्तिवान बनाती जा रही है : इस आक्रमण के सामने लिखते रहना और अपने लिए हर बार अद्वितीय लिखते रहना लेखक के लिए जीवित रहने का अंतिम उपाय है। अन्य वे सब उपाय जो राज्य के अधिकारों को सीमित और भाषा को जीवित रखने में सहायक हों, लेखक को वैसे ही करने चाहिए जैसे औरों को करने चाहिए।"[343]

मेरा प्रतिनिधि, "वे फिल्म के बादवीस" आदि कई कविताएँ बतलाती है कि किस प्रकार सन् 60 के बाद के राजनीति-सामाजिक परिदृश्य ने साहित्यिक परिदृश्य को निर्णायक रूप से प्रभावित किया है। इसके बावजूद कि वे यथार्थ को, संघर्ष को एक सुरक्षात्मक दूरी से ही हमेशा देखते हैं और एक लगाव या जुड़ाव उनमें नहीं मिलता या फिर संघर्षशील तबकों को सक्रिय करती राजनीतिक विचारधारा और संगठन का पक्ष लेती राजनीति के प्रति उनमें एक गहरा संशय भाव मिलता है; वे मानवीय सहानुभूति के रास्ते से "समसामयिक संसार की भयावहता को, उसके पाखंड, षड्यंत्र, निर्दयता, बेशर्मी, फूहड़पन और नृशंसता को पहचानते हैं और उन्हें अपना विषय बनाते हैं।"[334]

---

338. दूसरा सप्तक सं० अज्ञेय पृ-6।
339. ---वही--- पृ-150-151।
340. आत्म हत्या के विरुद्ध - रघुवीर सहाय पृ-

शीतयुद्धीय जकड़न में छटपटाते संसार की उपर्युक्त प्रवृत्तियों को अपने सौंदर्यात्मक प्रतिरोध का लक्ष्य बनाते हुए रघुवीर सहाय, इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रसंग में, उल्लेखित विवेचित कवियों के साथी सिद्ध होते हैं ।

नरेश मेहता की "समय देवता" जैसी कविताएँ भी क्रम में उस सौंदर्य-बोधात्मक प्रतिरोध को पुष्ट करती है । वस्तुत: एक सीमा तक अमूर्त मानववाद भी अपने सृजनात्मक क्षणों में जीवन का पक्षधर ही सिद्ध होता है । "समय देवता ! ऐसे समय तुम्हें मेरी पृथ्वी का परिचय प्राप्त हुआ है, जब कि यह की चीलों के मुँह में हड्डी की गंध आ रही है । युद्धों के दरों में मानव टूटा हुआ सा आज एक मैदान वाहता । और वाहता देश-देश की आनी अब कटी हुई नदियों को जोड़ / खेत में पानी देता ।"[345]

नरेश मेहता की कविताओं के प्रसंग में "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध की बात करते समय प्रस्तुत शोध प्रसंग की उस उपपत्ति को याद रखना आवश्यक है कि दो विपरीत शक्तियों का संघर्ष जहाँ किसी भी युग का अनिवार्य चरित्र होता है, वहीं व्यक्ति का भी । कवि भी अपवाद नहीं होता ।

सन 50 के आसपास यदि समूचा परिवेश सही गहरे विवादों में घिर गया था तो यह प्रत्येक कवि-व्यक्तित्व के लिए भी सच था । यों तो "कविता" लिखना, शब्द की, अभिव्यक्ति की उस परम्परा से जुड़ना है, जो अपने उत्स से ही जीवन को पक्षधर होती है । किंतु हमारे विवेचन का केन्द्र "प्रभाव" (सौंदर्य) है । यह किस सीमा तक जटिल प्रत्यय है ; हमारा अद्यतन विवेचन इसको एक संक्षिप्त वानगी देता है ।

यदि किसी कवि में घनघोर व्यक्तिवादी रुझान मिलते हैं या फिर जीवन-विरोध का समारोह मिलता है तो कारण मात्र वह कवि-व्यक्तित्व ही नहीं होता । उस का परिवेश युग, समय आदि भी निर्णायक भूमिका निभाते है । - थी घिरी उस सांझ भी बखरी हरित-सी बदलियाँ ।"[346] इस

---

341. लिखने का कारण - रघुवीर सहाय पृ-
342. उत्तर गाथा, अक्टूबर-जून 83, पृ-40.
343. रास्ता इधर है - रघुवीर सहाय पृ-

गीत-पंक्ति में निश्चित ही स्मृति के साथ काव्य-स्तर पर एक सरोकार की चेष्टा है । क्या यह चेष्टा अपने आप में पर्याप्त है । हमने जीवन समर्थक और द्वंद्वात्मक होने पर भी बल दिया है । "जीवन" एक अमूर्त प्रत्यय नहीं, बल्कि ठोस सामाजिक राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति की एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है । क्या उस "प्रक्रिया" को पकड़कर यह रचना है ? यही यह भी ध्यातव्य है कि रचनाकार की पंक्ति पंक्ति पढ़कर और उनके साथ सृजनात्मक वार्ता करके ही यह पता चल सकता है कि कवि और कविता के पारस्परिक सम्बन्धों का रूप क्या है ? क्या वे जीवन-प्रक्रिया में सहायक होते हैं ? अनुभूति, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण इन तीनों स्तरों पर प्रक्रिया की जटिलता का निर्वाह होता है या नहीं ?

आरंभिक स्थिति में अपने नये पन से चमत्कृत करनेवाली शैली, यदि "प्रक्रिया" नहीं रह सकी तो कालांतर में रूढ़ि बन जाती है । मुक्तिबोध के अनुसार अपने सेंसर्स विकसित करलेती है ।

सन् 50 के आसपास जिस शीत-युद्ध की बात, इस चर्चा के अंतर्गत की जा रही है, वह अपने उत्स, विस्तार और प्रभाव में "व्यक्ति" को महत्व दे कर, व्यक्ति-स्वातंत्र्य का दर्शन प्रस्तुत करता था अर्थात किस प्रकार उन विशेष सामाजिक-राजनीतिक उद्देश्यों" को पाया जाय, कि जो कुल मिलाकर लेखक-कलाकार को वास्तविक-जीवन (=संघर्ष-प्रक्रिया) के आमने-सामने न होने दे ताकि वह जिस जीवन की पुनर्रचना करे, वह कृत्रिम, एकांगी अथवा अधूरा हो ? वास्तविक संघर्ष-मय जीवन यदि कला में पुनर्रचित हुआ तो निस्संदेह उसमें वामपंथी प्रवृत्तियाँ मुखरित होंगी ।"[347]

समूचे शीतयुद्ध का उद्देश्य वामपंथी मनोवृत्तियों से युद्ध करना रहा है । परवर्तीकाल में रूस-चीन के इस दौड़ में सम्मिलित होने के बाद अपना-अपना "बंद-मार्क्सवाद" (Closed Marxism) ही उनके प्रचार-प्रसार

---

344. आलोचना की सस्ती किताबें - विष्णु खरे पृ-73.
345. दूसरा सप्तक - सं० अज्ञेय पृ-144
346. कविता और कविता - सं० इन्द्रनाथ मदान - 309
347. मुक्तिबोध रचनावली - पाँच पृ-333.

का उद्देश्य रहा । दूसरे शब्दों में, एक दूसरे का तथाकथित वामपंथ ही विरोध का लक्ष्य रहा । इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि इन नव-शीत युद्धीय स्थितियों में वाम-पंथ की ही दो धाराएँ भारतीय भूमि पर परस्पर टकरा गयी । ऐसा क्यों और कैसे हुआ ; इसकी विवेचना हमारे प्रस्तुत शोध क्षेत्र की सीमाओं में नहीं आता । इसकी सांस्कृतिक साहित्यिक परिणतियाँ (कविता रूप में) ही हमारे विवेचन-विश्लेषण की लक्ष्य है ।"

जब वाह्य का आभ्यंतरीकरण होता है तो निश्चित ही ये सारी विरोधाभासी स्थितियाँ भी आंतरिकीकृत होती हैं । एक ओर हम पाते हैं कि सन् 1950 के आसपास काव्य-क्षेत्र में उभरतेवाला हरनाम प्रगतिशीलता से ओतप्रोत वक्तव्य दे रहा है तो दूसरी ओर, हम यह भी देखते हैं कि अधिकांश रचनाएँ अपने रचनाकार के वक्तव्यों के ही विरोध में जा रही है ।

तार सप्तक और दूसरे सप्तक के लगभग सारे कवि अपने-अपने ढंग से जन और समाज से जुड़ने की ही बात कर रहे थे । यहीं यह तथ्य उजागर होता है कि मात्र मंशा इच्छा कभी रचना की नियामिका नहीं हो सकती । मंशा यदि कथ्य के रूप में आयें तो भी यह जब तक ऐसे रूप में प्रस्तुत नहीं होती कि यथेच्छ प्रभाव (=सौंदर्य) उत्पन्न करे, वह "रचना" के रूप में बेमानी है ।

उपर्युक्त भूमिका के साथ जोड़कर यदि नरेश मेहता धर्मवीर भारती आदि के रचना संसार को देखें तो बात ज्यादा स्पष्ट होगी । विचारधारा और काव्य-प्रवृत्ति जिस तरह अलग-अलग खेमों में बँटी हुई ; वह परिदृश्य जितना हास्यास्पद है, उतना घातक भी । मुक्तिबोध के अनुसार प्रगतिशीलता-विरोधी खेमों में सक्रिय महत्वपूर्ण-प्रतिनिधि नाम अज्ञेय और धर्मवीर भारती थे आर प्रगतिवाद के पक्ष में गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचंद्र जैन, नरेश कुमार मेहता, भारत भूषण अग्रवाल आदि थे । जबकि काव्य-प्रवृत्तियों के विभाजन में एक ओर सौंदर्यवादी चित्रण था जिसमें प्रमुखत: हरिनारायण व्यास और अज्ञेय आते थे तथा दूसरी ओर आभ्यंतर प्रतीकात्मक चित्रण की प्रवृत्ति आती थी, जिनके प्रमुख कवियों में अज्ञेय, भारती आदि के साथ मुक्तिबोध ने स्वयं अपना नाम लिया है ।[348]

स्थिति की जटिलता ही इससे प्रकट होती है। विचार धारा की दृष्टि से प्रगतिशीलता विरोधी धर्मवीर भारती काव्य प्रवृत्ति की दृष्टि से मुक्तिबोध को अपने निकट लगते है। कथ्य-रूप के संदर्भ में हम अपने का संकेत कर चुके हैं। मात्र कथ्य (रूप से काट कर देखा जाय तो) कभी "रचना" तत्व का निर्णायक नहीं हो सकता और न मात्र "रूप" ही। ये दोनों इस प्रकार से अलग होते भी नहीं। "कथ्य" ही रूप बनकर सामने आता है। यह दीगर और बहस तलब बात हो सकती है कि रूप "कथ्य" का अतिक्रमण करता है या अपने होने में मात्र कथ्य का माध्यम होता है। वाल्टर बेंजामिन के पूर्व-उद्धृत कथन कि "किसी भी साहित्यिक कृति की प्रवृत्ति तभी राजनीतिक दृष्टि से सही हो सकती है, जब वह साहित्यिक दृष्टि से भी खरी उतरे।" उस अंतर्गुथित सौंदर्यबोधात्मक सत्य को ही सामने रखता है। परिवार, उसमें पलता-वयस्क होता बचपन तथा उसे प्रभावित - निर्धारित करता युग अपने अंतर्विरोधों को निश्चित ही व्यक्ति में प्रवेश कराता है अथवा व्यक्ति उन्हें आंतरिकीकृत स्तर से अभिव्यक्ति-स्तर तक सचेत रूप से प्रतिरोध करने की चेष्टा विश्व-दृष्टि का विस्तार और "अपने" से बृहत्तर होने का संघर्ष न मात्र "प्रदत्त" के प्रतिरोध करता है बल्कि निर्धारित कर दी गयी "प्रक्रिया" अथवा प्रदत्त "प्रक्रिया" के प्रति भी प्रतिरोध करता है। राजनीतिक प्रवृत्ति का साहित्यिक गुणवत्ता के साथ अनिवार्य सम्बन्ध इसी अर्थ में स्पष्ट होता है। यह राजनीतिक प्रवृत्ति निश्चित ही "विश्व-दृष्टि" और उसके विकास के लिए किये जा रहे संघर्ष से जुड़ी होती है। यह प्रक्रिया अपने द्वंद्वात्मक होने में ही जीवन-समर्थक हो सकती है।

नरेश मेहता के गीत जहाँ प्रकृति के प्रति एक सृजनात्मक सरोकार और उसकी सफलता की सूचना देते हैं, वहीं उपमाओं और शब्द-प्रयोगों के प्रति अतिरिक्त सचेतन होकर आलंकारिता के लिए एक मोह भी दर्शाते हैं। कहा जा सकता है कि अपने सफल गीतों में भी वे सज्जा-मोह का प्रदर्शन करता है। "पीले फेन कनेर के" डाकी संझा, किरन-धेनुएँ आदि गीतों में

---

348. मुक्तिबोध रचनावली -5 पृ-325
349. कवितांतर - सं० डा० जगदीश गुप्त पृ-123

"शब्द-चयन" निश्चित ही उस "मोह" का प्रभाव है । प्रकृति का सौंदर्य - उनके लिए अभिव्यक्ति की इच्छा (Desire to express) या सम्प्रेषण की इच्छा (Desire to communicate को) जगाने का विषय नहीं बनता । "दीर्घपर्णी गुछेले सागौनकुल के बीच / उत्सव प्रिया इन द्रोणियों में हिरन रेखा खींच / विनम्रमी बादल, प्रणय लौसे / गुरु जनो की शाल की ये पंक्तियाँ / मित्र बाँहों-सी उठी वन घाटियाँ ; / सीख देती है हमें / यह आयु का अभिषेक है । स्वीकारती संज्ञा, बन पारखी / सुनो ♪ ♪ / डाक्ती संज्ञा, बन पाखी सुनो ♪ ♪ "[349]

यह ध्यान देने की बात है कि "डाक्ती संज्ञा" और "स्वीकारती संज्ञा" में प्राप्त होती लोक-जीवन की छुअन उसी गीत की, तत्सम शब्दावली में अपनी पहचान खो बैठती है और जब "सत्संगीतती संज्ञा" से तुक बिठायी जाती है तो कवि की "प्रभावित" करके की इच्छा स्पष्ट हो कर उभरती है । प्रभाव भले ही सौंदर्य हो पर वह रचना [काव्य ही रूप बन कर] का सहज परिणाम हो यह आवश्यक है । प्रभावित करने की इच्छा, जो प्राय: ~~अलंकरिक~~ आतंकित करने की इच्छा में भी बदल जाती है, जीवन-दृष्टि की कृत्रिमता और अवयस्कता की ही सूचना देती है । प्रभावित करने की इच्छा अनुभूति-अभिव्यक्ति-सम्प्रेषण की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का अद्वंद्वात्मकीकरण करती है । वस्तुत: ऐसी इच्छा ही सृजनात्मकता और द्वंद्वात्मकता के विरोध में जाती है तथा इसी लिए न तो कवि के लिए "सौंदर्यानुभव" का आधार हो सकती है और न पाठक श्रोता के लिए ।

इसे विचित्र तथ्य ही कहा जा सकता है कि जिस अर्थ में प्रत्येक कवि अपनी कविता का प्रथम पाठक होता है, उस अर्थ में कवि स्वयं को ही प्रभावित करना चाहता है । आत्म-निर्देश (Auto - suggestion) का धनात्मक पक्ष भी होता है और हमने देखा है कि मुक्तिबोध की कविताओं में वह पक्ष किस प्रकार सक्रिय होता है, नरेश मेहता की कविताओं में यह स्थिति ऋणात्मक चरित्र से युक्त हो जाती है । "जितने जल उतने ही संशय" जो निश्चित ही समसामयिक परिवेश को एक गीतात्मक लय में चित्रित करने का प्रयास है ; इस प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण हो सकती है । "कब तक जो

350. कवितांतर - सं० जगदीश गुप्त पृ-125

रक्षा जल था / उस खाई जल में / छायाएँ तल जा बैठी है ।" से आरंभ होती हुई वह कविता नरेश मेहता के सधे हुए शिल्प में इस प्रकार के बिम्बात्मक प्रतीकात्मक विधान में वर्णित होती है - जितने जल उतने ही संशय / वृद्ध कंगूरे / दुहरित जल में साँप हो रहे / वनफूलों में /अदृयंत्रों की गंध आ रही / रंग/हत्याकी हँसी सीखे / खिल खिल खिल खिल / कोई सूंघ गया है सब को / अन जाने ही /" किंतु इन पंक्तियों के तुरंत बाद "बन्धु ! हमारी डाकें सब पार्थिव हो रहीं / विधवा की लज्जा-सी /नीवों में दम तोड़ रही हैं ।"[350]

यह निश्चित ही अंतर्विरोधों और विरोधाभासों के कारण ही संभव होता है कि एक ही कविता में कुछ पंक्तियाँ एक सृजनात्मक [अतएव सौंदर्य-बोधात्मक] सरोकारों का उदाहरण बनती है और शेष कविता या तो एक औपचारिकता निभाती है कि किसी प्रकार पूरी हो जाय या फिर एक अवद्धंद्वात्मकीकरण की शिकार हो जाती है । निश्चित ही किसी ऐसी प्रति-सृजनात्मक संगति के कारण, जिसकी जड़े जीवनी - परिवार-बचपन - में होती है ।

कहना न होगा कि नरेश मेहता की कविताओं में, मुक्तिबोध द्वारा देखा गया "प्रगतिवाद", मोटे तौर पर एक उदार किस्म का मानवतावाद ही है । उनकी कविताओं का श्रेष्ठ अंश "करुणा" और "कृतज्ञता" जैसी वैष्णवी भावनाओं से ओत-प्रोत है । प्रस्तुत शोध की शब्दावली में, नरेश मेहता, "प्रतिरोध" के विशिष्ट आयाम को अपनाते हैं । वे "प्रदत्त" समर्पण-रूढ़ियों के प्रति प्रतिरोध तो करते हैं किंतु अपने समर्पण को एक सृजनात्मक छवि देने में असफल होते हैं । "करुणा" और "कृतज्ञता" जैसी भावनाएँ "निजता-बद्ध" घेरे से बाहर निकल कर ही, समग्र परिवेश से जुड़ पाती है । "करुणा" और "कृतज्ञता" जिस बिंदु पर पहुँच कर एक "निजी यूटोपिया" की सक्रियता से जुड़ती है ; वह बिंदु नरेश मेहता की कविताओं में प्राप्त नहीं होता । वे "प्रदत्त" से इस सीमा तक, घनघोर असंतुष्ट नहीं होते कि "आचरण की कविता" = वाम कविता लिख सकें । अधिक से अधिक यही कि वे अपनी काव्य-सर्जना के श्रेष्ठ क्षणों में "वाम" के निकट आ जाते हैं । अधिक सत्य होगा यह कहना कि वे अपनी "कृतज्ञता" को व्यक्त करते हुए उन शक्तियों के साथ नहीं

रहते, जो अपनी चरम निष्पत्ति में प्रति-वाम होती है । पूर्णता नामक कविता को उनकी प्रतिनिधि कविता के रूप में लिया जा सकता है --"जब भी फूल खिलता है / मुझे पूर्ण करता है / गंध/ अतिरिक्त वृथा है / मिट्टी को रंगना /कितनी सार्थक है यह रचना / ओ उदारमना वनस्पति ! कहाँ-कहाँ, किन-किन रूपों में /कर्म को निभाती हो । आरात्रिक कैसी यह वानस्पतिक करुणा हवा में / होती है । यह होना ही पुजा है । वृक्ष जब धर्मरूप होता है / फूल खिलता है । मुझे पूर्ण करता है ।"[35]

नरेश मेहता की कविताओं को हम उस "कृतज्ञता" और "करुणा" की भावनाओं से ओतप्रोत पाते हैं, जो किसी सीमा में जीवन-समर्थक ही होती है । किसी भी अर्थ में, "राजनीतिक कविता" का उन में पूर्णत: अभाव है । वे मात्र मानव वादी कवि हैं । अपनी सारी अमूर्तताओं के साथ ।

किंतु धर्मवीर भारती के साथ निश्चित ही ऐसा नहीं है । वहाँ अमूर्त मानववाद भी एक निश्चित सीमा तक ही रचनाओं को निर्धारित कर पाया है । "टूटा पहिया", "ठण्डा लोहा" आदि के गायक होकर भी वे निराशा, हताशा आदि भावनाओं के साथ कोई सर्जनात्मक सरोकार नहीं रख सके । स्पष्ट कहा जाय तो भारती अपने श्रेष्ठ सर्जनात्मक क्षणों में भी एक आत्म-बद्ध विलाप को ही अभिव्यक्ति कर सके हैं । "अंधा युग" और "अनुप्रिया" जैसी कृतियाँ भी यदि उस तामझाम से अलग करके देखी जाय, जो उन पर स्वयं कवि और आलोचकों द्वारा लादा गया है तो वे "ठण्डा लोहा" और "गुनाह का गीत" या "तुम्हारे पाँव मेरी गोद में" के विस्तार से अधिक और कुछ नहीं लगेंगे । एक आत्म-मुग्धता की स्थिति स्थायी रूप में मिलती है । यदि "बदबोध" का प्रयत्न कहीं सफल होता दीख पड़ता है, तो वह एक ओर तो इस बात का सूचक है कि युग का "दबाव किसी भी मंशा" को अपने पक्ष में कर सकता है और दूसरे यह कि उन उद्बोधनों को भी यदि विश्लेष्यात्मक दृष्टि से देखा जाय तो वे "आत्मालाप" की अथवा आत्म निर्देश की ही एक दुर्बल स्थिति प्रस्तुत करते हैं । "थके हुए कलाकार से" में "सृजन की थकन भूल जा देवता / अभी तो पड़ी है धरा अध बनी /" आदि पंक्तियों में देवता सम्बोधन अमूर्तता की मिसाल आप है । इसी प्रकार उनके प्रसिद्ध गीत

फूल, मोमबत्तियाँ, सपने को ये पंक्तियाँ "जीवन है कुछ इतना विराट, इना व्यापक / उसमें सबके लिए जगह, सबका महत्व / × × × ओ मेज़ों की कोरों पर माथा रख रोनेवाले / हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दे /" 352 ली जा सकती हैं / "सब" और "हर एक दर्द" की अमूर्तता को पहचानने के लिए किसी विशेष विश्लेषणात्मक दृष्टि की आवश्यकता नहीं है । अज्ञेय ने एक बार कहा था "रचना प्रक्रिया में विद्रोह ही अप्रत्यक्ष रूप में हो ; किंतु जीवन-प्रक्रिया अनिवार्यतः उलझी रहती है ।"353 मात्र दया ही की जा सकती है कि किसी रचनाकार का जीवन इतने आत्म-मोह, आत्म-दया और आत्म-घृणा का बखान बन कर रह जाय । ये सारी भावनाएँ भी समग्र से जुड़ने की चेष्टा में सौंदर्यबोधात्मक सफलता प्राप्त कर सकती है किंतु एक प्रति-वाम केंद्रित विश्वदृष्टि को अपनाने का निर्णायक प्रभाव उनकी रचनाओं पर अनिवार्यतः हुआ है ।

नहीं जानती कि शुद्ध युद्ध कौन-सा है / और मैं किस के पक्ष में हूँ / और समस्या क्या है ? / और लड़ाई किस बात को है ?" /354

यह स्थिति, शीत युद्धीय परिप्रेक्ष्य में निश्चित ही परिवर्तन विरोधी प्रवृत्ति को ही सूचित करती है । यदि भारती की जीवनानुभूति अंत में इस पड़ाव पर पहुँची -

"नहीं, अब कोई संघर्ष मुझे छूता नहीं / वह मैं नहीं / मेरा भाई या जटायु / जो व्यर्थ के लिए जा कर भिड़ गया दशानन से / कौन है सीता ? और किस को बधाएँ ? / क्या ? / निराहत तो आखिर में दोनों ही करेंगे उसे / रावण उसे हार कर और राम उसे जीत कर...../ नहीं अब कोई घुनाती मुझे छूती नहीं /. . . . / गुफा में शांति है.../ . . . ./कौन हैं ये समुद्र विजय के दावेदार / कह्दो इन से कि अब यह सब बेकार है । साहस जो करना था कब का कर चुका मैं / ये क्यों कोलाहल कर शांति-भंग करते हैं / देखते नहीं ये / कि सुरक्ष है मेरे लिए छुरियाँ पड़ती हुई पलके उठाकर / गुफा में पड़े-पड़े समुद्र को देखा . . . .×/"354

---

351. कवितांतर - सं, जगदीश गुप्त पृ-126-127

352. कविता और कविता - सं, इन्द्रनाथ मदान पृ-301-302

इसे मोहभंग की स्थिति कह कर गौरवान्वित भी किया गया है किंतु स्पष्टत: यह आत्म मुग्धता की स्थिति है और जिसका एक आयाम ठण्डा लोहा से लेकर अंधा-युग तक फैला है तो दूसरा आयाम उद्‌बोधनात्मक गीतों और घोष्णाओं में प्राप्त होता है ।

यदि प्रस्तुत शोध प्रसंग में पूर्व-विवेचित मिथ्या-चेतना सम्बन्धी चर्चा को स्मरण किया जाय तो पता चल सकता है कि वही, चेतना यहाँ रचनाओं के नाम पर प्रस्तुत हुई है । जब नरेश मेहता "ज्वार आया था - जलयान चले" नामक कविता में इसी "हताशा" की सृजनात्मक प्रस्तुति कर सकने में कुछ अंशों तक सफल हो सके हैं ; भारती एक सौंदर्याभास ही प्रस्तुत कर सके हैं । साहित्यिक विवादों से भरे परिदृश्य में जिसे "मुद्राएँ ओढ़ना" कहा जाता है, यदि वह नरेश मेहता में न्यूनाधिक रूप से मिलता है ; (प्रभावित करने की इच्छा के चलते) तो वह धर्मवीर भारती में तो अत्यधिक है । "क्यों कि भारती अक्सर यह सोचा करता है कि कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ़ अर्थों में रसोद्रेक मात्र न रह कर "प्रभाव डालना" हो गया है ।"[356] दूसरा सप्तक के इस वक्तव्य में एक समूची "प्रभाव-मीमांसा" मिलती है । ध्यातव्य है कि स्वयं भारती द्वारा अपने नाम का प्रयोग भी एक ऐसी फाँकों वाले व्यक्तित्व को सम्मुख रखता है, जो अपने आप से भागना चाहता है । यदि निराला और मुक्तिबोध ने "अहं" की सृजनात्मक निष्पत्ति की थी तो भारती में उसकी विकृति ही प्राप्त होगी ।

राजनीति के प्रसंग में तो नरेश मेहता की ही तरह भारती को गैर-राजनीतिक कवि कहा जा सकता है । किंतु नरेश मेहता ने अन्य विधाओं में, विशेषत: सुबह के घण्टे नामक नाटक में, अपनी मानववाद-सम्पुटित राजनीति को स्पष्ट करने की चेष्टा की है और कुल मिला कर "किस ओर हो तुम ?" जैसे सवालों के उत्तर में यह तो कहा ही जा सकता है कि वे मोटे तौर से "वाम" के ही साथ हैं । किंतु भारती स्पष्टत: प्रति-वाम है ।

---

353. सातगीत वर्ष - धर्मवीर भारती पृ-।।

354. कनुप्रिया - धर्मवीर भारती पृ-73

355. "सम्राती" नामक कविता । कविता और कविता इन्द्रनाथ मदान

"नयी कविता के बुर्ज से जो शीतयुद्ध की गोलंदाजी" की बात मुक्तिबोध ने लिखी थी ; उस में भारती का नाम ज़रूर उनके मस्तिष्क में रहा होगा । मुक्तिबोध भारती को "दाना दुश्मन मानते थे, नादान दोस्त नहीं । × × × श्री भारती से लोहा लेना ही होगा ।"[357]

एक बात का ध्यान आवश्यक है । पूर्व में कहा गयाकि "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध के लिए आवश्यक है कि "प्रदत्त" स्वरूप स्पष्ट हो । उसके स्वरूप को लेकर कई चिंतनाएँ प्रश्न भी उत्तराधिकार में मिलते हैं । उनके साथ्वतार्व करने का तरीका भी । जब कुँवर नारायण - "या तो अबस की तरह बेसबब जीना है / या सुकरात की तरह ज़हर पीना है /" - यह लिखते हैं तो निश्चित ही ~~विवेक~~ नरेश मेहता और भारती से कहीं ज्यादा मानव-समस्याओं से जुड़ते हैं । एक असंतोष और बेचैनी, जो वर्तमान के प्रति उसकी न्यूनताओं को देख कर पनपती है और "प्रक्रिया" को संभव करती है ; कुँवर नारायण में पर्याप्त मिलती है । मुक्तिबोध ने उन पर लिखते हुए उनकी कविताओं को "अंतरात्म की बोद्धित विवेक-चेतना" शीर्षक से सम्बोधित किया है ।

मार्क्स की इस उक्ति का स्मरण हम दसियों बार कर चुके हैं "जीवन ही चेतना को निर्धारित करता है । कुअरनारायण के लिए "साहित्य जब सीधे जीवन से सम्पर्क छोड़ कर बाद ग्रस्त होने लगता है, तभी उसमें वे तत्व उत्पन्न होते हैं, जो उसके स्वाभाविक विकास में बाधक होते हैं । जीवन से सम्पर्क का अर्थ केवल अनुभव मात्र नहीं, बल्कि वह अनुभूति और मनन-शक्ति भी है जो अनुभव के प्रति तीव्र विचार और पूर्ण प्रतिक्रिया कर सके । × × × कविता मेरे लिए कोई भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है ।"[358]

---

356. दूसरा सप्तक - सं० अज्ञेय पृ-178
357. मुक्तिबोध रचनावली -6 पृ-334
358. तीसरा सप्तक - सं० अज्ञेय पृ-147
359. --वही-- पृ-151

कविता क्या है ? का जवाब कुँअर नारायण इस प्रकार देना पसंद करते हैं - "जीवन के इस बहुत बड़े "कार्निवाल में कवि उस बहुरूपिये की तरह है जो हज़ारों रूपों में लोगों के सामने आता है, जिसका हर मनोरंजक रूप किसी न किसी सतह पर जीवन की एक अनुभूत व्याख्या है और जिसके हर रूप के पीछे उस का एक अपना गंभीर और असली व्यक्तित्व होता है, जो इसी सारी विविधता के बुनियादी खेल को समझता है ।"[359]

निश्चित ही इस संवेदना भूमि का महत्व उसकी उदात्त और नैतिक चेतना के कारण ही है । यदि"कुँअर नारायण मूलत: आदर्शवादी रचना कवि है ।"[360] तो यह यथार्थवाद के अथवा भौतिकवाद के विरोध में नहीं है । एक छिछले और सतही-व्यवहार क्षेत्र में निर्वाहन कर पाने की स्थिति से उपजी बेचैनी ही उसके मूल में है । परिवेश से द्वंद्वात्मक सरोकार है । इस सरोकार का स्वरूप दार्शनिक है । यदि उनकी कविताओं में आवेगों का विस्फोट नहीं मिलता है तो इसलिए कि वे जीवन का सार्थकता की खोज में ही कविताओं को संभव करते हैं ।

सुकरात की तरह ज़हर पीना - एक नाटकीय या पराजयवादी या जबरन शहीद बननेवाला विकल्प हो ।[351] किंतु "इन दो ध्रुवों के बीच एक हालत है - ज़हर पीने के बहुत-बहुत पहले से सुकरात की तरह जीना ।"[362]

सुकरात का प्रतीक कुँअर नारायण के काव्य के प्रसंग में एक केन्द्रीय महत्व रखता है । सुकरात अपनी ओर से कभी कुछ न कहता था । वह सिर्फ किसी महत्वपूर्ण मुद्दे पर अलग-अलग पहलुओं से प्रश्न पूछता था कि उत्तर देने का प्रयत्न करनेवाला अपने आप ही असली उत्तर तक पहुँच जाता था ।

जिस प्रकार का परिदृश्य हिन्दी कविता में मिलता है, उसमें कई सारे प्रलोभन हैं । कई सारे डर हैं । यदि लोक प्रियता अथवा आदर का लालच है तो गलत न समझ लिये जाने का डर भी । लेकिन "कुँअर नारायण

360. मुक्तिबोध रचनावली -5 पृ-473
361. आलोचना की पहली की किताब - विष्णु खरे -पृ-79.

की कविता, जो आम तौर पर सच समझ लिया जाता है, जो स्वीकृत है, जग जाहिर है, सर्वमान्य है, उसके विरुद्ध औद्धत्यहीन दृढ़ता से खड़ी है ।"[363]

बस वहीं से लौट आया हूँ हमेशा
अपने को अधूरा छोड़कर
जहाँ झूठ है, अन्याय है, कायरता है, मूर्खता है
प्रत्येक वाक्य को बीच ही में तोड़-मरोड़कर,
प्रत्येक शब्द को अकेला छोड़कर,
वापस अपनी ही बे मुरैव्वत पीड़ा के
एकांगी अनुशासन में
किसी तरह पुनः आरंभ होने के लिए ।"[364]

ऐसे लोगों के संदेह का शिकार बनना आसान और स्वाभाविक है । फिर भी कुछ कुँअर नारायण के लिए ज़रूरी है -"तब ज़रूरी लगता है जिंदा रखना / उस नैतिक अकेले पन को / जिसमें बंद होकर / प्रार्थना की जाती है / या अपने से सच कहा जाता है / अपने से भागते रहने के बजाय / मैं जानता हूँ किसी को कानोकान खबर / न होगी / यदि टूट जाने दूँ उस नाज़क रिश्ते को / जिसने मुझे मेरी ही गवाही से बांध रखा है / और किसी बातूनी मौके का फ़ायदा उठाकर / उस बहस में लग जाऊँ / जिस में व्यक्ति अपनी सारी जिम्मेदारियों से छूट कर / अपना वकील बन जाता है ।"[365]

और अपनी वकालत न करती हुई कविता सुविधा जीवी आलोचना के लिए दिक्कतें खड़ी करती है । एक दूसरे पर संदेह करना और बलिदानी मुद्राएँ ओढ़कर सारे घपले करते रहना एक आम जीवन-चर्या है । इस परिस्थिति में कुँअर नारायण की कविताओं को अस्तित्ववादी कविताएँ कहकर खारिज कर देने का कर्म एक आसान नुस्खे की तरह अपनाया गया हो, तो क्या आश्चर्य ? निश्चित ही "अस्तित्ववाद" और "कुँअर नारायण" की कविताओं को बिना पढ़े (सही अर्थों में) और समझे ही ।

---

362. मुक्तिबोध रचनावली -5 पृ-ष्ठ 473
363. आलोचना की पहली किताब विष्णु खरे पृ-81
364. अपने सामने - कुँअर नारायण पृ-13.

हमने पूर्व-विवेचन में एक स्थल पर संस्कृति को "उन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा कहा है, जो कुल मिलाकर जगत के प्रति मनुष्ट के ~~~~ तात्कालिक रूझानों की बुनियादी श्रेणियों द्वारा निर्धारित होते हैं । इस आलोक में कुअँर नारायण निश्चित ही एक सांस्कृतिक कवि है । यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध द्वारा किया गया विवेचन "पीडित आत्मा की विवेक चेतना" भारतीय संस्कृति के लिए भी लागू होता है ।

हमने पूर्व में ही कहा है कि कवि के विचार और उसकी मंशा को सामने रखकर "कविता" को समझना कहीं नहीं पहुँचाता । "कविता" अपनी सफलता में, अपने स्वभाव से ही अतिक्रमण शील होती है । यदि कुअँर नारायण ने अपने को कभी वामपंथी नहीं कहा लेकिन उनकी कविताएँ इस बात की साक्षी है कि वे वामपंथ के स्वघोषित कवियों से कहीं ज्यादा पक्षधर है । बिना किसी प्रकार की मसीहाई रूमानियत और कागज़ी क्रांति के वे अपनी बुद्धि और विवेक को अन्याय, अत्याचार, बर्बरता, तानाशाही और फासीवादी मानसिकता (जो हमारे साथ नहीं है, वह हमारा शत्रु है) के विरोध में रखते हैं । इस चेष्टा में वे वृथा गुरारि, चीखते, ललकारते आदि नहीं है । विष्णु खरे ने सही कहा है "ऐसे कवि की कोई भी अच्छी कविता आलोचक से केवल सहृदयता, रसज्ञता अथवा आस्वादकता से कहीं ज्यादा मांग करती है - लगभग पूरा जागरूक मनुष्य होने की मांग करती है ।"[366] कुअँर नारायण ने भी लिखा है —"× × × चिल्लाता हूँ "नज़दीक आओ और नज़दीक/ मै तुम्हारा / या किसी का / बुरा नहीं चाहता / तुम क्यों मुझे घेरते हो / अपने शकों से 9 / मुझे एक मनुष्य की तरह पढो, देखो और समझो / ताकि हमारे बीच एक सहज और खुला रिश्ता बन सके । मांद और जोखिम का रिश्ता नहीं ।"[367]

---

365. अपने सामने - कुअँर नारायण पृ-37-38
366. आलोचना की पहली किताब -विष्णु खरे पृ-
367. अपने सामने - कुअँर नारायण पृ-17
368. —वही— पृ-93

निश्चित ही कुअँर नारायण की कविताओं के साथ ऐसा खुला रिश्ता बहुत ही कम आलोचकों ने बनाया है । "लापता का हुलिया", "फौजी तैयारी" जैसी कविताओं का कवि निश्चित ही सांस्कृतिक धरातल से राजनीति को भी देखता है । राजनीतिक बोध को विस्तार देने वाली उनकी कविताएँ उन्हें एक सांस्कृतिक-राजनीतिक कवि भी सिद्ध करती हैं । कवाफ़ी (Cavafy) की विश्व-प्रसिद्ध राजनीतिक कविता "बर्बरों की प्रतीक्षा" (Waiting for the Barbarians) के आधार पर लिखी हुई उनकी कविता "बर्बरों का आगमन" उनकी सौंदर्यबोधात्मक - राजनीतिक चेतना की बानगी प्रस्तुत करती है । कवाफ़ी की कविता में अंतत: बर्बर आते नहीं है और वे प्रतीक्षारत लोगों के लिए एक समाधान हो सकते थे, अब क्या होगा ? (Now what's going to happen to us without barbarians ? Those people were a kind of solution) के समापन को कुअँर नारायण भारतीय स्थितियों पर इस तरह लागू करते हैं -"अब किसी भी बात को लेकर/ चिंता करना व्यर्थ है । वे आ गये हैं / उन्होंने / फिर एक बार हमें जीत लिया है / × × × वे सबके सब / वापस आ गये हैं / शहर की सभी खास और आम जगहों पर उनका कब्जा है / उनके जत्थे अब / लूट की खुली छूट के लिए बेताब है ।"[368]

यह हिन्दी परदृश्य की विडम्बना ही रही है कि अस्तित्ववादी या भाववादी लेबुल लगाकर उनकी कविताओं को रद्द करने का प्रयत्न किया जाता रहा है । मुक्तिबोध ने तो स्पष्टत: पहचाना था "यह कवि, वस्तुत- व्यथित-विवेक चेतना का कवि है । यह विवेक चेतना समसामयिक परिस्थिति-स्थिति के प्रति तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती रहती हैं ।"[369]

फिर भी वे अपनी काव्य-चेतना [=जीवन-चेतना] में "बोधा" तक आकर रुक जाते हैं । उनकी बुद्धि, उन्हें पद्माकर बनने से रोकती है । वे "चिंतन" के कवि है किंतु यह चिंतन अपनी समूची संवेदनशीलता के बावजूद कर्म की "भूमिका" मात्र रहता है । "सार्थकता" की खोज में रत कवि-कर्म उन्हें अद्वितीय और विशिष्ट बनाता है किंतु "मैं समूह से ~~बिलकुल~~ विच्छिन्न हूँ / क्यों कि कुछ भिन्न हूँ ।" - लिखने की प्रेरणा भी देता है ।

"आत्मजयी" एक "विचारशील व्यक्ति की समस्या है - केवल ऐसे प्राणी की समस्या नहीं, जो दैनिक आवश्यकताओं के आगे नहीं सोचता या नहीं सोच पाता । उसके अंदर वह बृहत्तर जिज्ञासा है, जिसके लिए केवल सुखी जीना काफ़ी नहीं सार्थक जीना ज़रूरी है ।"[370]

क्या बृहत्तर जिज्ञासा के प्रतीक ~~के~~ नचिकेता को, प्रस्तुत शोध प्रसंग में, सौंदर्यबोधात्मक होने की प्रक्रिया में रत मनुष्य का प्रतीक नहीं कहा जा सकता ? "विशिष्टता" और अद्वितीयता की मांग एक ओर तथा उसके बरक्स तीव्र सामाजिक चेतना ।"पीले व्यथावादी अक्षरों के बीच / ~~के~~ ताजी धूप आने दो / इन्हें लाखों दिलों की खुशी में जी भर नहाने दो / × × × "भूख से जैसे बिलखता हुआ बालक / सिरहाने रखे दी थे की रोशनी में / अभी थक कर सो गया हो / सो गया वह एक छोटा-सा पहाड़ी ग्राम ।/। यह युगीन विरोधाभास है । इससे कुअँर नारायण की कविताओं की प्रामाणिकता ही सूचित होती है ।

"पंख मेरे" उत्सर्ग, आदि कविताओं का "मैं" कवि की व्यक्ति-वादिता से अधिक सौंदर्य-बोधात्मक "मैं" है, जो विस्तार-धर्मी है । अपने ~~अंत~~ अंतर्विरोधों और विरोधाभासों में भी बुनियादी सत्ता-मीमांसा तक प्रश्नों से लेकर ।उन्हीं के आलोक में। समसामयिक प्रश्नों तक से जूझते हुए कुअँर नारायण प्रस्तुत शोध प्रसंग में एक महत्वपूर्ण कवि सिद्ध होते हैं । "जीवन हर नये दिन की निकटता / आत्म-विस्तार ।/" - का बोध निश्चित ही सौंदर्यबोधात्मक बोध है, जो अपनी सक्रियता में, अपनी सत्ता में ही, शीतयुद्धीय प्रति-सौंदर्यात्मकता की काट करता है ।

अपनी-अपनी विशिष्ट जीवनियों को आधार बनाते हुए कई कवि इस क्रम में जुड़ते हैं । वे चाहे जैसे वक्तव्य दें या विचार-~~बिंबक~~ दर्शन के प्रस्तावक बनें - जीवन-प्रक्रिया के समर्थक काव्य-संसार की रचना करते हुए वे वाम-सौंदर्यशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण कवि ठहरते हैं ।

---

369. मुक्तिबोध रचनावली -5 पृ-476
370. आत्मजयी -कुअँर नारायण - भूमिका

ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि अर्ध सामंतवादी, अर्ध-पूंजीवादी साम्प्रतिक भारतीय समाज में ऐसा जीवन मिलना असंभव है, जो समूचा "वाम" हो । अखण्ड और आपादमस्तक । चेतना जीवन द्वारा ही निर्धारित होती है, और इसलिए उसके लिए भी यही सच है । अतएव काव्य-चेतना के लिए भी । ऐसी स्थिति में यदि घोषित वाम-पंथ-विरोधी साही यदि "नदीमूल", "घाटी का आखिरी आदमी", "हिमालय के आँसू" आदि कविताएँ लिखते हैं तो क्या वाम-सौंदर्यशास्त्र उन्हें रद्द कर देगा ? रचनाएँ रचनाकार का अतिक्रमण करती हैं । कुँवर नारायण हो या साही वाम सौंदर्यशास्त्र इनके आत्म-संघर्ष को दृष्टिगत रखकर ही इन की रचनाओं को दो विपरीत शक्तियों के युगीन संघर्ष की जटिलता के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन का आधार बनायेगा । यहीं अज्ञेय और भारती सरलता के कवि होने के कारण, आत्म-संतुष्टि या आत्म-प्रदर्शन को ही प्रस्तुत करते दीख पड़ते हैं । "प्रमथ्यु-गाथा" में शिल्प-गत चातुरी सतह पर अलग से दीख पड़ती है और "असाध्य-वीणा" के मेहमोना" की वायवीय स्थिति पाठक से कोई रिश्ता नहीं बनापाती ।

प्रायः शीतयुद्धीय परिप्रेक्ष्य में कुँवरनारायण और साही को अज्ञेय और भारती के साथ रखकर देखा गया है, जबकि आत्म-संघर्ष और युग-बोध के धरातल पर इनमें कहीं कोई साम्य नहीं मिलता । जो साम्य मिलता है, वह युगीन दबावों के कारण उपजा है और उसकी पड़ताल न करने के कारण शमशेर-मुक्तिबोध तक को रूपवादी-अस्तित्ववादी कह दिया गया है ।

यदि कुँवर नारायण में "प्रदत्त" बुर्जुआ-मान सके बावजूद एक आत्म-संघर्ष जो निश्चित ही प्रतिरोध की प्रक्रिया को सूचित करता है मिलता है, जो अपने से बाहर जाने या "बृहत्तर" होने के लिए प्रयत्न रत है तो साही जीवन-संघर्ष के स्तर पर भी सतत सक्रिय रहे हैं ।

जीवन में संयोगवश ऐसे मज़दूर नेताओं से साक्षात्कार हुआ, जो धोखेबाज-चरित्र के थे । परिणामस्वरूप तब से ऐसे लोगों को मूर्ख और बेईमान समझने की आदत पड़ गयी है, जो रह रह कर व्यक्त होती रहती है ।" यह तो स्वाभाविक था । किंतु समूचे कम्यूनिस्ट प्रगतिवाद को यह कह देना कि

वह "केवल" ऐसे लोग पैदा करता है " जो मज़दूर नेताओं में साहित्यकारों जैसा बातें करते हैं, साहित्यकारों में मज़दूर नेताओं जैसी, जहाँ दोनो न हों वहाँ दोनों जैसी और जहाँ दोनो हों, वहाँ बगलें झाँकने लगते हैं ।"[371] निश्चित ही यह सरलीकरण था ।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से उत्पन्न होते आत्मनिर्वासन का ही परिणाम संशय ग्रस्त मनोस्थिति है । "हत्या" और "आत्महत्या" भी उसी की देन है । इससे संदर्भित मानवीय संकट को साही ने सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर देखा है । निश्चित ही सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर ।

नयी कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलांदाजी करने में साही के समीक्षात्मक लेखों का चाहे जो योगदान रहा हो किंतु "अलविदा" जैसी कविताओं को "अँधेरे में" के साथ रखकर देखा जा सकता है । जहाँ मुक्तिबोध के पास एक यूटोपिया था, जो निजी स्तर पर तो सक्रिय था ही, उनकी कविताओं का अनिर्माण करता था, वही साही बल पूर्वक ऐसा नहीं होने देते । "मछली घर" की भूमिका में साही ने लिखा है - औरों"की तरह मैने भी भीतर चलते हुए उस आंतरिक एकालाप को पकड़ने की कोशिश है, जो आज के इस अनैतिक और विश्रंखल युग में बहुत बड़ी जिम्मेदारी की तरह महसूस होता है । यह एकालाप कविताओं का ही निर्माण करे, कवि के व्यक्तित्व का नहीं, यही आदर्श मैने अपने सामने रखा है ।"[372]

एक संशय और विकल्पहीनता की स्थिति इस कविता या ऐसी कविताओं में मिलती है किंतु वह अपने सौंदर्यबोधात्मक आचरण से, उस प्रवृत्ति का निषेध करती है । तीसरा सप्तक की कविताओं में ज़रूर ही एक सरलीकृत आस्था का आयाम मिलता है, ।"मेरी कविता का आधार आस्था है ।"। किंतु वह बाद में, प्रौढ और वयस्क होकर उस आस्था के परे पहुँचती है, जिस में सीधे-सीधे यथार्थ के और अपने आमने सामने होना होता है और ऐसे में विकल्प हीनता ही एक मात्र विकल्प बच रहता है ।

---

371. तीसरा सप्तक - पं० अज्ञेय पृ-174
372. मछली घर - विजयदेव नारायण साही -भूमिका

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के बाद भी यह स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट जीवनी और उससे घात-प्रतिघात करता हुआ युग अपूर्ण ही विवेचित हो सका है। सप्तक परम्परा के अन्य कवि और उससे बाहर दुष्यंत कुमार, अजित कुमार आदि कई कवियों को छोड़ भी दें तो सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मदन वात्सायन, केदारनाथ सिंह जैसे महत्वपूर्ण कवियों का विवेचन न हो पाना एक अक्षम्य त्रुटि है। शोध-प्रसंग की अपनी सीमाओं को देखते हुए यह विवशता है कि हम इतना भर कहें कि अपने और युग के अंतर्विरोधों की तीव्रता के चलते इन कवियों में संवेदनात्मक ज्ञान के धरातल पर कई फाँके रहीं किंतु अपने श्रेष्ठ रचना-क्षणों में ये कवि जीवन-समर्थक शक्तियों के पक्षधर ठहरते हैं तथा शीतयुद्ध के जीवन-विरोधी सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में कभी-कभार वैचारिक वक्तव्यों द्वारा सहभागी बनते हुए भी काव्याचरण से उसके प्रति प्रतिरोध ही करते हैं।

मोटे तौर पर इन के यहाँ मानववादी विचारधारा ही अनुभूति का निर्धारण करती प्रतीत होती है। सत्ता-हस्तांतरण के बाद तथाकथित प्रगतिवादियों का छद्म-आचरण भी इनके काव्य-व्यंग्य का लक्ष्य बनता है। सन 60 के आसपास का सारा काव्य-परिवेश एक विकल्प-हीनता से ग्रस्त दिखायी पड़ता है। इस स्थिति में वे कवि जो सत्ता-हस्तांतरण से पूर्व ही एक राजनीतिक दर्शन और उससे परिचालित या उत्पन्न यूटोपिया को अपना चुके थे, वे बड़ी सीमा तक अविचलित रहे। एक विचलन की स्थिति उन्हीं के यहाँ प्रमुखतः दिखायी पड़ती है; जो परवर्ती युग द्वारा "संवेदनात्मक ज्ञान" तथा "ज्ञानात्मक संवेदना" से लैस किये जा रहे थे।

शीतयुद्ध प्रतिदिन तीव्र हो रहा था और उसकी शाखाएँ भी उसी अनुपात में सक्रिय। ऐसी स्थिति में मानव-मूल्यों की रक्षा के लिए जूझती रचनाएँ [थोड़ी बहुत अमूर्तता या "प्रदत्त" भाववाद के कतिपय अंशों को अपनाती हुई भी] भी महत्वपूर्ण ही मानी जायेंगी। विशेषतः सन् 60 के आसपास जो मूल्य-हीनता की एक अराजक मुद्रा चारों ओर अपनायी जाने लगी थी, उसे देखते हुए उन रचनाओं-रचनाकारों की प्रतिरोधात्मक शक्ति का विशेष ऐतिहासिक महत्व सिद्ध होता है।

इस चर्चा के अनंतर हम कतिपय रचनाओं को उद्धृत कर सकते हैं ; जो हमारे कथन को पुष्ट करती हुई रचनाकारों की प्रमुख-प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है —

1. साही की कविता - निश्चित ही एक ओर "दीवारें" जैसी कविता भी उनके यहाँ मिलती है, जो "सिसिफ़स" की याद दिलाती है और "अजब तरह की है यह कारा / जिसमें केवल दीवारें ही / दीवारें हैं / अजब तरह के कारावासी / जिनकी किस्मत सिर्फ़ तोड़ना / सिर्फ़ तोड़ना ।"[373] ऐसी समापन-पंक्तियाँ हैं / किंतु आरंभ से ही उनके यहाँ नये शिखरों से "दे दे इस साखी अंदेसे को" हिमालय के आँसू" जैसी कविताएँ मिलती हैं, जो ठोस-विशिष्ट अनुभूतियों के माध्यम "सामान्य अनुभूतियों को नये सिरे से परिभाषित करती हैं । बाद में "मछली घर" की कविताएँ तो जैसे इस विशिष्ट और सामान्य में एक सफल सामंजस्य बिठाने के उपक्रम में ही संभव होती है । पूर्व में हमने अलविदा की चर्चा की है - उसके कतिपय अंश हमारे निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिए यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं —

आरंभिक पंक्तियाँ हैं - "तुम खुद हाथ रेत में लेकर / उसमें चमकते चांदी के जर्रे देखते रहे / तुम्हें किसी ने नहीं भरमाया / × × आज तक इसके अतिरिक्त कुछ / घटित हुआ ही नहीं / सिर्फ़ पीढ़ी ब दर पीढ़ी चली आती हुई । एक अफ़वाह है / किंतु कि यातना भरी मृत्यु के अलावा भी/ एक विकल्प है / उस को क्या शक्ल है / और किस तरह वह घटित होगा / इसकी कोई साफ़ तस्वीर / अफ़वाह में शामिल नहीं है / × × ×[374]

एक गहरे अर्थ में क्या साही का "विकल्प" के बारे में कुछ नहीं कहना एक मज़बूत यू तो प्रियात्मक मानस की ओर संकेत नहीं कर रहा है ? मुक्तिबोध के पास "साफ तस्वीर" थी और साही के पास "उसकी क्या शक्ल है / और किस तरह वह घटित होगा / इस की कोई साफ तस्वीर / अफ़वाह में शामिल नहीं है ।" तो क्या यह अपेक्षाकृत अधिक साख्सी काल-बोध का सूचक नहीं है ?

2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता - पूर्व उद्धृत कवियों के विवेचन से जहाँ सर्वेश्वर की कविताओं पर रोशनी पड़ती है, उसे दुबारा लिखने से बचते हुए यह कहा जा सकता है कि सर्वेश्वर आरंभ से ही वाक् स्फीति और सरलीकरण का खतरा उठाते हुए भी निजता, आत्मीयता से सराबोर व्यंग्य को अपना कथ्य बनाते रहे हैं। कथ्य की चुनना में उन्होंने "यप" की पर्वा नहीं की। फलतः रूप और प्रकारांतर से समूची कविता को ही हानि पहुँची।

निजता, अकेलापन, व्यंग्य, ग्राम-जीवन के चित्र और जन को संबोधित करते हुए उद्बोधन सरलीकरण का खतरा उठाते हुए भी कहा जा सकता है कि मोट तौर पर ये तत्व ही सर्वेश्वर की कविताओं की पहचान को गढ़ते हैं। "आज" पहली बार "वह रात" "एक नयी प्यास" अपनी बिटिया के लिए दो कविताएँ, "स्मृति" आदि कविताएँ उनकी निजता को व्यक्त करती हैं। अकेलेपन से जुड़ी हताशा या व्यग्रता के लिए तो उनका एक गीत अप्रतिम है "मुझे पंख दो।" "पंख दो, पंख दो, अरे मेरे पंख दो। / और कब तक इस सुलगती डाल पर बैठा रहूँ असहाय / और कब तक जल रहे वन का धुआँ पीता रहूँ निरुपाय / और कब तक सुनूँ नभ में विकल बेघर परिंदों की हाय-हाय / पंख दो, पंख दो, ~~अरे मेरे पंख दो~~ अरे मेरे पंख दो।"[375] "सर्प-मुख के सम्मुख" तमाम समझदार लोगों के बीच आदि कविताएँ भी इसी श्रेणी में गिनी जा सकती है। "व्यंग्य" सर्वेश्वर की कविता की प्रमुख पहचान है। "मैं ने कब कहा" नामक प्रसिद्ध कविता में वे कहते भी हैं - "सत्य कहता हूँ / चाहे मर्मांतक शोर उठे / आँख छलछला आयें / क्यों कि आहत दुर्बलता भी / एक बार दर्प से शीश उठा देती है / मुट्ठियाँ भींच कर / सूखी शिराएँ तानती है / वज्र से भी टूटी पसलियाँ अड़ा देती है / यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाये / व्यथा अंतर्दृष्टि दे / खण्डित आत्माएँ, / संचित कर सके शक्ति की समिधाएँ, / जो जलकर अग्नि को भी / गंध-ज्वार बनादें / तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया ; चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।"[376]

---

373. कवितांतर - सं जगदीश गुप्त पृ-212
374. --वही-- पृ-225-232।
375. कविताएँ - । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना पृ-79 376. --वही-पृ-166.

सर्वेश्वर की कविताएँ अपनी दुर्बलताओं में भी एक प्रक्रिया को सूचित करती है । "काठ की घण्टियाँ" से "गर्म हवाएँ" और "जंगल का दर्द" तक की उनकी काव्य-यात्रा इसी लिए संभव हो सकी है । "प्राम" और "उद्बोध सुहागिन का गीत से लेकर "आ कुआनो नदी" तक भरपूर मिलते हैं । ओज के प्रभा में रहकर भी उन्होंने "स्वयं को नयी कविता" की शीतयुद्धीय काव्य-दृष्टि की गिरफ्त से निकाला । यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

प्रेषणीयता को अपनी पहली शर्त बनाती हुई उनकी कविता पाठक को पूरी तरह अपने साथ ले लेती है और अगली लड़ाई में उसे अपने साथ रखती है

एक छोटी कविता को इस प्रसंग में उद्धृत किया जा रहा है ; ताकि उनकी व्यंग्य की धार की बानगी देखी जा सके --

"तेजी से भागती हुई कार के पीछे
पथ पर गिर पड़े
निर्जीव, सूखे, पीले पत्तों ने भी
कुछ दूर दौड़कर गर्व से कहा --

"हममें भी गति है
सुनो, हम में भी जीवन है,
ओ-ओ,
हम भी साथ चलते हैं --
हम भी प्रगतिशील हैं ।"

लेकिन उनसे कौन कहे :
प्रवृत्ति पिछ लग्गू पन नहीं है
और जीवन आगे बढ़ने के लिए
दूसरों का मुँह नहीं ताकता ।"[377]

3. विष्णु चंद्रशर्मा की कविता -- "मैं आकाश को ऊपर तना हुआ वाष्प-समूह कैसे कह सकता हूँ, जब कि उसके विस्तार में मेरा - संकोच, टूटन और लोच, यानी -व्यक्तित्व है ।"[378]

एक गहरी बेचैनी है, और उसीके सहारे उनकी कविताएँ "सामंती एवं पूंजीवादी मूल्यों के खिलाफ़ सीना ताने खड़ी होती रहने के कारण साहस, धैर्य एवं दृढता का अपना चरित्र बनाती है। क्रियाओं के गतिमय एवं संगठित विन्यास उनकी कविता की अपनी पहचान है। रागात्मक परिवेश के बीच उनकी कविताएँ एक नये पल्लव को उभारती है। प्रकृति की रूपवादी अवधारणाओं को ध्वस्त कर, उनमें नया सौंदर्यशास्त्र जन्मता है।"[379]

विष्णु चंद शर्मा की कविता में सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर "प्रतिरोध" का एक नया चरित्र उभरता दिखायी देता है। "जहाँ / फूल नहीं उग सके / मैंने / चट्टानें बो दी थी / अब उन चट्टानों में / फूल आ रहे हैं /"[380]

सालार जंग म्यूज़ियम, हैदराबाद को आधार बनाकर विष्णु चंद्र शर्मा ने कई कविताएँ लिखी हैं। "दुहरा व्यक्तित्व" कविता की आधार-भूत प्रेरणा म्यूज़ियम में रखी एक मूर्ति है। विष्णु चंद्र शर्मा ने अपनी कविता के लिए शमशेर, त्रिलोचन और अज्ञेय को आश्रय दिया है —"मेरी वाणी में / शमशेर त्रिलोचन अज्ञेय एक राग है / चीड़ के भीतर से बहता हुआ /"[381] सर्वाधिक प्रभावित वे संभवत: शमशेर से हैं। उनके व्यक्तित्व और परिणामत: कविता में पाये जानेवाले विरोधाभास को इसी से पहचाना जा सकता है कि उन्होंने त्रिलोचन और शमशेर के साथ अज्ञेय को अपना आदर्श रखा है। शमशेर को लेकर उन्होंने एक कविता लिखी है। इसी प्रकार उनकी एक लंबी कविता का शीर्षक "जो किन्हीं है.....उसका ग्राम कथा" भी शमशेर की ही कविता की पंक्ति है। इस कविता में विष्णु चंद्र शर्मा ने "कन्याकुमारी के तट से आरंभ किया है और अति यथार्थवादी शैली में वर्णन करते हुए बनारस, बी ट पीढ़ी, इलाहाबाद, हिन्दी साहित्य, दर्शन, धर्म आदि को पूरे भारत के फलक पर देखा है। रंगों और रेखाओं का रूप को तथा अन्योक्तियों में भरपूर प्रयोग

---

377. कविताएँ -1 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना पृ-135

378. आकाश विभाजित है - विष्णु चंद्र शर्मा -भूमिका

379. —वही—

करते हुए उन्होंने कई सारे वास्तविक पात्र भी जमा किये हैं । एलेन गिन्सबर्ग, शमशेर, फैजाबाद की वेश्याएँ, प्रेमचंद, जितेन्द्र, गोविंद सिंह, ज्वाला प्रसाद केशर, निराला, शांति प्रिय द्विवेदी आदि कई सारे पात्रों के माध्यम से जो एक ऊलूल (Absurd) चित्र उकेरा गया है, वह उस मनोस्थिति को भली भांति व्यक्त कर सका है, जो तथाकथित अकविता और उसके राजकमल चौधरी सौमित्र मोहन जैसे कवियों के साथ संबद्ध थी । इसके बावजूद "गांधी", निराला आदि के नाम और उनकी साक्षी में काव्य-नायक "मैं" एक प्रतीक में बदलना दिखायी देता है । "आयात-निर्यात" की भी यही स्थिति है । यद्यपि उसमें पत्रकारिता-शैली ने वर्णन को, व्यक्ति-वायक संज्ञाओं को और वास्तविक-काल्पनिक घटनाओं को ज्यादा विश्वसनीय बनाया है ।

सन् 60 के परिवेश में विष्णु चंद शर्मा उस प्रति सर्जनात्मके प्रचार-प्रसार से किसी सीमा तक जुड़ सके - यह बड़ी बात है । यों उलझी प्रतीकात्मकता और ठेठ इतिवृत्तात्मकता का सम्मिश्रण उनकी विशेषता भी रही है और न्यूनता भी । यों वे प्रक्रिया में रहे हैं और कालांतर में अपने को ज्यादा सचेत-जागरूक बना सके हैं ।

4. मदनवात्स्यायन की कविता - इनकी कविता का नयापन कथ्य-शिल्प के दुहरे स्तरों पर सक्रिय रहा है । रसायन शास्त्र विषय और सिंदरी की विशाल यंत्र शाला में निरीक्षण का कार्य । असली नाम लक्ष्मी निवास सिंह । कविता लिखने का नाम मदनवात्स्यायन । "दोनों ही को एक दूसरे से प्रेरणा मिलती होगी पर यंत्र-निरीक्षक का कवि होना गुप नहीं माना जाता, और कवि का रसायन शास्त्री होना दोष भले ही न हो, उसकी विचार और संवेदन प्रक्रिति कुछ भिन्न तो हो ही जाती है ।"[382]

---

380. -- वही--

381. --वही-- पृ-24.

382. तीसरा सप्तक सं० अज्ञेय पृ-68

383. --वही- पृ-78.

384. --वही-- पृ-86

385. --वही-- पृ-84

यह "कुछ भिन्न होना" ही इन्हें प्रस्तुत शोध प्रसंग के संदर्भ में उल्लेखनीय बनाता है । "असुरपुरी में दस से छह" "सरकारी कारखाने में कर्मचारी की चिंता" आदि कविताएँ यंत्र और मानव के पारस्परिक जटिल रिश्ते और नौकरशाही का वास्तविक चित्र काव्य-फलक पर उकेरती है । वैदिक-प्रार्थनाओं को नये संदर्भ में ढालकर देखना भी उन्हें महत्वपूर्ण बनाता है । "उषा-स्तवन" में -"मेरे हाथ में जुए की एक और बाजी की तरह, उषे, / तुम फिर आ गयी हो /"[383] आदि पंक्तियाँ अपनी प्रस्तुत में आकर्षक बन पड़ी है । "स्वस्ति, मेरी बेटी" अपने वात्सल्य वर्णन के कारण और "सुशिक्षा की वर्ष गाँठ पर" अपनी कोमल भावनाओं के कारण उल्लेखनीय हैं :-

"मेरी बेटी तेरे दुश्मनों की कसम
सप्तर्षि-जैसे तेरे सातों दाँतों का हँसना मधुर है ।
मुझे पर आज भी याद आता है
शुक्र-तारे-सा वह एक दाँत ।"[384]

× × ×

कल आंगने में उखाड़ कर एक छोटी मूली
ले आया शाम को नाश्ते पर रामू
अभी उज्जू थी, तीखी न हुई थी
पर आँख भर आयी ।"[385]

विचारों-भावनाओं में भरपूर ताज़गी लिये आने पर भी ऐसा क्या हुआ कि बाद में इनकी रचनाएँ ढूँढे नहीं मिलती । नयी कविता पत्रिका में जो मिलती है, जैसे "नयी परकीया / ऐसी कविताएँ खिलवाड़ से ज्यादा नहीं मानी जा सकती ।

5. केदारनाथ सिंह की कविता - पूर्व-विवेचन में "मैं" बोध की चर्चा विस्तार से की गयी है । केदारनाथ सिंह सबसे पहले "मैं" के कवि हैं, इसलिए उनमें अनिवार्यत: गीतात्मक संवेदना के कवि हैं । फिर "प्रकृति" आती है । प्रकृति अपने आप में तो कुछ नहीं है - या जो भी है, मानव-मूल्यों

से रहित हैं । मानव-मस्तिष्क, जो स्वयं ही प्रकृति का अंश है अथवा उसका विकास ; वही प्रकृति को अर्थ देता है ।-

छोटे से आंगन में
माँने लगाये हैं
तुलसी के बिरवे दो

पिता ने उगाया है
बरगद छतनार ।

मैं अपना नन्हा गुलाब
कहाँ रोप दूँ ।

मुट्ठी में प्रश्न लिये
दौड़ रहा हूँ बन-बन,
पर्वत-पर्वत,
रेती-रेती. . . .
लाचार ।[356]

§एक पारिवारिक प्रश्न§

कालांतर में उनके सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध का राजनीतिक आयाम भी अस्तित्व में आया । "चुनाव की पूर्व संध्या पर" नामक कविता में आरंभिक पंक्तियाँ ही ऐसी हैं --"भेडिये से फिर कहा गया है / अपने जबड़ों को खुला रखे / यह सारा देश / उसमें झाँक कर / देखना चाहता है / अपना चेहरा / अपनी आँखें / अपना ललाट /[387]

"अभी बिल्कुल अभी" संग्रह सन 1960 में प्रकाशित हुआ था । पश्चातवर्ती ऊहापोहात्मक युग में केदार जी भी बदले हैं । एक अखण्ड-से में-बोध को उन्होंने युग-बोध की ओर प्रेरित किया है । बिम्बों को अपनी अनुभूति के प्रकटन का माध्यम बनाते हुए वे शैशव से मिले संगीत-प्रेम का सहारा लेकर गीतों की रचना करते रहे । संवेदनात्मक जुड़ाव के प्रगाढ़ रंग उनकी

386. अभी, बिल्कुल अभी - केदारनाथ सिंह पृ-26
387. --वही-- पृ-87

कविताओं में प्रायः दिखायी पड़ते हैं । "बादल ओ" जैसे गीत उनके उत्कृष्ट सृजन-क्षणों को प्रस्तुत कर सके हैं —

हम नये-नये धानों के बच्चे
तुम्हें पुकार रहे हैं
बादल ओ । बादल ओ । बादल ओ ।.
× × ×
हम कि नदी को नहीं जानते ।
हम कि दूर सागर की लहरें नहीं मांगते ।
हमने सिर्फ़ तुम्हें जाना है
तुम्हें मांगते हैं
आर्दा को पहले झोंके में
तुमको सूंघा है
पहला पत्ता बढ़ा दिया है ।
लिए हाथ में हाथ हवा का
संध्या की मेड़ों पर घिरते तुम को देखा है
होठों से विवश छू लिया है ।
ओ सुनो बीजवर्षी बादल
ओ सुनो अन्नवर्षी बादल
हम पंख मांगते हैं ।
हम नये फेन के उजले-उजले
शंख मांगते हैं ।"[388]

एक निजी स्तर पर सक्रिय यूटोपिया ~~कविता=सक्ष~~ कितना सार्थक और महत्वपूर्ण बना देता है, यह केदारनाथ सिंह की कविताओं से स्पष्ट है ।

पूर्व में कहा जा चुका है कि दो विपरीत शक्तियों का संघर्ष युगीन परिप्रेक्ष्य में चलता रहता है तो आंतरिकीकृत होकर व्यक्ति मानस में भी । एक सुविधा के लिए उपर्युक्त कवियों की रचनाओं की बानगी दी गयी थी किंतु ऐसा नहीं है कि इनमें से अधिकांश ने एक भिन्न और विपरीत तथा

388. —वही— पृ-43-44

जीवन को नकारनेवाली दृष्टि को वहन करती रचनाएँ न दी हों । तत्कालीन परिदृश्य में, राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक कारणों से जीवन-विरोध का दृश्य स्वाभाविक रूप से दिखायी पड़ रहा था । अपने पक्ष ग्राह्य करने के आधार पर एक विचारधारा को, एक यूतोपिया को सायास अपनाकर कतिपय कवि अपने जीवन समर्थन को सृजन-स्तर पर व्यक्त कर सके । दुष्यंत कुमार का सूर्य का स्वागत नामक संग्रह भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है । उसमें एक अँधेरी कोठरी में, दीवार की काई खुरचकर एक बच्चा सूर्य के लिए जगह बना रहा है । उसका स्वागत करना सीख रहा है ।

किंतु जैसा मुक्तिबोध-जैसा जीवन-समर्थक कवि कह रहा था - "खुंखार, सिनिक, संशयवादी /शायद मैं नहीं न हो जाऊँ /[389] इस कविता का संभावित रचनाकाल मुक्तिबोध रचनावली के संपादक के अनुसार सन 51-52 से 61-62 तक है । इसका एक प्रारूप जनवरी 57 में प्रकाशित हुआ था । निकष 3-4 में । यह देखा जाना चाहिए कि उक्त "निकष" (सं० धर्मवीर भारती -लक्ष्मीकांत वर्मा) नामक संस्कान में ही दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष की छवि स्पष्ट हो जाती है । सन 1956 में बाईस वर्ष की अल्पायु में दिवंगत हो जाने वाले श सतीश चंद्र चौबे की एक कविता रोशन हाथों की दस्तकें इस संस्कान के आरंभ में ही दी गयी है ।

प्राची की सांद्र और पश्चिम की रात
इनकी वय: संधि का जश्न है आज

मज़ारों पर चिराग़ बालने वाले हाथ
(जो शायद किसी रूह के ही हों)
ठहर जायें ।
नदियों पर दीये बहाने वाले हाथ
(जो शायद किसी नव वधू के ही हों)
ठहर जायें ।

अँधेरी गलियों में लैम्प जलानेवाले हाथ
(जो शायद किसी मज़दूर के ही हों)
ठहर जायें ।

सभी रोशनी देने वाले हाथ
मिलें, और कसकर बांध लें एक-दूसरे को आज
ताकि यहीं से मारना शुरू करें दस्तकें
विश्व के अँधेरे बन्द कपाटों पर
वे मिलें-जुलें भास्कर-बंधु रोशन हाथ ।"[390]

मुक्तिबोध की वे पंक्तियाँ, यदि पूर्व-विवेचन को स्मरण करें तो, सतह थी । सतीशचंद्र चौबे की उपर्युक्त कविता उससे ऊपर उठने की कोशिश । श्रीकांत वर्मा को लिखे एक पत्र में मुक्तिबोध ने आसपास बढ़ते हुए "सिनिसिज्म" की चर्चा की थी । (पहले उल्लेख हो चुका है ।) किंतु कहा था कि यह सुविचारित स्थिति नहीं है ।

मुक्तिबोध तो अपने सौंदर्यबोधात्मक जीवन को बचा ले गये । उनकी कविताएँ सुविचारित स्थितियों को ही अपना संवेदनात्मक केन्द्र लक्ष्य बनाये रहीं । किंतु अन्य कवियों के साथ ऐसा नहीं हो सका ।

बहुत पहले से भारती की "ठण्डा लोहा" मनोस्थिति का विकास हो रहा था । "अधिक सही होगा यह कहना कि उस मनोस्थिति का विकास किया जा रहा था । शीतयुद्ध का समूचा संदर्भ यही है । "सतह" विकृत से विकृत तर हो रही थी - की जा रही थी और उससे ऊपर उठने की चेष्टा और उसकी प्रेरणा की काट भी । साथ ही साथ की जा रही थी । युग (=समाज) का दबाव और यह काट किया जाना निश्चित ही वे कवि जो इस "प्रदत्त" (=सतह) का प्रतिरोध न कर सके ; उन्होंने अपने को "प्रदत्त" द्वारा आत्मसात कर लिये जाने को छोड़दिया । प्रस्तुत शोध प्रसंग की शब्दावली में कहें तो उनका "विरोध" वस्तुत: समर्पण था ।

---

389. मुक्तिबोध रचनावली-1, मेरे सहचर मित्र "नामक" कविता पृ-272
390. निकष 3-4 जनवरी 1957 सं० भारती लक्ष्मीकांत वर्मा आरंभ में ही ।

श्रीकांत वर्मा के बारे में हम विस्तार से लिख चुके हैं । मुक्तिबोध ने संभवत: 53-54 में रामकृष्ण श्रीवास्तव के कविता-संग्रह के सिलसिले में लिखते हुए कहा - श्रीकांत वर्मा को "सामाजिक दर्शन प्रगतिवाद का है ।" 391 इसके लगभग बीस वर्षों पश्चात् (12 अगस्त 73) पर साई के नाम एक पत्र में श्रीकांत वर्मा ने लिखा — मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ, मोटे अर्थों में मार्क्सवाद के नज़दीक मेरी स्थिति भले ही हो, मगर जब देश की तक़दीर का निर्णय हो रहा हो, उस समय तटस्थ नहीं रहा जा सकता । यदि कम्यूनिस्टों और फासिस्टों में से किसी एक को चुनना हो तो मैं निश्चय ही कम्यूनिस्टों का साथ दूँगा, और फ़ासिस्टों से लड़ूंगा । आपकी स्थिति भी यही है । लेकिन इसे बहुत से लेखक, जिनमें वामपंथी भी शामिल हैं समझ नहीं पायेंगे क्यों कि यह आसान स्थिति नहीं है ।"[392] प्रासंगिक होगा : अगर 24-2-67 के दिन लिखी गयी मलयज की डायरी से कुछ बातें उद्धृत की जाय -"श्रीकांत वर्मा का "प्रोटेस्ट" एक तयशुदा चीज़ सी लगी — पर वे किन मुद्दों पर प्रोटेस्ट करते हैं, यह बात साफ़ ज़ाहिर नहीं होती । वे कलाकार की जिस स्वतंत्रता की बात करते हैं, उसका विरोध कोई समझदार नहीं करता × ×× फिर यह सामान्य-सी बात श्रीकांत क्यों उठाते हैं ? बिल्कुल एक जिहाद बोलने के स्वर में ? × × × उनकी बहस के मुद्दे साफ़ न होने से यही लगता है कि उनमें और नामवर जी में कोई शीतयुद्ध चल रहा है ?[393] मलयज ने श्रीकांत के "कवि-कलाकार को पूरी स्वतंत्रता, अराजक होने की हद्दतक देने के पीछे उनके लेखक-रचनाकार की व्यक्तिगत समस्या देखी है । उन्होंने एंजासबर्गर को उद्धृत किया है — "जब कोई एक से अधिक बार अपने को "स्वतंत्र" कहे और बार-बार कहता जाये तो लगने लगता है कि कहीं कुछ गड़बड़ है । जो स्वतंत्र है, वह स्वतंत्रता पर जोर नहीं देता, वह है । "आगे मलयज ने स्पष्ट तौर पर श्रीकांत का नाम लिये बिना, उस "आत्म-छल" का विश्लेषण किया है ; जिस हम विस्तृत रूप में विवेचित कर चुके हैं । "वे अपनी "स्वतंत्रता" पर बल देकर अपने को छोटा करते जाते हैं — अपने सम्पर्क को, अपने संसार को, परिवेश और अनुभव को । × × × अपने चेहरे के आइने में ही अपना चेहरा देखना चाहते हैं ।[394]

391. मुक्तिबोध रचनावली-5 पृ-422
392. पक्ष । पृ-97.

यह स्थिति सहज-स्वाभाविक नहीं है और पिछले विवेचन के परिप्रेक्ष्य में, श्रीकांत वर्मा के दिल्ली-प्रवास को लेकर जो निष्कर्ष हमने प्राप्त किये हैं, वे 1967 में प्रकाशित "माया दर्पण" की कविताओं में स्पष्ट है। सौंदर्य बोधात्मक स्तर पर टूटते-हारते जूझते-हाँफते-खीझते श्रीकांतवर्मा के अस्तित्व-संघर्ष को वहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है। मुक्तिबोध कुंवार, सिनिक, संशयवादी नहीं हो सके। उसके कारणों की पड़ताल की जा चुकी है। श्रीकांत वर्मा अपने को अंततः नहीं बचा सके। छत्तीसगढ़ का प्रतिभाशाली पुत्र, दिल्ली जाकर, शीतयुद्ध का शिकार होगया। मायां दर्पण की 125 कविताओं में, उनका वह "शिकार हो जाना" स्पष्ट है। मायादर्पण कविता तो शब्दार्थ या काव्यार्थ की रूढ़ियों के पार जा कर देखो पर कवि की "आत्म कथा" ही सिद्ध होती है। उसमें सिनिसिज्म के साथ पराजय-पीड़ा भी उभरती है। शिल्प-चातुरी मात्र इतना ही संकेत दे पाती है कि कवि का संवेदनात्मक उद्देश्य "पीड़ा" छुपाना है। श्रीकांत वर्मा ~~कवि=कर्म=संघ~~ के काव्य में अशोक वाजपेयी को विशेषतः माया दर्पण के संदर्भ में जहाँ "करुणा" दिखायी देती है[395] वह वस्तुतः वेदना है, पीड़ा है और जिसकी अभिव्यक्ति क्षोभ में हुई है।

नाटक की समाप्ति पर
आँसू मत बहाओ।
रेल की खिड़की से
हाथ मत हिलाओ।[396]

इन पंक्तियों का निम्नलिखित पंक्तियों से कोई विरोध नहीं है -

तुम जा ओ अपने बहिश्त में
मैं जाता हूँ
अपने जहन्नुम में।[397]

---

393. पूर्वाग्रह - 51-2 जुलाई-अक्तूबर 82 पृ-26-27 इसी डायरी पृष्ठ पर मलयज ने कम्युनिस्ट शब्द को लेकर श्रीकांत वर्मा की मनोग्रस्ति की ओर भी संकेत किया है और यह भी कि "राजनीति" का अर्थ भी वे इसी से निर्धारित करते हैं।

394. —वही—

सिनिसिज़्म के बारे में मलयज ने अपनी 4-12-75 की डायरी में लिखा - "सिनिसिज्म इसे शक्ति मिलती है अत्यधिक सेल्फ़ कांशसनेस से ।" मुक्तिबोध ने इसे निज बद्ध या "आत्म-बद्ध" कहा था । उपेक्षा-अपमान-अस्वीकार किसी संवेदनशील कवि को किस प्रकार इस अविचारित स्थिति - सिनिक होने की स्थिति तक पहुँचा सकता है, श्रीकांत वर्मा का काव्य-संग्रह "माया-दर्पण" इस का उदाहरण है । इस स्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता कि श्रीकांत वर्मा की "विशिष्ट जीवनी" में इस विरोध-समर्पण के बीज छुपे हो और मुक्तिबोध को दिखायी पड़ने वाला "प्रगतिवाद" वस्तुत: एक शुरुआती प्रभाव मात्र हो और वस्तुत: भीतर (बचपन - परिवार आदि) सक्रिय वह "आत्म-बद्ध" बोध चेतना हो, जो दिल्ली अथवा शीतयुद्ध के अनुकूल या प्रतिकूल रचनाओं के अभाव में हम इस अनुमान को तर्क-वितर्क विस्तार करने में असमर्थ है । इतना निश्चित है कि उनका जीवन और परिणति को ही प्रकट करता है । "समरकाल जब नहीं रहा तो / समरकाल की यह ओढ़ कर / जिया) /"[398] क्या सचमुच "समर काल"नहीं रहा था ? और "याद" भी अंतत: कहाँ रह गयी थी । या "याद" का रूपांतरण मनोग्रस्ति में हो गया था ? " मैं कहना कुछ चाहता हूँ / कुछ और / कह जाता हूँ /"[399] हमने थॉमस साज़ की परिभाषा उद्धृत की थी कि मानसिक बीमारी वस्तुत: एक भाषा है । जिसे समझने की आवश्यकता है । यह तो मनो चिकित्सा के जानकर ही बता पायेंगे कि यदि मुक्तिबोध शिशोफ्रेनिक थे तो श्रीकांत वर्मा क्या हैं ? "प्रदत्त" के प्रति सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध ने "मुक्तिबोध के काव्य" को, उनके सौंदर्यबोधात्मक अस्तित्व जीवन को बचाये रखा । अंतत: उनका काव्य विजयी रहा । क्योंकि पराजित नहीं हुआ । श्रीकांत वर्मा जब "मुझे) देश को खोकर ही / मैंने प्राप्त की थी / यह कविता / जो किसी की भी हो सकती है / जिसके जीवन में / वह वक़्त आ गया हो / जब कुछ भी नहीं हो उसके पास / खोने को / जो न उन्मोद करता हो/

---

395. पिंजरापोल -अशोक वाजपयी पृ-106
396. माया दर्पण - श्रीकांत वर्मा पृ-7। यह संग्रह की/पहली कविता है ।
397. --वही- पृ-126. यह संग्रह की आखिरी कविता है ।
398. --वही-- पृ-38.

न अपने से छल / जो न करती हो प्रश्न/ न ढूंढता हो हल /"[400] कोई यकीन नहीं करता / मैं अपनी युवावस्था के /शव को / उठाये हुए /अपने / कंधों पर / घूम रहा हूँ / देश-देश में / ।मैं सोच नहीं पाया / मैं असल लगता हूँ / किस वेश में /"[401]

इन कविताओं की उस भाषा को समझना ज़रूरी है, जो छत्तीसगढ़ के प्रतिभाशाली पुत्र की असली भाषा थी । जब यह लिखा जाता हो --"जो मुझसे नहीं हुआ / वह मेरा संसार नहीं / कोई लाचार नहीं / जो वह नहीं है / वह दोनों को /"[402]

श्रीकांत का काव्य यह बतलाता है कि वे भी मुक्तिबोध की ही तरह समूचे बाह्य का आभ्यंतरीकरण कर लेते हैं । अंतर उस आभ्यंतरीकृत "बाह्य" के कविता बनने में आता है । "भटका मेघ" में छत्तीसगढ़ की ज़मीन की सोंधी गंध है और मायादर्पण में महानगर ।=दिल्ली। का अमानवीय परिवेश और उसकी समूची क्रूरता । छत्तीसगढ़ अगर फिर भी है तो "घर-धाम" जैसी कविता में :-

मैं अब घर जाना चाहता हूँ
मैं जंगलों
पहाड़ों में
खोजना चाहता हूँ
मैं अब महुए के
वन में
एक कण्डे-सा
सुलगना गुंगुवाना
धुंधुवाना
चाहता हूँ ।"[403]

---

399. --वही-- पृ-125-126
400. --वही-- पृ- 121
401. --वही-- पृ-107
402. --वही-- पृ-102

श्रीकांत वर्मा की परवर्ती कविताएँ साक्षी है कि कवि की यह कामना कभी पूरी नहीं हुई । वह घर से दूर एक विभक्त-व्यक्तित्व जीते रहे । "दूसरे का डर" कविता उसी विभक्त व्यक्तित्व को काव्य-स्तर पर उजागर करती है ।

दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष की बात कई बार की जा चुकी है और युग तथा कवि-व्यक्तित्व में उसके एक साथ सक्रिय होने की भी । "प्रत्येक काव्य-संग्रह की कविताओं को दो हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है और ये विभाजन कवि-व्यक्तित्व के होते हैं । हर रचनाकार दो स्तरों पर जीता है, एक होता है सामान्य रचनाकार और दूसरा होता है उसके व्यक्तित्व का वह पहलू, जो सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दबावों में कुछ सोचता है, महसूस करता है और कुछ कहना चाहता है ।"[404]

"मायादर्पण" तक अर्थात् सन् 1967 तक श्रीकांत अपना कोई रास्ता निश्चित नहीं कर पाये थे । तब विष्णु खरे ने लिखा था --"उनका कवि दो स्तरों पर रचना कर रहा है और जहाँ इसमें खतरा है, वहाँ सुविधाएँ भी हैं । × × × अब समय आ गया है कि वे खतरों तथा सुविधाओं के बीच चुनाव करलें ।"[405]

हमने पूर्व विवेचन में श्रीकांत वर्मा का "भटका मेघ" से जलसा घर तक पहुँचने का सन् 50 के बाद की सबसे बड़ी साहित्यिक दुर्घटना कहा था । संभवत: पहले संग्रह के नामकरण में ही उन्होंने अपनी भावी परिणति "भटक जाना" की ओर संकेत कर दिया था । जो भी हो, श्रीकांत की काव्य-यात्रा उन भयानक बाधाओं - जोखिमों - तक्लीफ़ों आदि का भरपूर ब्योरा देती है, जो सन् 50 के बाद किसी संवेदनशील कवि-मानस को शीतयुद्धीय राजनीति और व्यावसायिकता और भ्रष्टाचार के ऐन बीच में पड़जाने पर अपना शिकार बनाती हैं - कालांतर में "युद्ध नामक" नामक कविता में ढाका, वियतनाम, योरोप

---

403. --वही-- पृ-14
404. ~~वही/पृ~~ आलोचना की पहली किताब - विष्णु खरे पृ-116
405. --वही-- पृ-121
406. जलसा घर - श्रीकांत वर्मा पृ-72

आदि को "मैं" केन्द्रित को लॉज बनाते हुए जब श्रीकांत वर्मा लिखते हैं - "संभव नहीं है / कविता में वह सब कह पाना / जो घटा है / बीवसीं शताब्दी में मनुष्य के साथ / काँपते हैं हाथ /"[406] तो इसमें "बींसवीं "शताब्दी में और "मनुष्य" के सारे ऐश्वर्य को हटाकर साफ़-साफ़ "मेरे साथ" पढ़ा जा सकता है । श्रीकांत वर्मा की कविता उनके "शिकार होने" की गाथा है । विडम्बना यह है कि इसके जिम्मेदार वे भी हैं, क्यों कि उन्होंने अपने को बचाने के लिए "वह होना" स्वीकार कर लिया, जो वे वस्तुत: नहीं थे ।

शीतयुद्धीय परिप्रेक्ष्य में जब कैलाश बाजपेयी, राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन आदि के काव्य-संसार को देखते हैं तो उसी अविचारित सिनिसिज्म का प्रदर्शन मिलता है, जो तत्कालीन पिहरदृश्य में व्याप्त था । श्रीकांत वर्मा तो "अपनी विशिष्ट जीवन के कारण (उनका जन्म सन् 1931 में हुआ) रूपांतरण के उदाहरण बनें किंतु इन कवियों के लिए ऐसा नहीं था । इन्होंने सीधे-सीधे विरोध का रास्ता चुना और इस क्रम में विचारों को बिदाई दे दी । कैलाश वाजपेयी और जगदीश चतुर्वेदी तो सिनिक और संशयवादी होने के साथ-साथ खूंखार भी हो गये । विष्णु खरे को प्रमाण माने तो अकवियों के झुण्ड ने उन्हीं के "शब्दों के वायर्तेस" को अपना कर उन से भी आगे बढ़ तो बया किंतु उनके सामाजिक संदर्भों से कट गया और फलस्वरूप हास्यास्पद अंत को प्राप्त हुआ ।"[407] जब कैलाश वाजपेयी ऐसी श्रम सिद्ध और क्रूर उपमाएँ दे रहे थे - "ताजा कत्ल खौलते पानी में" या "खौलते जल में जैसे बच्चा छूट गिरे" तो ऐसा ही तो प्रतीत होता है कि जैसे "धर्म-गुरु नरकों का आँखों-देखा हाल सुनाते हैं और श्रोताओं के विस्फारित नेत्रों को देखकर और भी रंगीन चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं ।" [408] एक सीमा के बाद कैलाश वाजपेयी की कविताएँ निश्चित ही "परपीड़क" (Sadist) हो जाती हैं । कथ्य के बजाय "प्रघात" (Shock) और उसके उपकरणों को ही लक्ष्य बना लेना एक चरम विकृति तक पहुँचा हुआ रूप वाद ही तो है । "यथार्थ से सीधे साक्षात्कार के नाम पर रूमानियत,

---

407. आलोचना की पहली किताब - विष्णु खरे पृ-132
408. —वही— पृ-135

और आत्म साक्षात्कार के नाम पर आत्मरति"[409] के शिकार कवि वे ही थे, जो अपने-अपने गाँवों के बरक्स किसी महानगर में थे । भीड़ और स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों के बीच घबरा कर वे "अपनी रचनाओं में एक "टीन एज" की दुनिया बसाते हैं × × × वह शायद सामाजिक स्तर पर अपने पिछड़े होने के अहसास को सम्बन्धों में आक्रामकता और उग्रता द्वारा दुरुस्त करने की कोशिश की ही एक परिणति है ।"[410] "साहसिकता" की रूढ़ि ने उक्त कविता को अमानवीय की सीमा तक क्रूर और आक्रामक बना दिया था । एक अवयस्क सरोकार ही तथाकथित अकवियों में दीख पड़ता है ।

एक अमानवीय या अव-मानवीय उदासीनता और आक्रामकता तो कैलाश वाजपेयी में ही है —

हमें अब किसी भी
व्यवस्था में डाल दो
(जी जायेंगे)[411]

फिर भी हमने दो विपरीत शक्तियों की बात की है । कैलाशवाजपेयी ने "एक लय" "राजधानी" जैसी कविताएँ भी लिखी हैं, जो अपनी सीमाओं में ही सही, युगीन सामाजिक विडम्बना को उभारती हैं ।

जगदीश चतुर्वेदी और श्रीराम शुक्ल जैसे कवियों (अकवियों ?) की चर्चा हम नहीं करेंगे कि इनका "विरोध" छद्म है और किसी भी अर्थ में सृजनात्मक नहीं है । "इतिहास हंता" के जगदीश चतुर्वेदी के पास सिर्फ शाब्दिक प्रघात है और प्रस्तुत शोध प्रसंग में वे उल्लेख तक किये जाने के पात्र नहीं मान जा सकते । श्री राम शुक्ल की "इक्कीसवा अंधकार" मरी हुई औरत के साथ सं भोग" तथा "नीली आँखों वाली सफ़ेद बिल्लियाँ" नामक कृतियाँ भी तथाकथित "अकविता" के हल्ले में शरीक हो गयी । आज वे निंदा करने के लायक भी स्थिति नहीं रखती ।

---

409. फ़िलहाल - अशोक वाजपेयी पृ-14.
410. —वही— पृ-15
411. संक्रांत - कैलाश वाजपेयी पृ-3.

उस पूरे युग में "विरोध" की अविचारित स्थिति के बावजूद जो कवि उल्लेख्य हो सकते हैं - वे हैं - राज कमल चौधरी, सौमित्र मोहन और श्याम परमार ।--

इन तीनों कवियों में "नकार" अथवा विरोध का स्वर प्रमुख है । "मुक्तिप्रसंग" एक जटिल संरचनावली लंबी कविता है । उसके मूल प्रस्थान बिंदु - "मनुष्य के पतन की कविता" या "भारतदेश की बीमारी का चित्रण" अथवा गुप्त रोगों में ग्रस्त कवि की मृत्यु तथा कविता में मुक्ति की तलाश" है ।[412] आत्म निर्वासन और मनोरोग ही इस कविता की रचना का निर्धारण करते हैं । यह कविता "मनुष्य के पतन की कविता है" (केदार नाथ अग्रवाल) या "भारतदेश की बीमारी की कविता (विश्वंभरनाथ उपाध्याय) इस विवाद से अलग हटकर हम कहना चाहेंगे कि यह एक महत्वपूर्ण कविता है । "प्रदत्त" के प्रति अविचारित विरोध का यह एक दुखनात्मक उदाहरण है । राजकमल चौधरी की गलत और पतनशील राजनीति जहाँ से उस युग के गलत राजनीतिक-सांस्कृतिक पक्ष को प्रतिनिधि बनाती है, वहीं उनकी संवेदनशील मानवीय मंशा इसे एक "भावुक नकार" में भी बदलती है --

आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतांत्रिक पद्धतियाँ केवल पेट
के बल/ उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज / धीरे-धीरे नपुंसक बना लेने
के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देश प्रेमी नागरिक / बनातेती हैं / आदमी को
इस लोकतंत्री संसार से अलग हो जाना चाहिए । चले जाना चाहिए कस्बों
गांजाखोर साधुओं / भिखमंगों अफ़ीमची रंडियो की काली और अंधी दुनियाँ
में मसानो में / अधजली लाशें नोच कर / खाते रहना श्रेयस्कर है जीवित
पड़ोसियों को खाजाने से / हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है / इस
धरती से आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की / साजिश में "[413]

---

412. लंबी कविताओं का रचना विधान सं० नरेन्द्र मोहन - रमेश कुंतल मेघ का "कविता से हटकर पतनशील राजनीति की कविता" नामक लेख पृ-124
मनोचिकित्सा क्षेत्र को आधार बनाकर लिखा गया यह लेख मुक्तिप्रसंग को समझने के लिए पुष्ट आधार का काम दे सकता है ।

413. कहीं भी खत्म कविता नहीं होती - सं० नरेन्द्र मोहन "मुक्तिप्रसंग पृ-129

राजकमल चौधरी ने स्पष्ट तौर पर इस "विरोध" में निहित मानवीय बेचैनी और सामाजिक जीवन के यथार्थों का प्रगाढ़ बोध होने की बात कही है । -"यह मैं नहीं मानता कि नयी पढ़ी के लेखकों को अपने निजी या सामाजिक जीवन के यथार्थों का बोध नहीं है । ~~कमोबेश~~ कमोबेश नयी पीढ़ी के सभी लेख सामाजिक आर्थिक यंत्रणाओं में झुलस रहे हैं । समाज का यह स्वरूप किसी को पसंद नहीं है । मार्क्सवाद के सिद्धांतों पर अधिकांश व्यक्ति वैचारिक आस्था रखते हैं । कुछ लोग खुले तौर पर भी यह कहते हैं कि समाज और शासन की समूची व्यवस्था में आमूल क्रांतिकारी परिवर्तन होना चाहिए । लेकिन अपने समाजबोध और जीवन बोध के निष्कर्षों को सही साबित करने के लिए लेखक वर्ग के पास कोई योजना, कोई परिकल्पना अथवा कोई सक्रिय सिद्धांत नहीं है । सिद्धांत हो भी, लेकिन सिद्धांत की सक्रियता तो सचमुच नहीं है ।..... लेखक जो कोई भी सही अर्थ में आधुनिक है और बुद्धिजीवी है, उसे अपने जीवन और समाज के हर मोरचे पर पूरी सचाई, पूरी ईमानदारी के साथ पक्षधर होकर, क्रांतिकारी होकर, अपने वर्ग, अपने समूह, अपने जुलूस का मुख्य-पात्र प्रवक्ता होकर सामने आना होगा, उसे आखिरी कतार में सिर झुकाये हुए खड़ा रहना नहीं होगा । आदमी के प्रति, खूबसूरती के प्रति वास्तविक शांति और सुख और वास्तविक स्वाधीनता के प्रति अपने प्यार को साबित करने के लिए लेखक को अपने इर्द-गिर्द फैली हुई भीड़ अपने साथ ले चलते हुए, बुद्धि और बल और संगठन को राजनीति के हर एक मोरचे पर रुके हुए जुलूस में शामिल होना होगा । वाकई प्रतिबद्ध हूँ और अगर मैं शामिल नहीं होता हूँ - कम से कम इस तरह भी नहीं, जिस तरह पास्तरनाक और मायकोवोस्की शामिल हुआ था - तो मैं पूंजीपति और उसकी समाज-व्यवस्था, और शासन-व्यवस्था का सेवक, एजेण्ट और प्रवक्ता हूँ ।"[414] शुभ श्रीराम सिंह ने "मुक्ति प्रसंग" को कवि से खुद से "डायलाग" माना है और वह "डायलाग" कवि के संक्रमण में होने की स्थिति को सूचित करता है ।[415] वस्तुत: "मुक्तिप्रसंग" का रूप आत्म स्वीकृतियों से भरा है - "उन तमाम कुटिल चालों को पहचानने की कोशिश है, जो सहज मानवीयता में बाधक हैं ।"[416]

---

414. युयुत्सा - राजकमल चौधरी स्मृति अंक अगस्त 1967 पृ-
415. समकालीन कविता पर एक बहस - जगदीश नारायण श्रीवास्तव पृ-89 पर उद्धृत

यह आकस्मिक नहीं है कि डॉ० धर्मवीर भारती ने "साप्ताहिक अप्रेल,67 में चिकनी सतहें-बल्ते आंदोलन" नामक लेख माला में राजकमल और उसकी पीढ़ी के कवियों को "असामाजिक" कहा था । विजय बहादुर सिंह ने "संपूर्ण युग-जीवन की खण्डित इकाइयों को फिर से जोड़कर पूर्ण बनाने के प्रयत्न के लिए राजकमल की सराहना करते हुए उसे उसका अवदान माना था ।"[417]

प्रस्तुत शोध प्रसंग की शब्दावली में कहें तो राजकमल चौधरी का सम्पूर्ण काव्य एक प्रक्रिया था । उसकी प्रारंभिक रचनाओं से लेकर मुक्ति प्रसंग तक कवि की संभावनाएँ ही उजागर होती है । उसके मूल्यांकन में गलती वहाँ हुई, जहाँ उसकी प्रारंभिक रचनाओं से मुक्ति-प्रसंग तक की "विकास-प्रक्रिया" को ध्यान में नहीं रखा गया । अपनी विकास-प्रक्रिया में वे "जनता के पास वापिस आने" और "अपनी यात्रा वहीं से शुरू करने" की जरूरत महसूस करने लगे थे । राजीव सक्सेना के अनुसार "आधुनिकता को क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य में रखकर राजकमल अपने से एक नयी मांग कर रहा था । इस मांग को वह कैसे पूरा करता, यह सचमुच दिलचस्प होता । दुर्भाग्य से वह इसके लिए जीवित न रह सका ।" अपने अंतिम दिनों के एक लेख में स्पष्ट शब्दों में "राजनीति" और कविता को आवश्यक रूप से जोड़ते हुए कहा — हमें राजनीति चाहिए ताकत की, जिंदगी की लड़ाई में शामिल होकर अपना सुख, स्वाधीनता, अपना अधिकार प्राप्त करने की ताकत वर राजनीति हमें चाहिए ।"[418]

राजकमल निश्चित ही "निषेध" के कवि थे । किंतु उनका "निषेध" जीवन के प्रति नहीं था । वे विरासत में प्राप्त बेमानी मूल्यों के प्रति निषेधात्मक रुख अपना रहे थे । वे उन मूल्यों के बेमानी होने की ज़डों की खोज में प्रभुजातियों तक पहुँच गये थे -"वैश्यानिक राजनेता और स्त्री अंगों के प्रति / कुल तीन ही प्रभु जातियाँ रह गयी हैं अब /"[419]

फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि राजकमल चौधरी और उनके साथी द्वंद्वात्मक प्रतिरोध" का काव्यांकरण नहीं अपना सके । वे अपने

---

416. —वही- परमानंद श्रीवास्तव का उद्धरण पृ-95

417. —वही- पृ-94 पर उद्धृत ।

सफल और श्रेष्ठ सृजन क्षणों में "विरोध" ही करते रहे ।

अभिव्यक्ति-गत ईमानदारी और "परिवेश" से घात-प्रतिघात करते हुए, एक विसंगति-बोध को पूरी आनुभूतिक संपन्नता के साथ प्रस्तुत करते हुए सौमित्र मोहन राजनीतिक-सामाजिक अंतर्विरोधों की बारीक समझ भी रखते हैं । कवि अपने क्रोध को गहराई में ले जाता है और विद्रूप में बदल देता है । छद्म-संस्कृति का पर्दाफाश करना ही उनके "विद्रूप" का उद्देश्य है ।

कई छोटी कविताओं में इस "विद्रूप" का इस्तेमाल विरोध के लिए करने के बावजूद "लुक्मान अली" में ही सौमित्र मोहन के इस "विद्रूप" का चरम सृजनात्मक रूप मिलता है । अदद आभिजात्य, व्यवस्था आदि के साथ ही वे अपने उन मित्रों के उखड़ेपन को भी अपने "विद्रूप" का लक्ष्य बनाते हैं, जो उन्हीं की तरह "उखड़े हुए" हैं, यहाँ तक कि कवि खुद को भी नहीं माफ़ करता ।

लुक्मान अली के लिए स्वतंत्रता उसके क़द से केवल तीन इंच बड़ी है / × × × वह जानता है कि चुनाव / लोगों की राय का प्रतीक नहीं, धन और धमकी का अंगारा है / जिसे लोग . . . . /अपने कपड़ों में छिपाये पानी/ के लिए दौड़ते रहते हैं / × × × शुतरमुर्ग ~~कहीं भी~~ चाहे जहाँ भी पाया जाता है लेकिन लुक्मान अली भारत में ही मिलता है ।"[420]

सौमित्र मोहन ने इस कविता के संदर्भ में, अपने वक्तव्य में कहा —"लुक्मान अली" ऑटो-राइटिंग नहीं है ।" मैं इसे लिखने के लिए पाँच महीनों तक "घबड़ाया" रहा हूँ । "लुक्मान अली" की स्थितियों का सामना करते ही मुझ में से वे मनोवैज्ञानिक भय दूर होते रहे हैं ; जो बचपन से मेरा पीछा करते रहे हैं । मैं इसे अर्ध-जीवनी परक कविता कह सकता हूँ । × × × "लुक्मान अली" मेरे लिए मात्र प्रतीक नहीं है - इसकी शारीरिक सत्ता है, फ़ांसी की सत्ता है और मैं समझता हूँ कि आज कविता में "बुरे दिनों" का चित्रण या प्रतिक्रिया या एनकाउण्टर इसी फ़ांसी से किया जा सकता है ।"[421]

निश्चित ही "लुकमान अली" उस नकार-वादी धारा की एक सशक्त कविता है । बहुत बारीक समझ की काव्याभिव्यक्ति के कारण इस कविता को "निषेध" या "वर्जना" आदि शब्दों का सहारा लेकर रद्द नहीं किया जा सकता । "विरोध" प्रतिरोध नहीं हो सकता । किंतु नकारात्मक विरोध में भी एक सचाई तो होती ही है । पूर्व में उद्धृत मारक्यूज के एक उद्धरण का स्मरण करें जो "विचार" की पूर्व शर्त नकार है । विरोध और समर्पण (=नकार और स्वीकार) के बीच का दबाव किसी काव्य-दृष्टि को सार्थक भी कर सकता है । सुरेन्द्र चौधरी के अनुसार "एक आततायी जड़ता के भीतर हमारा नकार वस्तुतः एक वृहत्तर स्वीकृति की चेष्टा है । हम साहस के साथ छोरों के बीच स्थितियों को ~~नकारते~~ नकारते चले रहे हैं । फासिज़्म, व्यावसायिकता और पूंजीवाद के छोरों के प्रति हमारी पीढ़ी पूरी तरह सचेत है । नकार हमारी आंतरिक स्वतंत्रता का प्रमाण है ।"[422]

इस संदर्भ में श्याम परमार के पास मात्र काव्यात्मकता मिलती है । सारी विचारधाराओं को एक साथ नकारते हुए वे विचार-कविता के नहीं, विचार-विरोध के कवि सिद्ध होते हैं । फिर भी "आदमी के अच्छे जीवन की तलाश" के कारण वे अकवियों की भीड़ में "कवि" सिद्ध होते हैं । वे अपने दोस्त अकवियों का विरोध करते हुए भी कविता लिखते हैं ।

मेरे दोस्त के दाँतों में कविता अपने विषैले दंश/तेज़कर रही है ।"[423]

× × ×

चाहे जिस करवट बैठें शब्दों के घोड़े / चिमगादड़ या पिस्सू काटें / या अँधेरे में / चिंघोर तो रहें महीनें आज का दर्द / मोहरे बैठाने वालों की जमानत में / कविता केवल छपने की चीज़ है / × ×× शब्द तो छापे

---

418. वही- पृ-97 पर उद्धृत
419. कहीं भी खाग कविता नहीं होती सं० नरेन्द्र मोहन - मुक्ति प्रसंग पृ-11
420. लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ - सौमित्र मोहन पृ-97, 99
421. —वही— पृ-108
422. समकालीन कविता पर एक बहस - बदीश नारायण श्रीवास्तव पृ-102 पर उद्धृत.

शोभा है । असलतो होते हैं उनमें सम्बन्धों के अर्थ / गोया तुम्हारी कविता / कविता नहीं - तुम्हारा नाम होती है । जात होती है या मंत्रणाओं में पहचान के लिए / तुमलेते हो / तुम्हारी अहमियत होती है / कविता नहीं होती ।"[424]

चंद्रकांत देवताले की कविताओं में भी नकार मिलता है । परिवेश के पाखण्ड के विरुद्ध । इसी प्रकार अन्य कवियों में भी कतिपय काव्यांश - इस नकार या विरोध को प्रस्तुत करते हैं । "प्रतिरोध" की पूर्व भूमिका और अभिजात्य को तहस-नहस करने में ही इनकी सार्थकता मानी जा सकती है । यों संभवत: ऐसा भी नहीं है -"ज्यादातर कवि निचले मध्यवर्ग से आते हैं और किसी न किसी तरह के अभिजात के प्रति उनका आकर्षण अस्वाभाविक नहीं है । कई बारलगता है कि मसलन योन या क्रांतिकारिता के प्रति भी ललक युवा कवियों में रही है, वह कहीं न कहीं अपनी सामाजिक आकांक्षाओं की क्षतिपूर्ति या एक ऐसे लोक में शरण लेने कीइच्छा के कारण रही है, जिसमें कुछ महत्वपूर्ण या चौंकाने वाला करने से मान्यता मिल सके । ये सभी अंतत: अभिजात के ही संस्करण है ।"[425]

फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि सन् 60 के आसपास काव्य-प्रक्रिया एक वस्तुकरण की शिकार हो रही थी ; उसको एक विरोध परक प्रतिक्रिया ही उस कविता को बचा जायेगा । "यह संकट अप्रत्याशित और नया था, इसलिए इसके सामने अधिकांश कवि हत प्रभ रह गये और उन्हें सब कुछ अलजलूल लगने लगा । उन्होंने सत्ता के लोकतांत्रिक नकाब और झूठ को अपनी आँखों के सामने नंगा होते देखा ! x x x भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद शोषण इन सबके विरोध के लिए जिस संयत मानसिकता की जरूरत थी अकवियों में वह धीरज और तैयारी नहीं थी ।"[426]

यह सामान्य स्थिति थी । कालांतर में वाम चेतना के उभार से जुड़े कई कवि भी इसके प्रभाव में थे । धूमिल, जगूड़ी, देवताले आदि बहुत बाद में ही इसके अपने को मुक्त कर सके । यों पूरी तरह से मुक्त कर भी नहीं

---

423. कविताएँ - कविता के बाहर - श्याम परमार पृ-24।
424. --वही-- पृ-20-21।
425. मिलाएं - अशोक वाजपेयी पृ-

पाये । जो इस प्रवाह से किसी सीमा तक अपने आपको बचाये रख सके और अपने ढंग से जीवन के स्वीकार की कविताएँ लिखते रहे ; उन में विनोद कुमार शुक्ल, सोमदत्त, शलभ श्रीराम सिंह, अशो वाजपेयी आदि के नाम अपनी-अपनी सीमाओं के साथ उल्लेखनीय माने जा सकते हैं । विशेषत: विनोदकुमार शुक्ल की कविता अपने ठण्डे, संयत और प्रति-विस्फोटक समझ के कारण विस्मित करती है । मुक्तिबोध ने उनकी कविताएँ 2-5-60 को कृति में भिजवाते हुए लिखा था —"उनकी कविताएँ मुझे पसंद हैं / × ×× उनमें विशेष काव्य प्रतिभा है । फिर भी, हीरे को गढ़ना होगा, चोटें ज़रूरी हैं ।"[427] सन् 1960 की उनकी एक कविता से इस का प्रमाण मिलता है कि उस अराजक्ये रूमानियत और विचार-विरोध के परिदृश्य में भी अपेक्षाकृत युवा कवियों में एक सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध ऐसा प्राप्त होता है, जो एक ओर शीतयुद्ध की साहित्यिक मंशाओं की काट करता है और दूसरी ओर मानव की पक्षधरता की भी काव्यात्मक उद्घोषणा करता है । —"मैं दीवाल के ऊपर /बैठा/थका हुआ भूखा हूँ / और पास एक कौआ है / जिसकी चोंच में / रोटी का टुकड़ा/ उसका ही हिस्सा / छीना हुआ है/ सोचता हूँ / कि हाय / न मैं कौआ हूँ / न मेरी चोंच है / आखिर किस नोक नक्शे का आदमी हूँ / जो अपना हिस्सा छीन नहीं पाता /[423] इस क्रम में उनकी "मेज़ विस्तर भूल गया था", वह आदमी नया गरम कोट पहन कर चला गया विचार की तरह, राजनीतिक बहस में मुझे को लेकर "घर से दूर" लगभग जयहिंद "आदि कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है ।

इस प्रकार शीतयुद्धीय परिप्रेक्ष्य में पनपती व्यावसायिक और राजनीतिक-नैतिक घटिया स्थितियों में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध और विरोध [=अकविता] के दृश्य बहुलता से प्राप्त होते हैं । जिन कवियों में "परिवेश" के प्रति कोई जुड़ाव नहीं मिलता न प्रतिरोध के स्तर पर और विरोध-समर्पण

---

426. पूर्वाग्रह - 39-40 उदयप्रकाश का लेख "कविता, अकविता या टोटल फार्म पृ-91
427. मुक्तिबोध रचनावली -6 पृ-346
428. "वह आदमी नया गरम कोट पहिन कर चला गया विचार की तरह" विनोद कुमार शुक्ल पृ-18.

के स्तर पर; जो एक कालातीत स्तर से टिप्पणी करते रहते हैं - चाहे जितनी तथाकथित कलात्मकता के साथ - उनकी चर्चा जानबूझकर नहीं की गयी है । जैसे, अज्ञेय का नख-शिख से दुरुस्त काव्य, जो किसी भी प्रकार के संघर्ष की बानगी नहीं देता ।

---

o
o
o
o
o
o
o
o
o
o

खण्ड : दो

o
o
o
o
o

द्वितीय उत्कर्ष में "देए" और "काल"-गत काव्य संदर्भ

देह की राजनीति बनाम सौंदर्य बोधात्मक देह :

देह की राजनीति
देह की राजनीति से विकट सन्निकट और कोई
राजनीति नहीं है संजय ।
अन्न और अफीम की राजनीति यहीं शुरु होती है ।"[429]

मुक्त प्रसंग की उपर्युक्त पंक्तियाँ दो प्रकार से विवेचन-विश्लेषण करने पर दो नितांत विपरीत अर्थ प्रेषित करती हैं । यदि राजकमल चौधरी के समूचे जीवन और कृतित्व से जोड़कर देखें तो ये निश्चित ही एक गलत वक्तव्य की प्रस्तुति हैं ।- "सामाजिक मनोविज्ञान" की भूमि पर भी पहले कविसेक्स (देह) और राजनीति को अर्थात "देह की राजनीति" के पतन को उछालकर एक गलत शुरुआत करता है, जो सेक्स और राजनीति के बीच विचित्र कायांतरण (metamorphosis) करती है ।"[430]

वस्तुत: राजकमल चौधरी इन पंक्तियों में देह की राजनीति के बारे में कुछ कह भी नहीं रहे थे, वे "राजनीति" के बारे में कहने के लिए "देह" का इस्तेमाल कर रहे थे । उनकी राजनीतिक समझ, निश्चित ही एक अराजक, क्षयशील जीवन द्वारा निर्धारित हुई थी । मुक्त प्रसंग में ही वे अन्य स्थलों पर "देह की राजनीति"

---

429 - कहीं भी लंबी कविता नहीं होती - सं. नरेन्द्रमोहन - मुक्त प्रसंग" कविता -- पृ. 119

430 - लंबी कविताओं का रचना-विधान- सं. नरेन्द्रमोहन - "कविता से हट कर पतनशील राजनीति की कविता" नामक लेख - ले. रमेश कुंतल मेघ-पृ. 129 ।

पद का जिस तरह प्रयोग करते हैं, उससे सिद्ध होता है कि वे "देह" को अपनी राजनीतिक अभिव्यक्ति का साधन बना रहे थे। कवि के आरंभ में ही - "कोकाकोला के नीले ग्लास में रम डालकर देह की राजनीति करती थी / मंजू हालदार" 431
और बाद में - " x x x बाकी शहरों में राजनीतिक वेश्याओं ने पीला मटमैला अंधेरा फैला रखा है / अपनी देह को उजागर करने के लिए / " 432 इसप्रकार स्पष्ट है कि राजकमल चौधरी "देह" का वह अर्थ नहीं ले रहे थे, जो प्रस्तुत शोध प्रसंग के लिए आरंभ से ही अभिप्रेत है।

पूर्व विवेचन के देह-विषयक संदर्भों को स्मरण करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि "देह" को न तो हम एक "स्वायत्त" सत्ता के रूप में देखते हैं और न उसे यौन-यंत्र मे घटा देने के ही पक्षपाती हैं। जिस प्रकार "मनुष्य" के सभ्य-संस्कृत बनने के क्रम में विशुद्ध "प्रकृति" कहीं नहीं रह गयी है, उसी प्रकार "देह" भी मात्र प्राकृतिक नहीं रह गयी। वह निश्चित ही किसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का हिस्सा होती है। इसी को यहाँ इस तरह भी कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकार की राज्य सत्ता में "देह" अनिवार्य रूप से राजनीतिक होगी। इसी को मार्टिन ए. बटमैन [Martian A. Beartmen] ने Body politic कहा है। 433

---

431 - कहीं भी खत्म कविता नहीं होती- सं. नरेन्द्रमोहन - "मुक्ति प्रसंग" पृ. 109-110

432 - वही पृ. 121

"प्रत्येक देह" यदि जीवशास्त्रीय स्थिति है तो राजनीतिक भी । वह मनुष्य की "देह" भी है और एक नागरिक की भी ।

देह को लेकर जो एक पवित्रतावादी ख्याल हावी रहा है शौचसंबंधी प्रशिक्षण से लेकर यौन-सम्बन्धी विधि-निषेध तक जो नियम-अनुशासन प्राप्त होते हैं, वे एक समाज-व्यवस्था के व्यवस्थापकों द्वारा अपने "नागरिक" की प्राकृतिक देह को एक राजनीतिक देह बनाने के प्रयत्नों के चलते हैं ।

उन नियमों - अनुशासनों में बुद्धिमानी या विवेक ही हमेशा रहते हो, ऐसा नहीं हैं । कहा जा सकता है कि शासन-शक्ति से लैस व्यक्ति ही नियम-कानून बनाता है । उसका बुद्धिमान होना कतई आवश्यक नहीं है । अपने बनाये नियमों को लागू करने की शक्ति उसके पास हो, बस, यह आवश्यक है ।

यहाँ "नारी देह" की चर्चा आवश्यक है । नारी को देह-मिथकों में बंदी बनाकर किस तरह सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र से बाहर खदेड़ दिया गया, इसकी ओर संकेत किया जा चुका है ।

433. "The man is not just a natural body but also a part of the state or as a part of the body politic" —Philosophy and Social Criticism' Jan-1978, Vol.5 P.No.19

433. यदि "मनुष्य" को ध्यान में रखा जाय, उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक आदि व्यवस्थाओं में बद्ध किंतु सतत चलती रहनेवाली प्रक्रिया-रूप को तो "प्राकृतिकता" (जो है) से "सौंदर्य बोधात्मकता" तक की यात्रा समझने में मदद मिल सकती है । राजनीतिक स्थिति ही अस्तित्व संघर्ष को निर्णायक रूप से प्रभावित करती है और इसलिए अनिवार्यत: नैतिक सौंदर्य बोधात्मक अनुभवों को भी । यहां इतना ही पर्याप्त होगा कि "देह" अपने मानवीय होने के क्रममें ही प्राकृतिक > राजनीतिक > सौंदर्य बोधात्मक होती रहती है । यह "प्रक्रिया" कभी समाप्त नहीं होगी ।

इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि कालांतर में नारी को उन्हीं नियमों-कानूनों द्वारा दोयम दर्जे की प्राणी करार दिया गया, जो, समाज की एक सदस्य होने के नाते उसकी रक्षा करने को प्रतिश्रुत थे। जिस प्रकार की स्थिति उसे दी गयी अथवा जो सामाजिक भूमिका उसे सौंपी गयी, वह उसे उन सारे सामाजिक आचरणों से दूर रखती थी, जो परिवर्तन और क्रांति के आधार होते हैं।

पूर्व विवेचन में, इंद्रिय-बोध एवं तत्संबंधी चर्चा के अंतर्गत "स्पर्श" की प्राथमिकता, प्रजनन से उसका जुड़ाव और उसकी विकसित स्थिति का "आनंद"> कला-साहित्य आदि से संबद्ध होना आदि विषय विस्तार से प्रस्तुत हो चुके हैं। प्राकृतिक देह > राजनीतिक देह > सौंदर्यबोधात्मक देह -- यह सूत्रीकरण अपने सारे सरलीकृत रूप के बावजूद प्रस्तुत प्रसंग में उपयोगी होगा। ठीक-ठीक एकरैखिक विकास यह नहीं है फिर भी अपनी पूरी जटिलता में, सौंदर्यबोधात्मकता चरम स्थिति ही रहेगी। एक बात और भी ध्यातव्य है कि सौंदर्य-बोधात्मक देह, किसी भी अर्थ में, प्राकृतिक दह को निरस्त नहीं करती। कर ही नहीं सकती। वह सतह (प्राकृतिकता) से उभर उठती है। उसे छोड़ती नहीं है।

यह भी महत्वपूर्ण बात है कि दोयम दर्जे की सामाजिक स्थिति ने निश्चित ही नारी चेतना को निर्धारित किया है। स्व-चेतना, प्रेम-चेतना और सौंदर्य-चेतना। प्रस्तुत संदर्भ में, स्त्री-पुरुष-संबंध, एक-दूसरे की देह, एक-दूसरे की सामाजिक स्थिति इन्हीं और उनसे बनती-बिगड़ती चेतना अनुभूति का द्वंद्वात्मक रूपरूप ही हमारे अध्ययन का अभिप्रेत है। दोयम दर्जे की सामाजिक स्थिति

द्वारा निर्धारित नारी-चेतना और उसके साथ द्वंद्वात्मकता से जुड़ी पुरुष चेतना अपने "प्राकृतिक" आधारों से या तो गाढ संपृक्त दिखायी देती है या उसे नकारती हुई । प्रस्तुत प्रसंग की शब्दावली में कहें तो विरोध और समर्पण की स्थिति, "सतह" पर ही अपने को स्थित रखना है जबकि "प्रतिरोध" में सतह से ऊपर उठा जाता है, स्वयं से अस्वयं हुआ जाता है, सीमित से बृहत्तर हुआ जाता है । सारांश में "प्राकृतिक" से सौंदर्यबोधात्मक हुआ जाता है ।

सामाजिक स्थिति कोई अमूर्त पद नहीं है । बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हम पाते हैं कि वय:संधि [puberty] तो अपेक्षाकृत पहले आने लगी है किंतु सामाजिक प्रौढ़ता भी पहले आ जाती हो, ऐसा नहीं है । विवाह संस्था पर संकट आने के कई कारणों में से यह भी एक है । नियान लाइन भी अपनी चकाचौंध से वय-क्रम में गड़बड़ी करती है। रमेशकुंतल मेघ ने डॉ० जाफरी युनुस खाँ द्वारा की गयी खोजों के साक्ष्य से बताया है कि भारत के उष्ण देश होने के कारण यहाँ नारी जल्दी युवा हो रही है ।[434]

साथ ही हमने सैपगेटी के साक्ष्य से बतलाया था कि नारी का गृह कार्य कैसे बेगार की कोटि में आकर अतिरिक्त मूल्य की सृष्टि करता है । वस्तुत: आज नारी की स्थिति यह है कि वह अपने "श्रम" के "उपयोग-मूल्य" के घेरे में बद्ध रहने को अस्वीकार कर रही है और पुरुष की तरह "विनिमय-मूल्य" के जगत में प्रवेश कर रही है ।

---

434. समय एक शब्द है -- रमेशकुंतल मेघ - पृ. 505-506
नैतिक मूल्यों का अस्तव्यस्त परिदृश्य इसी से जुड़ता है ।

विरोधाभास यह है कि जहां वह पहले "अर्थ" से संबंधित आचरण-जगत से बाहर थी, वहां अब वह जिंस [commodity] भी बन रही है । अतएव "देह" से संबंधित, उसकी प्राकृतिकता से सौंदर्य-बोधात्मकता तक की यात्रा से संबंधित और पुरुष नारी के देह-रचनागत विभेदों से संबंधित सारे प्रश्नों के समाधान प्रमुखत: उत्पादन संबंधों की धुरी पर ही मिल सकते हैं और हमारे समाज के पूंजीवादी, सामंतवादी घालमेल वाले रूप में हम इसकी आशा कर ही नहीं सकते ।

उत्पादन संबंधों के क्षेत्र से अर्थात् "धन की अर्थ-रचना के बाहर" होने की स्थिति ही भारतीय नारी की चेतना को निर्धारित करती है -- करती रही है ।"[435] पुरुष-चेतना का निर्धारण धन की अर्थ-रचना के भीतर होता है - होत रहा है । विरोधाभास की जड़े इसी असमानता की स्थिति में निहित है । -- "मंडी में अपने सक्रिय स्थान से वंचित नारी उन दशाओं पर भी कोई नियंत्रण नहीं रख सकती जो स्वयं उसकी जिंदगी निर्धारित करती है। उसकी आर्थिक आश्रयता का प्रतिबिम्ब भावात्मक आलंबन, अबलात्व, और दूसरे "टिपिकल" नारी स्वभाव गुणों में होता है । वह रूढिवादी, भयभीत और परम्परा की समर्थक है ।"[436]

प्रस्तुत प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम यह माने कि उपर्युक्त स्वभाव से युक्त "नारी" अपने प्रजनन-धर्मी देह-चरित्र के आधार पर रागात्मकता की वाहिका तथा शिशु के बोध की नियामिका "मां"

---

435. - वही - पृ. 507

436. - वही - मार्गरेट बेस्टन का कथन पृ. 507-508 पर उद्धृत ।

से लेकर एक मात्र सही मानवीय संबंध "मैं-तुम" की विषय object = जीवन-संगिनी अथवा प्रेम-संगिनी बनकर पुरुष कवियों के सृजन का अंतस बनती रही है । कवियित्रियों की बात ही यहां महत्वहीन है । एक तो, क्रमश: उनका अभाव होना अपने आप में साहित्यिक-सांस्कृतिक मण्डी की ठेठ भारतीय स्थिति पर एक टिप्पणी है और दूसरे जो कि पय नाम उपलब्ध हैं, वे भी उपर्युक्त "टिपिकल" नारी स्वभाव गुणों से बाहर नहीं आ सकी है । विशेषत: हमारे विवेच्यकाल सन् 1950 से 1967 तक यही सच है । एक भिन्न संदर्भ में, व्यंग्यात्मक शैली के साथ रामविलास जी ने भी लिखा -- "नयी कविता लिखनेवालों में पुरुष ही अधिक है, स्त्रियां बहुत कम, उतनी भी नहीं, जितनी छायावादी कविता लिखती थी ।"[437]

"दूसरा सप्तक" में संग्रहित शकुंतला माथुर की कविताएं और वक्तव्य जैसे इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि "आर्थिक आश्रयता का प्रतिबिम्ब" किसी सीमा तक "भावात्मक आलंबन को नियत करता है ।

अधिक विस्तार में न जाय, तो भी शकुंतला माथुर के वक्तव्य में "विवाह" "गृहस्थी" आदि केन्द्रीय भाव है । उनके प्रति लगाव-अलगाव दोनों ही पूरी तरह से व्यक्त हुए हैं । सौंदर्य बोधात्मक स्तर पर "पूर्णमासी रात भर" में संभोग का एक अकुण्ठ चित्र आरंभ में आया है किंतु अंतर्वस्तु को चुन लेने पर भी एक स्त्रियोचित हिचकने जहां पूरी कविता को छायावादी अवशेष का उदाहरण बनाया है, वहीं समापन पंक्तियों में पारम्परिक विरहिणी

---

437. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा - पृ॰ 114

का चित्र कुछ यों उकेरा गया है कि कोई विशिष्ट पहचान नहीं उभरती । वक्तव्य के अंत में -- "गृहस्थी की निरंतर रहनेवाली दस वर्ष की बेहोशी में मेरी सामाजिक चेतना फिर लौट आयी है और संसार में कुछ करने और कुछ छोड़ जाने का मन था । इस का बीज था बचपन में कांग्रेस के समारोहों, जुलूसों, लाठी चार्जों में भाग लेना जो आग मन में आज भी वर्तमान है और सदा आगे बढ़ने को प्रेरित करती है ।" और -- "x x x मैं आगे बढ़ूंगी ।"[438] ऐसी घोषणा के बावजूद वे कुछ नहीं कर सकी । वे कर भी नहीं सकती थी क्योंकि काव्य के विशिष्ट सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर आचरण करने के मूल मूल में जो "बोध" सक्रिय रहता है, वही जब विखंडित हो तो ऐसी आशा भी नहीं करनी चाहिए । यों "पूर्णमासी रातभर" की कवयित्री का "वंचित मदन" [Denied Love] की शिकार होकर -- "मेरा और तुम्हारा / अभी तक चलता प्यार / कहाँ खींचकर ले आया है / जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज है / सपाट धरती पर / सिर्फ एक-दूसरे को देखे / हम घूर रहे हैं । / और सामने के दो खंडहर / सिद्ध कर रहे हैं अपना क्रम /"[439] ये ये पंक्तियाँ लिखना कविता से बाहर की सामाजिक आर्थिक सचाई की नारी-विषयक वस्तुता को ही व्यक्त करता है ।

कीर्ति चौधरी और कोटा -- ये दो नाम निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं । सर्वेक्षण "तीसरा सप्तक" में संग्रहित कीर्ति चौधरी की कविताओं का उत्कृष्ट होना किंतु बाद में उनका भी संभवत: गृहस्थी

---

438. दूसरा सप्तक - सं0 अज्ञेय - पृ. 33 और 36

439. नयी कविता और अस्तित्ववाद - रामविलास शर्मा - पृ. 114 पर उद्धृत ।

में गर्व हो जाना और न लिख पाना नारी-विषयक उसी दुखद कथा को दुहराता है, जिसके अनुसार "रसोई घर और शय्या" की दो धुरियों पर ही, नारी केन्द्रित रहती है ।

विस्तार में न जाते हुए निष्कर्षत: हमें इतना ही कहना चाहेंगे कि जब सृजन-क्षेत्र का चुनाव करनेवाली इनी-गिनी नारियां भी अंतत: घर के अवधारात्मक (रसोई घर शय्या और इनसे जुड़ी अलगाव भावना) परिवेश में घटकर रह जाती है तो किसी भी कवि के लिए कितना कठिन होता है कि वह अपनी कविताओं में "प्राकृतिक देह" रहने की अभिशप्त "नारी देह" का सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण करें । भावावादी उच्छ्वास या यौवनउत्तेजना के क्षणों में नहीं बल्कि सृजनात्मक क्षणों में वह अपनी रागात्मकता को सौंदर्य-बोधात्मक अभिव्यक्ति दें ।

पुन: स्मरण करें कि ऐसा मात्र "शुभेच्छा" से संभव नहीं होता । युग का दबाव और उसके साथ द्वंद्वात्मक सरोकार रखते व्यक्तित्व का मिला-जुला परिणाम ही वह अभिव्यक्ति होती है । शकुंतला माधुर की कविताएं और उनका वक्तव्य यदि कीर्ति चौधरी और कांता के लेखन के साथ रखकर देखा जाय तो परिवेश गत अंतर स्पष्ट हो जाता है ।

प्रभाव सौंदर्य है और सर्वाधिक मानवीय प्रभाव स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों में संभव होता है । विशेषत: "प्रजनन" की सतह से जुड़े । उस सतह से उभर उठने के विभिन्न आयामों में ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि एक निश्चित सामाजिक राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था में दो अलग-अलग बल्कि विपरीत भूमिकाओं में अपना जीवन यापन करते "स्त्री" और "पुरुष" के बीच अनिवार्यत: दरारें रहेंगी । यहीं "प्रेम" की समस्या आती है ।

जिस प्रकार समूची संस्कृति-सभ्यता आदि के मूल में एक "प्राकृतिक" मानव देह है जो बचे रहने के संघर्ष में, आत्म-रक्षा के हित संस्कृति-सभ्यता की रचना करती है, उसी प्रकार "प्रेम" भी अपने सारे रूपों में भी अपने "प्राकृतिक" रूप में "प्रजनन" है ।

जिस प्रकार "स्वयं" से "अस्वयं" होना सौंदर्यानुभव की अनिवार्य पहचान है, उसी प्रकार प्रजनन का "प्रेम" होना भी एक सौंदर्यबोधात्मक आचरण है । पूर्व विवेचन का स्मरण करें तो कला-साहित्य आदि का मूलाधार "आनंद" भी "सुख" का ही विस्तार है ।

"सतह से उठना" या "विस्तार" अथवा अपने से बृहत्तर होना" न मात्र जटिल है बल्कि एक कठिन प्रक्रिया भी है । "प्रेम" और "सौंदर्य" -- दोनों एक हैं क्योंकि "विस्तार ही दोनों की पहचान है । यहीं प्रेम और सौंदर्य का अनिवार्यत: यूटोपियात्मक चरित्र से युक्त होना भी उजागर होता है । सतह से उठना " कभी व्यावहारिक चिंतन के घेरे में नहीं आ सकता ।

प्रेम को अनिवार्यत: "कला" कहते हुए एरिक फ्रॉम इसी कष्ट साध्य सौंदर्यबोधात्मक प्रक्रिया को संकेतित करते हैं, जिसमें अभ्यास, अनुशासन और "दृष्टि विकास" का समूचा संघर्ष होता है । "ज्ञान" भी उतना ही "आवश्यक है । "प्रेमोस्पद-" को सही तरह से ~~अच्छे~~ जानने का अर्थ है -- उस सामाजिक आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था को जानना, जिसमें प्रेम एक आचरण के स्तर पर संभव हो रह है और प्रेम की द्वंद्वात्मकता को पहचानना भी आवश्यक है ।

प्रेम सर्वाधिक जटिल मानवीय आचरण है । काल बोध के साथ ही उपजती "चिंता" की बात हमने की है । वस्तुत: काल-बोध ही अकेलेपन के अनुभव का कारण होता है । बेसहारा, होकर यह पाना कि "संसार से कटा हुआ हूं", सर्वाधिक कष्टकारी है ।

पूर्व-विवेचन में उल्लिखित "चिंता" [Anxiety] को ध्यान में रखे तो "सौंदर्यबोधात्मक" [Aesthetic] को समझने में सहायता मिलती है । 'सौंदर्यबोधात्मक' को समझ करही "देह" को उसके साथ जोड़ा जा सकता है ।

"प्रेम" की विरुदावली गानेवाले विचारक यह ~~अक्सर~~ भूल जाते हैं कि वह किसी भी और भावना की तरह, मनुष्य सापेक्ष है इसलिए संदर्भ ही उसे सार्थक या निरर्थक बनाते हैं । वह धीरे-धीरे प्राप्त होता है । सही संभवत: यह कहना होगा कि वह प्राप्त होता ही रहता है । प्रेम एक प्रक्रिया है क्योंकि मनुष्य एक प्रक्रिया है । विश्व-बोध के विकास के लिए संघर्ष का ही एक अविभाज्य आयाम "प्रेम" सीखने का संघर्ष है ।

इस "प्रक्रिया" को सर्वाधिक वश में तो निराला ने किया था । "सौंदर्यबोधात्मक देह" के साकार ग्रहण करने की प्रक्रिया के वे "सिद्ध" कवि थे । पूर्व-विवेचन के आधार पर कहा जाय तो उनके पास एक अतीत था और जिसके आधार पर वे एक सौंदर्य-बोधात्मक छलांग [Aesthetic Leap] ले सकते थे । (संदर्भ प्रत्येक यूतोपिया का एक अतीत होता है ।") किंतु निराला के बाद, उन्हीं के "सौंदर्य-बोध" के उत्तराधिकारी शमशेर सौंदर्य-बोधात्मक "देह" की आधारभूत प्रेरक भावना "प्रेम" के बारे में जब लिखते हैं --

"सरल से भी गूढ, गूढतर
तत्व निकलेंगे
अमित विषमय
जब मथेगा प्रेम सागर
हृदय ।"[440]

साही के ~~कहने का~~ उपयोग करते हुए हम कहना चाहेंगे कि आज तक हिंदी में विशुद्ध प्रेम का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर है । "और इस आज तक में मैं हिंदी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूं ।" (पूर्व उद्धृत)

एक ~~दुस्साहस~~ "कथन" को कहने का साहस हम यहां करेंगे कि "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध के धरातल पर जिस प्रकार नागार्जुन "प्रक्रिया" के परे एक सिद्ध कवि है जबकि मुक्तिबोध उस कष्टकारी

---

440. चुका भी हूं नहीं मैं - शमशेर बहादुर सिंह - पृ. 103
दूसरा सप्तक में भी यह संग्रहित थी ।

प्रक्रिया में पदे-पदे भागीदारी करते हुए उसे आत्म-संघर्ष में ढालकर शब्द-फलक पर उकेरते हैं, उसी प्रकार निराला में हमें सौंदर्यबोधात्मक देह के धरातल पर एक सिद्ध कवि के दर्शन होते हैं, जबकि शमशेर उस "प्रक्रिया", निस्संदेह चरम जटिल प्रक्रिया, के संश्लिष्ट शैली के चितेरे हैं। वे जिस प्रकार "सौंदर्य" में से कविता लिखते हैं -- उसी प्रकार "प्रेम" में से। विषय - विषयी [Subject- Object] संबंध में "मैं" पूरी तरह से सक्रिय रहता है। तब सागर-मंथन का जातीय प्रतीक शमशेरियत में गुंथकर एक नयी छवि अपनाता है। "प्रेम" के भाट-चारण अर्थात् भाववादी - मानववादी विचारक कभी "तत्व निकलेंगे अमित विषमय" के मानवीय तथ्य > सत्य (आभार : अज्ञेय) तक नहीं पहुंच सकते।

"प्रेम" के प्रति द्वंद्वात्मक दृष्टि और फिर भी निरे टिप्पणीकार न रहकर उसे गीतात्मक अभिव्यक्ति देना -- यह काव्यात्मक आचरण (वस्तु के चुनाव से शिल्प की संपन्नता तक) शमशेर को अद्वितीय बनता है।

यदि सचमुच ही "प्रेम" जब हृदय सागर मथता है तो "अमित विषम तत्व" निकलते हैं, यदि ऐसा है तो यह "तब बनोगी / एक गहन मायामय / प्राप्त सुख /" -- उपलब्धि "अमृत" हुई। सागर-मंथन की कथा याद करें तो हलाहल का एक ही "घट" निकला था और "अमृत" का भी एक ही। इसे शमशेर का काव्य-लाघव माने कि एक ओर हैं तो "विषमयता तत्वों" की संख्या "अमित" है और दूसरी ओर एक अदद "तुम" है, जो एक साथ प्राप्त सुख और "प्राप्य जय" दोनों हैं। "प्रक्रिया" अथवा

"सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है" (शमशेर") के आधार पर हम कह सकते हैं कि "प्राप्त" और प्राप्य" प्रकारांतर से प्राकृतिक और सौंदर्यबोधात्मक अथवा व्यावहारिक और यूतोपियात्मक है । "चुका भी हूं नहीं मैं" पंक्ति में निहित आत्म-गौरव का "संदर्भ" वह "तुम" है, जो "प्राप्त सुख" और "प्राप्य जय" है । (क्यों यहां "मैं" की सारी अहम्मन्यता एक ही क्षण में अहं के विलयन का उदाहरण नहीं बन जाती ? क्या इसे शमशेर की काव्य-चातुरी, शिल्प, शब्द-प्रयोग आदि के सहारे समझा जा सकता है ? या फिर "उदिता" का वह कथन याद करना पड़ेगा "प्रेम की भावुकता ने जो बीज बोया, वह मैं देखता हूँ कि अकारत नहीं गया क्योंकि परी मनुष्य जाति से प्रेम, युद्ध से नफरत और शांति की समस्याओं से दिलचस्पी -- ये सब बातें उसी से धीरे-धीरे मेरे अंदर पैदा हुई "(पूर्व-उद्धृत) तभी यह "सरल से भी गूढ काव्य-पहेली या प्रेम-पहेली या "शमशेर ~~कवित्व~~ काव्याचरण, समझ में आ सकेगा ?"

वस्तुत: यों तो "सरल" और "गूढ" दोनों ही भाषिक सुविधा के चलते गढे गये शब्द हैं किंतु सामान्य मानव व्यवहार को समझने के लिए ये कारगर सिद्ध हो सकते हैं ।

"प्रेम" और "सौंदर्य" -- जैसे पदों के संदर्भ में यह भाषिक सुविधा ही सबसे बड़ी असुविधा हो जाती है । शमशेर इस बडी असुविधा को किस तरह अपनी कविता के पक्ष में "सुविधा" बना लेते हैं - यह ध्यान देने योग्य तथ्य है। विशेषत: शमशेर की सौंदर्य-प्रेम आदि को "वस्तु" बनाकर रची गयी कविताएं । उर्दू-फारसी परंपरा का दाय यदि उनका सहायक बनता है तो चित्रकला - संगीत कला का रंग-बोध, विराम, मौन तथा अंतराल भी उनकी सहयात्रा करता है ।

इस संदर्भ में यों तो शमशेर की कई कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है, किंतु "एक नीला दरिया बरस रहा" "न पलटना उधर" "आओ", "टूटी हुई, बिखरी हुई" "सावन-" "जिंदगी का प्यार" "शाम और रात : तीन स्टेज" "दो मोती कि दो चंद्रमा होते" "सौंदर्य", हवस में सनसन आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं ।

यह प्राय: कहा गया है (स्वयं शमशेर द्वारा भी) कि शमशेर मार्क्सवादी काव्य शास्त्र की कसौटी पूर खरे नहीं उतरते । यदि "सौंदर्य" नामवाली उनकी दोनों कविताओंकी काव्यात्मक प्रस्तुति (निश्चत ही इससे कहीं ज्यादा और कई सारे अन्यान्य गुणों से विभूषित (इस प्रकार हुई है कि वे सारी शंकाएं निर्मूल सिद्ध होती है --

(1)

ओ स्पर्श !
मुझे क्षमा करना
कि तुम मुझी में होकर मुझी से
परे हो ।
ओ मध्यम !
क्षमा करना
कि मैं तुम्हारे पार जाना
चाहता रहा हूं ।

(2)

एक सोने की घाटी जैसे उड चली
जब तूने अपने हाथ उठाकर मुझे देखा
एक कमल सहस्रदली होठों से
दिशाओं को छूने लगा
जब तूने सांस भर मुझे देखा
न जाने किसने मुझे अतुलित
ध्वनि के भयानक अतल से
निकाला ····· जब तू, बाल
लहराये

वह जो तुम्हारे हृदय में बज
रहा है
मैं उस साज में एक चाँद
देखता हूं
उसको पकड़ना चाहता रहा हूं
मेरी अपनी इस चाह के अलावा
मैं कुछ नहीं कुछ नहीं ।

तुम कि एक सितारे की झलक
आंसू में
उस आंसू की झलक में एक
किरण हूं मैं
और कुछ नहीं ।

वह न होता मेरा काश जो
मेरे ही लिए
तुम्हें प्रिय है
मैं उसी के हित हूं ।
काश कि मैं न होऊं
न होऊं
तो कितना अधिक विस्तार
किसी पावन विशेष सौंदर्य का
अवतरित हो ।
पावन विशेष सौंदर्य का ।[441]

मेरे सम्मुख खड़ी थी : मुझे नहीं ज्ञात!
सच बताना, क्या तू ही तो नहीं थी?
तूने मुझे दूरियों से बढ़कर
एक अहर्निश गोद बनकर
लपेट लिया है,
इतनी विशाल व्यापक तू होगी
सच कहता हूं, मुझे स्वप्न में भी
गुमान न था ।
हां, तेरी हंसी को मैं उषा की भाप
से निर्मित
गुलाब की बिखरती पंखुड़िया
ही समझता था
मगर वह मेरा हृदय ही कभी
छील डालेगी
मुझे मालूम न था ।
तेरी निर्दयता ही शायद दया हो,
दोनों की एक प्राप्ति ही शायद
तेरा अज्ञानपन और
तेरा सौंदर्य है ।[442]

---

441. चुका भी हूं नहीं मैं - शमशेर बहादुर सिंह - पृ. 90

442. इतने पास अपने - शमशेर बहादुर सिंह - 56-57

निश्चित ही इन दोनों कविताओं में एक गहरा प्रभाव डालनेवाली अर्थ-छवियां प्रस्तुत हुई हैं। कहना न होगा कि एक समूचा प्रबंध भी इन दोनों कविताओं की व्याख्या और इनमें निहित "सौंदर्य" विवेचन के लिए अपर्याप्त है। यहां हम संक्षिप्त संकेत ही दे सकते हैं।

जहां "स्पर्श" से आरंभ होकर विस्तार-धर्मी या विस्तार सभी "पावन विशेष सौंदर्य" के अवतरित होने की बात आयी है, वहां थोड़ी गहराई में जाने से ही यह पता चल सकता है कि प्रस्तुत शोध-प्रसंग के अद्यतन विवेचन में आयी सैद्धांतिक स्थापनाएं इस कविता में प्रभाव=सौंदर्य के रूप में आ गयी है। सौंदर्य-बोध मूलत: इंद्रिय बोध है किंतु पूर्णत: इंद्रिय-बोध नहीं है। "स्पर्श" ही वह बुनियादी बोध होता है किंतु तज्जनित "आनंद" "स्पर्शकर्ता" के आचरण के रूप में क्रिया और कर्ता दोनों के परे जाता है। "स्पर्श" माध्यम है किंतु आनंद कारण भी है और लक्ष्य भी। "क्षमा करना" में अपराध बोध नहीं है बल्कि उर्दू-परंपरा की "माफ करना" की औपचारिक नम्रता है।

"स्पर्श" के बाद "दृष्टि" और श्रवणेन्द्रिय। स्पर्श के परे "आनंद" बोध में संश्लिष्ट अनुभूतियां सक्रिय होती हैं। कोई किसी के पश्चात न होकर साथ-साथ है। "विस्मय" के सृजनात्मक प्रयोग से "स्पर्श" और "माध्यम" के साथ तुलना की पूर्ति होता है। फिर हृदय रूपी साज में बजता हुआ चांद और उसे पकड़ने की ललक। "मैं-बोध" अनिवार्यत: काल-बोध का परवर्ती है और कालातीत के अनुभव में "मैं" का संहार हो जाता है क्योंकि एक तीव्रता द्वारा आत्मसात कर लिया जाता है।

कुल मिलाकर "मैं" का विस्तार & अस्वयं होना, बृहत्तर होना आदि & जो "तुम्हारे" लिए न होकर "मेरे लिए" जो तुम्हें प्रिय है, उसके हित है । इस प्रक्रिया में "मैं" के "विलयन" की आकांक्षा को "काश" के द्वारा अभिव्यक्त करते हुए ही "पावन विशेष सौंदर्य के अवतरण" की बात की गयी है ।

ध्यान देने की बात यह है कि आकांक्षा, प्रयत्न और उन्हीं के परिणाम स्वरूप "विस्तार" "मैं" की ही कार्रवाई है । "तुम" मात्र निमित्त है । देह और मन -- दोनों ही पूरी तरह से सक्रिय हैं । महत्वपूर्ण यह है कि साज, सितारे, आंसू जैसे शब्द सहज ही आये हैं और सहृदय पाठक को याद न हीं आता कि ये वे ही शब्द हैं, जो बंबइया फिल्मों और उनके गीतों द्वारा बाजारू बना दिये गये हैं और इनके साथ काव्यात्मक सरोकार प्राय: बचकानेपन का लक्षण माना जाता है । "आंसू" प्रयोग के बावजूद कविता में रुदन का चालू रूप नहीं मिल पाता । वेदना भरपूर है । सौंदर्य की पूर्ववर्ती शर्तों के रूप में वेदना, अभाव & सार्त्र ने जिस अर्थ में [scarcity] पद का प्रयोग किया है & और वर्तमान से एक यूटोपियात्मक छलांग - प्राप्त होते हैं । "पावन" और "विशेष" पदों के द्वारा सौंदर्य को विशेष्य बना देना जहां एक ओर कवि की "नैतिक चेतना [moral awareness] के मूल्यों का & चिंतन स्तर पर & सौंदर्य चेतना के साथ जुड़ाव बतलाता है, वहीं "काश" आदि के प्रयोग से "सौंदर्य" को "आदर्श" बना दिया गया है । जो सौंदर्य-बोध एक प्रक्रिया के रूप में कवि अनुभव है, उसकी दिशा "पावन" और "विशेष" की ओर है । "पावन" के साथ विशेष जोड़ना संभवत: इसलिए आवश्यक था कि

संस्थाबद्ध धर्म ने इस शब्द को अपने हित में अति-प्रयोग करके लगभग अर्थ हीन बना दिया है ।

"सौंदर्य" नामक दूसरी कविता में "सौंदर्यानुभव" का काव्यात्मक वर्ण है । "मैं-तुम" सम्बन्ध जिस स्तर पर प्रभावशाली { प्रभाव = सौंदर्य } होता है, वह स्तर निश्चित ही सौंदर्य-बोधात्मक होना चाहिए । पहली कविता में "मैं" तुम के प्रति सक्रिय है तो इस कविता में "तुम" की सक्रियता के "मैं" पर पड़े प्रभावों का चित्रण है । दूसरे शब्दों में, मैं द्वारा "तुम" का अनुभव है । "तुम" का व्यवहार { = हाथ उठाकर उसे देखा ।" } ही "मैं" का अनुभव है ।[443] वह अनुभव इस अर्थ में रहस्यमय है कि उसका वस्तुनिष्ठ अध्ययन नहीं हो सकता ।

"मैं" का भीतर या अंतस कोई दिक् या स्थान ही है । "भीतर-बाहर" इस अर्थ में, "मैं" के अपनी देह को अनुभव करने का ही एक उपाय है । कल्पना, फ़ंतासी और उससे भी परे कह जानेवाले "अनुभवों" का उत्स और लक्ष्य "देह" ही है । एक "विस्मय" की बात हमने कही है । ऑक्टोविया पॉज़ ने भी एक जगह कविता को "विस्मय" [exclamation] में ही देखा है । "विस्मय" का स्पष्टीकरण [explanation] बन जाना ही कविता का भटक जाना या गिर जाना है ।[444]

विस्मयाकुल प्रश्न-मुद्रा शिशु मुद्रा है । शैशव की अनुभवगत विशुद्धता ही कविता की प्रश्न-शक्ति होती है । मनोविश्लेषकों ने शिशु द्वारा जगत के प्रथम अनुभव को फ़ंतासी कहा है ।

---

443. — "The politics of experience" — R. D Laing p. 15

444. "पूर्वग्रह" 39-40 जुलाई-अक्टूबर 80, वेणुगोपाल का लेख "लेकिन कविता सिर्फ़ एक है" - पृ. 100 पर उद्धृत ।

विस्तार में गये बिना इतना कहना ही प्रासंगिक होगा कि फंतासी संसार से जुड़ने का बुनियादी तरीका है । "मैं-मैं" संबंध की भूमिका में फंतासी स्थित होती है और संबंध बोध का चरम लक्ष्य "मैं-तुम" भी फंतासी का ही सौंदर्यबोधात्मक विकास होता है । "सोने की घाटी का उड़ना" अथवा " एक सहस्रदली कमल का होठों से दिशाओं को छूने लगना" (संभवत: उड़ान की दिशाओं को ?) आदि एक फंतासी -अनुभव ही तो है । अद्भुत रस, को प्रत्येक अन्य रस की निष्पत्ति में अनिवार्यत: स्थित रहना ही है । अद्भुत-रस से आरंभ होगा और शांत रस से समापन ।-- "अद्भुत की सृष्टि वस्तुत: उदात्त [Sub-lime] की सृष्टि है ।"[445] प्रस्तुत शोध प्रसंग में विस्तृत विवेचन की न तो आवश्यकता है और न अवकाश ही । इतना भर स्मरण कर लेना पर्याप्त है कि "वीर" से अद्भुत की उत्पत्ति बतायी गयी है क्योंकि वीर का कार्य आश्चर्य जनक होता है ।"[446]

"इतनी विशाल व्यापक तू होगी / सच कहता हूँ,
मुझे स्वप्न में भी / गुमान न था /"

क्या इन पंक्तियों में व्यक्त भावना अर्जुन के विराट रूप दर्शन के "उदात्त" भाव की याद नहीं दिलाती ? उदात्त का अनुभव "शिशु" स्थिति की ही विशेषता होगी क्योंकि दमन, वर्जना, विभाजन आदि वयस्क नाशकारी कारवाइयों का अस्तित्व ही शिशु में नहीं होता ।

"तुम" के साथ "मैं" का संबंध जिस बिंदु पर उदात्त होता है, वह श्रृंगार, अद्भुत, वीर और शांत रस का मिला-जुला अनुभव होगा । "वेदना" का स्मरण करें तो करुण भी ।

445· भारतीय काव्य शास्त्र का अध्ययन - विश्वंभरनाथ उपाध्याय पृ· 181

446· - वही -

कतिपय रसों की ओर यह संकेत मात्र शमशेर की काव्य-सफलता दर्शाने के लिए है । -- "तूने मुझे दरियों से बढ़कर / एक अद्वितीय गोद बनकर / लपेट लिया है ।" -- क्या इसे पढ़कर गीत गोविंद के उस श्लोक की स्मृति नहीं हो आती, जिसमें राधा भयभीत कृष्ण § = शिशु-कृष्ण § को सुरक्षा प्रदान करती है ।[447]

स्नेह-प्रेम-वात्सल्य-शृंगार-यौन आदि "मैं-तुम" संबंध के चरम पर एकात्म हो जाते हैं और उस "एकात्म" की जटिल संस्थिति को काव्यात्मक अभिव्यंजना दे पाना शमशेर को प्रस्तुत संदर्भ में अद्वितीय बनाता है । यों उर्दू-परंपरा के नकारात्मक दाय भी शमशेर में हैं और घातक रूप में हैं । इसी कविता की "हाँ-नेटी हँसी जो ..... मालूम न था" पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं जहाँ उदात्तता और विस्मय "माशूक" की निर्दयता के उल्लेख से "मामूली" में घट जाती है । किंतु कुल मिलाकर "तुम" को सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर एक उदात्त रूप देने में शमशेर सफल हुए हैं ।

हमने बलपूर्वक शास्त्रीय आलोचना से अपने को दूर रखना चाहा है । यह इसलिए कि विडम्बना यह है कि शास्त्रीय आलोचक ऐसी रचना को सूँघकर यह तो समझ लेता है कि इसमें एक नया व्यक्ति पैदा हुआ है परंतु उस व्यक्ति के रागात्मक ऐश्वर्य की परिभाषा किये बिना वह अपने को कृत कार्य नहीं मानता । तब डर होता है कि वह शास्त्रीय आलोचना की परम्पराओं से जूझने के लिए इस नये व्यक्ति

---

447. ~~अभ्येतु~~ दूरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमैः / नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय/इत्थं नंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं / राधामाधवयोर्जयंति यमुना कूले रहःकेलयः ।
गीत गोविंद - जयदेव - पृ. 1

को किसी भी खाने में डाल दे सकता है । यह शमशेर के काव्य का सबसे अपूर्ण व्यक्ति होगा । क्योंकि शमशेर का काव्य, अनुभव को और शिल्प को हर खाने से बाहर ले जाने का ही संयोग है ।[448]

अनुभव को और शिल्प को हर खाने से बाहर निकाल ले आने के परिणाम स्वरूप शमशेर की कविताओं पर लिखना एक दुष्कर कार्य है । शमशेर अच्छी तरह जानते हैं कि "तात्कालिक" और "स्थायी" साहित्य में क्या अंतर होता है ? दिन-प्रति दिन के प्रति पूरी जानकारी के आधार पर, पूरी तरह से प्रचारवादी उद्देश्यों को § निश्चित ही सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर § ध्यान में रखकर ही तात्कालिक की रचना होती है । उसका उद्देश्य तात्कालिक क्षणों में "बलिदान या कर्म की प्रेरणा देना होता है" और वह प्रेरणा उस "क्षण" की विशिष्टता पर पूरी तरह से निर्भर भी होती है ।"[449]

शमशेर की ऐसी कविताएं दुरूह जटिल कही गयी है । यदि एक दीर्घ कालिक सौंदर्य प्रभाव की आवश्यकता हो तो "रचना" में प्राय: जटिलता और अंतर्विरोधों की अनिवार्यता रहेगी ही । अंतर्विरोध की स्थिति ही रचना को बचाये रखती है । एक सम्पूर्णता का प्रत्यय

---

448. शमशेर - सं० सर्वेश्वरदयाल सक्सेना - मलयज - रघुवीर सहाय का "टूटी हुई, बिखरी हुई एक प्रतिक्रिया" नामक लेख-पृ. 126

449. — "The short turm works, which justifiably be subsumed under propaganda, must ~~reveal~~ reveal in their structure and from their ~~an~~ urgent but temperary fuction. ××× their purpose is to inspire for the immediate task of sacrifice and the inspiration depends upon the critical ~~uniform~~ uniqueness of the movement, more than that of orders of the day appear to be and are excepted as permanent orders, they became in time a barrier to ~~the~~ further development. Injunction which are suitable for a seige or of little use in an attack." — Art and Revolution — Leon Burjer P. 54—55

& काल्पनिक ही सही & तात्कालिकता से परे जाने के लिए जरूरी है । इसी स्तर पर कवि भविष्य द्रष्ट आदि होता है । "सम्पूर्णता" को अभिव्यक्ति देती रचना में अस्पष्टता अवश्यंभावी है । उन "अस्पष्टताओं" को स्पष्टता में बदल कर प्रस्तुत करना -- कला का यह उद्देश्य कभी नहीं होता बल्कि उस सुपूर्णता को प्रस्तुत करना होता है, जिसमें ये अस्पष्टताएं [ambiguities] रहती हैं । इसी दृष्टि से देखने पर शमशेर की कविता आत्म चेतना के विस्तार में सहायिका होती है न कि तात्कालिक सीमित ऐसे मार्गदर्शन में, जो सीधी कार्रवाई केलिए प्रेरित करें ।[450]

यदि शमशेर कविता के माध्यम से अपने को एक बेहतर, स्वतंत्र, अकेला इंसान बनाते हैं,[451] तो यह इसलिए कि प्रेम में ये तीनों विशेषताएं होती हैं । शमशेर की इस तरह की कविताएं "मैं" "तुम" को एक उदात्त किंतु मानवीय ऊष्मा & वासना भी जिसमें शामिल है & से भरापूरा रूप देती है । रघुवीर सहाय ने सही कहा है -- "शमशेर ने व्यक्ति की अपूर्णता की बेचैनी और पूर्ण होने की बेचैनी को एक ही व्यक्ति में समो दिया है । इससे अधिक गहरी, गाढ़ी, अधिरी, शांति और हो नहीं सकती । साधारणलोग इसी को प्रेम की पीड़ा कहते हैं । परंतु यह एक नया इनसान पैदा होने की पीड़ा है । जिसे असाधारण रूप से तात्त्ववर कवि ही झेल सकता है, जिसने सब लाल हरी शक्लों और आवाजों को एक में मिला

---

450. Ibid.

451. शमशेर - सं० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - पृ० 126

लिया है ।"[452]

इस नये इंसान के पैदा होने को चेगुवेरा के नये इंसान की अवधारणा से जोड़कर देखा जा सकता है । सौंदर्यबोधात्मक देह का प्रत्यय भी इसी क्रम में ही चरितार्थ हो सकता है ।

उस नये इंसान को ही सौंदर्यबोधात्मक मनुष्य [Homo aestheticus] कहा गया है और मारक्यूज ने कहा भी तो है कि मार्क्स की इस अवधारणा के अंतर्गत यौन-आवेगों को स्वतंत्र किया जाना और उनके मानवीकरण की प्रक्रिया भी आती है ।[453] उस मनुष्य की "देह" ही सौंदर्यबोधात्मक देह मानी जायेगी । शमशेर और उन जैसों की कविताएं तो उस दिशा की ओर गतिमान प्रक्रिया है --

"एक रोमान
जो कहीं नहीं है मगर जो मैं
हूं .... हूं
एक गूंज उड़ते बादल
लगातार
आंख जो कि अंधुआए हुए
उपज आयी हो बहुत ही करीब बहुत
ही करीब ।"[454]

---

452. शमशेर - सं० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - पृ. 128
चेने क्रांति को अनिवार्यतः प्रेम भावना से जोड़कर इसी अर्थ में देखा है -- "Let me say with the risk of appearing ridiculous that true revolutionary is guided by strong feeling of love." — लेनिन और हिंसा की इसी अर्थ में उसने ई- vencermos -Ed- john gerrasy.

453. — 'Emanuries into the fundamentals of esthetic' Stefan morawski' — p.no 389

454. शमशेर - सं० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज -
"एक नीला दरिया बरस रहा" - नामक कविता - पृ. 91

"कबूतरों ने एक गजल गुनगुनायी .....
मैं समझ न सका, रदीफ़, - काफ़िये क्या थे,
इतना अंतरंग, इतना हलका, इतना मीठा
उनका दर्द था ।"[455]

x x x

एक ख़ुशबू जो मेरी पलकों में इशारों की तरह
बस गयी है, जैसे तुम्हारे नाम की नन्ही-सी
स्पेलिंग हो, छोटी सी प्यारी-सी, तिरछी स्पेलिंग।[456]

वह अग्नि कि बिस्तर से उठी थी, आधी ही उठी थी,
फिर बुझ भी गयी ।
उस अग्नि का स्वर है
हम सब जो प्यार करते हैं ।
वह मधु की चट्टान जो तोड़ चुकी थी
कठिनतम हीरों का व्यंग्य, वह मधु की चट्टान
जब गलती है तब जन्म हुआ करता है मानवक।
उन झरनों से, जो खिल-खिल-खिल
सत रंगिनियां हैं
और
नाच रही है
झिलमिल-झिल ..... झिलमिल-झिल .....।"[457]

---

455. शमशेर - सं0 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - मलयज - "टूटी हुई बिखरी हुई" नामक कविता पृ. 109-110
456. - वही - पृ. 113
457. चुका भी हूं नहीं मैं -- शमशेर बहादुर सिंह - पृ. 98.

निश्चित ही "सौंदर्यबोधात्मक देह" के संदर्भ में विचार करते हुए हम "प्रेम" के एक ही आयाम पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। वह आयाम "देह" को ठोस, प्राकृतिक रूप में देखकर ही उसे सौंदर्यबोधात्मक रूपांतरण का विषय बनानेवाली प्रक्रिया को अपने विवेचन का ध्येय बनाने से संदर्भित है। शमशेर की "उदिता" की भूमिका में उनका वक्तव्य (पूर्व उद्धृत) इसी तथ्य को तो सिद्ध करता है -- "x x x पहली बार वास्तव में प्रेम ही हमें अपने से बाहर के वस्तुजगत में विश्वास करना सिखाता है। वह केवल व्यक्ति को ही वस्तु जगत में नहीं, बल्कि वस्तुजगत को भी व्यक्ति में परिवर्तित करता है।"[458]

"बोध" की रचना में "प्रेम" महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और परवर्ती जीवन में वही बोध वस्तु जगत से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए प्रेम-प्रक्रिया को संभव करता है। किसी एक व्यक्ति से शुरु होकर "प्रेम" एक व्यापक लगाव तक पहुंचता है। आत्मीय जनों और परिवेश के प्रति लगाव भी प्रेम का ही एक आयाम होता है। जिस बिंदु पर राजनैतिक कर्मान में हस्तक्षेप करने और उसे तथा अतीत को भविष्योन्मुखता में देखने की कार्रवाई संपन्न होती है, वह निश्चित ही "प्रेम" का परिणाम होता है। "क्रांति" संगीत सौंदर्य के पारस्परिक सम्बन्धों को "प्रेम" के आधार पर ही समझा जा सकता है।

निश्चित ही इस प्रकार "प्रेम कविता" एक ऐसी कसौटी सिद्ध होती है, जिस पर किसी लफ्फाज और एक क्रांति चेता कवि को झट साफ साफ पहचाना जा सकता है। पाब्लो नेरुदा की प्रतीक

---

458. अंतत: 3 सितंबर,77, संपादकीय।

येनान और नाजिमहिकमत की सपाट बयानी की नकल चाहे कितनी अभ्यास-जन्म आसान हो, इन की प्रेम कविताओं की नकल मुश्किल ही नहीं, असंभव भी है । यह एक तथ्य है कि प्रेम कविताएं ही इन कवियों के संपूर्ण कविता संसार को विश्वसनीयता प्रदान करती है ।"[459]

प्रस्तुत संदर्भ में हमने शीत युद्ध की चर्चा बार-बार की है । उसके अंतर्गत जीवन-विरोधिनी भावनाओं विचारों का प्रसार-प्रचार होता है । एक खास नमूने के भाव-जगत को ही काट-छांटकर प्रस्तुत करने को मान्यता दी जाती है ।

जब दो विपरीत शक्तियों का संघर्ष होता है तो तय है कि समूचे विचार-तंत्र में उथल पुथल होती है । सन् 50 के बाद "प्रेम" और "देह" को लेकर जहां एक मानवीय और स्वस्थ रुझान के संकेत मिलते हैं, वहीं रुग्ण और जीवन-विरोधी रुझानों का वर्चस्व भी मिलने लगता है ।

एक ओर शमशेर के साथ ही कई कवि प्रेमिका / प्रेमी की "देह" और उसके मानवीय होने की प्रक्रिया को सौंदर्य-बोधात्मक स्तर पर पहुंचाने में जुटे थे तो दूसरी ओर "अलगाव" [Alienation] की भ्रम वहता "मैं-मैं" संबंध को ही विकृत किये दे रही थी । किसी एक कवि में भी दोनों प्रक्रियाएं सक्रिय मिलती हैं । कवि स्वयं एक प्रक्रिया होता है यह प्रक्रिया जीवन-संघर्ष की हो -जीवन की ओर हो - यह आवश्यक है । "देह" अस्तित्व की आधार है । उसके प्रति एक लगाव, अपने विस्तृत और अनगिन आयामों में जीवनी शक्ति को समृद्ध करता है ।

---

459. - वही -

शमशेर के साथ रघुवीर सहाय, विष्णुचंद्र शर्मा, अशोक वाजपेयी, सर्वेश्वर, नरेश मेहता आदि कवियों की कतिपय प्रेम कविताओं को रखा जा सकता है ।

केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और नागार्जुन के विषय में, जो "देह" संदर्भित विवेचन प्रथम उत्कर्ष के अंतर्गत किया गया था, उसे हम दुहराना नहीं चाहते । न उसके अतिरिक्त हमें कुछ और कहना है । वे अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी विश्व-दृष्टि और जीवनी के अनुसार मोटे तौर पर जीवन-समर्थक ही ठहरते हैं । केदारनाथ अग्रवाल अवश्य ही दुर्बल सृजन क्षणों में सामंती वृत्ति से बच नहीं पाते । कतिपय स्थलों पर नारी-सौंदर्य उनकी उपभोग-वृत्ति को उकसाता है और कई बार वे सौंदर्य का प्रभाववादी चित्र खींच कर ही अपने कवि-कर्म की इति-श्री कर देते हैं । । "हे मेरी तुम" क्रम के अंतर्गत लिखी गयी कविताएं उनके "प्रेमाकुल मन की मुक्त अभिव्यक्ति बन सकी है ।

-- हे मेरी तुम, सोई सरिता / उठो / और लहरों से नाचो / तब तक, जब तक / आलिंगन में नहीं बांध लूं / और चूम लूं / तुमको / मैं मिलने आय बादल हूं ।।[460]

त्रिलोचन के यहां "कृतज्ञताभाव" अवश्य ही एक उदात्त स्वर बनकर आया है --

मैं तुम्हारा / बन गया तो / फिर न हारा / आंख तक कर / फिरी थक कर / डाल का फूल / गिरा पक कर / वर्ण दृग को / स्पर्श कर को / स्वाद मुख को /

---

460. फूल नहीं, रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - पृ. 53

हुआ प्यारा / -- फूल फूल / मैं न भूला / गंध-वर्णों /
का बगूला / उठा करता / गिरा करता / फिरा करता /
नित्य न्यारा ।"[461]

रघुवीर सहाय के यहां आरंभ से ही "तुम" का, वस्तु-जगत का अकुंठ स्वीकार मिलता है । -- "प्राण, मत गाओ प्रणय के गान / पथ लगता अधिक सुनसान / तेरे गीत गाने से /"[462] 'सीढियों पर धूप में' संग्रह निश्चित ही रघुवीर सहाय के मुक्त, वयस्क और प्रवहमान "प्रेम" के अनेक चित्र प्रस्तुत करता है । सीधे-सीधे "देह" के उद्दाम वासना समारोह --- "यह आतुर तन उस तन में धंसता जाए / थक जाएं / थक जाएं तेरे कुच मेरे सीने पर धक् धक् करके / फड़कें / फिर रह जाएं गुंफित जंघाएं / हो जाए वह क्षण जीवन-मरण विशाल सखी /"[463] से शिशु भाव के इस जगमगाते क्षण तक" तुम में कहीं कुछ है कि तुम्हें उगता सूरज, मेमने, गिलहरियां, कभी-कभी का मौसम / जंगली फूल पत्तियां, टहनियां भली लगती हैं / आओ, उस कुछ को हम दोनों प्यार करें / एक दूसरे के उसी विगलित मन को स्वीकार करें ।[464]

जीवन के प्रति स्वीकार का यह भाव "सीढ़ियों पर धूप में" की कविताओं को कृतज्ञता, आशा, विश्वास, मानवीय उष्मा आदि का एक नील-पत्थर बनाता है । यदि "सहज प्रवहमान भाषा"

---

461. ताप के ताये हुए दिन - त्रिलोचन - पृ. 22
462. दूसरा सप्तक, सं० अज्ञेय - पृ. 167
463. सीढियों पर धूप में - रघुवीर सहाय - पृ. 162
464. - वही - पृ. 164

के वे धनी हैं तो इसीलिए कि अंतर्वस्तु में, सहज प्रक्रिया सभी मानव ही स्थित है। उनकी नितांत प्रारंभिक कविता "सुबह" (रचनातिथि - 13 फरवरी 1948) में भी उस आचरण के पूर्व संकेत मिल जाते हैं, जो वस्तु-जगत या प्रेमास्पद (की देह के प्रति भी) के प्रति एक सहज आस्था को मूर्त करते हैं। -- "~~अब विपदा की रात सहज आस्था को मूर्त करते हैं~~। -- "अब विपदा की रात कट गयी / दुखिया की ठण्डी कुटिया में / आज जलेगा चूल्हा।[465]

मानवीय संबंधों को लेकर वे शुरू से ही जागरूक और उत्तरदायित्व की भावना से लैस थे। "दे दिय जाता हूं" नामक कविता में जहां -- "x x x अंदर, लोग / जो एक बार जन्म लेकर भाई बहन मां बच्चे बन चुके हैं / प्यार ने जिन्हें गलाकर उनके अपने सांचों में हमेशा के लिए / ढाल दिया है / और जीवन के उस अनिवार्य अनुभव की याद / उनकी जैसी धातु हो, वैसी आवाज उनमें बजा जाती है", इतनी व्यापक वैश्विक अनुभूति है (यहीं ऐसी तीव्र वैचारिक अभिव्यक्ति भी है "देखो-देखो अंधेरा है/ और अंधेरे में एक खुशबू है किसी फूल की / रोशनी में जो सूख जाती है।" यह कविता निश्चित ही अपनी श्रेष्ठता में एक मार्मिक दस्तावेज है। -- "एक मैदान है जहां हम तुम और ये लोग सब लाचार हैं / मैदान के मैदान होने के आगे / और खुला आसमान है, जिसके नीचे हवा मुझे गढ़ देती है / इस तरह कि एक आलोक की धारा है, जो बांहों में लपेट कर छोड़ / देती है और गंधाते, मुंह चुराते, टुच्ची-सी आकांक्षाएं बार-बार / जबान पर लाते लोगों में / कहां से मेरे लिए दरवाजे खुल जाते हैं, जहां ईश्वर / और सादा भोजन है / और / मेरे पिता की स्पष्ट युवावस्था / सिर्फ उनसे मैं ज्यादा दूर-दूर तक हूं / कई देशों के अधभूखे बच्चे /

---

465. उत्तर गाथा अप्रैल-जून, 1983 पृ. 19

और बांझ औरतें, मेरे लिए / संगीत की उंचाइयों, नीचाइयों में गमक जाते हैं / और जिंदगी के अंतिम दिनों में काम करते हुए बाप / कांपती साइकिलों पर / भीड़ में से रास्ता निकाल कर ले जाते हैं / तब मेरी देखती हुई आंखें प्रार्थना करती हैं। और जब वापस आती है अपने शरीर में, तब वह दिया जा चुका होता है।"[466]

पूर्व में इस पर बलाघात दिया जा चुका है कि प्रस्तुत शोध प्रसंग में विवेचन की कालावधि सन् 1967 तक है और इस वर्ष श्रीकांत वर्मा का "माया दर्पण" तथा रघुवीर सहाय का 'आत्महत्या के विरुद्ध' प्रकाशित हुआ था। जहां तक "प्रेम" या "देह" से जुड़ी या उसी की विकास स्थिति करुणा का प्रश्न है, वह रघुवीर सहाय के इस संग्रह में भरपूर है। व्यक्ति वाचक नामों का प्रयोग कवि की किसी भावना को अमूर्त नहीं रहने देता। "रामदास" कविता विशेष उल्लेख्य है।

प्रस्तुत चर्चा के अंतर्गत रघुवीर सहाय का महत्व तब और बढ़ जाता है, जब हम यह पाते हैं कि मुक्तिबोध की कविताओं में आनेवाले अबोध शिशु (भविष्य का प्रतीक) की तरह ही रघुवीर सहाय की कविताओं में एक लड़का, एक लड़की और एक स्त्री आते हैं। ध्यान देने की बात है कि रघुवीर सहाय की कविताओं में आनेवाली "स्त्री" और "लड़की" पूरी तरह से उस "नायिका" से भिन्न हैं, जो कवि के "पुरुष होने" की स्थिति को ललचाती थी। वह नारी भी

---

466. कविता और कविता - सं० इंद्रनाथ मदान - पृ० 363-364

नहीं है, जो "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी" -- का विषय थी । रघुवीर सहाय की कविताओं में जिस नारी का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, वह छायावादी कविता की "सम-संपन्न" उल्लासमयी, प्रेममयी, भावुक और विरह पीड़िता नारी नहीं है । सन् 60 के बाद की वह नारी भी नहीं, जो कुण्ठाओं के निकास के लिए "इस्तेमाल" की जाती रही थी ।

हमने अस्तित्व-संघर्ष के संदर्भ में पुरुष के ही समान "नारी" की भी बात कही थी । "यह बड़ा आश्चर्यजनक और दुखद सत्य है कि हिन्दी कवियों ने पुरुष के जीवन का आर्थिक संघर्ष तो देखा, पर उन्हें स्त्री के जीवन का यह पक्ष नहीं दिखा । वे उसके प्रति केवल अपनी अतृप्त वासना को बाहर निकालते रहे ।"[467]

स्त्री को उसकी पूरी मानवीय सत्ता में स्वीकार करना ही उस छद्म-यौन से छुटकारा पाना है, जो पूरी देह को, पूरे व्यक्तित्व को मात्र "योनि" और "शिश्न" में घटा देता है ।"

रघुवीर सहाय की कविताओं में नारी पारम्परिक अर्थों में सुंदर नहीं है, विरह में तड़पती रहनेवाली भी नहीं है, शैय्या तक सीमित संभोग-यंत्र भी नहीं है । बल्कि वह इस भयावह समाज की एक सचाई है । दुबली और थकी हुई, बड़े-बड़े दांतोंवाली, गोद में बच्चा लिये चलती बस में चढ़ने को व्यग्र, साथ में दो बच्चे लिए प्रधान मंत्री का पता पूछती हुई जवानी में कई सारे कष्ट उठाने

---

467. समकालीन हिन्दी कविता - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
पृ. 137

के बाद डरी हुई और कभी-कभार मिलनेवाले स्नेह के बदले पुरुष के आगे झुककर चलने को तैयार लेकिन अभी तक वह खड़ी है --

"ग्रीष्म फिर आ गया / फिर हरे पत्तों के बीच / खड़ी है वह / ओठ नम / और भरा-भरा सा चेहरा लिये / बदली की रोशनी सी नीचे देखती / निरखता रह / उसे कवि / नकह / नहंस / नरो / कि वह / अपनी व्यथा इस वर्ष भी नहीं जानती ।"[468]

इसी तरह "लड़की" भी रोमांस के लिए इस्तेमाल होने उनकी कविता में नहीं आती । वह कमजोर है और भारी बस्ता लिए अपने काले पांवों से चिपट रही है । उसकी बाढ़ मारी गयी है और जो इतनी डरी हुई है कि अपना दुख भी नहीं बता पाती ।

कहना न होगा कि समकालीन काव्य-परिदृश्य में नारी के प्रति यह दृष्टि अकेली है / निश्चित ही यह दृष्टि कवि की विश्वदृष्टि को भी व्यक्त करती है / -- "औरतबांधे हुए उरोज / पोटली के अंदर है भूख / आसमानी चट्टानी बोझ / ढो रही है पत्थर की पीठ / लाल मिट्टी लकड़ी लाल छोर / दांत भटमैले इकटक दीठ / कटोरे के पेंदे में भात / गोद में लेकर बैठा बाप / पत्ती पर रखकर अपना पुत्र / खा रहा है उसको / चुपचाप /"[469]

सौंदर्यबोधात्मक देह की चर्चा करते हुए रघुवीर सहाय का महत्व इसलिए और भी अधिक हो जाता है कि उनका समकालीन

---

468. आत्महत्या के विरुद्ध - रघुवीर सहाय - पृ. ८०

469. - वही - पृ.

परिदृश्य यौन-कुण्ठाओं से ओत-प्रोत था । तथाकथित अकविता का सारा परिदृश्य "औरतखोरी" की घोषणाओं से गूंज रहा था और तब रघुवीर सहाय सौंदर्य, प्रेम, स्त्री और बच्चों को उनकी अपनी दुनिया में, उन्हीं की शर्तों पर देख-दिखा रहे थे और जैसा उन्होंने एक जगह लिखा है कि प्रेम मुक्ति देता है, कम से कम उसे तो, जिसके प्रति वह होता है ।"[470]

जिस प्रकार से "स्त्री" और "लड़की" उनके काव्य में मुक्त है, वह इस बात का साक्षी है कि वे उनसे पूरे गहरे अर्थों में प्रेम करते हैं ।

रघुवीर सहाय की कविता पूरी तरह से राजनीतिक है । सौंदर्यबोधात्मक देह के संदर्भ में भी वे उसी अर्थ में राजनीतिक कवि हैं, जिस अर्थ में "अकाल और उसके बाद" के कवि, नागार्जुन राजनीतिक कवि है । तथाकथित राजनीति से पीड़ित समाज के जीते-मरते मनुष्य की तकलीफ का चित्रण वस्तुत: राजनीतिक पक्षधरता का जो अर्थ प्राय: ग्रहण किया जाता है, उसका रघुवीर सहाय के काव्य में नितांत अभाव है । यों वे राजनीति के अरस्तुवाले अर्थों में, पूरी तरह से राजनीतिक कवि भी हैं । उनका पत्रकार होना उनकी कविताओं के लिए लाभदायी रहा है । सूचना-प्रधान वर्णन और वह भी कुछ इस प्रकार कि विश्वसनीय प्रतीत होने के साथ-साथ उसमें सौंदर्यबोधात्मक अपील भी हो ।

समाचार-पत्रों और साहित्य के अंतर्संबंधों की बात का यहीं अवकाश नहीं है । समाचार पत्र का पाठक प्रति दिन समाचार

---

470. सीढ़ियों पर धूप में - रघुवीर सहाय - पृ. 167

पत्र के लिए व्यग्र है तो है क्योंकि वह उसमें आयी पूरी दुनिया से "अजनबी" [outsider] होता है । समाचार पत्रों का इतिहास कविता जितना पुराना नहीं है । वाल्टर बेंजामिन ने पाठक स्तर पर अलगाव को दूर करने अर्थात् लेखक और कवि, विद्वान और प्रचारक यहाँ तक कि लेखक और पाठक के स्तर पर कोई अंतर नहीं रहने देने की भूमिका अपनाने के कारण साहित्य के लिए समाचार पत्र के प्रभाव को लाभदायी भी बताया है ।[47]

हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि समाचार पत्र की तटस्थ विवरणवाली शैली को अपनाकर ही रघुवीर सहाय यह ठण्डी और यथातथ्य दीखनेवाली शैली विकसित कर सके हैं । रघुवीर सहाय का जीवन-विवेक पत्रकारिता की आजीविका अपनाने से निर्धारित नहीं तो, प्रभावित अवश्य ही हुआ है ।

निस्संदेह वे राजनीतिक के बारे में और उसके बोध की कविताएँ सपन्नतापूर्वक लिख लेने के लिए अपनी सामाजिक स्थिति (पत्रकार होना) से निर्धारित होती चेतना (तथ्यग्राहिणी) के आभारी हैं । यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि "देह" और प्रेम के संदर्भों में भी उनकी यह तथ्यग्राहिणी चेतना सतह को भेद कर देख लेती है और नायक-नायिका के सामान्यत्व को पहचानकर उसे ही विषय बनाती है । जिस प्रकार शमशेर संगीत चित्रकला आदि से प्रभाव लेकर कविता-संसार रचते हैं, उसी प्रकार रघुवीर सहाय में पत्रकारिता के विविध आयाम ढूँढे जा सकते हैं । वे राजनीतिक कवि इस अर्थ में हैं कि "आत्म हत्या के विरुद्ध" संग्रह पढ़ते हुए न सिर्फ देश और उसके वर्तमान के रूबरू हुआ जा सकता है बल्कि "देह" को

---

47. "Understanding Brecht" — Walter Benjamin. p 90.

भी उस घातक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है । "सौंदर्यबोधात्मक देह" की और गतिशील प्रक्रिया के अवरोधों को पहचानना भी आवश्यक है और उस प्रक्रिया के रुकने की स्थिति को भी । एक राजनीतिक व्यक्ति या क्रांतिकारी बनने से कहीं अधिक कठिन है -- राजनीतिक कवि बनना । " Poetry can unlock the world, the actual world even the political world. To practice it there is not easy indeed it is more difficult than to through one's self into politics, into revolution, directly as a man, as a revolutionary."[479]

यहां यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि जिस प्रकार प्रतिरोध के संदर्भमें हमने "नागार्जुन" को महान या जन-कवि आदि कहने पर भी उनकी तुलना में मुक्तिबोध को अधिक निकट बताया था क्योंकि ठक्कन से नागार्जुन बन जाना एक अपवाद ही है, नियम नहीं । मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष हमारे लिए प्रेरणादायी हो सकता है । नागार्जुन के यहां तो वह पूरी तरह से बिला चुका है । उसी प्रकार शमशेर के यहां सौंदर्यबोधात्मक देह और प्रेम का जो स्तर मिलता है, जो सम मिलत है, वह भी अपवाद ही है । रघुवीर सहाय के यहां मिलनेवाली प्रेमानुभूति हमारे अधिक निकट पड़ती है ।

निष्कर्षत: रघुवीर सहाय "देह" और "प्रेम" को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने के कारण अधिक विश्वसनीय सार्थक और महत्वपूर्ण बन सके हैं । उनकी इस तरह की कविताएं हमारी बात को सिद्ध करती है --

---

472. मैकुश [Macush] का कथन : समकालीन हिंदी कविता विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - पृ. 146 पर उद्धृत ।

"सब चेहरे सुंदर हैं पर सबसे सुंदर है वह चेहरा
जिसे मैंने देर तक चुपके से देखा हो
इतनी देर तक कि मैंने उसमें और उसके जैसे
एक और चेहरे में अंतर पहचाना हो ।

x x x

तू सुंदर है
इसलिए नहीं कि डरी हुई है
तू अपने में सुंदर है ।"[473]

x x x

लंबी और तगड़ी बेधड़क लड़कियां
धीरज की पुतलियां
अपने साहबों को सलाम ठोंकते मुसाहबों को ब्याहकर
आ रही होंगी जा रही होंगी
वह खड़ी लालच से देखेगी उनका कद ।"[474]

x x x

कितनी सचमुच है यह स्त्री
कि एक बार इसके सारे बदन का एक व्यक्ति बन गया है
उसके बाल अब छने काले नहीं
दुख उसे केशों का नहीं है
वह उदास नहीं डरी हुई है अधेड़ है औरत है ।"[475]

473· हंसो हंसो जल्दी हंसो - रघुवीर सहाय - पृ·
474· - वही - पृ·
475· - वही - पृ·

"हंसो हंसो जल्दी हंसो" (1975) के ये उपर्युक्त उद्धरण "आत्महत्या के विरुद्ध" (1967) की दृष्टि का ही विकास है और प्रमाण है कि वस्तु-जगत से निरंतर का द्वंद्वात्मक सरोकार रघुवीर सहाय को और अधिक आत्मीय और विश्वसनीय बना रहा है -- बनाता जा रहा है - अब भी ।

शमशेर के साथ रघुवीर सहाय की कविताओं में यह देखने के पश्चात कि "दूसरे" के प्रति, उसकी देह के प्रति, किस प्रकार एक लगाव-भरी अभिव्यक्ति कवि को और उसके काव्य-संसार को एक मानवीय अर्थवत्ता देती है, हम यह कहना चाहेंगे कि अन्य कई कवि भी इस मानवीय लगाव में उनके समानधर्मा थे । न्यूनाधिक रूप से इन दोनों कवियों के बारे में कही गयी बातें इन पर भी लागू होती हैं । जितना नहीं होती है, उसके लिए उनकी विशिष्ट जीवनी और सामाजिक स्थिति ही जिम्मेदार है । जहां तक काव्याभिव्यक्ति का प्रश्न है, कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं --

पीले निर्जन शांत अजाने पथ पर / दो रंगीन सांप सहसा मुड़ गये / पीते रहे, सम्मोहन में बंधे / निर्मल, विशुद्ध चांदनी के क्षण / बहुत दिनों के टूटे थे, जुड़ गये / फिर विलुप्त अस्तित्व अचानक डुला / पृथक स्वर हुए / अलग-अलग दो छायाएं हिल गयीं / आहट पाकर कहीं सर्प सो गये / साक्षी रहना चांद / किसी के कंधों पर अपना सिर रख / अपनी संपूर्ण इयत्ता से / मैंने तुम्हें पुकारा /"[476]

---

476. कविताएं-1, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना - पृ. 234

जिस "सहजता" के लिए सर्वेश्वर को विशेष उल्लेख होता है, वह उनकी राजनीतिक व्यंग्यवाली कविताओं के साथ-साथ प्रेम और यौन को विषय वस्तु बनानेवाली कविताओं में भी प्राप्त होती है। स्फीति और सरलीकरण तथा निष्कर्ष, संदेश, सब कुछ को समझा देने की इच्छा आदि के दोष भी इनमें मिल जाते हैं। किंतु वे दोष उनके सफल सृजन-क्षणों को बाधित नहीं कर सके हैं।

-- "तुम वह सत्य हो / जहां मैं बार बार लौटकर आता हूं।"[477]

या

अहं से मेरे बड़ी हो तुम।[478]

उपर्युक्त पंक्तियों का कृतज्ञता भाव देह और प्रेम के अकुंठ स्वीकार से उपजा है। 'संदर्भ, सूर्योदय, हेमंत की संध्या' एवं प्रतीक्षा, पूर्णिमा' 'प्यार' आदि। इसीलिए कालांतर में सर्वेश्वर "देह का संगीत" या "तुम्हारा तन" जैसी कविताएं लिख सके।

-- "तुम्हारा तन / एक हरी भरी झाड़ी है / जिसमें मैं मेमने सा अपना तन रगड़ता हूं। / एक सलोनापन अलग होने के बाद भी / हमारे बीच बहुत देर तक / लहराता रहता है / संगीत और रंगों से परे / उस शांति की तरह / जो सरोद के बज चुकने के बाद / उसके चारों ओर / छायी रहती है / यह शांति वह नहीं है / जो बजने के पूर्व थी / न यह सलोनापन वह है / जो अलग-अलग / हममें-तुममे था / यह हमसे तुम से उत्पन्न हो / हमसे तुमसे मुक्त / एक नयी सृष्टि रच गयी।"[479]

---

477. कविताएं - 1, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ. 235
478. - वही - पृ. 50
479. जंगल का दर्द - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ. 113-114

इस क्रम में कई समानधर्मा कवियों के काव्य-संसार में से शोध सीमा के कारण कतिपय उदाहरण --

"उत्तप्त धरती की गरमीली, हलकी सांस
ऊपर उठी,
प्रोज्ज्वल गगन की सर्दीली, भारी सांस
नीचे झुकी,
यह हुआ फिर-फिर
जब तक न आयी सांझ घिर-घिर
और नीचे ऊपर की सांसे सम न हो गयी --
सम, शीतल और शांत
जैसे-- जैसे कि
हम ।"[480]

-- (प्रयागनारायण त्रिपाठी)

बेला की कोंढ़ियों - जैसे तेरे नन्हे-नन्हें हाथ,
जो मेरी अंजलि में बसते हैं ।
माँ के डैनों-तले
चूज़ों जैसे ।"[481]

-- (मदन वात्स्यायन)

यह कैसा वातास / कि मन को नयन-नयन कर दिया /
गीत को चुम्बी से भर दिया ।

---

480. तीसरा सप्तक - सं० अज्ञेय - पृ० 24
481. तीसरा सप्तक - सं० अज्ञेय - पृ० 83

घर थर-थर / वन थर थर /
सारा जीवन थर-थर /
यह कैसा उल्लास /
यह कैसी हाथों में हिरजन की बेचैनी /
टूटन-टूटन में रचने की नयी-नयी सी प्यास ।[482]

-- केदारनाथ सिंह

यह तुम्हारा छल छलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,
और मेरा डूब जाने को उमंगता ज्वार ।[483]

-- विजयदेव नारायण साही

"तुम्हीं बढ़कर
एक प्याला धूप छलका दो अँधेरे हृदय में --
कि नाचे बेझिझक हर दृश्य इन मदहोश आँखों में,
तुम्हारा स्पर्श मन में सिमट आये
इस तरह
ज्यों एक मीठी धूप में
कोई बहुत ही शोख चेहरा खिलखिलाकर
सैकड़ों सूरजमुखी-सा
दृष्टि की हर वासना से लिपट जाये ।[484]

-- कुँअर नारायण

---

482. ~~आँगन का दर्द - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना~~ वही - पृ. 125
483. तीसरा सप्तक - सं० अज्ञेय -- पृ. 198
484. कविता और कविता - सं० इन्द्रनाथ मदान - पृ. 234

"विचलित था / जब / तुमने /
नस नस के पीले पत्ते मरोड़ कर / अलाव में छोड़े /
§ मन को समिधा दी हो §
विजितथा / जब / तुमने /
पोर पोर में उजली मालती लता /
बोदी / गंध घोल दी /
§ तन को समिधा दी हो §
और मैं प्रवाहित हूं / और तुम सुवासित हो /
तन / मन में / [485]

-- विष्णु चंद्र शर्मा

जब हम प्यार करते हैं / तब यह नहीं कि आकाश अधिक
दयालू हो जाता है / या कि सड़कों पर अधिक खुशी चलने
लगती है / बस यही कि कहीं किसी बच्ची को / अपनी
छत से उगता सूरज / और पड़ोस की बछिया देखना अच्छा
लगने लगता है / कहीं कोई भीड़ में बुदबुदाते होठों से
प्रार्थना लिये / एक जनाकीर्ण सड़क सकुशल पार कर जाता है /
कहीं कोई शांत मौन जल / कंकड़ से नहीं, अपने संगीत से
जगाता बैठा रहता है / जब हम प्यार करते हैं /
तो दुनिया को छोटे-छोटे अंशों में सिद्ध करते हैं / और
सुंदर भी, और समृद्ध भी ... [486] —अशोक वाजपेयी

ये सारे उद्धरण भी उस काव्य-संसार को समेटने में असफल हैं, जो "देह" को अकुण्ठ स्वीकार के उस "जीवन" का ही समारोह

---

485. आकाश विभाजित है - विष्णुचंद्र शर्मा - पृ. 14
486. शहर अब भी संभावना है -- अशोक वाजपेयी - पृ. 17

करता है, जो कविता-साहित्य का एकमात्र निर्णायक प्रतिमान है। वही सामग्री है और वही लक्ष्य। मात्र एक झलक-सी दिखाकर हम प्रस्तुत शोध-प्रसंग में, पूर्व विवेचन का स्मरण करते हुए कहना चाहेंगे कि "वाम दृष्टि" एक प्रक्रिया है और इसलिए कवि और उनके नाम, समझने की सुविधा के लिए है। किसी भी कवि को पूर्णत: वाम कवि नहीं कहा जा सकता। अभी ऐसी सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का अस्तित्व जगत में संभव नहीं हुआ है, जो "वाम चेतना" को एक बने-बनाये माल के रूप में उपजाये जो "चेतना" ऐसी उपजती है तो वह द्वंद्वात्मकता हीन हो जाने के कारण निश्चित ही "दक्षिण" होगी। विश्व-फलक पर ऐसे प्रच्छन्न दक्षिण के उदाहरण उपलब्ध हैं।

"देह" को प्रतिमान बनाने के पीछे हमारी यह धारणा सक्रिय रही है कि उसे विश्व-बोध (अंत:काल बोध) से काट कर नहीं देखा जा सकता। यदि साहित्य और सौंदर्य-विवेक, मूलत: जीवन-विवेक है तो यह "देह" के लिए भी सच है। देह-विवेक भी मूलत: जीवन विवेक है। चूंकि परिवार के संस्था बद्ध रूपों में (धर्म-संस्कृति आदि के एजेण्ट के बतौर) सर्वाधिक जड़ता को, "देह" के प्रसंग में ही, गौरवान्वित किया है और समूचे विश्वबोध तक को नुकसान पहुंचाया है अतएव आवश्यक है कि रागात्मक अभिव्यक्ति के काव्य-मय ताने-बाने को जीवन की सापेक्षता में देखा जाय।

उपर्युक्त कवियों ने, अन्य कई कवियों के साथ, "देह" केन्द्रित यौन, स्नेह, करुणा आदि आवेगों को मुक्त मना स्वीकार करके

उस जिजीविषा को ही मजबूत किया है, जो शीतयुद्धीय साहित्यिक सिद्धांतों की प्रधान शत्रु है । आस्था, विश्वास, प्रेम आदि भाव निश्चित ही विश्व-बोध के अंश होते हैं और विवेचन विश्लेषण से यह जाना जा सकता है कि "देह" को स्वीकार करने की उद्घोषणाएं यदि सही काल-बोध से संपृक्त नहीं हुई और "प्रदत्त" संस्थाओं, के प्रति उनका रुझान प्रतिरोधात्मक न हुआ हो तो वे अनिवार्यत: छद्म होगी और जिजीविषा-विरोधी होगी ।

"देह" बोध भी अन्य सारे बोधों के समान ही एक सामाजिक बोध है । उससे जुड़े सारे कर्म और चिंतन अनुभूति आदि भी निश्चित ही "सामाजिक" होंगे । प्रस्तुत विवेचन में डेविड कूपर के साक्ष्य से, इसीलिए कहा गया था, कि अपनी शरीर रचना को स्वीकार करना राजनीतिक रूप से सही होना है ।[487] जब कीर्ति चौधरी जैसी समर्थ कवियित्री अपनी रचना में "मैं" को पुल्लिंग बना कर लिखती है -- "जो व्यक्त नहीं कर पाया हूँ । वह क्या मेरे मन में नहीं है ?[488] तो क्या वही रक्षात्मक प्रयास नहीं करती है, जिसके अंतर्गत चरम दुस्थितियों से बचाव के लिए अपने को "दूसरा" करके माना जाता है ? ऐसे अनेक उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं । किसी भी कवि का अपना नाम "तृतीय पुरुष" में उच्चारित किया जाय तो प्राय: यही बात रहती है ।

अपनी देह रचना को कुण्ठा मुक्त भाव से स्वीकार करना अगर एक राजनीतिक कार्रवाई है तो दूसरों की देह रचना को स्वीकार करना भी निस्संदेह राजनीतिक कार्रवाई ही मानी जायेगी ।

---

487. The Grammer of Living :- Daved Cooper, P. 86

488. तीसरा सप्तक - सं० अज्ञेय - पृ० 59

जब "सौंदर्यबोधात्मक देह" की बात की गयी है तो यह स्मरण करना आवश्यक है कि बोध अनिवार्यत: संबंध बोध होता है । "मैं" का अपनी "देह-रचना" को स्वीकार करना, अनिवार्यत: "दूसरे" की या "तुम" की देह रचना को स्वीकार करने और इस प्रकार उसके साथ संबंध स्थापित करने पर ही निर्भर होता है ।" "संबंध" या तो मनोचिकित्सा होता है या फिर मानसिक रोग । (डेविड कूपर" पूर्व उद्धृत) यदि वह मनोचिकित्सा की प्रक्रिया है तो ही "सौंदर्यबोधात्मक देह" का आदर्श या यूतोपिया मान्य होगा । किंतु "संबंधों" का निर्धारण भी मात्र मंशा पर निर्भर नहीं करता । प्रदत्त संबंधों के आधार पर ही "मैं-मैं" संबंध बनता है और अंतर्त: "मैं-तुम" संबंध भी । यदि सन 60 के आसपास ऐसे रचनाकारों का हुजूम दिखायी पड़ने लगा, जो "स्त्री" और "भीड़" के आतंक से ग्रस्त थे, तो ऐसा अनायास ही नहीं हो गया था अथवा कोई सुविचारित मंशा के अंतर्गत ऐसा हुआ हो, यह भी नहीं था ।

सन् 60 से पूर्व की स्थिति (दो विपरीत शक्तियों की संघर्षात्मक) को निरस्त करके अगली स्थिति नहीं आ सकती थी । कहा जा सकता है कि जब उत्तराधिकार में वृद्धि-शील आत्म-निर्वासन, उदासीनता, भ्रष्टाचार, महंगाई, बेरोजगारी, शीतयुद्ध के नये-नये रूपों का उदय, इजारेदार घरानों का विकास सत्ता दल के भीतर कुरसी से चिपके रहने की होड़ आदि ही प्राप्त हुए हों तो यह आशा करना ही अविवेकपूर्ण होगा कि बाद की सामाजिक स्थिति के ऐन बीच में रचना करते रचनाकारों की चेतना इससे निर्लिप्त रहेगी । तभी सन 62 में भारत-चीन युद्ध के लिए कौन उत्तरदायी था, बल्कि महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि सर्वशक्तिमान होने का जो मुगालता पाला गया था, वह चूर-चूर हो गया । अन्य कई कारणों के साथ यह भी

एक महत्वपूर्ण कारण है, उच्चमध्यवर्गीय रुचि को अनुकूल पड़नेवाले सौंदर्यवादी रुझान के टूटने का । परिणामस्वरूप एक विक्षोभ जागा । यद्यपि गैर सृजनात्मक ढंग से और अवयस्क स्तर पर । फिर सामाजिक राजनीतिक रुझानों को अपनाती हुई उस कला-दृष्टि का विकास हुआ, जो मुक्तिबोध, नागार्जुन आदि की कविताओं में पहले से ही सक्रिय थी । सन् 64 में नेहरु का निधन, डेढ वर्ष के लिए लाल बहादुर शास्त्री को प्रधान मंत्री बनना और फिर इंदिरा गांधी का प्रधान मंत्रीत्व -- इन सारी घटनाओं - दुर्घटनाओं के साथ वे बुराइयां भी बढ़ती रही, जो सन 31 से कांग्रेस-दल में व्यापने लगी थी । ललचाने-फुसलानेवाले चमकदार शब्दों का घटाटोप शासक वर्ग की घोषणाओं में बराबर छाता रहा । सन् 67 में नक्सलवाद का सूत्रपात इस स्थिति के प्रतिवाद (anti-thisis) को उजागर करता है ।

एक जीवन समर्थक दृष्टि, साहित्यिक और साहित्येतर संघर्षों के बीच से उपजी । किताबी आस्था-अनास्था मात्र विवादी परिदृश्य को ही पुख्ता करती है । सिलसिलेवार की बात मुक्तिबोध ने बार-बार की है । "जन-अरण्य" फिल्म के बारे में बात करते हुए सत्यजित राय ने कहा है -- "आज के युवक के सामने दो ही रास्ते हैं । या तो गंगा में डूब मरे या फिर नक्सलवादी बन जाय । तीसरा रास्ता पूंजीवादी चूहा दौड़ में शामिल हो जाना है ।"

यदि ऐसे में कई कवि "प्रदत्त" के प्रति विरोध या समर्पण को ही अपना सृजन केन्द्र बनायें तो इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है । अपने विक्षोभ में कई रचनाएं अंधेरे में चीख बनकर

रह गयी । ऐसी चीजों का दूरगामी प्रभाव नहीं होता । यदि नौकरशाही की जड़ता को तोडने के लिए एक वैज्ञानिक ने आत्महत्या कर ली या एक कलाकार ने दिनों-दिन बढ़ती हुई अन्यायी व्यवस्था के विरोध में अपना शिश्न काटकर अपनी जैविक सृजनात्मकता की बलि देदी ।"[489] तो एकाध महीने चर्चा का बाजार गर्म रहा और सब कुछ पूर्ववत ही चलता रहा ।

इसके अलावा वे सारे कारण तो अपने स्थान पर रहे ही, जिन्हें समाज शास्त्रीय कहा जाता है और जिनकी छानबीन अशोक वाजपेयी ने पर्याप्त की है ।

अपने को कटा हुआ, अकेला करके जानना उस चिंता [anxiety] को बढ़ाता है, जो "मृत्यु बोध" से जुड़कर अपने चरित्र से ही सत्ता मीमांसात्मक [Ontological] बन जाती है ।

अलगाव बोध अपने होने में ही व्यक्ति को असहाय और भयभीत बना देता है । ऐसा व्यक्ति संसार या समाज के साथ मनोचिकित्सा सम्मत संबंध विकसित कर ही नहीं सकता । अपराध-बोध और शर्म इसी अलगाव बोध से जुड़ते हैं । "परिवार" सभी संस्था का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान होता है । ऐरिक फ्राम ने "आदम-ईव" की कथा के विश्लेषण आधार पर बतलाया है कि ऐसे मानवीय अलगाव की जानकारी, जिसमें प्रेम के द्वारा लगाव (जुड़ाव) की स्थिति नहीं, शर्म की उत्स होती है । साथ ही अपराध-बोध और चिंता का स्रोत भी यही जानकारी होती है ।[490]

---

489. पूर्वग्रह 5 जनवरी 75, गुलाम मोहम्मद शेख का लेख परंपरा और आधुनिकता : अधिक प्रासंगिक कला की ओर" पृ. 23

490. 'The Art of Loving' Erich Fromm p.No 15

मनुष्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और गहरी आवश्यकता यह होती है कि वह अपने कटे हुए होने, विच्छिन्न होने या अकेलेपन में कैद होने से छुटकारा पाये। यदि इसमें पूरी तरह से असफलता मिले तो "पागलपन" की स्थिति आ जाती है। बिना बाहर के उस संसार से पूरी तरह से कटे, अकेलेपन को सहा नहीं जा सकता, जो अकेलेपन का बोध कराने का एकमात्र अवरोध होता है।

"बोध" की शुरुआत में ही मैं-बोध और परबोध (otherness) आता है और व्यक्ति पाता है कि वह अपने आप में अकेला है। वह "मैं" है और सारे लोगों और उनकी दुनिया में उसका "मैं" बिलकुल एक है, अकेला है। समस्या है कि कैसे इस विच्छिन्नता की स्थिति से उबरा जाय कैसे संपृक्ति की अनुभूति हो और कैसे अपनी वैयक्तिकता को सार्वभौम स्तर पर तल्लीन (तत् + लीन) किया जाये।

विस्तार में न जाते हुए यही कहना ठीक होगा कि माँ, प्रकृति एवं चरम उत्तेजना की स्थितियों (orgiastic states) में क्रमशः इस अनुभूति से छुटकारा मिलता है। यौन चरम (sexual orgasm) भी इसी के अंतर्गत आता है। नशा या नशीली दवाइयाँ, जो क्षणिक तौर पर विच्छिन्नता के भाव का परिहार करती है, वही यौन चरम भी करता है यदि प्रेम-विहीन सहवास हो। विडम्बना यह कि प्रत्येक यौन चरम क्षणिक समाधान के पश्चात विच्छिन्नानुभूति को और तीव्र कर देता है। इस प्रकार औरतों के पीछे रात-दिन भागनेवाले, "मरी हुई औरत" या "प्रत्येक छिद्र के साथ संभोग करने" पर उतारू कवि-गण उस अकेलेपन से पीड़ित मात्र दिखायी पड़ते हैं, जो सिर्फ एक भरपूर मानवीय प्रेम से ही दूर हो सकता है।

"प्रेम" एक कार्रवाई है, और सत्ता-मीमांसात्मक (ontological) असुरक्षा और अकेलेपन से बचाव के लिए मददगार है। एरिकफ्राम ने प्रेम की चार प्रमुख तत्व बताये हैं, देखभाल (care) उत्तरदायित्व (responsibility) आदर (respect) और ज्ञान (Knowledge)।[491] ये तत्व परस्पर अंतर्निर्भर हैं।

इस प्रकार "प्रेम" पूरी तरह से उन साहित्यिक दार्शनिक सिद्धांतों के विरुद्ध जाता है, जो अकेले पन या वैयक्तिता को अतिरिक्त रूप से गौरवशाली बनाकर व्यक्ति को और ज्यादा "अकेले" कर देने पर उतारू हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उपर्युक्त चारों तत्व इस ओर भी संकेत करते हैं कि यदि "मैं-मैं" संबंध में भी ये चारों तत्व न रहे अर्थात् "मैं-मैं" संबंध का रूप "स्व-प्रेम" (self-love) का न हुआ तो किसी भी "मैं-तुम" संबंध में "प्रेम" का होना संभव नहीं है। -- "किसी व्यक्ति की प्रेम करने की योग्यता में ही उसके अपने जीवन की प्रसन्नता, विकास और स्वतंत्रता जड़ें जमायी हुई रहती है।[492] यदि एक वयस्क व्यक्ति किसी को प्रेम कर सकता है तो वह निश्चित ही अपने को भी प्रेम करता होगा। यदि कोई मात्र दूसरों को ही प्रेम करने के सर्वथा अयोग्य है। न वह दूसरों से प्रेम करता है और न अपने से।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यदि हम कतिपय ऐसी कविताओं अथवा काव्यांशों को देखें, जो "प्रेम" का या तो समारोह

---

491. Ibid P 28
492. Ibid P 54

करती हुई दिखती है या फिर "प्रेम" को अस्वीकार करती है, तो हम पायेंगे कि शमशेर, रघुवीर सहाय आदि कवियों की रागात्मकता को किस सीमा तक "अपने "प्रदत्त" से संघर्ष करना पड़ा होगा ।

अज्ञेय की प्रेम कविताएं इस प्रसंग में देखी जा सकती है । उनकी प्रसिद्ध प्रेम कविता "कलगी बाजरे की" -- ली जा सकती है । "तुम" तो यहां मात्र एक निमित्त है । कहा जा सकता है कि एक "तर्क युक्ति" के लिए "तुम" का इस्तेमाल किया गया है । अज्ञेय जब तक "महामौन" के प्रचारक माने जाते रहे । इसे विस्मय कारी विडम्बना ही कहा जायेगा कि अज्ञेय इस कविता में काफी बातूनी हो गये हैं । एक साहित्यिक समस्या (उपमा - उपमानवाली) का तार्किक समाधान और फिर उस समाधान के समर्थन में जुटायी गयी एक भावानुभूति । -- "और सचमुच, इन्हें, जब-जब देखता हूं । यह सूना वीरान संसृति का घना हो सिन्धु आता है / और मैं एकांत होता हूं / समर्पित / शब्द जादू है ..... / मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है /"[493]

अज्ञेय को कुशल शिल्पी कहा गया है । बिना कथ्य के, "कुशल शिल्पी" भी कितनी अकुशलता का प्रदर्शन करने लगता है, यह कविता इसका उदाहरण है ।

मात्र एक तर्क-युक्ति को कविता के रूप में प्रस्तुत करते हुए अज्ञेय जब समापन में एक प्रश्न "मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है ?" पूछते हैं तो "तुम" और "मैं" का अलगाव उजागर हो जाता है, जिसे शिल्प-चातुरी से ढाँका नहीं जा सका है । यद्यपि इस चातुरी ने

---

493. कवितांतर - सं० जगदीश गुप्त - पृ. 6

अच्छे-अच्छे समीक्षकों को छला है । स्वयं अज्ञेय को भी । वे अपने जानते कविता पर खूब पच्चीकारी करते हैं किंतु सहृदय पाठक जानत है कि रचना में कितनी कड़छुल दार्शनिकता मिलायी गयी है और कितनी कड़छुल साहित्यिकता । विपिन कुमार अग्रवाल ने अज्ञेय की एक कविता -- "चौं कहीं पर / छिपा / मुदित / बनपाखी / आदि का विश्लेषण करते हुए जो कहा है ।[494] वह उनकी प्राय: सभी तथाकथित प्रेम या मानवीय लगाव की कविताओं पर लागू हो सकता है । विपिन कुमार अग्रवाल के मंतव्य को हम तनिक विस्तृत स्तर पर देखेंगे -- अज्ञेय की कविता में, विशेषत: उन कविताओं में, जो शिल्प के कारण सराही जाती है, निश्चत ही उनमें तथाकथित भीतर और बाहर के बीच संतुलन बनाये रखने का लालच रहता है । उनकी प्रेम-कविताएं न तो उनके अंतर्जगत को स्पष्ट करती हैं और न बाह्य जगत को । "प्रेम" पर एक काव्य-टिप्पणी अवश्य ही रहती है । शिल्प अलग से ही अपनी ऐश्वर्यपूर्णता में जगमगाता रहता है । प्रेम के बारे में लिखते हुए, वे यह आभास देना चाहते हैं कि वे "प्रेम" में से लिख रहे हैं या अपने प्रामाणिक अनुभव का प्रमाण देना चाहती है । जबकि अभिजात शब्दावली का सतर्क चयन ; यहाँ तक कि कई बार विदेस शब्दों का चयन भी अभिजात रुचि की तफरीह - मनोस्थिति को ही उजागर करता है ; स्पष्ट तौर पर एक छद्म होता है । छद्म-रचना निश्चित है कि छद्म ही प्रक्षिप्त करेगी । तथाकथित परिपक्वता के निमित्त "अज्ञेय ने ज्यों-ज्यों दार्शनिक बनने का प्रयत्न किया, त्यों-त्यों साहिल से नजारा देखने की कोशिश स्पष्ट होती गयी और सायासतापूर्वक

---

494. कल्पना - जून, 68 " युवा लेखन को समझने की एक दकियानूसी कोशिश-" नामक लेख - पृ. 19

साहित्यिक प्रतीत होती भाषा का कृत्रिम रूप भी बढ़ता गया । विशेषत: "प्रेम" जैसी जटिल अनुभूति की अभिव्यक्ति में इस प्रकार का अध्यारोपण मात्र एक कलात्मक जटिलता के भ्रम भले ही पैदा करायें, वह एक छद्म चेतना (अद्वैतात्मकता के कारण) का उदाहरण मात्र रहती है ।

अज्ञेय की कविताओं के रघुवीर शम्शेर की कविताओं को रखकर यह आसानी से जाना जा सकता है कि अज्ञेय के पास न वह बाह्य को आंतरिकीकृत करनेवाली बोधात्मक शक्ति है और न जगत की उथल-पुथल के प्रति भागीदारीवाली सक्रियता ही है । परिणाम स्वरूप एक छद्म दार्शनिकता और वस्तु-जगत (देह भी) को आसान करके देखना इनके मेल ने ऐसे तथाकथित साहित्यिक कविता को ही संभव किया । उनके शुद्ध यौन-आवेग या "प्रेम" को लेकर लिखी गयी कविताओं में भी पाठक "कथ्य" को कविताओं में अलग से देख सकता है ।

"देह की राजनीति" के प्रसंग में धर्मवीर भारती का नाम अधिक महत्व रखता है । यद्यपि उन्होंने राजकमल चौधरी और उनकी पीढ़ी को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाते हुए इसीलिए "असामाजिक" कहा था क्योंकि "देह की राजनीति उस कवि का अनभी प्राप्तव्य है ।" हम देख चुके हैं कि राजकमल ने "राजनीतिक यथार्थ" के साक्षात्कार के लिए ही देह की राजनीति" पद-समूह गढ़ा था । अपने परिवेश से गाढ़ संपृक्ति ही उस के मूल में थी । यद्यपि सुविचारित वह नहीं थी । किंतु "वनुप्रिया" को "वंशावली" और "मुक्ति-प्रसंग" के साथ रखा जाय तो स्पष्ट पता चल सकता है कि "सरस्वती वंदना" भी जहां भ्रष्ट हो रही है --

§ "विलास - पद्म पर रखी हुई शब्द / प्रिया रोती है / वीणा के क्षत-विक्षत / स्तब्ध हंस की सर्पाकृति ग्रीवा ध्वंस द / ध्वस्त अधरों पर आलेपित पेतृक प्रणय दंश ....." कंकावती ।"§[495] उस परिवेश की पहचान राजकमल को थी । जबकि "क्षण" और "सहज" पर बल देते हुए भारती "आधुनिक बोध की समसामयिकता § क्षण§ को इतिहास के पृथक और विरुद्ध करने के लिए[496] अतीत का § "राधा" विषयक किंवदंती का § इस्तेमाल करते हैं । "क्षण" को इतिहास के विरुद्ध और "तन्मयता" को बौद्धिक परम्परा के विरुद्ध खड़ा करने के क्रम में "राधा" का मिथक तो एकनिमित्त मात्र है । "यथार्थ" को व्यक्त करने में ही "मिथक" की सार्थकता है किंतु "कनुप्रिया" में मिथक को यथार्थ के विरुद्ध रखा गया है । भारती द्वंद्वात्मकता को पूरी तरह नकारते हैं और "प्रणय" को कुछ इस प्रकार विवेचित करते हैं कि "क्षण" अपने भोगे जाने के क्रम में इतिहास का निषेध करता है । परिवर्तन, जटिलता आदि की कहीं कोई आवश्यकता नहीं रह जाती इस क्षण-बोध में ।

रमेश कुंतल मेघ ने इस प्रसंग में कार्ल मेन्हीम को उद्धृत किया है -- "किसी प्रक्रिया का केवल अर्थ ही महत्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि मंतव्य (Intention) भी महत्व का है ।[497] कवि का मंतव्य इसमें निहित होता है कि वह क्या चुनता है ? अंतर्वस्तु, विषय-वस्तु और रूप-शैली के स्तर पर । ऐतिहासिक कृष्ण का निषेध करना -- भारतीकवि दृष्टि § जो अंतत: विश्व-दृष्टि = राजनीतिक दृष्टि है § के चलते है । -- "शब्द, शब्द, शब्द .....", मेरे लिए

---

495. समक्ष लीन कविता पर एक जिरह - जगदीश नारायण श्रीवास्तव-पृ. 91।
496. क्योंकि समय एक शब्द है - रमेश कुंतल मेघ - पृ. 438
497. - वही - पृ. 444 पर उद्धृत

सब अर्थहीन है, यदि वे मेरे पास बैठकर मेरे रूखे कुंतलों में उलझाये हुए तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते x x x कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व ..... मैंने भी गली गली सुने हैं ये शब्द । अर्जुन ने इनमें चाहे जो कुछ भी पाया हो, मैं इन्हें सुन कर कुछ भी नहीं पाती प्रिय ।"[498]

अबुद्धिवाद के सहारे स्वतंत्रता के लक्ष्य को अंतर्मुखी अराजकता मात्र मानना ही भारती की जीवन दृष्टि है, जो अंधायुग में भी है और उसकी पूरक कृति कनुप्रिया में भी । "कनुप्रिया" में आया हुआ प्रेम अपनी सारी पलायनमयता की आड़ में एक विकृत राजनीतिक दर्शन ही प्रस्तुत करता है । आत्म निर्वासन को इसी क्रम में ऐश्वर्यीकृत किया गया है । राधा-कृष्ण का सारा केलि-विलास उस राजनीतिक युग-दृष्टि की यौन शाखा के रूप में देखा जा सकता है, जो "अंधायुग" में समूचे युग को "अंधा" कहने जैसी प्रति जिजीविषा-परक कार्रवाई करती है । स.हम, स्वतंत्रता, सर्जन आदि शब्दों को लेकर जो कविताएं भारती ने लिखी है, उनके विश्लेषण से जैसे यह पता चल जाता है कि ये संदर्भच्युत होने के कारण एक अमूर्त चमचमाहट भर प्रेषित कर पाती है उसी प्रकार देह, प्रेम, "तुम" आदि भी भारती में सिर्फ "मैं" की शर्त पर आते हैं । "मैं" की ओर से "तुम" को कुण्ठाहीन भाव से स्वीकार नहीं किया जाता बल्कि किसी प्रकार की आत्मतुष्टि का माध्यम बनाया जाता है और इसलिए भारती में प्रेम, यौन आदि इस्तेमाल के साधन बनकर अव-मानवीकृत रूप में प्रस्तुत होते हैं । "सौंदर्यबोधात्मक देह" की तो बात ही क्या की जाय, यहाँ तो

---

498. कनुप्रिया - धर्मवीर भारती - पृ.

"देह" की मानवीयता (= प्रक्रिया) ही उलटी ओर मोड़ दी गयी है । चुंबन शीर्षक से लिखे उस प्र सिद्ध मुक्त की याद की जा सकती है -- "आज माथे पर, नजर में बादलों को साधकर / रख दिये तुमने सरल संगीत से निर्मित अधर / आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांह में / बांसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर ।"[499] यदि उस चमत्कारिकता से विस्मित न हुआ जाय और उसके परे झांक कर देखा जाय, जो बांसुरी, भागवत, आरती आदि शब्दों के प्रयोग से पैदा की गयी है तो पीछे चुंबन जैसी आत्मीय क्रिया की मानवीय उष्मा का दूर-दूर तक पता नहीं चलेगा । "गुनाह का गीत" या "तुम्हारे पांव मेरी गोद में या ऐसी पंक्तियां -- " क्या तुमको कभी भी / किसी ने भी / इतना उजला, कोमल, पारदर्शी प्यार दिया ।"[500] जहां कला-संवेदना का गहरा आभास देती है, वहीं तनिक गहरे उतरने पर उस "मैं" के दर्शन भी कराती है, जो "तुम" से प्रेम क्षणों में भी, पूरी तरह से "मैं" रहता है, एक अधिकार भावना से भरा पूरा और प्रत्येक कथन प्रश्न के द्वारा अपनी पर-पीडक वृत्ति का परिचय देता हुआ ।

शाकांत वर्मा के "माया-दर्पण" में स्थिति एकदम दूसरी है । यहां भारती अज्ञेय आदि की तरह एक अभिजात और छद्म मनोस्थिति के बजाय कवि एक अभिजात छद्म के "साक्षात्कार के लिए विवश हो गया है । उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उस अभिजात छद्म से जूझ सके । उसका अपना ऐसा व्यक्तित्व भी नहीं कि वह अप्रभावित रह सके । वह इतना नकली भी नहीं कि अपने को सही

---

499. दूसरा सप्तक : सं० अज्ञेय - पृ० 195

500. सात गीत वर्ष - धर्मवीर भारती - पृ० 129

सिद्ध करने के लिए किसी दार्शनिक सिद्धांत की शरण लें । पूर्व विवेचन के अनुसार कहें तो संकट का चरित्र सत्ता मीमांसात्मक है । "होने" की बुनियादी स्थितियों पर ही संकट है । "लड़ते-झगड़ते" और "उखड़ते-उखड़ते" भी जहां पहुंचकर श्रीकांत ने अपने पैर रोपे थे ; " मैंने रोप ही दिये पैर ; वहां एक ऐसा संसार था, जो श्रीकांत का नहीं था । किसी भी संवेदनशील कवि का नहीं हो सकनेवाला संसार श्रीकांत के साथ वहां जो घट रहा था, उसे कविता में उतारते-उतारते यदि वे नरक का आंखों देखा हाल प्रस्तुत कर बैठे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । आतंक, भयावहता, अजनबीपन, उदासी आदि की स्थितियों से दो-चार होते हुए कवि की सामान्य वृत्ति ही आक्रामकता की हो गयी ।

प्रस्तुत शोध-प्रसंग की शब्दावली में कहें तो "मैं-मैं" संबंध पर एक विराट संकट आ खड़ा हुआ । कवि को ऐसा प्रतीत हुआ । और "तुम" को अनिवार्यत: इस से प्रभावित होना था । ऐसी स्थितियों में, जिसमें मुक्तिबोध तक को लगा था कि वे कहीं सिनिक या खुंखार न हो जाय । उनके सौंदर्यबोधात्मक जीवन पर इन स्थितियों की लंबी-लंबी परछाइयां स्पष्ट देखी जा सकती है । फिर भी, निराला की तरह ही, वे अपने सौंदर्यबोधात्मक जीवन को बचा सके, यद्यपि इसके लिए उन्हें अपने आर्थिक-सामाजिक जीवन की बलि देनी पड़ी । श्रीकांत वर्मा ने ऐसा नहीं किया । वे स्वयं वहां गये थे । भले ही खीजने, बड़बड़ाते, झींखते । वे अंतत: अपनी चुनी हुई महत्वाकांक्षाओं द्वारा ही शिकार कर लिये गये । हम बलपूर्वक कहना चाहेंगे कि यदि वे बिलासपुर से न खिसकते ; मुक्तिबोध के शब्द ;

या मुक्तबोध उनके लिए कोई नौकरी मध्य प्रदेश में ही ढूढ सकते § 2[illegible]-58 का तथा 18-10-59 का पत्र § तो फिर उन्हें यह वाक्य न लिखना पड़ता -- "छत्तीसगढ़ का यह मेरा प्यारा कवि क्या का क्या हो गया।" या -- " x x छत्तीसगढ़ की भूमि ने जो अत्यंत प्रतिभाशाली पुत्र पैदा किया, वह दिल्ली जाकर इतना अधिक विपदग्रस्त हो गया कि दु:ख होता है ।[501] इस विपदग्रस्त होने ने श्रीकांत की प्रेम-विषयक मनोभूमि को भी प्रभावित किया है । थामस साइ के साक्ष्य से हमने देखा ही था कि बचपन में आंतरिक बाह्य चरित्र निर्धारित होने के बावजूद अगर परवर्ती जीवन में कोई बड़ा परिवर्तन हो जाय तो चरित्र और चेतना में गुणात्मक अंतर आ सकता है । छत्तीसगढ़ की धरती से मिली हुई सहज-सरल और निष्कपट प्रेम की दीक्षा दिल्ली में कुछ भी काम नहीं आयी" वहां तो "प्रतीक्षा" के क्यू में खड़े लोग वह सब कुछ कर रहे थे कि श्रीकांत को कहना पड़ा -- "मुझसे नहीं होगा । / जो मुझसे / नहीं हुआ वह मेरा । / संसार नहीं /"[502] अनिवार्यत: उनकी कविताओं में संताप और शोक चला आया। § "मेरी कविता में / संताप है / शोक है --§[503]

यह स्थिति मनस्थिति किसी भी प्रेम-संबंध के लिए अस्वस्थ और असहज ही कही जायेगी । "मायादर्पण" की पहली ही कविता में "मैं हरेक नदी के साथ / सो रहा हूं", "मुझे अभी कई लड़कियों से / करना है प्रेम / मुझे अभी कई कुण्डों में / करना है स्नान / अभी कई तहखानों की / करनी है सैर" जैसी पंक्तियां "साथ सोने"

---

501. मुक्तबोध रचनावली -6, पृ. 352
502. माया दर्पण -श्रीकांत वर्मा-पृ.105 यों इसी कविता में पृ.102 पर भी ये पंक्तियां हैं । यह दुहराव बहुत कुछ व्यक्त करता है ।
503. - वही - पृ. 108 - 489 - वही - पृ. 10-11

"प्रेम करने" आदि को "हरेक नदी" कई लड़कियाँ" "कई कुएँ" "कई तहखाने" के साथ जोड़कर मात्र वितृष्णा - घृणा की अभिव्यक्ति करती हैं। "हरेक" और "कई" विशेषण स्पष्टतया "प्रेम। स्पर्श" का निषेध कर रहे हैं, / "प्रेमिका की तरह / मृत्यु / खड़ी होती है /" -- पंक्ति भी अलगाव से कहीं ज्यादा "घृणा" और "आतंक" को सूचित करती है।

"बिस्तर जो प्रेमिका नहीं थी न बेश्याएं / बिस्तर पर / छाप की तरह / दूसरे सवेरे धुल जाती है /"[504] जैसीअनुभूति को "केवल एक स्त्री की साड़ी की गंध / और चूड़ियों से / झरता हुआ दिन /" के साथ जोड़कर श्रीकांत अपनी विडम्बना को पर्याप्त रूप से व्यक्त कर देते हैं।

"देह" श्रीकांत के लिए चिढ़, गुस्से, घृणा आदि का आलंबन मात्र है। देह संबंध भी --

> "क्या मैं एक स्त्री के लिए / नकली / तमंचा लिए / बिस्तर पर लेटा / अवतार। x x x वह स्त्री जो / छोड़कर चली गयी / जानती थी / मैं उसके वक्ष में छिपाये हुए / मुंह / एक शुतुर्मुर्गनुमा डर हो गया हूं।"[505]
>
> सेज पर प्रेमिका / करती है के।"[506]

---

504. - वही - पृ. 10-11
505. - वही - पृ. 12-13
506. - वही - पृ. 22

"मेरा विवाह किसी स्त्री से नहीं / बल्कि /
हुआ था / जमाने की पसंद से / पत्नी मिली है /
दहेज से / अनुभव करता हूं मैं / अपने को पुरुष /
केवल एक बार - / सेज में / x x x टांगें
फैलाती है रण्डियां / x x x क्या मैं पड़ा रहा हूं
अपनी स्त्री की जांघ की / दराज में ? / x x x
कुछ स्त्रियां प्रेम करती है / वर्दी से / बाकी
नामर्दी से /"[507]

x x x x

आ रहा या जा रहा है बक रहा या झक रहा है /
निरर्थक कोई किसी के पास / मृत्युधर्मी प्रेम
अथवा प्रेमधर्मा मृत्यु / अकारण चुंबन तड़ातड़ /
अकारण सत्वास x"[508]

जहां ऐसे कई उदाहरण यह बतलाते हैं कि श्रीकांत में "प्रेम" और "यौन" के प्रति उग्र ही उग्र और घृणा ही घृणा है, वहीं यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि यह श्रीकांत का मौलिक चरित्र नहीं है । यह मात्र क्रोध है । एक असहाय क्रोध, जो अपने बार-बार असफल होने पर "सन्निपात" में ढल जाता है । "नदियों पर झुका हुआ कांपता है यौन : कवि अपना सन्निपात ।"[509] वरना उस क्रोध की पृष्ठभूमि में एकदायित्व बोध, और धरती तथा मनुष्य के साथ लगाव, निश्चित ही है । जब अपने मूल स्वभाव पर लौट आता हुआ दिखे और

---

507. - वही - पृ. 25 से 28
508. - वही - पृ. 39
509. - वही - पृ. 45

बचाव का कोई रास्ता न हो तो एक बौखलाहट स्वाभाविक है ।

पर्याप्त सूचनाओं के अभाव में निश्चित तौर पर तो कुछ नहीं कहा जा सकता किंतु "छत्तीसगढ़" छूटने के साथ ही एक "प्रेम" भी वहीं छूट गया, इसकी स्मृति और अन्य प्रमाण उनकी रचनाओं में प्राय: मिलते हैं । जो भी हो, "गोपन" के सारे प्रयासों के बावजूद प्रकृति के हृदयस्पर्शी चित्र, पराजय-पीड़ा, ईमानदार बेचैनी तथा "घाट पर, कोई दिये-सा जल गया /[510] "टूट गयी है बाँहे जैसे कोई दिये-सा जला बालू पर पतवार -- / काश। / मिला होता / जीवन में प्यार /[511] तथा "दुपहर-भर उड़ती रही सड़क पर भुस की धूल / शाम को उभरा मैं -- / तुमने पुकारा मुझे बुरश का फूल /[512] जैसी काव्य-पंक्तियाँ श्रीकांत के हृदय को खोलकर रख देती है । स्पष्ट ही जब "मेरी बाया हाथ" -- जैसी कविता, जो श्रीकांत वर्मा की अन्य कविताओं के मुकाबले प्रत्येक दृष्टि से कमजोर है -- संग्रह के लिए चुनी जाती है, तो कवि की उसके प्रति मोह ही प्रकट होता है । उस कविता में एक "कृतज्ञता हैऔर एक स्मृति है । - "अंधकार में / एक बार / मैंने जाने / किसको पुकार कर / झुका लिया है / माथ ।" ।[513]

यहाँ श्रीकांत "प्रेम" को "अलगाव" या "अजनबीपन" के साथ रखते हैं, वे एक विरोधाभास को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देते हैं । "प्रेम" का स्वभाव है कि वह अजनबीपन को दूर करता है किंतु श्रीकांत के काव्य-संसार में हम पाते हैं कि "प्रेम" भी "अजनबीपन"

---

510. - वही - पृ. 33
511. - वही - पृ. 86
512. - वही - पृ. 36
513. - वही - पृ. 64

द्वारा आत्मसात कर लिया जाता है । यह "सौंदर्यबोधात्मक देह" के प्रत्यय तक पहुंचानेवाला प्रेम (= प्रक्रिया) नहीं है, बल्कि निश्चित ही एक उच्च, घृणा अथवा प्रति-सौंदर्यबोधात्मक देह (वीभत्स, जुगुप्सादायी, घृणित आदि) तक पहुंचानेवाली प्रक्रिया है । यहाँ "संबंध" क्रमशः मानसिक रोग को बढ़ानेवाला है । जब-ऐसी स्थिति हो -- "सारा का सारा सका नपा, / सारा का सारा सका न दे ! मैं तुम में घुलता रहा और / अपने में चुक्त रहा किंतु / तुमको मैं सारा सकानपा / अपने को सारा सका दे ।/ x x x हम एक-दूसरे से परिचित / होने की कोशिश में कुछ और / अपरिचित होकर / गुजर रहे हैं एक-दूसरे से / समीप से लगातार / प्रत्येक सुबह तुम लगती हो / कुछ और अधिक अजनबी मुझे /"[514] अथवा -- "भागकर अकेलेपन से अपने / तुममें मैं गया / x x x प्रेम / अकेले होने का ही / एक और ढंग है /"[515] और "बाध्य हैं हम दोनों / एक-दूसरे से घृणा / करते हुए / करने को प्यार / x x x धन्य हम दोनों का घबराया प्यार / x x x बंद एक पृथ्वी में / जीवन भर / एक-दूसरे से नहीं / करते रहे / खिड़की से प्यार /"[516] तो अंत गालियाँ, नफरत, उबकाई और के में ही होगा ।

स्पष्ट ही यह "तुम" के न मिलने या न मिल सकने या मिलकर खो जाने के प्रति "मैं" की प्रतिक्रियाएं हैं । जिस प्रकार उपल ने अपनी एक कविता "बिना औरत के" में बतलाया है कि --

---

514. - वही - पृ. 76 515. - वही - पृ. 74-75

516. - वही - पृ. 70-71

517. अर्थात् १, अप्रैल-जून 80 पृ. 12

§ बिना औरत के पुरुष § उड़ान भूला हुआ एक सुग्गा है / जो राम नाम बोलता / या फिर गाली बकता है /"517 उसी प्रकार श्रीकांत वर्मा की स्थिति है ।

किंतु निष्कर्षत: हम यह कहना चाहेंगे कि सब कुछ "दिल्ली" या परिवेश पर छोड़कर श्रीकांत को नितांत निरपराध सिद्ध नहीं कर रहे हैं । प्रस्तुत शोध प्रसंग में प्रयुक्त "प्रतिरोध" का प्रतिमान ही यह बतलाता है कि व्यक्ति को जस्कातस स्वीकार नहीं करना चाहिए या समर्पण नहीं करना चाहिए ।

ठीक श्रीकांत वर्मा की स्थितियों में ही रघुवीर सहाय भी थे और सर्वेश्वर भी । यह ठीक है कि कवि की विशिष्ट जीवनी भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है लेकिन "प्रतिरोध" ही निर्णायक माना जायेगा । "सौंदर्यबोधात्मक देह" § और यों व्यापक तौर पर भी § के संदर्भ में श्रीकांत ने कोई प्रतिरोध किया हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता । मुक्तिबोध की तरह समूचे बाह्य का ~~आभ्यंतर~~ आंतरिकरण" तो उन्होंने किया किंतु उसकी अभिव्यक्ति के दौरान वे विश्व-दृष्टि के विकास के लिए भी संघर्ष करते रहे हों -- इसका कोई साक्ष्य उनके पास अनुपलब्ध है । जो उन्हें मिलता गया, बस, उसके प्रति वे प्रतिक्रिया करते रहे ।

श्रीकांत वर्मा संबंधी इस विवेचन के साथ यदि तथाकथित अर्कजता और उनसे जुड़े कवियों की ओर ध्यान दिया जाय तो स्वतःस्फूर्त रूप से यही तथ्य सम्मुख आता है कि वे "विरोध" कर

---

517. अर्थात् 9 अप्रेल,जून,80 पृ. 12

रहे थे । यद्यपि ~~चूंकि~~ कस्बाई संवेदना ने ढली इच्छाएं, महानगर के तथा-कथित सनसनी भरे परिवेश से टकराकर तनाव-ग्रस्त हो गयी हों तो यह एक कटु वास्तविकता थी । होना तो यह चाहिए था कि उन तनावों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति होती किंतु वे -- "सामाजिक स्तर पर इस स्थिति को जैसे लांघने छुपने के लिए अपनी रचनाओं में एक असंभव "टीनएज" की दुनिया बसाते हैं -- स्त्री, यौन-संबंध प्रेम आदि को लेकर जो "जीभ और जांघ का चालू झमेला" इन रचनाओं में नज़र आता है, वह शायद सामाजिक स्तर पर अपने पिछड़े होने के अहसास को संबंधों में आक्रामकता और उग्रता द्वारा दुरुस्त करने की कोशिश की ही एक परिणति है ।"[518]

यों ये कारण मात्र "समाज शास्त्रीय" हैं । समग्र रूप में टूट-फूट हो रही हो तो जीवन-समर्थक मूल्यों को सायास अपनाना पड़ता है । "मैं-मैं" संज्ञा के स्तर पर ही विकृति प्रवेश कर रही हो तो "प्रतिरोध" लगभग असंभव हो जाता है । देह के प्रति यह विकृत चिंतन परिवार नामक संस्था का प्रधान पाठ्यक्रम रहा है । जब इस 'सम्मोहन" से टूटने का प्रयत्न किया गया तो एक अराजक दृश्य प्रस्तुत हुआ । चूंकि यह प्रयत्न पुरुष प्रधान संस्कृति में पुरुष जी कर रहा था तो उसका सारा आक्रोश स्त्री पर बरस पड़ा । जहां किसी सीमा तक "सृजन" का शर्त निबाही गयी, वहां अवश्य ही कवि की अपनी प्रतिक्रिया एक व्यापक रूप ले सकी । यहां तक कि जगदीश चतुर्वेदी भी जब औरतखोरों की घोषणाओं से बचे हैं तो "नरसंहीन नगर" कुछ कुरेदता है जैसी कविताएं लिख सके हैं, जो अपनी सीमाओं संभावनाओं में परिवेश का चित्र-प्रस्तुत कर सकी है ।

---

518. फिलहाल - अशोक वाजपेयी - पृ. 15

प्रस्तुत चर्चा में उस भावानुभूति की चर्चा का महत्व है, जो वस्तु-जगत को व्यापक रूप से "संबंध" का विषय बनाने से पूर्व एक विशिष्ट "तुम" से जुड़ती है । यह जुड़ाव "प्रेम" के नाम से पहचाना जाता है । "बोध" संरचना में "मैं" बोध से एक आरंभिक पड़ाव है । फिर सौंदर्य-बोध तक का जटिल विकास प्रकारांतर से व्यक्ति के वयस्क होने और सृजनात्मक होने की ही गाथा है । जिस विशिष्ट संस्कृति में व्यक्ति रहता है, वह इस गाथा को निर्धारित करती है ।

जब सौंदर्यबोधात्मक देह की चर्चा हम कर रहे हैं तो यह भी ध्यातव्य है कि बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के भारत और उसमें भी हिंदी के रचनाकार ही हमारे विवेच्य हैं । क्या भारत की समसामयिक संस्कृति ऐसी है कि व्यक्ति "मैं" से "तुम" तक प्राकृतिक देह से सौंदर्यबोधात्मक देह तक का विकास कर सके ? उत्तर नहीं ही होगा । अर्धसामंतवादी-अर्धपूंजीवादी समाज के अंतर्विरोध सत्ता-हस्तांतरण के पश्चात् तीव्रतर हो गये । व्यक्तिगत-संपत्ति की अवधारणा पर आधारित पुरुष-चेतना ने जब बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपने को "भ्रष्टाचार युग" में लगभग्रस्त पाया तो बचाव के लिए नारी-देह ही एकमात्र विकल्प लगी । यदि कानूनी स्थिति और कायरता नृशंस नहीं बनने देती और शाब्दिक हत्या प्रसिद्ध भी करती है तो इसी शार्टकट के सहारे क्यों न प्रतिष्ठित हुआ जाये ?

जे॰ एम॰ आर॰ डेलगाडो (J M R. Delgado)
के प्रयोगों से यह पता चला है कि मस्तिष्क के कुछ हिस्सों में विद्युत प्रवाहित करके व्यक्ति के भय, त्रास और आक्रामक होती चेतना को तीव्र और मंद किया जा सकता है । यहाँ तक कि उसकी मृत्यु चेतना

को स्थायी रूप से प्रभावित भी किया जा सकता है।[519]

यह विशेष प्रतिपादित करना भी कोई आवश्यक नहीं है। अस्तित्वपर संकट उपस्थित हो तो चेतना-संबंधी ये प्रभाव स्वयमेव संपन्न होने लगते हैं। इसी प्रकार मानसिक और आत्मिक संकट उपस्थित होने पर भी होता है। पूर्व विवेचन में कहा ही जा चुका है कि आक्रामकता मूलतः प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया है।

सन् 1950 से 1967 तक के समय के बारे में यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लगातार संकट और संत्रास की चर्चाएं हो रही थी। तृतीय महायुद्ध के संकट से लेकर स्थानीय संकट तक। मनुष्य का चरित्र-गत स्वभाव होता है कि वह संकट को अंतरिक्षीकृत करता है और तब उसकी सृजनशीलता बाधित होती है। विशेष ध्यातव्य है कि इस लक्ष्य के लिए यह कतई आवश्यक नहीं होता कि "संकट" वास्तव में हो ही। संचार-साधनों द्वारा सत्ता वर्ग में बैठे लोग इस सीमा तक दिमाग की सफाई (Brain-wash) कर लेते हैं कि व्यक्ति वह सब कुछ देखने लगता है, जो वस्तुतः होते ही नहीं। चाहे वे काल्पनिक खतरे हों या काल्पनिक सुख।[520]

यह सारी स्थिति थी, जब जगदीश चतुर्वेदी, श्रीराम शुक्ल आदि कवि (१९) अपनी छोटाग्रस्तता में अपनी "शव-प्रेम" (Necrophilia) के लक्षणों का मुजरा कर रहे थे। यह एक ऐसा मानसिक रोग है,

---

519. The Anatomy of Human destructiveness Eric Fromm P 96.

520. Ibid. P 196.

जो व्यक्ति को "शव" के प्रति आकृष्ट करत है । मुख्यत: इसके दो विभेद किये जाते हैं -- (1) यौनिक शव-प्रेम(sexual necrophilia) -- इसमें व्यक्ति की यह बरबस इच्छा होती है कि वह किसी मरी हुई औरत के साथ या तो संभोग करे या फिर किसी और तरह का यौन संबध (चुंबन - आलिंगन) कायम करे । (2) अयौनिक शव-प्रेम -- इसके अंतर्गत शव को देखना उसके निकट रहना या उसे टुकड़े-टुकडे कर देने की इच्छा आती है ।"[521]

अकविता और उससे मिलती-जुलती कविताओं (श्मसानी पीढ़ी की कविताएं) में ये तत्व प्रचुर मिलते हैं । श्रीराम शुक्ल की तो प्रस्तक ही है -- "मरी हुई औरत के साथ संभोग ।"

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह जानना कि इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति की भाषा कैसी होती है ? उसकी भाषा में ऐसे शब्दों का वर्चस्व होता है, जो नष्ट कर देने, खत्म कर देने, मार देने, टुकडे-टुकडे कर देने, तहस-नहस कर देने आदि अर्थ-ध्वनियों से जुड़े हों या फिर किसी न किसी तरह मल-मूत्र और उनसे जुडे स्थान और कार्यों का संकेत देते हो ।"[522] ध्यान रखना चाहिए कि हमने "वर्चस्व" का प्रयोग किया है । छुटपुट प्रयोग इस मामले में उल्लेखनीय नहीं माने जायेंगे ।

सन् 60 के बाद के अराजक सत्य में नारी-देह को निशाना बनानेवाली कविताएं, उसे नष्ट कर देने और उसके साथ

---

521. ~~The Anatomy of Human Destructiveness~~ Erich Fromm. P 196 Ibid 325

522. Ibid ~~P 196.~~ P 340.

अकल्पनीय कृत्य करने की घोषणाओं से भरी कविताएं "अकविता" नामक पत्रिका, इतिहासहंता, विजय आदि में प्रचुर मिल जायेगा । इनमें निस्संदेह जगदीश चतुर्वेदी सबसे आगे है । निश्चित ही अपने सारे प्रकृतवादी वर्णन के बावजूद उनकी कविताएं "ढोंगियों, पाखंडियों, अवसरवादियों, बेरोजगारों, असंतुष्ट और उच्छृंखल लोगों की भीड़वाले आज के इस हिंदुस्तान में ही ऐसी रचनाओं का जन्म हो सकता है ।" (विजयमोहन सिंह)[523]

निषेध करती (= आज की कविता, अस्वीकृति की, निषेध की अनिवार्यता को सहज मानकर स्वीकार करती है ।" (रोटी, हड़ताल या राजनीति को मोटे विषय मानकर उन्हें काव्य के लिए अस्वीकार करती और एक विद्रोहात्मक ध्वंसपरक काव्य का विशिष्ट प्रतिनिधित्व करती कविताएं[524] जाने-अनजाने उस शीतयुद्धीय राजनीति के इंगित पर ही ऐसा काव्य चरण कर रही थी, जो वास्तविक मुद्दों से भटकाना चाहती है ।

रुग्ण रोमान की परंपरा को बढ़ाती ये कविताएं अपने दंभ में भी अपने रोग का ही परिचय देती है । परिवार, बचपन, शहर, देश आदि के प्रति एक निषेधवादी अंधविरोध का रुख अपनाकर ये "प्रदर्शन" के लिए एक कायर अभिव्यक्ति मात्र बन रही थी । राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन जैसे समर्थ कवि भी इस घेरे को तोड़ नहीं सके, उससे उनकी असमर्थता से अधिक उस घेरे की जकड़ की मजबूती सिद्ध होती है । युग की दो विपरीत शक्तियों में से ये कवि नकारात्मकता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे ।

---

523. इतिहासहंता - जगदीश चतुर्वेदी -

524. - वही - भूमिका ।

पूर्वज, नूतन और परास्त काल बनाम

सौंदर्यबोधात्मक काल

पूर्व विवेचन में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध और सौंदर्य-बोधात्मक देह के संदर्भ में चर्चा करते समय कई ऐसे मुद्दे भी प्रसंगवश विवेचित हुए हैं, जो सीधे-सीधे कवि के काल-बोध से जुड़ते हैं जब "बोध" का अस्तित्व ही "काल" बोध की सापेक्षता में संभव हो पाता हो तो यह सोचा जा सकता है कि हमारे तीनों प्रतिमान वस्तुतः अलग-अलग नहीं है बल्कि एक ही है । यह सच भी है कि जब "बोध" और "चेतना" मूलतः "काल चेतना" ही है तो अंततोगत्वा जो कुछ भी "वाम चेतना" या तत्संबंधी काव्याचरण के बारे में विवेचित हुआ है, वह "काल"मूलक" चर्चा ही थी । अतीत, वर्तमान और भविष्य के क्रियायामी गठन की सापेक्षता में ही कोई प्रक्रिया संभव हो पाती है । मनुष्य एक प्रक्रिया है और उसके अस्तित्व संघर्ष के दौरान उत्पादित बोध, चेतना, कल्पना, भावना आदि सारे उत्पादन भी इसी प्रक्रिया की सापेक्षता में "प्रक्रिया" ही है । द्वंद्वात्मकता इस प्रक्रिया की प्रधान चरित्र है ।

"प्रतिरोध" और "प्रदत्त" जैसे प्रत्यय अनिवार्यतः काल-चेतना से युक्त होकर ही सार्थकता प्राप्त करते हैं । "प्रक्रिया" की स्थिति भी कालिक स्वभाव से युक्त होती है ।

सन् 1950 से सन् 1967 तक का सत्रह वर्षों का कालखण्ड घात-प्रतिघात का विषय (object) होकर साहित्य में जारी दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष को निर्धारित करता रहा है ।

"भविष्य" - विरोध अथवा यथास्थितिवाद ही "प्रदत्त" के रूप में मिले तो उसके प्रति प्रतिरोधक रूपों अनिवार्यतया भविष्योन्मुख होना ही होगा । सन् 1950 से तीन वर्ष पूर्व ही सत्ता-हस्तांतरण की घटना घटी थी । रामविलास शर्मा ने प्रश्न उठाया है कि आखिर "अंग्रेजों को इतनी जल्दी क्यों थी कि उन्होंने जून 1948 का समय निश्चित किया और अगस्त 1947 में ही विदा हो गये ? जल्दी इसीलिए थी कि क्रांति तथा क्रांति-विरोध के शक्ति संतुलन में अंगी क्रांति-विरोध का पलड़ा भारी था । x x x अंग्रेज भविष्य का चित्र बहुत स्पष्ट देख रहे थे, इसीलिए उन्हें भारत छोड़ने की जल्दी थी ।"[525]

स्पष्ट है कि उन्हें देर करने से यह खतरा था कि कहीं क्रांतिकारी शक्तियां फिर से न उभर जाय । जिन लोगों को वे सत्ता सौंप रहे थे, उनके बारे में उनकी राय यह थी -- "कांग्रेस / नेहरु और पटेल / आप नेहरू को जानते हैं -- शेख चिल्ली (quixotic) भावुक (Emotional) समाजवादी (socialistic) पटेल एकदम भिन्न हैं, कठोर, दृढ़, पार्टी का सूत्रधार (Party boss) अपने ढंग से आकर्षक किंतु निर्मम और संप्रदायवादी । उनपर पूंजीपतियों का गहरा असर है और वह उनमें से एक की जेब में -- बिरला की जेब में रहते हैं ।"[526]

इस तरह सत्ता-हस्तांतरण के रूप में यह क्रांति-विरोध की अंग्रेजों की मंशा ही कार्यान्वित हुई । परवर्ती इतिहास साक्षी है

---

525. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - रामविलास शर्मा-पृ. 560

526. - वही - पृ. 10

है कि चाहे नेहरू और पटेल वैसे न हो, जैसे अंग्रेजों की उपर्युक्त गुप्तरपट में चित्रित किये गये थे किंतु क्रांति-विरोधी शक्तियों को न उभरने देने के लिए वे कृत-संकल्प रहे ।

शीत युद्ध और उसकी साहित्यिक शाखा की चर्चा हम कर चुके हैं । जहां इस शीत युद्धीय प्रभाव ने सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर इतिहास विरोध चिंतन को प्रश्रय दिया वहीं सामान्य तौर पर भारतेंदु युग से क्रमशः बल पकड़ती यूतोपियात्मक चेतना को बाधित किया । अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव भी इसके लिए निश्चित ही उत्तर-दायी है ।

अतीत और वर्तमान को उनकी भविष्योन्मुखता में पहचान कर ही अपनी जीवन-चर्या को तदनुसार निर्मित करना भारतेन्दु युग और तदनंतर स्वाधीनता संग्राम से जुड़े व्यक्ति के लिए जितना सहज था, सन् 50 के बाद यह उतना ही कठिन होता गया । यूतोपिया के स्थान पर ऐसे दिवास्वप्न पालने की लत डाली जाने लगी, जिस का Praxis या आचरण से कोई संबंध नहीं होता । परिवार से लेकर राज्यतक की संस्थाओं का एकमात्र लक्ष्य यहां रह गया था कि किसी भी स्थिति में वह अपने को बनाये रखे । इसके लिए आवश्यक था कि नये रंगरूट (शिशु) किसी भी तरह की सौंदर्य चेतना संपर्क में न आये । उदात्त से उनका कोई परिचय न हो । लक्ष्मीकांत वर्मा का "लघुमानव" दर्शन अपनी पूरी ईमानदारी के बावजूद, युगीन एवं शीतयुद्धीय दबावों के कारण, इसी दिशा की ओर अग्रसर हुआ । विदेशी विचारधाराओं की ओजस्विता का डंक तोड़कर उन्हें अपनाया जाने लगा । इसे विडंबना ही तो कहा

जायेगा कि आज साहित्य के विद्यार्थी को यही पता है कि अस्तित्व-वाद या अतियथार्थवाद ऐसी विचार धाराएं हैं, जो नाकारा बनाती है । उनको उनके देश की स्थिति के परिप्रेक्ष्य में पहचानकर उनका सम्यक् मूल्यांकन किया जाना जैसे कोई निरर्थक कार्य हो । अंतिम सत्य की घोषणाओं से प्रत्येक आकाश (व्यक्ति - समाज और साहित्य) गूंजने लगा । विज्ञान के प्रति अंध विश्वास के उन्माद ने ऐसी होड़ उत्पन्न की कि प्रत्येक "अंतिम सत्य" वैज्ञानिक कहकर प्रस्तुत किय जाने लगा । विज्ञान के प्रति भी अवैज्ञानिक दृष्टि हो सकती है । वैज्ञानिक प्रतिपत्ति (Proposition) में मिथ्या होने की क्षमता ही उसे वैज्ञानिकता देती है ।[527] यों "प्रक्रिया" में अगला चरण पिछले को मिथ्या सिद्ध नहीं करता है या अगले चरण से पिछला चरण मिथ्या नहीं हो जाता है, बल्कि पिछड़ जाता है ।

प्रसंगवश हम काल बोध संबंधी विचार बिंदुओं पर अपना ध्यान टिकायेंगे । पूर्व में विवेचित किया जा चुका है कि अतीत वर्तमान भविष्य (प्रत्यय रूप में) परिवर्तनशील है और प्रत्येक सांस्कृतिक भौगोलिक स्थिति अपने अनुसार इन्हें गढ़ती है । प्रत्येक युग इतिहास को दुबारा लिखता है ।

पूर्व विवेचन की सहायता से कहा जा सकता है कि ऐसा इसलिए हो पाता है कि "भविष्य" उपस्थित नहीं होता । सार्त्र को स्मरण करें तो वर्तमान भी नहीं होता है । इसलिए प्रत्येक युग

---

527. History and the dialectic of violence. Raymond Aron. Preface

और प्रत्येक पीढी उस अनुपस्थित भविष्य के द्वारा अपने "अतीत" और वर्तमान को निर्धारित करती है । जो नहीं हैं-- उसी को "आदर्श" बनाया जा सकता है, क्यों कि वह हो सकता है, संभव है । इसे ही हमने "यूतोपिया" संज्ञा से अभिहित किया है ।

अस्तित्ववादी अंतर्दृष्टि को इसी संदर्भ में "क्रांति" से जोड़ा जा सकता है । सार्त्र ने "क्रिटिक आव डायलिक्टिक रीजन" में यही तो स्थापना की है कि मनुष्य को परिभाषित करने का आधार उसकी वर्तमान से भविष्य में उडान (As a flight out of the present into the future). का चरित्र ही हो सकता "भविष्य" बुनियादी रूप से अतीत का ~~नहीं~~ बर्हिवेशन (Extrapolation) नहीं होता । अस्तित्ववाद के लिए यही तो आवश्यक माना गया न, कि मनुष्य में अपने लिए नियम आविष्कृत करने की योग्यता होती है ।

फिर भी अतीत (= संपन्न हो चुके आचरण = किये जा चुके कर्म) आखिरकार आवश्यक तो होता ही है क्योंकि वह जो भी वस्तुत: रहा है, उससे दूसरा कुछ और नहीं हो सकता तथा नये आचरणों (New Praxis) के लिए आधारभूत भौतिक स्थिति भी वही होता है ।[528]

पुन: स्मरण करते हुए कि मनुष्य "प्रदत्त" के परे ही परिभाषित हो सकता है । वेबर और डिल्थी के विचारों में जित

---

528. Ibid: "In fact completed action or past action eventually becomes necessary in the double sense that it can be no longer be other than what it has been and that it becomes the inert or material condition for new Praxis," P.4

भविष्योन्मुखता (An orientation towards something beyond the given) पर बल दिया गया था, वही सार्त्र के परवर्ती विचारों में प्रमुख स्थान पाता रहा । प्रस्तुत शोध में भी "काल" की रचना में "भविष्योन्मुखता" पर बल है ।

दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष का मूलाधार भी यहीं भली भांति प्रकट होता है । एक ओर ऐसे व्यक्तित्व दिखायी पड़ते है, जो नागार्जुन की कविता अजगर करे न चाकरी "रचनाकाल,5। के नायक से समानता रखते हैं ।। -- "सभी के "किंकृत: कथम" का समाधान ।। कैसे दुष्कर हैं बेचारे के अनुष्ठान ।। ग्रहण करता फिरता श्रद्धानिवेदित सुदुर्लभ पकवान ।। बखानता चलता जीवन-दर्शन- ।न- विज्ञान । सब कही सींच है, सब कहीं तनाव .... / बीचों बीच खड़ा है यह अपद् डेट बाबा मलूकदास ।। समष्टि से निरपेक्ष, युग से उदास ।।।"[529] तो दूसरी ओर कैलाश बाजपेयी, श्रीकांत वर्मा या राजकमल चौधरी की कविताओं के नायक हैं, जो क्रुद्ध, हताशा, सिनिक, परास्त और खुंखार होकर फूहड़ आचरण करते हैं --

मैं इन सस्ते और ऐयाश लोगों के बीच / जो सिके चबाते है / और / केंकड़े की तरह चिपक जाते हैं / - रहते-रहते कोसता हूं -- क्या पड़ी थी ईश्वर को / जो बैठे-बिठाये / मांस के वृक्ष उगाये ।"[530]

-- कैलाश वाजपेयी ।

---

529. हजार हजार बांहोंवाली - नागार्जुन - पृ. 90

530. संक्रांत - कैलाश वाजपेयी - पृ. 9

मूर्खों ! देश को खोकर ही / मैंने प्राप्त की थी /
यह कविता / जो किसी की भी हो सकती है ।
जिसके जीवन में / वह वक्त आ गया हो /
जब कुछ भी नहीं हो उसके पास / खोने को /
जो न उम्मीद करता हो / न अपने से छल /
जो न करता हो प्रश्न / न ढूंढता हो हल /"531।

-- श्रीकांत वर्मा

मैं कुछ नहीं जानता हूं / स्त्रियों नदियों बीमारियों भूख
जन्म अपराधों ईश्वर मृत्यु दस्तोवास्की / हिरोशिमा
विधान सभाओं के विषय में कुछ नहीं / आदमी क्यों
प्यार करता है युद्ध क्यों परिवार-नियोजन / क्यों
बर्लिन की दीवार / क्यों देश-प्रेम क्यों अफीम की
गोलियां क्यों चैपलिन की फिल्में / क्यों साशकन्द-
सम्मेलन क्यों रीढ़ की हड्डियों में / गॅगीन /
मादम तू क्यों-क्यों दास-कैपिटल / क्यों सुकरात क्यों
से गांव की बौद्ध भिक्षुणियां जल मरती है । क्यों गंगातिआ
की कहानियां क्यों कश्मीर के लिए / सेनाएं क्यों अजन्ता /
क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों में और कभी वियतनाम
में / होता है क्यों इंदिरा गांधी क्यों तुम वह / मैं क्यों
कुछ नहीं कुछ नहीं ।"532

---

531. मायादर्पण - श्रीकांत वर्मा पृ. 12। यह अंतरध्यान में रखना आवश्यक है नागार्जुन की कविता व्यंग्य कविता है जबकि कैलाश वाजपेयी, श्रीकांत वर्मा आदि की कविताओं में "मैं" का त्रास ही व्यक्त हुआ है । आचरण (Praxis) की भिन्नता ही इस अंतर के लिए उत्तरदायी है । जैसा जीवन वैसा आचरण और जैसा आचरण वैसी कविता ।

532. कहीं भी खत्म कविता नहीं होती - सं0 नरेंद्र मोहन - "मुक्त प्रसंग" पृ. 112-113

उपर्युक्त उद्धरणों के समानधर्मा उद्धरण अनेक हो सकते हैं। ऐसा क्यों ? कई-कई बार हम लिख चुके हैं कि अपने प्राकृतिक निवास (Natural habitat) से हटाये जाने पर किसी भी प्राणी में असुरक्षा जागती है और इसलिए वह आक्रामक हो जात है। मनुष्य का अभिशाप है कि वह मनुष्य बनने के क्रम में (अपनी ही बनायी हुई संस्थाओं - राज्य - समाज - परिवार आदि के द्वारा) अपने प्राकृतिक निवास से हटता ही चला गया। दुहरी विडम्बना यह है कि इस स्थिति में सौंदर्यबोधात्मक समग्रता को प्राप्त करके ही वह समग्रता (शारीरिक - मानसिक - आत्मिक रूप में) बचा रह सकता है।, किंतु वह "समग्रता" मात्र यूतोपिया रूप में ही संभव है। आज का मनुष्य (निश्चित है कि भारतीय मनुष्य अपवाद नहीं है। हमेशा, चौबीसों घण्टे जैसे चिड़िया घर में रह रहा है कई नमूने के अप्राकृतिक बंधन, अतिविकसित समाजों तक के सदस्यों तक को जकड़े हुए हैं।

यदि एक अतर्क्य उग्रता और आक्रामकता का परिदृश्य हावी होता है तो इसके लिए सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियां कम जिम्मेदार नहीं होती है। कहना न होगा कि मनुष्य के काल-बोध को अनिवार्यत: फूहड, नृशंस और परास्त मनो-स्थितियों से जोड़ कर, वैसे ही आचरण के लिए उकसाने में उस परिवेश का कम हाथ नहीं होता है, जो उसकी चेतना को निर्धारित करती है।

ऐसी स्थिति में "प्रतिरोध" अतीव दुष्कर होता चला जा रहा है। उसे भी उन्हीं शक्तियों के द्वारा निर्धारित किया जा रहा है, जिनके प्रति उसे सजग और सक्रिय होना है। "सौंदर्य-बोध" यहीं बचाव के उपाय के रूप में आता है।

"विस्तार" ही उसका लक्ष्य है । अपने से बृहत्तर होना & मुक्तिबोध & निश्चित ही "प्रदत्त" (given) के प्रति प्रतिरोध है । पाओलो फ्रेयरे के साक्ष्य से हमने पूर्व में ही कहा है कि मनुष्य का लक्ष्य और अधिक होना "(To be more) है । हमारा मत यह रहा कि मनुष्य का लक्षण यही है कि वह "विस्तृत" "अपेक्षाकृत अधिक" होता चले । यह "होना" समग्रत: न हो, मात्र कर्म-विहीन चिंतन में हो या सामंती-पूंजीवादी अर्थ में प्रतिष्ठा, धन, शक्ति आदि में हो तो निस्संदेह अपूर्ण ही नहीं घातक भी है । मनुष्य "हो रहा है" तो उसकी दिशा का निर्धारण वही "काल-बोध" करेगा, जिसके परिणाम स्वरूप जहाँ उसने अपने को "मैं" कर के जाना, वहीं "मृत्यु" को जानकर चिंता का शिकार बना । "जन्म मृत्यु" से बंधा काल-बोध "प्रदत्त" की श्रेणी में ही आयेगा । "जीवन का अर्थ" -- आदि मूल्य-गत प्रत्यय उसी प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध थे । सृजनात्मक कार्रवाई के द्वारा उसके प्रति सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध संभव होता है । "काल तीत का बोध" अपने स्वभाव से ही मृत्यु-भय को समाप्त करता है । कला, अपने सृजनक्षणों से लेकर उपभोग-क्षणों तक में काल-बोध-जनित चिंता का निराकरण करती है । कालातीत का बोध मृत्यु-भय को दूर करके, क्रांतिकारी बनने का प्रशिक्षण भी देता है । कला और कलाकार का स्वभाव ही इस प्रकार क्रांतिधर्मी सिद्ध होता है । इसीलिए "व्यवस्थाएं" उनके साथ शत्रुता का व्यवहार रखती हैं । यह शत्रुता कलाकारों को तिरस्कृत, बहिष्कृत, उपेक्षित करके उन्हें पागलखाने= तक बना देने में प्रकट होती है तो उन्हें "संस्था" अपने स्वभाव से ही, इसीलिए, कला-विरोधी अर्थात् सौंदर्य विरोधी होती है ।

"अपने से बृहत्तर" होना, स्वयं से अस्वयं होना या अपने से अधिक होना--" आदि को भी "संस्था" बनाकर, हानि रहित (harmless) कर दिया जाता है । अद्यतन सामंती पूंजीवादी व्यवस्थाओं में हम पाते

है कि सौंदर्यानुभावों को धार्मिक नैतिक शैक्षणिक संस्थाओं में सीमित किया गया । ब्रह्माण्ड (Cosmos) में भागीदारी करने को उत्सुक अनुभूतियों को (जो मूलत: और सन्नात: सौंदर्यानुभूतियां थी) "धर्म" नामक संस्था में बद्ध किया गया, कला को या तो पाठ्यक्रमों में रखकर नीरस, रीढ़हीन तथा यथास्थिति कहीं बनाया गया या फिर उन्हें शुद्ध "उपयोगिता" की कसौटी पर कसते हुए सत्ता व्यवस्था और उनसे जुड़ी संस्थाओं (परिवार आदि) के हित में "तोड़ दिया गया ।" यदि प्राय: कवियों-कलाकारों को कालांतर में ही मान्यता मिल पायी तो इसके दो पक्ष है -- (1) उन्हें इसलिए अस्वीकार किया गया कि वे सचमुच ही कलाबोध सौंदर्यबोध के माध्यम से यथास्थितिवाद के लिए संकट खड़ा कर सकते थे (2) और कालांतर में उन्हें तब स्वीकार कर लिया गया कि एक तो वे व्यवस्था उन्हें आत्मसात कर लेने की स्थिति में आ गयी थी और दूसरे लोक, द्वारा भी उन्हें स्वीकार कर लिया गया था । आज की स्थिति ज्यादा जटिल है "कालांतर" की अवधारणा ही आज अप्रासंगिक है । प्रत्येक विद्रोह को, प्रत्येक सौंदर्य-बोध को, प्रत्यक्रिया की जिस में बदल कर उसका डंक तोड़ दिया जाता है । माया को वास्की हो या नागार्जुन, चेगुवेरा हो या सरदार भगतसिंह -- उनके व्यक्तित्व कृतित्व को रंगारंग बनाकर स्टालों पर खरीदा बेचा जा सकता है ।

"प्रतिरोध" ही आज जटिलतर हो गया है और इसीलिए सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध भी, क्योंकि "प्रदत्त" को सही तरह से समझ पाना दुष्कर है । अडोनों के साक्ष्य से हमने कहा भी है कि संसार को बदलने का क्षण बीत गया है, इस समय तो वह नित नये तरीकों से इस सीमा तक जटिल तर होता जा रहा है कि उसकी व्याख्या आवश्यक है । इसलिए भी कि गलत व्याख्याओं का अंबार जमा हो रहा है और

प्रतिरोध के लिए यह एक भयावह दु:स्थिति है । व्यावहारिक बनाम यूतोपियात्मक चिंतन की चर्चा पूर्व में, इसी संदर्भ में की गयी थी ।

रचनाकार के लिए यों तो सदा ही आवश्यक रहा है कि वह "प्रदत्त" काल (अतीत - वर्तमान के निर्धारित रूप) को अतिक्रमित करे (इसीलिए उसे भविष्य-दृष्टा और द्रुत-दृष्टा कहा गया था, किंतु आज यह अधिक आवश्यक है । अपने सौंदर्यबोधात्मक जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है कि कलाकार की काल-दृष्टि (= इतिहास-दृष्टि) निर्धारित "भवितव्य" को स्वीकार न करें, वह जाने --

"जरूरी है / हम जहाँ हों / वहाँ से दिखता रहे
वह झिलमिलाता / क्षितिज / जो केवल हमारा है ।
x x x जरूरी है / सरहदों पर कहीं हो अनुगूंज /
जो अस्तित्व के हर तार से होकर / गुजरती रहे /
कहीं हो परछाइयाँ / जिनसे हवा में / खयालों के
कोण बनते रहें / कहीं हो संभावना / जो हर थकन
के बाद हमको / बोलने के लिए बातें / तोड़ने के
लिए तिनके / बैठने के लिए / थोड़ी सी जगह दे
जाय / जरूरी है ।"[533]

यह आकस्मिक नहीं है कि "केदारनाथ सिंह की कविता में जिस प्रकार "मैं" की चेतना तीव्र है, उसी प्रकार काल की चेतना भी"[534] 166

---

533. अभी, बिलकुल अभी - केदारनाथ सिंह - पृ. 76-77
534. समकालीन हिंदी कविता - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
पृ. 161

हम बता चुके हैं कि "मैं" बोध अनिवार्यत: काल-बोध से संबद्ध है । जिस कवि में "काल-चेतना" तीव्र होगी, निस्संदेह उसमें "मैं" चेतना भी तीव्र रहेगी । भले ही सतह पर न दिखायी दें किंतु विश्लेषण-विवेचन से पता चलाया जा सकता है कि "वर्तमान" से किसी भी स्तर पर विक्षुब्ध-असंतुष्ट कवि अनिवार्यत: "मैं" चेतना से संपन्न होगा । चूंकि गीतात्मक संवेदना "मैं" की सक्रियता की ही प्रमाण होती है अतएव "काल-चेतना" > मैं-चेतना > गीत संवेदना -- इस प्रकार समझा जा सकता है ।

सन् 50 से सन 67 के बीच रचनारत कवियों में, यह "मैं" उनके श्रेष्ठ-सृजन क्षणों में निरंतर तीव्र रूप में सक्रिय रहा है । काल-चेतना के नितांत "छद्म" बन जाने के पीछे भी यही मैं चेतना सक्रिय रही है और वास्तविक अथवा सत्य चेतना (Real or true consciousness) होने की प्रक्रिया भी "मैं" चेतना की तीव्रता के अनुपात में ही संभव होती रही है । "मैं" चेतना के साथ असुरक्षा-बोध का संबंध होता है । असुरक्षा के साथ, काल-बोध का । आधुनिक कविता में मिलनेवाली "असंगति" (dissonance) की पृष्ठभूमि में यही "मैं चेतना" सक्रिय होती है, जो असुरक्षा-बोध के अनुपात में ही अपनी सीमाओं-संभावनाओं का स्वरूप गढ़ती है ।

श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी या राजकमल चौधरी की कविताएं हों या शमशेर, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय या केदारनाथ सिंह की कविताएं -- यह "मैं-चेतना > काल-चेतना > असुरक्षा चेतना बराबर मिलती है । जिस अर्थ में कभी टी॰एस॰ईलियट ने कविता कहा था -- "कविता सम्प्रेषित होने से पहले ही समझ ली जा सकती है ।" अथवा बादलेयर ने टिप्पणी की थी -- " नहीं समझे जाने में एक

निश्चित गरिमा होती है ।" या फिर मोंताले ने अपना क्षोभ प्रकट किया था -- "कोई भी कविता लिखने की परेशानी मोल नहीं लेगा अगर कवि का लक्ष्य यह हो कि उसे समझ लिया जाय ।"[535] वह अर्थ मैं-चेतना और काल-चेतना को बीसवीं शती के परिप्रेक्ष्य में देखने पर ही ग्रहण किया जा सकता है ।

प्रत्येक कविता इस अर्थ में, निश्चित ही अपने श्रेष्ठ रूपों में, अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नों से जूझती है । शिशु-वत विस्मय से लेकर राजनीतिक-क्रांतिकारी उद्बोधन तक अपने मूल में, जगत के बीच मनुष्य" की स्थिति, उसकी बुनियादी चिंताओं और उनके निराकरण की चेष्टाओं की पहचान होती है ।

जब श्रीकांत वर्मा "नकली कवियों की वसुंधरा" नामक कविता में "अंधकार" का दुहरा-तिहरा प्रयोग करते हुए "बरस रहा है अंधकार । / नगर उल्लू के पट्ठे । / स्त्रियां - रिझाऊ कविताएं / लिख रहे हैं / x x x धन्य । ओ नकली कवियों के वसंत में / लिपटी वसुंधरा । / x x x टोकरी के नीचे कवि बांग दे रहे हैं x x"[536] पंक्तियां लिखते हैं तो उनकी तीव्र "मैं-चेतना" और उसी अनुपात में तीव्र काल चेतना ही प्रकट होती है । फिर भी यदि यह छद्म रहती है तो इसीलिए कि नकारात्मक क्षोभ को सृजनात्मक स्तर पर प्रकट करती हुई और "वर्तमान" का मात्र

---

535. "Poetry can communicate before it is understood" — T.S. Eliot. "There is certain glory in not being understood" — Bodelaine. "No one would bother to write unless if the poet's goal were to make himself understood" — Montaley quoted in The Structure of Modern Poetry Hugo Friedrick P 7-1

536. भाषा दर्पण - श्रीकांत वर्मा - पृ. 43, 45

ऋणात्मक पक्ष देखती हुई यह उसका एक प्रभावशाली "अंधों देखा हाल" बता कर, अपने आचरण" को पूरा हुआ मान लेती है ।

अपने-अपने युग में प्रत्येक पीढ़ी यदि अपना अतीत और वर्तमान गढ़ती है तो इसके लिए उनकी इतिहास-दृष्टि & भविष्य दृष्टि ही जिसकी नियामिका होती है ।& ही उत्तरदायी होती है । यह इतिहास दृष्टि किसी को भी हवा में नहीं मिलती । बोध चेतना भी जब प्रदत्त सामाजिक स्थिति पर ही निर्भर रहता है तो उनहीं से बनी "दृष्टि" भी "प्रदत्त" से निरपेक्ष नहीं रह सकता । द्वंद्वात्मकता की बात यहीं आती है ।[537]

विवेच्य काल-खण्ड में जब हम पाते हैं कि कवि-गण राजनीतिक वर्तमान को कभी भयावह, कभी विचित्र, कभी असहनीय और कभी भविष्य की सापेक्षता में दिखा रहे हैं तो इससे यही प्रकट होता है कि उनमें से कुछ तो वर्तमान ग्रस्त हैं और वह नहीं पहचान पा रहे हैं कि "वर्तमान" कुछ नहीं है, मात्र प्रक्रिया की एक गत्वर स्थिति है । "प्रक्रिया" जो पूरी तरह मानव सापेक्ष है ।

"वर्तमान" को भविष्योन्मुखता में देखकर ही "क्रांति" और "परिवर्तन" की संभावना जगायी जा सकती है । भारतेन्दु युग के बाद पहली बार यह स्थिति सत्ता हस्तांतरण के अनंतर ही आयी कि वर्तमान एक स्थिर, शाश्वत "आतंक" के रूप में उभरा जिन रचनाओं में उसे जस का तस लिख दिया गया या उसकी भयावहता को काव्यात्मक विस्तार दिया गया, उन्हें क्या कहा जायेगा ? हम कह चुके हैं कि काल-बोध से जुड़े इस प्रश्न के साथ ही वह समस्या उभरती है, जिसे "यथार्थवाद" या "प्रकृतवाद" आदि के नाम से जाना जाता है ।

537. इसे विरोधोभास कहें या अंतर्विरोध किंतु प्रतिरोध की द्वंद्वात्मकता प्रदत्त के भीतर ऐसी रहती है । बोध > चेतना > वर्ग की समझ की स्थिति ही

इस काल-बोध-मूलक समस्या को समझने के लिए हम दो-तीन कविताओं का उल्लेख करेंगे । नागार्जुन की "नाहक ही डर गयी, हुजूर ।", केदारनाथ सिंह की "चुनाव की पूर्व संध्या पर" और "रघुवीर सहाय की "आत्महत्या के विरुद्ध"।

क्या ये कविताएं हमारी शती के बारे में बोलती हैं ? किस प्रकार ? किया एक सामान्यीकरण के सहारे या फिर खास स्थिति के बारे में ?

जब नागार्जुन की कविता में नौकर, एस॰डी॰ओ॰ की गुड़िया बीबी को समझाता है -- "वह अकालवाला थाना पड़ता है काफी दूर" क्यों कि वह सपने में "भुखड के हाथों में यह बंदूक कहां से आयी --[538] के प्रश्न दृश्य से घिघिया उठी थी ।

निश्चित ही कवि ने एक खास स्थिति, (जब "भुखड़ बंदूक उठाने लगे हैं" --) का चित्रण किया है । सपना, एस॰डी॰ओ॰ की बीवी का घिघियाना (एस॰डी॰ओ॰ का मनुष्य निर्मित अकाल से क्या संबंध होता है ?) और बंदूक - सामान्य रूप से अखबार पढ़नेवाले पाठक तक को यह सम्प्रेषित हो सकता है कि वक्तव्य और अंतर्वस्तु क्या है ?

इसके साथ जब केदारनाथ सिंह की कविता को देखते हैं तो -- "भेड़िये से फिर कहा गया है / अपने जबड़ों को खुला

538॰ हजार-हजार बाहोंवाली - नागार्जुन - पृ॰ 133

रखे / यह सारा देश / उसमें झाँककर देखना चाहता है / अपना चेहरा / अपनी आँखें / अपना ललाट /"[539] इन पंक्तियों के बाद की पूरी कविता इसका उदाहरण बनती दिखती है कि कवि का खासा काव्याभ्यास है । चुनाव की पूर्व संध्या" एक खास स्थिति हो सकती थी किंतु वह काव्य मोह में सामान्य भी नहीं रह गयी । अभी, बिल्कुल अभी-- की कविताओं से यह कविता सिर्फ अलग ही नहीं है बल्कि "समझाने" और "सरल व्याख्या करने" की बीमारी से भी ग्रस्त है । यह विडम्बना ही है कि केदारनाथ सिंह विस्मयकारी रूप से अपनी राजनीतिक कविताओं में सहज नहीं दिखते । वे सौंदर्यबोधात्मक वर्तमान में जिस सीमा तक हस्तक्षेप "अभी, बिलकुल अभी" की कविताओं से कर सके थे, बाद में वह उनके लिए संभव नहीं रहा । चुस्त उक्तियों और प्रतीकों-बिम्बों की यहाँ तक कि इतिवृत्तात्मकता की भी एक प्रदर्शन-परक स्थिति शुरू में तो प्रभावित करती है किंतु बाद में अंतर्वस्तु के नाम पर उनमें कथ्य के साथ समंजन नहीं मिलता । समकालीन कविता के नुहार्वरों (अलोकधन्वा और राजेश जोशी) का "बातें उनके रूप-विधान पर स्पष्ट दिखायी पड़ने लगता है । सारांश में यह कविता अपने एक टुकड़े में ही एक खास काल-स्थिति की हो सकी है, शेष पूरी कविता तो सामान्यीकृत और चुस्त उक्तियों का जमावड़ा-मात्र है ।

इसके ठीक उलट "सत्याग्रह के विरुद्ध" की स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है । यह सत्ता-हस्तांतरण के बाद के बीस सालों का "मैं"

---

539. अभी, बिल्कुल अभी - केदारनाथसिंह - पृ. 87

दुबारा मूल्यांकन है । वर्तमान को भविष्योन्मुख इसमें भी नहीं बताया गया है किंतु सारा स्वर रिपोर्टिंग - जैसा होने पर भी बीच-बीच में पूछे जानेवाले प्रश्न और काव्य-गत बेचैनी इसे उस तरह "वर्तमान" बद्ध नहीं बनाती, जिस तरह श्रीकांत, कैलाश वाजपेयी, राजकमल चौधरी और सौमित्र मोहन की कविताएं होती है । -- "दर्द दर्द मैंने कहा क्या अब नहीं होगा / हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द / x x x कितना आसान है नाम लिखा लेना / मरते मनुष्य के बारे में क्या करूं - क्या करूं मरते मनुष्य का / x x x अध्यापक याद करो किस के आदमी हो तुम / याद करो विद्यार्थी तुम्हें आदमी से / एक दर्जा नीचे / किसका आदमी बनना है -- दर्द ?/[540]

उपर्युक्त सारे प्रश्न सोचने पर विवश करते हैं किंतु मात्र इसी से यह "बौद्धिक कविता" नहीं हो जाती । इस कविता में "मैं" का पंक्ति-पंक्ति में भागीदारी करना इसे गीतात्मक संवेदना देता है । रघुवीर सहाय चाहते भी नहीं है कि विशुद्ध बौद्धिक तर्क प्रस्तुत करके छुट्टी पाले । कविता स्थितियों को नयी तरह से देखने का आग्रह करती है और ऐसा सिखाती भी है । "बोध-स्तर" पर पारदर्शन करती हुई यह कविता विचलित करती हुई जहां सोचने को मजबूर करती है, वहीं धक्का (Shock) भी पहुंचाती है । यह भी देखा जाना चाहिए कि पूरी की पूरी भाषा, पाठक को विवश कर देती है कि वह इस पर भी विचार करे । कविता में आया हुआ कोई प्रश्न उत्तरित नहीं होता । जैसे वे सारे के सारे

---

540. कहीं भी खत्म कविता नहीं होती - सं० नरेंद्र मोहन "आत्महत्या के विरुद्ध" नामक कविता - पृ० 101 - 106.

"सत्य जो गया है / मेरे तलुवे से छनकर पाताल में / वह जानता हूं मैं ।" -- इस पंक्ति की भूमिका तैयार कर रहे थे । रघुवीर सहाय के प्रश्न, किन्हीं बड़े प्रश्नों तक ले जाते हैं । यह प्रक्रिया सतत् जारी रहती है ।

उपर्युक्त तीनों कवियों में राजनीतिक कवि यदि नागार्जुन ही प्रतीत होते हैं तो इसीलिए कि वे मनुष्य को और उसके द्वारा बदले जा सकनेवाले "संसार" को, आचरण (Praxis) के आधार पर देखते हैं । "भुस्खड और बंदक" -- "प्रतीक" से कहीं ज्यादा नागार्जुन की राजनीतिक पक्षधरता के मुखर करते हैं । रघुवीर सहाय के पास "मैं" की पीड़ा है और अंतत: वह पीड़ा ही कविता के राजनीतिक स्वर को आच्छन्न किये रहती है ।

यदि "यथार्थवाद" या "प्रकृतवाद" की बात उठायी ही जाय तो केदारनाथ सिंह की कविता निश्चित: और रघुवीर सहाय की कविता अंशत: प्रकृतवादी प्रभाव लिये हुए दिखती है । "यथार्थ" -- सब से पहले "चुनाव" में ही प्रकट होता है । शब्दों, पंक्तियों और समूचे रचना-विधान को कथ्य के हित में होना चाहिए । "यथार्थवाद" का अर्थ "सतह के नीचे की स्थिति का चित्रण है ।" इसमें यथार्थ को निर्मित करनेवाले अनेक तत्त्वों में से उन तत्वों का चयन भी समाहित है, जो यथार्थ के गतिशील, विकासशील सारतत्व के चित्रण के लिए महत्वपूर्ण है ।"[541]

प्रस्तुत शोध प्रबंध की शब्दावली के अनुसार द्वंद्वात्मक प्रक्रिया" से संबद्ध चित्रण ही "यथार्थवाद कहा जा सकेगा । "परिवर्तन"

---

541. हिरावल, 2 अगस्त, 78 पृ. 70

को ध्यान में रखना पहली शर्त है । यदि "यथार्थवाद" के नाम पर नुस्खे बना दिये गये हो तो वे "सतह के नीचे जाने में, परिवर्तन शील सारतत्व को पकड़ने में कोई सहायता नहीं कर सकते ।

वस्तुत: काल-बोध के संदर्भ में जब यथार्थ बोध की बात उठती है तो यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि "यथार्थवाद सिर्फ साहित्य का ही एक मुद्दा नहीं है, वरन् एक बड़ा राजनीतिक, दार्शनिक और व्यावहारिक मुद्दा है जिसे दरअसल, आज मानवीय हित के संदर्भ में ही देखा और परखा जाना चाहिए ।"[542]

ब्रेख्त के उपर्युक्त कथन को मनमोहन ने अपने ढंग से, गहरे जाकर आगे बढ़ाया है -- "कविता में यथार्थवादी ब्यौरे महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है कि एक कवि का परिप्रेक्ष्य कितना मूर्त है और वह इन ब्यौरों को कौन-सा अर्थ देता है, वह इन ब्यौरों में अंतर्निहित यथार्थ को, ह्यूमन सिचुएशन को अलग से पहचानता है या नहीं, उसकी मूल्य चेतना कितनी प्रखर है और आत्मचेतस है, उसकी भाव-प्रणाली क्या है ? इनका आधार क्या है ? उसके परिप्रेक्ष्य का संज्ञानात्मक पहलू कितना और कैसा बन चुका है ?"[543]

ये सारे प्रश्न कवि की काल-चेतना से जुड़ते हैं । वह "वर्तमान" को उसकी भाव्योन्मुखता में पहचानता है या नहीं ? मनमोहन ने इसी को "निर्दिष्ट और संभाव्य" की द्वंद्वात्मक एकता कहा है :

---

542. ब्रेख्त - उत्तर गाथा 12 जनवरी-मार्च,83 यथार्थवाद का सवाल और मार्क्सीय नजरिया, अनिल भट्टी - पृ. 104 पर उद्धृत ।

543. उत्तर गाथा 13 अप्रैल-जून 83, मनमोहन का "जनवाद के हमारे दौर में यथार्थवाद का मसला" - लेख, पृ. 15

हम कह सकते हैं कि जहाँ यह द्वंद्वात्मक एकता पूरी तरह से संभव होती है, वहीं "काल" का सौंदर्य बोधात्मक स्तरण हो पाता है। "संभावित" -- को हमने यूटोपिया कहा है। मात्र निर्दिष्ट या "प्रदत्त" के ब्यौरे यथार्थ नहीं हो सकते। श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, राजकमल चौधरी या इनसे पहले अज्ञेय और धर्मवीर भारती की कविताओं में प्रदत्त "वर्तमान" का "एकांगी" स्वीकार (या उसके प्रति समर्पण) मिलता है। "वर्तमान" को स्वायत्त मानना या भविष्यहीनता में देखना उसे "मैं" बोध को सूचित करता है, जो अंततः चिंता (anxiety) में गर्क हो गया है या उससे पलायन करना चाह रहा है। (अज्ञेय भारती की प्रेम कविताएँ) ध्यातव्य है कि भविष्य को "वर्तमान" की अनिवार्य अगली कड़ी के रूप में देखना भी द्वंद्वात्मक दृष्टि का परिचायक नहीं होगा। जो "है" वही बढ़नेवाली है -- यह मानना नियतिवाद को ही मान्यता देने के समान है।

निश्चित ही "भविष्य" का अर्थ यहाँ यूटोपिया होगा, जो मूल्य-दृष्टि और इतिहास-दृष्टि का सम्मिलित परिणाम है। दो विपरीत शक्तियों के संघर्ष में "यूटोपिया" से युक्त चिंतन ही सही पक्ष ग्रहण कर पायेगा :--

"खोजता हूँ पठार ··· पहाड़ ··· समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा।"[544]

544· मुक्तिबोध रचनावली - 2, पृ· 389

समय का कण-कण
गगन की कालिमा से
बूंद-बूंद चू रहा
तड़ित उजाला वन ।"545

ऐसा भी हुआ है कभी
कि सूर्य डूबा हुआ पैदा हुआ है सबेरे
और आदमियों ने फिर भी
अंधकार को ललकारा है
कि वह भाग गया है
दुम दबाए हुए कुत्ते की तरह ।"546

बादलों ने हलकी अंगड़ाई ली / एक और चमक जरा बढ़ गयी। / हवा नये अंकुरों से यों ही बतियाती है / उनका सिर हिलता है / फूल खिले खिलाते हैं /"547
आयु की धारा निरंतर बह रही है / अगम सागर में किसी विश्वास के / वह सन्निहित हो रही है / .... देख पायें हम उसे चाहे न देख पायें ! अटल नियमों के उपासक लहर मंजुल / हम निरंतर बन रहे हैं / और उन्हीं में ढल रहे हैं / देख पायेंगी उन्हें हम ..... या / सह न पायेंगी उन्हें .... या /

---

545. 545 मुक्तिबोध - रचनावली - पृ. 312
546. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल पृ. 132
547. ताप के ताये हुए दिन - त्रिलोचन - पृ. 36.

पकड़ पायेंगे उन्हें हम कभी / ... यह / संभव नहीं .. । /
यह अटल नियम हम स्वयं ही है ।"[548]

उपर्युक्त उदाहरण यह बात मानसी देते हैं कि यूतोपियात्मक चेतना "वर्तमान" की भयावहता को किस प्रकार रद्द करती है । जब वर्तमान को भविष्योन्मुख देखा जाता है तो उसकी वह सारी भयावहता, जो व्यक्ति को पलायन, नृशंस और परास्त आचरण अपनाने को विवश करती है, अपने आपही नष्ट प्राय हो जाती है ।

एक यूतोपिया निजी स्तर पर सक्रिय हो तो समर्थ कवि अपनी रचनाओं में "काल" को निश्चित ही सौंदर्यबोधात्मक काल में बदल देता । सौंदर्यबोधपरक काल ही "कालातीत" का अनुभव करा सकता है, कलाकृति के माध्यम से ।§ सारांश में क्रांति-परिवर्तन के पक्ष में कवि को काल की सौंदर्यबोधात्मक पुनर्रचना करना होगी तभी सृजन संभव हो पायेगा और तभी वह कवि सच्चा यथार्थवादी हो सकेगा ।

---

548. बात बोलेगी - शमशेर बहादुर सिंह - पृ. 96

o
o
o
o
o
o
o
o
o
o

उपसंहार

00 उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रसंग के अंतर्गत किये गये विवेचन-विश्लेषण का सार-संकेत यही है कि "सौंदर्य" किसी भी अर्थ और रूप में जीवन का गुण है । "बोध" से आरंभ होकर सौंदर्य-बोध तक का अनेक रैखिक विकास और उसकी जटिल संरचना ही मानव-जीवन की सीमाओं-संभावनाओं की पहचान है । सतत प्रवहमानता में ही स्थिति और संभावना की द्वंद्वात्मक एकता सौंदर्य को संभव करती है । एकता की वह घटना घटित होने के दौरान जीवन की जड़ों अर्थात् "बोध" की आरंभिक भूमिका तक को आच्छन्न करके सब कुछ नया और ताजा कर देती है । ऊर्जा-स्रोत के रूप में सौंदर्य-बोध को इसी प्रकार समझा जा सकता है और तभी वह "प्रदत्त" (निर्दिष्ट = स्थिति) के प्रति प्रतिरोध की सहज मानवीय प्रक्रिया को सौंदर्यबोधात्मक आयाम से सम्पुटित करना है । आचरण [praxis] को मानव के (पूर्व-मानव स्थिति) मानवीकरण की प्रक्रिया में ही परिभाषित होना है । इसी प्रक्रिया का सर्वोत्कृष्ट रूप "सौंदर्य बोध" में परिलक्षित होना है ।

पूर्व-मानव स्थिति से ही आरंभ हो गयी मानवीकरण की प्रक्रिया की प्रेरणा शक्ति जिजीविषा है । बचे रहने के संघर्ष में ही मस्तिष्क का विकास हुआ और उसके उत्पादन, चेतना, कल्पना, भाषा, ज्ञान आदि संभव हुए ।

आरंभिक स्थिति में जिजीविषा का केन्द्र देह और प्राण थे । मस्तिष्क के विकास के साथ, मानवीकरण की प्रक्रिया में प्रवेश करने के बाद मानसिक (= भावनात्मक) और बौद्धिक आयाम भी जुड़े । इन्हीं के साथ नये संकट भी उभरे । कालबोध और "मैं" बोध के अनिवार्य परिणामस्वरूप मृत्यु-भय-जनित चिंता तथा अकेलापन (अलगाव, अजनबीपर की सत्ता-मीमांसात्मक स्थिति) प्राप्त हुए ।

मानवीकरण की प्रक्रिया मूलत: आचरण-धर्मी [praxis] है । आचरण श्रम है । श्रम सृजन है । सृजन सौंदर्य-बोध की पीठिका है । किंतु इस सहज मानवीय क्रमिकता के विरोध में सर्व-प्रथम तो "प्रकृति" या प्राकृतिक जगत था । उसी की सापेक्षता में यह प्रक्रिया संभव हो सकती थी । उसका भी मानवीकरण करती हुई । उसे भी अपने हित में बदलती हुई । जहां ऐसा संभव नहीं हो सका, समंजन के लिए उसके हित में अपने को बदलती हुई ।

यही मानवीकरण की प्रक्रिया को अंतत: संघर्ष होना पड़ा । आचरण, श्रम, सृजन और सौंदर्य-बोध मानव के अन्तत्व-संघर्ष के उपादान इसी अर्थ में हैं ।

यहीं तक बात सीमित रह जाना, तो भी ठीक था । अस्तित्व-संघर्ष में संस्थाओं का विकास हुआ । समूह बने । समाज बने । कालांतर में ये संस्थाएं, समूह, समाज जब प्रक्रिया के अवरोधक की

भूमिका अपनाने लगे तो मानवीकरण की प्रक्रिया = मानव के अस्तित्व संघर्ष का रूप दुहरा हो गया ।

मानव भी अंतत: प्रकृति है । मानवीकरण की प्रक्रिया में अपने विरुद्ध संघर्ष का भी एक दृष्टान्त बना । स्थिति और संभावना, निर्दिष्ट और संभाव्य या प्रस्तुत प्रसंग की शब्दावली में "प्रदत्त" के प्रति प्रतिरोध की एक अनिवार्य सीमा तो यह है कि मानव अपने "प्रकृति" होने को निरस्त नहीं कर सकता । अपने विरुद्ध संघर्ष में "अपने को" मिटा नहीं सकता । इसी प्रकार संभावना स्थिति का, संभाव्य निर्दिष्ट का अथवा प्रतिरोध "प्रदत्त" को निरस्त नहीं कर सकता क्योंकि वे ही उसके अपने होने की शर्त है, सामग्री है या आधार है ।

कबीलों से लेकर बीसवीं शती के उत्तरार्ध के अतिविकसित समाजों तक में "मनुष्य" और उसके अनिवार्यत: प्रकृति होने अत: "मानवीकरण" की प्रक्रिया में सबसे बड़े अवरोधक की भूमिका स्वयं "मनुष्य" ‖ निश्चित ही अपनी बनायी हुई संस्थाओं, व्यवस्थाओं, समाजों के द्वारा ‖ द्वारा निभाये जाने के विरोधाभासी परिदृश्य प्रस्तुत होते हैं ।

"मनुष्य" -- कोई अमूर्त या स्वायत्त, प्रत्यय नहीं है । वह लगातार "हो रहा है" और यह "होना" ठोस सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं- समाजों के बीच में, उनमें गुंथकर और उन्हीं के द्वारा निर्धारित होने और प्रत्युत्तर में उन्हें निर्धारित करते हुए ही संभव हो पा रहा है । स्थिति लगातार जटिल से जटिलतर होती जा रही है ।

शोध-विवेचन के दौरान हीडेगर के "मानव सत्ता को संसार के बीच होने [Being in the world] के प्रत्यय को बिर्स्वांगेर और लूकाच के साथ प्रसंगानुसार और अपने पक्ष-ग्रहण के मुताबिक जोड़कर इसीलिए देखा गया था । "संसार" -- यहाँ अमूर्त प्रत्यय नहीं है, बल्कि एक ठोस राजनीतिक आर्थिक समाज है और "सत्ता" भी उस "समाज" में गुथी हुई और उसके साथ द्वंद्वात्मक सरोकारों में निर्धारित होती बदली जाती और बदलती मानव सत्ता है । संसार बनाम मानव की यह स्थिति कई-कई विरोधाभासों को अपने में समाहित किये हुए है ।

निश्चित ही मानव की रचना होने के कारण, "संसार" अनिवार्यत: सौंदर्यबोधात्मक संसार है लेकिन छद्म-चेतना और सामंती-पूंजीवादी अव-सौंदर्य-बोधात्मकता की नीति के कारण वह भी "मनुष्य" की ही तरह उर्ध्वगामी परचगामी प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए । स्थिति और संभावना की द्वंद्वात्मक एकता अथवा प्रदत्त के प्रति प्रतिरोध की जटिलता का अनुमान करने के लिए "संसार के बीच में सत्ता" को इतने तरीकों से देखा जा सकता है --

§1§ सामंती संसार के बीच में प्राकृतिक मानव सत्ता
[Natural being in the Fudal world]

§2§ प्राकृतिक संसार के बीच में सामंती मानव सत्ता ।[1]
[Fudal being in the natural world]

§3§ पूंजीवादी संसार के बीच में सामंती मानव सत्ता ।
[Fudal being in the capitalist world]

[1] प्रकृति का अर्थ मार्क्स के अनुसार — "××× nature is something that must first be created."
[पृ० ३३२]

§4§ सामंती संसार के बीच में पूंजीवादी मानव-सत्ता ।
[capitalist being in the feudal world]

§5§ पूंजीवादी संसार के बीच में सौंदर्यबोधात्मक मानव सत्ता ।
[Asthetic being in the capitalist world]

§6§ सौंदर्यबोधात्मक संसार के बीच में पूंजीवादी मानव सत्ता ।
[Capitalist being in the asthetic world]

§7§ सौंदर्यबोधात्मक संसार के बीच में सौंदर्य बोधात्मक सत्ता ।
[Asthetic being in the asthetic world]

निश्चित है कि ऐसे सूत्रीकरण अनेक हो सकते हैं । तात्पर्य मात्र इतना कि प्रत्येक सूत्रीकृत स्थिति एक "द्वंद्व" को प्रस्तुत करती है । अंतिम सूत्र एक "संभाव्य" अथवा यूतोपियात्मक स्थिति की ओर संकेत करता है ।

यह "द्वंद्व" निश्चित ही मानव-सत्ता और संसार को बदलता-गढ़ता चलता है । यहाँ तक कि मनुष्य के बुनियादी आवेग भी इस "द्वंद्व" के द्वारा निर्धारित नहीं तो अनुकूलित अवश्य ही होते हैं । "प्रकृति" जिस अर्थ में अनिवार्यतः मानवीय प्रकृति होती है, वह मानव-सत्ता को समग्र व्यक्तित्व के स्तर पर बदलती चलती है । यहाँ तक कि प्रणयजीय जीवन-प्रेम [Eros] और मृत्यु-प्रेम [Thenatos] के "द्वंद्व" का रूप भी बदलता रहता है । यह द्वंद्व "चेतना" से जुड़ा रहता है । "चेतना" के बारे में हम जानते हैं कि वह जीवन § = सामाजिक स्थिति § द्वारा निर्धारित और अनुकूलित ~~होती~~ होती है । अर्नेस्ट फ्लॉरस के साक्ष्य से हमने जाना ही है कि जीवन

विरोधी आवेगों को जीवन समर्थक आवेगों में बदला जा सकता है क्योंकि शारीरिक अनुभावों में कोई अंतर नहीं पड़ता । इस बदले जा सकने की प्रक्रिया का संदर्भ सौंदर्यानुभव है ।

अनुभव की बुनियाद बोध है । बोध अनिवार्यत: सम्बन्ध बोध होता है । हमने कहा है कि बोध और इसीलिए सौंदर्य-बोध भी, मूलत: इंद्रिय-बोध है । मनुष्य संसार को इंद्रियों के द्वारा ही अनुभव करता और जानता है । संसार, (= समाज) मानव सत्ता के बोध > अनुभव की सीमाओं में आकर वह यथार्थ हो जाता है, जो बदला जा सकता है और दिले जाने का लक्ष्य हो जाता है ।

इसी अर्थ में ब्रेटन में दुनिया को बदली जा सकनेवाली चीज़ और मार्क्यूज ने उसे ऐसी वास्तविकता कहा है जो बदली जानी है । यह संसार (वस्तु जगत) ऐन्द्रिकस्तर पर ही अनुभव किया जाता है । पीड़ा, वेदना, आनंद और स्वप्न (यूतोपियात्मक चेतना से जुड़ता हुआ) -- ये सब ऐन्द्रिक अनुभव या इंद्रिय-बोध के ही विस्तार या विकास है ।

कला भी मूलत: इंद्रिय-बोध पर आधारित है । जब चेतना, ज्ञान, विचार कल्पना आदि सब इंद्रियबोध पर ही अंतत: आधारित है तो कला का अस्तित्व अलग से हो ही नहीं सकता । इस क्रम में सौंदर्यबोधात्मकीकरण की प्रक्रिया भी इंद्रिय-बोध द्वारा ही निर्धारित मानी जायेगी । "कथ्य" को विचार-भावना-आवेग आदि के आधार पर चुनने के बाद तथा विश्व-दृष्टि के आधार पर उसकी अंतर्वस्तु

निर्धारित करते हुए उसका सौंदर्य बोधात्मकीकरण [Aesthetization] ही कला है । यह समग्रत: एक जटिल संरचना होती है । "कथ्य-रूप" में ऐसा नहीं है कि कोई एक महत्वपूर्ण होता हो या कोई दूसरा महत्वहीन होता हो । कहा जा चुका है कि यह एक छद्म-विवाद है, जो बुर्जुआ या दक्षिण सौंदर्यशास्त्रीय अवशेष का प्रमाण है । "सौंदर्य उस कथ्य में होता है, जो रूप बन जाता है : सौंदर्य बोधात्मक रूप ।"[2] दुर्गा द्वारा मूत्र-पात्र को प्रदर्शनी में रख देना और मोनालिज़ा के छपे हुए चित्र पर डाढ़ी-मूँछ बना देना, इसी तथ्य की ओर संकेत करने के लिए ऐतिहासिक महत्व की कलागत घटनाएं हैं ।

इसी अर्थ में कला "सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध है । "कथ्य" युग समाज द्वारा "प्रदत्त" होता है । उसे सौंदर्य-बोधात्मकीकरण का विषय बनाने से लेकर उसे "रूप" में व्यक्त करने तक "प्रतिरोध" ही सक्रिय रहता है । प्रस्तुत शोध-प्रसंग में, प्रस्तुतीकरण, प्रकाशन और वितरण तक को "प्रतिरोध" के अंतर्गत विवेचित किया गया है क्योंकि व्यावसायिकता का दबाव प्रकाशन, वितरण आदि के तंत्र को विकसित करके समूची कला सृजन प्रक्रिया को प्रभावित यहाँ तक कि अनुकूलित करने की स्थिति में है ।

कुल मिलाकर मनुष्य, उसकी जिजीविषा, अस्तित्व-संघर्ष, आचरण, श्रम और इनसे बनता हुआ संसार ही सौंदर्य-शास्त्र का विषय-क्षेत्र होगा ।

२. सत्यव्रत का कथन — [पूर्व उद्धृत]

जिस प्रकार हमने कुछ सूत्रीकरण प्रारंभ में किये थे, उनसे यह संकेत तो मिलता ही है कि "समाज में मनुष्य" -- यह स्थिति जटिल है, साथ ही परिवर्तन की तीव्रता के अनुपात में जटिलतर होती जा रही है ।

भारत के संदर्भ में भारतेन्दु युग से आरंभ करते हुए हमने विस्तार से "परिवर्तन" की सापेक्षता में चेतना और उसके वाम रूपांतरण को अपनी विवेचना का विषय बनाया था । किस प्रकार, किस-किस तरह के बदले हुए संसार में स्थित भारतीय मनुष्य बदल रहा था, इस स्थिति की द्वंद्वात्मकता को एक व्यापक सैद्धांतिक तथा हिंदी कविता के परिप्रेक्ष्य में देखने के प्रयत्न के दौरान जटिलता तो उजागर हुई ही, साथ ही विरोधाभासों से भरा अनूठा भारतीय परिदृश्य भी स्पष्ट हुआ ।

"प्रदत्त" के साथ सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध में रत एक विशेष और अद्वितीय भारतीय ऐतिहासिक सामाजिक आर्थिक शक्ति निरंतर "प्रदत्त" और "प्रतिरोध" के चरित्र को अनुकूलित करती रही । औपनिवेशिक शासन के दौरान जहां एक ओर उत्पादक शक्तियां अविकसित ही रहीं, वहीं विश्व फलक पर मरणशील दौर में प्रवेश कर चुके पूंजीवाद ने भी यहां पैर जमाये । चूंकि भारत में पूंजीवाद का प्रवेश साम्राज्यवादी शक्तियों की मंशा से ही हुआ इसलिए स्वाभाविक था कि वह भारत में चल रहे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को भटकाने दुर्बल करने का प्रत्येक प्रयत्न करता । कृषि-क्रांति के सवाल को अलग रखना और सामंती अवशेषों को बने रहने में मदद करना क्योंकि वे किसी सीमा तक उसके हित में ही सक्रिय थे । सत्ता हस्तांतरण के बाद

"बुर्जुआ भूस्वामी गठजोड" के माध्यम से अर्ध-सामंतवादी अर्ध-पूंजीवादी वह समाज पुन: संगठित और मजबूत हुआ, जो साम्राज्यवादी विरोध के व्यापक जन-संघर्ष के दौरान कमजोर हुआ था । स्थिति यह हो गयी कि -- "35 वर्षों में स्वतंत्रता पूर्व की समाज व नव जागरण की लहर को क्रमश: सोखते हुए एक भद्दे और बर्बर उपभोक्तावाद को जन्म दिया गया है ।[3]

ऐसी स्थिति में "प्रतिरोध" की जटिलता का जो परिदृश्य बनता है उसे निराला, नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, केदार और मुक्तिबोध के रचनात्मक साहित्य की सहायता से प्रस्तुत किया जा चुका है । इन जैसे रचनाकारों की रचनाएं यह भी बताने के लिए पर्याप्त हैं कि यथार्थ का चित्रण वैविध्यमय होता है । रचनाकार से बाहर सक्रिय सामाजिक और वस्तुगत प्रक्रिया को देखते हुए, पहचानते हुए और उसके साथ द्वंद्वात्मक सरोकार रखते हुए ही जीवन-समर्थक प्रभाव (= सौंदर्य) की रचनाएं रची जा सकती है । इसके बावजूद जो खाई "यथार्थ" और रचनाकार के बीच में, रचना के स्तर पर, दिखाई देती है, वह निश्चित ही जीवनी की निजी विशिष्टताएं तथा युग के दबाव के कारण बनी रहती है । खुशी की बात यह है कि [illegible]ही विश्व-दृष्टि से संपन्न रचनाकार इस "खाई" के फलस्वरूप असंतुष्ट और बेचैन रहता है । कहा जा सकता है कि जिस सीमा तक यथार्थ और रचनाकार के बीच की "खाई" प्रदत्त होती है, उस सीमा तक यह भी देखा जाना चाहिए कि उसके प्रति भी सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध किया जाता है या नहीं ?

---

3. उत्तर गाथा - 13, अप्रेल - जून 83, मनमोहन का "जनवाद के हमारे दौर में यथार्थवाद का मसला" नामक लेख, पृ. 9।

हम पाते हैं कि मुक्तिबोध और शमशेर में विशेषत: उस प्रदत्त "खाई" के प्रति जिस मात्रा में तीव्र असंतोष मिलता है, उसी मात्रा में उन्होंने उसके प्रति सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध भी किया है ।

त्रिलोचन में असंतुष्टि की मात्रा अपेक्षाकृत कम है और उसी अनुपात में उस "खाई" के प्रति सौंदर्य बोधात्मक प्रतिरोध की मात्रा भी । नागार्जुन और केदार में यह सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध लगभग नहीं है । नागार्जुन में इसलिए नहीं है कि प्रथम तो यथार्थ और उनके बीच की खाई को वे पूरी तरह से लांघ चुके हैं, भले ही उनके इस कृत्य ने कला के उस बहु-प्रचारित सिद्धांत "वस्तु से कलाकार की दूरी आवश्यक है" की दृष्टि से उनकी कई कविताओं को कुकविता की श्रेणी में पहुंचा दिया हो । केदार प्रमुखत: प्रकृति सौंदर्य के कवि हैं । उनकी अन्य कविताओं के श्रेष्ठ रचना क्षण वे ही हैं, जब वे "देखकर" प्रभावित होते हैं अर्थात् उन्हें "सौंदर्यानुभव" के लिए सोच की जटिलता से दो-चार नहीं होना पड़ता । फिर भी "नागार्जुन के बोदा आने पर" -- नामक कविता में उपर्युक्त "खाई" के प्रति असंतोष व्यक्त हुआ है ।

कठिनाई तब होती है, जब "यथार्थ" और अपने बीच की दूरी को रचनाकार किसी भ्रम या आत्म छल से, मिटाने की चेष्टा करता है । ऐसा रचनाकार आत्म-तुष्ट भी प्राय: दिखायी देगा ।

प्रस्तुत शोध प्रसंग में ऐसे आत्म-तुष्ट (कई बार अपने छद्म असंतोष की अभिव्यक्त करते हुए भी) कवियों की चर्चा हुई है ।

अज्ञेय, भारती, कई सारे अकवि और अन्य कई सारे गौढा कवि इस प्रसंग में स्मरण किये जा सकते हैं ।

वस्तु जगत को अपने अनुभव संसार का अंग बनाने के लिए आवश्यक होता है कि यह सायास पहचाना जाय कि ऐतिहासिक संघर्ष जीवन में कहां-कहां और कैसे हो रहा है ? इसके लिए आवश्यक होता है कि विविध चरित्र संपन्न मनुष्य, उसका सम्बन्ध संसार और उस संसार की संरचना को गहरी आत्मीयता के साथ पहचाना जाय ।

यदि ऐसा नहीं होता है तो प्राय: इसी साहित्यिक दुर्घटना की संभावना रहती है कि रचनाकार शिकायतों, बड़बड़ाहटों, ललकारों और आह्वानों की रचना करते हुए, वस्तुगत यथार्थ के स्थान पर एक मनोगत अथवा इच्छित जगत की सृष्टि करें और संघर्ष, क्रांति आदि की तस्वीर भी कल्पना जगत की सापेक्षता में ही उकेरते रहें ।

चौथे दशक में उभरनेवाले प्रगतिवाद के समय ऐसा हुआ था तो सातवें दशक के वामपंथी उभार के समय भी ऐसा ही परिदृश्य प्रस्तुत हुआ था । समूचे साहित्य-जगत पर इस स्थिति का संक्रामक असर पड़ता है । चूंकि मनोगत यथार्थ की क्रांति विषयक रचनाएं अत्यधिक मुखर होती है और शौर्य का ऐश्वर्यीकृत प्रदर्शन करती है इसलिए उन्हें क्रांतिकारी माना जाने लगता है । सामान्य उत्तेजना प्रिय रुचि ऐसी रचनाओं के आधार पर इनके रचनाकारों को सीधे-सीधे क्रांतिकारी समझती हुई उन रचनाकारों की अवहेलना करती है जो ऐतिहासिक अंतर्विरोधों को समग्रता से समझने और व्यक्त करने की सृजनात्मक प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं ।

मार्क्सवादी काव्यशास्त्र में इसी मानसिकता को निम्न पूंजीवादी और व्यक्तवादी कहा गया है । वास्तविक क्रांतिकारी शक्तियों और उन्हें वहन करनेवाले वर्ग (सर्वहारा) से इन रचनाकारों का सम्बन्ध दूर-दराज का भी नहीं रहता । उनके बारे में जानकारी भी आत्मीय परिचय के जरिए प्राप्त न होकर किताबों और समाचार पत्रों के माध्यम से ही पायी जाती है ।

ऐसे रचनाकारों की चर्चा के समय भी यह नहीं भूलना चाहिए कि वे एक सामाजिक वास्तविकता ही प्रतिनिधित्व कर रहे होते हैं । उनका सामाजिक स्थिति ही उनकी चेतना को निर्धारित करती है । किंव सम्बन्धी विवेचन में इस जड-विहीन मध्य वर्ग के बारे में विस्तार से लिखा गया है ।

इस मध्य वर्ग को संसार सीमित होता है । उस सीमित संसार में, व्यापक संघर्षों वाले संसार से पूरी तरह से कटकर ये झूठी सच्ची उत्तेजना में ही अपना जीवन-दर्शन गढ़ते हैं । यदि इस वर्ग के रचनाकार "बाहर" आना चाहते हैं तो उनका "मैं" बोध, काल-बोध या सुविधा के लिए कहें तो उनके संस्कार, अपरिहार्य अवरोधक बन जाते हैं । सारी ईमानदारी के बाद भी इस वर्ग के रचनाकारों द्वारा बार-बार भावाकुलता, अमूर्त क्रांतिकारिता, निष्क्रिय आशावाद या तुरंत-पुरंत लक्ष्य पा जाने की हड़बड़ी उभरती है तो इसे उस ऐतिहासिक विडम्बना के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है, जो उनका चुनाव नहीं है । उन्हें "प्रदत्त" के रूप में प्राप्त समय, वर्ग और सौंदर्य बोधात्मक परम्परा ही उनके विद्रोह, समर्पण

भटकाव को निर्धारित करती है । मात्र व्यक्ति-मंशा कभी किसी रचनाकार को क्रांतिकारी कृति लिखने की योग्यता नहीं दे सकती ।

क्रांतिकारिता अर्जित करनी होती है । ठोस ऐतिहासिक यथार्थ के साथ मुठभेड़ ही इसका आधार हो सकता है ।

ध्यातव्य है कि सामाजिक स्थितियों, या उनकी सापेक्षता में अपनी स्थिति को जानना हमें शाही काल-बोध के स्तर पर संभव होता है । दूसरे शब्दों में, वास्तविक ज्ञान हमेशा ही ऐतिहासिक होता है और "प्रक्रिया" अथवा विकासशील होता है । जब "प्रक्रिया" की बात की जाती है तो यह स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है कि "पूर्णता" की स्थिति नहीं है । अधूरे होने की भावना वास्तविक ज्ञान के लिए अनिवार्य स्थिति है ।

जिन्हें "पूर्णता" की अनुभूति होती है, वे किसी भी तरह के असंतोष, संघर्ष आदि की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते । उन्हें जिज्ञासा, अभिव्यक्ति के खतरे आदि उठाने नहीं होते । निर्द्वंद्वता, अमूर्तता, स्थितप्रज्ञता आदि की काव्य-गत स्थिति देखनी हो तो अज्ञेय का परवर्ती काव्य सम्मुख रखा जा सकता है ।

ठोस वस्तुगत वास्तविकता से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए ही "ज्ञान" संभव होता है, कला संभव होती है, सौंदर्य संभव होता है क्योंकि मनुष्य संभव होता है ।

प्रदत्त प्रति प्रतिरोध ही आचरण [praxis] है और सौंदर्यबोधात्मक प्रतिरोध ही कला को अर्थात् सौंदर्यबोधात्मक आचरण [Aesthetic praxis] को संभव करता है ।

"प्रदत्त" की पहचान के विषय में हमने त्रिलोचन के काव्य के संदर्भ में लिखा था । कई कवियों और कविताओं के "प्रतिरोध" की विडम्बना यही होती है कि वह "प्रदत्त" का स्वरूप बिना पहचाने ही सक्रिय होता है ।

यदि एक असंतोष और क्रोध से भरा हुआ रचनाकार सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर एक आसान तरीका अपनायें और आत्म-गत व्यवस्था अथवा शत्रुपर धुंआधार शब्दाडंबर [Rhetoric] से आक्रमण करें तो भले ही उसे एक मनोवैज्ञानिक दबाव से मुक्त होने का अहसास हो जाय लेकिन ठोस सामाजिक स्थितियों से संघर्षरत जीवन के लिए वह सौंदर्यबोधात्मक आचरण कदापि नहीं हो सकता ।

फिर भी अपनी ईमानदारी और प्रामाणिकता को चलते क्रांतिकारी शक्तियों से जुड़ने की इच्छा तो ऐसी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होती ही है --

"क्यों पूछा था एक सवाल मेरे पुराने पड़ोसी ने --
मैं एक भूमिहीन किसान हूं,
क्या मैं कविता को छू सकता हूं ?

"मैं क्यों नहीं लिख पाता हूं वैसी कविता
जैसी बच्चों की नींद होती है,
खाना होती है,

पके हुए जामुन का रंग होता है,
मैं वैसी कविता क्यों नहीं लिख पाता
जैसी मां के नंगे शरीर में नये पुआल की महक होती है,
जैसी बांस के जंगल में हिरन के पसीने की गंध होती है,
जैसे खरगोश के कान होते हैं,
जैसे ग्रीष्म के बीहड़ एकांत में
नीले जल - पक्षियों का मिथुन होता है,
जैसे समुद्री खोहों में लेटा हुआ खारा कत्थईपन होता है,
मैं वैसी कविता क्यों नहीं लिख पाता ।
जैसी हजारों फीट की ऊंचाई से गिरनेवाले झरने की पीठ होती है,
हाथी के पैरों के निशान जैसे गंभीर अक्षरों में
जो कविता दीवारों पर लिखी होती है
कई लाख हलों के ऊपर खुदी हुई है जो
कई लाख मजदूरों के टिफिन केरियर में
ठण्डी, कमजोर रोटी की तरह लेटी हुई जो कविता।"[4]

-- आलोक धन्वा

सारी वाकूस्फीति और ऐन्द्रिकता के ऐसे सघन बिम्बों के बावजूद कि "मजदूरों का टिफिन केरियर" प्राकृतिक सौंदर्य का समारोह करते वर्णन में दब जाय, कवि "भेंगा" की ईमानदारी तो

---

4. वाम 2, जुलाई 72, पृ. 22

सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर प्रकट होता ही है । यों इतनी चमचमाती बिम्ब-माला भी कवि की अंतर्वस्तु के संबंध में असावधानता की परिचायक है ।

कुल मिलाकर उस द्वंद्वात्मकता पर सब निर्भर है, जो कवि और वस्तु जगत के बीच के सम्बन्धों का सार है । कला जीवन की पुनर्रचना है और जब तक जीवन में गहरे नहीं उतरा जाता, आचरण के स्तर पर भागीदारी नहीं की जाती तब तक रचनाकार का मध्य-वर्गीय रुझान अवरोधक की भूमिका निभाता ही रहेगा ।

"गहरे उतरना और भागीदारी" की मंशा भी सायास अर्जित करनी पड़ेगी । वाम सौंदर्यशास्त्र इसीलिए मूल्यांकन की प्रक्रिया में कोई आसान रास्ते को नहीं अपना सकता ।

समाज की अपेक्षा में ही उस समाज की प्रमुख विचारधारा की परख हो सकती है फिर उनकी अपेक्षा में रचनाकार की जीवनी, उसकी सौंदर्यबोधात्मक विचार धारा और उनकी अभिव्यक्ति को "कलाकृति" में देखा जा सकता है । मूल्यांकन की हड़बड़ी और उछालने-गिराने का विवादी परिदृश्य इस सौंदर्यशास्त्र के लिए मात्र अप्रासंगिक ही नहीं, बल्कि घातक है ।

सारांश में कहा जाय तो भारतेन्दु युग से भारतीय चेतना में परिवर्तन की, रूपांतरण की जो प्रक्रिया आरंभ हुई, वह सत्ता हस्तांतरण के बाद के सारे शीत युद्धीय आक्रमणों को झेलकर आज भी सतत् प्रवहमान है । रचनाकार और उसके युग के यथार्थ

के बीच की खाई भी अपने रूप बदल लेती है और रचनाकार का प्रतिरोध भी बदलत और विविध रूपी होता चलता है । "प्रदत्त" को पहचानना और उसके प्रति प्रतिरोध करना कितना दुष्कर है, इसका इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि "प्रदत्त" भी अंतत: प्रक्रिया है और प्रतिरोध भी । "वस्तु" भी विविधरूपी हो रही है, उसी के अनुपात में रूप विधान भी । कुछ भी एकाएक या सहसा नहीं हो रहा है -- जो भी हो रहा है, वह एक "प्रक्रिया" की अनिवार्यता है । किंतु यह प्रक्रिया मानव-आचरण की सापेक्षता में है इसलिए नियतिवाद नहीं कही जा सकती । जैसा मनमोहन ने लिखा है --

"सूर्योदय
आंचक से घट जानेवाली
अनायास घटना नहीं
क्षण-क्षण
टूटना है अंधेरों का
तार-तार
बूंद-बूंद
धुलना है चुप-चुप
कटना है उजासका ।"

निष्कर्ष में कहा जाय तो "धूमिल" को मानव आचरण की द्वंद्वात्मकता में पहचान कर, उसके "बोध" की जिजीविषा-धर्मी सौंदर्य-बोधात्मकता को कला & यहां कविता & की कसौटी बनाया जाय तो उस प्रक्रिया में सहयोगी होनेवाले एक ऐसे शास्त्र का सूत्रीकरण किया जा सकता है, जो मानव-जीवन और मानवीय सौंदर्य के संघर्ष क्षणों में उनके साथ रहे ।

5. समकालीन रचना और पत्रकार | सम्प्रेषण का विरोधाभास ,

सूची

अज्ञेय - संवत्सर - नेशनल, दिल्ली

अज्ञेय (सं०) - तारसप्तक - भारतीय ज्ञानपीठ

अज्ञेय (सं०) - तीसरा सप्तक - भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

अग्रवाल, केदारनाथ - फूल नहीं रंग बोलते हैं - परिमल, इलाहाबाद

अग्रवाल, " पंख और पतवार - परिमल, इलाहाबाद

अग्रवाल, " मनय मनय पर - परिमल, इलाहाबाद

अवस्थी, रेखा - प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य - मैकमिलन एंड कं०

उपाध्याय, पं० बलदेव - बौद्ध दर्शन - चौखम्भा, वाराणसी

उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ - द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आलोक
में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन - अनुपम, जयपुर

एडमंड, हरीयन - ललित कलाएं और मनुष्य - नेशनल, दिल्ली

अंचल - किरण वेला -

खरे, विष्णु - आलोचना की पहली किताब - नेशनल, कानपुर

गुप्त, जगदीश - कवितान्तर - ग्रंथम, कानपुर

चक्रधर, अशोक - मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया - मैकमिलन

चतुर्वेदी, जगदीश - आधुनिक हिंदी कविता - मैकमिलन

चतुर्वेदी, जगदीश - इतिहास हेतु - अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार
संस्थान दिल्ली

चौहान, वर्णसिंह - साहित्य के बुनियादी सरोकार - पीपुल्स लिट्रेसी

चौहान, चंचल - जनवादी समीक्षा - पांडुलिपि, दिल्ली

चौहान, शिवदान सिंह - हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष - राजकमल, दिल्ली

जैन, नेमिचन्द्र - बदलते परिप्रेक्ष्य - आत्माराम एंड संस

जैन, नेमिचन्द्र (सं०) मुक्तिबोध रचनावली - राजकमल, दिल्ली

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद - समकालीन कविता - राजकमल, दिल्ली

तेंदुलकर, डी॰जी॰ - महात्मा गांधी का जीवन - सस्ता साहित्य भंडार
दिल्ली

देवराज, डा० - संस्कृति का दार्शनिक विवेचन - हिंदी समिति, लखनऊ

नम्बूदरीपाद, ई॰एम॰एस॰ - गांधी जी और उनका वाद -
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

नम्बूदरीपाद, ई॰एम॰एस॰ - कला, साहित्य और संस्कृति -
पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली

नागार्जुन - हजार हजार बांहों वाली - राधाकृष्ण, दिल्ली

नारायण, कुंवर - आत्मजयी - भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

नागार्जुन - तुमने कहा था - वाणी, दिल्ली,

नारायण कुंवर - अपने सामने - राजकमल, दिल्ली

निराला - परिमल - राजकमल, दिल्ली

निराला - तुलसीदास - लोकभारती, इलाहाबाद

ठाकुर, संपत - हिंदी की मार्क्सवादी कविता -प्रगति प्रकाशन, हावड़ा

परमार, श्याम - कविताएं कविता के बाहर -कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

पंत, सुमित्रा नंदन - पल्लव - राजकमल, दिल्ली

पंत, " वीणा - राजकमल, दिल्ली

पंत " आधुनिक कवि - "

पंत " ग्राम्या - "

पंत ग्रंथावली - "

पाण्डेय, डॉ० गोविन्दचन्द्र - मूल्य मीमांसा - ~~राजमंगल~~ राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी

बच्चन, डॉ० हरिवंशराय - निशा-निमंत्रण - राजपाल, दिल्ली

भारती, धर्मवीर - मानव मूल्य और साहित्य - भारतीय ज्ञानपीठ

भारती, धर्मवीर, - मात गीत वर्ष - भारतीय ज्ञानपीठ

भारती, धर्मवीर - अंधायुग - "

मलयज - कविता के साठ वर्ष - संभावना, हापुड

मदान, इन्द्रनाथ - कविता और कविता - राजकमल, दिल्ली

मिश्र, शिवकुमार - नया हिंदी काव्य -

सूर्यमल - वीर सतसई - उषा प्रकाशन, जयपुर

मिश्र - भगीरथ - आधुनिक हिंदी काव्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

मुक्तबोध, गजानन माधव, - चाँद का मुँह टेढ़ा है - भारतीय ज्ञानपीठ

मेघ, डॉ० रमेश कुंतल - सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन - गुरुनानक युनिवर्सिटी पंजाब

मेघ, " - साक्षी है सौंदर्य प्रतीक्षक - नेशनल दिल्ली

मेघ, " "आत्मा सौंदर्य जिज्ञासा - मैकमिलन, दिल्ली

मेघ, " आधुनिकता और आधुनिकीकरण -

मेघ, " व्यौम समय एक शब्द है - लोकभारती, इलाहाबाद

मोहन, नरेन्द्र - कहीं भी खत्म कविता नहीं होती - संभावना,हापुड

मोहन, नरेन्द्र (सं०) - लंबी कविताओं का रचना विधान-मैकमिलन

मोहन, सौमित्र - मुक्तिबोध और अन्य कविताएं -संभावना,हापुड

राय, ललन - मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता -

मंथन पब्लि० रोहतक

लाल, कृष्ण - तारसप्तक के कवि : काव्य शिल्प केन्द्र,साहित्य प्रकाशन,दिल्ली

वजाहत, असगर - हिंदी उर्दू की प्रगतिशील कविता - मैकमिलन

वंद्योपाध्याय, विभूतिभूषण - आरण्यक - साहित्य अकादमी प्रकाशन

वर्मा, जगेश्वर - हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना-ग्रंथम,कानपुर

वर्मा, भगवतीचरण -मानव - ग्रंथकार, बंबई

वर्मा, श्रीकान्त - मायादर्पण - भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

वर्मा, श्रीकांत - जलसाघर - राजकमल, दिल्ली

वशिष्ठ, नरेन्द्र - शमशेर की कविता - वाणी, दिल्ली

वाजपेयी, अशोक - शमशेर को समझना है - भारतीय ज्ञानपीठ,दिल्ली

वाजपेयी, " फिलहाल - राजकमल, दिल्ली

वाजपेयी, अशोक (सं०) साहित्य विनोद - नेशनल, दिल्ली

शर्मा, नरेन्द्र - पलाशवन -

शर्मा, राम विलास - नयी कविता और अस्तित्ववाद - राजकमल, दिल्ली

शर्मा, रामविलास - निराला की साहित्य साधना - राजकमल, दिल्ली

शर्मा, रामविलास - भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद -राजकमल,दिल्ली

शर्मा, रामविलास - भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा - राजकमल, दिल्ली

शर्मा, रामविलास - लोकजीवन और साहित्य - राजकमल, दिल्ली

शर्मा, रामविलास - भाषा और समाज - राजकमल, दिल्ली

शर्मा, रामविलास (सं०) रागविराग - लोकभारती

शर्मा, विष्णु चन्द्र S- आकाश विभाजित है - संकल्प, दिल्ली

शील - लावा और फूल

शील - उदय पथ - पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बंबई

श्रीवास्तव, जगदीश नारायण - समकालीन कविता पर एक बहस - विकल्प, इलाहाबाद

श्रोत्रीय, प्रभाकर - प्रश्न जो समुद्र है - मध्यप्रदेश साहित्य परिषद

शुक्ल, रामचन्द्र - चिन्तामणि, दूसरा भाग- नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

शुक्ल, विनोद कुमार - वह आदमी नया गर्म कोट पहन कर चला गया विचार की तरह -- नेमिचंद, खंडवा

स्वामी, स्वामीशरण - अनवादी कवि और प्रतिबद्ध कविताएं-जन साहित्य मंच

सक्सेना, सर्वेश्वर दयाल - जंगल का दर्द - राजकमल, दिल्ली

सक्सेना, " - बकरी - हमशेर - राधाकृष्ण, दिल्ली

सक्सेना, " कोशिशें -भाग एक - राजकमल, दिल्ली

सहाय, रघुवीर - हँसो, हँसो जल्दी हँसो - नेशनल, दिल्ली

सहाय, रघुवीर - आत्महत्या के विरुद्ध - राजकमल, दिल्ली

सहाय, रघुवीर - लिखने का कारण - राजकमल - दिल्ली

सहाय, रघुवीर - रास्ता इधर है - नेशनल दिल्ली

सहायक, रघुवीर - सीढ़ियों पर धूप में - भारतीय ज्ञानपीठ - काशी

साही, विजयदेव नारायण - मध्यवर्ती - साहित्य संस्थान, इलाहाबाद

सिंह, अयोध्या - भारत का मुक्ति संग्राम - मैकमिलन

सिंह, कुँवरपाल - साहित्य और राजनीति - भाषा, दिल्ली

सिंह, दूधनाथ - निराला : आत्महंता आस्था - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

सिंह, दूधनाथ (सं०) कुकुरमुत्ता - लोकभारतीय

सिंह, केदारनाथ - आधुनिक हिंदी कविता में बिंब विधान -
भारतीय ज्ञानपीठ

सिंह, केदारनाथ - यहाँ कुछ खिल्लुल अभी - संभावना, हापुड़

सिंह, नामवर - छायावाद - राजकमल, दिल्ली

सिंह, नामवर - कविता के नये प्रतिमान - राजकमल, दिल्ली

सिंह, नामवर - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - साहित्य मंदिर, वाराणसी

सिंह, पाल - भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका - नेशनल, दिल्ली

सिंह, विजय मोहन - हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना -
रचना प्रकाशन, इलाहाबाद

सिंह, विजय बहादुर - बुद्धचर्या - मैकमिलन

सिंह, विजय बहादुर - नागार्जुन और उनका रचना संसार -संभावना, हापुड़

सिंह, विजयबहादुर - भवानी प्रसाद मिश्र -राजपाल एंड संस, दिल्ली

सिंह, शमशेर बहादुर - उदिता - वाणी, दिल्ली

सिंह, " कुछ और कविताएं - राजकमल, दिल्ली

सिंह " चुका भी हूं नहीं मैं - राधाकृष्ण, दिल्ली

सिंह, " इतने पास अपने - राजकमल, दिल्ली

सिंह, " बात बोलेगी - संभावना, हापुड

सीतारामय्या, पट्टाभि -- कांग्रेस का इतिहास -

हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - राजकमल, दिल्ली

त्रिपाठी, प्रभात कुमार - रचना के साथ - रचना, इलाहाबाद

त्रिलोचन, - धरती - नीलाभ, इलाहाबाद

त्रिलोचन, - दिगन्त -

त्रिलोचन, ताप के तापे हुए दिन - संभावना, हापुड

त्रिलोचन, शब्द - वाणी, दिल्ली

त्रिलोचन, [illegible]

Adorno, Theodor W. : The Jargon of Authenticity, NLB London

Adorno, Theodor W. : Studies in Philosophy and Social Sciences

Adorno, Theodor W. : Negative Dialectics - MIT PRESS

Adorno, Theodor W : Prisms

Althusser, Louis : For Marx - NLB London, 1978

Anderson, Quentin (Ed). : Art, Politics and Will

Antonio, Gramsci : Prison Note Book

Aron, Raymond : The Opium of the Intellectuals

Aron, Raymond : History and The Dialectics of Violence - B. Blackwell Oxford-1975.

Arvon, Henri : Marxist Esthetics

Bagchi, P.C. : Studies in the Tantras

Backer, Ernst : Escape from Evil

Bauek, Zygmut : Socialism and Utopia - G.A. & Unwin, London

Beauvoir, Simon de : Ethics of Ambiguity

Becker, Ernst : The Birth and Death of Meaning : A perspective in Psychitry.

Bela, Kiralyafalvi : The Aesthetics of Gyargy Lukac's Princeton University Press 1975

Bell, Daniel : The Cultural Contradiction of Capitalism - Basic Books Inc. Pub. New York - 1978

Benjamin, Walter : Understanding Brecht - INLB, 1973

Benjamin, Walter - Baudleir : Baudleir A Lyric Poet in Higher capitalistic Era, NLB London

Bennett, Jony : Marxism and Formalism - Meshmen co, 1979 London

Berg, Herz : The Motivation of Work

Berger, John : Art and Revolution - Penguin, 1969

Brecht, Arnold : Political Theory - Times of India Pub. 1972

Brown, O' Norman : Life Against Death - Sphere Books Ltd., London - 1970

Buber, Martin : I and Thou

C. Agyris : Work and the Nature of Man

Calinescu, Matie : Faces of Modernity

Carlyle : Critical and Miscellaneous Essays AVNS Press, New York

Chatopadhyaya Devi Prasad : Lokayat - P.P.H. 1978

Chenna, Kesava Sarasvati : Concepts of Mind in Indian Philosophy Motilal Banarsidas, 1980

Craig, David (Ed) : Marxist on Literature - Penguin - 1977

Cooper, David : The Grammar of Living - An Examination of Political Arts. Penguin - 1976

Desai, A.R. : The Sociological Background of Indian Nationalism - Popular Prakashan, Bombay 1976

Eageleton, Terry : Criticism and Ideology - Verso Edition London - 1979

Eageleton, Terry : Marxism and Literary Criticism - Univ. of California - 1976

Fenichel, Otto : The Psychoanalytic Theory of Neurosis - W.W. Norton, New York 1945

Fischer, Ernst : Marx in his own words - Penguin, 1976

Foucalt, Michel : The Order of Things - Tavistock Publications.

Fredrics, Hugo : The Structure of Modern Poetry N.W.Univ. Press, 1974

Frenkel, E. Vicktor : Psychotharpy and Existentialism - Penguin

Frued, Sigmund : Basic Writings of Sigmund Freud Modern Library, New York - 1938

Friednevy Z. Edger - R.D.Laing ; R.D. Laing.

Fromm, Erich : Anatomy of Human Destrictiveness, G.C.F. Crest - 1975

Fromm, Erich : To have or to be

Fromm, Erich : Art of Loving - Unwin Books, London 1975

Galbel, Joseph : False consciousness : An Essay on Reification Oxford, 1979

Garaudy, Roger : The Alternative Future - Penguin 1975

Gerrasy, John (ed.) : Vencermose

Gombin, Richard : Origin of Leftism

Gombin, Richard : The Political Tradition

Halbrook, David : The quest for Love - Oxford, 1974

Height, Kistch in a Clerk of Oxford

Herry, J. : Culture Against Man

Howard, Dick : The Marxian Legacy - Mac Millian, London

Huxuly, Julian : Evolutionary Ethics

Horkhimere, H : Critical Theory

Huxuly, Julian : Religion without Revelation

Illich, D.Ivan : Celebration of Awareness - Penguin, England, 1976

Jamson, Fredric - : Marxism and form - Princeton Univ. Press 1971

Kafka, Franz : The trial - Penguin - 1975

Kaufmann, Walter : From Shakespeare to Existentialism

Kettle, Arnold : Poetry and Politics - Open Univ. Press

Lafaurge, Paul : The Right to be Lazy and other studies

Laing, R.D. : The Divided Self - Penguin - 1958

" : The Politics of Experience - Penguin - 1969

" : The Politics of Family - Penguin - 1970

Lainger, K. Susan : Philosophical Sketches - Mentor Books, 1964

Lainger, K. Susan : Mind : An Essay on Human Feelings

Laquer, Walter (Ed) : A Dictionary of Politics

Lenin : On Utopian and Scientific Socialism - Progress Pub. Moscow , 1976

Lenin : What is to be done Progress Pub. Moscow, 1976

Lenin : Collected Works "

Lunacharsky.A. : On Literature and Art - P.P.H.

Marcuse, Hebert : One Diemensional Man - R. and K. Paul 1964

Marcuse, Herbert : Five Lectures - N.L.B., London

Marcuse, Herbert : Negations - NLB, London

Marcuse, Herbert : Eros and Civilization - Beacon Press, Boston, 1966

Margolis, Joseph : Philosophy looks at the Arts - Temple Univ. Press, Philadelphia - 1978

Marx, Karl : Economic and Philosophic Manuscript-1844 Progress P.B.L., Moscow, 1977

Marx, Karl : The German Ideology - Progress P.B.L. Moscow, 1978

Marx, " : Capital - Penguin - 1978

Marx, Engels : Selected Works - P Publishers, Moscow, 1978

Marx, Engels : The Communist Manifesto

Meakin, David : Man and Work

Morawski, Stephen : Inquires into the Fundamentals of Aesthetics - Mit. Press

Neruda, Pablo : Memories - Penguin - 1978

Packard, Vance : The Hidden Persuaders - P.C.E., New York - 1968

Paz, Octavio : Children of Mire - Harward Unvi. Press Manchester - 1974

Ponty, Mauric Merlaue : The Adverture of Dialectics - North West Univ. Press - 1973

Ponty, Mauric Merlaue : Humanism and Terror

Popper, Karl : The objective knowledge - Oxford Univ. Press London - 1975

Popper, Karl : Open Society and its Enemy - R&K Paul, London, 1974

Ram, Mohan, : Indian Communism split within split - Vikas, Delhi

Reich, Wilhelim : The Mass psychology of Fascism

Rank, Otto : Beyond Psychology

Rayna, Ruth : The Philosophy of Matter in the Atomic Era

Rosenberg, Bernard
David Meanning (Ed) : Mass Culture

Rosenberg, Herold : The Tradition of the New - T. & Hudson, London - 1966

Rosenberg, " : The Anxious object - The New American Literary - New Year - 1969

Rosenberg " : Discovering the Present -UNiv. of Chicago Press, 1970

Saffioti, I.B. Heleieth : Women in Class Society : M.R. Press, New Yord, 1978

Sagan, Carl : Broca's Brain: Reflection on the Romance of Science - NASA, New York, 1979.

Sanchez, Vazequez Adolfo : ~~Adolfo~~ : Art and Society - M.R.Press London - 1973.

Santayana, George : The sense of Beauty

Sartre, J.P. : Being and Nothingness - Washington square Press New York, 1977

Sartre, J.P. : Situations

Scott, D. : The Psychology of Art

Shourie, Arun : Hinduism; Essence and Consequence Vikas, Delhi, 1978

Solomon, Maynord (Ed) : Marxism and Art A.A.K. Inc., New York, 1973

Stater, Phil : Origin and Significance of the Frankfurt School - A Marxist Perspective

Stead, C.K. : The New ~~Politic~~ Poetics - Penguin - 1969

Szasz, S. Thomas : The Myth of Mental Illness

Therborn, Goren : What Does the Ruling Class do when it rules - NLB, London

Tung, Mao - Tse : Selected work of Mao - Tse-Tung - Navajatak Prakashan, Culcutta 1973

Wilson, Colin : The Outsider

Whitrow, G.J. : The Nature of Time - Penguin - 1975

Yermash, G. : Marxist and Leninist - Aesthetics.

....

संस्कृत

1. आनंदवर्धन - ध्वन्यालोक - चौखम्भा, वाराणसी, 1979

2. कुंतक - वक्रोक्तिजीवितम - काशी संस्कृत संस्थान, चौखम्भा वाराणसी, 1977

3. भर्तृहरि - वाक्यपदीय - "

4. जयदेव - गीतगोविंद - भार्गव प्रेस, बनारस

5. आ. पं. तारिणीश - संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ - रामनारायणलाल, बेनी प्रसाद इलाहाबाद, 1971

6. राज, जगन्नाथ - रस गंगाधर - बनारस हिंदू विश्वविद्यालय 1961

7. - ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य - विद्यापीठ प्रेस दरभंगा

.....

पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदी

आलोचना,
दिनमान, अंतत:,
पल्लव, कंक,
कथन, पूर्वग्रह,
कलम, साक्षात्कार,
नई कहानियाँ,
अर्थात्,
कल्पना ।

अंग्रेज़ी

Telos,
New Left Review,
Diogenes,
Salmagundi,
The British Journal for the Philosophy of ~~social criticism~~ Science,
Encounter.
Philosophy and social Criticism.

.....